

नाटक-समयसार

मूल लेखक

कविवर पं० बनारसी दास जी



संपादन एवं प्रस्तावना

प्रो० सुदीप कुमार जैन

अनुवाद एवं विशेषार्थ-लेखन

डॉ० रंजना जैन



प्रकाशक

महावीर परमार्थ फाउन्डेशन (रजि०)

नई दिल्ली-110074

नाटक-समयसार

कविवर पं० बनारसी दास जी कृत

प्रो० सुदीप कुमार जैन

संपादक

डॉ० रंजना जैन

अनुवाद एवं विशेषार्थ

इस कृति के विषय में....

जीवन का पूर्वार्द्ध 'नाटकीय-घटनाक्रमों' में और जीवन उत्तरार्द्ध 'समयसार' के उत्कृष्टतम-आदर्शों को अपने जीवन में चरितार्थ करते हुये उसके प्रतिपाद्य के तत्कालीन-लोकभाषायी शब्दांकन में समर्पित करनेवाले भारतीय साहित्य के सबसे अनूठे महाकवि पं. बनारसीदास जी की कालजयी रचनाओं में सबसे अग्रणी-कृति का नाम है 'नाटक-समयसार'।

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव ने विश्वभर के अध्यात्म-पिपासुओं में सर्वाधिक-लोकप्रिय ग्रन्थ 'समयसार' की रचना लगभग 2000 वर्ष पहले की थी। तभी से यह ग्रन्थ भारतीय-साधकों एवं दार्शनिक-जगत् में सर्वोपरि आकर्षण का केन्द्र रहा। उनके लगभग 1000 वर्ष बाद आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इसकी 'आत्मख्याति' नामक समय-व्याख्या लिखकर इस ग्रन्थ के मर्म एवं महत्त्व को नये आयाम दिये थे। इसमें व्याख्या के साथ-साथ कुछ मौलिक-भावनायें पद्यात्मकरूप में प्रस्तुत कीं, जिन्हें 'समयसार-कलश' के नाम से जाना गया।

इनके भी लगभग और 500 वर्ष बाद हुये पांडे राजमल्ल जी ने इन कलशों की भाषा एवं नाम से 'बालबोधिनी', किन्तु मर्मोद्घाटन में अतिप्रगल्भ, देशभाषामयी टीका लिखी, जिसके प्रशंसक इतर-आम्नायों के मनीषी-साधक भी रहे।

इन सभी आचार्यों एवं मनीषियों के मर्म को आत्माहित करते हुये कविवर पं. बनारसीदास जी ने विविध-छन्दों में निबद्ध एवं मौलिक-प्रतिपाद्यों के साथ-साथ मूलानुगामिता को अक्षुण्ण रखनेवाली उत्कृष्टतम-रचना प्रसूत की, जिसका नाम 'नाटक-समयसार' प्रसिद्ध हुआ।

इस कृति में कुल 12 अधिकार हैं, जिन्हें कविवर ने 'द्वार' संज्ञा दी है, कुल 08 प्रकार के छन्दों में 727 पद्यों में 1707 श्लोकप्रमाण गूढ़तम-सामग्री का सरलतम-भाषा-शैली में शब्दांकन हुआ है। यह ग्रन्थ आश्विन शुक्ल त्रयोदशी, रविवार, संवत् 1693 को पूर्ण हुआ था।

इसके प्रत्येक-पद के शब्दार्थ एवं विशेषार्थरूप-व्याख्या को पूर्णतः प्रस्तुत करने वाला यह सर्वप्रथम-संस्करण है, जो कि विगत-संस्करणों की तुलना में लगभग दोगुनी-सामग्री को ज्ञान-पिपासुओं की जिज्ञासा को तृप्त करने के लिये समर्पित है।



नाटक-समयसार

-: लेखक :-

कविवर पं. बनारसीदास जी



-: सम्पादन एवं प्रस्तावना :-

प्रो. सुदीप कुमार जैन

वरिष्ठतम-आचार्य, प्राकृतभाषा

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय, भारत सरकार) नई दिल्ली-110016

-: अनुवाद एवं विशेषार्थ-लेखन :-

डॉ. रंजना जैन

(एम.ए.हिन्दी, प्राकृताचार्य, पीएच.डी.)



प्रकाशक:

महावीर परमार्थ फाउंडेशन (रजि.)

नई दिल्ली-110074

महावीर परमार्थ फाउंडेशन, नई दिल्ली का 'तृतीय-पुष्प'

नाटक-समयसार

(कविवर पं. बनारसीदास जी की पवित्र आध्यात्मिक-कृति)

प्रथम संस्करण	:	2500 प्रतियाँ, 2020 ई.
अनुवाद एवं विशेषार्थ	:	डॉ. रंजना जैन, नई दिल्ली
सम्पादन एवं प्रस्तावना	:	प्रो. सुदीप कुमार जैन, नई दिल्ली
© डॉ. रंजना जैन एवं प्रो. सुदीप कुमार जैन, नई दिल्ली के पास सर्वाधिकार सुरक्षित		
ISBN No.	:	978-81-938483-2-6
प्रकाशक	:	महावीर परमार्थ फाउंडेशन (रजि.), नई दिल्ली
प्राप्ति-स्थान	:	डॉ. सुदीप कुमार जैन बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा हॉस्पिटल के पीछे, नई दिल्ली-110074, मो- 8750332266
आकार	:	20x30-1/8
लागत मूल्य	:	270/-
मुद्रक	:	एस.पी. प्रिंटेर्स Website: www.esspeeprinters.com



NATAK-SAMAYSAR

(A spiritual holy book of Pt. Banarsidas Ji)

Translation & Commentary	:	Dr. Ranjna Jain
Editing & Preface	:	Prof. Sudeep Kumar Jain, New Delhi
Publisher	:	MAHAVEER PARMARTH FOUNDATION (Regd.) B-32, Chhatarpur Extension, Behind Nanda Hospital, New Delhi - 110074
Size	:	20x30-1/8
Number of Pages	:	584
Price	:	₹ 270/-
ISBN No.	:	978-81-938483-2-6

© All Rights Reserved to the Translator and Editor Both



कविवर पं. बनारसीदास जी की कालजयी रचना 'समयसार नाटक' का अध्यात्मप्रिय-जैनसमाज में तो अति-महत्त्वपूर्ण-स्थान है ही, हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं के बीच भी इसे भरपूर-सम्मान प्राप्त है। जैन-जगत् में भी इस ग्रन्थ को भरपूर-आदर प्राप्त है। सरल-हिन्दीभाषा में निबद्ध होने के कारण स्वाध्याय-सभाओं से लेकर निजी-जीवन में गुनगुनाने तक में नाटक-समयसार का अपार-प्रभाव विगत चार सौ वर्षों से भी अधिक समय से लगातार देखा जा सकता है।

ऐसे महान् कवि एवं जैन-तत्त्वज्ञान के महान् मनीषी की यह कालजयी रचना विगत लगभग 500 वर्षों में अनेकों हस्तलिखित-प्रतियाँ पांडुलिपियों के रूप में देशभर के एवं देश के बाहर भी अनेकों पांडु-ग्रन्थागारों में मिलती ही हैं, जो इसकी अपार लोकप्रियता का जीवन्त-प्रमाण है। साथ ही आज तक इसके 25 के लगभग संस्करण विभिन्न-संस्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं।

किन्तु उन सभी में पूरे शब्दार्थ नहीं दिये जाने से पाठकों को अतृप्ति का अनुभव होता था। साथ ही विषय का स्पष्टीकरण भी सुगम-भाषा-शैली में पूरीतरह से संतोषप्रद नहीं मिलता था। अतः एक ऐसे संस्करण की महती-आवश्यकता थी, जो इन अपेक्षाओं को पूरा कर सके।

मुझे यह कहते हुये अपार-हर्ष है कि हमारे समाज की लब्ध-प्रतिष्ठ-विदुषी **डॉ. रंजना जैन** ने वर्षों तक अपार-श्रम एवं निष्ठा के साथ इन सब अपेक्षाओं को पूरा करनेवाला यह संस्करण तैयार करके उसे प्रकाशित करने का सौभाग्य हमारे ट्रस्ट को प्रदान किया है। इसके लिये हम **डॉ. रंजना जैन** का आभार ज्ञापित करते हैं।

साथ ही इसका वैज्ञानिक सम्पादन-विधि से सम्पादन करने एवं वैदुष्यपूर्ण-प्रस्तावना लिखने के लिये हम जैनसमाज के सुप्रतिष्ठित-विद्वान् **प्रो. सुदीप कुमार जैन** का भी बहुमान करते हैं।

इसके प्रकाशन के लिये डॉ. रंजना जैन की वॉट्सएप पर 'नाटक-समयसार' जी की नियमित-पोस्टों के पाठकों तथा डॉ. सुदीप जी के व्याख्यान के श्रोताओं में से भाईश्री **विवेक जैन**, बहरीनवालों, भाईश्री **अजित जैन एडवोकेट** सीकर (राज.), **श्रीमती कलाबहिन वर्जीनिया** (यू. एस. ए.), **श्रीमती रूपलबेन सुनील कुमार जैन** डेलीवाला दुबई, **सुश्री साक्षी सुदीप कुमार जैन**, छत्तरपुर एक्सटेंशन नई दिल्ली, **श्रीमान् अमित राजकुमार जी जैन**, एग्जीक्यूटिव इंजीनियर नॉर्दर्न रेल्वे, नई दिल्ली, **श्री संजय कुमार जैन** प्रीति विहार दिल्ली, **श्री सुधेश जैन**, इंजीनियर एम्स दिल्ली, **श्रीमती मधु जैन**, आई.पी.एक्सटेंशन, **डॉ. शरद जैन** घेवरा मोड़ दिल्ली, **श्रीमती मीनाक्षी जैन** राजपुर नई दिल्ली ने इस ग्रन्थ के शीघ्र व गरिमापूर्ण-प्रकाशन के लिये निरन्तर-प्रेरित किया, तदर्थ इन सबका भी हम आभार व्यक्त करते हैं।

सीमित-समय में इस ग्रंथ के गरिमापूर्ण संस्करण के निर्माण व प्रकाशन के लिये हम **श्री अक्षय जैन, एस. पी. प्रिंटर्स, नई दिल्ली** को भी हृदय से धन्यवाद देते हैं। हमारे ट्रस्ट के यशस्वी-प्रकाशनों को देशभर के विश्वविद्यालयों, केन्द्रीय पुस्तकालयों एवं जिज्ञासुओं तक निःस्वार्थ-सेवाभाव से पहुँचानेवाले धर्मानुरागी सज्जन **श्रीमान् अमित जैन (प्रमुख, DTDC कूरियर्स)** के भी हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ को भी सर्वत्र पहुँचाने का संकल्प व्यक्त किया है। मैं ट्रस्ट के सभी माननीय ट्रस्टीगणों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने ट्रस्ट की हरतरह की जन-मंगलकारी-गतिविधियों में हमेशा समर्पित होकर सहयोग प्रदान किया है।

देश-विदेश के समस्त जिज्ञासुजन इस संस्करण से लाभान्वित होंगे— ऐसा विश्वास है।

— अजित प्रसाद जैन

अध्यक्ष, महावीर परमार्थ फाउंडेशन

विषय-सूची

क्रम-सं.	विषय	पृष्ठ-संख्या
1.	प्रकाशकीय	3
2.	सम्पादकीय	5
3.	प्रस्तावना	11
4.	आत्म-कथ्य	70
5.	प्ररोचना	72
6.	समर्पण	2
7.	मंगलाचरण	3
8.	उत्थानिका	12
9.	जीव-द्वार	29
10.	अजीव-द्वार	57
11.	कर्त्ता-कर्म-क्रिया-द्वार	66
12.	पुण्य-पाप-एकत्व-द्वार	94
13.	आस्रव-द्वार	109
14.	संवर-द्वार	120
15.	निर्जरा-द्वार	128
16.	बंध-द्वार	176
17.	मोक्ष-द्वार	226
18.	सर्वविशुद्धि-द्वार	260
19.	स्याद्वाद-द्वार	340
20.	साध्य-साधक-द्वार	363
21.	चतुर्दश-गुणस्थानाधिकार-द्वार	404
22.	प्रशस्ति-द्वार	460
23.	नाटक-समयसार के पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका	475
24.	संस्कृत-कलशों की वर्णानुक्रमणिका	489

सम्पादकीय

यद्यपि 'नाटक-समयसार' नामक यह ग्रन्थ पहले कई बार प्रकाशित हो चुका है, अतः सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि इसमें सम्पादन की क्या गुंजाइश शेष रही होगी? किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि जैन-समाज के द्वारा प्रकाशित होनेवाले अधिकांश-प्रकाशनों में सम्पादन-विधा की सर्वाधिक-उपेक्षा की जाती है। पहले के विद्वान् इस विधा के महत्त्व को भलीभाँति जानते थे, साथ ही प्रकाशन-संस्थानों के प्रमुख-महानुभाव भी इसकी गरिमा से सुपरिचित थे; यही कारण है कि पहले जो ग्रन्थ प्रकाशित होते थे, उनमें इस विधा का यथाशक्ति ध्यान रखा जाता था।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत-संस्करण के सम्पादन के लिये सर्वप्रथम मैंने इस ग्रंथ की प्राचीन-हस्तलिखित-पांडुलिपियों की ई-प्रतियाँ मँगवाई, साथ ही प्राचीन-प्रकाशित-संस्करणों की छायाप्रतियाँ भी मँगवाई; ताकि मूलपाठों का बारीकी से संशोधन व प्रमाणीकरण किया जा सके। इसीप्रकार अनुवादिका से भी इन संस्करणों में अनुवाद-गत पाठभेदों का संकलन करने को कहा, ताकि मूलपाठों का सटीक एवं अधिकतम-परिशुद्ध-अनुवाद स्फीत-शब्दों में प्रस्तुत हो सके। क्योंकि यह दायित्व भी सम्पादक को सावधानीपूर्वक करना होता है।

इन सभी प्रक्रियाओं को पूरी सावधानी से करने पर ज्ञात हुआ कि मूलपाठों का प्रस्तुतीकरण भी सर्वत्र-एकरूपता में नहीं हुआ था और 'अनुवाद-कार्य' में तो बहुत झोल थे। आधे-अधूरे शब्दों का ही अनुवाद दिया गया था, बाकी छोड़े हुये थे। इसीप्रकार 'भावार्थ' के अन्तर्गत कहीं भी पूरे विषय का समावेश नहीं किया गया था। जितना बताना सुगम लगा, उतनी बात बता दी; बाकी के बारे में मौनसाधन किया गया था। यह बहुत बिडम्बनापूर्ण-स्थिति थी, क्योंकि पाठकों को उन अकथित-विषयों के बारे में अधिकृत-जानकारी उपलब्ध नहीं होने से वे उन विषयों के बारे में अपने अंदाज़ से ही अर्थ करते थे। इसकारण संस्करणों की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं थी।

इन सब कार्यों को बड़ी ही सावधानी से करना अपेक्षित था। और इस निमित्त पर्याप्त-अध्ययन-पूर्वक सामग्री जुटाना आवश्यक था। साथ ही कई विषय ऐसे भी थे, जिन पर उपलब्ध-ग्रन्थों में कोई स्पष्ट-विवेचन ही नहीं मिल रहा था। क्योंकि **कविवर पं. बनारसीदास जी** ने उनकी अत्यन्त-मौलिकरूप से उद्भावना इस ग्रन्थ में की थी। अतः ऐसे प्रसंगों को स्पष्ट करने में बेहद सावधानी से तुलनात्मक-अध्ययन-पूर्वक सम्पादित किया गया। ताकि विदुषी-अनुवादिका से कहीं कोई चूक तो नहीं हुई है— इसको परखा जा सके।

फिर प्रकाशन की दृष्टि से भी सम्पादक का बहुत-दायित्व होता है। ताकि शीर्षकों का निर्धारण, छंद की सैटिंग, पाद-टिप्पणों का स्फीत-प्रस्तुतीकरण, उद्धरणों की स्पष्ट-अभिव्यक्ति आदि कार्यों में वर्णाकृतियों के आकार-परिमाण में अत्यन्त-सावधानी से निर्धारण करना होता है और पूरे ग्रन्थ में उनकी समानुपातिक-एकरूपता को बनाना होता है। यह श्रम व निष्ठा मात्र सुयोग्य-सम्पादकगण ही प्रकाशित-संस्करण में परख पाते हैं, सामान्य-जनों को तो इसका पता ही नहीं चल पाता है। किन्तु मुझे यह संस्करण सामान्य-जिज्ञासुओं से लेकर प्रबुद्ध-मनीषियों तक के कर-कमलों में स्वाध्याय के निमित्त प्रस्तुत करना था, इसीलिये किसी भी वक्र-भृकुटियों का निमित्त यह न बने— एतदर्थ इन सभी बिन्दुओं की पूरी सावधानी रखकर इसका सम्पादन-कार्य किया गया।

शब्दावली से लेकर सम्पादकीय-चिह्नों तक के विषय में हरसंभव-सावधानी से कार्य करते हुये मैंने यह पाया कि विदुषी-अनुवादिका ने भाषा-शैली का स्तर सरल व सुबोधगम्य ही रखा है। जबकि मेरा संस्कार परिनिष्ठित, स्तरीय, साहित्यिक-शब्दावली के प्रयोग का रहा है। इसकारण पहले तो कुछ अटपटा-सा लगा, और मैंने अनुवादिका

से इस विषय में कहा भी; किन्तु उन्होंने मुझे स्पष्ट किया कि उन्होंने यह कार्य पहले विशेष-वॉट्सएप-ग्रुप में जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ का स्वाध्याय कराने के लिये किया था। उसमें जिज्ञासुओं को जिसतरह की भाषा-शैली सुगम लगी, उसी को उन्होंने सर्वत्र आत्मसात् किया है। उनके इस व्यावहारिक-तर्क को मैंने स्वीकार कर लिया और इसे सरल-सुगम भाषा-शैली में ही यथावत् रहने दिया।

मुद्रक-बंधु के साथ भी इस संस्करण के आदर्श-स्वरूप के टंकण व प्रकाशन के लिये भी कई व्यावहारिक-बिन्दुओं पर परामर्श करके अनुकूल-प्रविधि का चयन किया। चूँकि आजकल हिन्दी व संस्कृत-प्राकृतभाषाओं के शब्दों के जानकार-टंकक (टाइपिस्ट) बहुत-दुर्लभ हैं और हमें जो उपलब्ध हैं, उन्हीं से काम लेना पड़ता है। इसलिये कुछ मध्य-मार्गों का अनुसरण करके भी मैंने सम्पादन के स्वरूप व स्तर को अक्षुण्ण बनाये रखा।

मैंने विदुषी-अनुवादिका से यह भी जोर देकर कहा कि मूल-लेखक ने जिस शब्द का जिस रूप में प्रयोग किया है, उसको यथाशक्ति उसी रूप में बनाये रखा जाये; तथा अपेक्षित हो, तो कोष्ठक में उसके बारे में अपने अभिप्राय को प्रस्तुत करते हुये विषय का संतुलन बनाया जाये। मुझे संतोष है कि उन्होंने मेरे इस परामर्श को गम्भीरता से स्वीकार किया और इसका अनुपालन भी किया।

जिज्ञासु-पाठकों एवं स्वाध्यायी-जनों के हितार्थ उन्होंने आगमानुसारी-ढंग से व्यावहारिक-शब्दों में, आवश्यकतानुसार सरल-दृष्टान्तों आदि के प्रयोग से 'विशेषार्थ' शीर्षक के अन्तर्गत समझाया है, वह एकतरह से 'नयी-टीका' या 'व्याख्या' के रूप में प्रस्तुत हुआ है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस कार्य में उन्होंने न केवल पर्याप्त-श्रम किया, अपितु कविवर पं. बनारसीदास जी के अभिप्राय को सटीक-ढंग से प्रस्तुत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

इस ग्रन्थ के 'तुलनात्मक-पाठ-सम्पादन' में भी बहुत सारे विचारणीय-बिन्दु थे, जिन पर स्पष्टीकरण करना आवश्यक था। अतः उन बिन्दुओं का विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

1. इस ग्रन्थ के 'आस्रव-द्वार' के पद्य-क्रमांक 1 के वाक्यांश दिया गया है "वरनी अगम-अनूप"। इसके स्थान पर कुछ प्रतियों में "वरनी आगमरूप" – यह पाठ भी मिलता है। किन्तु प्रकरण के साथ अर्थ की संगति एवं गम्भीरता को ध्यान में रखते हुये मैंने इसमें 'वरनी अगम-अनूप' पाठ ही रखा है।

2. 'सर्वविशुद्धि-द्वार' के पद्य-क्रमांक 119 की अंतिम-पंक्ति में 'दुरमती' शब्द का प्रयोग दिया गया है। इसकी आधार-प्रति में भी यही पाठ है। किन्तु कुछ अन्य-प्रतियों में इसके स्थान पर 'दुरगती' अर्थात् 'दुर्दशा/बुरी-गति' शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु प्रकरण के अनुसार इस 'दुरगती' शब्द की तनिक भी संगति नहीं बैठती है, इसीलिये अर्थसंगति को ध्यान में रखते हुये ही मैंने यहाँ 'दुरमती' (दुर्बुद्धि) पाठ को समीचीन मानकर उसी का प्रयोग किया है।

3. इसी द्वार के पद्य-क्रमांक 131 में अंतिम-शब्द 'सानै' का प्रयोग आधार-प्रति में मिलता है। जबकि अन्य कुछ प्रतियों में इसके स्थान पर 'मानै' पाठ दिया गया है। प्रकरणगत अर्थ-गाम्भीर्य को देखते हुये 'सानै' (ते सब समयसार रस सानै=वे सभी समयसार के रस में सने/पगे हुये हैं) की ही सुसंगति है, न कि माननेरूप-अर्थ के द्योतक 'मानै' पद की। इसीलिये मैंने यहाँ 'सानै' पद का ही प्रयोग किया है।

4. 'स्याद्वाद-द्वार' के पद्य-क्रमांक 12 की सातवीं-पंक्ति में 'सहजरूपी' पद का प्रयोग है। इसके स्थान पर कुछ प्रतियों में 'सरूपी' पाठ का प्रयोग मिलता है। किन्तु यह पाठ छंद की दृष्टि से भी अनुचित है, क्योंकि इसके प्रयोग से छंद-भंग हो रहा है। और अर्थ की दृष्टि से भी यह सुसंगत नहीं है। यही कारण है कि मैंने इसको वहाँ पाद-टिप्पण में देना तक अपेक्षित नहीं समझा। किन्तु यहाँ स्पष्टीकरण अपेक्षित समझकर लिखा है।

5. 'साध्य-साधक-द्वार' के पद्य-क्रमांक 11 की छठवीं पंक्ति में प्रयुक्त "गुन में गरब बसै" पाठ रखा गया है, जबकि कुछ प्रतियों में इसकी जगह "प्रीति में अप्रीति बसै" पाठ दिया गया है। किन्तु **यह पाठान्तर न तो अर्थ-संगत है और न ही छंद-संगत**। क्योंकि इसी छंद की पहली पंक्ति "हाँसी में विषाद बसै" में लगभग यही भाव आ चुका है, तो कविवर इसी छंद में इसकी पुनरुक्ति क्यों करते? अतः इसमें 'पिष्टपेषण-दोष' भी आ रहा है। इन्हीं कारणों से मैंने इस पाठ की उपेक्षा करना ही उचित समझा।

6. इसी द्वार के पद्य-क्रमांक 12 में "जिहि सुख-अंतर भय बसै" के स्थान पर "जिहि सुखमें फिर दुःख बसै" पाठ प्रयुक्त हुआ है। किन्तु प्रतिपाद्य-विषय एवं कविवर की कथनशैली से मेल नहीं खाने के कारण मैंने अन्य-प्रतियों के इस पाठ की उपेक्षा करना ही उपयुक्त समझा है।

7. इसी द्वार के पद्य-क्रमांक 50 में "जाकी कीरति-कहान अनादि-अनंत है" की जगह आधार-प्रति में "जाकी कीरत कहाँ न अनादि-अनंत है" मिलता है। इसमें आगत 'कहा न' पाठ का प्रयोग पूरीतरह से भ्रामक एवं अनुचित है। जबकि कविवर यहाँ 'कीरति-कहान' पद के द्वारा 'कीर्ति की कहानी' या 'कीर्ति की यशोगाथा' अभिप्राय को व्यक्त करना चाहते हैं। अतः आधार-प्रति के पाठ को नहीं देते हुये इस अर्थ-संगतिवाले अन्य-प्रति के पाठ को ही आदर्श पाठ मानकर मैंने यहाँ दिया है।

8. 'गुणस्थान-द्वार' के पद्य-क्रमांक 2 की छठवीं पंक्ति में "सोई सुद्धमति होइ, हुती जो मलिन-सी" के अन्तर्गत आगत 'हुती जु मलिन-सी' पाठ की जगह 'होइ कुमति मलिन-सी' पाठ का प्रयोग कुछ प्रतियों में मिल रहा है। किन्तु यह पाठ किसी भी दृष्टि से आदर्श व संगत-पाठ नहीं लगने के कारण इसका प्रयोग नहीं किया गया है।

9. इसी द्वार के पद्य-क्रमांक 61 में सर्वप्रथम शब्द 'दर्व' की जगह कुछ प्रतियों में 'सर्व' शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु प्रकरण एवं अर्थ की दृष्टियों से 'दर्व' पाठ ही समीचीन होने से दूसरे पाठ की उपेक्षा की गयी है।

10. इसी द्वार के पद्य-क्रमांक 67 की अंतिम-पंक्ति में "कहै जिन-बैन" पाठ आधार-प्रति में मिल रहा है। किन्तु कुछ प्रतियों में इसकी जगह पर "कहै मत-जैन" पाठ मिला है। किन्तु अन्य-प्रतियों का यह पाठ न तो अर्थ की दृष्टि से आदर्श है और न ही प्रकरण की दृष्टि से। अतः इसकी उपेक्षा करना ही उपयुक्त समझा।

यहाँ तक पाठभेदों का संक्षिप्त-विवरण दिया है। अब मैं कुछ अन्य बिन्दुओं के विषय में जानकारी दूँगा, जिनका स्पष्टीकरण सम्पादकीय-दृष्टि से आवश्यक है—

1. 'कर्ता-कर्म-क्रिया-द्वार' में पद्य-क्रमांक 26 इस ग्रन्थ का इकलौता ऐसा पद्य है, जो आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के 20 कलशों का प्रतिच्छन्द-स्थानीय (बदले में लिखा गया) है। अन्यथा आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के एक-एक कलश-काव्य पर कविवर पं. बनारसीदास जी ने कम से कम एक पद्य की रचना इस 'नाटक-समयसार' जी ग्रन्थ में की है। **चूँकि 'समयसार' की 'आत्मख्याति-टीका' के कलश-क्रमांक 25 से 44 तक के बीस कलशों में पूरे के पूरे कलश एकसमान हैं, बस प्रत्येक कलश में एक-एक शब्द बदला है। इसलिये कविवर पं. बनारसीदास जी ने उन सभी के कथ्य को आत्मसात् करते हुये इस द्वार में पद्य-क्रमांक 26 लिखा है। सामान्यतः ऐसा लगता है कि बनारसीदास जी ने एक कलश पर तो पद्य लिख दिया है और बाकी कलशों को छोड़ दिया है। इसी भ्रम के निवारण के लिये यह स्पष्टीकरण यहाँ करना आवश्यक प्रतीत हुआ।**

2. 'बंध-द्वार' के पद्य-क्रमांक 42 में कई शब्द ऐसे आये हैं, जिनके अर्थ मात्र 'शब्दार्थ' या 'विशेषार्थ' से पूरीतरह से स्पष्ट नहीं हो सकते हैं। सम्पादकीय-दृष्टि से भी उनका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। जैसे कि 'दबोचनि' प्रयोग में कवि यह संकेत करना चाहते हैं कि जैसे किसी व्यक्ति को किसी बलवान् व्यक्ति ने दबोच रखा हो, तो वह उस बलिष्ठ-व्यक्ति की 'दबोचनी' से छूटे बिना चाहकर भी अपना पुरुषार्थ नहीं कर सकता है, उसीप्रकार

अज्ञानी-जीव कर्मोदय की दबोचनी में कसमसाता और छटपटाता तो है, परन्तु अपनी सामर्थ्य के अनुरूप पुरुषार्थ नहीं कर पाता है।

इसी में 'कोचनि के सोचसौं' वाक्यांश भी कुछ विशिष्ट-अभिप्राय को सूचित कर रहा है। जैसे किसी बग्घी में जुते हुये घोड़े पर चलानेवाला तेज दौड़ने के लिये चाबुक मारता है, तो उन चाबुक-प्रहारों से उसे न केवल तन की पीड़ा होती है, बल्कि मन भी बहुत दुःखी होता है; क्योंकि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार पहले ही दौड़ रहा होता है, फिर भी सवार अपनी क्रूरता या मौज के कारण उस पर चाबुकों से प्रहार करता है। उन प्रहारों से होनेवाली तन की पीड़ा की तुलना में उसे मानसिक-पीड़ा बहुत अधिक होती है, क्योंकि शक्ति का प्रतीक वह घोड़ा पूरी ताकत से दौड़ने व सवार को ढोने पर भी चाबुकों के प्रहार सहने को विवश है। संसारी मोही-जीव सांसारिकजनों के कटुवचनों के अनर्गल-प्रहारों से इसीतरह क्षुब्ध एवं दुःखी होता है।

इसीप्रकार इस छंद में गृहस्थी के बंधनों की विवशता को 'जोत' कहकर, दुष्टों के कुवचनों को 'आर' या 'अरई' (नुकीली-लकड़ी) की तीखी-चुभन कहा है। दिन-रात परिवार की सेवा में खटकर भी अपने लिये विश्राम के क्षण तक नहीं मिल पाने को "न उसास लहै छिन को" कहकर मार्मिक व सजीव-चित्रण किया है। साथ ही उस गृहस्थी के चक्कर में पड़े व्यक्ति को कोल्हू के दिन-रात मेहनत करके चलते रहनेवाले बैल से उपमित करके मानो भावों की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

3. 'मोक्ष-द्वार' के पद्य-क्रमांक 7 में चक्रवर्ती सम्राट् की नव-निधियाँ एवं चौदह-रत्न कहे गये हैं, उन सबका भारतीय-परम्परा एवं जैन-परम्परा के अनुसार विवरण अपेक्षित है। उस विवरण को मैं यहाँ संक्षेपतः सांकेतिकरूप में मूल-उद्धरण के साथ प्रस्तुत कर रहा हूँ। नव-निधियों के नाम व विवरणः—

'महाकाल' असि-मसि के साधन, देत 'काल' निधि ग्रंथ महान्।

'मानव' आयुध भंड 'नसरप', सुभग 'पिंगला' भूसन-खान।

'पांडुक' निधि सब धान्य देत है करै 'संख' वाजित्र प्रदान।

'सर्वरतन' रत्नों की दाता, वस्त्र देत निधि 'पद्म' महान्।

यद्यपि यह पद्य पूर्व-प्रकाशित संस्करण में भी पाद-टिप्पण में दिया गया है, किन्तु उसमें न तो निधियों के नामों को किसी संकेत से निर्दिष्ट किया गया है और न ही कार्यों को। यहाँ पर जो मैंने स्पष्ट-संकेतों के द्वारा नव-निधियों के नामों को सूचित किया है, तो शेष-वाक्यांशों से उनका कार्य स्वतः स्पष्ट हो रहा है।— यही सम्पादकीय-दायित्व है कि जितनी भी सामग्री प्रस्तुत की जाये, वह इसतरह से हो कि वह अपने कथ्य को स्वतः रेखांकित करने में समर्थ रहे। यही कार्य मैंने इस पद्य में किया है।

इसी पद्य में चक्रवर्ती के चौदह-रत्नों के भी नाम पाद-टिप्पण में विगत-संस्करण में दिये गये हैं, परन्तु उस छंद में भी सम्पादकीय-दायित्व का सम्यक्-निर्वहन नहीं होने से उन चौदह-रत्नों के नाम स्पष्ट नहीं हो पाये हैं, जिन्हें निम्नलिखित उद्धरण में सम्पादन-चिह्नों के द्वारा स्पष्ट किया गया है—

'सेनापति', 'ग्रहपति', 'थपति', 'प्रोहित', 'नाग', 'तुरंग'। 'बनिता' मिलि सातौं-रतन, हैं सजीव-सवरंग॥

'चक्र', 'छत्र', 'असि', 'दंड', 'मणि', 'चर्म', 'कांकिणी' नाम। ये अजीव-सातौं-रतन, चक्रवर्ति के धाम॥

4. ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः, स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।

न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया, स्थितिः स्थितिः वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥

— यह समयसार-कलश कोलकाता से प्रकाशित 'परमाध्यात्म-तरंगिणी' की प्रति में 'समयसार' की 'आत्मख्याति-टीका' में आगत-कलश के रूप में मुद्रित है, किन्तु अन्य-संस्करणों में यह कलश कहीं नहीं मिलता है और कविवर पं. बनारसीदास जी ने भी इस पर कोई पद्य 'नाटक-समयसार' जी में नहीं लिखा है— ऐसी सूचना पूर्व-प्रकाशित नाटक-

समयसार की प्रति के पाद-टिप्पण में उसके सम्पादक ने दी है।

मैंने इस पर तथ्यात्मकरूप से परीक्षण किया, तो पाया कि 'समयसार-कलश' नाम से 'श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात) से जो संस्करण प्रकाशित है, उसमें पृष्ठ-संख्या 184 पर यह कलश प्रकाशित तो किया गया है, किन्तु वहीं पाद-टिप्पणी में यह स्पष्ट किया गया है कि इस कलश पर बालबोधिनी-टीका के रचयिता पांडे राजमल्ल जी ने टीका नहीं लिखी है। अतः उस संस्करण के सम्पादक व अनुवादक सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री जी ने अपनी ओर से मूल-अभिप्राय के अनुसार अर्थ वहाँ लिखा है। चूँकि पं. फूलचन्द्र जी जैसे सुप्रतिष्ठित-विद्वान् ने पांडे राजमल्ल जी के द्वारा इस पर टीका नहीं किये जाने पर भी अपनी ओर से अर्थ लिखकर इसे 'समयसार-कलश-टीका' के इस संस्करण में मूलतः शामिल किया गया है, तो इससे स्पष्ट है कि यह कलश मूलतः आचार्य अमृतचन्द्र सूरि जी ने 'आत्मख्याति-टीका' में अवश्य लिखा था। 'समयसार' जी ग्रन्थ की 'आत्मख्याति-टीका' वाले संस्करणों में 'सर्वविशुद्धिज्ञान-अधिकार' की गाथा-क्रमांक 359-355 तक की समवेत-टीका में भी कलश-क्रमांक 211 के रूप में यही कलश सर्वत्र मुद्रित हुआ है। अतः इस कलश के मूलतः आचार्य अमृतचन्द्र सूरि जी के द्वारा 'आत्मख्याति-टीका' में लिखे जाने व 'समयसार-कलश' का अंग होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं की जा सकती है। किन्तु संभव है कि पांडे राजमल्ल जी को 'समयसार' की 'आत्मख्याति-टीका' की जो प्रति मिली और जिसके आधार पर पांडे राजमल्ल जी ने 'समयसार' के कलशों का चयन करके अपनी 'बालबोधिनी-टीका' लिखी है, उस प्रति में यह छंद किसी कारणवश नहीं रहा होगा, अतः पांडे राजमल्ल जी ने इस पर टीका नहीं लिखी है और कविवर पं. बनारसीदास जी ने तो अपने 'नाटक-समयसार' जी के लिये पांडे राजमल्ल जी की टीका को ही आधार बनाया है, इसलिये उन्होंने इस छंद पर अपना कोई पद्य नहीं लिखा है।— यही निष्कर्षतः मेरा मन्तव्य है।

5. 'सर्वविशुद्धि-द्वार' के ही पद्य-क्रमांक 97 का आधार-छंद 'समयसार' की 'आत्मख्याति-टीका' का 34 वाँ कलश है। उस कलश के साथ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि जी ने **न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन—** यह वाक्य मूलतः दिया है और इसके आगे भी लंबी टीका 'समयसार' गाथा-क्रमांक 387-389 की लिखी है। अतः यह पंक्तियाँ क्षेपक तो नहीं हैं— यह सिद्ध है। किन्तु पांडे राजमल्ल जी ने अपनी 'बालबोधिनी-टीका' एवं कविवर पं. बनारसीदास जी ने अपना 'नाटक-समयसार' मात्र समयसार के कलशों के आधार पर लिखा है, टीका की किसी पंक्ति को इनमें समाहित नहीं किया गया है। इसलिये पूर्व-प्रकाशित प्रति के सम्पादक-महोदय ने जो ईडर-प्रति में इस वाक्य को "कहीं से उद्धृत किया है" — कहकर सन्दिग्ध बनाया है, वह उचित-सम्पादनविधि नहीं है। उन्हें 'समयसार' की 'आत्मख्याति-टीका' को मूलतः देखकर तथ्यात्मकरूप से जानकारी देनी चाहिये थी। तथ्य यही है कि यह वाक्य ईडर-प्रति के लिपिकार ने 'आत्मख्याति-टीका' से यह कलश लिखते समय उसी टीका का अंश होने के कारण नकल करने की प्रक्रिया में अतिरिक्त (एक्स्ट्रा) गलती से लिखा गया, जिसे वह काटना भूल गये। अन्यथा यह वाक्य निराधार या कल्पित नहीं है। परन्तु यह भी सही है कि यह 'नाटक-समयसार' जी में दिये जानेवाले कलश के साथ नहीं दिया जाना चाहिये था। यह एक मानवीय-भूल अवश्य है, परन्तु इसमें छल जैसी कोई संभावना नहीं है।

6. 'सर्वविशुद्धि-द्वार' के पद्य-क्रमांक 112 में कविवर ने आठ-ऋद्धियों का उल्लेख किया है। इस संस्करण की व्याख्यात्री ने उस पर टीका करते समय जैन-परम्परागत आठ ऋद्धियों का वर्णन तो किया है, किन्तु सामान्यतः भारतीय परम्परा में प्रचलित आठ-ऋद्धियों का विवरण नहीं दिया गया है। जबकि पूर्व-प्रकाशित संस्करण के सम्पादक ने पाद-टिप्पणी में इनके विषयक एक छंद को उद्धृत किया है। किन्तु उसमें सम्पादन-शैली के चिह्नों का प्रयोग नहीं

करने के कारण वे नाम पाठकों को स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। मैं यहाँ वही पद्य सम्पादकीय-चिह्नों से उन ऋद्धियों के नाम स्पष्ट करते हुये प्रस्तुत कर रहा हूँ— 'अणिमा', 'महिमा', 'गरमिता', 'लधिमा', 'प्राप्ती', 'काम'।
'वशीकरण' अरु 'ईशता', अष्ट-रिद्धि के नाम॥

इसके आधारभूत प्रकाशित-संस्करण में उसके सम्पादक-महोदय ने पादटिप्पणियों में कई जगहों पर कुछ विषयों को स्पष्ट किया गया था। इसका कारण यह था कि उन्होंने जो टीका (पं. बुद्धिलाल श्रावक-विरचित) दी थी, उसमें बहुत सारे विषयों का स्पष्टीकरण ही नहीं किया गया था। अतः जिन विषयों का स्पष्टीकरण सम्पादक महोदय को बहुत जरूरी प्रतीत हुआ, उनको ही इन्होंने अतिसंक्षेप में संकेतित करने का प्रयास किया है।

किन्तु प्रकाश्य-संस्करण की टीकाकार ने उनका समुचित-स्पष्टीकरण अपनी 'विशेषार्थ'-संज्ञक टीका में भलीभाँति दिया है, इसलिये उन्हें अलग से पादटिप्पण देकर स्पष्ट करने की मैंने आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि यह संस्करण किसी की नकल नहीं है, जो उसका अनुसरण करना अपेक्षित हो। यह हर दृष्टि से पूर्णतः मौलिक-संस्करण है, इसलिये गुणग्राहिता का सम्मान करते हुये भी अन्य-संस्करणों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को आदर्श नहीं समझा गया है। इसीलिये इस संस्करण में प्राचीन-संस्करणों की तुलना में इसतरह की कुछ भिन्नतायें सहजरूप में मिलेंगीं ही। क्योंकि हमने अपने मानदण्डों को समक्ष रखकर इस संस्करण को निर्मित किया है।

इस संस्करण में नीचे जो 'समयसार-कलश' के मूल-संस्कृत-छंद दिये गये हैं, वे उस पृष्ठ पर दिये गये हिन्दी-छन्दों के अनुसार ही हैं। अर्थात् कविवर पं. बनारसीदास जी ने जिन समयसार-कलशों के आधार पर अपने जो छंद लिखे हैं, उन्हीं के पादटिप्पण-स्वरूप मूल संस्कृत-कलश दिये गये हैं। यह तो सामान्यतः कोई भी सुबुद्ध-सम्पादक ध्यान रखकर ही करता है। अतः इसका उल्लेख नहीं भी करता, तो चल जाता। फिर भी इस उल्लेख का यह महत्त्व अवश्य है कि जो अन्य सामान्य-विद्वान् या शोधकर्ता इस संस्करण का उपयोग करते, उन्हें सम्पादकीय में यह स्पष्ट होना आवश्यक था कि पादटिप्पण-स्वरूप दिये गये संस्कृत के छंद कौन-से हैं और उनका इस ग्रन्थ से क्या सम्बन्ध है? साथ ही यहाँ मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इन संस्कृत के छंदों में समास के कारण जब लंबे-लंबे समस्त-पद बन जाते हैं, तो सामान्य पाठक को उन्हें पढ़ने में प्रायः बहुत-असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये मैंने जहाँ सन्धि नहीं थी, वहाँ शब्दों को उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग करते हुये बीच में हाईफन (-) दे दिये हैं। किन्तु ये हाईफन मात्र शब्दों को अलग करने के लिये ही नहीं दिये गये हैं, अपितु जब छंद में जो 'यति' आती है, उसको बताने के लिये सामान्यतः तो अल्पविराम (,) का चिह्न प्रयुक्त है; किन्तु जहाँ सन्धि या समास के कारण लंबा-पद हो रहा है, वहाँ 'यति' की सूचना देने के लिये भी ऐसे हाईफनों का प्रयोग किया गया है।— यह ध्यातव्य है।

इसीतरह की कई रूद्धियों एवं अनुकरणवृत्ति से बचकर इसके आदर्श एवं उपयोगी स्वरूप को निखारने के लिये इस संस्करण के अपने मानदण्ड निर्धारित किये थे। उनका कारण अपने संस्करण की भिन्नता दर्शाना कदापि नहीं था। बल्कि इनका मूलकारण इसके स्वरूप, विषय एवं शैली को अधिक से अधिक उभारते हुये इस संस्करण को जिज्ञासु-पाठकों की जिज्ञासाओं की तृप्ति करते हुये सम्पादन, प्रकाशन एवं टीकाकरण के आदर्श-मानकों का प्रयोग करना था।

इसप्रकार इस संस्करण के अनेकों सम्पादकीय-वैशिष्ट्यों में से कुछ चुनिंदा-बानगियाँ यहाँ मैंने सुधी-पाठकों के मननार्थ प्रस्तुत कीं हैं। इन्हें जानकर वे इस संस्करण के सम्पादकीय-वैशिष्ट्यों से परिचित हो सकेंगे तथा उनसे लाभान्वित हो सकेंगे।—इसी शुभाशय के साथ।

—सुदीप कुमार जैन



प्रस्तावना

यदि वर्तमान-जिनाम्नाय में से युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव के अवदानों को एकतरफ कर दिया जाये, तो फिर सामान्यजनों को आत्मबोध करानेवाला कोई पथप्रदर्शक-वाङ्मय शेष नहीं रह जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव के पहले लिखित सभी आगम-ग्रन्थों में या तो क्रोधादि विकारी-भावों का परिचयात्मक-विश्लेषण मिलता है (द्र. 'पेज्ज-दोस-पाहुडं' या 'कसायपाहुडसुत्तं') अथवा इन विकारी-भावों के निमित्त से बंधनेवाले ज्ञानावरणादिक-कर्मों और उनकी प्रकृतियों आदि का सूक्ष्मता से विश्लेषण (द्र. 'छक्खंडागमसुत्तं' या 'षट्खण्डागमसूत्र') प्राप्त होता है। किन्तु कोई भी आगम-ग्रन्थ ऐसा नहीं लिखा गया था, जिसमें आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का और उसके अवलम्बन से आत्म-कल्याण का मार्गदर्शन मिलता हो। — यह पुनीत-कार्य वर्तमान-युग में मात्र आचार्य कुन्दकुन्द देव ने ही किया है, इसीलिये उन्हें 'युगप्रधान' कहा गया है।

उक्त दो कर्मपरक मूल-आगम-ग्रन्थों एवं उनके व्याख्या-ग्रन्थों के अलावा जिनाम्नाय के शेष सभी उपलब्ध ग्रन्थ तो आचार्य कुन्दकुन्द देव से अनुप्राणित होकर ही लिखे गये हैं, अतः उनकी तो प्रामाणिकता के आधार स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव ही हैं। अतः युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव का व्यक्तित्व एवं उनके अवदानों के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के नाम

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव का नाम यद्यपि प्रसिद्ध तो 'कुन्दकुन्द' ही हुआ है। परन्तु यह इनका 'जन्मनाम' तो था ही नहीं; 'दीक्षानाम' भी नहीं था। इनका दीक्षानाम तो 'पद्मनंदि' ही था, जो कि इनकी संघ की परम्परा के अनुरूप भी था। चूँकि इनकी दीक्षा 'नंदिसंघ' में हुई थी, जिसके संस्थापक आचार्य 'माघनंदि' थे; तो उसके अनुरूप इनका दीक्षानाम 'पद्मनंदि' होना स्वाभाविक भी है। हमारे यहाँ 'सेनसंघ' के अधिकांश आचार्यों के नाम 'सेन'-नामान्त मिलते हैं, यथा— नयसेन, जिनसेन, वीरसेन आदि; तो 'देवसंघ' के अधिकांश-आचार्यों के नाम 'देव'-नामान्त मिलते हैं, यथा— गंगदेव, जयदेव, बप्पदेव, सोमदेव आदि। इसीप्रकार नंदिसंघ की परम्परा के आचार्यों के नाम के अंत में 'नंदि' नाम मिलता है, यथा— देवनंदि, जयनंदि, वज्रनंदि, कुमारनंदि आदि।

यद्यपि यह कोई विधान नहीं था, और संभवतः इसीलिये आचार्य माघनंदि के शिष्य एवं आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का नाम 'जिनचन्द्र' था, न कि जिननंदि। परन्तु यह ध्रुव-सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द का दीक्षानाम 'पद्मनंदि' ही था, भले ही इनका प्रचलित-नाम 'कुन्दकुन्द' हुआ है।

'नंदिसंघ की पट्टावली' में लिखा है— "पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ, जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः।

ततोऽभवत् पञ्च-सुनामधामा, श्रीपद्मनंदिः मुनिचक्रवर्ती॥"

अर्थात् उनके (नंदिसंघ के संस्थापक आचार्य माघनंदि के) पट्ट पर मुनिजनों में मान्य-आचरणवाले अप्रमादी-आचार्य जिनचन्द्र हुये। उनके बाद (उस पट्ट पर) पाँच प्रसिद्ध नामोंवाले 'पद्मनंदि' नामक मुनि-चक्रवर्ती हुये।

इससे स्पष्ट है कि 'पद्मनंदि' इनका दीक्षानाम था।

तो प्रश्न उठता है कि फिर 'कुन्दकुन्द' नाम कैसे प्रचलित हुआ? —इसका उत्तर विभिन्न स्रोतों में निम्नानुसार दिया गया है —

"गुरुपरिपाठ्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे श्रीपद्मनन्दिमुनिना....."

—(श्रुतावतार, 160-161)

अर्थात् "गुरु-परम्परा से प्राप्त सिद्धान्त के ज्ञान के धारी श्री पद्मनंदि मुनि के द्वारा कोण्डकुण्डपुर में...."

इससे स्पष्ट है कि 'कोण्डकुण्ड' या 'कुन्दकुन्दपुर' नामक नगर के संभवतः ये निवासी थे, या उस नगर में रहकर इन्होंने 'परिकर्म' नामक सिद्धान्त-टीका लिखी थी। जो भी हो, चाहे यह इनके जन्मस्थान का वाची हो, या फिर

सिद्धांत-ग्रंथ का रचनास्थल; किन्तु यह स्पष्ट है कि यह नगर/ स्थान का नाम था, न कि आचार्यदेव का 'मूलनाम' या 'दीक्षानाम'। वैसे अद्यतन-अनुसन्धानों से इनका जन्मस्थान 'कोणकौंडला' या 'कोण्डकुण्डपुर' ज्ञात है।

इसके प्रचलन का संभवतः यह कारण रहा हो कि उस समय संघ में या निकटवर्ती-काल में 'पद्म' नामवाले और भी अनेक मुनिवृंद रहे होंगे। हम पाते हैं कि यह एक युगधर्म-सा हमारे देश में प्रचलित रहा है कि एक समय में समान-नामवाले कई लोग मिलते हैं। आधुनिक समय में आज से पच्चीस वर्ष पहले प्रायः हर मोहल्ले में कई सुरेश, रमेश, महेश, दिनेश नामवाले लोग होते थे। तब उस स्थिति में उन्हें कुल-गोत्र आदि के नाम से पहिचाना जाता था। पंजाब-प्रान्त में आज भी जितने 'सरनेम' प्रचलित हैं, वे अधिकांश उनके ग्राम या नगर के वाचक हैं, यथा- खन्ना, तलवंडी, बादल, कोहल आदि सभी कुल-गोत्र के वाचक न होकर जिस ग्राम-नगर का वह व्यक्ति निवासी है, उस ग्राम या नगर का नाम है। प्राचीनकाल में भी ऐसी रूढ़ि प्रचलित रही है। गांधारी, कैकेयी, माद्री— ये इनके वास्तविक नाम नहीं थे, बल्कि क्षेत्रवाची थे। कैकेय-प्रान्त की 'कैकेयी', गांधार-प्रान्त की 'गांधारी', तो मद्र-देश की 'माद्री'। मेरे कहने का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि भारतवर्ष में व्यक्तियों के नाम ग्राम, नगर, प्रान्त या देश पर आधारित भी रहे हैं। आज से पच्चीस-वर्ष पहले तक संयुक्त-परिवारों में वधुओं को नागपुरवाली, कानपुरवाली, मथुरावाली— जैसे नामों से ही जाना व बुलाया जाता था। उनका वास्तविक-नाम शायद ही किसी को ज्ञात होता था।

आचार्यकुन्दकुन्द देव के नाम के साथ भी लगभग यही स्थिति है, कि 'कोण्डकुण्ड' परिवर्तित रूप (कुन्दकुन्द) नामक ग्राम के कारण ये 'कुन्दकुन्दवाले पद्मनंदि' कहे जाते रहे होंगे। किन्तु धीरे-धीरे इन्हें मात्र 'कुन्दकुन्द' ही कहा जाने लगा और इनका मूलनाम 'पद्मनंदि' अधिक-प्रयुक्त होने के कारण लोग प्रायः भूल ही गये।

चन्द्रगिरि के शिलालेख (45/66) में स्पष्ट लिखा है— **"श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य-शब्दोत्तर-कुन्दकुन्दः"** अर्थात् 'पद्मनंदि'—इस निर्दोष/यथार्थ नामवाले आचार्य हुये, जिनका नामान्तर 'कुन्दकुन्द' था।

यह विशेष बात है कि 'नंदिसंघ' में 'बलात्कारगण' के अग्रणी तो आचार्य कुन्दकुन्द देव ही थे। 'मूलाचार-प्रदीपिका' में स्पष्ट लिखा है कि **"पद्मनंदि-गुरुर्जातो बलात्कार-गणाग्रणी"** इस बात का समर्थन आचार्य शुभचन्द्रकृत 'पाण्डवपुराण' में भी मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के पाँच नामों की चर्चा षट्प्राभृत के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर जी ने ही की है —
"इति श्रीपद्मनंदि-कुन्दकुन्दाचार्य-वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य-गृद्धपिच्छाचार्य-नामपञ्चक-विराजितेन..."

—(मो. पा. टी. प्रशस्ति, पृ. 379)

अर्थात् "पद्मनंदि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य— इन पाँच नामों से प्रसिद्ध...."

इन पाँच नामों की चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। हाँ, इतना अवश्य है कि अनेकों उल्लेखों में पद्मनंदि एवं कुन्दकुन्द— इन दो नामों के साथ बहुवचन का प्रयोग यह प्रमाणित अवश्य करता है कि इन दो नामों के अतिरिक्त अन्य-नाम भी इनके प्रचलित थे।

इन पाँच नामों में प्रथम दो नामों (पद्मनंदि एवं कुन्दकुन्द) के विषय में तो स्पष्टीकरण किया जा चुका है कि 'पद्मनंदि' तो उनका दीक्षानाम था, एवं 'कुन्दकुन्द' नामक स्थान के होने के कारण यह नाम उनका प्रचलित हुआ है। किन्तु शेष तीन नामों के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है। मात्र कुछ कथाग्रंथों में ही इनके विवरण मिलते हैं, जो सब मिलकर यही बताते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द देव विदेहक्षेत्र में सीमंधर स्वामी की वंदनार्थ गये थे, तभी कुछ परिस्थितियों के कारण इन नामों की स्थिति बनी। जैसे कि—

सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ जाते समय उनकी मयूर-पिच्छिका रास्ते में कहीं गिर गयी, तो ईर्यासमिति के निर्दोष-पालनार्थ अपवादरूप में गृद्धपक्षी के गिरे हुये पंखों की पिच्छी लेकर उन्होंने कुछ समय काम चलाया था, इसलिये उनका 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम पड़ा। (मुझे यह तर्क समझ नहीं आया, क्योंकि गृद्ध-पक्षी के पंख मयूर

जैसे सुकोमल नहीं होते हैं, अतः उनसे जीवरक्षा वैसी संभव नहीं है। इसे मात्र आपवादिक ही माना जा सकता है; परन्तु इसके कारण कुन्दकुन्द आचार्यदेव का नामकरण किया जाये— यह मुझे बहुत समीचीन प्रतीत नहीं होता है।) वैसे हमारी आचार्य-परम्परा में उमास्वामी आचार्य को भी 'गृद्धपिच्छाचार्य' कहा गया है। तथा कोई आचार्य 'बलाकपिच्छाचार्य' के नाम से भी इन्हीं कारणों से प्रसिद्ध हुये हैं।

तथा सीमंधर स्वामी की सभा में पाँच सौ धनुष की अवगाहनावाले विशालकाय-लोगों के बीच ये लघु-आकारवाले आचार्य थे, अतः इन्हें 'एलाचार्य' कहा गया।

(ज्ञातव्य है कि जिनागम में 'एलाचार्य' पद एक पारिभाषिक-पद है, उसके अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द देव को 'एलाचार्य' संज्ञा उपयुक्त नहीं है। क्योंकि वह आज की भाषा में किसी 'जूनियर' जैसी स्थिति है। 'भगवती आराधना' (177/365) ग्रंथ में स्पष्ट कहा गया है कि "गुरु-आचार्य के पश्चात् जो चारित्र के क्रम का उपदेश अन्य-मुनिराजों व आर्यिकादिक को कहता है, उसे 'एलाचार्य' कहते हैं।)"

'वक्रग्रीवाचार्य' नाम की कोई विशेष-कथा तो नहीं मिलती है, किन्तु कहा जाता है कि चौरासी पाहुडों के लेखन कार्य में निरन्तर-व्यस्त रहने से इनकी गर्दन कुछ टेढ़ी हो गयी थी, अतः इनकी 'वक्रग्रीवाचार्य' संज्ञा प्रचलित हुई।

महत्त्वपूर्ण-बात यह उभरकर सामने आती है कि इन नामों से कुन्दकुन्द आचार्यदेव की गरिमा तनिक भी बढ़ती नहीं है। उनके सुचरित्र व महनीय-लेखन का आभामण्डल पहले से ही इतना ज्योतिषित है, कि उसे किसी अन्य पहिचान की अपेक्षा ही नहीं है। इन नामों के साथ जो घटनायें प्रचलित की गयीं हैं, उनसे कुन्दकुन्द आचार्य की गरिमा घटती ही है एवं विवादास्पद-स्थिति बनती है। इनके कोई तथ्यात्मक-प्रमाण भी नहीं मिल रहे हैं; अतः इनको कुन्दकुन्द आचार्य देव के साथ जोड़ने का प्रयास किसी सार्थक-प्रतिपत्ति को जन्म नहीं देता है। स्पष्ट कहा जाये, तो कुन्दकुन्द आचार्य देव के साथ जुड़कर ये घटनायें प्रसिद्धि को प्राप्त हो गयीं हैं, किन्तु इनसे कुन्दकुन्द आचार्य देव की गरिमा रंचमात्र भी बढ़ती नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुड-ग्रंथ—

आचार्य कुन्दकुन्द देव के उपलब्ध पाहुड-ग्रंथों के अतिरिक्त कई पाहुड-ग्रंथों के नाम विद्वानों ने विविध साक्ष्यों के आधार पर खोज निकाले हैं। इनके निर्विवादरूप से माने गये उपलब्ध पाहुड-ग्रंथों के नाम इसप्रकार हैं—

1. पंचत्थिकायसारसंग्रहो, 2. पवयणसारो, 3. समयपाहुडं, 4. णियमसारो, 5. दंसणपाहुडं, 6. सुत्तपाहुडं, 7. चरित्तपाहुडं, 8. बोधपाहुडं, 9. भावपाहुडं, 10. मोक्खपाहुडं, 11. लिंगपाहुडं, 12. सीलपाहुडं, 13. बारस-अणुवेक्खा, एवं 14. दसभत्तिसंग्रहो।

इनके अतिरिक्त 'रयणसारो' एवं 'मूलायारो'— ये दो ग्रंथ भी आचार्य कुन्दकुन्द देव द्वारा प्रणीत माने जाते हैं। किन्तु कई विद्वान् विभिन्न-कारणों से इन्हें आचार्य कुन्दकुन्द देव की रचना नहीं मानते हैं। ये भी सम्प्रति उपलब्ध हैं।

इनके कुल चौरासी पाहुड-ग्रंथ माने गये हैं, जिनमें उपर्युक्त पाहुड-ग्रंथों के अतिरिक्त शेष सब अनुपलब्ध हैं। उनमें से अधिकांश के तो नाम भी ज्ञात नहीं हो सके हैं। किन्तु डॉ. ए.एन.उपाध्ये ने विविध-प्रमाणों के आधार पर उनमें से तेतालीस (43) पाहुड-ग्रंथों के नाम पता करने का दावा किया है। वे नाम इसप्रकार से हैं—

1. आयारपाहुडं, 2. आलापपाहुडं, 3. अंगपाहुडं, 4. आराहणापाहुडं, 5. बंधपाहुडं, 6. बुद्धिपाहुडं, 7. चरणपाहुडं, 8. चुण्णिपाहुडं, 9. चूलिपाहुडं, 10. दिव्वपाहुडं, 11. दव्वपाहुडं, 12. दिट्ठिपाहुडं, 13. एयंतपाहुडं, 14. जीवपाहुडं, 15. जोणिपाहुडं, 16. कम्मविवायपाहुडं, 17. कम्मपाहुडं, 18. किरियासारपाहुडं, 19. खवणपाहुडं, 20. लद्धिपाहुडं, 21. लोवपाहुडं, 22. णिच्चपाहुडं, 23. णमपाहुडं (?), 24. णोकम्मपाहुडं, 25. पंचवग्गपाहुडं, 26. पयद्धपाहुडं, 27. पयपाहुडं, 28. पयडिपाहुडं, 29. पमाणपाहुडं, 30. सलमीपाहुडं (?), 31. समवायपाहुडं, 32. सद्दंसणपाहुडं, 33. सद्दंसणपाहुडं, 34. सिद्धंतपाहुडं, 35. सिक्खापाहुडं, 36. ठाणपाहुडं, 37. तच्चपाहुडं, 38. तोसपाहुडं, 39.

उप्पादपाहुडं, 40. ओघाणपाहुडं, 41. विज्जापाहुडं, 42. वत्थुपाहुडं, और 43. विहियपाहुडं।

रोचक-बात यह है कि जैन-इतिहास, संस्कृति व दर्शन के शोधकर्ता-मनीषियों ने इन नामों को कोई वरीयता नहीं दी है। यही नहीं, इनकी प्रचलित-कथाओं व कारणों को उन्होंने पूरीतरह उपेक्षित कर दिया है। अतः इनकी चर्चा में समय नष्ट करना ही होगा, इसलिये इसे यहीं विश्राम देता हूँ।

आचार्य कुन्दकुन्द देव की जन्मभूमि 'कोणकुंडला'

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव तब से लेकर आज तक की सम्पूर्ण निर्ग्रन्थ-आचार्य-परम्परा के सिरमौर हैं, यह तथ्य सर्व-स्वीकृत है।

कुछ समय पहले आज के एक दिगम्बर-जैन-मुनिपद-धारक आचार्य ने अपने शिष्यों को कहकर अपने नाम को जैन-आचार्य-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ-आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये षट्खण्डागम के लिपिकर्ताओं में से एक आचार्य पुष्पदन्त स्वामी के नाम-सादृश्य की ओट लेकर "मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो" के स्थान पर "मंगलं पुष्पदन्ताद्यो" लिखवाने एवं छपवाकर प्रचारित करने का अतिसाहस किया था। तब मैंने अनेकों प्रबल-प्रमाणों से पुष्ट सामग्री देकर इस बात को नितान्त-अनुचित-चेष्टा सिद्ध करते हुये यह भी प्रमाणित किया था कि आचार्य कुन्दकुन्द देव सम्पूर्ण दिगम्बर जैन आचार्य-परम्परा में सर्वश्रेष्ठ-आचार्य क्यों हैं और वस्तुतः अनेकों महान् आचार्य भगवन्तों के होते हुये भी उन्हें ही शासननायक भगवान् महावीर स्वामी व प्रधान-गणधर इन्द्रभूति गौतम के बाद सर्वश्रेष्ठ-आचार्य के रूप में क्यों स्मरण किया गया है? और उन्हें अन्य किसी भी आचार्य से स्थानान्तरित (री-प्लेस) नहीं किया जा सकता है।

दिगम्बर जैन आचार्य-परम्परा के इन निर्विवाद-सर्वश्रेष्ठ आचार्यप्रवर के विषय में अनेकप्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। जिनमें कुछ को तो अकाट्य-प्रमाणों से मैं प्रमाणित कर चुका हूँ (जैसे कि आचार्य कुन्दकुन्द देव का विदेहगमन, उनके लिये ऋद्धियाँ प्रकट होना, उनके मूलागमों का अधिकारी-वैदुष्य इत्यादि) और कुछ की प्रामाणिकता की जाँच-हेतु मैं तथ्य एकत्रित कर रहा हूँ।

इसी क्रम में मैंने आचार्य कुन्दकुन्द देव की 'तपोभूमि' एवं विदेहगमन-भूमि 'पोन्नूरमलै' की तथा उनकी 'समाधिस्थली' 'कुन्दाद्रि' की विशेषरूप से यात्रायें कीं और तथ्यों का संचय किया। किन्तु उनकी जन्मभूमि 'कोणकुंडला' की वर्तमान-दशा एवं वास्तविकता को तथ्यात्मकरूप से जानने के लिये मैंने मई 2018 माह की 25-26 दिनांकों को उस क्षेत्र की यात्रा की तथा तथ्यों को एकत्रित किया, जिनमें वीडियोज़, स्टिल-पिक्स, कोर्ट के निर्णयों की प्रतियाँ, और अन्य विविधप्रकार के दस्तावेज़ शामिल हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव की जन्मभूमि 'कोणकुंडला' वर्तमान आंध्रप्रदेश के अनंतपुर नामक कर्नाटक-सीमान्त जिले में है। जो कि अनंतपुर जिला-मुख्यालय से लगभग 70 किमी. की दूरी पर स्थित है। दक्षिण-रेल्वे के महत्वपूर्ण रेल्वे स्टेशन 'गुंटकल' से लगभग आठ किमी की दूरी पर 'गुंटकल' कस्बे से 'अनंतपुर' जिला-मुख्यालय के मार्ग, जो कि 'स्टेट-हाईवे' कहा जाता है, पर स्थित है।

यहाँ पर तीन पहाड़ हैं, एक तो राजमार्ग से सबसे निकट व सबसे छोटा पहाड़ है, दूसरा पहाड़ उसके पीछे है व उससे कुछ बड़ा है। तथा तीसरा पहाड़ इन दोनों के पीछे है और इन दोनों से भी कुछ बड़ा है। इनमें से पहला व सबसे छोटा पहाड़ ही आचार्य कुन्दकुन्द देव की जन्मस्थली के रूप में विख्यात है। इस पहाड़ पर जैन-क्षेत्र होने के दो बड़े प्रमाण विद्यमान हैं। ये दोनों ही बगल-बगल में हैं।

पहले प्रमाण के रूप में अपेक्षाकृत ऊँचे भाग पर जंबूद्वीप का चट्टान पर उत्कीर्ण एक रेखाचित्र विद्यमान है, जिसे आंध्रप्रदेश राज्य के राजकीय पुरातत्त्व-विभाग के रिकार्ड के अनुसार 'जम्बूद्वीपचक्रमु' कहा गया है। इस विषयक राज्य-पुरातत्त्व-विभाग का एक सूचनापट्ट भी वहाँ लगा हुआ है। इसके कुछ निचले-भाग में उसी चट्टान

पर एक रेखाचित्र के रूप में ही एक दिगम्बर-जैन मुनि की आकृति उकेरी हुई है, जिसे लोग आचार्य कुन्दकुन्द देव की आकृति के रूप में बताते हैं।

इसके बगल में स्थित एक अन्य अस्थायी-कक्ष में भूतल से भी निचली-सतह पर (जिसे कहा जा सकता है कि कुछ गहराई में) दो अर्हन्त-जिनबिम्ब स्थित हैं, जिनकी स्थानीय-जैन-समाज के न होने के कारण पूर्णतः उपेक्षा हो रही है। स्थानीय व आसपास के पचास किमी. के गाँवों तक के जैनेतर लोग उनकी 'जलवृष्टि के देवता' के रूप में प्रतिष्ठा है। आज भी उस सबसे कम वर्षावाले 'अनंतपुर' जिले में जब भी जलसंकट उत्पन्न होता है, तो सब लोग मिलकर इन बिम्बों की पूजा करते हैं व श्रीफल समर्पित करते हैं। तो जितने लोगों से (पढ़े-लिखे से अनपढ़ तक, व्यापारी से नौकरीपेशा तक, श्रीमन्त से निर्धन तक सभी) मेरी बातचीत हुई, सभी ने एकमत से इसकी पुष्टि की है कि इन बिम्बों की पूजा से इस क्षेत्र में सुनिश्चितरूप से बारिश होती है। **यद्यपि यह एक गृहीत-मिथ्यात्व की मान्यता के अलावा और कुछ नहीं है**, परन्तु लोकरूढ़ि आज इसी रूप में प्रचलित है।

इस गाँव में कहीं आचार्य कुन्दकुन्द देव बालक के रूप में जन्मे थे या कि इस पहाड़ पर उनका जन्म हुआ था?— यह कहना तो पोषक-प्रमाणों के अभाव में कठिन है; किन्तु यह सत्य है कि यह क्षेत्र सर्वश्रेष्ठ-आचार्य कुन्दकुन्द देव की जन्मभूमि रहा है। चूँकि शिलालेखों से लेकर अन्य विविध-ग्रंथों व लोक-मान्यताओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है, तथा "बाधक-प्रमाणाभावात्" की प्रबलतम-युक्ति इस तथ्य का पोषण करती है; क्योंकि अन्य कोई क्षेत्र आचार्य कुन्दकुन्द देव की जन्मभूमि के रूप में विख्यात नहीं है और न ही किसी अन्य ग्राम या नगर का नाम मुझे पर्याप्त-शोधकार्य के बाद भी 'कोणकुंडला' के नाम से नहीं मिला है।

इसका मूलनाम सुनिश्चितरूप से यह ('कोणकुंडला') नहीं रहा होगा। क्योंकि ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द देव की जन्मभूमि का नाम 'कुन्दकुन्दपुर' या 'कोण्डकुण्डपुर' मिलता है; अतः वही समीचीन मालूम होता है। चूँकि आचार्य कुन्दकुन्द देव का मूलनाम तो 'पद्मनंदि' था और उन्हें 'कुन्दकुन्दपुर' का निवासी होने के कारण अन्य पद्मनंदि-नाम वालों से भिन्न पहिचानने के लिये "कौन से पद्मनंदि?"— "कुन्दकुन्दपुर वाले"— ऐसा कहे जाने से वे 'कुन्दकुन्द' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गये थे। अतः इस ग्राम या स्थान का मूलनाम तो 'कोण्डकुण्डपुर' या 'कुन्दकुन्दपुर' ही रहा होगा। बाद में इसे युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द को भूतल पर लानेवाले के रूप में कुन्दकुन्द के नाम के साथ 'ला' यानि 'लानेवाला' जोड़कर इसे 'कोणकुंडला' बना दिया गया होगा—ऐसा मेरा प्रबल-अनुमान है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव की साधनाभूमि : पोन्नूरमल्लै

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव के पावन-सान्निध्य का प्रचुर-लाभ पाकर जो धन्य-धरा बनी, उस पुनीता-स्थली का नाम है 'पोन्नूरमल्लै'। इस स्थान पर रहकर उन्होंने अपनी अधिकांश साहित्य-साधना सम्पन्न की थी। यह स्थली आज भी जन-कोलाहल से दूर सुरम्य एवं शांतिपूर्ण है, तो आज से दो हजार वर्ष पहले तो और भी शांतिमय रही होगी। संभवतः इस स्थली का यही गुण आचार्य कुन्दकुन्द देव को साहित्य-साधना के लिये सर्वाधिक-उपयुक्त प्रतीत हुआ था और इसीकारण उन्होंने इस पुनीता-स्थली पर लंबे समय तक रहकर अपने चौरासी (84) पाहुड-ग्रन्थों में से अधिकांश ग्रन्थों की रचना सम्पन्न की थी।

विचार करने पर रोमांच हो आता है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव जैसे युगप्रधान-आचार्य, जो न केवल अपनी ज्ञानसाधना के लिये विश्वविख्यात हैं, बल्कि वर्धमान-चारित्र के धनी सर्वाधिक विशुद्ध-चर्या के निदर्शन के रूप में भी आदर्श-व्यक्तित्व रहे हैं, ने अपने पवित्रतम-जीवन का अधिकांश-भाग इसी क्षेत्र में व्यतीत किया था।

यह इस क्षेत्र का तो सौभाग्य था ही, साथ ही इस क्षेत्र की कैसी अनुपम-गरिमा रही होगी, जिसने वायु के समान निःसंग एवं आकाश के समान निर्लिप्त मनःस्थितिवाले आचार्य कुन्दकुन्द देव जैसे महापुरुष को अपने अंचल में रहकर तपःसाधना एवं साहित्य-साधना के लिये आकर्षित कर लिया था।

इतना ही नहीं, यही वह पुण्यधरा है, जहाँ से आचार्य कुन्दकुन्द देव पूर्वविदेह-क्षेत्र में विहरमान-तीर्थकर सीमन्धर स्वामी का सान्निध्यलाभ लेने एवं उनकी पवित्र दिव्यध्वनि का श्रवण करने गये थे।

इस पंचमकाल की अभूतपूर्व-घटना की साक्षी भी यही धरा है। और सात दिनों तक विदेहक्षेत्र में रहकर साक्षात् तीर्थकर परमात्मा का सान्निध्यलाभ एवं मंगल-दिव्यध्वनि प्राप्त कर जब वे वापस इस भारतभूमि पर लौटे, तो इसी स्थली पर आये थे और यहीं पर उन्होंने तीर्थकर-परमात्मा सीमन्धर स्वामी के मंगल-प्रवचनों के सारभूत 'प्रवचनसार' नामक प्रमाण-ग्रन्थ की रचना की थी। यह उनकी साहित्य-साधना का चरम-ग्रन्थ था।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पोन्नूरमळै' नामक यह क्षेत्र दिगम्बर-जैन मूलसंघ के सर्वाधिक महान् आचार्य कुन्दकुन्द देव के सुदीर्घ-सान्निध्यलाभ के साथ-साथ अनेकों कालजयी जिनाम्नाय के सर्वोत्कृष्ट-ग्रन्थों के प्रणयन की साक्षी भी रही है। कल्पना करें कि इसका कितना अभूतपूर्व-सौभाग्य रहा था। किन्तु आज हमारी समाज के एवं विद्वज्जगत् के अधिकांश लोग इसके नाम एवं परिचय से अनभिज्ञ बने हुये हैं— यह एक बहुत बड़ी बिडम्बना है।

इस पावन-स्थली का संक्षिप्त-परिचय निम्नानुसार प्रस्तुत है—

भौगोलिक-स्थिति (लोकेशन)— यह स्थान भारत गणराज्य के तमिलनाडु प्रान्त में तिरुमण्णामलै जिले में स्थित वन्देवासी तालुके में वडक्कमवाडी ग्राम के निकट पोन्नूर नामक पर्वत विद्यमान है। यहाँ का पिनकोड नंबर 604506 है। राजधानी चेन्नई से यह 'चेन्नई-कांचीपुरम' राजकीय-राजमार्ग पर कुछ वन्देवासी से कुछ पहले तक, फिर छोटे सम्पर्क-मार्ग पर चेन्नई से लगभग 130 किमी. दूरी पर स्थित है। यहाँ की जनसंख्या तो लगभग नगण्य ही थी, क्योंकि यह कोई ग्राम भी नहीं है। यह तो एक निर्जन-पहाड़ी के रूप में तीर्थस्थली है। (किन्तु आज यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव के नाम से एक संस्थान एवं शोध-केन्द्र की स्थापना के बाद कुछ गतिविधियों के संचालन से यहाँ आवागमन बढ़ा है और कुछ स्थायीरूप से निवास करनेवाले लोगों की संख्या एवं संसाधन बढ़े हैं।)

इस पर्वत के नीलाभ-वर्ण का होने से इसे स्थानीय लोग नीलगिरि के नाम से भी अभिहित करते हैं। किन्तु इसका मूलनाम पोन्नूरमळै ही है। प्राचीन तमिलभाषा में पोन्नूर शब्द का अर्थ 'स्वर्ण' या 'सोना' (Gold) होता है और मळै शब्द पर्वतवाची है। संभवतः दक्षिण भारत में 'मलयाचल या मलयगिरि' की वैसी ही महत्ता मानी गयी है, जैसी कि उत्तर भी में हिमाचल पर्वत की; इसीलिये वहाँ मलय या मळै शब्द पर्वत के अर्थ में रूढ़ हो गया हो सकता है। इसतरह इस पर्वत को हम सरल-हिंदी भाषा में 'स्वर्णगिरि' भी कह सकते हैं। (क्या इसे एक सुसंयोग नहीं कह सकते हैं कि मूल-ग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अपने पाहुड-ग्रन्थों की रचना 'स्वर्णगिरि' पर की थी, और उनके लगभग दो हजार वर्ष बाद उनके सर्वाधिक समर्थ व्याख्यान एवं प्रभावना का पुनीत-कार्य 'स्वर्णपुरी' के नाम से विख्यात 'सोनगढ़' से हुआ। यह भी संयोग ही है कि मूलकर्ता की प्रथम-नामाक्षर भी 'क' वर्ण था और प्रभावक-व्याख्यानकर्ता का भी प्रथम-नामाक्षर 'क' वर्ण से ही है। वे 'कुन्दकुन्द' नाम से विभूषित थे और ये 'कानजी स्वामी' के नाम से विख्यात हुये। है न रोचक संयोग ?)

इस पर्वत की ऊँचाई अधिक नहीं है, मात्र लगभग 300 सीढ़ियाँ चढ़कर 15-20 मिनट में कोई भी इसके ऊपर पहुँच सकता है। ऊपर एक हॉल टाइप बना है, जिसमें एक विशाल-शिलाफलक पर बहुत ही नयनाभिराम चरण-युगल उत्कीर्णित हैं। इन्हें आचार्य कुन्दकुन्द देव के चरण-युगल के चिह्न के रूप में मान्यता प्राप्त है।

यहीं दो प्राकृतिक बहुत छोटी-गुफायें भी हैं, संभवतः जिनमें बैठकर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अपनी साधना की होगी।

इसी पर्वत-शिखर पर हॉल के बाहर दो अतिप्राचीन चम्पक-वृक्ष (चम्पा के फूल के पेड़) भी हैं। ऐसे

उल्लेख मिलते हैं कि इन्हीं वृक्षों के नीचे बैठकर आचार्य कुन्दकुन्द देव अपनी साहित्य-साधना करते रहे। मैं एक वनस्पति-विज्ञानी के रूप में इन वृक्षों के दो हजार वर्ष प्राचीन यानि कुन्दकुन्द-कालीन होने का दावा तो नहीं कर सकता हूँ, किन्तु ये अतिप्राचीन हैं— यह इनको देखने मात्र से स्पष्ट प्रतीत होता है। साथ ही इनमें प्रचुर-मात्रा में चम्पक-पुष्पों की बहार बारहों महीने रहती है, जिनकी मंत्रमुग्ध कर देनेवाली सुगन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द देव के चरित्र एवं उनके सन्देशों की पवित्र-भीनी-गन्ध का साम्य प्रतीत होता है।

इस पर्वत के ठीक नीचे सीढ़ियों के ठीक सामने धर्मानुरागी भाई श्री अनन्तभाई अमूलक जी शेठ, मुंबई ने ट्रस्ट के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द देव की इस पुण्य-तपोभूमि के बहुमान के निमित्त 'आचार्य कुन्दकुन्द सेंटर' नाम से एक संस्था आज से लगभग बीस वर्ष पहले स्थापित की थी और एक भव्य-जिनमंदिर जी की स्थापना की थी। उसके पहले यहाँ की स्थायी-जनसंख्या लगभग-शून्य थी। उसके बाद जैनसमाज के ही विभिन्न-संस्थानों एवं व्यक्तियों ने यहाँ कई शैक्षणिक एवं धार्मिक-केन्द्र स्थापित किये हैं, दिनमें लगभग 100 जैनभाई-बहिन स्थायी-तौर पर रह रहे हैं। आसपास के क्षेत्र में आज तीन दिगम्बर-जिनमंदिर जी हैं, जिनमें वीतरागी-जिनबिम्ब विराजमान हैं और इस सम्पूर्ण-क्षेत्र को एक जैन-तीर्थ के रूप में प्रमाणित कर रहे हैं। इसके आसपास लगभग पचास किलोमीटर क्षेत्र में पचासों जिनमंदिर जी हैं, जो बहुत-प्राचीन एवं भव्य हैं।

यह आचार्य कुन्दकुन्द देव के व्यक्तित्व एवं सदेह-उपस्थिति का ही विशिष्ट-प्रभाव कहा जा सकता है कि जहाँ दक्षिण भारत के आंध्र, केरल जैसे प्रान्तों में आज जैनधर्म के प्राच्यावशेष मुख्यतः मात्र संग्रहालयों में ही मिलते हैं, लोकजीवन में मध्य वे मात्र इतिवृत्त के रूप में ही स्मृतिशेष रह गये हैं। कोई भी प्राचीन जिनमंदिर एवं पुरावशेष वहाँ नहीं मिलते हैं, दो-एक अपवादों को छोड़कर। जबकि तमिलनाडु के प्रायः हर-गाँव, नगर में प्राचीन जिनमंदिर जी भी विद्यमान हैं और उनकी सेवा-पूजा करनेवाले जिनधर्मानुयायी भी हैं। यह आचार्य कुन्दकुन्द देव के सान्निध्य का जीवन्त-प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर हो रहा है। 'वन्देवासी-ग्राम' के एक जिनमंदिर जी के परिसर में तो आचार्य कुन्दकुन्द देव की एक अतिप्राचीन विशाल, भव्य-प्रतिमा विराजमान है।

इतना ही नहीं, तमिलनाडु में आचार्य कुन्दकुन्द देव की समकालीन-परिस्थितियों में ही इनकी त्रिआयामी-आकृतिवाला एक सिक्का राजकीय-मुद्रा (सरकारी करेंसी) के रूप में प्रचलित होना इनके इस क्षेत्र में अनन्य-प्रभाव का द्योतक-प्रमाण है।

इसीप्रकार इनका नामान्तर 'एलाचार्य' तो आज भी तमिलनाडु के जनजीवन में भगवान् से भी ज्यादा स्थान-प्राप्त है। किसी भी धर्म या जाति का व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) हो, वह उत्तरभारत में प्रचलित "भगवान् की कसम" जैसे वाक्य की जगह "एलाचार्य की सौगंध" जैसे प्रयोग करते हैं। यहाँ तक कि खेतों में अनाज बोते समय, धान की रोपाई करते समय सब एलाचार्य की ही वंदना मंगलकामना के लिये करते हैं। फसल कटने पर पहली धान्य की अँजुलि एलाचार्य का नाम लेकर उन्हें भावपूर्वक समर्पित करने के बाद ही फसल को बेचने या भोजन के निमित्त उपयोग करते हैं। — ये ही नहीं, और भी अनेकों लोकरूढ़ियाँ, किंवदन्तियाँ एवं परम्परायें इस क्षेत्र के जनसामान्य में आचार्य कुन्दकुन्द देव के विशिष्ट-प्रभाव को प्रमाणित करती हैं।

एक 'अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान-सम्मेलन' (इंटरनेशनल साइंस कांग्रेस) में मुझे मिले इसरो (भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन) के उपग्रह-प्रक्षेपण-कार्यक्रम के निदेशक (सैटेलाइट-डॉयरेक्टर) ने मुझे यहाँ से आचार्य कुन्दकुन्द देव के विदेहगमन के बारे में एक अद्भुत-जानकारी प्रदान की। उन्होंने कहा कि "पूरे भारत में सुदूर अंतरिक्ष-मार्ग से दूर-गमन के लिये यह क्षेत्र सबसे अनुकूल है, इसीलिये भारत का उपग्रह-प्रक्षेपण-केन्द्र श्रीहरिकोटा इसी के पास बनाया गया है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द यदि विदेहक्षेत्र गये होंगे, तो सुनिश्चितरूप से यहीं से गये होंगे।"

इसप्रकार इस क्षेत्र से आचार्य कुन्दकुन्द देव के सम्पर्क एवं प्रभाव के बारे में कुछ जानकारियाँ मैंने यहाँ प्रस्तुत की हैं, किन्तु यदि वहाँ के पुरावशेषों, अभिलेखों आदि की निष्ठापूर्वक शोध की जाये, तो आचार्य कुन्दकुन्द देव के बारे में एवं इस क्षेत्र में उनकी उपस्थिति व प्रभाव के बारे में कई महनीय-तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं।

कुल मिलाकर संक्षेप में यही कह सकते हैं कि 'पोन्नूरमळै' नामक यह क्षेत्र आचार्य कुन्दकुन्द देव की तपोभूमि या साधनास्थली के रूप में गौरवान्वित रहा है।

इसके आसपास स्थित सैकड़ों जिनमंदिरों के शास्त्रागारों में एवं जिनवाणी के भक्त जिन-धर्मानुयायियों के निजी-ग्रन्थभंडारों में आज भी हजारों प्राचीन ताड़पत्रीय-पांडुलिपियाँ संचित हैं। इनमें आचार्य कुन्दकुन्द देव के 84 पाहुड-ग्रन्थों में से आज तक अनुपलब्ध-ग्रन्थ भी मिल सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति या संस्था लोकरंजन के या दिखावे के कार्यों में आकर्षण छोड़कर इसे एक प्रॉजेक्ट के रूप में चलाये, तो यह क्षेत्र आज भी हमें कोई अमूल्य-उपहार दे सकता है। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रंथों को 'पाहुड' कहा गया है और 'पाहुड' शब्द का अर्थ ही 'उपहार' होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की समाधि-स्थली 'कुन्दाद्रि'

कुन्दाद्रि की वंदना के लिये 'मूडबिद्री' से चलकर मैं 'वरांग-क्षेत्र' होते हुए 'तीर्थहल्ली' होकर हुम्मचा पहुँचा। वहाँ से प्रकाशित दो पुस्तकें मुझे उपलब्ध करायीं, जिनमें उनके अनुसार कुन्दाद्रि-पर्वत के बारे में कुछ सामग्री प्रकाशित थी। मैं उन पुस्तकों को लेकर वहाँ से कुन्दाद्रि-पर्वत के लिए चल पड़ा। वहाँ से चलते समय मैंने भट्टारक जी से कहकर कुन्दाद्रि पर्वत पर स्थित दिगम्बर-जिनमंदिर के पुजारी श्री शांतिनाथ को फोन भी करवाया कि "वह मुझे क्षेत्र की जानकारी देने में वह दिखाने में मदद करें।" इसका अच्छा-प्रभाव रहा और वहाँ पहुँचने पर उस पुजारी ने मेरी भरपूर मदद की।

'आगुम्बै' से 'तीर्थहल्ली' के राजकीय-राजमार्ग (state highway) पर 'गुंटकेरे' नामक स्थान आता है, जो कि कुन्दाद्रि पर्वत जाने के लिये मुख्य-बिंदु है। यहीं से कुन्दाद्रि-पर्वत जाने का रास्ता है। अच्छी बात यह है कि कुन्दाद्रि पर्वत पर जाने के लिये यहाँ पहिचान के लिये एक विशालकाय-प्रवेशद्वार बना हुआ है, जिस पर शीर्ष-भाग पर 'कुन्दाद्रि-पर्वत पर जाने का प्रवेशद्वार' लिखा हुआ है। यद्यपि यह कन्नड़-भाषा में लिखा हुआ है, परन्तु साथ ही इसके बगल में एक बड़े से सूचनापट्ट पर अंग्रेजी-भाषा में भी 'कुन्दाद्रि-पर्वत जाने का रास्ता' (way to Kundadri hill) लिखा हुआ है। यह भी अच्छी-सूचना है कि कर्नाटक राज्य के यहाँ तक आने के सभी मार्ग (Road) बहुत अच्छी स्थिति में हैं। अतः किसी भी वाहन से यहाँ तक आने में बिल्कुल भी थकान नहीं लगती है। तथा गुंटकेरे से कुन्दाद्रि-पर्वत पर जाने का जो पाँच किलोमीटर का रास्ता है, वह भी पहले तो बिल्कुल भी किसी भी वाहन से जाने योग्य नहीं था; किन्तु विगत लगभग दस वर्ष पूर्व मुंबई के धर्मानुरागी भाई श्री अनंतभाई अमूलक जी शेठ ने पक्के रास्ते का निर्माण करवाया। हाँ, इतना अवश्य है कि वनविभाग के निर्देशों का पालन करने के कारण यह मार्ग बड़ी बसों या ट्रकों के जाने योग्य बड़ा व चौड़ा तो नहीं है, किन्तु अन्य सभी प्रकार के वाहनों से इस पर आसानी से जाया जा सकता है।

इस पार्किंग-स्थल से लगभग इकसठ (61) पक्की सीढ़ियाँ दोनों ओर से सपोर्ट-सहित बनीं हुई हैं, जिन पर बड़ी आसानी से चढ़कर हम कुन्दाद्रि-पर्वत के शिखर पर स्थित आचार्य कुन्दकुन्द देव के समाधि-स्थल तक जा सकते हैं। लगभग मात्र दो मिनट की चढ़ाई के बाद हम लोग इस पर्वत के शिखर पर स्थित जिनालय एवं अतिप्राचीन-चरणचिह्नों से अंकित आचार्य कुन्दकुन्द देव के समाधि-स्थल तक पहुँच गये।

ऊपर पहुँचने पर हमने एक अतिप्राचीन-शिलालेख देखा, जो बहुत पुरानी कन्नड़-लिपि में लिखा हुआ था;

यद्यपि वह मौसम के प्रभाव से बहुत जीर्ण-शीर्ण व धुंधला हो रहा था; तथापि उसे परिश्रम करके उसके चित्रों को कंप्यूटर से साफ किया जा सकता था। अतः उसकी हर कोण से वीडियोग्राफी कराई और कई स्टिल-फोटो भी लिये। इसप्रकार हमारे पास वहाँ की तकनीकीरूप से बहुत-सारी सामग्री एकत्रित हो गई।

हमें वहाँ प्रकृति का एक अद्भुत-चमत्कार दिखाई दिया; क्योंकि वहाँ पहाड़ पर विशालकाय-चट्टानों में बने तीन प्राकृतिक-कुंड मिले, जो वर्षा के जल से प्रपूरित हो जाते थे। इनमें दो कुंडों में तो अभी भी जलराशि थी, परन्तु एक कुंड पिछले दो वर्षों से उस क्षेत्र में बारिश नहीं होने के कारण सूखा हुआ था। मुझे बताया गया कि जब कोई दिगम्बर-मुनिराज यहाँ रहते थे, तो इन कुंडों का जल सुबह 9.00 बजे बाद सूर्य की धूप से प्रासुक हो जाने के कारण उनके लिये शुद्धि आदि के लिये कमण्डलु में भरकर उपयोग करने लायक हो जाता था। इसप्रकार उनकी चर्या के लिये प्रासुक-जल के निमित्त पर्वत पर ही प्रकृति ने मानों सविनय-व्यवस्था कर रखी है, ताकि हमारे आचार्य कुन्दकुन्द देव जैसे परम-तपस्वी मुनिवृंदों की समाधि-साधना में कोई बाधा नहीं हो और न ही पराधीनता की स्थिति बने।

शिखर पर प्रवेश करते ही सबसे पहले मनोहारी अतिप्राचीन-मानस्तम्भ के दर्शन हुये। देखते ही सहज ही मुँह से निकल पड़ा "दृष्टं जिनेन्द्र-भवनं भवतापहारी..।" ज्यों ही मंदिर जी के परकोटे के अंदर प्रवेश किया, त्यों ही अतिप्राचीन दिगम्बर-जिनबिम्ब खंडित-अवस्था में दिखे। खंडित-मुद्रा देखकर मन में अवसाद तो हुआ; किन्तु उनके अतिप्राचीन-स्वरूप को देखते हुये उस क्षेत्र पर विद्यमान दिगम्बर-जैनत्व के प्राचीन-वैभव का गहराई से अहसास हुआ। खंडित होते हुये भी उनके शिल्पगत-सौन्दर्य अत्यन्त-नयनाभिराम था। उनका चित्रांकन करते हुये मानस्तम्भ-परिसर में प्रवेश किया। वहाँ प्रवेश करते ही सर्वप्रथम एक विशाल एवं अतिप्राचीन-शिलालेख दृष्टिगोचर हुआ। वह अभिलेख प्राचीन कन्नड़-लिपि में लिखा हुआ था। यद्यपि मैं प्राचीन कन्नड़-लिपि, जिसे स्थानीय-भाषा में 'हड़े-कन्नड़' भी कहते हैं, का जानकर हूँ; किन्तु ताड़पत्रों में इतनी प्राचीन व जटिल-शैली की कन्नड़-लिपि मैंने नहीं पढ़ी थी। यही कारण रहा कि मैं प्रयास करके भी उसे बहुत स्पष्टरूप से नहीं पढ़ सका। कुछ तेज धूप में तपते हुये पत्थर पर खड़ा होना भी लगभग असंभव हो रहा था, और इसके साथ ही खुले वातावरण में रखे रहने से उसका क्षरण भी बहुत हो गया था। अतः उसे पढ़ने के लिये अभिलेखों के अध्ययन की वैज्ञानिक-प्रक्रिया अपनाना अपेक्षित था। अतः मैंने अपने मोबाइल फोन के कैमरे से उसके विभिन्न-कोणों से चित्र ले लिये; ताकि बाद में विशेषज्ञ-विद्वानों की देखरेख में उसका वैज्ञानिक-रीति से अध्ययन एवं पाठ-सम्पादन कराया जा सके।

सर्वप्रथम मंदिर जी के मुख्य-प्रवेशद्वार के दोनों पार्श्वों में स्थित भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी एवं भगवान् श्री शीतलनाथ स्वामी के अतिप्राचीन-जिनबिम्बों का परिचय देते हुये दर्शन कराये। वे निश्चितरूप से अतिप्राचीन थे, किन्तु तथाकथित वज्रलेप के कारण उन बिम्बों का प्राचीनरूप अस्पष्ट हो गया। मात्र प्राचीन मूर्ति-शिल्प के विशेषज्ञ-विद्वान् ही उनकी प्राचीनता को परख सकते थे। मैं इस विद्या से किसी सीमा तक परिचित होने से उनकी प्राचीनता को किसी सीमा तक समझ सका।

इसके बाद छोटे से प्रवेशद्वार से सविनय झुककर मंदिर जी में प्रवेश करते ही एक मध्यम-आकार (मीडियम साइज़) के हॉल में पहुँचे, जिसमें लगभग आठ-स्तम्भ थे। वे सभी प्राचीन कर्नाटकीय जिनमंदिर-शैली के बने हुये थे। उसे पार करते ही भीतरी गर्भगृह का बहुत ही छोटा-प्रवेशद्वार दिखाई दिया, जो बाहरी-प्रवेशद्वार से भी तुलनात्मकरूप से बहुत छोटा था। सामान्य आकार-प्रकार का व्यक्ति भी किसी तरह अंगों को सिकोड़कर ही उसमें प्रवेश कर सकता है। गर्भगृह में मूलनायक पार्श्वनाथ स्वामी का खड्गासन-मुद्रा के श्यामवर्णी-जिनबिम्ब विराजमान थे। उनकी सबसे बड़ी-विशेषता प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से यह थी, कि जहाँ अन्य जिनबिम्बों में भामण्डल मात्र शिरोभाग के चारों ओर ही होता है, जो कि शास्त्रोक्त-विधि नहीं है; क्योंकि शास्त्रोक्त-विधि के अनुसार भामण्डल सम्पूर्ण शरीर के चारों ओर बनता है। {आधुनिक विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है, और इसे वह 'औरा' (Aura) कहता है।} यहाँ पर विराजमान

खड्गासन-मुद्रावाले मूलनायक पार्श्वनाथ स्वामी के जिनबिम्ब की पूरी अवगाहना के चारों ओर यह भामण्डल बना हुआ था, जो कि पूर्णतः जिनाम्नाय-सम्मत था। जिनबिम्ब प्रशान्तमुद्रामयी व दक्षिण-भारतीय-शिल्प का होते हुये भी विशिष्ट-प्रभाव उत्पन्न करता है। अपूर्व-वीतरीगता का प्रभाव उसमें अंग-अंग से छलक रहा था।

भक्ति-भावपूर्वक दर्शन-वंदन करने के बाद मैंने पुजारी जी से आचार्य कुन्दकुन्द देव के चरण-चिह्नों की वंदना करने का भाव व्यक्त किया। तब वे उस मंदिर जी के पिछले भाग में विद्यमान एक बड़े कक्ष में ले गये। वहाँ पर उस कक्ष के भीतर विद्यमान एक छोटे से शिखरबंद कक्ष में ले गये, जिसमें फर्श के बीचोंबीच एक सुंदर कमलाकृति बनी हुई थी, जिस पर गुलाबी रंग से अंकित पँखुड़ियों के बीचोंबीच कोश-भाग पर एक गोलाकार प्रस्तर-फलक लगा हुआ था। उसे गौर से देखने पर उस पर रेखांकित रूप में दो चरणों की आकृति उकेरी गयी दिखाई दी। यह बिल्कुल वैसी स्वाभाविकरूप से निर्मित आकृति थी, कि जैसे किसी के चरणों के चारों ओर रेखांकन करके उन्हें चिह्नित कर दिया गया हो। ऐसा सहज, स्वाभाविक एवं अद्भुत चरण-चिह्नों का अंकन कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर मुझे नहीं हुआ। मैंने भावपूर्वक उन चरण-चिह्नों की वंदना की, और साक्षात् रूप से समाधिस्थ आचार्य कुन्दकुन्द देव के चरणों के पावन-स्पर्श की आनंदानुभूति का अनुभवन किया। मैं वह संस्पर्श पाकर भाव-विभोर हो गया।

तब मैंने पुजारी जी से पूछा कि "यहाँ इस कक्ष के बाहर सन् 1961 ई. का एक शिलाफलक भी लगा हुआ था, जिस पर तत्कालीन भट्टारक हुम्मच-क्षेत्र स्वस्ति देवेन्द्रकीर्ति जी के द्वारा सुवर्णपुरी के संत श्री कानजी स्वामी के संसंग वहाँ इस क्षेत्र की वंदनार्थ आने तथा उनके संघ द्वारा उस समय लगभग 11000 की धनराशि द्वारा उस चरण-चिह्नोंवाले स्थल पर एक बड़े हॉल के निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया गया था।"

तब पुजारी जी ने बताया कि "आप सही कह रहे हैं। वह शिलाफलक पिछले वर्ष तक यहाँ लगा हुआ था, किन्तु पिछले एक वर्ष में यहाँ हुये जीर्णोद्धार के कार्य में किसी मजदूर के द्वारा उस मार्बल के अभिलेख को खंडित कर दिया गया था। वह खंडित-अवस्था में हुम्मच के जैनमठ में वर्तमान भट्टारक जी के पास रखा हुआ है।"

इसके बाद मैंने पुजारी जी से यह भाव व्यक्त किया कि "यह सारा निर्माण-कार्य तो परवर्ती है, आचार्य कुन्दकुन्द देव के समय में तो यह कक्ष आदि नहीं थे। तब वे यहाँ किस जगह बैठकर साधना करते रहे होंगे?" तब पुजारी जी ने मुझे उस कक्ष के पिछले दरवाजे से पीछे की ओर ले जाकर एक भूगर्भकक्ष का द्वार खोला, और उसके अंदर ले जाकर वह चबूतरा दिखाया, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द देव की समाधि-साधना का स्थान बताया गया। उस चबूतरे के कोने पर एक छोटा-सा चौकोर-भाग कुछ उभरा हुआ था, जो संभवतः उनका सिरहाना रहा होगा। उसके नीचे भूभाग पर बैठकर मुझे समाधि-साधना में रत आचार्य कुन्दकुन्द देव के संस्पर्श का रोमांचकारी-अनुभव प्राप्त हुआ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि तकनीकीरूप से यह क्षेत्र हुम्मच-जैनमठ के संरक्षण है। तथा यहाँ जो अभी हाल में ही जीर्णोद्धार किया गया है, वह सब स्थानीय विधायक, जो कि जैन समाज के सदस्य हैं; ने हुम्मच जैनमठ के भट्टारक जी की प्रेरणा से सरकारी-अनुदान से कराया है। अतः हुम्मच जैनमठ के वर्तमान भट्टारक जी एवं स्थानीय जैन विधायक का यह कार्य निश्चय ही अभिनंदनीय है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की 'शास्त्र' संज्ञा की सार्थकता—

मैं यह सिद्ध करने का नैष्ठिक-प्रयास करूँगा कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के समस्त ग्रन्थ 'शास्त्र' संज्ञा के सुपात्र हैं। यह 'शास्त्र'-संज्ञा किसी भी कृति को यों ही नहीं मिल जाती है, बल्कि शास्त्र-रचना (ग्रंथ-निर्माण) के सात निश्चित-नियमों के निर्दोष-रीति से पालन करने पर मिलती है। इनका आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रंथों में निर्दोष-रीति से पालन किया गया है, अतः आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रन्थ 'शास्त्र' संज्ञा के सुपात्र-ग्रन्थ हैं। उदाहरणस्वरूप 'समयसार' में इन सातों नियमों को घटित करके मैं सिद्ध करूँगा कि यह ग्रन्थ 'शास्त्र' संज्ञा का सुपात्र-ग्रन्थ है।

'शास्त्र'-संज्ञा के योग्य ग्रंथ-निर्माण के वे सात नियम इसप्रकार हैं—

"उपक्रमोपसंहारोऽभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये।।"

अर्थ— उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति— ये सात बिन्दु या लक्षण हैं, जिनके आधार पर किसी ग्रंथ को 'शास्त्र' संज्ञा दी जा सकती है। किसी भी कथन के तात्पर्य का निर्णय करने के ये सात आधार एवं ग्रंथरचना-शैली के सात-अंग या लक्षण माने गये हैं।

वैदिक-परम्परा के प्रसिद्ध-ग्रन्थ 'वेदान्तसार' में भी इन्हें इसप्रकार बताया गया है—

"उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वता-फलार्थवादोपपत्त्याख्यानि सप्तांगानि" —(वेदान्तसार, पृ.160)

इनका परिचय एवं 'समयसार' में इनके प्रयोग का विवरण निम्नानुसार है—

1. उपक्रम— ग्रंथ प्रारंभ करने को 'उपक्रम' कहते हैं। 'समयसार' में 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' ने पहली ही गाथा में **"वोच्छामि समयपाहुडं"** अर्थात् "मैं 'समयपाहुडं' या 'समयसार' ग्रंथ का कथन करता हूँ"— यह कहकर उपक्रम प्रस्तुत किया है।

2. उपसंहार— ग्रंथ के समापन को 'उपसंहार' कहते हैं। 'समयसार' की अंतिम गाथा (415) में **"जो समयपाहुडमिणं....."** —यह वाक्यांश लिखकर आचार्यदेव ने 'उपसंहार' का प्रयोग किया है।

3. अभ्यास— विशिष्ट-विषय का महत्त्व ज्ञापित करने एवं स्पष्टीकरण के लिये उसी विषय का प्रकारान्तर से एकाधिक -बार प्रतिपादन करना 'अभ्यास' कहलाता है। सामान्यतः न्यायशास्त्र आदि में 'पुनरुक्ति' को दोष माना जाता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्र में पुनरुक्ति को दोषरूप नहीं माना गया है। महान् अध्यात्मवादी आचार्य योगीन्द्रदेव लिखते हैं— **"इत्थु ण लेवउ पंडिएहिं, गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।"** इसके व्याख्याकार आचार्य ब्रह्मदेवसूरि स्पष्ट कहते हैं— **"भावनाग्रंथे समाधिगतकवत्पुनरुक्तदूषणं नास्ति।"** —(द्रष्टव्य, परमात्मप्रकाश, दोहा क्र.2/221 एवं उसकी टीका)

'समयसार' के टीकाकार आचार्य जयसेन ने भी अपनी टीका (गाथा-सूत्र 73 की टीका) में इस तथ्य का समर्थन किया है। चूँकि 'समयसार' विशुद्ध रूप से आत्मभावना-प्रधान ग्रंथ है, अतः इसमें अनेकों विषयों की प्रकारान्तर से अनेकत्र पुनः प्रस्तुति हुई है। ऐसे विषयों में प्रमुख हैं— ज्ञानी का स्वरूप एवं मान्यता¹, व्यवहार और निश्चय², अज्ञानी की मान्यता³, स्व-पर भेदविज्ञान का स्वरूप और प्रक्रिया⁴, एवं मोक्षमार्ग का निरूपण⁵ आदि। एक विषय कर्ता-कर्म-संबंधी विवेचन आचार्य कुन्दकुन्द को इतना प्रिय लगा कि ग्रंथ के मूल वर्ण्यविषय 'नौ पदार्थ-विवेचन' (द्र. 'समयसार', गा.13) में समाहित न होते हुये भी उन्होंने पहले 'कर्ता-कर्म अधिकार' की रचना कर उसका निरूपण किया तथा फिर भी मन नहीं भरा, तो ग्रंथ के अंत में 'सर्वविशुद्धिज्ञान-अधिकार' नामक एक और अधिकार लिखा, जिसमें कि मुख्यतः कर्ता-कर्म-संबंधी मान्यताओं की ही समीक्षा की गई है।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि कुन्दकुन्द-साहित्य में विषय के बारे में स्थूल-दृष्टि से ही पुनरुक्ति है ; किन्तु शैली, भाषा, एवं प्रसंग के अनुसार पुनरुक्ति नहीं है।

4. अपूर्वता— शैलीगत-नवीनता को 'अपूर्वता' कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में जिस शैली का प्रयोग हुआ है, उनके निकट पूर्ववर्ती-ग्रंथों में वह शैली नहीं है। उनकी इस विशिष्ट-शैली का ही यह प्रभाव है कि

1 द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 35,74-78,93,101, 128,151,169,195-198,207-216,218,224-227, 247,250,253,280, 316-320 इत्यादि।

2 द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 7,11,12,27-29,46-48, 56,58-60,83-85,272,276-277,414 इत्यादि।

3 द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 19-22,28,39-43, 69,94, 102,129,152-153,219 इत्यादि।

4 द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 38,181-185,293-295,390-412 इत्यादि।

5 द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 16,18,408-412 इत्यादि।

कुन्दकुन्द आज भी युगप्रमुख-आचार्य हैं। और संपूर्ण आचार्य एवं विद्वत्-परम्परा आज तक अपने को 'कुन्दकुन्द की आम्नाय की अनुयायी' कहलाने में गौरव का अनुभव करती है। तथा 'समयसार' आज भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रतिनिधि-परिचायक-ग्रंथ बना हुआ है।

'समयसार' में शैलीगत-नवीनता के साथ-साथ 'अध्यवसान के नामान्तरों' ('समयसार', गा.271), 'विषकुम्भ-अमृतकुम्भ' ('समयसार', गा.306-307), 'सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं' ('समयसार', गा.193), 'प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना' ('समयसार', गा.383-385) तथा 'ज्ञान ही दीक्षा आदि है' ('समयसार', गा.404-405)—इत्यादि विषयों के प्रतिपादन-सम्बन्धी विशिष्ट-प्रयोग प्राप्त होते हैं।

5. फल— ग्रंथ के 'परिणाम' या निष्कर्षरूप-बिंदु के कथन को 'फल' कहते हैं। सामान्यतः धर्मग्रंथों में मोक्ष को ही मुख्यरूप से फल माना गया है— **"फलं प्रकीर्तितं प्राज्ञैर्मुख्यं मोक्षैक-लक्षणम्।"** —(विचारचन्द्रोदय, 15)

'समयसार' ग्रंथ के अंत में आचार्य कुन्दकुन्द ने इस ग्रंथ का 'फल' प्ररूपित करते हुये कहा है कि "जो कोई भी भव्यजीव इस 'समयप्राभृत' नामक ग्रंथ को 'अर्थ' एवं 'तत्त्व' को जानने के लिये पढ़कर 'अर्थ' (शुद्धात्म-पदार्थ) में ठहरेगा, वह उत्तम-सुखरूप हो जायेगा।"— इसप्रकार उन्होंने इस ग्रंथ का 'फल' उत्तम-या अनंत-सुख की प्राप्ति होना बताया है।

6. अर्थवाद— ग्रंथ में स्थान-स्थान पर हितकारी-तथ्यों की प्रशंसा करना 'अर्थवाद' कहलाता है। 'समयसार' के प्रारंभ में ही आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समय' की प्रशंसा की है —

"एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।" अर्थात् एकत्व में निश्चय को प्राप्त 'समय' अर्थात् आत्मा ही लोक में सर्वत्र सुन्दर है।

(भले ही वह आत्मा इस समय नरक के दुःखों में क्यों न हो, किन्तु यदि निज-ज्ञायक-स्वरूप में जिसने अपनी परिणतियों को परिसीमित कर लिया है, वह वहाँ भी तीनों लोगों में सबसे सुंदर ही है। आत्मस्वभाव तो सर्वोत्कृष्ट है ही, किंतु परिणति भी जिसकी स्वरूप में परिसीमित हो गयी है, वह पर्याय की दृष्टि से भी सर्वोत्कृष्ट ही है। उदाहरण के तौर पर राजा श्रेणिक का जीव पहले नरक में है, किंतु आत्मस्वभाव में परिसीमित हो जाने से भावी-तीर्थकर का जीव है, अतः उसे वहाँ भी कोई कष्ट नहीं है। स्वरूप के आनंद में मग्न है। कोई नारकी उसे किसी तरह की पीड़ा नहीं दे पाता है। यही अचिंत्य-महिमा आत्मस्वभाव में परिसीमित होने की है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने यहाँ इसी तथ्य को रेखांकित किया है।)

इसीप्रकार अन्यत्र 'ज्ञान से सुख की प्राप्ति' का प्रशंसात्मक-वर्णन किया है —

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुडो होहि णिच्चमेदम्हि।"

एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं।।"

अर्थात् हो जीव ! तुम इसी (ज्ञायकस्वरूप) में नित्य-रमण करो, इसी में नित्य-संतुष्ट रहो (ताकि अन्य किसी की अपेक्षा तक नहीं होवे), इसी में तृप्त हो जाओ (ताकि अन्य किसी का विकल्प तक उत्पन्न नहीं होवे); इसी विधि से तुम्हें उत्तम-सुख (अनंतसुख) की प्राप्ति होगी।

इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक-स्थलों⁶ पर हितकारी-विषयों की प्रशंसा 'समयसार' ग्रंथ में की गई है। यहाँ अर्थवाद है।

7. उपपत्ति— बाधक-प्रमाणों का निराकरण और साधक-प्रमाणों का तर्क द्वारा मण्डन करना, स्थान-स्थान पर युक्ति एवं हेतु देना— 'उपपत्ति' कहलाता है। यद्यपि तर्क और हेतु आदि न्यायशास्त्र के अंग हैं, तथापि द्रव्यानुयोग-विषयक साहित्य में 'न्यायशास्त्र' की पद्धति प्रमुख होने से यहाँ न्यायशास्त्रीय-अंगों का प्रयोग अत्यंत-स्वाभाविक

⁶ द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 15, 31-33, 73, 184, 189, 204, 218, 236, 272, 305, 318-320 इत्यादि।

है। इस बारे में पंडितप्रवर टोडरमल जी के विचार द्रष्टव्य हैं— " यहाँ (द्रव्यानुयोग में) जीवादितत्त्वों का विशेष-युक्ति, हेतु एवं दृष्टान्तादि द्वारा निरूपण करते हैं। द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्र की पद्धति मुख्य है।"

—(मोक्षमार्ग-प्रकाशक, अध्याय 8, पृष्ठ 284 & 287)

इसीलिये स्वाभाविकरूप से आचार्य कुन्दकुन्द ने तो हेतुपरक-कथनशैली का भरपूर-प्रयोग 'समयसार' में किया है। स्थान-स्थान पर 'जम्हा-तम्हा' (जिसप्रकार-उसीप्रकार), 'जेण-कारणेण - तेण-कारणेण' (जिसकारण से- उसीकारण से) एवं 'हेदुणा-हेदूहिं' (हेतु या हेतुओं के द्वारा)— इत्यादि शब्दों के प्रयोग से अनेक-स्थलों⁷ पर हेतुपरक-शैली का स्पष्ट-संकेत दिया है। तो कई स्थलों⁸ पर हेतुपरक-शब्दों का प्रयोग किये बिना ही सहेतुक-साध्यसिद्धि की गयी है।

सम्पूर्ण-ग्रन्थ का सूक्ष्मता से स्वाध्याय करने पर स्पष्टरूप से प्रतिबोध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव न्यायशास्त्र के पारंगत-मनीषी थे, तथा उन्होंने आध्यात्मिक-तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन में 'न्यायशास्त्र' की शैली भरपूर-प्रयोग किया है।

इसप्रकार उपर्युक्त-वर्णन से यह स्पष्टरूप से संकेतित होता है कि जहाँ एक ओर विषय-प्रतिपादन एवं उसकी जीवन्त-साधना की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द देव उत्कृष्टतम-कोटि के आध्यात्मिक-साधक व्यक्तित्व थे, वहीं दूसरी ओर इनके ग्रन्थों में शास्त्र-रचना के सभी निर्दिष्ट-अंगोपांगों का निर्दोष-रीति से पालन मिलने से उनके साहित्यशास्त्रीय-वैदुष्य एवं अगाध-दार्शनिक-प्रतिभा के साक्षात्-दर्शन होते हैं। इससे वे आज की भाषा में 'शास्त्रीय-मनीषी' ('क्लासिकल-स्कॉलर') भी प्रमाणित होते हैं। उनके मात्र एक ही पक्ष को स्वीकार करना कि वे मात्र आध्यात्मिक-साधक थे, शास्त्रीय-मनीषा के धनी नहीं था; उन जैसे महान् समर्थ-मनीषा के धनी आचार्यप्रवर के व्यक्तित्व को सीमित करके देखना होगा तथा उनका एकांगी-आकलन करने की पूर्वाग्रही-चेष्टा होगी।

यह संक्षिप्त-विवरण आचार्य कुन्दकुन्द देव की बहुआयामी-प्रतिभा और बहुज्ञ-व्यक्तित्व को व्यापक-दृष्टि से आकलित करने की प्रेरणार्थ लिखा गया छोटा-सा प्रयास है। इसके माध्यम से उनके विशाल-वाङ्मय के बहुआयामी-अध्ययन के लिये पूर्ण-स्तरीय शोधकार्य की प्रेरणा मिलती है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रंथ 'समयपाहुड/समयसार' की अन्तर्दृष्टि:-

यह अप्रतिबुद्धों को प्रतिबुद्ध बनाने की दृष्टि से लिखा गया ग्रंथ है। इसीलिये टीकाकार आचार्य अमृत चंद्र सूरि प्रारम्भ में ही उत्थानिका-स्वरूप लिखते हैं "अथाह अप्रतिबुद्धः"।

और यहाँ आचार्य यह स्पष्ट-संकेत कर रहे हैं कि वह अप्रतिबुद्ध-जीव 'स्थूल-अज्ञानी' नहीं है, 'असंज्ञी' भी नहीं है, 'जैनत्व के बाह्यरूप से भी अपरिचित' भी नहीं है, और आत्महित के लिये भी वह अपनी समझ के अनुसार प्रयत्नशील है; फिर भी उससे जो तत्त्वज्ञान के विषय में और आत्मस्वरूप के विषय में भूल हो रही है, उसीकारण उसे 'अप्रतिबुद्ध' कहा गया है। और उस भूल को सुधारने व आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये जो सही-तरीका आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उपयुक्त समझा, वह 'समयसार' में बताया है। यही 'अप्रतिबुद्ध-जीव' को 'प्रतिबुद्ध' बनाने की दृष्टि 'समयसार' ग्रंथ की मूल-दृष्टि है।

'समयसार' वस्तु-स्वरूप को समझाने की मुख्यतावाला-ग्रंथ नहीं है, बल्कि आत्मस्वरूप को समझने व अनुभवने की दृष्टि देनेवाला ग्रंथ है। इसीलिये इसे 'दृष्टिप्रधान-ग्रंथ' कहा गया है।

7 द्रष्टव्य,, 'समयसार', गाथासूत्र क्र. 4,8,11,34,57,62,93, 74,86,99,103,104,112,127,145,147,150,154, 168, 170,208,335 आदि।

8 द्रष्टव्य, 'समयसार', गाथासूत्र क्र.1 7-19,26-27,30,35, 116-120,1 37-138,210-213,257-259,325-331, 345-346,371-372,390-402 इत्यादि।

जैसे कि 'समयसार' में 'पर्याय बिना का द्रव्य' जो कहा गया है, तो यह दृष्टि की अपेक्षा कथन है, न कि वस्तु की अपेक्षा। 'पर्याय' को 'पर्याय-दृष्टि' छुड़ाने के लिये यह प्ररूपण किया गया है। यह आचार्य कुन्दकुन्द देव का अद्भुत मनोवैज्ञानिक-प्रयोग है। जीव जब तक पर्याय के चाकचिक्य में उलझा रहेगा, तब तक निज-शुद्ध ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि/अनुभूति इसे नहीं हो सकेगी, और ज्ञायक-स्वभाव की अनुभूति के बिना इसे सुख किसे कहते हैं?— इसका कभी बोध नहीं हो सकता है।

वह सुखाभास में ही सुख की कल्पना करके अपने आप को धोखा देता रहता है। इसीलिये परिवर्तनशील-पर्याय की दृष्टि छुड़ाकर निज त्रिकाली-ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक-प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'समयसार' में किया है।

जब तक पर्याय-दृष्टि जीव के रहेगी, तब तक 'कर्त्ता-कर्म' की मिथ्या-कल्पना भी चलेगी। इसीलिये पर्याय-दृष्टि छुड़ाने के लिये ही उन्होंने ग्रंथ का घोषित प्रतिपाद्य-विषय 'नव-पदार्थ' होते हुये भी दो अतिरिक्त एवं सबसे बड़े अधिकार ('कर्त्ता-कर्म-अधिकार' और 'सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार') कर्त्ता-कर्म की मिथ्या-मान्यता को छुड़ाने के लिए लिखे हैं।— यह प्रतिपादन स्पष्ट-संकेत करता है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'समयसार' ग्रंथ की रचना किस विशिष्ट-प्रयोजन के लिये की है।

इसीलिये 'निश्चय' और 'व्यवहार' -नयों की विशिष्ट-शैली का उन्होंने इसमें पदे-पदे प्रयोग किया है, ताकि वे आत्महित के लिये 'असली-नकली' या 'उपयोगी-अनुपयोगी' का दोटूक-रीति से भेद बता सकें।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के पहले यह शैली प्रयोग में न्यूनतर थी। उन्होंने अपने अन्य अधिकांश-ग्रंथों में भी इन दोनों नयों की शैली का उपयोग किया है, किंतु 'समयसार' तो मानो 'निश्चय' और 'व्यवहार'-नयों के लिये ही जाना जाता है। यहाँ 'निश्चयनय' का अर्थ वस्तुगतरूप से असली/उपयोगी होना नहीं है, और न ही 'व्यवहारनय' का अर्थ वस्तुगतरूप से नकली/अनुपयोगी होना है; बल्कि आत्महित के प्रयोजन की दृष्टि से ही यहाँ 'निश्चय' का अर्थ 'असली' यानि उपयोगी और 'व्यवहार' का अर्थ 'नकली' यानि अनुपयोगी है। क्योंकि 'व्यवहारनय' के द्वारा जो-जो कथन इसमें कराये गये हैं, वे यदि मिथ्या/नकली/अप्रयोजनभूत/काम के नहीं /अनुपयोगी कहे गये हैं, तो मात्र आत्महित के प्रयोजन की दृष्टि से ही कहे गये हैं। ऐसा कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह सचमुच में झूठा ही है या जिनवाणी में उसका कहीं कथन ही नहीं आया है।

और समयसार में 'निश्चयनय' के द्वारा जो-जो कथन हैं, वे ही वस्तुगतरूप से जिनवाणी में वैसे ही बताये गये हैं— ऐसा नहीं है। अन्यथा 'पर्याय बिना का द्रव्य' कहने से "गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्" का सूत्रवचन मिथ्या सिद्ध होगा। किंतु 'समयसार' की परिधि में यह कथन शत-प्रतिशत सही है, क्योंकि पर्याय पर दृष्टि रहते आत्मानुभूति कभी संभव ही नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि "पज्जयमूढा हि परसमया" अर्थात् जो जीव पर्याय में ही मूढ बने हुये हैं, वे 'परसमय' यानि अन्यमती हैं, वे जिनाम्नाय की परिधि के बाहर हैं— यह चमत्कार आचार्य कुन्दकुन्द देव की ही देन व सामर्थ्य है, जो पंचमकाल में भी आबाल-गोपाल के लिये आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त कर गया है।

इतना ही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द देव 'समयसार' ग्रंथ में 'नय'-विपक्षा का पर्याप्त-प्रयोग करते हुये भी 'नय' को भी बहुत अधिक तात्त्विक-महत्त्व नहीं देते हैं। क्योंकि आत्मानुभूति के द्वार तक पहुँचाने में सीमित-भूमिका 'नय' की होते हुये भी आत्मानुभूति की स्थिति में वही नय-विकल्प बाधक हैं, अतः उनका भी निषेध करना पड़ा। इसीलिये समयसार ग्रंथ के प्रमुख-व्याख्याकार आचार्य अमृतचंद्र सूरि को यह कलश लिखना पड़ा—

"उदयति न नयश्री-रस्तमेति प्रमाणम्। क्वचिदपि च न विद्मो, याति निक्षेपचक्रम्॥

किमपरमभिदध्मो, धाम्नि सर्वकषैस्मिन्। अनुभवमुपयाते, भाति न द्वैतमेव॥"

इस कलश में अनुभव-काल में किसी भी तरह के नय-विकल्प का स्पष्ट-अभाव प्ररूपित किया है। इसीप्रकार 'पुण्य' और 'पाप' के प्रति एकत्व या एकसमान-हेय समझाने के लिये जो एड़ी-चोटी का जोर आचार्य

कुन्दकुन्द देव ने 'समयसार' ग्रंथ के 'पुण्य-पाप-अधिकार' में लगाया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। और इस प्ररूपण के पीछे उद्देश्य यही समझाना है कि 'जीव मात्र पुण्य-परिणामों की आसक्ति में उलझकर आत्महित से वंचित रह जाता है'। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पुण्य को आत्मानुभूति में पाप से भी अधिक बड़ा बाधक बताया है। यह बहुत बड़ा-सत्य है, जिसे सबसे पहले आचार्य कुन्दकुन्द ने ही इतनी दृढ़ता के साथ बताया है।

और यह भी सत्य है कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव जिन महाव्रतादि का पूरी-निष्ठा से साधन करते थे, वे भी पुण्यरूप परिणाम ही हैं, अतः पुण्य के निषेध में उनके महाव्रतादि रूप आचरण भी परिगणित हो रहे हैं— यह वे अच्छी तरह से समझ रहे थे। और वे यह भी प्रत्यक्ष निरन्तर-अनुभव करते थे कि महाव्रतादि के साधनरूप परिणाम रहते हुये आत्मानुभूति नहीं होती है, बल्कि इन्हें छोड़ने पर ही उपयोग अन्तर्मुखी होकर चैतन्यधन की निर्मल-अनुभूतिरूप परिणत हो पाता है।

अतः यह उनका चिरकाल से अनुभूत-सत्य था कि पुण्य-परिणाम में अटकना, पुण्य का आकर्षण ही वास्तव में आत्मानुभूति में सबसे प्रबल-बाधक-तत्त्व है। अन्यथा तो बच्चे भी इतनी समझ रखते हैं कि हिंसादिरूपाप-परिणामों की तुलना में देव-वन्दना आदि रूप या व्रतादिरूप पुण्य-परिणाम लौकिक-दृष्टि से बेहतर हैं।

किन्तु आत्मानुभूति के साधकजीव इन पुण्य-परिणामों में अटककर ही अपना सबसे अधिक अहित करते हैं, इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'समयसार' में पुण्य के परिणामों को पाप-परिणामों के समान बताया और फिर पाप से भी अधिक बाधक बताया— यह विशुद्ध अनुभव-दृष्टि का ही प्रतिपादन है।

यदि वे वास्तव में पुण्य-परिणामों को पाप से अधिक बुरा मानते, तो महाव्रतादि का साधन छोड़कर अव्रतादिरूप-आचरण करने लगते। किन्तु ऐसा नहीं होना यह सिद्ध करता है कि यह प्रतिपादन उपयोग को 'पर' से हटाकर 'स्वरूप' में समाने की उदात्त-दृष्टि से किया गया है। इसे 'किसी अन्य सन्दर्भ' में जोड़ना या 'सर्वथा' की दृष्टि से किया गया कथन मानना आचार्य कुन्दकुन्द देव के प्रतिपादन के प्रति हमारी नासमझी कहलायेगी।

ऐसी अनेकों प्रतिपत्तियाँ 'समयसार' ग्रंथ में पदे-पदे मिलती हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि 'समयसार' ग्रंथ आत्मानुभूति की प्रधानता से ही लिखा गया है। और चूँकि अनुभवी-जीवों को तो यह सब पहले से ही पता होता है, अतः उन्हें यह सब समझाने की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु जो जीव अप्रतिबुद्ध हैं, उन्हें ही अनादि-मोह-परिणति के पाश से छुड़ाकर स्वरूप के निर्मल-गगन में गगनचारी बनाने के लिए ही 'समयसार' के प्रत्येक प्ररूपण का निहित-अभिप्राय है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'समयसार' ग्रंथ की रचना जो 'प्रतिबुद्ध' हो सकता है, ऐसे 'अप्रतिबुद्ध' -जीव को मात्र आत्मानुभूति में बाधक-विचारों/मान्यताओं के निवारणार्थ की गयी है।

अतः यह विशुद्धरूप से आत्मानुभूति की दृष्टि देनेवाला और आत्मानुभूति में बाधक-विचारों को दृढ़तापूर्वक हटाने के प्रतिपादनोंवाला ग्रंथ है। इसी दृष्टि की प्रधानता को समक्ष रखकर इसका स्वाध्याय एवं व्याख्यान किया जाना चाहिये। यही इसकी समीचीन-पद्धति है।

इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द देव के प्रत्येक ग्रन्थ की रचना के पीछे विशिष्ट-अन्तर्दृष्टि निहित है। जिसे पहिचाने बिना उस ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय एवं प्रतिपादन शैली का वास्तविक-मर्म नहीं पहिचाना जा सकता है। चूँकि यहाँ 'समयसार' जी ग्रन्थ का ही प्रकरण है, अतः अन्य ग्रन्थों की अन्तर्दृष्टि का कथन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द 'कलिकाल-सर्वज्ञ' थे—

'रे रे! कलिकालमहागङ्ग! गलगज्जियस्स को कालो?

अज्ज वि सुपुरिस-केसरि- किसोर-चलणंकिया जा पुहवी।।'

—(वज्जालगं, सज्जणवज्जा, कवि जयवल्लभ सूरि)

अर्थात् "अरे ! कलिकालरूपी महागजेन्द्र ! तुम्हारी गलगर्जना करने का यह कौन सा समय है ? (अर्थात् अभी से क्यों इतना चिंघाड़ रहे हो ?) अभी तो सत्पुरुषों रूपी सिंह-शावकों के चरण-चिह्नों से यह पृथ्वी अलंकृत (सुशोभित) है ।" इससे हम संकेत-ग्रहण कर सकते हैं, कि वर्तमानकाल में 'सिंह' रूपी 'सर्वज्ञ' भले ही यहाँ नहीं हैं, परन्तु उनके दर्शन के प्रभावक जिनेश्वर के लघुनंदन अभी भी हैं, तो कलिकाल को चिंघाड़ने की आवश्यकता नहीं है। उनकी कलिकाल-सर्वज्ञता का प्रबल-समर्थक 'प्रवचनसार' ग्रन्थ है। इसी के आधार पर यहाँ यह विवेचन प्रस्तुत है।

1. पहला प्रश्न यह उठता है कि अन्यमति तो अपनी सर्वज्ञता स्वयम्भूरूप में मानते हैं, अर्थात् उनका सर्वज्ञ अनादिकाल से वैसा ही स्वयंसिद्ध है, किसी पुरुषार्थ से वह सर्वज्ञ नहीं बना है। तो क्या जैनमत में भी सर्वज्ञता ऐसी ही अनादि व स्वयंसिद्ध मानी गयी है ? इसका समाधान करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव लिखते हैं कि जिनाम्नाय में प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ-स्वभावी ही है। अपने इसी सर्वज्ञ-स्वभाव का आश्रय लेकर ही जिनाम्नाय में सर्वज्ञ होते हैं। इसलिये जिनाम्नाय में भी सर्वज्ञता 'स्वयम्भू' ही है—

"तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदि-महिदो।

भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्धिदो॥ 16॥"

अर्थात् इसप्रकार वह स्वभाव को प्राप्त हुये सर्वज्ञ सर्वलोकपति (त्रिलोकीनाथ) के रूप में पूजित होकर वह आत्मा स्वयमेव ही होता है, इसलिये उसे 'स्वयम्भू' कहा गया है।

2. तो प्रश्न उठता है कि क्या जिनाम्नाय में लोकालोक के प्रत्येक पदार्थ को एक-एक करके जानकर सर्वज्ञता मानी गयी है ? अर्थात् जिनमत में क्रमशः पदार्थों को जान-जानकर जीव सर्वज्ञ बनता है क्या ?

इसका समाधान करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि जिनाम्नाय के अनुसार सर्वज्ञ के ज्ञान के स्वाभाविक-परिणमन करने मात्र से ही लोकालोक के सभी द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती-पर्यायें उन्हें प्रत्यक्ष हो जाती हैं, वे उन्हें 'अवग्रह-ईहा' आदि के क्रम से नहीं जानते हैं; क्योंकि क्रमिक-ज्ञान का नाम सर्वज्ञता है ही नहीं —

"परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।

सो णेव ते विजाणदि, उगहपुव्वाहिं किरियाहिं॥ 21॥"

अर्थात् ज्ञान के परिणमन करने से समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें उसे प्रत्यक्ष होती हैं। किन्तु वह उन्हें अवग्रहपूर्वक होनेवाली क्रियाओं (ईहा, अवाय और धारणा आदि) से नहीं जानता है।

3. तब वह यह प्रश्न करता है कि यदि जिनाम्नाय के अनुसार सर्वज्ञ 'अवग्रह' आदि के क्रम से पदार्थों को नहीं जानता है, तो फिर वह उन्हें कैसे जानता है; क्योंकि हमारे मत में तो इंद्रिय-सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना गया है ?

इसका उत्तर देते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव लिखते हैं कि इंद्रियों के माध्यम से प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान कभी भी समस्त द्रव्यों और उनकी सभी पर्यायों को नहीं जान सकता है, ऐसी जानने की क्षमता तो मात्र अतीन्द्रिय-ज्ञान में ही होती है। चूँकि हमारे सर्वज्ञ अतीन्द्रिय-ज्ञान के धनी हैं, अतः उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं रहता है—

"णत्थि परोक्खं किंचि वि, समंत-सव्वगुणसमिद्धस्स।

अक्खातीदस्स पुणो, सयमेव हि णाणजादस्स ॥ 22॥"

अर्थात् स्वयमेव ही ज्ञान से उत्पन्न इंद्रियातीत और सर्वतः सभी गुणों से समृद्ध (उस सर्वज्ञ पर्याय) के लिये कुछ भी परोक्ष नहीं है। (अर्थात् वह सबको प्रत्यक्ष ही जानता है।)

4. तब वह प्रश्न करता है कि इंद्रिय आदि से सन्निकर्ष के बिना ज्ञान परपदार्थों को कैसे जान सकता है, और अपने बल पर सर्वज्ञ कैसे कोई हो सकता है ?

इसका गजब का तार्किक-उत्तर देते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव लिखते हैं कि "आत्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान

के अतिरिक्त आत्मा नहीं है (अर्थात् जहाँ ज्ञान नहीं है, वहाँ आत्मा भी नहीं है), और ज्ञान अपने विषयों अर्थात् ज्ञेयों को जानता हुआ चरितार्थ होता है, अतः ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण हुआ । चूँकि लोकालोक के सभी द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती-पर्यायों को ज्ञेय माना गया है, " तो वे सभी जब ज्ञान की ज्ञेय बन गयीं, तब सर्वज्ञता कैसे सिद्ध नहीं होगी । वह तो स्वतः ही सिद्ध होगी— "आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।

णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगदं ॥23॥"

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, और ज्ञेय सम्पूर्ण लोकालोक है ; इसीलिये ज्ञान सर्वगत है । (और जब ज्ञान स्वभावतः सर्वगत यानि सबको जाननेवाला है, तो ज्ञानस्वभावी-आत्मा तो सर्वज्ञ ही सिद्ध हुआ न ?)

5. तब वह पुनः प्रश्न करता है कि आपका सर्वज्ञ जब अपने आत्मस्वभाव में लीन रहता है, तब वह लोकालोक को कैसे जानता है ?

इसका स्पष्टीकरण करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि 'प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बक-भाव' से सर्वज्ञ के ज्ञान में लोकालोक अवस्थित रहते हैं । इसप्रकार सर्वज्ञ आत्मस्वभाव में लीन रहकर भी लोकालोक के ज्ञाता रहते हैं—

"सव्वगदो जिणवसहो, सव्वे वि य तग्गदा जगदि अट्ठा ।

णाणमयादो य जिणो, विसयादो तस्स ते भणिदा ॥26॥"

अर्थात् जिनवृषभ सर्वगत हैं, जगत् के समस्त पदार्थ तद्गत अर्थात् उसके ज्ञान में विद्यमान हैं । और जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञानमय होने से वे (जगत् के सभी पदार्थ) उनके विषयरूप कहे गये हैं ।

6. तब वह जिज्ञासु पुनः प्रश्न करता है कि यदि लोकालोक आपके/सर्वज्ञ के ज्ञान में अवस्थित है, तो क्या आपका सर्वज्ञ लोकालोक के सभी पदार्थों व उनकी पर्यायों को पीकर बैठा है ? हमारे यहाँ तो इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षपूर्वक ही प्रत्यक्ष-ज्ञान माना गया है, जबकि आपके मत में तो सर्वज्ञ इंद्रियों से जानता ही नहीं है ? तब वह लोकालोक का ज्ञाता कैसे हो सकता है ?

इसका अत्यन्त-मार्मिक एवं न्यायसंगत-समाधान देते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव लिखते हैं कि तुम्हारे मत में भले ही इंद्रियाँ पदार्थ के साथ सन्निकर्षपूर्वक (अर्थात् छूकर) ज्ञान करने की बात कही गयी हो, किन्तु यह तो तुम भी जानते हो कि चक्षु-इंद्रिय पदार्थों से सन्निकर्ष किये बिना (छुये बिना) ही पदार्थ को जानती है । जब चक्षु-इंद्रिय पदार्थों को छुये बिना उनका ज्ञान कर सकती है, तो अन्य इंद्रियाँ क्यों नहीं कर सकती हैं ? और फिर केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ तो किसी भी पदार्थ के पास जाये बिना, उसे छुये बिना ही उसको जानते हैं— यही जिनाम्नाय में केवली का स्वरूप है — "ण पविट्ठो णाविट्ठो, णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।

जाणदि पस्सदि णियदं, अक्खातीदो जगमसेसं ॥29॥"

अर्थात् ज्ञानी-जीव ज्ञेयभूत-पदार्थों में न तो 'प्रविष्ट' होता है उनमें जाता है और न ही उन पदार्थों को अपने में आविष्ट करता है उन्हें अपने में लाता है । फिर भी नियतरूप से वह सम्पूर्ण विश्व को इंद्रियातीत होकर जानता और देखता है ।

7. इतना समझाने पर भी उसे संतोष नहीं होता है, और वह पूछता है कि यदि आपके सर्वज्ञ को परपदार्थों से कुछ लेना देना ही नहीं है, तो वह उन्हें जानने की चेष्टा करता ही क्यों है ?

तब आचार्य कुन्दकुन्द देव उसकी इस जिज्ञासा का भी अत्यन्त-वात्सल्यपूर्वक समाधान करते हुये कहते हैं कि हमारे केवली भगवान् किसी भी परपदार्थ का ग्रहण या त्याग किये बिना ही उन्हें सम्पूर्णरूप से प्रत्यक्ष प्रतिपल जानते देखते हैं—

"गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं ।

पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥32॥"

अर्थात् केवली भगवान् न तो परपदार्थों को ग्रहण करते हैं, न छोड़ते हैं (जब ग्रहण ही नहीं करते, तो छोड़ने

का प्रश्न ही नहीं उठता), और न ही परपदार्थों को परिणमित करते हैं; (वे मात्र उन) सभी पदार्थों को समग्रतः देखते और जानते हैं।

8. इतना समझाने पर भी उसे यह बात समझ में नहीं आ पाती है कि जैनों के सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान में लोकालोक के सभी द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती-पर्यायों कैसे एकसमय में एकसाथ प्रत्यक्ष हो सकती हैं?

तब उसकी इस जिज्ञासा का समाधान करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव लिखते हैं कि हमारे मत के अनुसार तो केवली के ज्ञान में भूतकाल एवं भविष्यत्काल की अविद्यमान-पर्यायें भी अभी हाल में घटित हो रही पर्यायों की भाँति स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष होतीं रहतीं हैं –

"तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वडुंते ते णाणे, विसेसिदो दव्वजादीणं॥ 37॥"

उनके (केवली के) ज्ञान में उन सभी द्रव्यों की सर्वकालवर्ती विद्यमान और अविद्यमान-पर्यायें उनके ज्ञान में वर्ततीं हैं।

9. तब उसके प्रश्न को और अधिक अपनी ओर से स्पष्ट करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव स्वयं लिखते हैं—

"जे णेव हि संजादा, जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।

ते होति असब्भूदा, पज्जाया णाण-पच्चक्खा॥ 38॥"

अर्थात् जो पर्यायें अभी उत्पन्न ही नहीं हुई हैं, और जो पर्यायें नष्ट (व्यय को प्राप्त) हो चुकीं हैं; वे अविद्यमान-पर्यायें भी (केवली के) ज्ञान में प्रत्यक्ष होतीं हैं। यदि ऐसा न हो, तो सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता क्या रहेगी? यदि सर्वज्ञ भी हमारे आपकी तरह क्रमिकरूप से, इंद्रियों का अवलम्बन लेकर ही जानेगा, तो उस ज्ञान की महिमा किसे आयेगी?— यह बात अत्यन्त-दृढ़ता से स्पष्ट करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द देव लिखते हैं –

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलियिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वं ति हि के परूवेति॥ 39॥

अर्थात् यदि अनुत्पन्न और विनष्ट हो चुकीं पर्यायें केवली के ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं हों, तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेंगे?

10. तो 'सावरण-ज्ञान' एवं 'निरावरण-ज्ञान' की व्यवस्था से अनभिज्ञ वह जिज्ञासु पूछता है कि ज्ञान में ऐसी दिव्यता कैसे प्रकट हो सकती है कि हरतरह के पदार्थों को एवं उनकी त्रिकालवर्ती-पर्यायों को एकसमय में प्रत्यक्ष जान ले और वह भी उनकी तरफ झाँके बिना ही? हम भी ज्ञान से पदार्थों को जानते हैं, किन्तु हमें वे पदार्थ ही युगपत् रूप से पूर्णतः स्पष्ट प्रत्यक्ष नहीं होते, उनकी वर्तमान की भी पूरी पर्यायें (प्रत्येक गुण की भिन्न भिन्न) स्पष्ट-प्रतिभासित नहीं होतीं हैं; जबकि हम उन्हें जानने का भरपूर प्रयत्न करते हैं, सारे साधन जुटाते हैं। तब आपके केवली भगवान् कैसे उन्हें बिना किसी प्रयत्न के प्रत्यक्ष जान सकते हैं। ज्ञान-स्वभाव तो आप प्राणीमात्र का समान मानते हैं, तो हमारे ज्ञान में ऐसा क्यों नहीं होता है?

उसके इस प्रश्न पर आचार्य कुन्दकुन्द देव अत्यन्त-करुणापूर्वक केवलज्ञान-पर्याय की विशेषता जिनाम्नाय के अनुसार स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि "अरे भोले प्राणी! केवली भगवान् की ज्ञान पर्याय क्षायिक-अवस्था को प्राप्त हो चुकी है, इसलिये उनके साथ यह सब सहज ही होता है। क्योंकि जिनाम्नाय में क्षायिक या निरावरण-ज्ञान उसे ही माना गया है, जो परपदार्थों की ओर उपयोग किये बिना ही हरतरह के द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती-पर्यायों को युगपत् रूप से बिना किसी बाधा के और बिना किसी की सहायता के, पूर्णतः स्वाधीनरूप से जानने में समर्थ होता है" –

"जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।

अत्थं विचित्त-विसमं, तं णाणं खायिगं भणिदं॥ 47॥"

अर्थात् तात्कालिक (यानि विद्यमान) और इतर (यानि अविद्यमान (पर्यायों को) युगपत् और सभी विचित्र एवं विषम-पदार्थों को समग्रतः जो ज्ञान जानता है, उसी ज्ञान को 'क्षायिक' कहा गया है ।

11. इस क्षायिक-ज्ञान की विशेषता को और स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं कि जो ज्ञान परपदार्थों की प्रतीति की अपेक्षा रखता है, अथवा जो क्रमशः एक-एक पदार्थ को जानता है, वह ज्ञान न तो क्षायिक हो सकता है और न ही कभी सर्वगत अर्थात् सभी पदार्थों को व उनकी त्रिकालवर्ती-पर्यायों को युगपत् रूप से जानने में समर्थ हो सकता है—

"उप्पज्जदि जदि णाणं, कमसो अट्टे पडुच्च णाणिस्स।

तं णेव हवदि णिच्चं, ण खाधिगं णेव सव्वगदं॥ 50॥"

अर्थात् यदि ज्ञानी का ज्ञान प्रत्येक पदार्थ की क्रमशः प्रतीति करता हुआ उत्पन्न हो, तो वह ज्ञान न तो नित्य अर्थात् अविनाशी हो सकता है, न क्षायिक हो सकता है, और न ही सर्वगत (सभी पदार्थों को जाननेवाला) हो सकता है ।

12. इसके बाद वे स्वयं अपनी ओर से स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि लोकालोक में अनंतानंत-द्रव्य और प्रत्येक द्रव्य में अनंत-अनंत गुण, और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनंतानंत-पर्यायें— इन सबको एकसमय में एकसाथ जानने में समर्थ केवलज्ञान की पर्याय; और ऐसी अनंतानंत केवलज्ञान की पर्यायें जिसमें से निकलें, परन्तु उसकी सत्ता में तनिक भी न्यूनता न आये— ऐसा 'ज्ञान' नामक गुण है । और उस ज्ञान-गुण की स्वाभाविक सामर्थ्य ऐसी अद्भुत है कि उसकी पर्यायों को परपदार्थों के ज्ञान के लिये परपदार्थों के पास जाने की जरूरत ही नहीं है । वह अपने में लीन रहकर निरावरणरूप से समस्त द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को पूर्णतः प्रत्यक्षरूप से जानती है— यही तो ज्ञान स्वभाव की अचिन्त्य-महिमा है, जो जिनाम्नाय में ही वर्णित है—

तिक्काल-णिच्च-विसमं, सयलं सव्वत्थ-संभवं चित्तं।

जुगवं जाणदि जोण्हं, अहो हि णाणस्स माहप्पं॥ 51॥

अर्थात् यह जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान का माहात्म्य है कि वह त्रिकालवर्ती, नित्य, विषम, सम्पूर्ण, सभी पदार्थों में होने वाले बहुरूपी (पर्यायों) को युगपत् रूप से (बिना किसी बाधा या व्यवधान के) जान लेता है । इसप्रकार से कलिकाल के सर्वज्ञ-स्वभाव और सर्वज्ञता से अनभिज्ञ प्राणियों आत्मस्वरूप में ही पूर्णतः स्वाश्रित-सर्वज्ञता की सिद्धि जिस अनुपम-शब्दावलि और अकाट्य-शैली में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार-परमागम में की है, वह अतुलनीय है । इसी कालजयी-प्रतिपादन के कारण वे वर्तमान-पंचमकाल के पहले आचार्य बने, जिन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' के विरुद्ध से अर्चित किया गया है ।

'समयसार' के मंगलाचरण में "सुदकेवली-भणिदं" क्यों कहा ?—

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव-प्रणीत कालजयी आगम-ग्रंथ 'समयसार' जी में मंगलाचरण के जिनाम्नाय-सम्मत सभी अंगोपांगों का उत्कृष्ट-रीति से अनुपालन दृष्टिगत होता है । किन्तु उसमें ग्रंथ को "सुदकेवली-भणिदं" कहकर श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी द्वारा कथित कहना कहीं जिज्ञासा-विशेष उत्पन्न करता है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि इस ग्रंथ के वर्तमान-स्वरूप के प्रणेता युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव हैं । यदि आत्मश्लाघा से बचकर अपनी विनम्रता प्रकट करने रूप शालीनता की प्रस्तुति ही उन्हें यहाँ अपेक्षित थी, तो वे अपने दीक्षागुरु **आचार्य जिनचन्द्र** जी का नामोल्लेख कर सकते थे । इससे विनय भी हो जाती, और " गुरु-नाम न छिपाइये" के शिष्टाचार का परिपालन भी हो जाता । यदि वह नहीं कहना था, तो अपने दीक्षा-संघ 'नंदिसंघ' के संस्थापक महान् तपस्वी एवं श्रुतवेत्ता **आचार्य माघनंदि** का नामोल्लेख कर सकते थे ।

किन्तु इन दोनों साक्षात् गुरुवर्यों का उल्लेख करना छोड़कर जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्द देव ने देखा तक नहीं, ऐसे पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी को 'समयसार' ग्रंथ का वक्ता कहना कुछ जिज्ञासा-विशेष उत्पन्न करता है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव जैसी महान् विवेकी एवं सारस्वत-आचार्य ने ऐसा क्यों किया ? अवश्य ही इसके पीछे

कोई गंभीर-कारण रहे होंगे, जिनका विश्लेषण लिखितरूप में कहीं नहीं मिलता है; परन्तु इनका विश्लेषण अवश्य ही अपेक्षित है। यही प्रयास यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. प्रथम-बिन्दु है कि उन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु का ही स्मरण/वन्दन क्यों किया? जबकि उनकी साक्षात् गुरु-परम्परा थी? —इसका एक उत्तर तो मैंने अपने आलेखों में दिया ही है, जिनका निष्कर्ष यही है कि वे दोनों आचार्यगण (माघनंदि एवं जिनचन्द्र) अपने मुनिजीवन में दिगम्बर-मुनिचर्या की गरिमा के विपरीत कुछ कार्य कर चुके थे, जिसका भले ही उन्होंने का परिमार्जन कर लिया था; पर वह कार्य किये तो मुनिपद पर रहते हुये ही थे। अतः दिगम्बर जैन-मुनिधर्म में प्रसक्त हुये शिथिलाचार का पुरजोर-निषेध करके निर्दोष-मुनिचर्या की स्थापना का बीड़ा उठानेवाले युगप्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कथंचित् भी सदोष-मुनिधर्मवाले इन दोनों का नामोल्लेख करना संभवतः समीचीन नहीं समझा।

इस विषय में कुछ उन्होंने अलग से उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु "पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते" के प्रचलित-न्याय के अनुसार सब स्वीकार करते हैं कि "यदि वह देवदत्त मोटा-ताजा है तथा दिन में कुछ नहीं खाता है; तो कोई भी सहज ही समझ सकता है कि वह रात में खाता होगा।" इसीप्रकार जिन आचार्य कुन्दकुन्द देव को दिगम्बर जैन मुनिधर्म में रंचमात्र भी शिथिलाचार स्वीकार्य नहीं था, तो कोई भी समझ सकता है कि उन्होंने इसीकारण शिथिलाचार के दोष लगानेवाले अपने इन गुरुवर्यों का नाम लेना उचित नहीं समझा।

इसका समर्थक-प्रमाण यह भी है कि इन दोनों आचार्यों ने जब ऐसे शिथिलाचार के कार्य किये, तो परिष्कार के बाद जितने समय तक वे आचार्य-पद पर रहे, उतने समय के काल को श्रुतावतारों व पट्टावलियों में स्थान नहीं दिया गया है; वह समय खाली दिखाया गया है। यह श्रुतावतार एवं पट्टावलियों वाले ग्रंथ कुन्दकुन्द आचार्य देव के परवर्ती-रचनायें हैं, अतः उनमें ऐसा किया जाना इनके रचयिताओं पर आचार्य कुन्दकुन्द देव का स्पष्ट-प्रभाव माना जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अपने इन दोनों गुरुवर्यों का नामोल्लेख नहीं किया।

तब यह कहा जा सकता है कि वे आचार्य अर्हद्वलि आदि का उल्लेख कर सकते थे, जो इनके स्पष्ट-पूर्ववर्ती थे। किन्तु वे नंदिसंघ की स्थापना से पहले के थे, किन्तु नंदिसंघ की नीति यही है कि या तो अपने साक्षात्-गुरुवर्यों का उल्लेख किया जाये, या फिर स्थापित-पदों (तीर्थंकर/ केवली/श्रुतकेवली) का उल्लेख मंगलाचरण में किया जाये; तो आचार्य कुन्दकुन्द देव ने इसी परम्परा का पालन करते हुये अंतिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी को 'समयसार' का प्रवक्ता कहा है। इस कथन से आचार्य कुन्दकुन्द देव की गरिमा व आगम-निष्ठता प्रकट हुई है।

2. दूसरी-बात यह भी है कि इस वाक्यांश में अंतिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का साक्षात्-स्मरण किया जाना कुन्दकुन्द आचार्य देव के ग्रंथों का आगमिकता व जिनवाणीरूप होना प्रमाणित करता है। क्योंकि 'समयसार' में जिस शैली में वे पर और पर्याय से भिन्न, त्रिकालशुद्ध, ज्ञायक भगवान् आत्मा की बात करने जा रहे थे, उसे कोई आचार्य कुन्दकुन्द देव की निजी-प्रतिपत्ति न मान ले, कि "यह तो आचार्य कुन्दकुन्द देव की निजी मान्यता है, मूल-आगम-परम्परा में ऐसी त्रिकाल-शुद्धता की बात नहीं रही होगी। भला नर-नारकादि पर्यायों में संसार-परिभ्रमण करनेवाले मोही-जीव को त्रिकाल-शुद्ध कैसे कहा जा सकता है?" —ऐसी आशंकाओं का निवारण तभी संभव था, जब यह कथन मूल-आगम-परम्परा का सिद्ध हो; न कि आचार्य कुन्दकुन्द देव का निजी-कथन। क्योंकि कुन्दकुन्द आचार्य देव के समकालीन लिपिबद्ध किये गये आगम-साहित्य में कर्म-सिद्धान्तपरक ग्रंथ थे, जो कि आत्मा को कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ सिद्ध कर रहे थे। ऐसी स्थिति में आत्मा को "कर्मों से त्रिकाल अबद्ध-अस्पृष्ट" घोषित करना जैनधर्म का मूलभूत-सिद्धान्त है, न कि आचार्य कुन्दकुन्द देव की निश्चयनय-वाली अपनी अवधारणा— यह सिद्ध करना आत्मा के स्वरूप के विषय में बहुत बड़ा धर्मसंकट था।

आज भी अन्य लोगों की तो बात छोड़ दीजिये, हम अधिकांश मुमुक्षु-लोग भी निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा को शुद्ध मानते हैं, न कि इसी संसारावस्था में उसे स्वभावतः त्रिकालशुद्ध स्वीकार करने का साहस कर पाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव के इस कथन को उनके टीकाकारों ने तो स्वीकार किया ही था, तभी तो उन्होंने लिखा था कि

"प्रागेव शुद्धता येषां, सुधियां कुधियामपि।

नयेन केनचित्तेषां भेदं किमपि विदाम्यहम्॥"

—अर्थात् जिन संसारी-जीवों में स्वभाव से ही त्रिकालशुद्धता विद्यमान है, उन्हें किसी नय से शुद्ध और किसी नय से अशुद्ध कहना— यह कैसे संभव है?

परवर्ती आचार्य-परम्परा में भी यदि ये स्वर मुखरित हुये हैं, तो उसका श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द देव को ही जाता है, जो कि **"जारसिया सिद्धप्पा, तारिसिया भवमल्लिया जीवा"** अर्थात् "जैसे सिद्ध भगवान् शुद्ध हैं, वैसी ही शुद्धता संसार-सागर में निमग्न-जीवों के स्वभाव में भी त्रिकाल विद्यमान है"— जैसे वाक्यों में परवर्ती आचार्य-परम्परा में जगह-जगह मुखरित हुये हैं।

इनके बाद इस तथ्य की सर्वाधिक समर्थ-ढंग से उद्घोषणा यदि किसी ने की है, तो वे हैं पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी। इसीलिये उन्हें 'आचार्य कुन्दकुन्द देव का सर्वाधिक-समर्थ-उत्तराधिकारी' कहा जाता है। वे सारे जीवन लोगों को **"भगवान् आत्मा"** के मृदुलतम-सम्बोधन से पुकारते रहे और कहते रहे कि **"यदि मैंने किसी को पर्याय-दृष्टि से देखा हो, तो मुझे क्षमा करना"**। अहो! ऐसी अद्भुत-क्षमावणी और किसी के मुख से सुनने को नहीं मिली। यह हमारा परम-सौभाग्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के हृदय को खोलकर रख देनेवाले ऐसे महान् व्यक्तित्व का पावन-सान्निध्य हमें इस विषम-पंचमकाल में मिला और हम भोगों के युग में **"भगवान् आत्मा"** का सम्बोधन सुन पाये।

यह जिनागम का सारभूत-मर्म है, जैनदर्शन की मौलिकता है। यदि इसे आचार्य कुन्दकुन्द देव की निजी-प्रतिपत्ति (कथन) मान लिया जाता, तो जिनवाणी का यह मूल-सिद्धान्त व्यक्ति-विशेष की मान्यता बनकर रह जाता। यह भयंकर-चूक लोग न कर लें, इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द देव ने **"सुदकेवली-भणिदं"** कहकर 'समयसार' का प्रवक्ता सीधे अंतिम-श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी को बताया है।

3. इसी क्रम में तीसरा-तथ्य मैं यह बताना चाहता हूँ कि **"श्रुतकेवली-कथित"**— यह प्रयोग कुन्दकुन्द-वाङ्मय का सीधा तीर्थंकर-वचनरूप महिमा ज्ञापित करता है। क्योंकि श्रुतकेवली कभी अपनी कोई अवधारणा प्रकट नहीं करते हैं। वे द्वादशांग के रूप में वही जानते व कहते हैं, जो शासन-नायक तीर्थंकर-भगवान् के, व केवलियों के प्रवचनों में आता है और जो गणधरों ने द्वादशांगी-जिनवाणी के रूप में वर्गीकृत किया है।

इसीलिये परवर्ती-आचार्यों ने अपने कथनों की प्रामाणिकता ज्ञापित करने के लिये आचार्य कुन्दकुन्द देव के वचनों को, उनके अन्वय व आम्नाय को ('अन्वय' अर्थात् उनकी शिष्य-परम्परा, और 'आम्नाय' अर्थात् उनकी कथन-परम्परा के अनुयायी) परम-प्रमाण मानकर ऐसा कथन करना पड़ा कि **"कुन्दकुन्दान्वय-नन्दनवन-शुकोऽहम्"** अर्थात् **"कुन्दकुन्द आचार्य देव के अन्वयरूपी नन्दनवन का मैं तोता हूँ।"** जैसे तोता अपने स्वामी के जैसे वचन सुनता है, वैसे ही दोहराता है। तो हम लोग (अर्थात् कुन्दकुन्द आचार्य देव के परवर्ती समस्त ग्रंथकार) तो कुन्दकुन्द आचार्यदेव की ही बातों को तोते की तरह दोहराये हैं।

इसीलिये तो 'अनुवाद' शब्द प्रचलित हुआ, जिसका मूल-अर्थ है कि 'जैसा सुना, वैसा ही ज्यों का त्यों दोहरा दिया।' (अनु+वाद, अनु= ज्यों का त्यों/अनुसार, वाद= कथन करना) उसमें अपनी ओर से कुछ भी नहीं मिलाया, न घटाया न बढ़ाया। (क्या आज के अनुवादक इस गरिमा का अनुपालन करते हैं?)

इसप्रकार 'समयसार' का प्रत्येक सिद्धांत सीधे भगवान् की वाणी है— यह बात **"सुदकेवली-भणिदं"** वाक्यांश से प्रमाणित होती है। इसमें कोई आशंका जो करता है, वह सीधे केवली पर आशंका करता है। और केवली पर आशंका करना केवली का अवर्णवाद है, जो कि दर्शन- मोहनीयकर्म के तीव्र-बंध का हेतु है— यह तो सभी जानते ही हैं (**"केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य"**— तत्त्वार्थसूत्र)।

इसीलिये कुन्दकुन्द आचार्य देव ने 'समयसार' के मंगलाचरण में **"सुदकेवली-भणिदं"** कहकर सम्पूर्ण

'समयसार' को भगवान् की वाणी कह दिया है और उसकी चरम-प्रामाणिकता की असन्दिग्धता पुष्ट कर दी है।

4. इसी क्रम में चौथा-तथ्य मैं यह बताना चाहता हूँ कि **कुन्दकुन्द आचार्यदेव स्वयं 'साक्षात् श्रुतधर-आचार्य'** थे— यह बात 'श्रुतकेवली-कथित' पद के प्रयोग से प्रमाणित होती है। क्योंकि श्रुतकेवली हमेशा केवली के द्वारा प्रतिपादित बात को ही कहते हैं, और श्रुतकेवली के द्वारा कही गयी बात श्रुतधर-आचार्य के अतिरिक्त अन्य कोई जानने का दावा नहीं कर सकता है।

यदि कुन्दकुन्द आचार्य देव ने श्रुतकेवली के द्वारा कथित बात को 'समयसार' ग्रंथ में लिखा है, तो स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव स्वयं श्रुतधर-आचार्य थे। इसलिये जो लोग ऐसा मानते हैं कि कर्म-सिद्धान्त की चर्चा करनेवाले ही मात्र श्रुतधर-आचार्य रहे हैं, उनको अपनी मान्यता में सुधार कर लेना चाहिये।

मात्र कर्म-सिद्धान्त की चर्चा ही श्रुत का विषय नहीं है और न ही मात्र कर्म-सिद्धान्त की बात करनेवाले श्रुतधर-आचार्य हुये हैं। ज्ञायक भगवान् आत्मा के गीत भी केवली की वाणी में गूँजते थे, और भगवान् आत्मा की धुन भी केवली की, मूल-जिनवाणी की ही धुन है— यह बात आचार्य कुन्दकुन्द देव ने **"सुदकेवली-भण्ड"** कहकर प्रमाणित कर दी है।

5. इस क्रम में पाँचवीं बात यह है कि " समयसार का प्रतिपादन स्वयं श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने किया"— यह कहकर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने यह प्रमाणित कर दिया कि इस ग्रंथ का एक एक वाक्य स्वयं में जिनवाणी है। जरूरत है इसकी आगमता के पोषक अन्य-प्रमाण खोजने की, वे 'समयसार' में ही हैं, पर उनका उद्धाटन अपेक्षित है।

इसके पोषक कुछ निदर्शन निम्नानुसार हैं—

A. **अरसमरूवमगंध.....**— यह गाथा दिगम्बर जैन-आम्नाय के प्रायः उपलब्ध-मूलग्रंथों में तो पायी जाती है, श्वेताम्बर-जैन-परम्परा के आगम-ग्रंथों में भी पायी जाती है। इसतरह से यह गाथा निर्विवादरूप से भगवान् की मूल-वाणी के रूप में मानी गयी है, जो कुन्दकुन्द आचार्य देव ने भी अनेकत्र अपने ग्रंथों में लिखी है।

B. **"अहमेकको खलु सुद्धो....."** वाक्यांश से प्रारम्भ होनेवाली गाथायें कुन्दकुन्द-वाङ्मय में तो अनेकत्र मिलतीं ही हैं, अन्य आचार्यों के ग्रंथों में भी इनकी झलक मिलती है।

C. पहले 'कर्त्ता-कर्म-अधिकार' में कर्तृत्व के मद को उतारने की पुरजोर कोशिश उन्होंने की, जब उतने से संतुष्ट नहीं हुये, तो 'सर्वविशुद्ध-ज्ञान-अधिकार' लिखकर स्पष्ट कर दिया कि यदि जिनवाणी का स्वाध्याय करके भी ज्ञान में परकर्तृत्व का लेश भी शेष रहता है, तो वह ज्ञान परिशुद्ध नहीं है, उसमें 'कर्तृत्व के अहं का कर्दम' मिश्रित है।

D. पुण्यभाव की महिमा का लेश भी जीव को स्वरूपोपलब्धि में प्रमुख बाधक-तत्त्व है— इसकी जैसी प्रबल-घोषणा आचार्य कुन्दकुन्द देव ने न केवल 'समयसार' ग्रंथ में, बल्कि उनके अन्य-ग्रंथों में भी मुखरित हुये हैं— वह-घोषणा सम्पूर्ण-परम्परा के लिये आदर्श बन गयी है।

इनके अतिरिक्त बहुत से तथ्य ऐसे हैं, जो प्रमाणित करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उसी मूल-आगम-परम्परा का परिरक्षण अपनी लेखनी के माध्यम से किया, जिसका प्रवर्तन केवलियों के द्वारा किया गया और जिसकी सुरक्षा श्रुतकेवली के द्वारा द्वादशांग के माध्यम से की थी। उन स्वरो को आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अत्यन्त-कौशलपूर्वक अपने ग्रंथों में संजोया है। अतः उनका **"सुदकेवली-भण्ड"** कथन पूर्णतः सार्थक है।

6. श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी को अपने अन्य-ग्रंथों में कुन्दकुन्द आचार्य देव ने अपने **'गमकगुरु'** की संज्ञा दी है। यह प्रयोग सामान्यतः जिनवाणी में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। 'गमक' शब्द का अर्थ 'ज्ञान-प्रदाता' के रूप में लें, तो भी ठीक नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि अंतिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी एवं आचार्य कुन्दकुन्द देव के बीच इतना कालगत-अन्तर है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव का अंतिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से साक्षात्कार संभव नहीं है। तब इस स्थिति में उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द अपना 'गमकगुरु' कैसे कह सकते थे?

हाँ, इतना अवश्य है कि वे अपने को परम्परा से प्राप्त ज्ञान का संबंध प्रामाणिकता की दृष्टि से अंतिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के साथ अवश्य जोड़ सकते थे। संभवतः उन्होंने यही किया है।

इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि 'समयसार' ग्रंथ की रचना उनके विदेहगमन से पहले की है। न केवल 'समयसार' ग्रंथ, अपितु अन्य पाहुडों की भी, जिनमें वे या उनके टीकाकार अंतिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का किसी न किसी महनीय-संदर्भ में उल्लेख करते हैं।

उनके अतिसंक्षिप्त-ग्रंथों की रचना तो किसी तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये की गयी प्रतीत होती है, क्योंकि उनका आकार-प्रकार एवं वर्ण्य-विषय— दोनों ही आचार्य कुन्दकुन्द देव के प्रसिद्ध-परमागमों की गरिमा के साथ साम्य नहीं रखते हैं। प्रसिद्ध चार परमागमों (क्योंकि पाँचवें परमागम के रूप में प्रसिद्ध 'अष्टपाहुड' मूलतः आठ पाहुडों का संग्रह है। कुन्दकुन्द आचार्य देव ने इस नाम से कोई ग्रंथ नहीं लिखा था। और इनमें से एक-दो पाहुडों को छोड़कर कोई भी ग्रंथ सौ गाथाओं के आंकड़े को भी नहीं छू सका है; जबकि प्रसिद्ध चार परमागम द्विशताधिक-गाथाओं में ही निबद्ध हैं। परन्तु यह कहकर मैं उन अपेक्षाकृत लघुकाय-ग्रंथों के प्रतिपाद्य की महत्ता को प्रश्नचिह्नित नहीं कर रहा हूँ। मैं मात्र इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षण करा रहा हूँ) में 'प्रवचनसार' ग्रंथ के अतिरिक्त सभी कुन्दकुन्द आचार्य देव के विदेहगमन से पहले की रचनायें हैं। **एकमात्र 'प्रवचनसार' ग्रंथ ही उनके विदेहगमन के बाद की रचना है। इसीलिये 'प्रवचनसार' ग्रंथ में कहीं श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी का उल्लेख नहीं है। उसमें प्रायः सर्वत्र केवली और केवलज्ञान की साक्षी से ही कथन मिलते हैं। 'समयसार' ग्रंथ उन्होंने नितान्त-अप्रतिबुद्धों के लिये लिखा है, तथा 'पंचत्थिकायसारसंग्रहो' की रचना जैन दार्शनिक-तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-नय-मीमांसा के लिये की है; जबकि 'नियमसार' ग्रंथ को उन्होंने स्वयं की भावना के निमित्त लिखा कहा है, साथ ही अभिप्राय से समकालीन-मुनिपदधारकों को मुनिधर्म के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक-पक्षों का बारीकी से विश्लेषण करके उनका भी स्थितिकरण किया है। इन तीनों का विषय कहीं भी ऐसा नहीं रहा है कि जिसके लिये केवली और केवलज्ञान की साक्षी देनी अपरिहार्य हो गयी हो। किन्तु 'प्रवचनसार' ग्रंथ के प्रतिपाद्य को इनकी दृष्टि से समीक्षण किये बिना उसका समीचीन-अर्थ पूर्णतः संभव प्रतीत नहीं होता है। और विचारणीय-तथ्य यह भी है कि इन तीन परमागमों में मूलरूप में एवं टीकाकारों के द्वारा कहीं न कहीं श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी या श्रुतकेवली-पद का उल्लेख आया है। जबकि **'प्रवचनसार' ग्रंथ में मात्र केवली और केवलज्ञान की ही चर्चा आती है।** उनके साक्ष्यपूर्वक ही सभी विषयों की विवेचना की गयी है।**

(एक अन्य-तथ्य यह भी है कि 'समयसार' आदि सभी 'ग्रंथ' संज्ञा के सुपात्र ग्रंथ हैं। हममें से बहुत से विचारक तो यह भी नहीं जानते होंगे कि जिनाम्नाय में 'ग्रंथ' शब्द भी एक पारिभाषिक-पद है तथा इसके भी नियम और उपनियम बने हुये हैं। हम हर किसी धार्मिक-रचना को 'ग्रंथ' कहने लगते हैं, बिना यह जाँचे कि वह ग्रंथ-रचना की कसौटी पर खरा उतरता है या नहीं? यदि श्रद्धा को तर्क और प्रमाण से संवलित कर दिया जाये, तो वह सुमेरू की भाँति अचल बन जाती है। पर उसके लिये हमें समुचित-प्रमाणों की अपेक्षा होती है, और उन पर कसने का श्रम भी हमें करना होता है। यह विषय मैं पहिले विवेचित कर चुका हूँ।)

7. श्रुतकेवली का पारम्परिक-स्वरूप तो उन्होंने स्वीकार किया ही है (बारस-अंग-वियाणं, चउदस-पुव्वंग विउल-वित्थरणं....), साथ ही सम्यक् श्रुतज्ञान के विषयभूत शुद्धात्मतत्त्व के ज्ञान के धारक को भी 'श्रुतकेवली' कहकर "आत्मज्ञान ही ज्ञान है" की पुष्टि की और श्रुतकेवली की नूतन आध्यात्मिक-परिभाषा प्रस्तुत की है— **"सुदणामाद सव्वं, जम्हा सुदकेवली तम्हा।"** अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतज्ञान या जिनवाणी में एकमात्र आत्मतत्त्व के प्रतिबोध का ही लक्ष्य है, अतः उस निजात्मतत्त्व को जिसने जान लिया अर्थात् उसकी निर्विकल्प-अनुभूति प्राप्त कर ली, उसने सम्पूर्ण-श्रुत (जिनवाणी) को जान लिया, इसलिये वह भी 'श्रुतकेवली' है। — यह बात कुन्दकुन्द आचार्य देव के पहले तो किसी भी श्रुतधर-आचार्य ने नहीं कही, उनके बाद भी उनके टीकाकारों के अलावा अन्य

कहीं स्वतन्त्र-प्रतिपादन के रूप में यह बात नहीं मिली है।

मोही-जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि तो होता ही है— यह तो कई ग्रन्थों में लिखा है। किन्तु यह आचार्य कुन्दकुन्द देव का ही विशेष-प्रतिपादन है कि व्रतादि करनेवाला जीव 'अभव्य' तक हो सकता है। यह बात इस गाथासूत्र में स्पष्ट शब्दों में कही गयी है—

वद-समिदी-गुत्तीओ, सील-तव जिणवरेहि पण्णत्तं।

कुव्वंतो वि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥ —(समयसार, गा. 273)

9. 'आत्मज्ञानरूपी लोकोत्तर एवं भवभ्रमण-नाशिनी-विद्या के रथ पर सवार होकर जो जीव अपने मनचाहे मार्गों पर यथारुचि-भ्रमण करता है, उसे जिनेन्द्र परमात्मा के द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान की प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि-जीव जानना चाहिये'। — यह कहकर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने स्पष्ट कर दिया है कि **सम्यग्दृष्टि-जीव भले ही व्रतों को धारण नहीं करने से अविरति-अवस्था में रहे, तब भी उसके कथन और आचरण जिनाम्नाय की मर्यादा से बाहर नहीं होते हैं। वह अविरत-अवस्था में होता हुआ भी अपने कथन और आचरण से जिनेन्द्र परमात्मा के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान की प्रभावना ही करता है।** — यह बात आज के केवल बाह्य-आचरण को सर्वस्व माननेवाले तथा इसके अहं में सम्यग्दृष्टि-जीव की उपेक्षा करनेवाले लोगों को अपने कथन और व्यवहार पर गम्भीरता से विचार करना होगा और जिनाम्नाय की वास्तविकता को समझना होगा। मूल-गाथा इसप्रकार है—

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।

सो जिणणाण-पहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥

—(समयसार, गा. 236)

10. कई लोग खुलकर कहते हैं कि "कोरी शुद्ध-आत्मा-आत्मा की बातें करने से क्या होगा? अभी तो आत्मानुभूतिरूप-परिणाम 'अशुद्ध' है, उसे संयम-तप से शुद्ध करना है। अभी संसार के काम-भोग के प्रपंचों में पड़ा हुआ है। अतः अभी से शुद्ध-आत्मा की चर्चा क्यों कर कहे हो? इससे और भ्रष्ट हो जाओगे।"

किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द देव स्पष्ट लिखते हैं कि "इस जीव ने अनादिकाल से काम-भोग-बंधन की ही कथा सुनी है और उसी को सुन-सुनकर यह अपने को दीन-हीन व पतित मानने लगा है। जबकि वह त्रिकाली-ज्ञायक-स्वभावी शुद्ध-तत्त्व है। वह काम-भोग आदि के विकारों से भिन्न त्रिकाल-शुद्ध-स्वभाववाला है। — इस स्वभाव से एकत्वरूप और विकारों से भिन्नरूप चर्चा इसे सुलभ ही नहीं हो सकी है। — यही इसके संसार-चक्र की बिडम्बना का कारण है।" — इस विषय का दोटूक-शैली में कथन करनेवाली गाथा इसप्रकार है —

सुद-परिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि काम-भोग-बंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

—(समयसार, गा.4)

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अनेकों गाथासूत्रों के माध्यम से ऐसे तथ्यों का स्पष्ट-शब्दों में प्रतिपादन किया है, जो सामान्यतः उपलब्ध-आगमग्रन्थों के आलोक में संभव ही नहीं था। क्योंकि उनके समक्ष उपलब्ध-आगमग्रन्थों में या तो कर्मों से बद्ध आत्मा का कथन आया है (छक्खंडागमसुत्तं) और या फिर आत्मा के काम-क्रोधादि-विकारी-भावों का प्ररूपण मिलता है ('कसायपाहुडसुत्तं')। कोई ग्रंथ उनके समक्ष ऐसा नहीं था, जिसमें आत्मा के शुद्धरूप का वर्णन हो। अतः उन्होंने अपनी बात की प्रामाणिकता ज्ञापित करने के लिये "**सुदकेवली-भणिदं**" कहकर अपने प्ररूपणों की सत्यता व तथ्यात्मकता सिद्ध की है। क्योंकि प्राप्त दो ग्रन्थों ('छक्खंडागमसुत्तं' और 'कसायपाहुडसुत्तं') का वर्ण्य-विषय तो शुद्धात्मा था ही नहीं। किन्तु केवलियों और श्रुतकेवलियों ने आत्मा के शुद्धरूप का प्रतिपादन किया है। अतएव आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अपने कथनों की प्रामाणिकता के लिये 'श्रुतकेवलि-भणित' (सुदकेवली-भणिदं) कहा।

यह बेहद सुविचारित-प्रयोग है, अविचारित या भावावेश का कथन नहीं है। — इसी की पुष्टि के लिये यहाँ कतिपय-तथ्यों की प्रस्तुति की गयी है। क्योंकि हांडी पकी है या नहीं यह जानने के लिये दो-चार चावल देखना ही पर्याप्त

होता है। उन्हें देखने भर से पूरी हांडी का हर चावल पक गया है— यह समझदार-लोग आसानी से समझ जाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव अपने सभी ग्रन्थों में पूर्णतः जिनाम्नाय-सम्मत ही प्रतिपादन करते रहे हैं, किन्तु इतना विशेष है कि जिस बेलाग और सटीक प्रतिपादन-शैली को उन्होंने अपनाया है, वैसी शैली अपनाने का साहस उनसे पूर्ववर्ती या परवर्ती-आचार्यों/लेखकों ने प्रायः नहीं दिखाया है। यही कारण है कि आज के बहुत से समाजशास्त्री-विचारधारावाले लोगों को आचार्य कुन्दकुन्द देव के 'पुण्य की हेयता और पाप के समक्ष बताना, -निश्चय के प्रतिपादन के समक्ष व्यवहार की पूर्ण-उपेक्षा, सम्यग्दर्शन के बिना बाह्याचरण की निरर्थकता, अकर्तावाद'— इत्यादि प्ररूपण 'अतिवादी' प्रतीत होते हैं। किन्तु जो जिनधर्म के मर्म को समझते हैं, वे इन्हीं स्पष्ट-प्रतिपादनों के कारण आचार्य कुन्दकुन्द को सर्वाधिक महनीय-स्थान देते हैं।

क्योंकि यदि आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रंथों में इन विषयों का ऐसा दोटूक-प्रतिपादन नहीं मिलता, तो जैनदर्शन की वास्तविकता ही लोगों को ज्ञात नहीं हो पाती और यह दर्शन अपनी वास्तविक-महत्ता से वंचित रह जाता। तब इसके अनुयायी भी स्थूल-बाह्याचरण में ही धर्मबुद्धि करके किसी तरह अपने को संतुष्ट करते कि उन्होंने भी कुछ धर्म किया। और जो बाह्याचरण में विशेष नहीं कर पाते, वे यथासंभव पूजा-भक्ति, दया-दान-उपवास-तीर्थयात्रा आदि करके अपने को ऐसी ही तसल्ली देते। कहीं न कहीं "ईश्वर कुछ तो भला करेगा, नहीं तो पुण्य-कर्मों से ही कुछ भला हो जायेगा। इस भव में सह लो, तो अगले भव में तो सबतरह की सुख-साता मिल ही जायेगी।"— ऐसी अन्य ईश्वर-कर्तावादी, पुण्य-कार्यों को धर्म बतानेवाले दर्शनों की विचारधारा और जैनदर्शन के व्यावहारिक-स्वरूप में कोई अंतर नहीं रह जाता। अंतर ऊपरी तौर पर यही दिखता कि वे स्पष्टरूप से स्त्री, हथियार, परिग्रह आदि सहित मूर्तियों को पूज रहे होते और तथाकथित जैन वीतरागी-जिनबिम्बों की पूजा करते। किन्तु उस पूजा के पीछे अभिप्रायों की वासना दोनों की समान रहती।

इसकारण न केवल जैन-तत्त्वज्ञान का मर्म वे नहीं समझ पाते, बल्कि कर्मकांडी-दायरे से बाहर आत्मज्ञान और आत्मोन्नतिपरक-साधना से भी वे वंचित रह जाते। इस दृष्टि से आचार्यवर्य कुन्दकुन्द देव का विषय-चयन एवं प्रतिपादन-शैली— दोनों दृष्टियों से अप्रतिम-योगदान जिनाम्नाय के मौलिक-स्वरूप के संरक्षण के लिये है।

यह आचार्य कुन्दकुन्द देव एवं उनकी कालजयी-रचना 'समयसार' जी के बारे में कुछ संक्षिप्त, किंतु अति-आवश्यक प्रतिपादन किया। चूँकि 'नाटक-समयसार' नामक यह रचना इसी पर आधारित है, अतः यह वर्णन आवश्यक था।

'समयसार' और आचार्य अमृतचंद्र सूरि—

आचार्य कुन्दकुन्द देव के कालजयी-ग्रन्थों पर कई आचार्यों और मनीषियों ने टीकायें लिखीं हैं ; किन्तु उनके सबसे यशस्वी-टीकाकार के रूप में आचार्य अमृतचंद्र सूरि का नाम आता है। यद्यपि उनकी कुन्दकुन्द आचार्य देव के हर ग्रन्थ की टीका एक 'मील के पत्थर' की तरह महत्त्वपूर्ण है, तथापि आचार्य कुन्दकुन्द देव के सर्वाधिक-चर्चित ग्रन्थ 'समयसार' की 'आत्मख्याति' नामक टीका, जिसे लोग आचार्य अमृतचंद्र सूरि के वैशिष्ट्य के कारण 'अमृत-भाष्य' भी कहते हैं, का यहाँ मैं विशेषरूप से उल्लेख करना चाहता हूँ।

आचार्य अमृतचंद्र सूरि अपने की विशिष्ट-प्रतिपादनों एवं अनोखी प्रतिपादन-शैली के कारण चर्चित रहे हैं।' समयसार' ग्रंथ की टीका में आगत उनका यह कलशरूप काव्य उपर्युक्त-विषय में मानो सब कुछ कह देता है —

"सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं, त्याज्यं यदुक्तं जिनै
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रितस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी, निष्कम्पमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे, बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥"

इसमें आचार्य अमृतचंद्र सूरि आचार्य कुन्दकुन्द देव के कथन "सभी अध्यवसान-भाव त्यागने योग्य हैं"—को साक्षात् जिनेन्द्रदेव का वचन बताते हुये यह कहते हैं कि "मैं तो इस कथन का अभिप्राय यह समझ रहा हूँ कि यह कहकर जिनेन्द्र देव ने समस्त पराश्रित-व्यवहार को ही त्यागने योग्य बतलाया है।"

'आत्मख्याति-टीका' की यह बहुत बड़ी विशेषता रही है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के वचनों का व्याख्यान तो आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने इसमें गद्य-भाग में स्फुट-रीति से किया है। किन्तु जहाँ कहीं वे उस विषय के विशदीकरण के लिये कुछ स्वतन्त्ररूप से भी या अपनी ही शैली में कहना चाहते थे, वहाँ उन्होंने गद्य-प्रबन्ध छोड़कर पद्य-शैली का आश्रय लिया है। इन पद्यों को मनीषियों ने 'कलश' की समुचित-संज्ञा प्रदान की है।

जैसे कि 'कलश' मूल-भवन का सीधे अंगरूप तो नहीं होता है, किन्तु उस भवन का शोभा-सौन्दर्य उसके बिना अपूर्ण रहता है साथ ही ये कलश मांगलिकता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होते हैं। लगभग यही स्थिति 'समयसार' ग्रन्थ की 'आत्मख्याति-टीका' में आगत इन पद्यात्मक-कलशों की है। अतः इनकी यह 'कलश' संज्ञा अन्वर्थक है।

इन कलशों को आचार्य कुन्दकुन्द देव के 'समयसार' ग्रन्थ के प्रतिपाद्य पर आधारित होते हुये भी आचार्य अमृतचंद्र सूरि के शैलीगत-वैशिष्ट्य के आधार पर मौलिक मानकर दोनों ही आचार्यों का प्रतिनिधित्व इनमें समानरूप से स्वीकार किया गया है।

पांडे राजमल्ल जी और उनकी 'बालबोधिनी-टीका'—

जयपुर के निकट स्थित 'विराट' नगर में मुगल बाहशाह अकबर के शासनकाल में ये हुये, और शाहजहाँ के काल तक रहे। इन्हें इनके निकट-उत्तरकालवर्ती कविवर पं. बनारसीदास जी ने 'पांडे' विरुद से ससम्मान उल्लिखित किया है— "पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, नाटक-समयसार के मर्मी।"

संभवतः इन्हें आज के जातिवाचक-शब्द के रूप में 'पांडे' विरुद का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि 'पंडित' या 'विद्वान्' के रूप में इसका प्रयोग सादर बहुमान व्यक्त करने के लिये कविवर पं. बनारसीदास जी ने वहाँ किया है, जो कि इनके इतिवृत्त से भी ज्ञापित होता है।

पांडे राजमल्ल जी का इतिवृत्त—

बादशाह अकबर के काल में विराटनगर में क्षेमकीर्ति नामक भट्टारक के आम्नाय में 'भारु' नामक वैश्य/व्यापारी निवास करते थे। इन्हीं भारु वैश्य के चार पुत्र हुये— 1. दूदा, 2. ठाकुर, 3. जागसी और 4. तिलोक। इनमें से दूदा के तीन पुत्र हुये— 1. न्यौता, 2. भोल्ला, और 3. फामन।

इनमें से 'फामन' नामक पुत्र किसी कार्यवश विराटनगर आया और वहाँ पर उसने हेमचन्द्राचार्य की आम्नाय के 'ताल्लू' नामक विद्वान् से जैनधर्म की शिक्षा प्राप्त की। फिर वह 'ताल्लू' नामक वैश्यपुत्र कविराज पांडे राजमल्ल जी के पास आया और उसी ताल्लू के अनुरोध पर राजमल्ल जी ने 'लाटीसंहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसके बाद पांडे राजमल्ल जी ने आचार्य कुन्दकुन्द देव द्वारा विरचित 'समयसार' ग्रन्थ पर आचार्य अमृतचंद्र सूरि द्वारा विरचित 'आत्मख्याति' नामक टीका में आगत 'कलश' संज्ञा से विख्यात पद्यों पर 'समयसार-कलश टीका' नामक विश्रुत व्याख्या-ग्रन्थ लिखा।

इनके अतिरिक्त इन्होंने 'पंचास्तिकाय-टीका', 'पंचाध्यायी', 'जंबूस्वामीचरित्र', 'पिंगल-छन्दःशास्त्र' एवं 'अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड' नामक ग्रन्थों की रचना भी की है।

इनका समय विक्रम-संवत् 1632-1650 यानि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है।

इनके विषय में प्रायः यह आक्षेपात्मक-आशंका व्यक्त की जाती है कि "ये तो काष्ठासंधी थे। तो इन्हें कुन्दकुन्द के आम्नाय का कैसे माना जा सकता है?" किन्तु यह आशंका महत्त्वहीन है; क्योंकि इनके काष्ठासंधी होने का कोई प्रमाण नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि इनके समकालीन भट्टारक क्षेमकीर्ति 'काष्ठासंघ' के 'माथुरगच्छ' के 'पुष्करगण' के

भट्टारकों की आम्नाय में हुये थे। यद्यपि यह आम्नाय आचार्य कुन्दकुन्द देव के आम्नाय के अनुकूल नहीं है ; तथापि वे भट्टारक क्षेमकीर्ति आचार्य कुन्दकुन्द देव के आध्यात्मिक-तत्त्वज्ञान से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने विद्वद्ग्य पांडे राजमल्ल जी की जैनदर्शन की तलस्पर्शी-मनीषा को परखकर उनसे आचार्य कुन्दकुन्द देव के ग्रन्थों पर विशद-व्याख्यात्मक-रचनायें लोकभाषा में लिखने की प्रेरणा दी थी, ताकि जो आम जैनी-जन संस्कृत और प्राकृत-भाषाओं के अभ्यस्त नहीं हैं, वे भी आचार्य कुन्दकुन्द देव के परमागमों का रहस्य समझ सकें।

इस उल्लेख से भट्टारक क्षेमकीर्ति के काष्ठासंघ की आम्नाय का होते हुए भी आचार्य कुन्दकुन्द देव की आम्नाय से अतिप्रभावित होने का प्रमाण तो मिलता है, किन्तु पांडे राजमल्ल जी के काष्ठासंघी होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

यह एक संयोग मात्र है कि ये दोनों न केवल समकालीन थे, बल्कि भट्टारक क्षेमकीर्ति ने पांडे राजमल्ल जी को कुन्दकुन्द आचार्य देव के परमागमों की लोकभाषा में व्याख्या करने का परामर्श उनकी प्रतिभा और क्षमता को परखकर दिया था।

इस विवरण से तो यह सिद्ध होता है कि पांडे राजमल्ल जी जैन-तत्त्वज्ञान के मर्मज्ञ मनीषी-साधक थे और उन्होंने अपने ज्ञान व साधना से समकालीन भिन्न-आम्नायवाले भट्टारकों को भी प्रभावित करके आचार्य कुन्दकुन्द देव की मूल-आम्नाय से अनुप्राणित कर लिया था।

अतः 'समयसार कलश-टीका' के यशस्वी-प्रणेता तत्त्वज्ञान-मनीषी कविवर पांडे राजमल्ल जी के काष्ठासंघ की आम्नाय के अनुयायी होने की बात निरर्थक एवं निर्मूल है।

पांडे राजमल्ल जी का वैदुष्य—

'समयसार कलश-टीका' के प्रणेता एवं अन्य कई कलजयी-ग्रन्थों के रचयिता पांडे राजमल्ल जी व्याकरण, छंदशास्त्र, जैनसिद्धान्त, स्याद्वाद और आध्यात्मिक-तत्त्वज्ञान के अधिकारी मनीषी थे; जिनकी प्रतिभा का लोहा प्रायः सभी इनके समकालीन व उत्तरकालवर्ती-मनीषियों ने माना है। 'लाटीसंहिता' नामक जैन-श्रावक आचार के ग्रन्थ में उन्होंने स्वयं को "स्याद्वादानवद्य-गद्य-पद्य-विद्या-विशारद.." कहा है।

आधुनिक विद्वान् पं. परमानंद शास्त्री जी ने पांडे राजमल्ल जी के वैदुष्य एवं व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुये लिखा है कि "पांडे राजमल्ल जी की कलश-टीका से अनेक लोग अध्यात्म-रस का पान करने में समर्थ हो सके हैं। आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था और उनके चित्त में जनकल्याण की भावना सदा जागृत रहती थी। खासकर राजस्थान के 'मारवाड़' और 'मेवाड़'-प्रांत में विहार करके जनकल्याण करते हुये यश और प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनके विशुद्ध-परिणाम और सर्वोपकारिणी-बुद्धि— इन दोनों गुणों का एकत्र सम्मेलन उनके बौद्धिक-जीवन की विशेषता थी। उनकी 'अध्यात्म कमल-मार्तण्ड' और 'पंचाध्यायी' कृतियाँ उनके अध्यात्मानुभव और स्याद्वाद-सरणी की निर्देशक हैं। वे जहाँ जाते, वहाँ उनका स्वागत होता था।"

बालबोधिनी-टीका का वैशिष्ट्य—

इस टीका का नामकरण लेखक ने 'बालबोधिनी-टीका' किया है। और संभवतः इसे चरितार्थ करने के लिए ही उन्होंने 'पद-व्याख्या-शैली' को इस टीका में अपनाया है।

यद्यपि यह टीका 'समयसार' ग्रंथ पर आचार्य अमृतचंद्र सूरि कृत 'आत्मख्याति' नामक टीका में आगत-पद्यों पर है, जिन्हें 'कलश' की संज्ञा दी गयी है। किन्तु इन कलशों को लगभग स्वतंत्र-कृति मानकर यह टीका लिखी गयी है, न कि सम्पूर्ण 'आत्मख्याति' टीका पर। इससे स्पष्ट है कि 'आत्मख्याति' नामक इस टीका में आगत ये कलश इस टीका के अंग होते हुये भी पांडे राजमल्ल जी ने इन कलशों को लगभग स्वतंत्र व मौलिक-रचना मानकर इन पर यह 'बालबोधिनी-टीका' लिखी है।

इसका नामकरण अवश्य 'बालबोधिनी' है; किन्तु ऐसा नहीं है कि यह मात्र बालबोधिनी-स्तर की ही टीका हो। यह कविवर पांडे राजमल्ल जी के वैदुष्य के प्रतिमानों के अनुरूप भरपूर प्रगल्भ-टीका है। बस, इसकी प्रस्तुतीकरण की भाषा-शैली ही सरल होने से इसकी 'बालबोधिनी' संज्ञा अन्वर्थक सिद्ध होती है।

इस टीका के विषय में बीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य जैन-मनीषी पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य के विचार मननीय हैं— "यह टीका मोक्षमार्ग के अनुरूप अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करती है, इसलिये तो प्रमाण है ही। साथ ही वह जिनागम, गुरु-उपदेश, युक्ति और स्वानुभव-प्रत्यक्ष को प्रमाण कर लिखी गयी है, इसलिये भी प्रमाण है। क्योंकि जो स्वरूप से प्रमाण न हो, उसमें परतः प्रामाणिकता नहीं आती है— ऐसा न्याय है। यद्यपि यह ढूँढारी-भाषा में लिखी गयी है, फिर भी गद्यकाव्य-सम्बन्धी शैली और पद-लालित्य आदि सब विशेषताओं से ओतप्रोत होने के कारण यह भव्यजनों के चित्त को आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ है। वस्तुतः इसकी रचनाशैली और पद-लालित्य की अपनी विशेषता है।"

वे आगे इस टीका की विशेषता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि कविवर ने प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रायः शब्दानुगामिनी-पद्धति से न करके भावानुगामिनी-पद्धति से किया है।... इसप्रकार यह टीका प्रत्येक कलश के मात्र शब्दानुगामी-अर्थ को स्पष्ट करनेवाली टीका न होकर उसके रहस्य को प्रकाशित करनेवाली भावप्रवण-टीका है।"

आचार्य कुन्दकुन्द देव और आचार्य अमृतचंद्र सूरि— दोनों के वचनों को यहाँ आधार बनाकर पांडे राजमल्ल जी ने अपनी 'बालबोधिनी-टीका' में, जिसे आज 'समयसार-कलश-टीका' के नाम से भी जाना जाता है, में युगधर्मिता के अनुरूप भाषा-शैली एवं प्रतिपाद्य— तीनों में कई विशिष्ट-प्रयोग किये हैं। ऐसे प्रयोगों में कुछ बानगियाँ द्रष्टव्य हैं—

कलश 1. "शुद्ध-जीव के सुख है, ज्ञान भी है... इसलिये शुद्ध-जीव के सारपना घटता है।"— यह तर्क पांडे राजमल्ल जी की बेलाग और असन्दिग्ध-व्याख्याशैली का निदर्शन है। जीव-पदार्थ ही सारभूत क्यों है?— इसकी सिद्धि इस छोटे से वाक्य में पांडे राजमल्ल जी ने सक्षमरीति से कई है।

कलश 2. "वितर्क"— "दिव्यध्वनि तो पुद्गलात्मक है, अचेतन है, अचेतन को नमस्कार निषिद्ध है।"

समाधान— "वाणी सर्वज्ञस्वरूप-अनुसारिणी है।... उसको सुनने पर जी आदि पदार्थ का स्वरूप-ज्ञान जिसप्रकार उपजता है, उसीप्रकार जानना, वाणी का पूज्यपना भी है।"— इसमें तर्कों से अप्रभावित हुये बिना तथ्य की पुष्टि के लिये बेहतर-आधार प्रस्तुत करके उसे समीचीन सिद्ध किया है।

कलश 4. "वचन पुद्गल है, उसकी रुचि करने पर स्वरूप की प्राप्ति नहीं। इसलिये वचन द्वारा कही जाती है जो कोई उपादेय-वस्तु, उसका अनुभव करने पर फल-प्राप्ति है।"— इस कथन में परस्पर-विरोध का परिहार अत्यन्त-सावधानी से निर्भ्रान्त-रीति किया गया है।

कलश 7. "जो नौ परिणाम में ही देखा जाये, तो नौ ही तत्त्व साँचे हैं और जो चेतना-मात्र अनुभव किया जाये, तो नौ ही विकल्प झूठे हैं।"— इसमें 'नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति' का बेहद सरल, संक्षिप्त, लेकिन सटीक-स्पष्टीकरण किया गया है।

कलश 11. "निरूपाधिरूप से जीवद्रव्य जैसा है, वैसा ही प्रत्यक्षरूप से आस्वाद आवे, इसका नाम शुद्धात्मानुभव है।"— इसमें निर्मल-आत्मानुभूति की विधि का बेलाग और स्पष्ट-प्रतिपादन किया गया है।

कलश 14. "शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, इसलिये शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।"— यह निर्णय मननीय है, क्योंकि शास्त्र से अब उस ज्ञानी-जीव को आत्महित के लिये कुछ नया जानना शेष नहीं है— यह सत्य है, इसलिये अटक नहीं है कि शास्त्रों को पढ़े ही पढ़े। फिर भी जब तक उपयोग स्वरूप में स्थिर नहीं हो जाता है, तब तक जिनवाणी माँ में उपयोग नहीं रमायेगा, तो कहाँ रमायेगा? अतः इसे आत्मानुभवियों के लिये स्वाध्याय के निषेध का प्रमाणपत्र नहीं मानना, मात्र अटक या मजबूरी/अनिवार्यता नहीं है— यही इसका अभिप्राय लेना।

कलश 15. "मोक्ष जाने में किसी द्रव्यान्तर का सहारा नहीं है, इसलिये शुद्ध-आत्मा का अनुभव करना

चाहिए।"— यह बहुत दोटूक-निर्णयात्मक मार्गदर्शन है, जिससे पराश्रितता की आशात्मक-बुद्धि छूटकर मात्र स्वानुभूति की ही रुचि जागृत होती है।

कलश 37. "शुद्ध-स्वरूप का अनुभव जानना, जो सम्यग्दृष्टि के होता है।"— यह सम्यग्दृष्टि-मात्र के लिये कहा गया है, चाहे वह प्रथमोपशम-सम्यग्दृष्टि हो, अविरति हो, देशव्रती हो या महाव्रती, सबके लिये आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन के लिये अनिवार्य-तत्त्व है— यह स्पष्ट-दिशानिर्देश किया गया है।

कलश 51. "जीवद्रव्य का और पुद्गलद्रव्य का एकसत्त्व नहीं है, कर्ता-कर्म-क्रिया की कौन घटना?"— इसका स्पष्टीकरण कविवर पं. बनारसीदास जी ने 'नाटक-समयसार' में बहुत अच्छे ढंग से किया है। जिनका सत्त्व ही भिन्न हो, उनमें कर्ता-कर्म-क्रिया के संबंध घटित करने की संभावना तक का यहाँ पूर्णतः निषेध कर दिया गया है।

कलश 52-53. "एकसत्त्व में कर्ता-कर्म-क्रिया उपचार से कहा जाता है। भिन्न-सत्त्वरूप है जो जीवद्रव्य-पुद्गलद्रव्य, उनको कर्ता-कर्म-क्रिया कहाँ से घटेगा?"— इसमें ऊपर की बात को ही स्पष्ट किया गया है। साथ ही यह कथन बेहद मननीय है कि एकसत्त्व में भी जो कर्ता-कर्म-क्रिया के संबंध कहे जाते हैं, वे भी उपचरित ही हैं। तो अन्यसत्त्व के साथ तो ये संबंध उपचार से भी नहीं कहे जा सकते हैं। अन्य-सत्त्व में ऐसे संबंधों की कल्पना करना स्पष्टरूप से मिथ्यात्व ही है।

कलश 91. "शुद्ध चैतन्य-वस्तु है, सो मेरा स्वभाव है, अन्य समस्त कर्म की उपाधि है।"— आज कुछ लोग तो बाहरी हर्ष-विषाद आदिरूप राग-द्वेष-मोह की वृत्तियों को भी आत्मा की कहते हैं, वे जिनाज्ञा का स्पष्टरूप से उल्लंघन कर रहे हैं— यह इस कथन से प्रमाणित होता है। मात्र निष्कलंक-चैतन्य के अलावा कोई भी वृत्ति आत्मा का स्वरूप न तो हो सकती है और न ही कही जा सकती है।

कलश 92-93. "जितना नय है, उतना श्रुतज्ञानरूप है। श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है। इसलिये श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष अनुभवता है।"— यह अद्भुत-स्पष्टीकरण है। छद्मस्थ-जीव के और कौन-सा ज्ञान संभव है? क्योंकि केवलज्ञान उसे है नहीं, अवधि-मनःपर्ययज्ञान मात्र पुद्गल को ही विषय करते हैं। तब मति-श्रुत ही बचे, जिनका यहाँ निषेध कर दिया है, तो कौन-सा ज्ञान हो सकता है, जिससे छद्मस्थ-जीव को आत्मानुभूति होती है?— यह तो यक्षप्रश्न जैसी बात हो गयी। चूँकि पाँच ज्ञानों में से तो तकनीकरूप से उसे 'श्रुतज्ञान' ही कहा गया है, किन्तु उस आत्मानुभूति करनेवाले ज्ञान की श्रुतात्मकता का दो टूक-शब्दों में निषेध पांडे राजमल्ल जी के द्वारा किया जाना बेहद-महत्त्वपूर्ण है। इससे उन्होंने श्रुतज्ञान की पराश्रयी, विकल्पात्मक एवं परोक्षरूप-वृत्तियों का स्पष्टरूप से निषेध करके बहुत-बड़ा निर्णय दे दिया है।

कलश 101. "कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ यतिक्रिया में मग्न होता हुआ शुद्धोपयोग को नहीं जानता, केवल यतिक्रिया मात्र में मग्न है। वह जीव ऐसा जानता है कि 'मैं तो मुनीश्वर हूँ, हमको विषय-कषाय-सामग्री निषिद्ध है'— ऐसा जानकर विषय-कषाय-सामग्री को छोड़ता है, आपको धन्य मानता है, मोक्षमार्ग मानता है। सो विचार करने पर ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्मबन्ध को करता है, कोई भलापना तो नहीं है।"— इसमें तो आज के सभी मुनिपद-धारकों का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण ही प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु आज तो कई मुनिपद-धारक बड़े ही ईमानदार (?) हो गये हैं, वे स्वीकार करते हैं कि "वे वास्तव में दिगम्बर-जैन-मुनिराज की चर्या बिल्कुल नहीं कर रहे हैं", फिर भी वे अपने आप को दिगम्बर-जैन मुनिराज के रूप में मनवाने व पुजवाने में पीछे नहीं रहते— इस मनोवृत्ति की कल्पना तो यहाँ पांडे राजमल्ल जी ने भी नहीं की है।

कलश 104. "शुभ-अशुभ-क्रिया में मग्न होता हुआ जीव 'विकल्पी' है, इससे दुःखी है। क्रिया-संस्कार छूटकर शुद्ध-स्वरूप का अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है, इससे सुखी है।"— भाषा के कुछ अंतर को भुला दें, तो इसमें पुण्य और पाप-दोनों के परिणामों से जीव दुःखी ही रहता है— इसकी आत्मिक-कारण-मीमांसा को पांडे नाटक-समयसार

राजमल्ल जी ने बड़े कौशल से सिद्ध किया है। और इसी आधार पर सुखी होने के लिये पुण्य और पाप— दोनों की क्रियाओं में जो अपनत्व या हेयोपादेयपने का संस्कार है, उसको भी त्यागने की अनिवार्यता प्ररूपित की है। — न्यूनतम-शब्दों में इतनी गहराई की यह बात अन्यत्र दुर्लभ है।

कलश 109. "यहाँ ज्ञानमात्र को मोक्षमार्ग कहा, सो क्यों कहा? उसका समाधान ऐसा है— शुद्ध-स्वरूप-ज्ञान में सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र सहज ही गर्भित है, इसलिये दोष तो कुछ है नहीं, गुण है।" — इसमें शंका-समाधान-शैली में जो बात पांडे राजमल्ल जी ने कही है, वह 'ज्ञान ही सर्व-समाधानकारक है' — इस आगम-कथन की सतर्क-सिद्धि करती है। यह विषय मुमुक्षु-जगत् के लिये भी बहुत मननीय है, क्योंकि हम लोग श्रद्धा के सुधार को ही सब कुछ मानते हैं, कि ज्ञान और चारित्र— दोनों इसके सुधरते ही सम्यक् हो जाते हैं। किंतु पांडे राजमल्ल जी ने यहाँ जो ज्ञान को ही मोक्षमार्ग कह दिया, और युक्तिपूर्वक सिद्ध भी कर दिया है, उसका मर्म वस्तुतत्त्व की दृष्टि से बहुत मननीय है।

कलश 153. "जिसप्रकार किसी को रोग, शोक, दारिद्र्य बिना वांछा के ही होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव के जो कोई क्रिया होती है, सो बिना वांछा के ही होती है।" — जो यह कहा गया है कि "सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं" — इसकी कारणता को पांडे राजमल्ल जी ने अद्भुत-कौशल से सरलतम-शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'प्रवचनसार' जी ग्रन्थ में "अरिहंत-अवस्था में बैठना, गमन करना आदि कार्य बिना सोच-विचार किये ही स्त्रियों में जन्मजात-संस्कारवश पायी जानेवाली मायाचार की प्रवृत्ति के समान सहज होते हैं" — यह सिद्ध किया है; तो पांडे राजमल्ल जी ने सम्यग्दृष्टि के भोग भी अबंधक हैं— यह बात यहाँ अद्भुत-दृष्टांत का प्रयोग करके सिद्ध की है। अकाट्य व सभी को तत्काल समझ में आने योग्य दृष्टान्त का यह प्रयोग अतुलनीय है।

कलश 212. "जीवद्रव्य समस्त ज्ञेयवस्तु को जानता है— ऐसा तो स्वभाव है; परन्तु ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है, ज्ञेय भी ज्ञानरूप नहीं परिणमता है— ऐसी वस्तु की मर्यादा है।" — जो ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशकत्व की दुविधाएँ हैं, उन सभी का सरलता-समाधान अकाट्य-शब्दों में पांडे राजमल्ल जी ने यहाँ प्रस्तुत किया है। ज्ञान-ज्ञेय-सम्बन्ध जानने के स्तर पर भिन्न हैं और वस्तुगत-सम्बन्धों के स्तर पर भिन्न हैं— यह जिनाम्नाय की गम्भीरतम-विवेचना पांडे राजमल्ल जी ने जैसे चुटकियों में हल कर दी है, और वह भी नितान्त असन्दिग्धरूप से!! अद्भुत-कौशल है यह।

ये पांडे राजमल्ल जी की कलश-टीका की कुछ बानगियाँ मैंने चुनकर आपके समक्ष रखी हैं। ऐसे प्रयोगों के मनोहारी-संग्रह का नाम ही तो 'कलश-टीका' है। अतः इनसे आकर्षित भले ही होइये, परन्तु कलश-टीका का पूरा-मर्म तो आमूलचूल-स्वाध्याय करने से ही मिलेगा।

कलश-टीका के आधार-ग्रन्थ 'आत्मख्याति' का वैशिष्ट्य—

यह बात मैं यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय मानता हूँ कि पांडे राजमल्ल जी ने इस कलश-टीका में अनेकत्र आचार्य कुन्दकुन्द देव के 'समयसार' ग्रन्थ को 'नाटक' या 'नाटक-समयसार' की संज्ञा प्रयोग की है। वैसे इसके मूल-प्रयोक्ता तो 'आत्मख्याति-टीका' के रचयिता आचार्य अमृतचंद्र सूरि हैं, जिन्होंने नाट्यशास्त्रीय-प्रयोगों को परिलक्षित करते हुये यह टीका लिखी है। इसमें आगत 'पूर्वरंग', 'अथ सूत्रावतारः' जैसे पदों/वाक्यांशों का प्रयोग किया है। साथ ही नाटक में होनेवाले संवादों (डॉयलॉग्स) की शैली में टीका की उत्थानिकाओं में जीवंत-भाषा-शैली में प्रश्नों को लिखकर गाथाओं को उनका उत्तर बनाया है। कुछ बानगियाँ देखें —

1. "कोऽसौ शुद्धात्मा इति चेत्?" — इस प्रश्न के उत्तर में छठवीं गाथा दी है।
2. "तर्हि परमार्थ एव वक्तव्य इति चेत्?" — इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप आठवीं गाथा दी है।
3. "कुतो व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः इति चेत्?" — इस प्रश्न के उत्तर में ग्यारहवीं गाथा दी है।

ऐसे प्रश्नोत्तर निरन्तर संवाद-शैली में चलते रहते हैं। जब पहला-अधिकार पूर्ण होता है, तो उसे 'पीठिका' मानकर नाट्यशास्त्रीय-शैली का अनिवार्य-प्रयोग 'पूर्वरंग' पूरा हुआ— ऐसा मानकर जैसे नाटक में 'पूर्वरंग' की

समाप्ति पर सूत्रधार सभी दर्शकों/सभासदों को नाटक के रस का आनन्द उठाने की प्रेरणा देता है, बिल्कुल उसी भाषा-शैली में आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने भी समस्त लोक को इस 'समयसार' रूपी नाटक के शांतरस के प्रवाह में आमग्न होने की प्रेरणापूर्ण-आह्वान किया है –

"मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका, आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।

आप्लाव्य विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण, प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥"

और इसके साथ ही वे "इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः" कहकर इसकी पुष्टि करते हैं।

यह भी आश्चर्य की बात है कि जहाँ नाटक शांतरस-प्रधान नहीं होकर शृंगार, वीर, हास्य आदि रसों की प्रधानता लिये होता है, तो आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने अपनी इस टीका में अपने शब्दचयन के कौशल से उन सभी रसों का आस्वादन कराते हुये इसके शांतरस की प्रधानता को चरितार्थ करके बताया है। – एक साहित्यकार के रूप में उनका यह प्रयोग सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य के लिये अनोखा तो है ही, अद्वितीय भी बन गया है।

चूँकि पांडे राजमल्ल जी ने अपनी टीका आचार्य अमृतचंद्र सूरि के कलशों पर भले ही लिखी है, किन्तु वस्तुगतरूप से ये कलश हैं तो 'आत्मख्याति-टीका' के ही अंग, अतः नाटकत्व की अवधारणा को उन्होंने यहीं से पूरीतरह से स्वीकार करते हुये 'समयसार' ग्रंथ को 'नाटक-समयसार' की ही संज्ञा प्रयुक्त की है। देखिये –

"नाटक-समयसार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा जो यह साध्य-साधक-भाव, सो सम्पूर्ण हुआ। नाटक-समयसार शास्त्र पूर्ण हुआ। – यह आशीर्वाद-वचन है।"

– इसप्रकार उन्होंने अधिकांश-स्थलों पर ग्रन्थ का नाम 'नाटक-समयसार' ही उल्लिखित किया है।

'समयसार-कलश-टीका' और कविवर बनारसीदास जी–

प्रतीत होता है कि कविवर पं. बनारसीदास जी ने जो अपनी कृति का नाम 'नाटक-समयसार' रखा है, वह पांडे राजमल्ल जी की इस कलश-टीका से ही लिया गया है।

यद्यपि ऐसे प्रयोगों इस कृति में प्रचुर-परिमाण में उपलब्ध हैं और उनका वर्गीकृत-विवेचन ही नहीं, बल्कि तुलनात्मक-अध्ययन शोधपरक-दृष्टि से स्वतंत्र-शोधप्रबन्ध का निर्माण कर किसी मर्मज्ञ-मनीषी के निर्देशन में हो, तो इस कृति के साथ संभवतः सही न्याय हो सकेगा। इसका अप्रतिम-महत्त्व समझने के लिये 'नाटक-समयसार' ग्रंथ के प्रणेता कविवर पं. बनारसीदास जी के पांडे राजमल्ल जी एवं इस कलश-टीका के विषय में कहे गये वचनों को ही मूलरूप में प्रस्तुत करना अपेक्षित समझता हूँ–

"पांडे राजमल्ल जिनधर्मी, नाटक-समयसार के मर्मी।

तिन्हें ग्रन्थ की टीका कीन्ही, बालबोध सुगम करि दीन्ही॥

इहविधि बोध-वचनिका फैली, समै पाय अध्यातम-सैली।

प्रगटी जगत-माँहिं जिनवाणी, घर-घर नाटक-कथा बखानी॥"

"नाटक-समयसार हित जीका, सुगमरूप राजमल टीका।

कवितबद्ध-रचना जो होई, भाषा-ग्रन्थ पढ़ै सब कोई॥

तब बनारसी मन में आनी, कीजे तो प्रगटै जिनवानी।

पंच-पुरुष की आज्ञा लीनी, कवितबन्ध की रचना कीनी॥"

(वे पाँच-पुरुष थे– 1.पं. रूपचंद जी, 2.चतुर्भुज जी, 3. भैया भगवतीदास जी, 4. कोरपाल/कुँअरपाल जी, और 5. धर्मदास जी।)

ग्रंथकार कविवर पं. बनारसीदास जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय—

जैसे नारियल के व्यक्तित्व में अधिकांश-स्वरूप नीरस व रूखा ही प्रतीत होता है, क्योंकि उसका तना अत्यन्त-कंटीलावत् होने से उस पर आरोहण करना अति-दुष्कर होता है; उसके फल पर भी बेहद जटिल-आवरण और कठोर-खोल चढ़ा होता है, जिसके परिणामस्वरूप उसको पाना तक बहुत कष्टप्रद एवं श्रमसाध्य हो जाता है। इतने अपार-कष्टों को सहने के बाद जाकर कहीं वह नारिकेल-फल का मधुरिम-सार प्राप्त हो पाता है।

इसीप्रकार जैन-विद्वज्जगत् के महामनीषी कविवर पं. बनारसीदास जी का जीवनवृत्त भी आपके नरदेह-ग्रहण करने के पहले से ही मानो उस परिवार में प्रादुर्भूत होने लगा था। उनके दादाजी एवं पिताश्री के जीवनरूपी वंशबेलि नारियल के वृक्ष की तरह दुराराध्य रही, तो स्वयं कविवर का जीवन बाल्यावस्था में नारियल के जटाजूट की तरह नीरस व जटिलताओं से आपूर्ण रहा। पुनः विषमताओं से जूझते हुये किसीतरह यौवनावस्था प्राप्त हुई, तो विषयों के कठोर-कवच ने मानों उनके व्यक्तित्व को पूरीतरह से जकड़कर अभिभूत करके रखा। कहीं से भी तत्त्वज्ञान के प्रवेश-हेतु अवकाश नहीं दिख रहा था। तभी मानो नारियल के कवच के शिरोभाग पर बने तीन संक्षिप्त-छिद्रों से पोषित नारिकेल-फल का निर्माण होने के लिये 1. पांडे राजमल्ल जी, 2. पाँच साधकजन एवं 3. कविवर की होनहार— ये तीन प्रवेशद्वार उनके जीवन में धर्म और तत्त्वज्ञान के आगमन के हेतु बने।

क्या आप जानते हैं कि नारियल का फल सबसे मंगलरूप क्यों माना जाता है? मनीषियों ने बताया है कि नारियल के पौधे को बाल्यावस्था में मनुष्य कुछ लोटे सादा-जल पिलाता है, ताकि वह पनप सके। उस छोटे से उपकार के बदले में वह नारियल का पौधा वृक्ष बनने पर अमृत-तुल्य मधुर-जलवाले सैकड़ों लोटे प्रतिवर्ष मनुष्यों को नारिकेल-फल के रूप में लौटता है। इसी कृतज्ञता की आदर्श-वृत्ति के कारण नारिकेल-फल को सभी फलों में सर्वश्रेष्ठ-मंगल के रूप में माना गया है और हर पवित्र-अनुष्ठान में उसका सर्वोत्तम-सामग्री के रूप में प्रयोग किया जाता है।

ठीक इसी के समानांतर-रूप में हम कविवर पं. बनारसीदास जी को पाते हैं, जिन्होंने स्वयं अपार-विषम परिस्थितियों में रहते हुये भी जिनशासन के तत्त्वज्ञान को अपने जीवन में उतारकर उससे स्वयं को तो सार्थक बनाया ही था, साथ ही कृतज्ञता-स्वरूप 'नाटक-समयसार' जैसी कालजयी-कृति के साथ-साथ अनेकों अन्य-रचनाओं का युग की माँग व आवश्यकता के अनुरूप निर्माण करके आगामी सैकड़ों पीढ़ियों को निजानन्द-रसामृत की अमृतोपम-भेंट प्रदान की। इसलिये आज विगत लगभग पाँच सौ वर्षों से तत्त्वानुरागी-जन उनसे आप्यायित तो हैं ही, कृतज्ञ भी हैं। क्योंकि यदि कविवर पं. बनारसीदास जी की ये कृतियाँ नहीं होतीं, तो आज की सरल भाषा-शैली में हमें गूढ़-जैन-तत्त्वज्ञान इतने सरल व सुबोधगम्य-रूप में नहीं मिल सकता था।

ऐसे महामना यशस्वी आत्मारोधक कविवर पं. बनारसीदास जी के जीवन एवं अवदानों को समझने के लिये हमें तथ्यों के आधार पर गुणग्राही बनकर उनके जीवन की खुली-किताब को पढ़ना व समझना होगा।

'कविवर पं. बनारसीदास जी' का जीवन अत्यधिक उतार-चढ़ाव से भरपूर रहा। पुण्य और पाप के उदय के जैसे विचित्र-संयोग उनके जीवन में देखने को मिलते हैं, वैसे अन्य किसी महापुरुष के जीवन में अतिदुर्लभ हैं।

कवि ने अपने जीवन में अत्यधिक-कठिनाइयों का सामना किया, फिर भी इतने आध्यात्मिक-ग्रंथों का सृजन कवि के अतुल्य-धैर्य का परिचायक है। इनकी जीवन-यात्रा के वृत्तान्त को जो भी पढ़ता है, वह एकबार सोचने को विवश हो जाता है कि इतनी अपार-प्रतिकूलताओं का तीव्र-उदय होने पर भी वे इतने सहज और सरल-हृदय कैसे रह पाये थे और इतनी विशाल-परिमाण में साहित्य-साधना उन्होंने किस अद्भुत मानसिक-क्षमता से की थी?

इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये हम उनकी यशस्विनी-जीवनगाथा को उन्हीं की शब्दावली में जानने का प्रयास करते हैं।

वंश-परिचय— यह विवरण यहाँ पर स्वयं कविवर बनारसीदास जी के शब्दों में प्रस्तुत है—

"याही भरत-सुखेत में, मध्यदेश शुभ-ठाँव। बसै नगर-रोहतगपुर, निकट बिहोली-गाँव।।

गाँव बिहोली में बसे, राजवंश-रजपूत। तै गुरु-मुख जैनी भये, त्यागि करम-अघ-भूत।।

पहिरी माला मंत्र की, पायौ कुल श्रीमाल। थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली रखपाल।।"

इसके अनुसार तत्कालीन 'मध्य-भारत' में 'रोहतकपुर' नामक नगर के पास 'बिहोली' नाम का एक गाँव है, जहाँ पहले राजवंशीय-राजपूतों का बहुलता से निवास था। एक दिन उस गाँव में किन्हीं एक जैन-मुनिराज का आगमन हुआ। मुनिराज के पावन-चरित्र और सरल-स्वभाव एवं उपदेशों से प्रभावित होकर वहाँ के सभी लोगों ने जैनधर्म को अंगीकार किया। और पंच-नमस्कार-मंत्र की माला धारणकर अपने गाँव के नाम पर अपना गोत्र का नाम **बीहोलिया** रख लिया। —इस पद्य के अनुसार इनका वंश-कुल आदि का सांकेतिक-रूप से परिचय मिलता है।

किंवदन्ती है कि इस प्रसिद्ध **बीहोलिया** कुल की सुदीर्घ-परम्परा में अनेक धर्मात्मा और विद्वान् पुरुष हुये। उन्हीं में से एक महापुरुष 'मूलदास' जी थे, जो कविवर बनारसीदास जी के पितामह थे। 'मूलदास जी' के दो पुत्र हुये एक का नाम 'खरगसेन' और दूसरे का नाम 'घनमल' था। दुर्भाग्यवश 'घनमल' जी तीन वर्ष की अल्पायु में दिवंगत हो गये। मूलदास जी अपने पुत्र घनमल के इस असामयिक-वियोग के आघात को सहन नहीं कर पाये और वे भी देवलोक को प्राप्त हो गये। मूलदास जी के वियोग के बाद उनकी बेसहारा विधवा-पत्नी अर्थात् बनारसीदास जी की दादी जी अपने जीवित बचे पुत्र 'खरगसेन' को लेकर अपने पिता के घर आ गई। वहीं उनके साथ बनारसीदास जी के जन्मदाता खरगसेन जी का लालन-पालन हुआ।

धीरे-धीरे समय बीतता गया और एक दिन 'खरगसेन' के युवा होने पर उनका विवाह मेरठ-निवासी 'सूरदास जी श्रीमाल' की पुत्री के साथ सम्पन्न हुआ। विवाह के उपरान्त संवत् 1635 में इन्हीं 'खरगसेन' जी के घर पहली-सन्तान के रूप में पुत्र का जन्म हुआ, जिसके फलस्वरूप घर में खुशियाँ छा गई। लेकिन मात्र दस दिन की अल्पायु में ही उस पुत्र का देहांत हो गया। जिसके परिणाम-स्वरूप पुत्र-जन्म की सारी खुशियाँ विलीन हो गयीं और परिवार में दुःख के बादल छा गये।

इसके बाद कुछ समय तक वंशवृद्धि की कामना पूरी नहीं हो सकी। और वह ऐसा समय था, जब विवाह के उपरान्त यदि सन्तान और वह भी विशेषतः पुत्र न हो जाये, तो अनेक तरह के लोकापवाद होते थे। यह एक विकट मनोवैज्ञानिक-संकट की स्थिति थी। जिससे बनारसीदास जी के पिता खरगसेन जी भी अछूते नहीं थे। उस समय भारतीय जनमानस में अनेकतरह के अंधविश्वास व्याप्त थे। जिनमें रागी क्षुद्र व कल्पित-देवों (व्यंतरों आदि) से मनोकामना पूरी करने के लिये विविध-प्रकार के अनुष्ठान एवं मनौतियाँ करना शामिल था।

ऐसी ही मनोकामना लेकर संवत् 1637 में 'खरगसेन' जी ने पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से 'सती की यात्रा' की, ताकि उनकी मनौती करके अपने घर में कुलदीपक प्राप्त कर सकें। पर दुर्भाग्यवश इस निमित्त जाते समय रास्ते में वे चोरों के हाथ अपना सब कुछ लुटा बैठे।

कविवर बनारसीदास जी इस संबंध में 'अर्धकथानक' नामक अपनी आत्मकथारूप ग्रन्थ में लिखते हैं—

गये हुते माँगन को पूत, यह फल दीनों सती अऊत।

तउ न समझै मिथ्या-बात, फिर मानी उन्हीं की बात।।

प्रगट-रूप देखें सब सोग, तउ न समझै मूरख-लोग।।

(यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जो विवाहिता-स्त्री अपने पति के दिवंगत होने पर तात्कालिक सामाजिक एवं पारिवारिक-परिस्थितियों के कारण पति की मृत-देह के साथ ही उसकी जलती चिता में अपनी आहुति देकर सजीव आत्मदाह कर लेती थी, उसे भारतीय जनमानस 'सती' कहकर महिमा-मंडित करता था। यह कुप्रथा स्वतंत्रता-प्राप्ति

के बाद तक कुछ समय तक भारतवर्ष में प्रचलित रही। कुछ समाज-सुधारकों ने अपार-संघर्षों के बाद इस कुप्रथा का उन्मूलन किया। उस सती के चिता-स्थल या आत्मदाह-स्थल को लोग 'सती का चौतरा' आदि नामों से कहते थे। और उसकी आत्मदाह-तिथि पर मेला/यात्रा जैसे आयोजन करके उसे महिमा-मंडित किया जाता था और लोग-बाग अनेकों मनौतियाँ करके गृहीत-मिथ्यात्व को पोषित करते थे।)

कहने का तात्पर्य यही है कि **मनुष्य के परिणाम कितने विचित्र होते हैं, कि दुःख और निराशाजनक विपाक (फल) देख लेने पर भी इसका लोभी-मन नहीं मानता है।**

इतनी दुर्दशा होने पर भी पुत्रलाभ की अदम्य-आकांक्षा ने खरगसेन जी को इस मिथ्या-मान्यता के वशीभूत बनाये रखा और संवत् 1643 में पुनः पुत्र-लाभ की आकांक्षा में 'खरगसेन' ने 'सती की यात्रा' की। और संयोगवश इस बार इनकी इच्छा पूरी भी हो गई।

इसप्रकार खरगसेन जी के विवाह के आठ वर्ष के पश्चात् इनके घर पुनः पुत्र का जन्म हुआ, जिसका अपार-उत्सव उन्होंने परिवारजनों व इष्ट-संबंधियों के साथ मनाया गया। यही पुत्र आगे चलकर **कविवर पं. बनारसीदास जी** के नाम से जैन-मनीषा के अप्रतिम-प्रतिमान के रूप में विख्यात हुआ।

इनकी 'जन्म-तिथि' और 'जन्म-नाम' के संबंध में यह छंद द्रष्टव्य है –

**संवत् सोलह सौ तेताल, माघ-मास सित-पक्ष रसाल।
एकादशी वार-रविनन्द, नखत-रोहिणी वृष को चंद।।
रोहिणी तृतीय-चरन-अनुसार, खरगसेन-घर सुत-अवतार।
दीनों नाम 'विक्रमाजीत', गावहिं कामिनि मंगल-गीत।।**

अर्थात् 'कविवर बनारसीदास जी' का जन्म विक्रम-संवत् 1643 के माघ-मास के शुक्ल-पक्ष की एकादशी-तिथि को रविवार के दिन, जब रोहिणी-नक्षत्र का तृतीय-चरण चल रहा था तथा चंद्रमा वृष-राशि में विचरण कर रहा था, तब हुआ। जन्म के समय इनका नाम **विक्रमाजीत** रखा गया।

बनारसीदास' नाम कैसे पड़ा ? जब बालक 'विक्रमाजीत' छह-सात महीने का हुआ, तब खडगसेन जी परिवार-सहित 'पार्श्वनाथ' की जन्मभूमि की वंदना करने काशी गये। वहाँ पर उन्होंने जन्मभूमि के जिनमंदिर जी में बड़े भक्ति-भाव से पूजन की, और बालक को प्रभु के चरणों में रखकर उसके दीर्घायु होने की प्रार्थना की –

"चिरजीवी कीजै यह बाल, तुम शरनागत के रखपाल।

इस बालक पर कीजै दया, अब यह दास तुम्हारा भया।।"

उस समय वहाँ मंदिर का पुजारी खड़ा था, उसने इनके भोलेपन को जानकर अपनी महत्ता सिद्ध करना चाही। वह बनावटी-ध्यान लगाकर बोला – "भगवान् पार्श्वनाथ के यक्ष ने मुझे संकेत किया है कि ये बालक दीर्घायु होगा, लेकिन इसके लिये तुम्हें इस बालक का नाम भगवान् श्री पार्श्वनाथ की जन्मभूमि 'बनारस' के नाम पर रखना होगा –" "जो प्रभु पार्श्व-जन्म को गाँव, सो दीजै बालक को नांव।

तो बालक चिरजीवी होय, यह कहि लोप भयो सुर सोय।।"

कुटिलमति-पुजारी की इस मायामयी-बात को सही मानकर पिता श्री 'खरगसेन' ने अपने उस पुत्र को दीर्घायु होने की अभिलाषा में उसका नाम **बनारसीदास** रख दिया।

धीरे-धीरे दूज के चंद्रमा की तरह वह बालक बढ़ने लगा। लेकिन पूर्व-कर्मोदयवश पाँच साल की अल्पायु में 'बनारसीदास जी' को 'संग्रहणी' नामक बीमारी ने घेर लिया। एक वर्ष तक भारी-वेदना सहकर ठीक हुये कि शीतला (जिसे आज हम 'चेचक' या मीजल्स/चिकन-पॉक्स कहते हैं) का प्रकोप हुआ। इसप्रकार लगभग दो वर्ष तक

का समय भयंकर-वेदना में व्यतीत हुआ। इन परिस्थितियों में पिताश्री खरगसेन जी को कई बार बालक बनारसीदास के जीवन का भारी-संकट लगा। किन्तु आयुर्कर्म शेष होने से प्राणान्त-वेदनायें सहकर भी वह बालक जीवित रहा।

शिक्षा— भयंकर-बीमारी से जर्जर होने के बाद भी बालक 'बनारसीदास जी' को विद्याध्ययन के लिये गुरु के आश्रम में भेज दिया गया। बनारसीदास जी की बौद्धिक-क्षमता अत्यधिक होने से अल्प-समय में ही पर्याप्त-ज्ञान अर्जित किया। कवि के शब्दों में —

"आठ बरस कौ हुऔ बाल, विद्या पठन गयौ चटसाल।

गुरु पांडे से विद्या सिखै, अक्सर वाँचे लेख लिखै॥

बरस एक-लौं विद्या पढ़ी, दिन-दिन अधिक-अधिक मति बढ़ी।

विद्या पढ़ी हूऔ वितपन्न, संवत् सोलह सै बावन्न॥"

अभी शिक्षार्जन करते हुये एक साल ही बीता था कि 9 वर्ष की अल्पायु में ही बनारसीदास जी की सगाई हो गई। और दो वर्ष बाद संवत् 1654 में विवाह भी हो गया। विवाह के बाद पारिवारिक-जिम्मेवारियों के चलते यद्यपि पढ़ाई के लिये समय नहीं मिलता था, फिर भी 14 वर्ष की उम्र तक कवि ने 'अनेकार्थ-नाममाला', 'ज्योतिष-शास्त्र', 'अलंकार' आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। फिर आगे चलकर अध्यात्म के प्रखर-पंडित 'भानुचंद्र जी' से भी विविध-शास्त्रों का अध्ययन किया।

युवावस्था में प्रवेश— जब कवि ने युवावस्था में प्रवेश किया, उस समय देश में मुसलमानों का शासन चल रहा था। उनके अत्याचारों से परेशान देशवासी अपने बेटे-बेटियों की शादी छोटी उम्र में कर लेते थे। बनारसीदास जी का विवाह भी संवत् 1654 में 11 वर्ष में खैराबाद के निवासी 'कल्याणमल जी' की बेटी के साथ सम्पन्न हुआ। बड़ी धूमधाम के साथ खडगसेन अपनी पुत्रवधु को विदा कराकर घर लाये। लेकिन कर्मों की विचित्रता देखो! जिस दिन पुत्रवधु घर आई, उसी दिन खरगसेन के घर बेटी का जन्म हुआ और बनारसीदास जी की नानी का देहांत हो गया!! इस सुख एवं दुःखमय प्रसंग का वर्णन कविवर के शब्दों में इसप्रकार मिलता है —

"नानी-मरण, सुता-जनम, पुत्रवधु-आगौन। तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन॥

यह संसार-विडम्बना, देख प्रगट दुःख-खेद। चतुर-चित्त त्यागी भये, मूढ न जाने भेद॥"

विवाह के पश्चात् जिम्मेवारी के चलते पढ़ाई तो लगभग खत्म हो गई। आर्थिक-विपन्नता के कारण परिवार-सहित इधर-उधर भटकते रहे, इस बीच बनारसीदास जी ने कौड़ियाँ खरीदने-बेचने का छोटा-सा काम किया। इस समय तक बनारसीदास जी 14 वर्ष के हो चुके थे। इकलौते-पुत्र होने के कारण माता-पिता के बहुत लाड़ले थे।

जैसा कि युवावस्था कामान्धता के लिये प्रसिद्ध होती है, कविवर बनारसीदास जी भी इससे अछूते नहीं रहे। कुल की प्रतिष्ठा, धन-संपत्ति और आत्म-सम्मान कामांध-पुरुष के लिये मायने नहीं रखता। इस समय शास्त्र-ज्ञान, माता-पिता और गुरुजनों की सीख निरर्थक सिद्ध होती है। बनारसीदास जी भी इस समय इतने कामान्ध हुये कि पढ़ाई-लिखाई छोड़कर उनके ऊपर एकमात्र विषयासक्ति का नशा-सा छा गया। वे स्वयं अपने बारे में लिखते हैं—

"तजि कुल-कान लोक की लाज, भयो बनारसि आसिखबाज॥"

माता-पिता से छिपाकर घर से मणि, रत्न और रुपये चुराकर विषय-भोग पर खर्च करना उनकी आदत बन गई। यह सिलसिला इतना लंबा चला कि इस बीच कवि ने 'नव-रस' विशेषरूप से शृंगार एवं वासनापरक लगभग एक हजार दोहों और चौपाईयों से युक्त एक पद्यमय-काव्यरचना भी की। जिसमें यद्यपि सभी रस थे; परन्तु आशिकी और संभोग-प्रधान कविताओं की अधिकता थी। कहा जाता है कि यदि आज वह कृति उपलब्ध होती, तो शृंगार-जगत् की सर्वश्रेष्ठ-रचनाओं में अपना स्थान रखती।

यद्यपि बनारसीदास जी बहुत विवेकी थे, और समय-समय पर अपनी इस कामुक-प्रवृत्ति की निंदा भी करते थे और इससे छूटने का प्रयास भी करते थे, परन्तु चारित्र-मोहनीयकर्म का ऐसा प्रबल-उदय था कि उसके सामने उनका पुरुषार्थ हार जाता था। वे स्वयं लिखते हैं –

"पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा चौपाई॥
तामैं नवरस रचना लिखी, पै विशेष-वर्णन आसिखी।
ऐसे कुकवि-बनारसि भये, मिथ्या-ग्रंथ बनाये नये॥
कै पढ़ना कै आसिखी, मगन दुहुँ रस-माँहि।
खान-पान की सुध नहीं, रोजगार कछु नाहिं॥"

ऐसा कब तक चला?— इस बारे में कवि लिखते हैं—

"ऐसी दसा बरस द्वै रही, मात-पिता की सीख न गही।
करी आसिखी पाठ सब पढ़े, संवत सोलह सौ उनसठे॥"

इसप्रकार भौतिक-प्रेम की चकाचौंध में दो वर्ष तक जीवन व्यतीत करते हुये। एक बार अपनी पत्नी को लेने ससुराल गये और वहाँ एक माह तक सुखपूर्वक रहे। लेकिन घर लौटते समय पूर्वोपार्जित अशुभ-कर्मों के उदय में कवि को भयंकर कुष्ठ-रोग हुआ। रसिक-हृदय बनारसीदास जी का सुंदर-शरीर रोग की दुर्गंध से भर गया। अंग-अंग में विस्फोटक अर्थात् बदबूदार-फोड़े हो गये। सभी संबंधी उनसे दूर हो गये, केवल पत्नी और सास ने इनकी सेवा की। कविवर बनारसीदास जी के शब्दों में –

"भयौ बनारसिदास तन, कुष्टरूप सर-संग। हाड़-हाड़ उपजी विथा, केस-रोम-भ्रुव-भंग॥
विस्फोटक अग्नित भये, हस्त-चरन चौरंग। कोऊ नर साला-ससुर, भोजन करहि न संग॥
ऐसी अशुभ-दशा भई, निकट न आवै कोई। सासू और विवाहिता, करहि सेव तिय दोइ॥
जल-भोजन की लेहि सुध, देहि आन मुख-माँहि। ओखद ल्यावहि अंग में, नाक मुँद उठ जाहि॥

विचार कीजिये उस समय कवि की कितनी असहनीय और वेदना से भरपूर भयानक-स्थिति रही होगी। कईप्रकार की औषधियाँ बनारसीदास जी को दी गईं, पर उनकी पीड़ा कम होने के बजाय असह्य से असह्यतर होती चली गई। कुछ समय पश्चात् भाग्यवशात् एक नाई-चिकित्सक मिला, और उसने इन्हें छह महीने में स्वस्थ कर दिया। लेकिन ससुराल से लौटते समय ये अकेले ही आये, ससुरालवालों ने पत्नी को इनके साथ नहीं भेजा।

घर आकर पुनः आशिकी में मगन हो गये। लगभग चार महीने के बाद इनकी पत्नी वापस इनके पास आ गई, पर इनकी कामान्ध-प्रवृत्ति पर कोई रोक नहीं लगी। किसी ने सच ही कहा है –

"विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥"

अर्थात् विषयासक्त-मनुष्य के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं, विद्वत्ता, विवेक, कुलीनता और सत्य तो जैसे उससे छूमंतर हो जाते हैं।

संयोगवश इसी वर्ष बनारसीदास जी के एक कन्या का जन्म हुआ; परन्तु छह-सात दिन में ही वह कन्या तो चल बसी, साथ ही बनारसीदास जी को दीर्घकालीन-ज्वर की पीड़ा हो गई। वैद्य ने उन्हें बीस दिन तक भोजन नहीं करने दिया। भूख से बेहाल बनारसीदास जी ने एक दिन रात के समय में सबके सो जाने पर आधा सेर (किलो) पूड़ियाँ उठाकर खा लीं। और संयोग की बात कि वे स्वस्थ भी हो गये। वे स्वयं लिखते हैं –

"आध सेर की पूरी दोइ। खाट हेट ले धरी दुराइ, सो बनारसि भखी चुराइ।
वाही पथ सों नीकौ भयौ, देख्यौ लोगनि कौतुक नयौ॥"

अंधविश्वास के धनी— कविवर बनारसीदास जी इस समय तक घोर-अंधविश्वासी थे। एक दिन एक सन्यासी ने कहा कि— "मेरे पास एक मंत्र है, एक वर्ष तक उसका विधिपूर्वक-जाप करने से एक वर्ष बाद एक स्वर्णमुद्रा प्रतिदिन दरवाजे पर मिलेगी।" फिर क्या बनारसीदास जी ने बहुत धन देकर तत्काल मंत्र लिया और जपना प्रारंभ कर दिया। एक वर्ष तक वे इस मायाजाल में फँसे रहे। एक साल बाद जब फूटी-कौड़ी भी हाथ नहीं लगी, तो पश्चात्ताप में भोजन-पानी भी छोड़ दिया। (इस घटना का उल्लेख कवि ने स्वयं किया है।)

अभी ये घटना बीते बहुत दिन नहीं हुये थे कि फिर एक छलिया-साधुबाबा के मायाजाल में फँस गये। उसने इन्हें मुक्ति-प्राप्ति के अमर-आनंद का प्रलोभन देकर कुछ पूजन-सामग्री और शंख देकर उस साधु ने कहा कि "ये शिवजी की मूर्ति है, इसकी पूजा करने से मुक्ति मिलती है।"

बनारसीदास जी ने भावुकता में आकर शीघ्र उस मूर्ति को उठा लिया और शिवजी का जाप और अष्टद्रव्य से उस मूर्ति की पूजा करने लगे। यदि किसी दिन कोई भूल हो जाती, तो अगले दिन पश्चात्ताप करते और रूखा-भोजन करते। वे स्वयं लिखते हैं — "पूजें तब भोजन करें, अनपूजें पछिताइ।

तासु दण्ड अगले दिवस, रूखा-भोजन खाइ।।"

घर में बिना किसी को बताये वे इस क्रिया को बहुत दिन तक करते रहे। ऐसी कई अंधविश्वासों से भरी अनेकों घटनाओं का उल्लेख कवि ने स्वयं किया है।

पत्नियाँ और बच्चे— बनारसीदास जी की तीन शादियाँ हुई। और तीनों ही पत्नियों से कुल मिलाकर नौ संतानें हुई। लेकिन दुर्भाग्यवश तीनों ही पत्नियाँ और सभी बच्चे एक-एक करके इनके सामने ही मरण को प्राप्त हुये। विचार करो कि जब एक संतान के मरण का दुःख भी असह्य होता है, तो सोचिये जिसकी नौ संतानें उसके सामने काल-कवलित हुई हों, उसकी वेदना और टीस का अनुमान लगाना भी कल्पना से परे है। कवि स्वयं लिखते हैं —

"तीन विवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात।

नौ बालक हुये मुए, रहे नारि-नर दोइ।

ज्यों तरुवर पतझार है, रहें ठूँठ से होइ।।"

अर्थात् मेरे नौ बच्चे हुये; लेकिन एक भी जीवित नहीं रहा। केवल हम पति-पत्नी बचे, ठीक उसीप्रकार जैसे पतझड़ के आने पर सारे पत्तों के झड़ जाने पर पेड़ ठूँठ से खड़े रह जाते हैं।

लेकिन होनहार बलवान् और तीसरी पत्नी की मृत्यु से पहले कवि को संसार की असारता का भान होने लगा। अब राग से विराग की ओर मुड़ने का सामान उनके जीवन में घटनेवाली अनेक-मौतों और व्यापारादि में निराशाओं ने जुटा दिया था। लम्बे समय तक राग-रंग में रमनेवाले कविवर बनारसीदास जी ने अब वैराग्य की ओर प्रयाण किया।

एक दिन कविवर बनारसीदास जी अपनी मित्र-मंडली के साथ गोमती-नदी के किनारे बैठे थे। शृंगार-रस का ग्रंथ 'नवरस' उनके हाथ में था। और अपने मित्रों को उसके दोहे सुना रहे थे। अचानक अध्यात्म की ऐसी लहर आई कि उसने शृंगारिकता और भावुक-मनोवृत्ति को चकनाचूर कर दिया। अपनी कपोल-कल्पित कविताओं पर कवि को इतना पश्चात्ताप हुआ कि वह 'नवरस' का ग्रंथ कवि ने स्वयं अपने हाथों से गोमती-नदी में बहा दिया। इसका वर्णन करते हुये कवि लिखते हैं—

"एक दिवस मित्रन्ह के साथ, नौकृत पोथी लीन्ही हाथ।

नदी गोमती के बिच आइ, पुल के ऊपर बैठे जाइ।।

वाचैं सब पोथी के बोल, तब मन में ये उठी किलोल।

एक झूठ जो बोले कोइ, नरक जाइ दुःख देखे सोइ।।

मैं तो कलपित-वचन अनेक, कहैं झूठ सब, साँचु न एक।
 कैसे बने हमारी बात, भइ बुद्धि यह अकस्मात्॥
 यह कहि देखन लागै नदी, पोथी डार दइ ज्यों रदी।".....

उस दिन से बनारसीदास जी के जीवन की दिशा ही बदल गई। श्रृंगार का रसिक अब अध्यात्म का रसिक बन गया।

उनके आध्यात्मिक जीवन की झलक, उन्हीं के शब्दों में इसप्रकार है—

निश्चयाभासी होना— सम्वत् 1680 में 37 वर्ष की अवस्था में कवि को 'अरथमल जी ढोर' का समागम मिला। उन्होंने 'पांडे राजमल जी' द्वारा लिखित 'समयसार-कलश' की टीका पढ़ने की प्रेरणा दी। कवि ने बड़ी लगन से उसका स्वाध्याय किया, लेकिन अध्यात्म का मर्म न समझने से वे स्वच्छंदी हो गये। परिणाम-स्वरूप उनका झुकाव ठेठ-निश्चयाभास की ओर हो गया, उन्हें क्रियाकाण्ड अत्यंत-थोथा प्रतीत होने लगा। जप, तप, सामायिक, पूजन आदि सब छोड़कर एक मात्र आत्मतत्त्व पर ही उनकी रुचि केन्द्रित हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग इन्हें 'खोसरामती' यानि एक 'असंतुलित-मत का अनुयायी' कहने लगे। ऐसी अवस्था में कवि ने जीवन के बहुमूल्य 12 वर्ष बिता दिये।

दिगम्बरत्व का समर्थन— एक दिन सौभाग्य से 'पंडित रूपचंद जी पांडे' से कवि की भेंट हुई। उनका गुणस्थान-विवेचन पर प्रवचन सुनकर बनारसीदास जी को ज्ञान और क्रिया का समन्वय अर्थात् निश्चय और व्यवहार का मेल समझ में आया। अनेकांत, स्याद्वाद आदि सिद्धांतों का सच्चा-स्वरूप समझ में आया। अब उन्हें क्रियाकाण्ड सर्वथा-हेय नहीं, बल्कि आत्मकल्याण के मार्ग में सीमित-उपयोगी लगने लगा। इसके बाद कवि का हृदय कुछ शांत और स्थिर हुआ। स्वयं श्वेताम्बर-संप्रदाय से होने के बाद भी न केवल दृढ़ता-पूर्वक दिगम्बर-पंथ को 'सही' कहा, बल्कि स्वीकार भी किया। बाद में कवि की आध्यात्मिक-भावना इतनी प्रबल हो गई कि 1693 में समयसार जी को 'नाटक समयसार' के रूप में सुन्दर-पद्यों में आबद्ध किया, और 'नाटक-समयसार' के छंदों की सर्वत्र धूम मच गयी। कवि का यह आध्यात्मिक-ग्रंथ इतना लोकप्रिय हुआ कि घर-घर में नाटक-समयसार की चर्चा होने लगी।

ग्याहरवीं शती से ही दिगम्बर-साधुओं का लगभग अभाव-सा हो गया था। और कविवर बनारसीदास जी के समय तक तो लोग दिगम्बर-साधुओं के बारे में सिर्फ पुराणों/कथाओं में पढ़ा करते थे और उनकी की चर्चा के बारे में केवल अनुमान लगाया करते थे। उस समय धर्म की बागडोर परिग्रहधारी-भट्टारकों के हाथ में थी। क्रियाकाण्ड को ही 'धर्म' घोषित कर दिया गया था, अध्यात्म-चर्चा को तो लोग बिल्कुल ही भूल गये थे। भट्टारकों की बात ही 'धर्म-वाक्य' के रूप में मानी जाती थी। कविवर बनारसीदास कुशाग्र-बुद्धि के धनी तो थे ही, साथ ही जैन-शास्त्रों का अध्ययन भी अच्छी तरह से कर चुके थे, सो इस मायाचार को शीघ्र समझ गये। वे स्वयं आगे आये और इस थोथे-क्रियाकाण्ड और परिग्रह की मान्यता का जमकर खंडन किया, और जनता के समक्ष धर्म का वास्तविक-स्वरूप रखा।

अंतिम-समय— यद्यपि कवि के देहवियोग के बारे में कोई ठोस-जानकारी उपलब्ध नहीं है। लेकिन इस संबंध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है कि अंतसमय में उनका गला रुंध गया था, जिस कारण वे बोल नहीं सकते थे। उन्हें अहसास हो गया था कि मृत्यु का समय अब नजदीक है, सो ध्यान में लीन हो गये। लोगों ने समझ लिया अब ये दो-चार घंटे के मेहमान हैं। लेकिन जब समय अधिक निकल गया और प्राण शेष रहे, तो आस-पास के लोग कहने लगे कि शायद कवि के प्राण परिवारीजनों के मोह में फँसे हुये हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि "जीवनभर धन के पीछे भागते रहे, फिर भी उन्हें धन की प्राप्ति नहीं हुई, लगता है आज भी इनके प्राण उसी में अटके हुये हैं। अब

जब तक इनके आगे दौलत की गठरी नहीं होगी, तब तक इनके प्राण नहीं निकलेंगे।"

कविवर बनारसीदास जी लोगों की इन मूर्खतापूर्ण-बातों से विचलित हो उठे, पर शक्तिहीन इतने थे कि बोल तो न सके, पर कुछ लेखन-सामग्री देने के लिये लोगों को संकेत किया। बड़े प्रयत्न के बाद लोगों को उनका संकेत समझ में आया और उनको एक लेखनी लाकर दी। लेखनी पाकर कवि ने अपने जीवन का अंतिम-छंद लिखा, जिसे पढ़कर लोगों की धारणा एकदम बदल गई। वह छंद इसप्रकार था —

"ज्ञान कुतक्का हाथ मारि अरि-मोहना। प्रगट्यो रूप-स्वरूप अनंत जु सोहना॥

जा परजै को अंत सत्य कर मानना। चले बनारसिदास फेर नहि आवना॥"

रचनायें— "कविवर बनारसीदास जी" की चार पद्यमय-रचनायें आज उपलब्ध हैं, जो उनकी काव्य-प्रतिभा और ज्ञान-गरिमा को आज भी द्योतित कर रही हैं। वे इसप्रकार हैं —

1- नाममाला 2- बनारसी-विलास 3- अर्द्धकथानक 4- नाटक-समयसार

1. नाममाला— यह एक पद्यबद्ध-कोश है, जिसमें 175 दोहे हैं। यह कवि की सर्वप्रथम-रचना है। जो 'आश्विन सुदी दसमी, सोमवार' विक्रम- संवत् 1670 में जौनपुर में लिखी जा चुकी थी। इसके रचनाकाल के बारे में कवि स्वयं लिखते हैं— **सोरह सै सत्तरि समै, आसौ मास सित पच्छ।**

विजैदसमी ससिवार तह, स्रवन-नखत परतच्छ॥

2. बनारसी-विलास— इस ग्रंथ में कवि द्वारा समय - समय पर विविध-विषयों पर विविध-छंदों में रचित-रचनाओं का संग्रह है। जिसमें धार्मिक और आध्यात्मिक-कवितायें अनूदित और उपदेशपरक-कवितायें संग्रहीत हैं।

3. अर्द्धकथानक— कविवर बनारसीदास जी की उपलब्ध-रचनाओं में यह तीसरी-रचना है। यह समस्त भारतीय-भाषाओं में प्रथम हिन्दी-पद्यों में रचित **आत्मकथा** है। कवि ने इसमें अपने जीवन के 55 वर्षों को अत्यंत सरल, संक्षिप्त और निष्पक्षता के साथ प्रस्तुत किया है। इस कृति का नाम 'अर्द्धकथानक' रखने का कारण बताते हुये कवि कहते हैं कि वर्तमान में मनुष्य की आयु 110 वर्ष मानी गई है, और इसमें 55 वर्ष की कहानी है, इसलिये इसका 'अर्द्धकथानक' नाम सार्थक है। अपनी भूलों, त्रुटियों और असफलताओं का वर्णन जितने सीधे और सरल स्पष्ट-शब्दों में कवि ने किया कि इसको पढ़कर मानव-मन श्रद्धा से कवि के चरणों में सहज झुक जाता है।

इस कृति में आत्मकथा के साथ-साथ ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक-स्थिति का भी ऐसा उल्लेख किया है कि जिनसे आज भी इतिहास के कलेवर में एक सुंदर-अध्याय और जोड़ा जा सकता है।

4. नाटक-समयसार का परिचयात्मक-अनुशीलन

'नाटक-समयसार' कवि की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक और लोकप्रिय-रचना है। शुद्धात्म-तत्त्व की हिंदी भाषा में इतनी सरल व स्पष्ट-विवेचना अन्यत्र दुर्लभ है। संसार के वास्तविक-स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुये आत्मा की शुद्धातिशुद्ध-अवस्था का निरूपण अत्यंत-स्पष्टता और युक्तियों के साथ किया है।

इस ग्रंथ में 310 दोहे-सोरठा, 245 सवैया इकतीसा, 86 चौपाई, 37 सवैया तेईसा, 20 छप्पय, 18 कवित्त, 7 अडिल्ल और 4 कुंडलियाँ हैं। कुल मिलाकर नौ प्रकार के 727 छंद हैं। इस कृति में कवि ने भावों के पात्र उपस्थित किये हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष —ये सात तत्त्व ही अभिनय करनेवाले पात्र हैं। भावों का नाटकीय-ढंग से चित्रण करने के कारण ही इसके साथ 'नाटक' शब्द जोड़ा गया है। और 'समयसार' शब्द आत्मा यानि स्वयं के लिये है, इसप्रकार इस कृति का नाम 'समयसार नाटक' सार्थक है।

'आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द' का 'समयप्राभृत' अपरनाम 'समयसार', उस पर 'आचार्य अमृतचंद्र' की 'आत्मख्याति' संस्कृत-टीका, और 'पं. राजमल'कृत भाषा-टीका —इन तीनों ग्रंथों के आधार पर ही कविवर बनारसीदास जी ने इस ग्रंथ की रचना की है।

स्वतः स्पष्ट है उपर्युक्त तीनों ग्रंथों का आधार होने से यह कृति कविवर बनारसीदास जी की मौलिक-कृति तो नहीं है, परन्तु कवि ने उन भावों का सारमात्र लेकर अपनी काव्य-प्रतिभा से इस कृति को इतना रोचक बना दिया कि वह कृति मूलाधारों से भी बढ़कर प्रतीत होती है। पग-पग पर सुंदर-दृष्टांत देकर उसे और भी सुगम कर दिया। कवित्व की दृष्टि से उनकी ये रचना अपूर्व है।

मूल-ग्रंथों जो विषय नहीं थे उनका भी प्रतिपादन कवि ने इसमें किया। जिन गुणस्थानों का समुचित-ज्ञान न होने से कविवर बनारसीदास जी 12 वर्ष तक अंधेरे में रहे, उन गुणस्थानों का बहुत ही सुंदर और विस्तृत-विवेचन कवि ने इस कृति में किया।

भाषा, भाव, विषय और प्रतिपादन-शैली हर दृष्टि से ये कृति बेजोड़ है। अध्यात्मिक-कवि होने से सर्वत्र आत्मानुभूति को ही सर्वोपरि-स्थान दिया। आत्म-अनुभव को मुक्ति का मार्ग ही नहीं मोक्षस्वरूप ही माना। कविवर बनारसीदास जी लिखते हैं —

"अनुभव चिंतामणि-रत्न, अनुभव है रस-कूप।

अनुभव मारग-मोक्ष को, अनुभव मोक्ष-स्वरूप।।"

केवल अनुभव कहने से कहीं जीव लौकिक-अनुभव में भ्रमित न हो जाये, इसलिये अनुभव का स्वरूप भी स्पष्ट किया —

"वस्तु-विचारत ध्यावतै, मन पावे विश्राम।

रस-स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम।।"

वस्तु से कवि का अभिप्राय निजात्मा से है और रसस्वाद से तात्पर्य आत्मानुभव से है— अर्थात् आत्मिक-सुख की अनुभूति का नाम ही अनुभव है।

इस कृति का रचनाकाल आश्विन शुक्ल त्रयोदशी, रविवार, संवत् 1693 है। इस कृति की रचना 'आगरा' में 'शाहजहाँ के शासनकाल के समय' पूर्ण हुई थी।

कवि ने बाह्य क्रियाकाण्ड की अपेक्षा हमेशा ज्ञान को ही मुख्यता दी। उनका मानना है कि ग्यान बिना शिवपंथ न सूझै। वे लिखते हैं —

"बहुविधि क्रिया-क्लेश सौं, शिवपद लहै न कोइ। ग्यानकला-परकाशसौ, सहज मोखपद होइ।।

ग्यानकला घट-घट बसै, जोग जुगति के पार। निज-निज कला-उद्योत करि, मुक्त होइ संसार।।"

यहाँ ज्ञान से कवि का आशय क्षयोपशमज्ञान या शास्त्रज्ञान से नहीं, भेदज्ञान से है, क्योंकि भेदज्ञान ही वह साबुन है, जिससे आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है। वे लिखते हैं —

"भेदग्यान साबू भयौ, समरस निर्मल-नीर। धोबी अंतरात्मा, धोवै निजगुण-चीर।।"

भेदग्यान संवर जिन पायौ। सो चेतन शिवरूप कहायौ।।

भेदग्यान जिनके घट नहीं। ते जड़ जीव बंधै घट-माँहीं।।

कहने का तात्पर्य यही है कि 'नाटक-समयसार' कवि की वह सर्वोत्कृष्ट-रचना है, जिसने इन्हें 'आचार्य कुन्दकुन्द' और 'आचार्य अमृतचंद्र' की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'कविवर बनारसीदास जी' असाधारण-व्यक्तित्व के धनी थे, उनके द्वारा रचित साहित्य 'अध्यात्म की रीढ़' है, उनका स्थान आध्यात्मिक-जगत् में सदैव अक्षुण्ण रहेगा।

नाटक-समयसार का समीक्षात्मक-विश्लेषण:—

जैन-अध्यात्म-जगत् की वर्तमान में सर्वाधिक-समादृत-रचना 'नाटक-समयसार' आज विद्वज्जगत् में किसी परिचय की मोहताज नहीं है। इस कृति का पूर्णता-काल आश्विन शुक्ल त्रयोदशी, रविवार, संवत् 1693 है। इसकी रचना सुविख्यात नगर 'आगरा' में मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल के समय पूर्ण हुई थी। कविवर बनारसीदास जी स्वयं बादशाह शाहजहाँ के मित्र थे तथा बादशाह के साथ अपना आत्मसम्मान बनाये रखते हुये शतरंज तक खेलते थे।

यह कृति कविवर बनारसीदास जी की मौलिक-कृति तो नहीं है, परन्तु कवि ने पूर्ववर्ती-आचार्यों एवं मनीषियों की रचनाओं के भावों का सारमात्र लेकर अपनी काव्य-प्रतिभा से इस कृति को इतना रोचक बना दिया कि वह कृति कहीं भी अपने मूलाधार-ग्रन्थों से न्यून प्रतीत नहीं होती है। आवश्यकतानुसार सुन्दर-दृष्टांत देकर उसे और भी सुगम कर दिया। कवित्व की दृष्टि से भी उनकी यह रचना अपूर्व है।

यद्यपि कविवर पं. बनारसीदास जी की सर्वाङ्गीण-प्रतिभा अद्भुत थी और उनकी समस्त कृतियों में 'नाटक-समयसार' सर्वाधिक गम्भीर-रचना है, अतः इसकी गरिमा तो स्वतः ही उत्कृष्ट होनी स्वाभाविक है। यही कारण है कि इसकी समीक्षा करने में गुणानुवाद करने के अतिरिक्त कुछ कहना दुष्कर है। तथापि ऐसे ग्रन्थ का सम्पादकीय-दायित्व एवं प्रस्तावना-लेखन जैसी गुरुतर-जिम्मेदारी का निर्वहन कामचलाऊ-ढंग से नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि विविध-आयामों से इसके समीक्षण जैसे कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ, तो उसका निर्वहन भी निष्ठापूर्वक ही करना होगा। अतः इस ग्रन्थ की समीक्षा विविध-बिन्दुओं के वर्गीकरण-पूर्वक साधारण यहाँ प्रस्तुत करने का नैष्ठिक-प्रयास कर रहा हूँ।

1. विषय-विवेचनपरक समीक्षा— यह ध्यातव्य है कि यह कृति अपने आप में कोई पूरीतरह से स्वतन्त्र-ग्रन्थ नहीं है, बल्कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के कालजयी-ग्रन्थ 'समयसार' के ऊपर आचार्य अमृतचंद्र सूरि द्वारा लिखित 'आत्मख्याति' नामक गद्य-मूलक टीका के बीच-बीच में प्रयुक्त पद्यात्मक-कलशों के ऊपर जो पांडे राजमल्ल जी ने 'बालबोधिनी-टीका' प्राचीन-हिन्दी-भाषा में लिखी गयी थी, उसे आधार बनाकर एक स्वतन्त्र-रचना के रूप में यह 'नाटक-समयसार' नामक ग्रन्थ निर्मित हुआ था। अतः इसकी विषय-वस्तु का मूलस्रोत तो आचार्य कुन्दकुन्द देव कृत 'समयसार' ग्रन्थ है, अतः सभी कथनों की जड़ हमें इसी में मिलेगी। फिर टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने अपनी 'आत्मख्याति' नामक टीका में जो व्याख्या की है, वह भी मूल-कथ्य के अन्वेषण के लिये उपयोगी है। तथा उसमें आगत जो पद्यात्मक-मनोहारी-प्रयोग हैं, जिन्हें 'कलश' संज्ञा दी गयी है, वे वस्तुतः इसकी सीधी आधार-सामग्री है। किन्तु उनके स्पष्टीकरण के लिये कविवर पं. बनारसीदास जी ने इस नाटक-समयसार जी में उन कलशों के व्याख्याकार-मनीषी पांडे राजमल्ल जी के द्वारा विरचित इन कलशों की 'बालबोधिनी-टीका' (जिसे आजकल 'समयसार-कलश-टीका के नाम से जाना जाता है) की भरपूर-मदद ली है। फिर भी कई बातें कविवर पं. बनारसीदास जी ने इन सबसे हटकर अपने मौलिक-प्रतिपादन के रूप में भी प्रस्तुत की हैं।

अतः इसके वर्ण्य-विषयगत समीक्षण के लिये हमें यह बारीकी से अध्ययन करना होगा कि कौन-सी बात तो वे सीधे आचार्य कुन्दकुन्द देव के 'समयसार' जी से ले रहे हैं, कौन-सी चर्चा उन्होंने आचार्य अमृतचंद्र सूरि के 'समयसार-कलशों' से सीधी ग्रहण की है और कौन-से ऐसे विषय हैं, जिनके प्रस्तुतीकरण के लिये कविवर पं. बनारसीदास जी सीधे तौर पर पांडे राजमल्ल जी की इस 'बालबोधिनी-टीका' के प्रति कृतज्ञ हैं।

ऐसे कतिपय पद्यों को अतिसंक्षेप में सांकेतिकरूप से मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ —

जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं, ऐसे चौदह भावरत्नों का वर्णन —

लक्ष्मी-सुबुद्धि अनुभूति-कउस्तुभ-मनि, वैराग-कलपवृच्छ संख-सुवचन है।

ऐरावत-उद्दिम-प्रतीति रंभा उदै-विष, कामधेनु-निर्जरा सुधा-प्रमोदधन है॥

ध्यान-चाप प्रेमरीति-मदिरा विवेक-वैद्य, सुद्धभाव-चन्द्रमा तुरंगरूप-मन है।
चौदह-रतन ये प्रगट होंहि जहां तहां, ग्यान के उदोत घट-सिंधुकौ मथन है॥

चौदह-रत्नों में हेय और उपादेय—

किये अवस्थामैं प्रगट, चौदह-रतन रसाल। कछु त्यागै, कछु संग्रहै, विधि-निषेधकी चाल॥
रमा-संख-विष-धनु-सुरा, वैद्य-धेनु-हयहेय। मनि-रंभा-गज-कलपतरु, सुधा-सोम आदेय॥
इहविधि जो परभाव-विष, वमै रमै-निजरूप। सो साधक-सिवपंथकौ, चिद-वेदक चिद्रूप॥

—(साध्य-साधक-द्वार, 31-34)

उपर्युक्त विवेचन कविवर पं. बनारसीदास जी की मौलिक-देन है। यद्यपि नव-निधि एवं चौदह-रत्नों की चर्चा भारतीय साहित्य तथा जैन-साहित्य में चिर-प्रचलित रही है। किन्तु उनके विषय में जो दृष्टि एवं व्यावहारिक मार्गदर्शन बनारसीदास जी ने यहाँ दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विशेषतः हेय और उपादेय की दृष्टि से जो विवेचन उन्होंने किया है, वह लोक-साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

यह कोई अकेला-प्रसंग नहीं है, बल्कि पूरे 'नाटक-समयसार' में ऐसे अनेकों प्रसंग और भी हैं, जिनका आगे के विषयों के अन्तर्गत विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

2. दार्शनिक-समीक्षा— इसमें आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य अमृतचंद्र सूरि या पांडे राजमल्ल जी की बालबोधिनी-टीका से तुलनात्मक-समीक्षण प्रस्तुत नहीं किया जायेगा, बल्कि जैनदर्शन के मूलभूत-सैद्धान्तिक-विवेचनों के साथ कविवर पं. बनारसीदास जी के 'नाटक-समयसार' के प्रतिपादनों की तुलनात्मक-समीक्षा अतिसंक्षेप में प्रस्तुत की जायेगी, ताकि वस्तुस्थिति की जानकारी भी हो जाये और अतिविस्तार भी नहीं हो पाये।

(क) आत्मा 'प्रकाशित' नहीं होता, बल्कि 'चकासित' होता है— इस तथ्य को मूल व 'नाटक-समयसार' में तुलनात्मक-रूप से देखिये— 'स्वानुभूत्या चकासते' = 'जो अपनी दुति आप विराजत'

—(जीवद्वार, पद्य 2)

सर्वत्र ज्ञान के प्रकाशकत्व की चर्चा मिलती है, उसे सूर्य के प्रकाश की भाँति स्व-पर-प्रकाशक कहा जाता है; किन्तु यहाँ मूल में आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने उसके लिये 'चकासते' क्रियापद का मौलिक-प्रयोग करके वैशिष्ट्य बताया है, तो कविवर पं. बनारसीदास जी ने भी यहाँ उसे 'अपनी दुति आप विराजत' कहकर उसकी अनन्त-स्वाधीनता की घोषणा की है।

(ख) आत्मानुभूति ही मोक्षमार्ग है—

"मुक्तिपंथ-कारन कहौ, अनुभौ को अधिकार" एवं "अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोख-सरूप"

—(उत्थानिका, पद्य 16-19)

आज जब अविरति-सम्यग्दृष्टि-जीव को निर्मल-आत्मानुभूति होने की बात जैन भी आसानी से स्वीकार करने तैयार नहीं हैं तथा कोई सातवें गुणस्थान से आत्मानुभूति की शुरूआत कह रहे हैं, तो कुछ सीधे तेरहवें गुणस्थान में ही आत्मानुभूति होना स्वीकार कर रहे हैं। ऐसी विषम-स्थिति में आद्योपान्त-मोक्षमार्ग व मोक्ष में आत्मानुभूति का ही विलास दो-टूक शब्दों में बतलानेवाले पं. बनारसीदास जी का यह कथन अपने आप में 'मील के पत्थर' की तरह मार्गदर्शक है।

(ग) मिथ्यादृष्टि का व्यावहारिक-स्वरूप—

"धरम न जानत, बखानत भरमरूप, ठौर-ठौर ठानत, लराई पच्छपात की।

भूल्यौ अभिमान में, न पाउ धरै धरनी में, हिरदै में करनी, बिचारे उतपात की॥

फिरै डांवाडोल-सौ, करम के कलोलनि में, ह्वै रही अवस्था, सु बघेलू कैसे पात की।

जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी, ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी॥ 9॥

आज जब अन्तरंग-मिथ्यात्व को दूर करने की जगह बाहरी पुण्य-कार्यों एवं व्रतादिक के पालने में ही धर्म बताया जा रहा है, तब मिथ्यात्व ही सबसे खतरनाक है और उसके विनाश के बिना मोक्षमार्ग शुरू ही नहीं हो सकता है— ऐसे स्पष्ट-संकेत इस पद्य में बनारसीदास जी ने दिये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि-जीव को 'ब्रह्मघाती' और 'महापातकी' कहकर उसकी घोर-भर्त्सना की है। साथ ही उसकी व्यावहारिक-पहिचानों का जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभतम है।

(घ) अविरति-सम्यग्दृष्टि की स्तुति— उत्थानिका के कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

"भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट, सीतल-चित्त भयौ जिमि चंदन।

केलि करै सिवमारग में, जगमाँहि जिणोसुर के लघुनंदन॥

सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।

सांतदशा तिन्हकी पहिचानि, करै करजोरि बनारसि वंदन॥ 6॥

स्वारथ के साँचे, परमारथ के साँचे चित्त, साँचे-साँचे बैन कहें, साँचे जैनमती हैं।

काहू के विरुद्ध नाहिं, परजाय-बुद्धि नाहिं, आतम-गवेषी, न गृहस्थ हैं न जती है॥

सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसै घट मै प्रगट सदा, अंतर की लच्छिसौं अजाची लच्छपती है।

दास भगवंत के उदास रहै जगत् सौं, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥ 7॥

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ, हिरदै हरखि महामोह को हरतु हैं।

साचौं सुख मानै निज-महिमा अडोल जानै, आपुही मैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है॥

जैसे जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै, तैसे जीव-अजीव विलछनु करतु है।

आतम-सक्ति साधै ग्यान कौ उदौ आराधै, सोई समकिती भवसागर तरतु है॥ 8॥

इन पद्यों में अविरति-सम्यग्दृष्टि-जीव की अनेकों आयामों से महिमा की गयी है। यह बात आज के वातावरण में विशेष तौर पर मननीय है, जबकि बिना बाह्य-त्याग के तो धर्म की शुरूआत तक नहीं मानी जाती है। जबकि जिनवाणी स्पष्ट कहती है कि "अविरति-सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ-गुणस्थान की भूमिका के बिना धर्म के क्षेत्र में जीव का पदार्पण ही नहीं होता है।" और ऐसे सम्यग्दृष्टि-जीवों की महिमा हर स्थिति में महनीय है, चाहे वे अविरति ही क्यों न हों? वस्तुतः तो व्रतियों के व्रतों की सत्यता और पूज्यता का आधार भी सम्यग्दर्शन ही है। यही मोक्ष की एकमात्र-गारंटी है, जिसके हो जाने पर मोक्षमार्ग और मोक्ष होगा ही, और इसके बिना कितना ही कुछ क्यों न मिल जाये, न तो मोक्षमार्ग हो सकता है और न ही मोक्ष।

(ङ) साधु-स्तुति—

"ग्यान को उजागर, सहज-सुखसागर, सुगुन-रत्नागर, विराग-रस भरयौ है।

सरन की रीति हरै, मरनकौ न भै करे, करनसौं पीठि दे, चरन अनुसरयौ है॥

धरम को मंडन, भरम को विहंडन है, परम-नरम ह्वै कै, करम सौ लरयौ है।

ऐसौ मुनिराज भुव-लोक में विराजमान, निरखि बनारसि नमस्कार करयौ है॥ 5॥

इस एक ही पद्य में जिनाम्नाय में मुनिधर्म के स्वरूप का सारा रहस्य समाहित कर दिया है और सच्चे मुनिराजों की बाह्य-पहिचान भी सुतरां स्पष्ट कर दी है। कौन-से लक्षण देखकर मुनिराज को नमस्कार/वंदना करनी चाहिये— यह असन्दिग्धरूप में यहाँ स्पष्ट कर दिया है। आज जो मात्र बाह्य-नग्नमुद्रा देखकर ही वंदना करने का जोर आध्यात्मिक-विद्वज्जगत् भी देने लगा है, उन्हें तो यह पद्य मानो पथ-प्रदर्शक की भाँति दिशाबोध कर रहा है।

इसके अनुसार जिनका

1. असन्दिग्ध-तत्त्वज्ञान स्पष्ट-परिलक्षित हो रहा हो,

2. जिनके जीवन में आनन्दमयता का उत्कर्ष साफ दिखायी देता हो अर्थात् दुःखों की झलक तक जिनके व्यक्तित्व में नहीं हो,
3. जिनशासन में मुनिधर्म के श्रेष्ठ-गुणों में से कोई एकाध नहीं, बल्कि अपार-गुणसमूह जिनके व्यक्तित्व में विद्यमान हो,
4. वैराग्य के रस में जिनका अन्तर्बाह्य-व्यक्तित्व रचा-बसा हो अर्थात् जिन्हें वैराग्य दिखाना नहीं पड़ता हो, बल्कि अनाड़ी को भी जिनके जीवन में सच्चा-वैराग्य बिना कहे ही समझ में आ सके,
5. जो अपने स्वरूप के अलावा अन्य किसी की भी शरण ग्रहण करने की मानसिकता तक कभी भी नहीं विचार तक में लाते हों अर्थात् अपने आत्मस्वरूप में ही परम-तृप्त हों,
6. मरण का भय जिनके जीवन में कहीं दूर-दूर तक भी नहीं दिखायी देता हो (कोरोना जैसे वायरस का भी डर न तो जिन्हें सताये और न ही उससे बचने के टोटके जो बतायें),
7. इन्द्रियों की माँगों (गर्मी में ऐ.सी. वसर्दियों में हीटर, स्वादिष्ट रसों व पकवानों का आहार, विलासितापूर्ण भवन आदि) का भाव तक जिनके नहीं जागता हो, इन्द्रिय-विषयों से दो अत्यन्त-विरक्त हों,
8. जिनवाणी में निर्दिष्ट मुनिधर्म का बिना किसी बहाने के (कि 'पंचमकाल है' या 'जैसे श्रावक, वैसे मुनि' अथवा 'हमसे तो अच्छे ही हैं') निर्दोषरीति से शत-प्रतिशत पालन करते हों,
9. जिनकी चर्या एवं वचनों से धर्म सुशोभित होता हो, 10. जिन्हें देखने के बाद धर्म, धर्मात्मा एवं आत्महित के बारे में सारे भ्रम दूर हो जाते हों,
11. जिनकी सम्पूर्ण-चर्या अत्यन्त अहिंसक एवं विनम्र हो (अर्थात् न तो ईर्या समिति के विपरीत चलें, न ही कठोर-वचन बोलें, न ही जोर-जोर से चीखकर भाषण दें, न ही किसी का अपमान करें और न ही अपने स्वरूप की विराधना करें),
12. जो कर्मों की निर्जरा करने में ही सदा तत्पर रहते हों (अर्थात् शेष विश्व में किसी भी व्यक्ति या वस्तु/संस्था/संगठन/सम्प्रदाय आदि से जिनके मन में स्वप्न में भी द्वेषभाव नहीं हो) — ऐसे मुनिराज यदि इस लोक में कहीं भी मिल जायें, तो ही बनारसीदास जी कहते हैं कि "उन्हें नमस्कार/वंदना करना चाहिये।"

(च) ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं— 'कर्ता-कर्म-अधिकार' में यह प्रकरण मननीय है—

ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु हैं, अज्ञानीकौ भोग बंध-फल देतु है॥

यह अचरज की बात हिये नहीं आवही, पूछै कोऊ सिष्य गुरु समझावही॥ 22॥

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक, दोऊ-कर्मबंध पै दुहूकौ एक-खेतु है।

ग्यानी-मूढ़ करम करत दीसैं एकसै पै, परिनामभेद न्यारौ-न्यारौ फल देतु हैं॥

ग्यानवंत करनी करै पै उदासीनरूप, ममता न धरैं तातैं निर्जराकौ हेतु है।

वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप, अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है॥ 23॥

जिन्हें 'ज्ञानी के भोग भी निर्जरा के हेतु हैं' — यह पढ़ते सुनते ही करंट जैसा लगता हो, उन्हें पूरी तरह से जिनशासन-सम्मत यह पद्य गम्भीरतापूर्वक मननीय हैं। इस प्रकरण में असंख्यातगुनी-निर्जरावाला 'तत्त्वार्थसूत्र' जी का सूत्र (9/45) एवं उसकी व्याख्या मननीय है, जिसमें देशव्रती और महाव्रतियों की तुलना में अनन्तानुबंधी-कषाय-चौकड़ी का विसंयोजन करनेवालों एवं क्षायिक-सम्यग्दृष्टियों को असंख्यातगुनी-अधिक निर्जरा कही है। इस पद्य में तो इस तथ्य की सकारण-सिद्धि सरल, किन्तु अकाट्य-शैली में की गयी है।

(छ) जैन-द्रव्य-मीमांसा— इसका सटीक-प्ररूपण उत्थानिका के पद्य 20 से 25 तक किया गया है। इनमें छोटे-छोटे सूत्रात्मक-दोहों में गम्भीर-स्वरूप का सटीक-प्रस्तुतीकरण हुआ है।

(ज) जैन-नवपदार्थ-मीमांसा— उत्थानिका के ही पद्य संख्या 26 से 34 तक यह विषय अत्यन्त-प्रभावीरूप से विवेचित हुआ है।

इन पद्यों में भी द्रव्य-मीमांसा और पदार्थ-मीमांसा की सूक्ष्म-विभाजकता को बहुत ही सरलता से स्पष्ट किया गया है। विशेषतः वे विद्वान् व जिज्ञासु शांतमन से इन्हें पढ़ें, मनन करें, जिनको यह भ्रम है कि जिनाम्नाय में पदार्थ की अवधारणा काल-विवक्षा से की गयी है। उनका भ्रम इस विवेचन से सफलता से दूर हो सकता है और पदार्थ-दृष्टि का मर्म समझ में आ सकता है।

(झ) अनेकान्त-विवेचन— यह जैनदर्शन का वस्तुस्वरूप-विवेचक अद्वितीय-सिद्धान्त है। इसकी परिभाषा तो अलग से बनारसीदास जी ने यहाँ नहीं बतायी है, किन्तु प्रयोग के माध्यम से उसके स्वरूप एवं प्रयोगविधि— दोनों को भलीभाँति समझाया है। देखिये —

"अस्तिरूप-नासति अनेक-एक थिररूप- अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहियै।

दीसै एक-नैकी प्रतिपच्छी न अपर दूजी, नैकी न दिखाइ वाद-विवादमै रहियै॥

थिरता न होइ विकलप की तरंगनिमै, चंचलता बढै अनुभौ-दसा न लहियै।

तातै जीव अचल-अबाधित-अखंड-एक, ऐसौ पद साधिकै समाधि-सुख गहियै॥ 43॥

(ञ) स्याद्वाद-विवेचन— 'अनेकान्त' जहाँ वस्तु का अबाधित-स्वरूप है, वहीं 'स्याद्वाद' उस अनेकान्तात्मक-वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की एकमात्र व सबसे निर्दोष-वचनशैली है। इसका भी लक्षण लिखने की जगह इसकी प्रयोगविधि के माध्यम से ही इसका स्वरूप एवं व्यावहारिक-पक्ष स्पष्ट किया है—

"करम-अवस्थामै असुद्धसौ विलोकयित, करम-कलंकसौ रहित सुद्ध-अंग है।

उभै-नै-प्रवांन समकाल सुद्धासुद्ध-रूप, ऐसौ परजाइधारी-जीव नाना-रंग है॥

एकही समै-मै त्रिधारूप, पै तथापि याकी, अखंडित-चेतना-सकति सरवंग है।

यहै स्यादवाद याकौ भेद स्यादवादी जानै, मूर्ख न मानै जाकौ हियौ दृग-भंग है॥ 48॥

(ट) गुणस्थान-विवेचन— इसके लिये तो बनारसीदास जी ने पूरा स्वतंत्र-अधिकार ही लिख दिया है, जिसमें चौदह-गुणस्थानों का जैन-दार्शनिक-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण-विवेचन किया गया है। अधिकांश-विवेचन तो इस विषय के पूर्ववर्ती-ग्रन्थों में वर्णित प्रचलित-बातों के अनुरूप ही है ; किन्तु कुछ विषय ऐसे भी लिये गये हैं, जो बहुत-प्रसिद्ध नहीं हैं और बनारसीदास जी ने ही लगभग पहली बार उनका इसतरह निरूपण किया है। ऐसे विषयों में कुछ निम्नानुसार हैं—

सम्यक्त्व के आठ-विवरण—

समकित उतपति चिहन गुन, भूषन दोष विनास।

अतीचार-जुत अष्ट-विधि, वरनौ विवरन तास॥ 26॥

इनका विस्तृत-वर्णन कवि ने 27-33 तक के छंदों में किया है। यह विषय अन्यत्र कहीं इस तरह से दृष्टिगत नहीं होता है।

मिथ्यात्व-गुणस्थान में पाँच प्रकार का मिथ्यात्व:—

प्रथम 'एकांत' नाम मिथ्यात अभिग्रहीत, दूजौ 'विपरीत अभिनिवेशिक' गोत है।

तीजौ 'विनै-मिथ्यात' अनाभिग्रह नाम जाकौ, चौथौ 'संसै' जहां चित्त भौरकौसौ पोत है॥

पांचमौ 'अग्यान' अनाभोगिक-गहलरूप, जाकै उदै चेतन अचेतसौ होत है।

एई पांचौ-मिथ्यात जीवकौ जगमै भ्रमावे, इनकौ विनास समकितकौ उदोत है॥ 10॥

इसमें अभिगृहीत, अभिनिवेशिक, अनाभिग्रह, संशय एवं अज्ञान जो भेद मिथ्यात्व के कहे हैं, उनमें से अंत के दो को छोड़कर पहले के तीन नाम प्रचलित नहीं हैं। इनकी जगह विपरीत, एकान्त और विनय— ये तीन नाम प्रचलित हैं।

सम्यक्त्व के चार प्रकार:-

मिथ्यामति गंठि-भेद, जगी निरमल-जोति, जोगसौं अतीत, सो तो निहचै प्रमानियै।

वहै दुंद-दसासौं कहावे, जोग-मुद्रा धरै, मति-श्रुतग्यान-भेद विवहार मानियै॥

चेतना-चिह्न पहिचानि, आपा-पर वेदै, पौरुष अलख तातैं, सामान्य बखानियै।

करै भेदाभेदकौ, विचार विसतार-रूप, हेय-गेय-उपादेयसौं विशेष जानियै॥ 51॥

इसमें निश्चय-सम्यक्त्व, व्यवहार-सम्यक्त्व, सामान्य-सम्यक्त्व एवं विशेष-सम्यक्त्व— ये चार भेद — बताये गये हैं। इनमें से पहले दो भेद तो प्रचलित हैं, लेकिन बाद के दो भेद प्रचलित नहीं हैं। लक्षणों को दिये जाने से आपत्ति के योग्य कुछ भी नहीं है, सब जिनाम्नाय-सम्मत है। बस, भेदों के नाम ही अप्रचलित जैसे हैं— यही इस कथन का अभिप्राय है।

श्रावक के इक्कीस गुण—

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत, परदोषकौ ढकैया पर-उपगारी है।

सौमदृष्टी गुणग्राही गरिष्ट सबकौं-इष्ट, शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ-विचारी है॥

विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य, न दीन न अभिमानी मध्य-विवहारी है।

सहज-विनीत पापक्रियासौं अतीत ऐसौ, श्रावक पुनीत इक्कीस-गुनधारी है॥ 54॥

इसके अनुसार तो 'श्रावक' कहलाने यो वही है, जो —

1. उड़्ड न होकर सांसारिक-कार्यों के प्रति लज्जावंत तो हो ही, लौकिक-भाषा में उसकी 'आँख का पानी नहीं मर गया' होना चाहिये।
2. उसे स्वाभाविकरूप से ही दयालु होना चाहिये, क्रूरता के भाव उसके मन में कदापि नहीं आने चाहिये।
3. वह प्रशान्तचित्त होना चाहिये, न कि जरा सी प्रतिकूलता आते ही व्यग्र हो जाये।
4. वह संवेदनशील हो, ताकि संवेदनाओं को समझ सके व तदनु रूप-आचरण कर सके।
5. दूसरों के दोषों को जानते हुये भी उनका प्रचार नहीं करे। विचार करें कि यदि हम सब यह गुण अपना लें, तो हमें आपस में बतियाने के लिये सारी मसालेदार-सामग्री ही गायब हो जायेगी और हम आपस में मात्र 'जय जिनेन्द्र' या संक्षिप्त-कुशलक्षेम ही पूछ सकेंगे।
6. परोपकारी-प्रवृत्ति का होना भी यहाँ श्रावक के लिये अनिवार्य-गुण बताया गया है, जबकि हममें से कई लोग दूसरों की कमजोरी या दुर्दशा को भाँपकर उसको सुनाकर या कुछ विपरीत करके कष्ट देकर आनन्दित होते हैं। यह आत्मालोचन का विषय है कि ऐसा करके भी हम अपने को 'श्रावक' कैसे कहला सकते हैं?
7. सौम्यतापूर्ण-दृष्टि जिसकी हो, अर्थात् दूसरों के दोषों को ग्रहण करने की मानसिकता जिसकी नहीं हो और न ही ऐसे काम-क्रोध आदि के विकार जिसकी नज़रों में हों कि भद्र-महिलायें व बच्चे जिसकी नज़रों से बचकर रहना चाहें।
8. जो दूसरों के गुणों को ही मात्र ग्रहण करता हो, दोषों को नहीं। यदि दोष जानने में आ जायें, तो वह उन्हें ग्रहण ही नहीं करे, बल्कि उनकी उपेक्षा कर दे।
9. जो गम्भीर-व्यक्तित्व का धनी हो, ओछी-बातें जिसके मन में तक कभी भी नहीं आतीं हों और न ही संकुचित-सोच से जो कभी किसी के प्रति व्यवहार करता हो। (विचार करें कि आज सेठों को गरीबों के प्रति, शास्त्रज्ञों को कम-जानकारों के प्रति, सुन्दर-देहवालों का सामान्य-रूपवालों की कुरूपों के प्रति हेयता या तुच्छता की मनोवृत्ति एवं वैसा व्यवहार यदि है, तो इसके अनुसार हम 'जैन-श्रावक' कहे जाने योग्य नहीं हैं।)

10. आपका व्यवहार सभी को अच्छा प्रतीत हो, अर्थात् हम ऐसा कोई व्यवहार ही नहीं करें कि जिससे किसी को पीड़ा पहुँचे।
11. 'शिष्टपक्षी' यानि जो सभ्य/शिष्ट-लोगों/बातों का ही समर्थन करे, कभी भी गलत-बात का समर्थन नहीं करे।
12. 'मिष्टवादी' अर्थात् जो हित-मित-प्रिय-वचन ही बोले। "परवधकार-कठोर-निंद्य नहिं वचन उचारे" की मर्यादा का पालन करता हो।
13. 'दीरघ-विचारी' अर्थात् अच्छी तरह से आगा-पीछा सोचकर ही जो कार्य करे। हड़बड़ी या अविवेकपूर्ण कार्य कदापि नहीं करे।
14. 'विशेषज्ञ' हो अर्थात् हर कार्य के अच्छे एवं बुरे—दोनों पक्षों को जानता हो और तदनुरूप ही आचरण करता हो।
15. 'रसज्ञ' हो अर्थात् अच्छे-संस्कारों एवं तत्त्वज्ञान की चर्चा में ही जिसे अच्छा लगता हो, बुराई एवं विषय-कषाय की चर्चा में जिसकी रुचि ही नहीं हो।
16. 'कृतज्ञ' हो, दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये उपकारों को कभी भी नहीं भुलाये और उनके प्रति कृतज्ञता का भाव रखे। नीतिज्ञों का कहना है कि हर पाप का कोई न कोई प्रायश्चित्त होता है, लेकिन कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त नहीं है, वह अक्षम्य-अपराध की श्रेणी में आता है।
17. जो 'तज्ञ' हो, अर्थात् जैनकुल के अनुरूप सभी शिष्टाचारों व सदाचारों को जानता हो। विचार करें कि आज के शहरियों के घर में कोई सदाचारी-धार्मिक व्यक्ति आ जाये, तो कई लोगों को तो छानकर पानी देना तक नहीं आता है, वे प्लास्टिक की चाय-छन्नी से छानकर पानी दे देते हैं, तो जलगालन की विधि भला उन्हें कैसे पता होगी? बाकी धर्मचर्या के बारे में भी इसीतरह समझ लें।
18. 'धर्मज्ञ' हो अर्थात् किसी भी स्थिति में जिनधर्म का क्या निर्देश है?— उससे परिचित हो व तदनुरूप ही व्यवहार करता हो।
19. जिसके व्यवहार में न तो अपने से कमजोरों के प्रति अभिमान की भावना हो और न ही अपने से अधिक सम्पन्नों के प्रति दीनता का भाव जगता हो। अनुकूल-प्रतिकूल— दोनों स्थितियों में जो समभावी हो व संतुलित-व्यवहार करता हो।
20. जो सहज ही विनयशील हो, शिष्टाचार का दिखावा जिसे नहीं करना पड़ता हो, कि सामने तो प्रशंसा करे और पीठ पीछे बुराई करे।
21. जो पापाचरण से रहित हो। हम प्रक्षाल के पाठ में भी पढ़ते हैं कि "पापाचरण तज न्हवन करता" अर्थात् पापमय-आचरण करनेवालों को तो जिनेन्द्रदेव के बिम्ब को स्पर्श करने या उनकी प्रक्षालन-विधि करने तक का अधिकार नहीं है।

—इन इक्कीस-गुणों से जो रहित है, या ये इक्कीस-गुण जिसमें पूरे नहीं पाये जाते हैं, वह 'श्रावक' संज्ञा का पात्र नहीं है। हम विचार करें कि इनके परिप्रेक्ष्य में हममें से कितने लोग 'श्रावक' कहलाने योग्य हैं?

(ठ) कर्ता-कर्म-मीमांसा— तीसरे 'कर्ता-कर्म-अधिकार' में इस संबंध में आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य अमृतचंद्र सूरि का अनुसरण तो किया ही गया है, कई स्थलों पर कविवर पं. बनारसीदास जी ने अपनी मौलिक-विवेचना भी की है। जैसे कि—

कुंभकार के माध्यम से मिथ्यादृष्टि-जीव के कर्तापने की सिद्धि

"ज्यों माटी में कलस होन की सकति रहे ध्रुव। दंड-चक्र चीवर-कुलाल, बाहिज-निमित्त हुव।।
त्यो पुदगल-परवानु-पुंज वरगना-भेष धरि। ग्यानावरनादिक रूप, विचरंत विविध परि।।"

"बाहिज-निमित्त बहिहात्मा, गहि संसै अग्यानमति।

जगमाहि अहंकृत-भावसौं, करमरूप ह्वै परिनमति।। 24।।"

इसमें पर-कर्तृत्व का निषेध कुम्हार और घड़े के सरल-दृष्टान्त-पूर्वक किया गया है। साथ ही निमित्त-नैमित्तिक एवं उपादान-उपादेय-सम्बन्धों की भी समीचीन-व्याख्या की गयी है। कर्ता-कर्म-सम्बन्ध के साथ-साथ जीव और पौद्गलिक-कर्मों के बंध-विधान के मूल में भी यही कर्ता-कर्म-विषयक अज्ञानभाव ही काम कर रहा है, यह बात दूसरे पद्य में स्पष्ट की गयी है।

3. धार्मिक-समीक्षा— सामान्यतः लोगों को धर्म और दर्शन में तात्त्विकरूप से अन्तर ही पता नहीं होता है, इसलिये वे सब कुछ मिश्रितरूप में बात करते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति यह है, कि ये दोनों निकटतः सम्बद्ध होते हुये भी मौलिकरूप से भिन्न-भिन्न होते हैं। इसीलिये यहाँ धार्मिक-बिन्दुओं की दार्शनिक-विषयों से अलग-पहिचानपूर्वक प्रस्तुति की जा रही है।

दार्शनिक-विषय जहाँ विचार-प्रधान होते हैं, वहीं धार्मिक-विषय आचार-प्रधान होते हैं। 'नाटक-समयसार' में आगत धार्मिक-विवेचनों की समीक्षा निम्नानुसार प्रस्तुत है —

(क) जिन-प्रतिमा-महिमा— गुणस्थान-अधिकार में पहले पद्य में देखिये—

"जिन-प्रतिमा जिन-सारिखी, नमै बनारसि ताहि।

जिन-प्रतिमा जन-दोष निकंदै। सीस-नमाइ बनारसि बंदै।। 4।।

जो जिन-प्रतिमा को नवदेवों में कल्पित बताकर उनकी पूज्यता सन्दिग्ध बता रहे हैं, उन्हें कविवर पं. बनारसीदास जी के इस विषय में स्पष्ट-मन्तव्य को (जो कि जिनाम्नाय का ही मन्तव्य है) असन्दिग्धरूप से समझ लेना चाहिये कि जिनाम्नाय में जिन-प्रतिमा या जिनबिम्ब की पूज्यता एवं आध्यात्मिक-प्रभाव किसतरह माना गया है। और इसका विरोध जिनशासन का विरोध है तथा देव के अवर्णवाद का ही एक-रूप है।

(ख) जिनबिम्ब के मर्मज्ञों की पहिचान— वहीं पर यह छंद देखिये—

"जाके उर-अंतर सुद्रिष्टि की लहर लसी, विनसी-मिथ्यात मोहनिद्राकी ममारखी।

सैली जिनशासन की फैली जाके घट भयौ, गरबकौ-त्यागी षट-दरब कौ पारखी।।

आगमकै अच्छर परे हैं जाके श्रवनमैं, हिरदै-भंडार मैं समानी वानी-आरखी।

कहत बनारसि अल्प-भवथिति जाकी, सोई जिन-प्रतिमा प्रवानै जिन-सारिखी।। 3।।

उपर्युक्त विषय को ही और अधिक बहुआयामी-तरीके से स्पष्ट करते हुये कविवर पं. बनारसीदास जी इस पद्य में दो-टूक शब्दों में कहते हैं कि —

1. जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन की प्रकटता एवं मिथ्यात्व का विनाश हुआ है,
2. जिनशासन की शैली जिसे भलीभाँति समझ में आयी है,
3. जिसके हृदय से दुरभिमान-रूपी अंधकार नष्ट हुआ है,
4. छह-द्रव्यों की परख अर्थात् जिनोपदिष्ट-वस्तु-व्यवस्था जिसे अच्छी तरह से समझ में आ गयी है,
5. जिसके कानों में जिनागम की अनुश्रुति हुई है,
6. जिसके हृदय में जिनेन्द्रदेव की वाणी दर्पण की तरह सुस्पष्ट हुई है अर्थात् जिनवचनों में जिसे तनिक भी सन्देह नहीं है,
7. जिसकी संसार-सागर में स्थिति अत्यन्त-अल्प रह गयी है अर्थात् जो आसन्न-भव्य है; वही जीव

जिन-प्रतिमा को साक्षात् जिनेन्द्र देव के समान प्रमाणित करता है।

यदि जिसे जिनबिम्ब की पूज्यता में और आत्महित में उनकी उपादेयता में तनिक भी सन्देह है अथवा ऐसा प्रतिपादन वह किसी भी लौकिक या निजी-स्वार्थवश करता है, तो उसका सीधा-अभिप्राय यही लेना चाहिये कि उसने उपर्युक्त सातों बातों को अभी तक आत्मसात् नहीं किया है, अर्थात् वह जीव स्पष्टरूप से मिथ्यादृष्टि व दीर्घ-संसारी है।

(घ) अभक्ष्यों का विवेचन— गुणस्थान-अधिकार में ही यह विवेचन द्रष्टव्य है—

"ओरा घोरबरा निसिभोजन, बहुबीजा बैंगन संधान।

पीपर बर ऊमर कठूबर, पाकर, जो फल होइ अजान॥

कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।

फल अति-तुच्छ तुसार चलित-रस, जिनमत ए बाईस-अखान॥ 55॥"

इन अभक्ष्यों में से कुछ से तो हम परिचित हैं और उनसे यथाशक्ति बचते भी हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें हम अभक्ष्य के रूप में न तो स्वरूप से जानते हैं और न ही उनके अभक्ष्य कहे जाने का कारण ही जानते हैं। जैसे कि अतितुच्छ-फल, तुषार यानि बर्फ, चलितरस, मिट्टी, कठूबर (कटहल) आदि। इनके बारे में परिचित होने के लिये यह वर्णन उपयोगी है।

(ङ) सप्त-व्यसनों का आध्यात्मिक-पक्ष— 'साध्य-साधक-द्वार' में आगत यह विषय मननीय है—

"जूवा-आमिष-मदिरा-दारी। आखेटक-चोरी-परनारी॥

एई सात-विसन दुखदाई। दुरित-मूल दुरगति के भाई॥ 27॥

दरवित ये सातों-विसन, दुराचार-दुःखधाम।

भावित अंतर-कल्पना, मृषा-मोह परिनाम॥ 28॥

अशुभमैं हारि शुभमैं जीति यहै द्यूत-कर्म, देह की मगनताई यहै मांस-भखिबौ।

मोह की गहलसौं अजान यहै सुरापान, कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिबौ॥

निरदै है प्रानघात करवौ यहै सिकार, परनारी-संग परबुद्धिकौ परखिबौ।

प्यारसौं पराई-सौंज गहिवे की चाह चोरी, एई सातों-विसन विडारैं ब्रह्म लखिबौ॥ 29॥

आज के वातावरण में सबसे बड़ी-बिडम्बना यह बन गयी है कि जो सप्तव्यसन पहले आचरण के कलंक माने जाते थे, इसीलिये छुपकर नजरें चुराकर लोग करते थे; आज वे ही स्तर की पहिचान (स्टेटस-सिंबल) बन गये हैं, इसीलिये अब जैनी लोग तक इन्हें छुपकर नहीं, बल्कि सबके सामने ससम्मान करने लगे हैं। यह तो बात द्रव्य-व्यसनो की है। बनारसीदास जी ने यहाँ इन सप्तव्यसनो के जिन भावनात्मक-रूपों की चर्चा की है, उनका सेवन तो वाकई अधिकांश लोग, यहाँ तक कि पंडितजन भी सगर्व करते हैं। जैसे कि पुण्योदय की अनुकूलताओं में अपनी जीत मानना कि "मैंने कितनी समझदारी से सब किया," और पापकर्म के उदय में अपनी हार मानना कि "मैं क्या कर सकता हूँ, कर्मोदय के आगे किसकी चलती है?" तथा "परनारी-संग परबुद्धि को परखिबौ" के तो विशेषज्ञ ही कुछ पंडितजन होते हैं। अधिक क्या कहूँ, समझदार को इशारा ही बहुत है। ग्रन्थ में प्रकरण में इनका अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है। अतः यहाँ संकेतमात्र करके विराम लेता हूँ।

(च) धर्मी-जीव की अनिवार्य-चर्या/पहिचान— इसी अधिकार में यह महत्त्वपूर्ण-प्रतिपादन भी है—

"कृपा-प्रसम-संवेग-दम, अस्तिभाव-वैराग्य।

ये लच्छन जाकै हियै, सप्त-व्यसनकौ त्याग॥ 26॥

क्या हम अपनी समीक्षा इन सात-लक्षणों के आधार पर करने को तैयार हैं? क्या हम आत्म-निरीक्षण करने

के लिये सहमत हैं कि ये सात-गुण हमारे व्यक्तित्व एवं जीवन के अभिन्न-अंग बन सके हैं या नहीं?

मुनिराजों के सम्बन्ध में दिशानिर्देश— इसीप्रकार के कई विषयों के अनुरूप अनेकों प्ररूपण इस ग्रन्थ में आये हैं, जैसे कि 'गुणस्थान-अधिकार' में (79-89) मुनिवरों के अट्टाईस-मूलगुणों आदि का वर्णन भी मुनिधर्म का धार्मिक-पक्ष ही है। किन्तु बनारसीदास जी ने जो 'स्थविरकल्पी' और 'जिनकल्पी' साधुओं का धार्मिक-स्वरूप दिया है, वह मननीय है—

"थविर-कलपि जिन-कलपि दुविधि मुनि, दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु हैं।
दोऊ अट्टाईस मूलगुन के धरैया दोऊ, सरव-त्यागी ह्वै विरागता गहतु हैं॥
थविर-कलपि ते जिनके शिष्य साखा होइ, बैठिकै सभामैं धर्मदेसना कहतु हैं।
एकाकी सहज जिनकलपि तपस्वी घोर, उदै की मरोरसौं परीसह सहतु हैं॥ 84॥

नानाविधि संकट-दसा,सहि साधै सिवपंथ।

थविरकल्पि-जिनकल्पि धर, दोऊ सम-निरग्रंथ॥ 90॥

जो मुनि-संगतिमैं रहैं, थविरकल्पि सो जान।

एकाकी जाकी दसा, सो जिनकल्पि बखान॥ 91॥

इसके अनुसार स्वच्छन्दता से रहित निर्दोष-मुनिचर्यावाले एकलविहारी-मुनिराज को 'जिनकल्पी' कहा गया है। जबकि आज के एकलविहारी मुनिपद-धारक तो स्वच्छन्दता एवं निरंकुश-वृत्ति के निदर्शन हैं। जबकि जो इसमें 'स्थविरकल्पी' कहे गये हैं, वे संघ में अन्य मुनिराजों के सान्निध्य में रहते हों तथा निर्दोष-मुनिधर्म का पालन करते हैं। किन्तु आजकल बहुत से संघ तो शिथिलाचार के नये प्रतिमान बना रहे हैं। बल्कि यह कह सकते हैं कि कुछ शिथिलाचारी-मुनि मिलकर अपने अलग-संघ बना रहे हैं। इस बिडम्बना को देखते हुये कहा जा सकता है कि आज न तो 'स्थविरकल्पी-मुनि' हैं और न ही 'जिनकल्पी-मुनि'। और जब मुनियों के दोनों वर्गों में नहीं हैं, तो इनकी वास्तविकता क्या है? आप स्वयं विचार कर सकते हैं।

कविवर पं. बनारसीदास जी ने इस 'नाटक-समयसार' नामक ग्रन्थ में दार्शनिक-विषयों पर अनेकों स्थलों पर तो जिनागम में प्रतिपादित-तथ्यों को ही स्पष्ट किया है, तथा कई स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ उपलब्ध-पूर्वागम-परम्परा में तो वैसा विवेचन ज्यों का त्यों नहीं मिलता है; परन्तु मूल-अभिप्राय से भिन्न न होकर मूलाम्नाय का पोषक ही होने से उन प्रतिपादनों की महत्ता स्वतः ज्ञापित होती है। ऐसे प्रतिपादनों में से सांकेतिकरूप में कुछ ही विषयों का परिग्रहण यहाँ किया गया है; क्योंकि सर्वांगीण-समीक्षण के लिये तो चार-पाँच सौ पृष्ठों के विस्तृत शोध-प्रबन्ध के निर्माण की अपेक्षा होगी। प्रास्ताविक-निबन्ध में उन सबका समावेश एवं समीक्षण संभव ही नहीं है। अतः इस विवेचन को यहाँ विराम देते हुये शेष-बिन्दुओं पर संक्षिप्त-विवेचन करना अपेक्षित समझता हूँ।

4. साहित्यिक-समीक्षा— इस ग्रन्थ का साहित्य-शास्त्रीय-स्वरूप दृश्य-श्रव्य-काव्य-विधा के अन्तर्गत 'नाटक' का माना गया है, क्योंकि 'समयसार' जी ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र सूरि जी ने इसकी टीका एक आध्यात्मिक-नाटक के रूप में ही की थी। तदनुसार ही कविवर पं. बनारसीदास जी ने इस कृति को 'नाटक' संज्ञा दी है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव-पदार्थ ही अभिनय करनेवाले पात्र हैं। भावों का नाटकीय-शैली में चित्रण करने के कारण ही इसके साथ 'नाटक' शब्द जोड़ा गया है। और 'समयसार' शब्द 'आत्मा' यानि स्वयं के लिये है, इसप्रकार इस कृति का नाम 'समयसार नाटक' किसीरूप में सार्थक है। यद्यपि कविवर बनारसीदास जी पर शोधकार्य करनेवाले विद्वान् डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन, चेन्नई ने अपनी शोधकृति 'कविवर बनारसीदास : जीवनी और कृतित्व' में इसके महाकाव्य रूप होने की संभावना व्यक्त की है। किन्तु 'समयसार कलश' के कर्ता आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने इसे 'नाटक' ही कहा है और उसी के अनुरूप इसकी

व्याख्या की है। तथा इस ग्रन्थ के प्रणेता कविवर पं. बनारसीदास जी ने भी इसे 'नाटक-समयसार' ही कहा है। इसलिये इसके महाकाव्यत्व की बात कहीं से भी समर्थित होती प्रतीत नहीं होती है। इसके आध्यात्मिक-नाटकत्व को ही इसका साहित्यशास्त्रीय-स्वरूप स्वीकार करते हुये मैं इस विषय में विशेष ऊहापोह किये बिना इसरी साहित्यिक समीक्षा संक्षेपतः यहाँ प्रस्तुत करूँगा।

इसकी 'साहित्यिक-समीक्षा' के अन्तर्गत मैं यहाँ छन्दों, रसों, रीतियों एवं अलंकारों का ही मुख्यतः वर्णन करूँगा। अन्य साहित्यिक-विषयों के बारे में विस्तारभय से मौन रहूँगा। अतः इन्हीं चार-बिन्दुओं को केन्द्रित करके नाटक-समयसार की संक्षिप्त साहित्यिक-समीक्षा यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

(क) छंदों के प्रयोग की दृष्टि से समीक्षा— छन्दों के प्रयोग की दो दृष्टियाँ होती हैं। पहली यह कि कवि को जितने छन्दों में महारत हासिल है, उनका प्रयोग करके छन्दो-वैविध्य का प्रदर्शन किया जाये। और दूसरा यह कि छन्दःशास्त्रीय-दृष्टि से जहाँ जिस वर्ण्य-विषय के अनुरूप जैसे छन्द के प्रयोग का विधान साहित्य-शास्त्रियों ने किये हैं, उनके अनुसार ही छन्दों का प्रयोग किया जाये।

तो समग्रतः सूचनार्थ कविवर पं. बनारसीदास जी ने इस नाटक-समयसार नामक कृति में कुल 9 प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें 1 छन्द (कुंडलिया) 'वार्णिक-छन्द' है और शेष 8 छन्द 'मात्रिक-छन्द' हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है —

इस ग्रंथ में 310 दोहे-सोरठा, 245 सवैया इकतीसा, 86 चौपाई, 37 सवैया तेईसा, 20 छप्पय, 18 कवित्त, 7 अडिल्ल और 4 कुंडलियाँ हैं। कुल मिलाकर 727 छंद हैं। **किन्तु श्लोक-प्रमाण के अनुसार इन्हीं का कुल-परिमाण 1707 श्लोक-प्रमाण होता है।**

इन छन्दों के प्रयोग को मैं यादृच्छिक अर्थात् कवि ने जब जैसा मन किया, तब वैसे छन्द का प्रयोग कर दिया— यह तो नहीं कह सकता हूँ, क्योंकि कविवर पं. बनारसीदास जी कवित्व के प्रगल्भ-मनीषी थे। किन्तु साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्थों में विशिष्ट-छंद के प्रयोग के लिये जैसी विशिष्ट-भावभूमि एवं रस का विधान किया है, वैसी परिस्थितियाँ यहाँ स्थूलरूप में दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, क्योंकि शृंगारादि-रसों का यहाँ प्रयोग है नहीं। विषय की गरिमा के अनुरूप मात्र शांतरस का ही प्रसार अधिकांशतः दिखाई देता है। और मात्र शांतरस में ही ये सारे छंद विहित किये गये हों— ऐसी साहित्य-शास्त्रियों की धारणा प्रतीत नहीं होती है।

(ख) रसों के प्रयोग की दृष्टि से समीक्षा— रस को काव्य की आत्मा माना गया है, अतः यह तो संभव ही नहीं है कि काव्य का सृजन हो और रस का प्रयोग न किया जाये। तथापि लोगों को रस के नाम पर विशेष-प्रिय शृंगार-रस के रूपों का प्रयोग इसमें कदाचित् किसी प्रसंग-विशेष को छोड़कर कहीं भी नहीं मिलता है; क्योंकि यह कृति अध्यात्म, तत्त्वज्ञान एवं दर्शन पर केन्द्रित है। इसीलिये इस पर कविवर अश्वघोष की यह उक्ति सटीकरूप से घटित होती है **इत्येषा व्युपशान्तये न रतये, मोक्षार्थगर्भा कृतिः**। इसीलिये 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ के लिये अनुकूल 'शान्त-रस' का ही इसमें मुख्यतः प्रयोग कवि ने किया है।

सप्तम-भय, अट्टम-रस अद्भुत, नवमो-शांत रसनिकौ नायक।

ए नव-रस ई नव-नाटक, जो जहं मगन सोइ तिहि लायक॥ 133॥

सोभामैं सिंगार बसै, वीर पुरुषारथमैं, कोमल हिमैं करुना-रस बखानिये।

आनंद में हास्य, रुंड-मुंडमैं विराजै रुद्र, वीभत्स तहाँ जहाँ ग्लानि मन आनिये॥

चिंतामैं भयानक, अथाहता में अद्भुत, माया की अरुचि तामैं सांत-रस मानिये।

ई नवरस भवरूप, ई भावरूप, इनिकौ विलेछिन सुद्रिष्टि जागैं जानिये॥ 134॥

इसमे प्रसंगवश वीर-रस, हास्य-रस, रौद्र-रस आदि के भी प्रयोग इसमें दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे कि—

बीभत्स-रस—

"रेत-कीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसान-कीसी, अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैलकी।
ऊपर चमक-दमक पट-भूसनकी, धोखे लागै भली जैसी कली है कनैलकी॥
औगुनकी औंडी महा-भौंडी मोहकी कनौडी, मायाकी मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं, ह्वै रही हमारी मति कोल्हू-केसे बैलकी॥
"ठौर-ठौर रक्तके कुंड केसनिके झुंड, हाड़निसौं भरी जैसैं थरी है चुरैलकी।
नैकुसे धकाके लगे आसै फचि जाये मानौ, कागदकी पूरी किधौं चादरि है चैलकी॥
"जैसे नाक सिनकी... नरक की साई है.... माखनिके चूटत मिठाई जैसे भिनकी"

(बंधद्वार, 40, 41, 44)

करुण-रस —

"पाटी बांधी लोचनिसौं सकुतै दबोचनिसौं, कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
धायबो ही धंधा अरु कंधा-माहिं लग्यो जोत, बार-बार आर सहै कायर है मनकौ॥
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनकौ त्रास सहै, थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल, तैसोई सुभाव या जगतवासी जनकौ॥"

(बंधद्वार, 42)

वीर-रस—

"जैसे कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान, खोदि मूल वृच्छकौ उखारै गहि बाहूसौं॥"

(बंधद्वार, 58)

"भेदग्यान-आरासौं दुफारा करै ग्यानी-जीव, आतम-करम-धारा भिन्न-भिन्न चरचै।
अनुभौ-अभ्यास लहै परम-धरम गहै, करम-भरमकौ खजानौ खोलि खरचै॥"

(मोक्षद्वार, 2)

जेते जगवासी जीव थावर-जंगमरूप, तेते निज-बस करि राखे बल तोरिकैं।
महाअभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध-जोधा, रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ मोरिकैं॥
आयौ तिहि थानक अचानक परम-धाम, 'ग्यान' नाम सुभट सवायौ बल फोरिकैं।
आस्रव पछारयौ रन-थंभ तोरि डारयौ ताहि, निरखि बनारसी नमत कर-जोरिकैं॥

—(आस्रव-द्वार छंद नं, 2)

(ग) रीतियों के प्रयोग की दृष्टि से समीक्षा— यद्यपि हिन्दी के कवियों ने दीर्घ-समासान्त-पदावलियों का प्रयोग बहुत कम किया है, उनमें भी दार्शनिक-कृतियों में तो यह और भी कम मिलता है। इसलिये 'समास-बहुला' गौडी-रीति का प्रयोग इसमें बहुत ही कम देखने को मिलता है। 'समास-मध्यमा' पांचाली-रीति का प्रयोग भी अपेक्षाकृत कम ही है, क्योंकि बात को सीधे व सरल-शब्दों में कहने का उद्देश्य कवि का था। इसी कारण 'समास-न्यूना' वैदर्भी-रीति की ही छटा इस ग्रन्थ में अधिकांशतः मिलती है।

गौडी-रीति का उदाहरण—

"परमत-जलधर-पवन, सकल-घन-सम-तन-समकर।

पर-अघ-रजहर जलद, सकल-जन-नत भव-भय-हर॥" —(मंगलाचरण, पद्य 2)

पाञ्चाली-रीति का उदाहरण—

"ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रत्नाकर विराग-रस भर्यौ है॥"

—(मंगलाचरण, पद्य 5)

वैदर्भी-रीति का उदाहरण—

"अविनासी अविकार परमरस-धाम हैं, समाधान सरवंग सहज-अभिराम हैं।
सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध अनादि-अनंत हैं, जगत-सिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं॥"

—(मंगलाचरण, पद्य 4)

"भेदविग्यान जग्यौ जिन्हके घट, सीतल चित्त भयौ जिमि चंदन।

केलि करै सिवमारग में, जगमाहिं जिनेसुर के लघुनंदन॥" —(वही, पद्य 6)

5. सांस्कृतिक-समीक्षा

समसामयिक-युग के लोकजीवन को अतिरंजित करनेवाले चरित्रों, घटनाओं एवं लोकरूढ़ियों से कोई भी साहित्य या साहित्यकार पूरीतरह से अछूता नहीं रह सकता है। भले ही वह उससे भले ही निजी तौर पर प्रभावित या सहमत न रहा हो। किंतु समसामयिक संस्कृति की झलक उसमें किसी न किसी रूप में बरबस ही अंकित हो जाती है। कविवर पं. बनारसीदास जी एवं उनकी अमर-कृति नाटक-समयसार भी इसका अपवाद नहीं है।

जब नाटक-समयसार जी का रचना हुई, तब तक कविवर पं. बनारसीदास जी पूर्णतः व्यवस्थित मानसिकता में आ चुके थे और उनके जीवन के पूर्वाद्ध की उथल-पुथल पूरीतरह शांत हो चुकी थी। उनके चिंतन की प्रौढ़ि एवं व्यक्तित्व की गरिमा इतनी बढ़ चुकी थी कि स्वयं तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ उनके साथ ससम्मान मित्रभाव रखते हुये शतरंज खेलने उन्हें निमंत्रित करते थे। जैनसमाज में भी उनकी विद्वत्ता की गरिमापूर्ण-पहिचान स्थापित हो चुकी थी। अतः नाटक-समयसार में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक-तत्त्व उनकी गम्भीर-मानसिकता के अनुरूप हैं। ऐसे कुछ सांस्कृतिक-तथ्यों का संतुलित समीक्षात्मक-विवेचन संक्षेपतः यहाँ प्रस्तुत है।

1. स्थानीय ब्रज-संस्कृति का प्रभाव— यद्यपि कविवर पं. बनारसीदास जी नाटक-समयसार जी की रचना के समय स्थिरमति जिनधर्म-श्रद्धानी बन चुके थे और वैदिक-परम्परा-मान्य नारायण श्रीकृष्ण एवं राधा के जीवनचरित्र पर उनकी दार्शनिक या धार्मिक आस्था कदापि नहीं थी। फिर भी नाटक-समयसार जी में अनेकत्र राधा की सच्चरित्रता की जैसी आदर्श-प्रस्तुति हुई है, वह पाठकों को विस्मित करने के लिये पर्याप्त है। विशेषतः 'सर्वविशुद्धि-द्वार' में ऐसे अनेकों पद्य हैं, जिनमें कविवर राधा के व्यक्तित्व एवं चरित्र से प्रभावित प्रतीत होते हैं और उसे अनुकरणीय-आदर्श के रूप में महिमामंडित करते हैं। इतना ही नहीं, वे कृष्ण के जीवन में खलनायिका के रूप में आयी कुब्जा के चरित्र की भी दुश्चरित्र-पात्र के रूप में भरपूर भर्त्सना करते हैं। एक ही उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि के लिये पर्याप्त है—

कुबजा कारी-कूबरी, करै जगतमैं खेद।

अलख जगावै राधिका, जानै निज-पर-भेद॥ 73॥

दुरमति-कुबिजा करम कमावै, सुमति-राधिका राम रमावै॥ 72॥

जाकै उर कुबिजा बसै, सोई अलख-अजान।

जाकै हृदय राधिका, सो बुध-सम्यग्ज्ञान॥ 81॥

यद्यपि यह नामकरण तक ही सीमित है, अर्थात् उन्होंने कुब्जा एवं राधिका/राधा नामक चरित्रों के नाम ही लिये हैं, उनके कथानक या जीवन के घटनाक्रमों को कहीं भी ग्रहण नहीं किया है। आध्यात्मिक-प्रतीकों के रूप में इन नामों का उपयोग हुआ है, जिनमें कुब्जा को दुर्बुद्धि का एवं राधिका को सुबुद्धि का प्रतीक मानकर इनकी निंदा-स्तुति की गयी है। रोचक-तथ्य तो यह है कि युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव के कालजयी-ग्रन्थ 'समयसार' जी में भी शुद्धात्म-स्वरूप को 'राध/राधा' के रूप में प्ररूपित किया गया है—

संसिद्धि-राध-सिद्धि, साधियमाराधियं च एयदुं।

अवगदराधो जो खलु, चेदा सो हवदि अवराधो॥

इसमें निज-शुद्धात्मारूपी राध/राधा के साधक को 'साराध', एवं उसे भुलाकर परपदार्थों में रमनेवाली बुद्धि को 'अपराध/अपराधी' कहा गया है।

इसीप्रकार शुद्धात्मस्वरूप को ब्रह्म एवं उसकी अनुभूति को ब्रह्म की उपासना/अनुभूति जिनाम्नाय के ग्रन्थों में अनेकत्र कहा गया है। कविवर पं. बनारसीदास जी ने नाटक-समयसार जी में भी ऐसे प्रयोग अनेकत्र किये हैं।

2. कविवर स्वयं शतरंज के अच्छे खिलाड़ी थे— यह बात मैं ऊपर बता ही चुका हूँ। इस खेल का दृष्टान्तरूप में उल्लेख नाटक-समयसार जी में भी है—

जैसे नर खिलार-सतरंज कौ, समुझै सब सतरंजकी घात।
चलै चाल निरखै दोऊ-दल, मौहरा गिनै विचार मात॥
तैसे साधु निपुन-सिवपथ मैं, लच्छन-लखै तजै-उतपात।
साधै-गुन चिंतवै-अभयपद, यह सुविवेक-चक्रकी बात॥ 79॥

इसीप्रकार चौपड़ के खेल को भी कविवर ने उल्लिखित किया है—

जैसे नर खिलार चौपरि कौ, लाभ विचारि करै चित-चाउ।
धरै संवारि सारि बुधि-बलसौं, पासा जो कछु परै सु दाउ॥
तैसे जगत्-जीव स्वारथकौ, करि उद्दिम चिंतवै उपाउ।
लिख्यौ ललाट होई सोई फल, करम-चक्रकौ यही सुभाऊ॥ 78॥

नाट्यविधि में प्रयुक्त होने वाले रंगमंच, नट-नटी आदि का तो इस ग्रन्थ में अनेकत्र भरपूर-उपयोग किया गया है। इसका एक कारण इस ग्रन्थ की परिकल्पना 'नाटक' के रूप में किया जाना भी है और दृष्टान्तरूप में भी इनके अनेकत्र उल्लेख मिलते हैं। मोक्ष-द्वार के इस पद्य को संकेतरूप में ले सकते हैं—

ज्यों नट एक धरै बहु-भेख, कला प्रगटै बहु-कौतुक देखै।
आपु लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न-विलोकत भेखै॥
त्यों घट में नट चेतन-राव, विभाउ-दसा धरि रूप विसेखै।
खोलि-सुदृष्टि लखैं अपनों पद, दुंद-विचारि दसा नहि लेखै॥ 14॥

इसीप्रकार वे 'आस्रव-द्वार' में बाजीगर एवं भगलविद्या की भी दृष्टान्त के रूप में सक्षम-प्रस्तुति करते हैं—

जैसे काहू बाजीगर चौहटे बजाइ ढोल, नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसे मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं, भरम में धाड़ बहु काय-निज मानी है॥
अब ग्यानकला-जागी भरम की दृष्टि भागी, अपनी-पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै होत परवांन ऐसो भांति भई, निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है॥ 28॥

लौकिक-आजीविकाओं का जितना संपर्क कविवर का रहा, उनकी भी झलक विविध-प्रसंगों में मिलती है।

जैसे कि 'संवर-द्वार' में 'रजसोधा' का दृष्टान्त इस विषय में उनके पुष्ट-ज्ञान का परिचायक है—

जैसे रज-सोधा रज सोधिकैं दरब काढैं, पावक कनक-काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंक के गरभ में ज्यों डारिये कतक-फल, नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढै जैसे माखनकौं, राजहंस जैसे दूध पीवैं त्यागि जलकौं।
तैसे ग्यानवंत भेदग्यान की सकति साधि, वेदै निज-संपति उछेदै पर-दलकौं॥ 10॥

'रंगरेज' के कलाकौशल की भी उन्होंने प्रभावी-प्रस्तुति निर्जरा-द्वार के इस पद्य में की है—

जैसे फिटकड़ी लौद हरड़े की पुट बिना, स्वेत-वस्त्र डारिये मजीठ-रंग नीर में।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल, भेदै नहि अंतर-सुफेदी रहै चीर मैं॥

तैसे समकितवंत राग-द्वेष-मोह बिनु, रहै निशि-वासर परिग्रह की भीर में।

पूरब-करम हरै, नूतन न बंध करै, जाचै न जगत-सुख राचै न शरीर में॥ 34॥

इसी में कविवर ने शाही-शयनागार की विशेषताओं का भी विशेषज्ञ की तरह चित्रण उदाहरणार्थ करते हुये लिखा है—

काया-चित्रसारी में करम-परजंक भारी, माया की संवारी सेज चादरि-कलपना।

सैन करै चेतन अचेतनता-नींद लिये, मोह की मरोर यहै लोचन कौ ढपना॥

उदै-बल जोर यहै स्वासकौ सबद-घोर, विषै-सुख-कारज की दौर यहै सपना।

ऐसी मूढ़-दसामैं मगन रहै तिहूँ-काल, धावै भ्रमजाल में न पावैं रूप अपना॥ 14॥

चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी, इहां झूठी मेरी थपना।

अतीत-अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ पै, न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना॥

स्वास औ सुपन दोऊ निद्रा की अलंग बूझै। सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।

त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना॥ 15॥

इसीप्रकार मोक्ष-द्वार में सुनार का दृष्टान्त इस व्यवसाय पर उनकी गहरी-पकड़ को ज्ञापित करता है—

ज्यौं कलधौत सुनार की संगति, 'भूषण' नाम कहै सब कोई।

कंचनता न मिटी तिहि-हेतु, वहै फिरि औटिकै कंचन होई॥

त्यों यह जीव अजीव-संजोग, भयौ बहुरूप भयौ नहिं दोई।

चेतनता न गई कबहुं, तिहि-कारन 'ब्रह्म' कहावत सोई॥ 12॥

'साध्य-साधक-द्वार' में लोकप्रचलित चक्रवर्ती के चौदह-रत्नों की महिमा आध्यात्मिक रूप में निम्नानुसार की है—

लक्ष्मी-सुबुद्धि अनुभूति-कउस्तुभ-मनि, वैराग-कलपवृच्छ संख-सुवचन है।

ऐरावत-उद्दिम-प्रतीति रंभा उदै-विष, कामधेनु-निर्जरा सुधा-प्रमोदधन है॥

ध्यान-चाप प्रेमरीति-मदिरा विवेक-वैद्य, सुद्धभाव-चन्द्रमा तुरंगरूप-मन है।

चौदह-रतन ये प्रगट होंहि जहां तहां, ग्यान के उदोत घट-सिंधुकौ मथन है॥ 31॥

इसप्रकार हम देख सकते हैं कि तत्कालीन भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों की सक्षम-प्रस्तुति कविवर पं. बनारसीदास जी ने नाटक-समयसार जी में प्रसंगवश अनेकत्र की है।

6. भाषिक-समीक्षा

नाटक-समयसार जी ग्रन्थ तत्कालीन-लोकभाषा में निबद्ध ग्रन्थ है। सामान्य-तौर पर कह सकते हैं कि इसकी भाषा हिन्दी है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इसमें मात्र आज की परिनिष्ठित या साहित्यिक-हिन्दी के ही प्रयोग नहीं हैं, बल्कि आज से चार-पाँच सौ वर्ष पहले की उस हिन्दी के प्रयोग हैं, जो ब्रज-अंचल में उससमय लोकजीवन में प्रचलित थी। किन्तु इसका भाषिक-स्तर साहित्यिक ही है, ग्राम्यता-दोष इसमें परिलक्षित नहीं होता है।

हाँ, इतना अवश्य है कि जब लोकजीवन में प्रचलित-दृष्टान्तों या लोकोक्ति/मुहावरों का वे प्रयोग करते हैं, तो उसमें आंचलिकता की झलक स्पष्ट प्रतिबिंबित होती है।

साथ ही वे तत्कालीन मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के निजी-मित्रों में थे और शाहजहाँ के साथ उनका उठना-बैठना रहता था, इसलिये कहीं-कहीं जहाँ मुगल-दरबार के शिष्टाचार का किसी प्रसंग में संकेत करना चाहा है, वहाँ उर्दूभाषा एवं मुगलिया-सल्तनत के दरबारी-वागव्यवहार की झलक भी मिलती है।

इसीप्रकार वे ब्रज-अंचल के निवासी थे और नाटक-समयसार जी की रचना उन्होंने आगरा-नगर में रहकर

ही की थी, अतः ब्रज-भूमि में व्याप्त लोकधर्म की आदर्श 'राधा' और खलनायिका 'कुब्जा' को उपादान बनाकर उन्होंने सांगरूपक-प्रयोग भी कतिपय-स्थलों पर प्रभावी-ढंग से किये हैं।

साथ ही वे भाषाशास्त्र एवं कोश-कौशल के निष्णात-मनीषी थे, इसलिये उनकी एतत्संबंधी-प्रतिभा के प्रगल्भ-निदर्शन भी इस कृति में अनेकत्र सुशोभित हुये हैं।

वे आजीविका से रत्न-शास्त्र के मर्मज्ञ (जौहरी) एवं सोने के गहनों के व्यापारी रहे थे, इसलिये रत्नों की परख एवं गहनों के निर्माण आदि की प्रविधियों के उल्लेख उन्होंने इस ग्रन्थ में दृष्टान्त-स्वरूप अनेकत्र प्रस्तुत किये हैं।

वह युग युद्ध-कौशल का युग था। आये दिन कहीं न कहीं सत्ता का संघर्ष चलता ही रहता था। अतः स्वयं युद्धविद्या में निपुण-सैनिक नहीं होते हुये भी युद्ध-कौशल के विभिन्न-पक्षों से वे सुपरिचित थे। अतः एतत्संबंधी कई विशेषज्ञ-प्ररूपण उनकी इस कृति में प्रसंगवशात् बरबस आ ही गये हैं।

रस-शास्त्र के तो वे प्रकांड-पंडित ही रहे थे, भले ही 'नाटक-समयसार' जी की रचना के समय तक वे उससे विमुख हो चुके थे; परन्तु तत्संबंधी-ज्ञान को तो उन्होंने तिलांजलि नहीं दे दी थी। इसलिये 'नाटक-समयसार' जी में आगत ऐसे प्रयोग प्रसंगवशात् रसशास्त्र के प्रगल्भ-पंडित के रूप में उनके कथन किसी भी रसशास्त्री को दिशाबोध देने समर्थ हैं।

चूँकि यह ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में जैनदर्शन, उसमें विशेषतः अध्यात्मविद्या का प्रतिनिधि-ग्रन्थ माना जाता है, अतः इसमें इन विषयों की शब्दावली के प्रयोग बनारसीदास जी के कवित्व-गौरव के अनुरूप आने स्वाभाविक ही हैं।

इन सभी वर्गीकृत-बिन्दुओं को लक्षित करते हुये नाटक-समयसार जी में आगत भाषिक-प्रयोगों को समीक्षात्मक-टिप्पण-सहित यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

1. परिनिष्ठित-प्रयोगों की गौरवशाली-प्रस्तुति— यद्यपि ऐसे शब्दों को तत्कालीन वर्ण-परिवर्तनों के साथ ही प्रस्तुत किया गया है, तथापि इनकी संस्कृत-निष्ठता स्पष्ट परिलक्षित होती है। जैसे कि-उसनोदक(उष्णोदक), लौन(लवण), द्रिष्टि(दृष्टि), निसंसै(निःसंशय), ग्यान(ज्ञान), ग्यानी(ज्ञानी), पच्छ(पक्ष), परतच्छ(प्रत्यक्ष), परोच्छ(परोक्ष), विचच्छन(विचक्षण), दुंदज-अवस्था(द्वन्दज-अवस्था) इत्यादि। कुछ प्रयोग सामान्य होते हुये भी लिखने की भिन्नता के कारण विशिष्ट बन गये हैं, यथा— समै(समय), नै(नय), फेरि(फिर), उदै(उदय), विषै(विषय)— इत्यादि।

2. अनेकार्थ-नाममाला सदृश प्रयोग— ऐसे प्रयोगों के निदर्शन 'उत्थानिका' नामक प्रथम-खंड में प्रचुरता से मिलते हैं। इनके माध्यम से कविवर ने विभिन्न वस्तुओं का प्ररूपण किया है। देखिये—

भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व। द्रविन अरथ इत्यादि बहु, 'वस्तु-नाम' ये सर्व॥35॥

परम-पुरुष परमेसुर परम-ज्योति, परब्रह्म पूरन परम-परधान।

अनादि-अनंत अविगत अविनाशी अज, निरदुंद सुकत मुकुंद अमलान है॥

निराबाध निगम निरंजन निरविकार, निराकार संसार-सिरोमनि सुजान है।

सरब-दरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव धनी नाथ ईस जगदीस 'भगवान्' है॥ 36॥

चिदानन्द चेतन अलख जीव समैसार, बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध-उपजोगी है।

चिद्रूप स्वयंभू चिनमूरति धरमवंत, प्रानवंत प्राणी जंतु भूत भवभोगी है॥

गुनधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी, अंगधारी संगधारी जोगधारी जोगी है।

चिन्मय अखंड हंस अक्षर 'आतमराम', करम कौ करतार परम-विजोगी है॥ 37॥

खं विहाय अंबर गगन, अंतरिक्ष जगधाम। व्योम वियत नभ मेघपथ ये 'आकाश' के नाम॥ 38॥

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान। प्रानहरन आदित-तनय, 'काल' नाम परवान॥ 39॥

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग 'शुभकर्म' । सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म ॥ 40 ॥
पाप अधोमुख एन-अध, कंपरोग दुःख धाम । कलिल-कलुस किल्बिष दुरित, 'असुभ-कर्म' के नाम ॥ 41 ॥
सिद्धक्षेत्र त्रिभुवन मुकुट, शिवपथ अविचल थान । मोख मुकति वैकुण्ठ सिव, पंचमगति 'निरवान' ॥ 42 ॥
प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति 'बुद्धि' । सुरति मनीषा चेतना, आशय अंस विशुद्धि ॥ 43 ॥
निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर 'विद्वान्' । पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान ॥ 44 ॥
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत । ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ 'गुनीजन' संत ॥ 45 ॥
मुनि महंत तापस तपी, भिच्छुक चारित धाम । जती तपोधन संयमीव्रती, 'साधु' ऋषि नाम ॥ 46 ॥
दरस विलोकनि देखनौ, अवलोकनि दृगचाल । लखन 'दृष्टि' निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल ॥ 47 ॥
'ज्ञान' बोध अवगम मनन, जगत भान जगजान । संजम 'चारित' आचरन, चरन वृत्ति थिरवान ॥ 48 ॥
सम्यक् 'सत्य' अमोघ सत्, निसंदेह निरधार । ठीक जथारथ 'उचित' तथ, मिथ्या आदि अकार ॥ 49 ॥
अजथारथ 'मिथ्या' मृषा, वृथा असत्त अलीक । मुधा मोघनि फल वितथ 'अनुचित' असत्त अठीक ॥ 50 ॥

3. एकार्थक-शब्दों के प्रयोग— इनमें कहीं संज्ञापद, कहीं विशेषण-पद, कहीं क्रिया-पदों का प्रयोग युगपत् किये गये हैं, जो अद्भुत-सौंदर्य की सृष्टि करते हैं। यथा—

अविनाशी अविकार परमरस-धाम है, समाधान सरवंग सहज-अभिराम है ।
सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध अनादि- अनंत हैं, जगत्-शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं ॥ 4 ॥
ग्यान को उजागर, सहज-सुखसागर, सुगुन-रत्नागर, विराग-रस भरयौ है ।
सरन की रीति हरै, मरन कौ न भै करे, करनसौ पीठि दे, चरन अनुसरयौ है ॥
धरम को मंडन, भरम को विहंडन है, परम नरम ह्वै कै, करम सौ लरयौ है ।
ऐसौ मुनिराज भुव-लोक में विराजमान, निरखि बनारसि नमस्कार करयौ है ॥ 5 ॥

4. क्रियामाला—

समता वंदन थुतिकरन, पड़कौना सज्जाय । काउसग-मुद्राधरन, षडावसिक ये भाव ॥

तथा

नंदन वंदन थुतिकरन श्रवन चिंतवन जाप । पढ़न पढ़ावन उपदिसन बहुविध क्रियाकलाप ॥

5. विशेषणमाला— लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रकीर्तवंत । विसेसग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य ।

6. भाववाची-प्रयोग— करुना वच्छल सुजनता आतम-निंदा पाठ ।

समता भगति विरागता, धरमराग गुन-आठ ॥

7. विशिष्ट-विद्याओं एवं कलाओं के शब्दों के प्रयोग— इन प्रयोगों से हमें न केवल कविवर की इन विषयों की तज्ञता का अवबोध होता है, बल्कि इनके प्रयोगवाची इन शब्दों को आज के नवीन-तकनीकि-प्रधान-युग में हम प्रायः भूल ही चुके हैं। अतः नाटक-समयसार जी के माध्यम से इनका पुनः परिचय हमें एतत्संबंधी-ज्ञान को संजीवनी प्रदान करता है। कतिपय प्रयोग मननीय हैं—

सुनार-कला के प्रयोग—

बनवारी, सराफ, बान के प्रवांन, कसौटी कसिकै, पन्ना के पकायें जैसे कंचन विमल होत इत्यादि ।

नाट्यकला के प्रयोग—

पातुर (नटी/अभिनेत्री), अखारे (रंगमंच पर), आड़ौ पट करिकै, दुहूँ ओर दीवट संवारि पट दूर कीजै— इत्यादि । नाट्यकला के प्रयोगों की आध्यात्मिक प्रस्तुति इस पद्य में दर्शनीय है—

पूर्व-बंध नासै सो तो संगीत-कला प्रकासै, नव-बंध रुंधि ताल-तोरत उछरि कै।
 निसंकित आदि अष्ट-अंग संग सखा जोरि, समता-अलापचारी करै सुर भरि कै॥
 निरजरा-नाद गाजै ध्यान-मिरदंग बाजै, छक्यौ महानंद में समाधि रीझ करि कै।
 सत्ता-रंगभूमि में मुकत भयौ तिहुंकाल, नाचै सुद्धदिष्टि-नट ग्यान-स्वांग धरि कै॥

बाजीगरी के शब्द— बाजीगर, चौहटे बजाइ ढोल, भगलविद्या इत्यादि।

युद्ध-संबंधी प्रयोग— खांडौ कनक-म्यान-संयोग, रनथंभ इत्यादि। एक पद्य में तो पूरा युद्ध का ही रूपक प्रयोग किया गया है। देखिये—

जेते जगवासी-जीव थावर-जंगमरूप, तेते निज-बस करि राखे बल-तोरि कै।

महाअभिमानि ऐसौ आस्रव अगाध-जोधा, रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ-मोरि कै॥

आयौ तिहि-थानक अचानक परम-धाम, ग्यान-नाम सुभट सवायौ-बल फोरि कै।

आस्रव-पछारयौ रन-थंभ तोरि डारयौ ताहि, निरखि बनारसी नमत कर-जोरि कै॥

कुम्हार-कर्म के प्रयोग— माटी (मिट्टी), दंड, चक्र, चीवर, कुलाल, कलस इत्यादि।

खानपान-संबंधी प्रयोग— नाज (अनाज), सुवाद (स्वाद), खारौ (नमकीन), गरास (ग्रास/कौर/निवाला), सिखरनि (श्रीखंड), भच्छत (खाता हुआ) इत्यादि।

शयनागार-संबंधी प्रयोग— चित्रसारी, परजंक (पलंग), सेज (शय्या), चादरि (ओढ़ने की चादर) इत्यादि।

8. मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग— ऐसे प्रयोग भाषा की प्रभावोत्पादकता बढ़ाते हैं और कम शब्दों में ही सटीक-संप्रेषणीयता की समर्थ-प्रस्तुति करते हैं। ऐसे कुछ प्रयोग दर्शनीय हैं—

"प्यार कैसे पूलै हैं (सूखी घास के पुंज जैसे, अर्थात् या तो ज्वलनशील हैं या निरर्थक/निःसार हैं), वयारि कै बधूले हैं (हवा का बवंडर है, सब कुछ बहा/उड़ा ले जानेवाला है), लियै दिढ-पेंचन फिरै लोटन-कबूतर सौं (जैसे कबूतर के पंजों में पतंग का मांझा उलझ जाता है, तो वह उलझकर गोल-गोल गुलाटें खाता या लोटता है), सहत-चपेटी असिधारा सी चटतु है (शहद में लिपटी तलवार की धार को चाटने के समान है), आगे कौ धुकत धाड़ पीछै बकरा चबाई (आगे को रस्सी बटता जाये, पीछै बकरा चबाकर खाता जाये), जैसे कोई कूकर छुधित सूके हाड़ चाबै (जैसे कोई भूखा-कुत्ता सूखी हड्डी चबाता हो), माखिन के चूटत मिठाई जैसे भिनकी (मक्खियों के चाटने से मिठाई को जैसे भिनका/सदोष/गन्दी कहते हैं), साधन अडारी ऐसै जैसे नाक सिनकी (परिग्रह के साधनों का समूह वैसा ही है जैसे छिनकी हुई नाक हो) — इत्यादि।

9. विशिष्ट शाब्दिक प्रयोग— कविवर पं. बनारसीदास जी ने विशिष्ट-शब्दों के प्रयोग भी इस ग्रन्थ में किये हैं, जिनकी सांकेतिक प्रस्तुति इसप्रकार है—

टाबरौ (बालक), साबू (साबुन), मथैया (मथनेवाला), सुछंद (स्वच्छंद), सुपन (स्वप्न), मतवारौ (मतवाला/मदोन्मत्त), आरसी (दर्पण), अरुझी (उलझन), डूँघा (परमात्मा), सूँघा (शुद्ध-रुतिवान), चूँघा (चतुर), घूँघा (महा-अज्ञानी), ऊँघा (दुर्बुद्धि/दुःखी), अजान (अज्ञानी), मूढ़न में मुखिया (मूर्खाधिपति), अहूटै (भरपूर), दाख (द्राक्षा/किसमिस), गार-सी (गाली जैसी), कुलफ की कीली (ताले की चाबी), दानाऊँगी (प्रतापी), खानाजंगी (युद्ध में शूरवीर), ममारखी (मूर्च्छा/ममत्वभाव) इत्यादि।

10. विशिष्ट क्रियाप्रयोग— कविवर पं. बनारसीदास जी ने नाटक-समयसार जी ग्रन्थ में कई मौलिक क्रियापदों का भी प्रयोग किया है, जिनका विशेष-अर्थ है। जैसे कि— **परिनौन (परिणामन करना)**,

अचौन (आचमन करना), विलेखि (अलग करना), पचारि (बुलाना/पुचकारकर कहना), दुफारा करै (दो टुकड़े करना), ऐंचत (खींचने पर), गरुवाई (प्रशंसा करना), चुँघाई करै लालिपालि (अपना दूध पिलाकर लालन-पालन करना), वमि डारै (वमन कर देना), फुरी (स्फुरित हुई), दुरी (छुपी हुई), टोड़कै (टटोलकर/खोजकर) इत्यादि।

इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं उन्होंने एक ही पद्य में विभिन्न-क्रियापदों का लीक से हटकर जीवन्तरूप में प्रयोग किये हैं। उदाहरण के तौर पर यह पद्य देखिये—

बात ही सौ चौंकि उठे, बात ही सौ भौंकि उठे। बात ही सौ नरम होइ, बात ही सौ अकरी॥

11. उर्दू-भाषा के प्रयोग— जैसा कहा जा चुका है कि मुगल-बादशाह की संगति एवं लोकजीवन में उर्दू भाषा के शब्दों का प्रचलन होने से इस ग्रन्थ में भी कहीं-कहीं उनकी झलक मिलती है। देखिये— **ज्ञान-पातशाह को हमारी तसलीम है** अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी-सम्राट् को हमारा सविनय-नमस्कार है, **नूर की निशानी** अर्थात् तेज का चिह्न— इत्यादि।

12. संख्यावाची-शब्दों के प्रयोग— ग्रन्थ के अंत में पद्यों में प्रयुक्त छन्दों का परिमाण बताने के क्रम में संख्यावाची-शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो इसप्रकार है—

तीन सै दसोत्तर (310), पैतालीस (45), इकतीसा (31), छियासी (86), सैंतीस (37), बीस (20), अठारह (18), सात सै सत्ताईस (727), सत्रह सै सात (1707) इत्यादि।

13. दृढ़ता-सूचक विशिष्ट प्रयोग— कविवर पं. बनारसीदास जी ने नाटक-समयसार जी में इसतरह के जीवन्त-प्रयोग भी किये हैं। जैसे कि इस वाक्यांश को देखिये—

नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं, सही है।

14. मौलिक-पारिभाषिक-प्रयोग— कविवर पं. बनारसीदास जी ने नाटक-समयसार जी नामक इस कृति में ऐसे प्रयोग भी अपनी विशिष्ट भाषा-शैली में किये हैं, जो नितान्त-मौलिक हैं। जैसे कि हम सुकवि का यह लक्षण उदाहरण-स्वरूप ले सकते हैं—

छंद-सबद-अच्छर-अरथ कहै सिद्धांत-प्रवांन। जो इहविधि रचना करै, सो है सुकवि सुजान॥

15. आत्मीयतापूर्ण-सम्बोधनों के प्रयोग— कवि ने इस ग्रन्थ में अनेकत्र सम्बोधन-पदों का प्रयोग किया है, किन्तु वे सभी आत्मीयता से भरे हुये हैं। उनमें सर्वाधिक प्रयुक्त-पद दो हैं, एक **भैया!** और दूसरा **स्वामी!**

कविवर पं. बनारसीदास जी ने जिस सुसमृद्ध-परम्परा का उत्तरदायित्व ग्रहण किया था, उसकी गरिमा को युगधर्मिता की आकांक्षाओं को समाहित करते हुये कविवर ने परम्परा का सार्थक-निर्वहन एवं मौलिक-प्रस्तुतियों से श्रीवृद्धि करके एक अत्यन्त गुरुतर-दायित्व का सफलतापूर्वक-निर्वाह इस 'नाटक-समयसार' नामक कृति में किया है। दार्शनिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक एवं साहित्यिक-मूल्यों का समवेतरूप से जितना सफल-निर्वहन इसमें हुआ है, उसकी तुलनीय-कृति का उदाहरण देना कठिन है।

इतनी महती-परम्परा के निर्वाहक कविवर पं. बनारसीदास जी एवं उनकी कालजयी-रचना 'नाटक-समयसार' के विषय में कुछ भी कहने या लिखने में पर्याप्त सावधानी चाहिये। मैंने हरसंभव प्रयास किया है कि कहीं भी उनकी गरिमा एवं मर्यादा का अतिक्रम न हो, फिर भी यदि कोई स्वलन हुआ हो, तो विज्ञों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

— सुदीप कुमार जैन

अपनी बात/आत्म-कथ्य

लगभग तीन वर्ष पहले कुछ साधमीजनों के आत्मीयतापूर्ण-अनुरोध के कारण मैंने एक ग्रुप में प्रतिदिन की स्वाध्याय-चर्चा के निमित्त कविवर पं. बनारसीदास जी की अमर आध्यात्मिक-रचना 'नाटक-समयसार' जी को चुना। इसको चुनने का सबसे प्रमुख-कारण यह था कि "नाटक-समयसार जी के अभी तक प्रकाशित सभी संस्करणों में लगभग एक जैसी ही स्थिति थी। किसी में भी शब्दों के अर्थ भी पूरे नहीं दिये गये थे, इसकारण जो प्राचीन-हिंदी के साहित्यिक शब्दों को नहीं जानते हैं और जैनदर्शन के पारिभाषिक-शब्दों का विशेष-ज्ञान जिन्हें नहीं है, वे उन शब्दों का पूरा सरल-अर्थ नहीं जान पाते थे। इसकारण वे इसका स्वाध्याय स्वतंत्ररूप से नहीं कर पाते थे। साथ ही उनमें जो 'भावार्थ' शीर्षक से टीका या स्पष्टीकरण दिया गया है, वह भी बहुत अधूरा था ; कुछ विषयों पर मौनसाधन किया गया था। इसकारण जिज्ञासुओं को उन विषयों के बारे में कोई समाधान नहीं मिल पाता था।"

तब मैंने विचार किया कि "क्या मैं इस कमी को पूरा कर सकती हूँ? पहले तो मन में कुछ चिंता हुई कि इतने वर्षों में इतनी संस्थाओं से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है, जब इतने विद्वान् इसमें कुछ सुधार नहीं कर पाये, तो मैं कैसे कर सकूँगी? मैं तो कोई शास्त्री विद्वान् भी नहीं हूँ।" फिर मुझे विचार आया कि "मैंने हिंदी-साहित्य से एम. ए. किया है। उस समय मैंने प्राचीन हिंदी के साहित्यकारों के अनेकविध-ग्रन्थों व रचनाओं को पढ़ा व समझा था। तब मुझे कोई विशेष परेशानी नहीं हुई थी। अतः शायद भाषिक व साहित्यिक-स्तरों पर मुझे कोई बड़ी-असुविधा का अनुभव नहीं होना चाहिये।"

इस विचार ने मेरा हौसला बढ़ाया और मैंने इसके कुछ छन्द पढ़े। मुझे वास्तव में कोई विशेष-असुविधा का अनुभव नहीं हुआ। तब मैंने अपने आपको इसका अनुवाद करने में समर्थ पाया और इसका अनुवाद करना शुरू किया। कहीं कोई परेशानी प्रतीत होती, तो कोशग्रन्थों की मदद लेती थी, क्योंकि मेरे घर पर मेरे पतिदेव ने एक स्तरीय पुस्तकालय बना रखा है, जिसमें लगभग 7000 पुस्तकों व ग्रन्थों का महनीय-संकलन है। परन्तु दार्शनिक-विवेचन की दुविधा थी, क्योंकि मैंने जैनदर्शन की शास्त्री आदि उपाधियाँ प्राप्त नहीं की थीं। मैंने अपनी दुविधा अपने पतिदेव के समक्ष रखी, तो उन्होंने मेरा हौसला बढ़ाते हुये कहा कि "तुमने कविवर हस्तिमल्ल के नाटकों पर पीएच. डी. की है, वे सभी जैन-प्रथमानुयोग पर आधारित थे। उस समय तुमने अधिकांश सिद्धान्तों को पढ़ा-समझा था। और पिछले 15 वर्षों से तुम स्थानीय जिनमंदिर जी में प्रतिदिन नियमितरूप से शास्त्र-स्वाध्याय कर रही हो, तो जैनदर्शन के सिद्धान्तों को समझाने का भी तुम्हें पर्याप्त अभ्यास हो चुका है। इसलिये मन में चिंता और भय को स्थान मत दो। फिर भी यदि कहीं अटकोगी, तो मैं तुम्हें समझाने के लिये घर में ही हूँ तथा 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' जैसे कोशग्रन्थ भी हैं। सबकी मदद लेकर तुम आसानी से यह कार्य कर सकती हो- ऐसा मुझे पूर्ण-विश्वास है।"

उनके समझाने से मेरी हिम्मत और बढ़ी तथा मैंने संकल्प लिया कि "मैं पहले अपने श्रम से ही कार्य करूँगी, चाहे मुझे कितनी ही मेहनत क्यों न करनी पड़े। परन्तु भावावेश में कोई गलत-प्रतिपादन न हो जाये- इस दृष्टि से मैं इन्हें चैक अवश्य करा लिया करूँगी।" इसी-प्रक्रिया से मैंने पूरी निष्ठा से कार्य करते हुये सोशल मीडिया पर लिखना शुरू किया। जब लगभग-सौ से अधिक-पोस्टें हो गई, जब लोगों ने प्रतिक्रिया-देनी प्रारंभ कि "आप इन्हे प्रकाशित कराइयें।"

मैंने लोगों के इसे प्रकाशित कराने के अनुरोध की बात जब अपने पतिदेव को बतायी, तो वे प्रसन्न हुये और कहा कि "यह तो बहुत ही अच्छा काम होगा। परन्तु इसके लिये तुम्हें इन पोस्टों का स्तर एवं प्रस्तुतीकरण

सुधारना होगा, ताकि इन्हें पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करने में कोई असुविधा न हो। उन तकनीकिगत-सुधारों एवं सावधानियों को मैंने उनसे बारीकी से सीखा और प्रतिदिन अपनी पोस्टों को उन्नत बनाना शुरू किया।

इस संस्करण में प्रत्येक शब्द का स्पष्ट-शब्दार्थ दिया गया है और प्रत्येक विषय को 'विशेषार्थ' शीर्षक की टीका में भलीभाँति विवेचित करके उसका मर्मोद्घाटन किया गया है। जबकि इसके पहले अभी तक जितने भी संस्करण प्रकाशित हुये हैं, उनमें कुछ अधूरापन था। अधिकांश-शब्दों के अर्थ नहीं दिये गये थे। इसीप्रकार 'भावार्थ' शीर्षक से दी गयी टीका में भी विषय का स्पष्टीकरण बहुत अच्छे से नहीं किया गया था। इसकारण विषय के बारे में जिज्ञासु-पाठकों को एक अतृप्ति का अनुभव इसके स्वाध्याय के क्रम में होता था। उन सबकी पूर्ति इस संस्करण में होने जा रही है।

चूँकि इसका आधार-ग्रन्थ युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव का कालजयी-ग्रन्थ 'समयसार' जी है। उस पर महान् आचार्य अमृतचन्द्र सूरि जी ने जो 'आत्मख्याति' नामक अद्भुत-व्याख्या/टीका लिखी है, उसमें समयसार जी के विषय को अद्वितीय-ढंग से स्पष्ट किया गया है। किन्तु आचार्य अमृतचन्द्र सूरि जी को इतने मात्र से पूरी-तृप्ति नहीं मिली, तो उन्होंने इस टीका में स्थान-स्थान पर विषय के मर्म का भावोन्मेष करनेवाले कलशरूप-काव्यों का सृजन किया है, जिन्हें हम सभी 'समयसार-कलश' के नाम से जानते हैं। इन्हीं कलशों पर पांडे राजमल्ल जी नामक महान् तत्त्व-मर्मज्ञ मनीषीप्रवर ने 'समयसार-कलश-बालबोधिनी-टीका' नामक व्याख्या लिखी है, जो अत्यन्त-प्रसिद्ध है।

इसी 'समयसार-कलश-बालबोधिनी-टीका' को आधार बनाकर/ इससे अनुप्राणित होकर हिन्दी-पद्यबद्ध अपनी विश्वविख्यात-कृति 'नाटक-समयसार' जी की रचना आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले कविवर बनारसीदास जी ने की थी। इस कृति की प्रसिद्धि भारतीय विद्वज्जगत् में उस समय भी इतनी हुई थी कि 'रामचरित मानस' नामक विश्वविख्यात वैदिक-रामकथा-ग्रन्थ के रचयिता महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी कविवर पं. बनारसीदास जी से मिलने वाराणसी से आगरा आये थे और उन्होंने कविवर पं. बनारसीदास जी को अपने रामचरित मानस की प्रति सबहुमान-भेंट की थी। प्रत्युत्तर-स्वरूप कविवर पं. बनारसीदास जी ने भी 'अध्यात्म-रामायण' शीर्षक से एक लघु-रचना तत्काल निर्मित करके गोस्वामी तुलसीदास जी को भेंट की थी। जिसे गोस्वामी तुलसीदास जी ने शिरोधार्य करके स्वीकार किया था।

उसी 'नाटक-समयसार' जी के संस्करण का स्वाध्याय मैंने जब प्रारम्भ किया, तो मुझे उस संस्करण में बहुत सारे शब्दों के अर्थ एवं टीका नहीं मिलने से परेशानी हुई। मैं बार-बार आकर सुदीपजी से उनका स्पष्टीकरण माँगती थीं। तो उन्होंने सहज ही मुझसे कह दिया कि "इस संस्करण में यदि इतने विषयों की अस्पष्टता है, तो तुम इन सबका स्पष्टीकरण करते हुये एक टीका लिखो। इससे नाटक-समयसार जी का स्वाध्याय करनेवाले अनेकों जिज्ञासुओं को लाभ मिलेगा और तुम्हारे द्वारा भी एक महनीय-कार्य सम्पन्न हो सकेगा।"

मुझे पहले इतने गुरुतर-दायित्व को अपने द्वारा सम्पन्न हो सकने का विश्वास नहीं हुआ, तब उन्होंने आश्वस्त किया कि मैं स्वयं इसका बारीकी से प्रामाणिक सम्पादन करूँगा और विशद-प्रस्तावना भी लिखूँगा, तब मैं सहमत हो गई।

यह संस्करण नाटक-समयसार जी के पिछले संस्करणों की तुलना में दोगुने से अधिक परिमाण में एवं शास्त्राकार में प्रकाशित होने जा रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन एवं वितरण का दायित्व जिनवाणी की प्रभावना में निरत ट्रस्ट महावीर परमार्थ फाउंडेशन, नई दिल्ली (रजि.) ने स्वीकार किया है, तदर्थ मैं उसके प्रमुख श्रीमान् अजित प्रसाद जी जैन एवं सभी पदाधिकारियों का आभार व्यक्त करती हूँ।

— डॉ. रंजना जैन

प्ररोचना

जिनकी काव्य-प्रतिभा ने समकालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी को भी आकर्षित करके भेंट करने को विवश कर दिया था, जीवन की विविध-विषमताओं में जिन्होंने अपनी गवेषी-प्रकृति को अभिभूत नहीं होने दिया; बल्कि और अधिक गतिशील बनाया- ऐसे हिन्दी-साहित्य के महान्-कवि, चिन्तक, सिद्धहस्त-रचनाकार, अद्वितीय-दार्शनिक-मनीषी कविवर पं. बनारसीदास जी को इन सब कारणों से भी ऊपर उनकी तत्त्वज्ञानी-व्यक्तित्व के कारण जाना और महिमान्वित किया जाता है।

वे यद्यपि विश्वभर में सबसे ईमानदार-आत्मकथा-लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि उनकी आत्मकथा (ऑटो-बायोग्राफी) अर्धकथानक में उनकी अत्यन्त-तथ्यात्मकरूप से की गयी निष्पक्ष-प्रस्तुति ने उनकी सत्य-निष्ठता को अनुपमेय बना दिया है। इसे पढ़कर कोई भी निष्पक्ष-व्यक्ति यह दृढ़तापूर्वक कह सकता है कि "कविवर पं. बनारसीदास जी और कुछ भले ही कर लें, किन्तु झूठ नहीं बोल सकते हैं।" यह सत्य-निष्ठा एवं बेलाग-प्रस्तुति की क्षमता उनके व्यक्तित्व की ईमानदारी एवं आत्मविश्वास की परिचायक हैं।

वे अपने ग्रन्थ 'नाटक-समयसार' जी के अन्त में अपने तत्त्वज्ञानी-सम्यग्दृष्टि होने की जितनी सहज-प्रस्तुति करते हैं, वही उनके व्यक्तित्व को विद्वान् से ऊपर उठाकर आत्मसाधक-महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठापित कर देता है। जैनदर्शन में तो मोक्षमार्गी होने की शुरुआत ही सम्यग्दर्शन से होती है और कविवर पं. बनारसीदास जी असन्दिग्धरूप से सम्यग्ज्ञानी और मोक्षमार्गी-जीव थे— यह सुस्पष्ट है।

उनकी अमर-कृति 'नाटक-समयसार' जी की जैन-जगत् में विशिष्ट-प्रतिष्ठा इसलिये भी है कि यह कृति आचार्य कुन्दकुन्द के महान्-ग्रन्थ 'समयसार', आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की अनुपम-टीका 'आत्मख्याति' एवं इसके अमृतकलशों, उन कलशों के मर्मोद्घाटक महामनीषी पांडे राजमल्ल जी की बालबोधिनी-व्याख्या आदि सभी की समवेत-प्रस्तुति तो है ही, साथ ही कविवर पं. बनारसीदास जी के कवित्व, दार्शनिकता, वाग्मिता, आध्यात्मिकता एवं इन सभी मनीषियों के ग्रन्थों के कथ्यों को नूतन-आयाम देने के लिये यह ग्रन्थ अनुपम-आदर्श है।

इस ग्रन्थ पर अभी तक कोई परिपूर्ण एवं आदर्श-व्याख्यावाला सुसम्पादित-संस्करण उपलब्ध नहीं था, उसकी पूर्ति विदुषी बिटिया डॉ. रंजना जैन ने इस संस्करण के माध्यम से की है, अतः यह निश्चय ही स्वागत-योग्य है। और इसके सम्पादक, प्रस्तावना-लेखक प्रो. सुदीप कुमार जैन की विद्वत्ता से तो सम्पूर्ण विद्वज्जगत् अभिभूत है ही। उनके वैदुष्यपूर्ण सम्पादन का यह संस्करण निश्चित रूप से इसकी गरिमा को शतगुणित कर देगा।

सुधीजन इसका अधिकाधिक-लाभ निजी-स्वाध्याय में व स्वाध्याय-गोष्ठियों में सामूहिक-स्वाध्याय के माध्यम से लें— यही सद्भावना है। शोधार्थियों के लिये भी यह संस्करण अनुपम-पाथेय बनेगा— ऐसा मुझे पूर्ण-विश्वास है। इसके अत्यन्त-गरिमापूर्ण प्रकाशन के लिये प्रकाशन-संस्थान 'महावीर परमार्थ फाउंडेशन, नई दिल्ली' भी वर्धापन का पात्र है।

सर्वविध-मंगलभावना के साथ,

जिनश्रुत-उपासक

पं. प्रकाश चन्द्र जैन सकारिया, ज्योतिर्विद्

73, लोहाई, मैनपुरी (उ. प्र.)

कविवर पं. बनारसीदास जी कृत

नाटक-समयसार

'जिज्ञासु-जन-रंजनी
सुबोधिनी-व्याख्या'-समन्वित

समर्पण

कलिकालसर्वज्ञ युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द देव के
कालजयी आत्मानुभव-पथ-प्रदर्शक-ग्रन्थ
'समयसार' जी परमागम
के सर्वश्रेष्ठ-व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने
प्रगल्भ- 'आत्मख्याति' -व्याख्या के साथ
अमृत-प्रपूरित मंगल-कलशों की रचना करके इसकी श्रीवृद्धि की।
उन कलशों की बालबोधिनी-व्याख्या
'समयसार-कलश-टीका' लिखकर मनीषीप्रवर
पांडे राजमल्ल जी ने अपूर्व-उपकार किया।
इन सभी को आधार-सामग्री बनाकर
कविवर पं. बनारसीदास जी ने अपने वैदुष्य का निदर्शन
'नाटक-समयसार' नामक यह अनुपम-ग्रन्थ लिखा।
इन सबके मर्म को इस कलिकाल में जिन्होंने
मर्मस्पर्शी-अमृतवचनों से जन-जन के बीच पहुँचाया,
उन आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी
को यह संस्करण सबहुमान-समर्पित है।

— डॉ. रंजना जैन





नाटक-समयसार



'नाटक-समयसार' जी की 'जिज्ञासु-जन-रंजनी-टीका' का मंगलाचरण
('नाटक-समयसार' जी के नव-प्रकाश्य-संस्करण की टीका में निबद्ध आदि-मंगल)

समयसार-नाटक-ग्रंथ समय का सार है।
आत्मतत्त्व का गहन-रहस्य अपार है॥
संसारी से सिद्ध-पर्यंत की जो साधना।
इसमें उसका मर्म बताया अपरम्पार है॥ 1॥

कुन्दकुन्दाचार्य का ग्रंथराज 'समयसार' था।
'आत्मख्याति' के कलश मनु मंगलाचार था॥
पांडे राजमल्ल ने रची वृत्ति-'बालबोधिनी'।
इन सबसे ही बना 'नाटक-समयसार' था॥ 2॥

मूल-ग्रंथ अरु टीका का मर्म समाहित है।
अध्यात्म की चिद्-अमृतधार प्रवाहित है॥
निश्चय अरु व्यवहारमयी-तत्त्वज्ञान की,
चिन्मय-कल्पतरु-सुमन-गंध सुवासित है॥ 3॥

नाटक यहाँ संसार का प्रतिपल चल रहा।
मोह और मिथ्यात्व ही निरन्तर पल रहा॥
इसके अविरल-क्रम के सतत-विनाश को,
समयसार का नाटक यह कविवर ने रचा॥ 4॥

नमूँ सिद्ध-परमात्मा अरु निज-शुद्धात्म को।
अप्रतिबुद्ध-जीव लहें आत्म-स्वभाव को॥
यही भावना सतत अन्तर्निहित इस ग्रन्थ में,
मैं भी पाऊँ नित्य-निरंजन शुद्ध-स्वभाव को॥ 5॥

॥ अथ श्रीनाटक-समयसाराख्य-ग्रन्थः आरभ्यते॥

ग्रंथकार का मंगलाचरण

(मनहर-छंद)

करम-भरम जग तिमिर-हरन खग, उरग-लखन-पग सिवमग-दरसी।
निरखत नयन भविक जल बरखत, हरखत अमित भविकजन-सरसी॥
मदन-कदन-जित परम धरम-हित, सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन, कमठ-दलन-जिन नमत बनरसी॥ 1॥

शब्दार्थ :— करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग= कर्मभ्रम-रूपी संसार के अंधकार को हरण करने के लिये

सूर्य के समान हो, **उरग-लखन-पग**= उरग (साँप) लक्षण है जिनके पैर में, **सिवमग-दरसी**= मोक्षमार्ग को दरसानेवाले हैं, **निरखत नयन भविक जल बरखत**= आपको देखकर भव्य-जीवों के नेत्रों से जल बरसता है। **मदन-कदन-जित**= कामदेव को युद्ध में जीत लिया है, **परम-धरम-हित**= उत्कृष्ट-धर्म के हितकारी हैं, **सुमिरत भगति भगति सब डरसी**= स्मरण करने से भव्यजीवों के सभीप्रकार के डर भाग जाते हैं, **सजल-जलद-तन**= जिनका शरीर जल से भरे हुये बादलों के समान श्यामलवर्णी है, **मुकुट सपत-फन**= जिनके सिर पर सात-फन का मुकुट है, **कमठ-दलन**= कमठ के मद को दलन करनेवाले, **जिन नमत बनरसि**= ऐसे 'जिनेन्द्र-देव' को बनारसीदास नमस्कार करते हैं।

विशेषार्थ :— कविवर बनारसीदास जी कहते हैं जिसप्रकार सूर्य के निकलने से सारे संसार का अंधकार एक क्षण में दूर हो जाता है, ठीक उसीप्रकार हे भगवन्! आप उस सूर्य के समान हो जिसके पास आने पर कर्म-भ्रमरूपी अंधकार क्षण में दूर हो जाता है। अभिप्राय यही है कि भावपूर्वक आपके दर्शन करने मात्र से ही कर्मों का क्षय हो जाता है। कविवर कहते हैं मैं उनकी वंदना कर रहा हूँ, जिनके पैर में उरग यानि सर्प का चिह्न बना है, अर्थात् मंगलाचरण में कवि ने 'भगवान् पार्श्वनाथ' को नमन किया है। कैसे हैं पार्श्वनाथ? 'सिवमग-दरसी' अर्थात् 'मोक्षमार्ग को दर्शानेवाले' हैं।

हे भगवन्! आपको देखते ही भव्यजीवों के नेत्रों से आनंद के अश्रु बहने लगते हैं। जिसप्रकार सूर्य को देखकर सरोवर में कमल खिलने लगते हैं, ठीक उसीप्रकार आपको देखते ही हर्ष के कारण भव्यजीवों के हृदयरूपी कमल खिल जाते हैं।

जिसप्रकार युद्ध में राजा को पराजित करके जीत हासिल होती है, ठीक उसीप्रकार हे भगवन्! सारे संसार का राजा कामदेव, जिसने सबको अपने वश में कर रखा है, आपने उसे भी जीत लिया है। आप जगत् के सभी-जीवों के लिये धर्म का उपदेश देने से 'परम-हितकारी' हो। आपके स्मरण करने मात्र से ही भव्यजीवों के सभी डर दूर हो जाते हैं।

जिसप्रकार जल से भरे बादल गर्मी से संतप्त-जीवों को शीतलता प्रदान करते हैं, ठीक उसीप्रकार आपका शरीर विषयभोग की अग्नि से संतप्त जगत् के जीवों के लिये जल से भरे बादलों के समान शीतलता प्रदान करने वाला है, अर्थात् आपके पास आने पर सहज ही शांति की अनुभूति होती है। आपके सिर पर सप्त-फणों का सुंदर-मुकुट शोभायमान हो रहा है। आप 'कमठ' के मद को दलन यानि नष्ट करने वाले हो— ऐसे जिनेन्द्रदेव 'भगवान् पार्श्वनाथ' को बनारसीदास विनयपूर्वक नमन करते हैं।

(छप्पय-छंद)

सकल-करम-खल-दलन, कमठ-सठ-पवन कनक-नग।

धवल परम-पद-रमन, जगत-जन-अमल-कमल-खग॥

परमत-जलधर-पवन, सजल-घन-सम-तन समकर।

पर-अघ-रजहर जलद, सकल-जन-नत भव-भय-हर॥

जम-दलन नरकपद-क्षयकरन, अगम अतट भवजल-तरन।

वर-सबल-मदन-वन-हरदहन, जय जय जय अभयकरन॥२॥

शब्दार्थ :— सकल-करम-खल-दलन= समस्त कर्मरूपी-शत्रु को नष्ट करनेवाले हो, कमठ-सठ-पवन कनक-नग= मूर्ख-कमठ के द्वारा चलाई गई आँधी में भी आप स्वर्ण-पर्वत अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान अडिग, धवल परम-पद-रमन= निर्मल/पवित्र सर्वोत्कृष्ट-पद (आत्मा) में रमण करने वाले हो, जगत-जन-अमल-

कमल-खग= जगत् के जीवोंरूपी कमलों को खिलाने के लिये सूर्य के समान हो, **परमत-जलधर-पवन**= अन्यमतरूपी मेघों को उड़ाने के लिये हवा के समान हो, **सजल-घन-सम-तन**= जिनका शरीर जल से भरे बादलों के समान श्यामल-वर्ण का है, **समकर**= समता को प्रदान करनेवाले, **पर-अघ-रजहर-जलद**= परलक्ष्मी विकाररूपी धूल को धोने के लिए मेघ के समान, **सकल-जन-नत**= जगत् के समस्त जीव जिन्हें नमन करते हैं, **भव-भय-हर**= संसार के भय को हरनेवाले हो, **जम-दलन**= मृत्यु के भय को नष्ट करनेवाले हो, **नरक-पद-छयकरन**= नरकगति का क्षय करनेवाले हो, **अगम**= जिन्हें पूरी तरह समझ सकना कठिन है, **अतट**= जिनके गुणों का पार पाना अशक्य है अर्थात् अपार गुणसमूह के धनी, **भव-जल-तरन**= संसार-समुद्र से पार करनेवाले, **वर सबल मदनवन हर-दहन**= विशाल और सबल/सघन कामदेवरूपी वन को जलाने के लिये रुद्र की अग्नि के समान हो, **जय जय परम अभयकरन**= जीवों को श्रेष्ठ अभयदान करनेवाले आपकी बारम्बार जय हो।

विशेषार्थ :- 'भगवान् पार्श्वनाथ' की स्तुति करते हुये कविवर कहते हैं कि हे भगवन्! आपने शत्रु-समान समस्त-कर्मों को नष्ट कर दिया है, अर्थात् आप ज्ञानावरणादि-आठों-कर्मों से रहित 'निष्कर्म' हो, कमठ के उपसर्गोंरूपी आँधी के बीच में भी आप सुमेरू-पर्वत के समान अडिग रहे, अर्थात् कमठ द्वारा किये गये घोर-उपसर्गों में भी आपका चित्त तनिक भी विचलित नहीं हुआ, और हम अज्ञानी-जीव जरा-सी प्रतिकूलता आते ही डगमगा जाते हैं, यह जानते हुये भी कि 'जो होना है सो निश्चित है'।

हे भगवन्! आप तो सदाकाल अपने परम-स्वच्छ आत्मस्वरूप में ही रमण करते हो, लेकिन आपकी निर्मलता का प्रभाव ऐसा है कि आपके दरबार में आने पर जगत् के जीव सहज ही विकारोंरूपी मल से रहित/अमल हो जाते हैं। जिसप्रकार सूर्य के उदय होने पर कमल स्वयं खिल जाता है, ठीक उसीप्रकार हे भगवन्! आप भव्यजीवों के मनरूपी कमल को खिलाने के लिये सूर्य के समान हो, अर्थात् आपके समक्ष आने पर जगत् के जीवों को स्वयं ही आनंद की अनुभूति होती है।

'परमत' यानि अन्यमतरूपी सघन-बादलों को उड़ाने के लिये आप वायु के प्रचण्ड-वेग के समान हो अर्थात् जिसप्रकार आकाश में छाये घनघोर-बादलों को भी हवा अपने वेग से उड़ा ले जाती है, ठीक उसीप्रकार कुगुरु-कुदेव-कुधर्म और उनके प्रशंसकों की मिथ्या-मान्यताओं का खंडन करने के लिये आप प्रचण्ड-पवन के वेग के समान हो। जिसप्रकार जल से भरे बादल श्यामल और शीतलता प्रदान करनेवाले होते हैं, ठीक उसी प्रकार आपकी श्यामल-काया निर्मल-जल से भरे बादलों के समान शीतलता और समता प्रदान करनेवाली है।

परलक्ष्मी-पापभावों रूपी 'रज' या धूल को धोने के लिये आप जलधर-मेघ के समान हो, अर्थात् जिसप्रकार कितनी भी अधिक रज या धूल क्यों न हो जल से साफ हो जाती है, ठीक उसीप्रकार पापभावों की गंदगी कितनी भी अधिक क्यों न हो आपकी भक्तिरूपी-जल से क्षणभर में ही सारे पाप धुल जाते हैं। आप संसारी-जीवों के भयंकर जन्म-मरणरूपी दुःखों को हरनेवाले हो, इसीलिये तीनों-लोकों के समस्त-जीव आपको बारम्बार नमन करते हैं।

आपने 'जम' यानि मृत्यु को जीत लिया है, अर्थात् आप जन्म-मरण से रहित अविनाशी हो। हे भगवन्! भावपूर्वक आपकी भक्ति करनेवाले जीवों को कभी नरक गति की प्राप्ति नहीं होती है। आपकी महिमा 'अगम' है, अर्थात् आपकी महिमा का गुणगान करने में जब गणधरदेव भी समर्थ नहीं है, तो मैं अल्पबुद्धि आपकी महिमा का गुणगान कैसे कर सकता हूँ? 'अतट' यानि आपके गुणोंरूपी समुद्र को पार पाना अशक्य है, जैसे समुद्र के जल को पार करना अशक्य है, ठीक उसीप्रकार भगवन् आपके अनंत

गुणों का वर्णन करना अशक्य है। आप 'भव-जल' अर्थात् संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिये जहाज के समान हो। जिसप्रकार जहाज में बैठकर हम समुद्र के उस पार जाने में समर्थ होते हैं, ठीक उसीप्रकार आपके स्मरण/भक्ति/गुणगानरूपी जहाज से हम जगत् के जीव संसार-सागर के उस पार यानि मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। हे भगवन्! आप जगत् में सर्वश्रेष्ठ हो, बलवान हो। कहा जाता है कि शंकर जी की तीसरी आँख ने कामदेव को भस्म कर दिया था; ठीक उसीप्रकार आप जगत् के जीवों को वश करने वाले कामदेव को भस्म करने के लिये शंकर जी की तीसरी आँख के समान हो। हे जगत् के सर्वश्रेष्ठ रक्षक भगवान् पार्श्वनाथ! आपकी सदैव जय हो।

(यह कर्तावादी-कथन नहीं है, बल्कि उस युग में जैन-मनीषी भी जिनेन्द्र-भक्ति में बहुमानपूर्वक ऐसे विशेषण जिनेन्द्रदेव की सर्वोत्कृष्टता बताने के लिये प्रयोग करते थे। उसी के अनुरूप यह युगप्रभावी-प्रयोग है।)

(सवैया इकतीसा)

जिन्हि के वचन उर-धारत जुगल-नाग, भए धरनिंद-पदुमावति पलक में।
जाकी नाम-महिमा सौं कुधातु कनक धरैं, पारस-पखान नामी भयौ है खलक में॥
जिन्ह के जनमपुरी-नाम के प्रभाव हम, अपनौ-स्वरूप लख्यौ भानु सौं भलक में॥
तेई प्रभु-पारस महारस के दाता अब, दीजै मोहि साता दृगलीला की ललक में॥ 3॥

शब्दार्थ :- जिन्हि के वचन उर-धारत जुगल-नाग= जिन भगवान् पार्श्वनाथ के वचन/उपदेश हृदय में धारण करके नाग-नागिनी का जोड़ा, भए धरनिंद-पदुमावति पलक में= पलक झपकते ही यानि बहुत कम समय में धरणेन्द्र-पद्मावती हो गए, जाकी नाम-महिमा सौं कुधातु कनक धरैं= जिनके नाम-स्मरण से लोहा सोना हो जाता है, पारस-पखान नामी भयौ है खलक में= पारस-पत्थर प्रसिद्ध हुआ है जगत् में, जिन्ह की जनमपुरी-नाम के प्रभाव हम= जिनकी जन्मनगरी के नाम के प्रभाव से हमने, अपनौ-स्वरूप लख्यौ भानुसौं भलक में= अपने आत्मस्वरूप का अनुभव किया सूर्य की चमक में, (अर्थात् जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई जीव खोयी वस्तु को पहिचान लेता है, उसीप्रकार मैंने आपकी जन्मनगरी का नाम पाकर विस्मृत निज-निधि को पाया है), तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब= वे प्रभु पार्श्वनाथ भगवान् अतीन्द्रिय-आनंद को देनेवाले अब, दीजै मोहि साता दृगलीला की ललक में= मुझे शांति प्रदान करें पलक झपकते ही अर्थात् क्षणभर में।

विशेषार्थ :- भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि जिन 'भगवान् पार्श्वनाथ' के संबोधन को जलते हुये नाग-नागिनी के जोड़े ने भी जब अपने हृदय में धारण किया, तो अल्प-समय में ही उस जोड़े ने धरणेन्द्र-पद्मावती के रूप में देव-पर्याय प्राप्त कर ली थी। भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति बहुमान व्यक्त करते हुये कविवर कहते हैं कि इनके नाम की ही महिमा है कि लोहे को सोने में बदलने वाला पारस-पत्थर भी आज जगत् में प्रसिद्ध है, अर्थात् भगवान् के गुणों का स्मरण करने से संसार के जीव कितने भी पापों से लिप्त क्यों न हों, कंचन के समान पवित्र होकर मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हो जाते हैं।

मेरा नाम 'बनारसी' भी 'भगवान् पार्श्वनाथ' की जन्म-नगरी 'बनारस' के नाम पर ही रखा गया था। जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश में जगत् के पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ठीक उसीप्रकार भगवन्! आपकी प्रतिमा को देखकर मुझे अपना स्वरूप अनुभव में आता है। अतीन्द्रिय-आनंद को प्रदान करनेवाले हे पार्श्वनाथ भगवान्! मुझे पलक झपकते ही अर्थात् शीघ्रतिशीघ्र शांति प्रदान करें।

यद्यपि भगवान् अपने भक्तों को कभी कुछ नहीं देते,— ऐसा जानते हुये भी बनारसीदास जी भगवान् से अपनी सुख-शांति की कामना करते हैं, ये वास्तव में भक्ति का अतिरेक मात्र है। लेकिन हाँ, भगवान् की प्रतिमा का ऐसा अतिशय अवश्य है कि उनके दरबार में आने पर संसार के दुःखों से आकुलित दुःखी-जीवों को सहज ही शांति का अनुभव होता है, और स्वयं ही सातिशय-पुण्य का बंध होता है, जो आगे भी आकुलता से छुटकारा दिलाने में निमित्त बनता है।

"तुम भक्तों को कुछ नहीं देत, अपने समान बस बना लेत।

यह मैंने तेरी सुनी आन, जो लेवे तुमको बस पिछान।

वह पाता है कैवल्य-ज्ञान, होता परिपूर्ण कला-निधान॥"

—(जिन-स्तुति)

(अडिल्ल-छंद)

'अविनाशी अविकार परमरस-धाम है, समाधान सरवंग सहज-अभिराम है।

सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध अनादि-अनंत है, जगत्-शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं॥ 4॥

शब्दार्थ :— अविनाशी-अविकार परमरस-धाम है= विनाशरहित/ शाश्वत, विकाररहित, अतीन्द्रिय-आनंद की खान, समाधान-सरवंग सहज-अभिराम है= समाधानस्वरूप अर्थात् निःशंकरूप, सर्वांग, सहज, बहुत रमणीय, सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध अनादि अनंत है= पवित्र, ज्ञानमय, विरोध- रहित, जिसकी आदि न हो, जिसका अंत न हो, जगत्-शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं= लोक के, सरिताज, सिद्ध भगवान् हमेशा जयवंत रहें।

विशेषार्थ :— 'सिद्ध-परमेष्ठी' का गुणगान करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं, हे सिद्ध भगवन्! आप शाश्वत अर्थात् जन्म-मरण से रहित सदाकाल रहनेवाले हो, मोह-राग-द्वेष आदि विकारीभावों से रहित अविकारी हो, और परमआनंद-रस की खान हो अर्थात् सदाकाल अतीन्द्रिय-सुख का वेदन करते हो, आप सर्वसमाधान-स्वरूप हो, सर्वांग सहज और सुंदर हो। आप परम-पवित्र, परमज्ञानी हो, आपकी न आदि है और अंत है,— ऐसे आप अनादि-अनंत हो। आपसे श्रेष्ठ संसार में कोई और नहीं,— ऐसे तीनों लोकों के सरताज सिद्ध भगवान् सदा जयवंत रहें।

(सवैया इकतीसा)

ग्यान को उजागर, सहज-सुखसागर, सुगुन-रत्नागर, विराग-रस भरयौ है।

सरन की रीति हरै, मरन कौ न भै करै, करनसौं पीठि दे, चरन अनुसरयौ है॥

धरम को मंडन, भरम को विहंडन है, परम नरम ह्वै कै, करम सौ लरयौ है।

ऐसौ मुनिराज भुव-लोक में विराजमान, निरखि बनारसि नमस्कार करयौ है॥ 5॥

शब्दार्थ :— ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर= ज्ञान के प्रकाशक, सहज-सुख के समुद्र हैं, सुगुन-रत्नागर विराग रस भरयौ है= सुगुणों की खान, वैराग्य-रस से भरे हुये हैं, सरन की रीति हरै= शरण की रीति को हरनेवाले, मरण कौ न भै करै= मरण के भय से रहित हैं, करनसौं पीठि दे= इन्द्रिय-विषयों से पीठ दिखाते हैं यानि विरक्त हैं, चरन अनुसरयौ है= चारित्र का अनुसरण यानि पालन करते हैं, धरम को मंडन= धर्म को सुशोभित करनेवाले हैं, भरम को विहंडन= भ्रम का खंडन करनेवाले हैं, परम-नरम ह्वै कै करमसौं लरयौ है= अतिनम्र होकर कर्मों से लड़ते हैं, ऐसो मुनिराज भुवलोक में विराजमान= ऐसे मुनिराज, तीनों लोक में विराजमान हैं, उन्हें निरखि बनारसि नमस्कार करयौ है= उन्हें देखकर बनारसीदास ने नमन किया है।

विशेषार्थ :— साधु-परमेष्ठी की स्तुति करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि जो ज्ञान के

प्रकाशक हैं अर्थात् जगत् के संतप्त-जीवों को ज्ञानामृत का पान करानेवाले हैं, जो सहज आत्मिक-सुख के सागर हैं, अर्थात् जो अपने समतारूपी-वचनों से जगत् के जीवों को शांति प्रदान करते हैं। जो गुणोंरूपी मणियों की खान है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी मणियों की खान है। पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होने से वैराग्यरस से सराबोर हैं। दिगम्बरत्व धारण करने से जो किसी के आश्रित नहीं है, इसलिये उनको मरण का भी भय नहीं है, जंगलों में निवास करते हैं, संसार-शरीर और भोगों से विरक्त होकर सम्यक् रूप से चारित्र का पालन करते हैं।

जिनसे धर्म महिमा-मंडित होता है या जो धर्म की शान हैं, जो देहादिक समस्त पर-पदार्थों को अपना मानने रूप भ्रम का खंडन करनेवाले हैं। जो कर्मों को द्वेषपूर्वक क्षय नहीं करते हैं, बल्कि वे तो स्वरूप में लीन रहने का अभ्यास करते हैं, तो कर्मादिक सहज और स्वयं क्षय हो जाते हैं। ऐसे जितने भी भावलिंगी दिगम्बर-मुनिराज तीनों लोकों में विराजमान हैं, बनारसीदास उन सभी को परखकर विनय से भावसहित वंदन करते हैं।

(सवैया छन्द, भगण)

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट, सीतल-चित्त भयौ जिमि चंदन।
केलि करैं सिवमारग में, जगमाँहि जिनेसुर के लघुनंदन॥
सत्य-सरूप सदा जिन्हकैं, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांत-दशा तिन्हकी पहिचानि, करैं करजोरि बनारसि वंदन॥ 6॥

शब्दार्थ :- भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हकैं घट= स्व और पर का भेदविज्ञान जिनके हृदय में प्रगट हुआ है, सीतल-चित्त भयौ जिमि चंदन= जिनका मन चंदन की तरह शीतल हुआ है, केलि करैं सिवमारग में= मोक्षमार्ग में क्रीड़ा/आनंद करते हैं, जगमाँहि जिनेसुर के लघुनंदन= संसार में रहकर भी जिनेन्द्रदेव के छोटे पुत्र, सत्य, सरूप सदा जिन्हकैं= जिनके सदा वस्तु का यथार्थ-स्वरूप प्रगट/ज्ञात हुआ है, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन= जो मिथ्यात्व को नष्ट करनेवाला है, सांतदशा तिन्हकी पहिचानि= उनकी शांत-स्थिति को पहिचानकर, करैं करजोरि बनारसि वंदन= हाथ जोड़कर बनारसीदास जी नमस्कार करते हैं।

विशेषार्थ :- पंचपरेष्ठी-भगवंतों की वंदना करने के बाद सम्यग्दृष्टि-जीव की महिमा का वर्णन करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि जिस जीव के हृदय में 'स्व' और 'पर' का 'भेदविज्ञान' प्रकट हुआ है अर्थात् जिसे अपने आत्मस्वरूप का सच्चा श्रद्धान है, उसका चित्त/मन चंदन के समान शीतल हो गया है अर्थात् अब मोह-राग-द्वेष आदि विकारीभावों और कषायों की अग्नि उसे प्रभावित नहीं करती।

इसे हम इसप्रकार भी कह सकते हैं कि जिसप्रकार चंदन के वृक्ष पर प्रतिसमय काले विषधर-नाग लिपटे रहते हैं; लेकिन फिर भी चंदन की शीतलता व सुगंधि पर कोई फर्क नहीं पड़ता, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव बाहर में भले ही विषधर के समान पंचेन्द्रिय के विषयों से घिरे दिखाई दें, फिर भी सुखस्वरूप भगवान् आत्मा का वेदन उनके चित्त में चंदन की सुगंधि के समान प्रतिसमय व्याप्त रहता है।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि तो अपने आत्मिक-आनंद की मस्ती में ही केलि करते हैं अर्थात् आनंदमग्न रहते हैं और मोक्षमार्ग पर अग्रसर भी। इसीलिये उन्हें 'जिनेन्द्रदेव का लघुनंदन' अर्थात् छोटा-पुत्र कहा जाता है, जिसप्रकार छोटा-पुत्र हमेशा अपने पिता का लाड़ला ही होता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भी अविरत-अवस्था में भी जिनेन्द्रदेव के प्रिय ही हैं, उनके अनुगामी ही हैं। जैसे छोटा-पुत्र पिता के मार्ग का ही अनुसरण करता है, और पिता के जैसा ही बनना चाहता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भी जिनेन्द्रदेव

के मार्ग का अनुसरण करता हुआ जिनेन्द्र देव के समान ही अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त करता है।

एक बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य कि बिना-परखे बनारसीदास जी ने न साधु को वंदन किया (निरखि बनारसि नमस्कार करयौ है) और न ही सम्यग्दृष्टि को (सांतदशा तिनकी पहिचानि...)- इस बात की गहराई की झलक हमें उनके जीवन में घटित-घटनाओं में भी देखने को मिलती है। उन्होंने जिनाम्नाय में निर्दिष्ट सभी पूज्यपदों को उनकी गुणवत्ता पहिचानकर ही नमस्कार किया है, इसे परखे बिना उन्होंने कभी किसी को भी नमस्कार नहीं किया, फिर चाहे वह किसी भी पद पर आरूढ़ क्यों न हो।

कवि के द्वारा रचित इन पंक्तियों से हमें शिक्षा मिलती है कि बिना परखे किसी भी मुनि-वेषधारी को या धर्मात्मा को कभी नमस्कार नहीं करना चाहिए।

(सवैया इकतीसा)

स्वारथ के साँचे, परमारथ के साँचे चित्त, साँचे-साँचे बैन कहें, साँचे जैनमती हैं।

काहू के विरुद्ध नाहिं, परजाय-बुद्धि नाहिं, आतम-गवेषी, न गृहस्थ हैं न जती हैं।

सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसै घट मै प्रगट सदा, अंतर की लच्छिसौं अजाची लच्छपती है।

दास भगवंत के उदास रहैं जगत् सौं, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥ 7॥

शब्दार्थ :- स्वारथ के साँचे= स्व+अरथ = स्व यानि आत्मा अर्थ यानि प्रयोजन के सच्चे, परमारथ के साँचे चित्त= परम-अर्थ यानि मोक्ष के लिये भी जिनका सच्चा-पुरुषार्थ है, साँचे-साँचे बैन कहे= सत्य-वचन बोलनेवाले, साँचे जैनमती हैं= जैनमत या जिनधर्म के सच्चे-श्रद्धालु हैं, काहू के विरुद्ध नाहिं= किसी से भी विरोध नहीं है, परजाय-बुद्धि नाहिं= स्वयं को पर्यायरूप से देखने की बुद्धि का अभाव है, आतम-गवेषी= आत्मस्वरूप की खोज करनेवाले हैं, न गृहस्थ न जती हैं= न तो गृहस्थ हैं और न साधु हैं, सिद्धि= आत्मस्वरूप की सिद्धि, रिद्धि= आत्मशक्ति की ऋद्धि, वृद्धि दीसै= निरन्तर स्वरूप के प्रति सावधानी की वृद्धि दिखाई देती हैं, घट में प्रगट सदा= सदैव अंतरंग में, अंतर की लच्छिसौं= जो आत्मानुभूतिरूपी अंतरंग-लक्ष्मी से संपन्न हैं, अजाची= किसी से याचना या आकांक्षा नहीं करते हैं, लच्छपती= लक्ष्मीपति होते हुये भी, भगवंत के दास= जिनेन्द्रदेव के भक्त रहकर, उदास रहैं जगत्सौं= संसार से विरक्त रहते हैं सुखिया सदैव= जो हमेशा सुखी/संतुष्ट रहते हैं, ऐसे जीव समकिती हैं= ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में 'सम्यग्दृष्टि-जीव' के स्वरूप का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि वे सम्यग्दृष्टि-जीव अपने आत्मस्वरूप के सच्चे-ज्ञानी हैं, और मोक्षमार्ग की ओर जिनका चित्त उन्मुख है, जो सत्य-वचन बोलते हैं, और जिन-आज्ञा को मानने से सच्चे-जैनी है।

जिनका किसी से कोई विरोध या आपसी-मतभेद नहीं है, जो स्वयं को भी और जगत् के अन्य जीवों को भी पर्याय-दृष्टि से नहीं देखते, जिनका चित्त निरन्तर आत्मस्वरूप की खोज में ही लगा रहता है, जो विषय-भोगों से विरक्त होने से न तो पूरीतरह से गृहस्थों के समान संसार-मग्न हैं, और स्थूलरूप से व्रत अंगीकार न करने से पूरीतरह से व्रती भी नहीं हैं।

जिन्हें अपने आत्मस्वरूप की सिद्धि या अनुभूति हो चुकी है, आत्मशक्ति से परिचित होने से निरन्तर ऋद्धियों की वृद्धि अंतरंग में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। आत्मवैभवरूपी लक्ष्मी से संपन्न होने के कारण सच में लक्ष्मी के पति हैं, जगत् की लक्ष्मी की अब कोई वांक्षा नहीं है।

ये जिनेन्द्रदेव के सच्चे-सेवक हैं, इसलिये सांसारिक विषय-भोगों से सदा विरक्त रहते हैं। आत्मिक-आनंद में मग्न रहने से सुखिया हैं, ऐसे गुणों को धारण करनेवाले जीव ही सम्यग्दृष्टि होते हैं।

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ, हिरदै हरखि महामोहकौ हरतु है।
साचौ सुख मानै निज-महिमा अडोल जानै, आपुही मैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है॥
जैसे जल-कर्दम कतक फल भिन्न करै, तैसे जीव-अजीव विलछनु करतु है।
आतम-सकति साधै ग्यान कौ उदौ आराधै, सोई समकिती भवसागर तरतु है॥ 8॥

शब्दार्थ :- जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ= जिसके हृदय में गणधर के समान विवेक प्रकट हुआ है, हिरदै हरखि महामोहकौ हरतु है= हृदय हर्षित यानि प्रसन्न रहता है, सबसे बड़ा मोह अर्थात् मिथ्यात्व को हरण अर्थात् नष्ट करता है, साचौ सुख मानै= (उसे ही) सच्चा-सुख मानता है, निज-महिमा अडोल जानै= अपनी महिमा को अविचल जानता है, आपुही मैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है अपने आप में ही अपना स्वभाव अनुभव करता है, जैसे जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै= जिसप्रकार जल में मिली कीचड़ को निर्मली/ फिटकरी अलग-अलग कर देती है, तैसे जीव-अजीव विलछनु करतु है= ठीक उसीप्रकार आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान करता है, आतम सकति साधै ग्यान कौ उदौ आराधै= आत्म-शक्ति को साधता है, ज्ञान के उधाड़ को सार्थक करता है, सोई समकिती भवसागर तरतु है= वही सम्यग्दृष्टि-जीव संसार-सागर से पार उतरता है।

विशेषार्थ :- सम्यग्दृष्टि-जीव की परिणति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जिसके हृदय में गणधर के समान स्व-पर-भेदविज्ञान की कला जागृत हुई है, जिससे महा-भयंकर मिथ्यात्व का अभाव हो गया है और आत्मस्वरूप की सच्ची-प्रतीति/अनुभूति होने से उसका हृदय हर्षित है, यानि अब उसे जो आत्मिक-सुख की अनुभूति हो रही है, उसी को वह सच्चा-सुख मानता है। सम्यग्दृष्टि-जीव को आत्मस्वरूप का अविचल-श्रद्धान होता है अर्थात् संसार का कोई भी प्रलोभन अब उसके श्रद्धान को हिला नहीं सकता। अब तो वह प्रतिसमय स्वयं को स्वयं में ही अनुभव करता है। प्रतिसमय यही भावना भाता है — "स्वयं स्वयं में तृप्त रहूँ मैं, रमूँ नहीं संसार में।"

जिसप्रकार गंदे पानी में कतकफल यानि निर्मली या फिटकरी डालने पर गंदगी और स्वच्छ-पानी अलग अलग हो जाते हैं, ठीक उसीप्रकार प्रज्ञा-रूपी कतकफल का प्रयोग करने पर अनादिकाल की देहादिक समस्त पर-पदार्थों को अपना माननेरूप मिथ्यात्व की गंदगी और निजात्मारूपी स्वच्छ-जल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान भी स्वतः सम्यक् हो जाता है, जिससे सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में सम्यग्दृष्टि-जीव निरन्तर अपनी आत्मा की ही आराधना करता है, अर्थात् अपनी आत्मिक-शक्ति को बढ़ाने के लिये सतत जागरूक रहता है। कविवर बनारसीदास जी कहते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि-जीव ही संसाररूपी-समुद्र को पार करते हैं।

धरम न जानत, बखानत भरमरूप, ठौर-ठौर ठानत, लराई पच्छपात की।
भूल्यौ अभिमान में, न पाउ धरै धरनी में, हिरदै में करनी, बिचारे उतपात की॥
फिरै डांवाडोल-सौ, करम के कलोलनि में, ह्वै रही अवस्था, सु बघेलू कैसे पात की।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी, ऐसौ ब्रह्मघाती, है मिथ्याती महापातकी॥ 9॥

शब्दार्थ :- धरम न जानत= वस्तुस्वरूप को नहीं जानता, बखानत भरमरूप= भ्रामक-बातें बतलाता है, ठौर-ठौर ठानत लराई पच्छपात की= जगह-जगह एक पक्ष को लेकर यानि एकांती होकर लड़ाई करता है, भूल्यौ

अभिमान में न पाउ धरै धरनी पर= घमंड में चूर होकर धरती पर पाँव नहीं रखता है, हिरदै में करनी बिचारै उतपात की= हृदय में उपद्रव/खुरापात की करतूतें सोचता है, फिरैं डांवाडोल सौ= डांवाडोल/अस्थिरचित होकर भटकता है, कर्म के कलोलनि में= कर्म के उदयरूपी लहरों में, ह्वै रही अवस्था सु बघेलू कैसे पात की= बवंडर के पत्ते की तरह इसकी स्थिति हो रही है, जाकी छाती ताती कारी कुटिल-कुवाती भारी= जिसका हृदय संतप्त, काला, वक्र, बुरी-बातों के बोझ से वजनदार है, ऐसौ ब्रह्मघाती मिथ्याती महापातकी= ऐसा 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मस्वरूप का घात/तिरस्कार करनेवाला मिथ्यादृष्टि महापापी है।

विशेषार्थ :- मिथ्यादृष्टि-जीव की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि-जीव धर्म के अर्थात् वस्तु के वास्तविक-स्वरूप को तो जानता नहीं, और अपनी मनमर्जी से भ्रमरूप यानि कपोल-कल्पित धर्म का स्वरूप बखान करता है। धर्म के नाम पर अपने मिथ्या-विकल्पों और एकांती-पक्ष को सत्य साबित करने के लिये हर किसी से लड़ाई करने को भी प्रतिसमय तैयार रहता है।

अपने मिथ्याज्ञान के अभिमान में इतना डूबा रहता है कि उसके पैर जमीन पर ही नहीं टिकते, हमेशा आसमान में उड़ने को तैयार रहता है अर्थात् हमेशा अभिमान से भरा रहता है। इतने से भी उसे तसल्ली नहीं होती, तो दिन-रात इसका चित्त नये-नये उपद्रवों को सोचने में ही चलायमान रहता है।

जैसे समुद्र में तूफान आने पर लहरें इतनी तेज हो जाती है कि पानी पर चलनेवाली नाव भी डगमगाने लगती है, ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव के जीवन में कर्म का तीव्र-उदयरूपी तूफान आने पर प्रतिकूलतारूपी लहरें इतनी तेज हो जाती है कि इसकी जीवनरूपी नैया डगमगाने लगती है। जिससे इसकी दशा बघेलू यानि चक्रवाती-तूफान के बवंडर में फँसे पत्ते के जैसी हो जाती है, जो बेबस होकर उड़ता ही जाता है। जैसे चक्रवाती-तूफान में फँसी नाव आखिरकार डूब ही जाती है, ठीक उसीप्रकार मिथ्यात्व के भँवर में फँसी नाव आखिरकार भवसागर में डूब ही जाती है।

जिसकी 'छाती ताती' है अर्थात् जिसका हृदय क्रोधकषाय के कारण संतप्त रहता है, 'कारी' अर्थात् लोभकषाय के कारण मलिन रहता है, 'कुटिल' अर्थात् मायाकषाय से कुटिल रहता है, और 'कुवाती' अर्थात् बुरे विचारों के बोझ तले मानकषाय के कारण पत्थर की तरह भारी रहता है। चारों कषायों की तीव्रता होने से वह मिथ्यादृष्टि-जीव प्रतिसमय अपने आत्मस्वरूप का ही घात करता है, और आगम के अनुसार— आत्मघाती महापापी नरकगामी अर्थात् आत्मघात करनेवाला महापापी मिथ्यादृष्टि-जीव नरकगामी होता है।

(मध्ययुग में ब्रह्महत्या अर्थात् ब्राह्मण को मार डालना अक्षम्य-अपराध माना जाता था। उसी को लक्ष्य में रखकर कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि उसी प्रकार ब्रह्म-स्वरूप आत्मा का विस्मरण करना भी अक्षम्य-अपराध है। अन्य अपराधों की माफी कदाचित् संभव हो जाये, किन्तु इस अपराध को किसी भी हालत में, किसी भी अदालत में माफ नहीं किया जा सकता है।)

(दोहा)

बंदौ सिव अवगाहना, अरु बंदौ सिवपंथ।

जसु प्रसाद भाषा करौ, नाटक नामक ग्रंथ॥ 10॥

शब्दार्थ :- बंदौ सिव-अवगाहना= सिद्ध-भगवान् को नमस्कार करता हूँ, अरु बंदौ सिवपंथ= और मोक्षमार्ग को नमस्कार करता हूँ जसु प्रसाद भाषा करौ नाटक नामक ग्रंथ= (क्योंकि) जिनकी कृपा से 'नाटक' नामक इस ग्रंथ की भाषाबद्ध-रचना कर रहा हूँ।

विशेषार्थ :— ग्रंथ-रचना की प्रतिज्ञा करते हुये कविवर कहते हैं कि मैं सिद्ध-परमेष्ठी को और मोक्षमार्ग अर्थात् रत्नत्रय को नमस्कार करता हूँ; क्योंकि जिनके प्रसाद से या जिनकी कृपा से मैं प्रचलित- जनभाषा में 'नाटक-समयसार' नाम के इस ग्रंथ की रचना कर रहा हूँ।

उत्थानिका

(सवैया मत्तगयन्द)

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्ध-समान सदा पद मेरौ।
मोह-महातम आतम-अंग, कियौ पर-संग महातम घेरौ॥
ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहाँ गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिव-मारग, वैगि मिटै भव-वास-बसेरौ॥ 11॥

शब्दार्थ :— चेतनरूप अनूप अमूरति= चैतन्यरूप आत्मा, अनुपम, अमूर्तिक है, सिद्ध-समान सदा पद मेरौ= मेरा पद या स्वरूप हमेशा सिद्ध-परमेष्ठी के समान, मोह-महातम आतम-अंग= मोहरूपी भयंकर-अंधकार आत्मा में, कियौ पर-संग महातम घेरौ= पर का संग करने से इस घोर-अंधकार ने घेर लिया है, ग्यानकला उपजी अब मोहि= अब मुझे विशेष-ज्ञानरूपी कला उत्पन्न हुई है, कहाँ गुन नाटक आगमकेरौ= आगम-सम्बन्धी/आगम-तुल्य 'नाटक' ग्रंथ को कहता हूँ, जासु प्रसाद सधै सिवमारग= जिसके कारण मोक्ष का मार्ग सधेगा या प्राप्त होगा, वैगि मिटै भववास बसेरौ= शीघ्र ही मिट जायेगा भवभ्रमण का निवास।

विशेषार्थ :— ग्रंथ-रचना का कारण और फल बताते हुये कविवर कहते हैं कि मैं चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा अनुपम अर्थात् जगत् में जिसकी कोई उपमा नहीं है, 'अमूर्तिक' अर्थात् जिसका इन्द्रिय-गोचर रूप नहीं है, सिद्ध-परमेष्ठी के समान पूर्ण-शुद्ध हूँ; लेकिन अनादिकाल से 'पर' यानि आठ कर्मों के साथ रहने से मोहरूपी भयंकर-अंधकार के कारण अंधा बना हुआ था अर्थात् मोह के कारण मैंने सिद्ध-समान शुद्ध-आत्मा का कभी अनुभव नहीं किया।

लेकिन आज तीव्र-पुण्य का उदय है कि मुझे विशेष-ज्ञानरूपी-ज्योति प्रगट हुई है, जिससे आज मैं आगम के आलोक में महान्-ग्रंथ 'नाटक समयसार' की रचना कर रहा हूँ। जिसकी रचना से मोक्ष का मार्ग भी सधेगा और शीघ्रतिशीघ्र संसार-अटवी में निवास भी खतम हो जायेगा अर्थात् जन्म-मरण के दुःख से छूटकर अजर-अमर अविनाशी सिद्ध-पद की प्राप्ति होगी।

(छंद मनहर)

जैसे कोऊ मूरख महा-समुद्र तिरवें कौं, भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ।
जैसे गिरि ऊपर विरख-फल तोरिवेकौं, बाबनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ॥
जैसे जलकुंड में निरखि शशि-प्रतिबिम्ब, ताके गहिबै कौं कर नीचौ करै टाबरौ।
तैसें मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ, गुनी मोहि हसैगें कहैगें कोऊ बाबरौ॥ 12॥

शब्दार्थ :— जैसे कोऊ मूरख महासमुद्र तिरवेंकौं= जिसप्रकार कोई अज्ञानी-जीव विशाल-समुद्र पार करने के लिये, भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ= नाव को छोड़कर अपनी बाँहों से (पार करने को) उद्यत/प्रयत्नशील हुआ है, जैसे गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेंकौं= जिसप्रकार पहाड़ के ऊपर वृक्ष पर लगे फलों को तोड़ने के लिये, बाबनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ,= कोई बौना अर्थात् बहुत छोटा-पुरुष उतावला होकर जल्दी से

(हाथ बढ़ाता है), जैसे जलकुंडमें निरखि शशि-प्रतिबिम्ब= जिसप्रकार पानी से भरे कुंड में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब या रूप देखकर, ताके गहिबैकौं कर नीचो करै टाबरौ= उसको पकड़ने के लिये छोटा-बच्चा हाथ नीचे करता है, तैसें मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ= उसीप्रकार मुझ अल्पबुद्धि बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' शुरू किया है, गुनी मोहि हसैंगे कहैंगे कोऊ बाबरौ= गुणवान् यानि विद्वान् मेरे ऊपर हँसेंगे और कहेंगे कि यह तो कोई बाबरा या पागल है।

विशेषार्थ :— श्रेष्ठ-ग्रंथ की रचना करने में अपने को अशक्य बताते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार कोई मूर्ख-व्यक्ति नाव को छोड़कर अपने बाँहों के बल पर विशाल और अथाह-समुद्र को पार करने की चेष्टा करता है (वो ये समझ ही नहीं पाता कि जिस-समुद्र का कोई ओर-छोर ही नहीं है, मैं उसे अपनी बाँहों से कैसे पार कर सकता हूँ?) जिसप्रकार कोई बौना-व्यक्ति पर्वत पर वृक्ष पर लगे फलों को देखकर उन्हें तोड़ने के लिये खुशी के कारण जल्दबाजी में अपना हाथ बढ़ाने की चेष्टा करता है, (अर्थात् खुशी के कारण वह यह बात भूल ही जाता है पहले पर्वत विशाल, फिर पेड़ भी इतना ऊँचा, मैं इस पर लगे फलों को कैसे तोड़ सकता हूँ?)

जिसप्रकार कोई छोटा-बच्चा पानी से भरे कुंड में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर उसे पकड़ने के लिये अपना हाथ नीचे करता है, (वह सोचता ही नहीं है कि चंद्रमा तो ऊपर है, पानी में तो उसका प्रतिबिम्ब है, मैं इसे कैसे पकड़ सकता हूँ?) ठीक उसीप्रकार मैं अल्पबुद्धि यानि बनारसीदास इतने विशाल, अथाह, गूढ़, मार्मिक, अध्यात्मिक-ग्रंथ 'समयसार', जिसकी महिमा अकथनीय है, ऐसे ग्रंथ पर नाटक लिखने का दुस्साहस कर रहा हूँ, मेरे इस कृत्य को देखकर गुणवान् या विद्वान् लोग मेरे ऊपर हँसेंगे और कहेंगे कि यह तो कोई बाबरा या पागल-व्यक्ति है, जिसने ऐसी चेष्टा की।

वास्तव में देखा जाये, तो इस छंद में गर्भित-भाव कवि की विनम्रता के परिचायक हैं।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू रतनसौं बीँध्यौ है रतन कोऊ, तामैं सूत रेसम की डोरी पोई गई है।

तैसे बुध-टीकाकार नाटक सुगम कीनौ, तापरि अलपबुद्धि सूधी परिनिई है॥

जैसे काहू देस के, पुरुष जैसी भाषा कहैं, तैसी तिनिहूँ के, बालकनि सीख लई है।

तैसे ज्यौं गरंथ कौ, अरथ कह्यौ गुरु त्यौंहि, हमारीमति कहिवे, कौं सावधान भई है॥ 13॥

शब्दार्थ :— जैसे काहू रतनसौं बीँध्यौ है रतन कोऊ= जिसप्रकार किसी रत्न से बीँधा गया है कोई रत्न, तामैं सूत रेसम की डोरी पोई गई है= उसमें सूती या रेशम का धागा पिरोया गया हो, तैसे बुध-टीकाकार नाटक सुगम कीनौ= उसीप्रकार ज्ञानीजन जिन्होंने समयसार जी की टीका लिखी यानि आचार्य अमृतचन्द्रकृत 'आत्मख्याति' टीका और पांडे राजमल्लकृत 'समयसार-कलश-टीका' लिखकर इस ग्रन्थ को बहुत सरल कर दिया है, तापरि अलपबुद्धि सूधी परिनिई है= उसपर मेरी कम-बुद्धि आसानी से चल सकी है, जैसे काहू देस के पुरुष जैसी भाषा कहैं= जिसप्रकार किसी स्थान के लोग जैसी भाषा बोलते हैं, तैसी तिनिहूँ के बालकनि सीख लई है= वैसे ही उनके बच्चे भी सीख लेते हैं, तैसे ज्यौं गरंथ कौ अरथ कह्यौ गुरु त्यौंहि= उसीप्रकार गुरु ने जैसा कहा उनके अनुसार इस ग्रंथ का भाव, हमारी मति कहिवे कौं सावधान भई है= कहने के लिये हमारी बुद्धि सावधान हुई है।

विशेषार्थ :— जिसप्रकार हीरे की कणी से किसी रत्न में छेद कर दिया हो, बस उसमें सूत या रेशम की डोरी डालने का काम रह गया हो, उसीप्रकार समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने 'समयसार जी' पर

टीका लिखकर एवं पांडे राजमल्ल जी ने समयसार के कलशों पर टीका लिखकर मेरा काम बहुत आसान कर दिया है, मुझे तो बस मात्र डोरी डालनी है, अर्थात् उन टीकाओं के अभिप्राय को छंदोबद्ध करना है। कहने का तात्पर्य यही है कि जो कठिन काम था रत्न में छेद करना अर्थात् टीका लिखना, वह तो पहले ही टीकाकार कर चुके हैं, अब तो डोरी डालने जैसा बहुत सरल-सा काम मुझे करना है।

जिसप्रकार जिस देश में जैसी भाषा बोली जाती है, उस देश के बच्चे भी अपने आप ही वैसी ही भाषा सीख लेते हैं, उसीप्रकार गुरु-परम्परा से जो ज्ञान चला आ रहा है, मैंने भी वैसा ही सीख लिया है, अर्थात् मैंने कुछ नया काम नहीं किया है, और जो मैंने गुरु-परम्परा से सीखा था, उसी को बताने के लिये मेरी बुद्धि तत्पर हुई है।

(सवैया इकतीसा)

कबहू सुमति है कुमति को विनाश करै, कबहू विमल-जोति अंतर जगति है।
कबहू दया है चित्त करत दयालरूप, कबहू सुलालसा है लोचन लगति है"॥
कबहू आरती है कै प्रभु सन्मुख आवै, कबहू सुभारती है बाहर बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी, हिरदै हमारे भगवंत की भगति है॥ 14॥

शब्दार्थ :— कबहू सुमति है= कभी सद्बुद्धि होकर, कुमति को विनाश करै= कुबुद्धि को नष्ट करती है, कबहू विमल-जोति अंतर जगति है= कभी निर्मल-ज्ञानज्योति अंतरंग में जागृत होती है, कबहू दया है चित्त करत दयालरूप= कभी दया का भाव मन को दयालुतारूप करता है, कबहू सुलालसा है लोचन लगति है= कभी आपकी भक्ति की इच्छा नेत्रों को अच्छी लगती है, कबहू आरती है कै प्रभु सन्मुख आवै= कभी आरतीरूप होकर प्रभु के नजदीक आती है, कबहू सुभारती है बाहर बगति है= कभी सुन्दर स्तोत्र-पाठ के रूप में बाहर में भी प्रकट होती है, धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी= जैसी स्थिति तब वैसा ही व्यवहार अर्थात् परिणाम होता है, हिरदै हमारे भगवंत की भगति है= हृदय में मेरे यानि बनारसीदास जी के जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति है।

विशेषार्थ :— कविवर कहते हैं मुझे जो ज्ञान-ज्योति मिली है, वह भगवान् की भक्ति का ही फल है, जिसकी वजह से कभी तो सद्बुद्धि अनादि से पड़ी कुबुद्धि का विनाश करती है, तो कभी निर्मल-ज्ञानज्योति बनकर अंतरंग में जागृत होती है; कभी अंतर में दया का भाव जगता है, तो बाहर में भी जीवदया और करुणा के परिणाम वर्तते हैं, कभी नेत्रों को आपको देखने की तीव्र-इच्छा होती है अर्थात् बस आपको ही निहारता रहूँ— ऐसा अंतरंग में भाव उमड़ता है।

कभी तो अंतर्मन में उमड़े भाव आरती अर्थात् पूजन के रूप में प्रभु के सन्मुख आते हैं, कभी प्रभु की महिमा का गुणगान करते हुये सुन्दर-स्तोत्र के रूप में बाहर आते हैं, कवि कहते हैं जब जैसी स्थिति होती है, तब वैसा ही व्यवहार होता है, जिनेन्द्र-भगवान् की ऐसी सुंदर-भक्ति मेरे हृदय में प्रतिसमय उमड़ती है।

(सवैया इकतीसा)

मोख चलिबै को सोन करमकौ करै बौन, जाके रस-भौन बुध लौन ज्यों घुलत है।
गुन को गरंथ निरगुन कौ सुगम-पंथ, जाकौ जस कहत सुरेश अकुलत हैं॥
याही के जु पच्छी ते उड़त ग्यान-गगन में, याही के विपच्छी जग-जाल में रुलत हैं।
हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार, नाटक सुनत हिये फाटक खुलत हैं॥ 15॥

शब्दार्थ :— मोख चलिबै को सोन= मोक्षमार्ग पर चलने के लिये सीढ़ी, करम कौ करै बौन= कर्म का वमन

करती है, जाके रस भौन बुध लौन ज्यों घुलत हैं= जिसके रसरूपी जल में ज्ञानीजन नमक की तरह घुल जाते हैं, गुन को ग्रंथ= गुणों का ग्रंथ, निरगुन कौ सुगम-पंथ= निर्गुणों का सरल-रास्ता, जाकौ जस कहत सुरेश अकुलत हैं= जिसकी महिमा का गुणगान करने में सुरों के ईश (इन्द्र) भी व्याकुल रहते हैं अर्थात् समर्थ नहीं हैं, याही के जु पच्छी ते उड़त ग्यानगगन में= जो इसके पक्षधर हैं, वे ज्ञानरूपी आकाश में उड़ते हैं, याही के विपच्छी जग-जाल में रुलत हैं= इसके विरोधी संसाररूपी वन में दुःखी होते हैं, हाटक सौ विमल= स्वर्ण के समान निर्मल, विराटक सो विसतार= विष्णुकुमार-मुनि के विराटरूप की तरह विस्तृत, नाटक सुनत हिये फाटक खुलत हैं= इस नाटक को सुनते ही हृदय के दरवाजे खुल जाते हैं।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत-छंद में 'समयसार' जी की महिमा का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि 'समयसार' जी ग्रंथ मोक्षमार्ग पर चलनेवाले जीवों के लिये सोने की सीढ़ी के समान है, अर्थात् इस ग्रंथ का आद्योपांत-अध्ययन, मनन-चिंतन एवं अनुभवन करनेवाला जीव निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करता है। साथ ही इस ग्रंथ का भावपूर्वक स्वाध्याय करनेवाले जीव के कषाय का वमन होता है, अर्थात् कषायरूपी गंदगी निकल जाती है, और परिणाम निर्मल होते हैं। यह ग्रंथ इतना मधुर है कि इसके रसास्वादन में ज्ञानीजन इसप्रकार तन्मय हो जाते हैं, जिसप्रकार पानी में नमक घुलकर एकमेक-सा हो जाता है।

'यह ग्रंथ आत्मिक-गुणों का भंडार है, अर्थात् इस ग्रंथ में आत्मा के अनंत-गुणों का वर्णन किया गया है। और निर्गुण (गुणभेद के विकल्प से मुक्त) होने के लिये सबसे सरल रास्ता है अर्थात् मुक्ति का सरल-पंथ इसमें वर्णित है। कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि "इस ग्रंथ की महिमा अगम है, इसका वर्णन करने में, मैं तो क्या सुरों के ईश अर्थात् इन्द्र भी संकोच करते हैं अर्थात् वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं।"

'समयसार जी' की महिमा का गुणगान करते हुये कवि कहते हैं कि जो 'समयसार' जी के पक्षधर है वे ज्ञानरूपी आकाश में पक्षियों के समान उड़ान भरते हैं, अर्थात् जिसप्रकार पक्षी अपने पंखों के सहारे खुले गगन में विचरण करते हैं, ठीक उसी प्रकार जो 'समयसार' जी ग्रंथ के मर्म को समझते हैं वे आत्मस्वरूप के अनंत-गुणों में केलि करते हैं। और जो 'समयसार' जी के विरोधी हैं, वे संसार-अटवी में रुलते हैं, अर्थात् जो आत्मस्वरूप के विरोधी हैं या जो बाहरी-क्रियाकाण्ड से ही मोक्ष होना मानते हैं, वे संसाररूपी वन में अनंतकाल तक भ्रमण करते हुये दुःखी होते हैं। जैसे बियावान-जंगल का कोई ओर-छोर नहीं होता, वैसे ही आत्मस्वरूप के विरोधी-जीवों के संसार-परिभ्रमण का कोई अंत नहीं होता।

स्वरूप के आराधकों के लिये ये ग्रंथ स्वर्ण की तरह निर्मल है और विष्णुकुमार मुनि जी के विराटरूप की तरह विस्तृत भी। (जब सातसौ मुनियों की रक्षा करने के निमित्त विष्णु कुमार मुनि ने विक्रिया-ऋद्धि का प्रयोग करके विराट-रूप बनाकर बलि को हराया था)। यदि 'समयसार' जी ग्रंथ का भाव-भासनपूर्वक स्वाध्याय किया जाये, तो हृदय के फाटक खुल जाते हैं, अर्थात् अनादि की मिथ्या-कुटेव/बुरी आदत क्षणभर में दूर हो जाती है।

(दोहा)

कहाँ सुद्ध निहचै-कथा, कहाँ सुद्ध-विवहार।

मुकतिपंथ-कारन कहाँ, अनुभौ को अधिकार॥16॥

शब्दार्थ :- कहाँ सुद्ध-निहचै-कथा= शुद्ध-निश्चयनय की बात कहता हूँ, कहाँ सुद्ध-विवहार= शुद्ध-व्यवहारनय की बात कहता हूँ, मुकतिपंथ-कारन= मोक्षमार्ग के कारणभूत, अनुभौ को अधिकार= अनुभव का अध्याय या वर्णन।

विशेषार्थ :- मैं अब शुद्ध-निश्चयनय से, शुद्ध-व्यवहारनय से मोक्षमार्ग के कारणभूत अनुभव की चर्चा करता हूँ, अर्थात् आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग की शुरूआत भी नहीं होती— यह बात वे स्पष्टरूप से घोषित कर रहे हैं। निश्चय-मोक्षमार्ग तो आत्मानुभूति के बिना होता ही नहीं है, व्यवहार-मोक्षमार्ग भी आत्मानुभूति के बिना नहीं होता है— यह उनका दोटूक-अभिप्राय है।

(दोहा)

वस्तु विचारत ध्यावतै, मन पावे विश्राम।

रस-स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम॥17॥

शब्दार्थ :- वस्तु विचारत ध्यावतै= वस्तु-स्वरूप का चिंतन व ध्यान करने से, मन पावे विश्राम= मन को विश्रान्ति मिलती है अर्थात् चंचलता मिट जाती है, रस स्वादत सुख ऊपजै= आत्मिक-रस का पान करने से जो सुख उत्पन्न होता है, अनुभव याकौ नाम= इसी का नाम अनुभव है।

विशेषार्थ :- वस्तु-स्वरूप का विचार करने से अर्थात् आत्म-स्वरूप का चिंतन करने से, उसी का ध्यान करने से मन विश्रान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् उसकी संकल्प-विकल्परूप चंचलता मिट जाती है जिससे साम्यभाव प्रकट होता है। और जब ऐसा करते हैं, तो आत्मिक-रस का स्वाद अर्थात् आत्मानुभूति होने पर जो अतीन्द्रिय-आनंद या सुख का वेदन होता है, उसी का नाम 'अनुभव' है।

(दोहा)

अनुभव चिंतामणि-रतन, अनुभव है रसकूप।

अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोखसरूप॥18॥

शब्दार्थ :- अनुभव चिंतामणि-रतन= अनुभूति चिंतामणि-रत्न है, अनुभव है रसकूप= अनुभूति रस के कुँये के (समान) है, अनुभव मारग-मोख कौ= अनुभूति ही मोक्ष का मार्ग है, अनुभव मोख-सरूप= अनुभूति मोक्षरूप ही है।

विशेषार्थ :- आत्मानुभूति चिंतामणि-रत्न के समान है, अर्थात् जिसप्रकार चिंतामणि-रत्न से हम जो चाहते हैं, वह प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार हम सभी सुखी होना चाहते हैं, तो सच्चे सुख की प्राप्ति आत्मानुभूतिरूपी चिंतामणि-रत्न से ही होती है। आत्मानुभूति ही समतारस का कुँआ है, अर्थात् जैसे कुँये के पास जाने पर जल की प्राप्ति होती है, ठीक उसीप्रकार आत्मानुभूति होने पर चित्त को शांति अवश्य मिलती है। आत्मानुभूति ही मोक्ष का मार्ग है, अर्थात् आत्मानुभूति ही मोक्षमार्ग अर्थात् रत्नत्रय है। आत्मानुभूति मोक्षस्वरूप ही है, अर्थात् ऐसा लगता है कि मोक्ष कुछ और नहीं बल्कि अखंड-आत्मानुभूति ही मोक्ष है।

(सवैया मनहर)

अनुभौ के रस को रसायन कहत जग, अनुभौ-अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।

अनुभौ की रसा कहावै सोई पोरसा सु, अनुभौ अधोरसा सौं ऊरध की दौर है॥

अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि, अनुभौ को स्वाद पंच-अमृतकौ कौर है।

अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीति जोरै, अनुभौ-समान न धरम कोऊ और है॥ 19॥

शब्दार्थ :- अनुभौ के रस को रसायन कहत जग= आत्मानुभूति के रस को संसार 'रसायन' (जीवनदायिनी औषधि) कहता है, अनुभौ-अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है= आत्मानुभूति का अभ्यास यही तीर्थस्थान है,

अनुभौ की जो रसा कहावै पोरसा सु= आत्मानुभूति की जो पृथ्वी है, वही उपजाऊ-भूमि कहलाती है, अनुभौ अधोरसा-सौ ऊरध की दौर है= आत्मानुभूति अधोलोक की पृथ्वी से ऊर्ध्वलोक की दौड़ है, अनुभौ की केलि यह कामधेनुचित्रावेलि= आत्मानुभूति का यह आनंद 'कामधेनु' और 'चित्रावेलि' के समान है, अनुभौ को स्वाद पंच-अमृत कौर है= अनुभूति का स्वाद पंचामृत-भोजन के निवाले/ग्रास के समान है, अनुभौ करम तोरै= आत्मानुभूति कर्मों के बंध को तोड़नेवाली है, परमसौ प्रीति जौरै= परमपद अर्थात् मोक्ष से लगन लगाने/ जोड़नेवाली है, अनुभौ समान न धरम कोऊ और है= आत्मानुभूति के समान कोई और धर्म नहीं है।

विशेषार्थ :- आत्मानुभूति की विशेष-महिमा का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं आत्मानुभूति के रस को समस्त ज्ञानीजन 'रसायन' कहते हैं, अर्थात् आत्मानुभूति एक ऐसा रस है, जो भवरोग के नाश के लिये औषधि के समान है। आत्मानुभूति का अभ्यास ही पवित्र-तीर्थस्थान है, अर्थात् आत्मानुभूति होने के बाद मुक्ति पाने के लिये किसी भी तीर्थस्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं है। आत्मानुभूति के साधक जहाँ विराजमान होते हैं, वही स्थान 'तीर्थ' बन जाता है। आत्मानुभूति उस उपजाऊ भूमि के समान है, जहाँ पर हरप्रकार की खेती की जा सकती है अर्थात् सभीप्रकार की शंकाओं का समाधान हो जाता है। आत्मानुभूति ही अधोलोक से ऊर्ध्वलोक की दौड़ है, अर्थात् आत्मानुभूति जीव को अधोलोक से निकालकर ऊर्ध्वलोक के शिखर 'मोक्ष' में ले जानेवाली है।

जो आत्मानुभूति के आनंद में केलि करता है, अर्थात् आत्मा के आनंद का रसास्वादन करता है, उसके लिये ये 'कामधेनु' और 'चित्रावेलि' के समान है। जिसप्रकार घी, तेल, दूध, दही, मीठा— इन पाँच रसों से बना भोजन अति-पोषक एवं स्वादिष्ट होने से 'पंचामृत' कहलाता है, ठीक उसीप्रकार आत्मानुभूति का स्वाद पंचामृत-भोजन के निवाले के समान 'अमृतत्व की प्राप्ति का नियामक' है। एकमात्र आत्मानुभव ही ऐसा हथौड़ा है, जो कर्मों के बंधन को तोड़ सकता है और परमपद अर्थात् मोक्ष-महल में प्रवेश करवा सकता है। आत्मानुभव के समान दूसरा कोई धर्म इस संसार में नहीं है।

(दोहा)

चेतनवंत अनंत-गुन, परजै-सकति अनंत।

अलख अखंडित सर्वगत, जीवदरब-विरतंत॥ 20॥

शब्दार्थ :- चेतनवंत अनंतगुन= चैतन्य-स्वरूप अनंत-गुणों का धनी, परजै-सकति अनंत= पर्याय की शक्ति अनंत है, अलख अखंडित सर्वगत= जो दिखाई न दे, जो अखंडित हो, सर्व में व्याप्त, जीव दरब विरतंत= (ऐसा) जीव द्रव्य का वृत्तांत/स्वरूप है।

विशेषार्थ :- जीवद्रव्य का स्वरूप वर्णित करते हुये कविवर कहते हैं कि जीवद्रव्य चैतन्य-स्वरूप है, अर्थात् जिसमें स्व-पर-प्रकाशक चेतना-शक्ति विद्यमान है, जो अनंत-गुणों का स्वामी है, उसमें अनंत-पर्याय प्रकट करने की शक्ति है, जो 'अलख' है, अर्थात् लख यानि देखना और अलख यानि जो दिखाई न दे अर्थात् अरूपी है, जो 'अखंडित' है, अर्थात् जो कभी खंडरूप नहीं होता, त्रिकाल एक जैसा, जो 'सर्वगत' है, अर्थात् जो सर्व में व्याप्त है— ऐसा जीवद्रव्य का स्वरूप है।

(दोहा)

फरस-वरन-रस-गंध मय, नरद-पास संठान।

अनुरूपी पुदगल-दरब, नभ-प्रदेश-परवान॥ 21॥

शब्दार्थ :— फरस-वरन-रस-गंधमय= स्पर्श-वर्ण-रस-गंध से सहित, नरद-पास संठान - चौपड़ के पाँसे के आकारवाला, अनुरूपी पुद्गल-दरब= उसके समान रूपवाला पुद्गलद्रव्य, नभ-प्रदेश-परवान= आकाश के प्रदेश के प्रमाण या बराबर।

विशेषार्थ :— पुद्गल-द्रव्य का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि जो स्पर्श (छूने योग्य), वर्ण (रंग), रस (स्वाद), गंध (महक) आदि गुणों से सहित है, चौपड़ के पाँसे के समान जिसका आकार है, वह पुद्गलद्रव्य है। जो आकाश के प्रदेश के अनुरूप कहा गया है, अर्थात् उत्कृष्ट-परिमाण लोकाकाश के अनुरूप एवं सूक्ष्मतम शुद्ध-परमाणु आकाशद्रव्य के एक प्रदेश के बराबर आकार का माना गया है।

(दोहा)

जैसे सलिल-समूह में, करै मीन गति-कर्म।

तैसे पुद्गल-जीव को, चलन-सहाई धर्म॥ 22॥

शब्दार्थ :— जैसे सलिल-समूहमें= जिसप्रकार पानी के समूह में अर्थात् सरोवर आदि में, करै मीन गति-कर्म= मछली चलने का कार्य करती है, तैसे पुद्गल-जीव को= उसीप्रकार पुद्गल और जीव को, चलन सहाई धर्म= चलने में सहायक 'धर्मद्रव्य' होता है।

विशेषार्थ :— 'धर्मद्रव्य' का स्वरूप बताते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि जिसप्रकार स्वयं गमन करती हुई मछली को गमन करने में सरोवर आदि का पानी सहायक होता है, ठीक उसीप्रकार स्वयं चलते हुये पुद्गलों और जीवों को चलने में 'धर्मद्रव्य' सहायक होता है।

सरोवर का पानी मछली को जबरन नहीं चलाता है, जब मछली स्वयं चलना चाहे, तब पानी उसकी सहायता करता है। यदि पानी मछली को चलाता, तो मछली कभी ठहरती ही नहीं, चलती ही रहती, ठीक उसीप्रकार धर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलों को जबरन नहीं चलाता है, जब जीव और पुद्गल स्वयं गमन करना चाहें, तब धर्मद्रव्य चलने में उनकी सहायता करता है।

(दोहा)

ज्यों पंथी ग्रीषम-समै, बैठे छाया-माँहि।

त्यौं अधर्म की भूमि में, जड़-चेतन ठहराँहि॥ 23॥

शब्दार्थ :— ज्यों पंथी ग्रीषम-समै बैठे छायामाँहि= जिसप्रकार राहगीर गर्मी के समय में छाया में बैठता है, त्यौं अधर्म की भूमि में= उसीप्रकार अधर्म-द्रव्य की भूमि/स्थिति में, जड़ चेतन ठहराँहि= पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य ठहरते हैं।

विशेषार्थ :— 'अधर्मद्रव्य' का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार गर्मी से संतप्त-मनुष्य वृक्ष की छाया देखकर उसके नीचे बैठकर विश्राम करता है, ठीक उसीप्रकार जब भी जीव और पुद्गल स्वयं गतिपूर्वक ठहरना चाहते हैं, तब 'अधर्मद्रव्य' उन्हें ठहरने में सहायक होता है।

जैसे वृक्ष की छाया पथिक को बुलाकर ठहरने के लिये नहीं कहती; बल्कि पथिक स्वयं ठहरने की इच्छा करता है, तब वह छाया निमित्त बनती है। ठीक उसीप्रकार 'अधर्मद्रव्य' जीवों और पुद्गलों को ठहरने के लिये प्रेरित नहीं करता; बल्कि जीव और पुद्गल जब स्वयं ठहरना चाहते हैं, तब 'अधर्मद्रव्य' सहायक होता है।

(दोहा)

संतत जाके उदरमैं, सकल पदारथवास।

जो भाजन सब जगतकौं, सोई दरब अकास॥ 24॥

शब्दार्थ :- संतत जाके उदर मैं= संतति/बच्चे की तरह जिसके पेट में, सकल पदारथवास= समस्त पदार्थ निवास करते हैं, जो भाजन सब जगतकौं= जो संपूर्ण-जगत् का भाजन/पात्र है, सोई= वही आकाशद्रव्य है।

विशेषार्थ :- 'आकाशद्रव्य' का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार माँ के उदर में बच्चे का निवास होता है, ठीक उसीप्रकार जगत् के समस्त पदार्थों का निवास जिसमें होता है, जो जगत् के समस्त द्रव्यों के लिये पात्र/बर्तन के समान आधारभूत है, अर्थात् जिसप्रकार बर्तन किसी भी वस्तु के लिये आधार होता है, ठीक उसीप्रकार जगत् के समस्त द्रव्यों का जो आधार है, वही 'आकाशद्रव्य' है।

(दोहा)

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठानि।

परावर्त वर्तन धरै, काल-दरब सो जानि॥ 25॥

शब्दार्थ :- जो नवकरि जीरन करै= जो नवीन को जीर्ण करे, सकल वस्तुथिति ठानि= समस्त वस्तुस्थिति ठानकर, परावर्त वर्तन धरे= पाँचों परावर्तनों में परिवर्तन/परिणमन कराये, काल दरब सो जानि= उसे काल-द्रव्य जानो।

विशेषार्थ :- काल-द्रव्य का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि जो जगत् के समस्त पदार्थों को नवीन से जीर्ण अर्थात् पुराना करे अर्थात् नवीन-पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व-पर्याय के विनाश का कारण बने, ऐसा वर्तना-लक्षण वाला 'काल-द्रव्य' है।

(दोहा)

समता-रमता-उरधता, ग्यायकता-सुखभास।

वेदकता-चैतन्यता, ये सब जीव-विलास॥ 26॥

शब्दार्थ :- समता-रमता-उरधता= साम्यभाव, रमण करना, ऊर्ध्वगमन-स्वभाव, ग्यायकता सुखभास= ज्ञायक-स्वभाव, सुख का अनुभव करना, वेदकता चैतन्यता= वेदन करना, चैतन्यरूप परिणमन, ये सब जीव-विलास= ये सब जीव के कार्य हैं।

विशेषार्थ :- जीव की परिणतियों का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि साम्यभाव अर्थात् राग-द्वेष से रहित वीतराग-स्वरूप में रमण करना, ऊर्ध्वगमन करना अर्थात् ऊपर की ओर गमन करना जीव का स्वभाव है, ज्ञाता-दृष्टारूप रहना, सहज आत्मिक-सुख का प्रतिसमय वेदन करना, चेतनरूप अर्थात् स्व-पर प्रकाशीपना— ये सब जीव के विलास हैं अर्थात् ये जीव के सहज-कार्य हैं।

(दोहा)

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़-सम्मेल।

लघुता गुरुता गमनता, ये अजीव के खेल॥ 27॥

शब्दार्थ :- तनता मनता वचनता= शरीररूप परिणमन, मनरूप परिणमन, वचनरूप परिणमन, जड़ता

जड़सम्मेल= अचेतनपना, अन्य जड़-पदार्थों में मिलन का भाव, लघुता गुरुता गमनता= छोटा या हल्कापना, बड़ा या भारीपना, गमन करना, ये अजीव के खेल= ये सब अजीव का परिणमन हैं।

विशेषार्थ :- 'अजीव-द्रव्य' की परिणति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि शरीर, मन, वचन, अचेतनपना अर्थात् सुख-दुःख का वेदन न होना, जड़ का जड़ में ही मिल जाना, हल्का या छोटा होना, भारी या बड़ा होना, गमन करने अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होना— ये सब अजीव-द्रव्यों की परिणतियाँ हैं, अर्थात् संसार का ये सारा खेल जीव का नहीं 'अजीव-द्रव्य' का है।

उपर्युक्त दोनों दोहों में कविवर बनारसीदास जी ने जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य के स्वरूप और कार्यों का सरल और सुंदर-वर्णन करके दोनों द्रव्यों की भिन्नता का सुंदर-चित्रण किया है। इनका इसीरूप में ज्यों का त्यों श्रद्धान, ज्ञान और तदनुरूप आचरण करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है।

लेकिन हम अज्ञानी-जीवों को इन दोनों-द्रव्यों का मिलाजुला श्रद्धान, ज्ञान और तदनुरूप आचरण होने से ही हम प्रतिसमय दुःखी हैं। अर्थात् सारा दुःख दृष्टि के मिथ्यारूप होने का है, और जिस दिन दृष्टि सम्यक् हुई, उसी क्षण हम सुखी।

(दोहा)

जो विशुद्धभावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ।

जो सुखदायक जगत् में, पुन्य-पदारथ सोइ॥ 28॥

शब्दार्थ :- जो विशुद्धभावनि बंधै= संक्लेश-रहित शुद्ध अर्थात् शुभभावों से बंधता है, अरु ऊरधमुख होइ= और ऊर्ध्वमुखी होता है, जो सुखदायक जगत् में= सुख देनेवाला संसार में, पुन्य-पदारथ सोइ= वही पुण्य नामक पदार्थ है।

विशेषार्थ :- पुण्य का स्वरूप और फल का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जो विशुद्धभावों से अर्थात् संक्लेश-रहित शुभ-भावों से बंधे और जो ऊर्ध्वमुखी अर्थात् ऊपर की ओर गमन करे या जिसके फल में स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो, जो सांसारिक-सुख को देनेवाला हो, वही पदार्थ 'पुण्य' है।

(दोहा)

संक्लेश-भावनि बँधै, सहज अधोमुख होइ।

दुःखदायक संसार में, पाप-पदारथ सोइ॥ 29॥

शब्दार्थ :- संक्लेश-भावनि बँधै= संक्लेश-परिणामों से बंधता है, सहज-अधोमुख होइ= सहज अधोगति (नरक, तिर्यच का कारण) होता है, दुःखदायक संसार में= दुःख देनेवाला संसार में, पाप-पदारथ सोइ= वही 'पाप' नामक पदार्थ है।

विशेषार्थ :- पाप के स्वरूप एवं उसके फल का वर्णन करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि जो संक्लेश-परिणामों से अर्थात् तीव्र-कषाय से बंधता है, और जिसके फल में अधोगति अर्थात् नरक और तिर्यच-गतियों की प्राप्ति होती है, जो संसार में भी निरन्तर दुःख देनेवाला है, वह पदार्थ जगत् में दुःखरूप है।

उपर्युक्त दोनों दोहों में कवि ने पुण्य और पाप का सुंदर-वर्णन किया है। पुण्य भाव— जो परिणाम आपको सन्मार्ग पर ले जाये। पाप भाव— जो परिणाम आपका पतन कराये।

कवि ने यहाँ 'पुण्य-बंध भी विशुद्ध-भावों से होता है'— कहकर स्पष्ट किया कि पुण्य-फल की वांक्षा रखते हुये यदि पुण्य-क्रियायें की जायें,— तो ऐसे अशुद्ध-भावों से तो पुण्य भी नहीं बंधता। अर्थात् सांसारिक-सुख की इच्छा रूप निदानभाव रखते हुये यदि भगवान की पूजा-अर्चना, व्रत-तप, दया-दानादिक के भाव किये, तो उनसे पुण्य-बंध भी नहीं होगा।

क्या कभी किसान भूसा पाने के लिये खेती करता है? लेकिन यदि वही किसान गेहूँ की खेती करता है, तो भूसा तो उसे सहज प्राप्त होता है; ठीक उसीप्रकार यदि साधक बिना किसी स्वार्थ के आत्महित के लक्ष्य से जिनेन्द्र की पूजा-अर्चना, व्रत-तप, दया-दानादिक के भाव करता है, तो अशुभ-कर्मों की आंशिक-निर्जरा के साथ-साथ पुण्य उसे सहज प्राप्त होता ही है।

(दोहा)

जोई करम-उद्योत धरि, होइ क्रिया-रसरत्त।

करषै नूतन-करम कौं, सोई आस्रव-तत्त॥ 30॥

शब्दार्थ :— जोई करम उद्योत धरि= जब कर्म उदय में आता है, होइ क्रिया रसरत्त= तब कार्य या प्रवृत्ति राग-सहित होती है, करषै नूतनकरम कौं= जिससे नवीन कर्मों का आस्रव होता है, सोई आस्रव-तत्त= वही 'आस्रव-तत्त्व' है।

विशेषार्थ :— आस्रव-तत्त्व का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जब कर्म का उदय आता है, तब उस उदयजनित-परिणाम में मन, वचन और काया से रागरूप जुड़ने की जो प्रवृत्ति होती है, वह नवीन-कर्मों को अपनी ओर खींचती है, जिसे आस्रव-तत्त्व कहते हैं।

'आस्रव' अर्थात् कर्मों का आना। संपूर्ण-लोक में कर्मरूपी पुद्गल-वर्गणायें ठसाठस भरी हुई हैं, जब पूर्वबद्ध-कर्म का उदय आता है, तो हम अज्ञानी-जीव उससे प्रभावित होकर आकुलित होते हैं, कभी रागरूप तो कभी द्वेषरूप। वास्तव में देखा जाये, तो यही आकुलता हमारे लिये नवीन-कर्मों के आस्रव का कारण बनती है, वरना कर्म तो निर्जरित होने के लिये ही उदय में आया है, यदि हम उस समय साम्यभाव रखें, तो नवीन-कर्म का आस्रव नहीं होगा।

यही 'ज्ञानी' और 'अज्ञानी' की परिणति में फर्क है, ज्ञानी जीव उदयजनित-परिणाम में आकुलित न होकर साम्यभाव रखते हैं, जिससे पुराना-कर्म भी निर्जरित हो जाता है और नवीन-कर्म का आस्रव भी नहीं होता। जबकि अज्ञानी-जीव कर्मोदय में मूर्च्छित होकर नवीन-कर्मबंध करता रहता है।

(दोहा)

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग-विरत्त।

रौकें आवत-करम कौं, सो है संवर-तत्त॥ 31॥

शब्दार्थ :— जो उपयोगस्वरूप धरि= जब उपयोग स्वरूप में स्थिर होकर, वरतै जोग विरत्त= योग की चंचलता से विरक्तिरूप प्रवर्तन करता है, रौकें आवत करमकौं = तब वह आनेवाले कर्मों को रोकता है, सो है संवर-तत्त= वही संवर-तत्त्व है।

विशेषार्थ :— संवर-तत्त्व का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जब उपयोग स्वरूप में स्थिर होता है, तब सहज ही मन, वचन और काया का व्यापार रुक जाता है अर्थात् योगों से विरक्तिरूप प्रवृत्ति होती है, जिससे आनेवाला नवीन-कर्म रुक जाता है, वही संवर-तत्त्व है।

कहने का तात्पर्य यही है कि यदि हमें नवीन-कर्मों को आने से रोकना है, तो इसका एकमात्र-साधन स्वरूप में स्थिरता ही है। इसी से मन-वचन-काया का व्यापार रुकता है, और नवीन-कर्मों का आना भी। इसलिये यदि हमें भी सुखी होना है, तो आत्मानुभूति का पुरुषार्थ करना चाहिये, शुभाशुभ-विकल्पों का नहीं।

(दोहा)

जो पूरब-सत्ता करम, करि थिति-पूरन आउ।

खिरबै को उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ॥ 32॥

शब्दार्थ :— जो पूरब-सत्ता करम= पहले से सत्ता में मौजूद हैं, ऐसे कर्म, करि थिति पूरन आउ= स्थिति पूरी करके उदय में आते हैं, वह खिरबै को उद्यत भयौ= इसप्रकार जो कर्म निर्जरित होने को तैयार हुआ है, सो निर्जरा लखाउ= उसे ही निर्जरा देखो/जानो।

विशेषार्थ :— निर्जरा-तत्त्व का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जो कर्म पहले से सत्ता में मौजूद हैं, और अपनी आयु की स्थिति पूरी करके खिरने को तैयार हैं, उसे 'निर्जरा-तत्त्व' कहते हैं।

'निर्जरा' अर्थात् कर्म-वर्णनाओं का आत्म-प्रदेशों से अलग होना। यँ तो देखा जाये, तो कर्मों की निर्जरा तो प्रतिसमय स्वयं हो रही है, लेकिन मोक्षमार्ग में इस निर्जरा की कोई कीमत नहीं है, क्योंकि ये 'सविपाक' अर्थात् कर्मफल-सहित निर्जरा हो रही है।

जब साधक आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, तब वही निर्जरा कर्म-फल से रहित होती है, जिसे 'अविपाक-निर्जरा' कहते हैं, जो मोक्षमार्ग में सहकारी होती है, इसलिये यही वास्तविक-निर्जरा है।

(दोहा)

जो नव-करम पुरानसौं, मिले गाँठ दिढ़ होइ।

सकति बढ़ावै वंश की, बंध-पदारथ सोइ॥ 33॥

शब्दार्थ :— जो नवकरम पुरानसौं= जब नवीन-कर्म पुराने-कर्मों से, मिले गाँठ दिढ़ होइ= मिलते हैं, तो और मजबूती से दृढ़ हो जाते हैं, सकति गाँठ दिढ़ होइ= वंश-परम्परा की शक्ति को बढ़ाते हैं, बंध-पदारथ सोइ= वही 'बंध-पदार्थ' है।

विशेषार्थ :— बंध-तत्त्व का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जब नवीन-कर्म पुराने-कर्मों से मिलते हैं, तो कर्मशक्ति और मजबूत हो जाती है, जो कर्मों की वंश-परम्परा को बढ़ाता है, वही 'बंध-पदार्थ' है।

कवि ने इन दो-पंक्तियों में बंध-तत्त्व का बहुत ही सटीक-वर्णन किया है। जब नवीन-कर्म पुराने-कर्म से मिलते हैं, अर्थात् पूर्व-कर्म तो उदय में निर्जरित होने के लिये ही आया है, उससे नवीन-कर्मबंध तभी होता है, जब हमारा उपयोग उस उदयजनित-कर्म से जुड़ता है, यदि हम उस उदयजनित-कर्म से न जुड़ें, तो नवीन-कर्मों का बंध अर्थात् कर्मों की वंश-परम्परा में वृद्धि नहीं होगी, और पुराना-कर्म तो अपनी स्थिति पूरी कर चुका है, सो वह तो खिरेगा ही।

इस विवक्षा से सिद्ध होता है कि यदि हम कर्म के उदय में समता-भाव रखें, तो वर्तमान में होने वाली आकुलता और नवीन-कर्मबंध— दोनों से बच जायेगें, और सच्चे-सुख का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

(दोहा)

थिति-पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद-हानि।

हंस-अंस उज्ज्वल करै, मोक्षतत्त्व सो भानि॥ 34॥

शब्दार्थ :— थिति-पूरन करि जो कर्म= स्थितिबंध पूरा करके जो कर्म, खिरै बंधपद-हानि= बंधदशा को नष्ट करके खिरता हैं, हंस-अंस उज्ज्वल करै= आत्मा की पर्याय को निर्मल करता है, मोक्षतत्त्व सो भानि= उसे मोक्षतत्त्व जानो।

विशेषार्थ :— मोक्षतत्त्व का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके खिरने से पहले बंधदशा को भी नष्ट कर लेता है, और हंस यानि आत्मा के गुणों को निर्मल करता है, उसे मोक्षतत्त्व जानो।

'मोक्ष' अर्थात् संपूर्ण-कर्मों का आत्मप्रदेशों से अलग हो जाना। जो कर्म-क्षय होने से पहले बंधदशा को भी नष्ट करता है अर्थात् जिन कर्मों का उदय आकर निर्जरा तो हो जाये, किन्तु पुनः बंध न हो, वही मोक्ष-अवस्था है।

(देहा)

भाव पदार्थ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व।

द्रविन अरथ इत्यादि बहु, वस्तु नाम ये सर्व॥ 35॥

शब्दार्थ :— भाव पदार्थ समय धन= भाव, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व= तत्त्व, वित्त, वसु, दर्व, द्रविन अरथ आदि बहुत से= द्रविन अर्थ आदि बहुत से, वस्तु नाम ये सर्व= ये सभी वस्तु के नाम हैं।

विशेषार्थ :— 'वस्तु' के पर्यायवाची-शब्दों का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि भाव, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व, वित्त, वसु, दर्व, द्रविन, अर्थ— ये सब 'वस्तु' के पर्यायवाची नाम हैं।

(सवेया इकतीसा)

परम-पुरुष परमेशुर परम-ज्योति, परब्रह्म पूरन परम-परधान है।

अनादि-अनंत अविगत अविनाशी अज, निरदुंद सुकत मुकुंद अमलान है॥

निराबाध निगम निरंजन निरविकार, निराकार संसार-सिरोमनि सुजान है।

सरब-दरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव, धनी नाथ ईस जगदीस भगवान् है॥ 36॥

शब्दार्थ :— परम-पुरुष परमेशुर परम-ज्योति= प्रधान-पुरुष, परमेश्वर, परम-ज्योति, परब्रह्म पूरन परम परधान= परब्रह्म, पूर्ण, परम (श्रेष्ठ), प्रधान, अनादि-अनंत अविगत अविनाशी अज= अनादि-अनंत, अमर, विनाश-रहित, अजन्मा, निरदुंद सुकत मुकुंद अमलान है= निर्द्वन्द (द्वन्द-रहित), सुकृत अर्थात् पवित्र-कार्यरूप, कमल के समान निर्मल हैं, निराबाध निगम निरंजन निरविकार= बाधा से रहित, ज्ञानस्रोत, कालिमा/दोषरहित, विकार से रहित, निराकार संसार-सिरोमनि सुजान है= आकार-रहित, संसार के शिरोमणि, सुज्ञानी हैं, सरब-दरसी सर्वज्ञ सिद्ध स्वामी सिव= सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सिद्ध, नाथ, शिव, धनी नाथ ईस जगदीस भगवान् है= (सर्वगुण) सम्पन्न, जिसकी आदि या शुरुआत न हो, ईश्वर, जगत् के ईश, भगवान् हैं।

विशेषार्थ :— शुद्ध-जीव के नामों का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि शुद्ध-जीव 'प्रधानपुरुष' अर्थात् परमपुरुष, 'परमेश्वर', 'परमज्योति', 'परमब्रह्म', 'पूर्ण', 'परमप्रधान', आदि से रहित 'अनादि', अंत से रहित 'अनंत', 'अविगत' अर्थात् अमर, कभी विनष्ट नहीं होने से 'अविनाशी', 'अज' अर्थात् अजन्मा, समस्त-द्वन्द से रहित 'निर्द्वन्द', पवित्र कार्यरूप अर्थात् 'सुकृत' और 'मुकुंद-अमलान' अर्थात् कमल के समान निर्मल है।

शुद्ध-जीव के बाधारहित अर्थात् 'निराबाध', ज्ञान के स्रोत 'निगम', कालिमा-रहित 'निरंजन',

विकारों से रहित 'निर्विकार', देह के आकार से रहित 'निराकार', संसार के शिरोमणि अर्थात् 'सिरताज', 'सुज्ञानी' अर्थात् सुज्ञान, सर्वलोक को देखनेवाले 'सर्वदर्शी', समस्त लोक को जाननेवाले 'सर्वज्ञ', अनंतगुणों की सिद्धि करनेवाले 'सिद्ध', स्वयं के अधिपति अर्थात् 'स्वामी', मुक्त आत्मा अर्थात् 'शिव', सर्वगुण-संपन्न अर्थात् 'धनी', आदि-अंत से रहित त्रिकाल एकसमान अर्थात् 'नाथ', जगत् के स्वामी अर्थात् 'जगदीश', तथा 'ऐश्वर्य', 'वीर्य', 'स्मृति', 'यश', 'ज्ञान' और 'सौम्यता' आदि गुणों के धारी अर्थात् 'भगवान्' इत्यादि नाम हैं।

(सवैया इकतीसा)

चिदानन्द चेतन अलख जीव समैसार, बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध-उपजोगी है।

चिद्रूप स्वयंभू चिनमूरति धरमवंत, प्रानवंत प्राणी जंतु भूत भवभोगी है॥

गुनधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी, अंगधारी संगधारी जोगधारी जोगी है।

चिन्मय अखंड हंस अक्षर आतमराम, करम कौ करतार परम-विजोगी है॥ 37॥

शब्दार्थ :— चिदानन्द चेतन अलख जीव समैसार= चिदानन्दरूपी, चेतन, इंद्रियों से अगोचर, जीव, समयसार, बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध-उपजोगी है= ज्ञानी, अज्ञानी, अशुद्ध-उपयोग-स्वरूपी है, चिद्रूप स्वयंभू चिनमूरति धरमवंत= चिद्रूप, स्वयंभू, चैतन्य की मूर्ति, धर्मात्मा, प्रानवंत प्राणी जंतु भूत भवभोगी है= दस प्राण-सहित प्राणी, जंतु, भूत, संसार का भोग करनेवाला है, गुनधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी= गुणों को धारण करनेवाला, कलाओं में निपुण, नानारूप रखनेवाला, विद्याओं में निपुण, अंगधारी संगधारी जोगधारी जोगी है= अंगोपांग सहित, संयोगीभाव सहित, योग को धारण करनेवाला, योगी, चिन्मय अखंड हंस अक्षर आतमराम= चैतन्यमय, खंड-रहित, आत्मा, अविनाशी, आत्माराम, करम कौ करतार परम विजोगी= कर्म को करनेवाला, श्रेष्ठ-त्यागी।

विशेषार्थ :— जीवद्रव्य के नामों का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जीवद्रव्य के 'चिदानन्द' अर्थात् चैतन्य के आनंद का रसास्वादन करनेवाला, 'चेतन' अर्थात् जड़ता से रहित 'अलख' अर्थात् इंद्रियों से अगोचर, 'जीव' अर्थात् सुख-दुःख का वेदन करनेवाला, 'समयसार' अर्थात् शुद्धात्मा, बुद्धरूप अर्थात् ज्ञानी, अबुद्धरूप अर्थात् अज्ञानी, अशुद्ध-उपयोग-स्वरूपी अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूपी विकार-सहित है, जो चिद्रूप अर्थात् चैतन्य-स्वरूप, स्वयंभू, चैतन्य की मूर्ति, धर्म को धारण करनेवाला धर्मात्मा, दस-प्राणों से सहित प्राणवंत, प्राणी, जंतु, भूत, भवभोगी अर्थात् संसार या कर्मफल का भोग करनेवाला है।

वह जीव अनंतगुणों को धारण करनेवाला, कलाओं में निपुण, विभिन्न-रूपों को धारण करनेवाला, विद्याओं का पारगामी, अंगोपांग से सहित, संयोगी-भावों से सहित, मन, वचन, काय तीनों योगों को धारण करनेवाला, योगी यानि तपस्वी है। जो चैतन्यरूप, खंडरहित अखंड, आत्मा, अविनाशी, कर्म का बंध करनेवाला और परम-वियोगी अर्थात् श्रेष्ठ त्यागी है।

(दोहा)

खं विहाय अंबर गगन, अंतरिक्ष जगधाम।

व्योम वियत नभ मेघपथ ये आकाश के नाम॥ 38॥

शब्दार्थ :— खं= आकाश, विहाय= वह स्थान जहाँ पक्षी उड़ते हैं, अंबर= अम्बर, गगन= गगन, अंतरिक्ष= जहाँ तारामंडल विद्यमान हो, जगधाम= लोक जिसमें रहता हो, व्योम= व्योम, वियत= आकाश, नभ= नभ, मेघपथ= मेघों के गमन का मार्ग।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने आकाश-द्रव्य के विविध-नामों का उल्लेख किया है। खं, विहाय, अंबर, गगन, अंतरिक्ष, जगधाम, व्योम, वियत, नभ, मेघपथ- ये सभी 'आकाश-द्रव्य' के विविध नामान्तर हैं।

(दोहा)

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान।
प्राणहरन आदित-तनय, काल नाम परवान॥ 39॥

शब्दार्थ :— जम= यमराज, कृतांत= जो जीवन का अंत करता हो, अंतक= आयुर्कर्म का अंत करानेवाला, त्रिदश= भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों दशाओं रूप, आवर्ती= जन्म-मरणरूप परिभ्रमण करानेवाला, मृतथान= मरण का स्थान, प्राणहरन= प्राण-हरण करनेवाला, आदिततनय= आदित्य/सूर्य का पुत्र।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'काल-द्रव्य' के विविध-नामों का उल्लेख किया है। जम, कृतांत, अंतक, त्रिदस, आवर्ती, मृतथान, प्राणहरन, आदित-तनय - ये सभी 'काल-द्रव्य' के विविध नामान्तर हैं। इनमें मात्र जैन-परम्परागत प्रयोग ही किये गये हों— ऐसा नहीं है, बल्कि लोक में प्रचलित-नामों व मान्यताओं का भी समावेश इनमें है— यह बात ध्यान रखना अनिवार्य है।

(दोहा)

पुण्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म॥ 40॥

शब्दार्थ :— पुण्य= पुण्य, सुकृत= अच्छा कार्य, ऊरधवदन= ऊपर मुँह रखनेवाला, अकररोग= मानकषाय के परिणामस्वरूप होनेवाली अकड़ने रूप रोग, शुभकर्म= अच्छे कार्य, सुखदायक= सुख देने वाला, संसारफल= जिसके होने पर संसार को सफल माना जाता है, भाग= भाग्य, बहिर्मुख= जो जीव को बहिर्मुखी बनानेवाला है, धर्म= जिसे व्यवहार-धर्म कहा जाता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'पुण्य' के विविध नामों का उल्लेख किया है। पुण्य, सुकृत, ऊरधवदन, अकररोग, शुभकर्म, सुखदायक संसारफल, भाग, बहिर्मुख, धर्म - ये सब 'पुण्य' के विविध नामान्तर हैं।

(दोहा)

पाप अधोमुख एन-अघ, कंपरोग दुःखधाम।
कलिल-कलुस किल्बिष दुरित, असुभ-कर्म के नाम॥ 41॥

शब्दार्थ :— पाप= पाप, अधोमुख= नीचे की ओर मुख अर्थात् नरकादि नीचगतियों में ले जानेवाला, एन-अघ= घोर पाप, कंपरोग= जिसके उदय से भयभीत होकर जीव काँपता है ऐसा कंपन-रोग, दुःख-धाम= दुःखों का घर, कलिल-कलुस= कलिकाल का मैल, किल्बिष= शत्रु, दुरित= दुर्भाव।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने 'पाप' के विविध-नामों का उल्लेख किया है। पाप, अधोमुख, एन-अघ, कंपरोग, दुःखधाम, कलिल-कलुस, किल्बिष, दुरित— ये सब 'अशुभकर्म' या 'पाप' के विविध नामान्तर हैं।

(दोहा)

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवपथ अविचलथान।
मोख मुकति वैकुण्ठ सिव, पंचमगति निरवान॥ 42॥

शब्दार्थ :— सिद्धक्षेत्र= मुक्त-जीव जहाँ रहते हैं, त्रिभुवनमुकुट= जो तीनों लोकों का मुकुट है, शिवपथ= जो मुक्ति का मार्ग है, अविचलथान= ऐसा स्थान जहाँ जाने के बाद अनंतकाल तक स्थिर रहते हैं, पुनः संसार में जन्म-मरण नहीं होगा, मोक्ष= मोक्षस्वरूप, मुक्ति= मुक्ति, वैकुण्ठ= वयः यानि आयुर्कर्म जहाँ कुंठित हो जाये अर्थात् जन्म-मरण से रहित अवस्था— अन्य दर्शन जिसे 'वैकुण्ठ' कहते हैं, सिव= शिव/मोक्ष, पंचमगति= चारों गतियों से पूर्णतः भिन्न, इसीलिये मोक्ष को पंचमगति भी कहते हैं, निरवान= निर्वाण अर्थात् जन्म-मरण आदि दोषों से रहित अवस्था।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने मोक्ष के विविध नामों का उल्लेख किया है। सिद्धक्षेत्र, त्रिभुवनमुकुट, शिवपथ, अविचलथान, मोक्ष, मुक्ति, वैकुण्ठ, सिव, पंचमगति, निरवान— इत्यादि 'मोक्ष' के विविध नामांतर हैं।

(दोहा)

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति बुद्धि।
सुरति मनीषा चेतना, आशय अंस विशुद्धि॥ 43॥

शब्दार्थ :— प्रज्ञा= तीक्ष्ण धार, धिसना= वाक्-शक्ति, सेमुसी= बुद्धि/समझ, धी= ज्ञान, मेधा= प्रतिभा, मति= बुद्धि, सुरति= सद्बुद्धि, मनीषा= अक्ल, चेतना= ज्ञान, आशय= संस्कार, अंस= विवेक, विसुद्धि= विशेष ज्ञान

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने 'बुद्धि' के विविध-नामों का उल्लेख किया है। प्रज्ञा, धिसना, सेमुसी, धी, मेधा, मति, बुद्धि, सुरति, मनीषा, चेतना, आशय, अंस, विशुद्धि— इत्यादि 'बुद्धि' के विविध-नामान्तर हैं।

(दोहा)

निपुण विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान्।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान्॥ 44॥
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुनीजन संत॥ 45॥

शब्दार्थ :— निपुण= चतुर, विचच्छन= विलक्षण, विबुध-बुध= विविध-शास्त्रों का ज्ञाता, विद्याधर= विद्याओं के धारी, विद्वान्= विशेष-ज्ञानी, पटु= चतुर, प्रवीन= बुद्धिमान्, पंडित= पंडित, चतुर= चतुर, सुधी= सुधारक, सुजन= सुजान, मतिमान= बुद्धिमान्, कलावंत= कलाओं के धनी, कोविद= पंडित या वेदज्ञ, कुसल= चतुर, सुमन= विवेकी या विचारवान, दच्छ= निपुण, धीमंत= विद्वान्, ज्ञाता= जानकार, सज्जन= सज्जन, ब्रह्मविद= ब्रह्म विद्या के जानकार, तज्ञ= विशेष ज्ञानी, गुनीजन= गुणवान्, संत= निस्पृही।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने 'विचक्षण-पुरुष' के विविध नामों का उल्लेख किया है। निपुण, विचच्छन, विबुध-बुध, विद्याधर, विद्वान्, पटु प्रवीन, पंडित, चतुर, सुधी, सुजन, मतिमान, कलावंत, कोविद, कुसल, सुमन, दच्छ, धीमंत, ज्ञाता, सज्जन, ब्रह्मविद, तज्ञ, गुनीजन, संत— इत्यादि 'विचक्षण-पुरुष' के विविध नामान्तर हैं।

(दोहा)

मुनि महंत तापस तपी, भिच्छुक चारितधाम।
जती तपोधन संयमी व्रती, साधु ऋषि नाम॥ 46॥

शब्दार्थ :- मुनि, महंत= महिमायुक्त, तापस=तपस्वी, तपी= तप करनेवाले, भिच्छुक= भिच्छा लेनेवाले, चारितधाम= चारित्र को धारण करनेवाले, जती= यती, तपोधन= तपस्वी, संयमी= इन्द्रियों को वश में करनेवाले, व्रती= व्रतादिक धारण करनेवाले, साधु ऋषि= साधु और ऋषि।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने 'मुनि' के विविध नामों का उल्लेख किया है। मुनि, महंत, तापस, तपी, भिच्छुक, चारितधाम, जती, तपोधन, संयमी व्रती, साधु, ऋषि— इत्यादि 'मुनिराज' के विविध-नामान्तर है।

(दोहा)

दरस विलोकनि देखनौ, अवलोकनि दृगचाल।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल॥ 47॥

शब्दार्थ :- दरस= दर्शन, विलोकनि= विशेषरूप से देखना, देखनौ= देखना, अवलोकनि, अवलोकन करना, दृगचाल= नेत्रों को घुमाकर देखना, लखन= लखना/देखना, दृष्टि= देखना, निरखनि= निरखना/निहारना, जुवनि= जोवना, चितवन= चितैना/देखना, चाहनि= देखने की इच्छा, भाल= देखना-भालना।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने 'दर्शन' के विविध-नामों का उल्लेख किया है। दरस, विलोकनि, देखनौ, अवलोकनि, दृगचाल, लखन, दृष्टि, निरखनि, जुवनि, चितवनि, चाहनि, भाल— इत्यादि 'दर्शन' के विविध-नामान्तर हैं।

(दोहा)

ज्ञान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान।
संजम चारित आचरन, चरन वृत्ति थिरवान॥ 48॥

शब्दार्थ :- ग्यान= ज्ञान, बोध= ज्ञान, अवगम= विशेष ज्ञान, मनन= चिंतन, जगतभान= जगत को प्रकाशित करना, जगजान= जगत को जानना। संजम= संयम/इन्द्रियों और मन को वश में करना, चारित= चारित्र, आचरन= आचरण, चरन= चरण अर्थात् चरणानुयोग के अनुरूप आचरण करना, वृत्ति= चर्या, थिरवान= स्थिरता धारण करना।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने 'ज्ञान' और 'चारित्र' के विविध नामों का उल्लेख किया है। ज्ञान, बोध, अवगम, मनन, जगतभान, जगजान— ये 'ज्ञान' के विविध नाम हैं, और संजम, चारित, आचरन, चरन, वृत्ति, थिरवान— ये 'चारित्र' के विविध नाम हैं।

(दोहा)

सम्यक् सत्य अमोघ सत्, निसंदेह निरधार।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिथ्या आदि अकार॥ 49॥

शब्दार्थ :- सम्यक्= यथार्थ, सत्य, अमोघ= अकाट्य, सत्= सत्य, निसंदेह= संदेह-रहित, निरधार= निर्णयात्मक, न कि दुलमुल-रूप, ठीक= सही, जथारथ= यथार्थ, उचित=ठीक, तथ= तथ्यात्मक।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने सत्य के विविध नामों का उल्लेख किया है। सम्यक्, सत्य, अमोघ, सत्, निसंदेह, निरधार, ठीक, जथारथ, उचित, तथ— ये 'सत्य' के विविध नाम हैं। इनमें शुरु में 'अकार' अर्थात् 'अ' जोड़ने से 'मिथ्या' अर्थात् 'झूठ' के नाम बनते हैं।

(दोहा)

अजयारथ मिथ्या मृषा, वृथा असत्त अलीक।

मुधा मोघ निःफल वितथ' अनुचित असत् अठीक॥50॥

शब्दार्थ :- अजयारथ= अयथार्थ, मिथ्या= झूठ, मृषा= झूठ, वृथा= व्यर्थ की बकवास, असत्त= असत्य, अलीक= झूठ, मुधा= मिथ्या, मोघ= जो अकाट्य न हो, निःफल= निष्फल, वितथ= अयथार्थ, अनुचित= उचित नहीं, असत्= सत्य के विपरीत, अठीक= ठीक नहीं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने 'झूठ' के विविध नामों का उल्लेख किया है। अजयारथ, मिथ्या, मृषा, वृथा, असत्त, अलीक, मुधा, मोघ, निःफल, वितथ, अनुचित, असत्, अठीक— ये 'झूठ' के विविध-नामान्तर हैं।

(सवैया इकतीसा)

जीव निरजीव करता-करम पुन-पाप, आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।

सरव-विसुद्धि स्यादवाद साध्य-साधक, दुवादश दुवार धरै समैसार कोष है॥

दरवानुयोग दरवानुजोग दूर करै, निगमकौ नाटक परमरस-पोष है।

सो परमागम बनारसी बखानै जामै, ग्यानकौ निदान सुद्ध चारित की चोष है॥51॥

शब्दार्थ :- जीव निरजीव करता-करम पुन-पाप= जीव, अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है= आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सरव-विसुद्धि स्यादवाद साध्य-साधक= सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद, साध्य-साधक, दुवादश दुवार धरै समैसार कोष है= समयसार कोश में बारह (12) द्वार/ अधिकार हैं, दरवानुयोग दरवानुजोग दूर करै= द्रव्यानुयोग, द्रव्यों के अनुयोग यानि संबंध से दूर करके, निगम कौ नाटक परमरस-पोष है= आत्मा का नाटक परमशांति का पोषक है, सो परमागम बनारसी बखानै= उस श्रेष्ठ-आगम का बनारसीदास बखान करते हैं या कहते हैं, जामै ग्यानकौ निदान सुद्ध-चारित की चोष है= इसमें ज्ञान का कारण शुद्ध-चारित्र की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ :- 'समयसार जी' की 'आत्मख्याति-टीका' के बारह-अधिकारों का उल्लेख करते हुये कविवर कहते हैं कि समयसार जी ग्रंथ के खजाने में 'जीव-अधिकार', 'अजीव-अधिकार', 'कर्ता-कर्म अधिकार', 'पुण्य-पाप अधिकार', 'आस्रव-अधिकार', 'संवर-अधिकार', 'निर्जरा-अधिकार', 'बंध-अधिकार', 'मोक्ष-अधिकार', 'सर्वविशुद्धि-अधिकार', 'स्यादवाद-अधिकार', 'साध्य-साधक अधिकार'— ये बारह-द्वार है, इन दरवाजों से गुजरने पर अर्थात् आत्मसात् करने पर मोक्षरूपी महल का दरवाजा खुलता है।

'समयसार जी' की महिमा का गुणगान करते हुये कविवर कहते हैं कि यह 'समयसार जी' ग्रंथ 'द्रव्यानुयोग' का सर्वश्रेष्ठ-ग्रंथ है। और आत्मा को द्रव्यों के अनुयोग से अर्थात् पर-द्रव्यों के संयोग से भिन्न करके स्वानुभूति अर्थात् मोक्ष के मार्ग पर चलने की कला सिखाता है। यह आत्मा का नाटक अर्थात् समय का सार परमशांत-रस का पोषक है, अर्थात् 'समयसार जी' को पढ़कर आत्मचिंतन-मनन करने से अद्भुत-शांति की प्राप्ति होती है। इसके चिंतन-मनन से सम्यग्ज्ञान का उदय और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है, इसीलिये 'पंडित बनारसीदास जी' कहते हैं कि 'मैं इसका पद्य-शैली में बखान अर्थात् वर्णन करता हूँ।'



(प्रथम अधिकार)

जीव-द्वार

(दोहा)

शोभितनिज-अनुभूति-जुत, चिदानन्द भगवान्।

सार-पदारथ आत्मा, सकल-पदारथ जान ॥ 1 ॥

शब्दार्थ :- शोभित निज-अनुभूति जुत= निज-आत्मानुभूति सहित सुशोभित हैं, चिदानन्द भगवान्= चैतन्य-स्वरूप भगवान्, सार-पदारथ आत्मा सकल-पदारथ जान= समस्त पदार्थों में सार या प्रयोजनभूत-पदार्थ भगवान् आत्मा जानो।

विशेषार्थ :- 'चिदानन्द भगवान्' की स्तुति करते हुये कविवर कहते हैं कि निज/आत्मा की अनुभूतिरूपी आनंद से सुशोभित, समस्त पदार्थों में सारभूत, और समस्त पदार्थों को जाननेवाला है,— ऐसा चिदानन्द भगवान् आत्मा है।

(सवैया तेईसा)

जो अपनी दुति आप विराजत, है परधान-पदारथ नामी।

चेतन-अंक सदा निकलंक, महा-सुखसागर कौ विसरामी॥

जीव-अजीव जिते जग में, तिनकौ गुन-ज्ञायक अंतरजामी।

सो सिवरूप बसै सिव-थानक, ताहि विलोकि नमै सिवगामी॥ 2 ॥

शब्दार्थ :- जो अपनी द्युति आप विराजत= जो अपनी द्युति/ज्योति से स्वयं प्रकाशित है, है परधान-पदारथ नामी= प्रधान/सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध-पदार्थ है, चेतन-अंक सदा निकलंक= चेतन आत्मा हमेशा कलंकरहित अर्थात् निर्विकार, महा-सुखसागर कौ विसरामी= अपार-सुखरूपी समुद्र में विश्राम करता हैं, जीव-अजीव जिते जग में= जीव-अजीव जगत् में जितने हैं, तिनकौ गुन-ज्ञायक अंतरजामी= उन सभी के गुणों को जाननेवाले अंतर्यामी, सो सिवरूप बसै सिवथानक= वह मोक्षस्वरूप मोक्षस्थली अर्थात् सिद्धालय में रहते हैं, ताहि विलोकि नमै सिवगामी= उनको देखकर (ये) मोक्षगामी-जीव नमन करता है।

विशेषार्थ :- 'सिद्ध भगवान्' की स्तुति करते हुये कविवर कहते हैं कि जो अपने अनंत-गुणों की ज्योति से स्वयं प्रकाशित हैं, जगत् के समस्त-पदार्थों में प्रधान और प्रसिद्ध है, जो समस्त-विकारों से रहित मात्र चैतन्य-चमत्कार-स्वरूप हैं, और निरन्तर अपने अनंत-सुखरूपी महासागर में केलि करते हैं अर्थात् अतीन्द्रिय-आनंद का रसास्वादन करते हैं।

जगत् में जितने भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं, उन सभी को उनके गुण और पर्यायों सहित जानते हैं, अर्थात् भगवान् के ज्ञान में जगत् के समस्त चराचर-पदार्थ झलकते हैं, इसीलिये उनका 'अंतर्यामी' नाम सार्थक है। वे सिद्ध-भगवान् स्वयं भी मोक्षस्वरूप हैं, और मोक्षस्थली अर्थात् सिद्धालय में विराजमान हैं। कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि ऐसे सिद्ध भगवान् को शिवगामी अर्थात् मुक्ति के मार्ग पर चलनेवाला (बनारसीदास) बारम्बार नमन करता है।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते। चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ 1 ॥

(सवैया तेईसा)

जोग धरै रहैं जोगसौं भिन्न, अनंत-गुनातम केवलज्ञानी।
तासु हृदै-द्रहसौं निकसी, सरिता-सम है श्रुत-सिन्धु समानी॥
यातैं अनंत-नयातम-लच्छन, सत्य-स्वरूप सिधंत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध, सदा जगमाँहि जगै जिनवानी॥ 3॥

शब्दार्थ :— जोग धरै रहैं जोग सौं भिन्न= योगसहित होने पर भी योग से भिन्न रहते हैं, अनंत-गुनातम केवलज्ञानी= अनंत-गुणों के धारी केवली भगवान्, तासु हृदै-द्रहसौं निकसी= उनके हृदयरूपी सरोवर से निकली, सरिता-सम है श्रुत-सिन्धु समानी= नदी के समान होकर शास्त्ररूपी समुद्र में समा गई, यातैं अनंत-नयातम-लच्छन= इसीलिए अनंत-नयात्मक लक्षण, सत्य-स्वरूप-सिधंत बखानी= सत्य-स्वरूप शास्त्रों में कहा है, बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध= ज्ञानी-जीव लखते/समझते हैं, दुर्बुद्धि अर्थात् अज्ञानी जीव नहीं लखते/समझते हैं, सदा जगमाँहि जगै जिनवानी= जिनेन्द्रदेव की वाणी हमेशा जगत् में जागृत/प्रसारित रहे।

विशेषार्थ :— जिनवाणी माँ की स्तुति और महिमा का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि अनंत-गुणों के धारी केवलज्ञानी तीर्थकर-परमात्मा मन-वचन और काय— तीनों योगों से सहित होने पर भी, योगों से रहित प्रवर्तन करते हैं। उनके हृदयरूपी सरोवर से दिव्यध्वनि प्रस्फुटित हुई, जिसप्रकार नदी बहती हुई आखिर में समुद्र में जाकर मिल जाती है, ठीक उसीप्रकार तीर्थकर-परमात्मा की दिव्यध्वनि द्वादशांग-वाणीरूपी समुद्र में समा गई अर्थात् प्रवेश कर गई।

तीर्थकर-परमात्मा की वाणी होने से यह अनंत-नयात्मक है, और वस्तु के सत्य-स्वरूप का दिग्दर्शन करानेवाली है— ऐसा शास्त्रों में वर्णित है। इसका रसास्वादन मात्र ज्ञानी-जीव ही करते हैं, मूढ़मति दुर्बुद्धि अज्ञानी-जीव जो नयज्ञान से शून्य हैं, वे इसके मर्म को नहीं समझते। कविवर भावना भाते हैं कि ऐसी जिनवाणी माँ तीनों लोकों में सदा जयवंत रहे।

(छप्पय-छंद)

हौं निश्चय तिहुँकाल सुद्ध-चेतनमय-मूरति,
पर-परनति-संजोग भई जड़ता विस्फूरित।
मोह-कर्म पर-हेतु पाइ चेतन पर-रच्छड़,
ज्यौं धतूर-रसपान करत नर बहुविध नच्छड़॥

अब समयसार वरनन करत, परम-सुद्धता होहु मुझ।

अनयास बनारसिदास कहि, मिटहु सहज भ्रमकी अरुझ॥ 4॥

शब्दार्थ :— हौं तिहुँकाल सुद्ध-चेतनमय-मूरति= मैं त्रिकाल-शुद्ध ज्ञान-दर्शन चेतना-स्वरूप हूँ, पर-परनति संजोग भई जड़ता विस्फूरित= पर-परिणति के संयोग से जड़ता विस्फुरित/प्रगट हुई, मोह-कर्म पर-हेतु पाइ चेतन पर-रच्छड़= मोहनीय-कर्मरूपी परपदार्थ का निमित्त पाकर चेतन 'पर' से राग करता है, ज्यौं धतूर-रसपान करत नर बहुविध नच्छड़= जिसप्रकार धतूरे का रस पीकर व्यक्ति विविध-प्रकार से नाचता है, अब समयसार-वरनन करत= अब 'समयसार' का वर्णन करने से, परम-सुद्धता होहु मुझ= मुझे परम-शुद्धता होवे, अनयास

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः। अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ 2 ॥

परपरिणति-हेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-दविरतमनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः।

मम परविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवंतु समयसार-व्याख्यैवानुभूतेः॥ 3 ॥

बनारसिदास कहि= बनारसीदास कहते हैं कि बिना किसी विशेष-प्रयास के, सहज मिटहु भ्रम की अरुझ= अब सहज ही भ्रम की उलझन मिट गई है।

विशेषार्थ :— सामान्य-जीव के स्वरूप और परिणति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि निश्चय से तो मैं (जीव) त्रिकाल-शुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावी चैतन्यमूर्ति हूँ, परन्तु पर-परिणति अर्थात् निज-आत्मस्वरूप से भिन्न पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करने से मेरी परिणति जड़रूप हो गई है, अर्थात् अज्ञानतारूप परिणामन कर रही है। जैसे कोई धतूरे का रस पीकर 'मैं कौन हूँ'— यह तो भूल जाता है और विविधप्रकार अर्थात् नानाप्रकार के रूप रखकर नाचता है, ठीक उसीप्रकार यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर मोह-कर्म के निमित्त से प्राप्त-पर्याय में तन्मय होकर अपने को मनुष्य, तिर्यच, नारकी और देव मानकर नानाप्रकार के रूप रखकर चार गति चौरासी-लाख योनियों में नाचता रहता है अर्थात् परिभ्रमण करता हुआ दुःखी होता है।

प्रतिसमय बाहर में 'समयसार जी' ग्रंथ का और अंतरंग में 'समयसार-स्वरूप आत्मा' का चिंतन-मनन करने से मेरे अंदर भी परम-शुद्धता प्रकट हो गई है, अर्थात् मिथ्यात्व की कालिमा अब अपना अस्तित्व खो चुकी है। इसीलिये कविवर कहते हैं कि अनायास ही यानि विभिन्न-ग्रंथों को पढ़े बिना ही मेरी मिथ्यात्वपरक सभी उलझनें अपने आप ही सुलझ गई है, अर्थात् सभी भ्रान्तियाँ दूर हो गई हैं।

(सवैया इकतीसा)

निहचैमैं रूप-एक, विवहार में अनेक हैं, यही नै-विरोध में जगत् भरमायो है।

जग के विवाद नासिबै को जिन-आगम है, जामैं 'स्याद्वाद' नाम लच्छन सुहायौ है॥

दरसनमोह जाको गयौ है सहजरूप, आगम-प्रमान ताके हृदय में आयौ है।

अनैसौं अखंडित अनूतन अनंत-तेज, ऐसो पद-पूरन तुरंत तिनि पायौ है॥ 5॥

शब्दार्थ :— निहचैमैं रूप-एक, विवहार में अनेक हैं= निश्चय से पदार्थ एकरूप है और व्यवहार से अनेकरूप हैं, यही नै-विरोध में जगत् भरमायो है= इसी नय-विरोध में संसार भ्रमित है, जग के विवाद नासिबै को जिन-आगम है= संसार के झगड़ा खतम करने को जिनेन्द्र-प्रणीत वचन हैं, जामैं 'स्याद्वाद' नाम लच्छन सुहायौ है= इसमें 'स्याद्वाद' नाम का लक्षण/चिह्न बहुत अच्छा है, दरसनमोह जाको गयौ है सहजरूप= दर्शनमोहनीय जिसका क्षय हो जाने से सहजता से, आगम-प्रमान ताके हृदय में आयौ है= आगम के प्रमाण से उसके अंतरंग में प्रविष्ट हुआ है, अनैसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज= अनय से खंडित नहीं हो सकनेवाला, नया नहीं अर्थात् अनादि-अनंत, तेजसहित, ऐसो-पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है= ऐसा पद पूर्णरूप से शीघ्र ही उन्होंने प्राप्त किया है।

विशेषार्थ :— शास्त्र की महिमा का गुणगान करते हुये कविवर कहते हैं कि निश्चय से तो पदार्थ 'एकरूप' ही हैं, परन्तु व्यवहार से पदार्थ 'अनेकरूप' कहा गया है। जैसे निश्चयनय से आत्मा पूर्णशुद्ध ज्ञान-दर्शनमयी चेतनस्वरूप है, परन्तु व्यवहारनय से आत्मा के अशुद्ध, रागी-द्वेषी आदि अनेकरूप दिखाई देते हैं। नयों के इसी चक्रजाल में सारा जगत् भ्रमित हो जाता है, अर्थात् उसे वस्तु का सत्य-स्वरूप ख्याल में नहीं आता है। कविवर कहते हैं कि जगत् के इसी विवाद को अर्थात् नयों के चक्रजाल को खत्म करने के लिये जिनागम अर्थात् जिनेन्द्र की वाणी स्याद्वाद-लक्षण से युक्त सूर्य के समान है, क्योंकि

उभयनय-विरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥ 4॥

इसके प्रकाश में सारी भ्रांतियाँ दूर हो जाती हैं, जिससे वस्तु का यथार्थरूप नजर आने लगता है। कहने का अभिप्राय यही है कि परस्पर विरोधी अनंत-धर्मात्मक वस्तु-स्वरूप को एकमात्र 'स्याद्वाद' के द्वारा ही समझा व सिद्ध किया जा सकता है।

जिसके आत्मस्वरूप की अनुभूतिपूर्वक दर्शनमोहनीय-कर्म विनाश को प्राप्त हो गया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो चुकी है, आगम का रहस्य भी उसी के हृदय में प्रवेश करता है अर्थात् उसी की समझ में आता है। कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मानुभूति के बिना आगमज्ञान कितना भी हो, उसकी कीमत 'शून्य' के बराबर ही होती है। ऐसे जीव को यानि सम्यग्दृष्टि-जीव को अनादि-अनंत, अखंडित तेजवान् आत्मस्वरूप की प्राप्ति शीघ्रतिशीघ्र होती है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सहज और अवश्य होती है।

(सवैया इकतीसा)

ज्यों नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि, सोइ हितू जो गहै दिढ़बाही।
 त्यों बुध को विवहार भलौ, तबलौं जबलौं सिव-प्रापति नाहीं॥
 यद्यपि यौं परवान तथापि, सधै परमारथ चेतनमाँहीं।
 जीव अव्यापक है परसौं, विवहारसौं तौ पर की परछाहीं॥ 6॥

शब्दार्थ :— ज्यों नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि= जैसे कोई पुरुष पहाड़ से गिरे, सोइ हितू जो गहै दिढ़बाही= उसे (जो बीच में ही अपनी) भुजाओं के बल से पकड़ ले, वही हितैषी है, त्यों बुध को विवहार भलौ है= उसीप्रकार ज्ञानी को व्यवहार अच्छा है, तबलौं जबलौं सिव-प्रापति नाहीं= तबतक, जबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यद्यपि यौं परवान तथापि= यद्यपि ये प्रमाण/सत्य है, फिर भी, सधै परमारथ चेतनमाँहीं= चेतनस्वरूप निश्चय से ही सधता/दृढ़ होता है, जीव अव्यापक है परसौं= आत्मा पर से अव्याप्त है, विवहारसौं तौ पर की परछाहीं= व्यवहार से तो पर की ही परछाई मात्र है।

विशेषार्थ :— एक बहुत ही सटीक-उदाहरण के माध्यम से 'निश्चयनय की श्रेष्ठता' सिद्ध करते हुये कवि कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष पहाड़ से फिसले या गिरे, तो जमीन पर पहुँचने से पहले कोई अन्य-पुरुष उसे अपनी भुजाओं का सहारा दे दे, तो वह व्यक्ति नीचे गिरने से बच जाता है, और पुनः ऊपर चढ़ने का प्रयास करता है। ठीक उसीप्रकार यदि कोई साधक अपने स्वरूप से च्युत होता है, या कहें कि उपयोग स्वरूप में स्थिर न रह पाये, तब उसके लिये व्रत-तप-स्वाध्यायरूप व्यवहार उस आश्रय के समान है, जहाँ कुछ देर रुककर पुनः स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है। इस दृष्टि से वह व्रत-तप आदि के भाव भी ज्ञानी के लिये भले हैं, अर्थात् करने योग्य हैं। और वह साधक जबतक स्वरूप में पूर्णरूप से स्थिरता यानि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तबतक कर सकता है, लेकिन प्रयास स्वरूप में स्थिरता का ही रहता है।

—यह कहकर कवि ने एक तथ्य और स्पष्ट किया कि व्यवहार भी हमेशा निश्चय के साथ ही होता है। अकेला व्यवहार तो शुभभाव है, जिससे कर्म बंधते हैं, कर्मों की निर्जरा नहीं होती। कहने का अभिप्राय यही है कि जो स्वरूप की साधना से च्युत हुये हैं, उनके ही व्रत-तपादिक व्यवहाररूप धर्म होता है, और कार्यकारी भी है, लेकिन जो अभी स्वरूप के नजदीक भी नहीं पहुँचे, उनके लिये तो ये व्रतादिक के भाव मात्र शुभभाव हैं, व्यवहार-धर्म भी नहीं।

व्यवहरणनयः स्याद् यद्यपि प्राक्पदव्या-मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं, पर-विरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥ 5॥

यद्यपि ज्ञानी के जीवन में व्यवहार होता है, फिर भी कविवर कहते हैं कि ये कथन भी परम-सत्य है कि निश्चयनय ही जीव के स्वरूप का यथार्थ-प्रतिपादन करता है, व्यवहारनय नहीं। जीव तो पर में अव्यापक अर्थात् पूर्ण-भिन्न है। व्यवहार पर की परछाई ही है अर्थात् व्यवहारनय जीव को पराधीन ही कहता है।

वास्तव में देखा जाये, तो निश्चय ही वस्तु के यथार्थ-स्वरूप का प्रतिपादक है, यद्यपि सम्यग्दृष्टि/ज्ञानी जीव को मोक्ष प्राप्त करने तक व्यवहार का अवलंबन रहता है, लेकिन फिर भी ज्ञानी-जीव को यह श्रद्धान हमेशा रहता है कि व्यवहार कर्मबंध का कारण होने से मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत नहीं है, इसलिये उसकी व्यवहार में प्रवृत्ति हमेशा उदासीन ही रहती है।

(सवैया इकतीसा)

शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानन्द, अपनै ही गुन-परजाय को गहतु है।

पूरन-विग्यानघन सो है विवहार-माँही, नव-तत्त्वरूपी पंच-दर्व में रहतु है॥

पंच-दर्व नव-तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै, सम्यकदरस यहै और न गहतु है।

सम्यकदरस जोई आतम-सरूप सोई, मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है॥ 7॥

शब्दार्थ :- शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानन्द= शुद्ध-निश्चयनय से अकेला आत्मा चैतन्य-स्वरूप आनंद का पिण्ड है, अपनै ही गुन परजाय को गहतु है= अपने ही गुण-पर्यायों को ग्रहण करता है, पूरन-विग्यानघन सो है विवहार-माँही= वह ज्ञान का घनपिण्ड होते हुये भी व्यवहार-नय से, नव-तत्त्वरूपी पंच-दर्व में रहतु है= नव-तत्त्वों और पाँच द्रव्यों में रहता है, पंच-दर्व नव-तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै= जो पाँच द्रव्यों, नौ तत्त्वों से निजात्मा को भिन्न देखता है, सम्यकदरस यहै और न गहतु है= यही सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन आत्मा के अलावा और कुछ ग्रहण नहीं करता है, सम्यकदरस जोई आतम-सरूप सोई= जो सम्यग्दर्शन है, वही आतम-स्वरूप है, मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है= बनारसीदास जी कहते हैं कि वही मेरे अंतरंग में प्रगट हुआ है।

विशेषार्थ :- सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि शुद्ध निश्चय-नय से आत्मा चैतन्य-स्वरूप अनंत-आनंद का घनपिण्ड है, और स्वयं ही अर्थात् बिना किसी की अपेक्षा से अपने ही गुण और पर्यायों में परिणामन करता है। परन्तु व्यवहार-नय से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप नव-तत्त्वों और पाँच-द्रव्यों के बीच रहते हुये भी इन सबसे न्यारा है। क्योंकि एक जीव-द्रव्य को छोड़कर अन्य पाँच-द्रव्यों में न तो 'ज्ञान-गुण' है और न ही 'सुख' नाम का गुण है।

पाँच-द्रव्य और नव-तत्त्वों से जीव-तत्त्व को पूर्ण भिन्न देखना/अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' है, अर्थात् मैं परिपूर्ण-ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व अन्य सभी द्रव्यों और तत्त्वों के बीच रहता हुआ भी 'मैं इन सबसे पूर्ण-भिन्न शुद्ध-तत्त्व हूँ, अन्य किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है'— ऐसी अनुभूति/प्रतीति ही 'सम्यग्दर्शन' है। और सम्यग्दर्शन ही आत्मा का सच्चा और वास्तविक-स्वरूप है। कविवर कहते हैं कि ऐसा आत्मस्वरूप अर्थात् आत्मानुभूति मुझे भी प्रगट हो ऐसी भावना करता हूँ।

इस छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का एक बहुत सुंदर-क्रम प्रस्तुत किया। सबसे पहले पाँच-द्रव्यों से जीव को न्यारा कहा अर्थात् भिन्न बताया— ऐसा कहकर समस्त चराचर-पदार्थों, विशेषकर शरीरादि पुद्गल-द्रव्य से जीव को भिन्न कहा। उसके बाद नव-तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य-पापरूप पर्यायों) से भी भिन्न कहा अर्थात् समस्त संयोगी-भावों से पूर्ण-

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युदस्यात्मनः, पूर्णज्ञान-घनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्, तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ 6॥

भिन्न "मैं शुद्ध टंकोत्कीर्ण चेतन-तत्त्व हूँ"— जीव को जब ऐसा अनुभवन होता है— तब उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, वही आत्मा का वास्तविक-स्वरूप है। जिसे अपने अंतरंग में प्रकट होने की सूचना कवि ने इन पंक्तियों में व्यक्त की है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे तृण-काठ-बाँस-आरने इत्यादि और, ईंधन-अनेकविध पावक में दहिये।
आकृति-विलोकित कहावै आग नानारूप, दीसै एक दाहक-सुभाव जब गहिये॥
तैसे नवतत्त्व में भयो है बहुभेपी-जीव, सुद्धरूप मिश्रित असुद्धरूप कहिये।
जाही छिना चेतना-सक्ति कौ विचार कीजै, ताही छिन अलख-अभेदरूप लहिये॥ 8॥

शब्दार्थ :- जैसे तृण-काठ-बाँस-आरने इत्यादि= जिसप्रकार तिनका, काठ (मजबूत लकड़ी का टुकड़ा), पोली/खोखली लकड़ी/बाँस, जंगली-सूखी लकड़ी आदि, और ईंधन अनेकविधि= और भी अनेकप्रकार का ईंधन, पावक में दहिये= अग्नि में जलायें, आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप= बाह्यरूप देखकर कही जाती है अग्नि अनेकप्रकार की (परन्तु) दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये= किन्तु एक ही प्रकार की जलाने के स्वभाव का ग्रहण करती दिखाई देती है, तैसे नवतत्त्व में भयो है बहुभेपी-जीव= उसीप्रकार नौ तत्त्वों में बहुप्रकार के भेष रखनेवाला जीव, सुद्धरूप मिश्रित असुद्धरूप कहिये= शुद्धस्वरूप, मिला हुआ, अशुद्धरूप कहा जाता है, जाही छिना चेतना-सक्तिकौ विचार कीजै= जिस क्षण चेतनारूप-शक्ति का विचार करता है, ताही छिन अलख-अभेदरूप लहिये= उसी क्षण अदृष्टरूप, भेदरहित ग्रहण करना चाहिये।

विशेषार्थ :- जीव की स्थिति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार तिनका, काठ, बाँस, जंगल और अन्यप्रकार की ईंधन-सामग्री को जब हम जलाते हैं, तो उसकी अग्नि में विविधता दिखाई देती है, (जैसे तिनके की आग जरा जली और बुझ गई, काठ की अग्नि धीरे-धीरे और बहुत देर तक जलती है, बाँस की अग्नि बहुत शीघ्रता से जलती है और जंगल की आग तो पूरी तरह से विनाश का कारण होती है) इसप्रकार अग्नि के विविध-रूपों को देखकर हम अग्नि को नानाप्रकार की कहते हैं, जैसे ये उपले की आग है, ये कोयले की आग है, ये जंगल की आग है इत्यादि। लेकिन जब हम अग्नि के दाहक-स्वभाव की ओर देखते हैं, तो उसके नानारूपों में कोई फर्क दिखाई नहीं देता, क्योंकि आखिरकार अग्नि के सभी रूप दाहक-स्वभाव अर्थात् जलाने रूप में ही परिणमन कर रहे हैं।

उसीप्रकार नवतत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप) के बीच जीव भी अग्नि की तरह नानाप्रकार के भेषरूप में दिखाई देता है, यानि कभी रागी, कभी द्वेषी, कभी ज्ञानी तो कभी अज्ञानी अर्थात् कभी शुद्ध-जीव, कभी अशुद्ध-जीव और कभी शुद्ध-अशुद्ध के मिश्रितरूप में दिखाई देता है। लेकिन जिस-क्षण हम जीव के चैतन्य-स्वरूप का विचार करते हैं, तो उसी-क्षण अग्नि के दाहक-स्वभाव की तरह जीव भी अगोचर अर्थात् रूपातीत, भेदरहित अखण्ड दिखाई देता है, अर्थात् पर्यायरूप से विविधता होते हुये भी द्रव्य-स्वभाव से जीव त्रिकाल-शुद्ध एकमात्र चेतन-स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे बनवारी में कुधात के मिलाप हेम, नाना-भाँति भयो पै तथापि एक-नाम है।
कसिकै कसौटी लोको निरखै सराफ ताहि, बान के प्रवान करि लेतु, देतु दाम है॥

अतः शुद्धनयायतं प्रत्यग्योतिश्चकास्ति तत्। नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥ 7 ॥

तैसे ही अनादि पुद्गलसौ संजोगी-जीव, नवतत्त्वरूप मैं अरूपी महाधाम है।
दीसै उनमानसौ उदोतवान ठौर-ठौर', दूसरौ न और एक आत्मा ही राम है॥ 9॥

शब्दार्थ :— जैसे बनवारीमें कुधात के मिलाप हेम= जिसप्रकार सोना पिघलानेवाला पात्र/घरिया में सोने से भिन्न-धातु के मिलाने पर स्वर्ण/सोना, नानाभाँति भयौ पै तथापि एक नाम है= विविधरूपों में हुआ है फिर भी एक 'स्वर्ण' नाम ही पाता है, कसिकै कसौटी लीकु निरखै सराफ ताहि= कसौटी पर कसकर, उस रेखा देखकर सुनार/सोना की पहचान रखनेवाला, बान के प्रवान कर लेतु-देतु दाम है= (जानकर इसमें) कितने प्रतिशत सोना है— यह प्रमाण करके उसकी कीमत लेता-देता है, तैसे ही अनादि पुद्गलसौ संजोगी-जीव= उसीप्रकार अनादिकाल से पुद्गल के साथ संयुक्त आत्मा, नवतत्त्वरूप मैं अरूपी महाधाम है= नव-तत्त्वों के रूपों में रूप-रहित महाधामरूप दिखाई देता है, उनमानसौ उदोतवान ठौर-ठौर= मूल्यांकन से चमकता हुआ जगह-जगह/विभिन्न-पर्यायों में, दूसरौ न और एक आत्मा ही राम है= दूसरा कोई और नहीं एक आत्मा ही राम है।

विशेषार्थ :— जीव की स्थिति को बताने के लिये स्वर्ण का दृष्टांत देते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार सोना तपानेवाला सुनार 'घरिया' में डालकर सोने में कुधातु अर्थात् सोने से भिन्न धातु चाँदी या ताँबा मिलाकर जब अग्नि में तपाता है, तब सोना विविधरूपों में दिखाई देता है अर्थात् सोने के तरह-तरह के आभूषण बनकर तैयार होते हैं। और उन आभूषणों को सुनार कसौटी पर कसकर या रेखा खींचकर ये पहचान लेता है कि इसमें कितना सोना है और कितनी कुधातु मिली हुई है, और फिर उसी के हिसाब से वह लेन-देन या क्रय-विक्रय करता है।

ठीक उसीप्रकार यह दीप्तिमान, अरूपी, चेतनस्वरूप भगवान् आत्मा अनादिकाल से कर्मरूपी पुद्गल-परमाणुओं के साथ उसके विभिन्नरूपों में ही रहता आया है, लेकिन फिर भी इसकी चेतयितारूप-शक्ति हर स्थिति में विद्यमान रहती है, और ज्ञानी-जीव के मूल्यांकन के प्रमाण से प्रतिसमय एकमात्र आत्मा ही जानने में आता है, अन्य कुछ भी नहीं।

अनादिकाल से आत्मा आठ-कर्मों के साथ ही है। और कर्मों के उदयरूप नानाप्रकार के भावरूप परिणामन करता हुआ दिखाई देता है, कभी शरीरादि पर-पदार्थों में अहंबुद्धि करता हुआ जड़रूप, तो कभी अशुभभाव करता हुआ पापरूप, तो कभी शुभभाव करता पुण्यरूप, तो कभी आस्रव और बंधरूप, और कभी इन सबसे भिन्न आस्रव-बंध का अभाव करता हुआ संवर-निर्जरारूप प्रवर्तता हुआ दिखाई देता है, परन्तु फिर भी इन सभी संयोगों और अवस्थाओं में रहता हुआ भी आत्मा त्रिकाल-कालिमारहित शुद्ध-स्वर्ण की भाँति निर्विकार और उद्योतवान् रहता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे रवि-मंडल के उदै महि-मंडल में, आतप अटल तम-पटल विलातु है।
तैसे परमातमा कौ अनभौ रहत जौलौ, तौलों कहूँ दुविधा न कहूँ पच्छपातु है॥
नय कौ न लेस परवान कौ न परवेस, निच्छेप के वंस कौ विधुंस होतु जातु है।
जे-जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहाँ बाधक हैं, बाकी राग-दोषकी दसाकी कौन बातु है॥ 10॥

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।

अथ सतत-विविक्तं दृश्यतामेकरूपं, प्रतिपदमिदमात्म-ज्योतिरुद्योतमानम् ॥ 8 ॥

उदयति न नयश्रीरस्ममेति प्रमाणं, क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्॥

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकर्षेऽस्मि-न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ 9 ॥

शब्दार्थ :— जैसे रवि-मंडल के उदै महि-मंडल में= जिसप्रकार सूर्य के उदय होने पर पृथ्वी पर (पड़नेवाली), आतप अटल तमपटल विलातु है= धूप से नहीं टलनेवाला घोर-अंधकार भी भाग जाता है, तैसे परमात्मा कौ अनभौ रहत जौलौ= उसीप्रकार जबतक परम-आत्मा/शुद्धात्मा का अनुभव रहता है, तौलौ कहूँ दुविधा न कहूँ पच्छपातु है= तबतक न तो कोई दुविधा है और न ही कोई पक्षपात, नयकौ न लेस परवान कौ न परवेस= न तो नयों का लेश और न प्रमाण का प्रवेश, निच्छेप के वंसकौ विधुंस होतु जातु है= निच्छेप का समूह का विध्वंस/विनाश होता जाता है, जे-जे वस्तु साधक हैं, तेऊ तहाँ बाधक है= (संसार मार्ग में) जो-जो वस्तुयें (पहली-भूमिका में) सहायक थीं, वे सब वहाँ (आत्मानुभूति में) बाधक सिद्ध होती हैं, बाकी राग-दोस की दसा की कौन बातु है= शेष राग-द्वेष की स्थिति की बात ही क्या करें (वे तो संभव ही नहीं हैं)?

विशेषार्थ :— सूर्य के माध्यम से अनुभव की स्थिति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार सूर्य के उदय होने पर पृथ्वीमंडल पर सर्वत्र सूर्य का प्रकाश छा जाने से घोर-अंधकार क्षणभर में गायब हो जाता है, और सब कुछ साफ-साफ नजर आने लगता है, ठीक उसीप्रकार जबतक परम-आत्मा अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति होती है, तबतक न तो नयों की कोई दुविधा रहती है, और न ही विकल्पों का कोई पक्षपात, एकमात्र आत्मा के आनंद की अनुभूति होती है। अर्थात् जब आत्मा का अनुभव होता है, तब वहाँ नयों का लेशमात्र भी विकल्प नहीं होता, प्रमाण का तो प्रवेश भी नहीं होता और निक्षेपों का तो वंश ही नष्ट हो जाता है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यही है कि वस्तुस्वरूप को समझने के लिये जिस शास्त्रज्ञान की महती उपयोगियता रहती है, वही शास्त्रज्ञान आत्मानुभूति के समय सबसे अधिक बाधक होता है। जो नय वस्तु के गुणों को सिद्ध करने में सहायक होता है, वही अनुभव के समय बाधक होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से असिद्ध-वस्तु या अनदेखी वस्तु भी सिद्ध होती है; लेकिन वही विकल्प आत्मानुभूति में बाधक होते हैं, कहा जाता है न कि "प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्" अर्थात् प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। उसीप्रकार जब आत्मवस्तु की सिद्धि हो ही चुकी, तो अब प्रमाण की क्या आवश्यकता? इसीप्रकार निक्षेपों से वस्तु की स्थिति समझ में आती है, और अनुभव के समय तो जब वस्तु ही अनुभव में आ रही है, तो निक्षेपों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

उदाहरण के लिये जैसे यदि हमने पहले कभी रसगुल्ला नहीं खाया हो, और अब खाने की तीव्र इच्छा हो, तो सबसे पहले हम उसके स्वरूप को जानने का प्रयास करते हैं, उसके रंग-रूप, आकार-प्रकार को जानने का प्रयास करते हैं, परन्तु जिस क्षण हमें रसगुल्ले की प्राप्ति होती है, क्या उस क्षण हम उसके स्वरूप और रंग-रूप के बारे में विचार करते हैं? कि रसगुल्ले के स्वाद का आनंद लेते हैं? ठीक उसीप्रकार जब साधक को आत्मानुभूति होती है, तब उस आनंद की अनुभूति में ये समस्त साधक-तत्त्व सबसे अधिक बाधक सिद्ध होते हैं। कवि कहते हैं जब साधक भी बाधक हैं, तो राग-द्वेष आदि की तो बात ही क्या कहें? क्योंकि ये तो प्रत्यक्ष ही बाधक हैं।

यहाँ एक बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि ये सही है कि अनुभूति के समय ये तीनों बाधक है, पर आत्मस्वरूप के निर्णय के लिये यही सबसे अधिक सहायक भी है। क्योंकि इनके बिना आत्मस्वरूप का निर्णय करना संभव नहीं है। जैसे रोटी बनाने के लिये चकला, बेलन, तवा आदि सभी साधन आवश्यक हैं, भले ही रोटी बनने के बाद ये सब अप्रयोजनभूत होते हैं; पर इनकी सहायता के बिना भी रोटीरूप-कार्य की सिद्धि नहीं होती। ठीक उसीप्रकार आत्मस्वरूप की सिद्धि के लिये ये सभी साधक होते हुये भी आत्मानुभूति के समय बाधक हैं, क्योंकि नय-प्रमाण- निक्षेप आदि साधक है और आत्मानुभूति साध्य है।

आदि-अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है। पर-सरूप पर-जोग-कल्पना-मुक्त है॥

सदा एकरस प्रगट कही है जैन में। सुद्ध-नयातम वस्तु विराजै बैन में॥ 11॥

शब्दार्थ :- आदि-अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त= आदि और अंत से रहित पूर्ण-स्वभाव से युक्त, पर-सरूप पर-जोग-कल्पना-मुक्त= पर-द्रव्यों के स्वरूप और संयोग की कल्पना से भी रहित, सदा एकरस प्रगट कही है जैन में= हमेशा एकमात्र चैतन्यरस संयुक्त है, ऐसा जिनागम में कहा है, सुद्ध-नयातमवस्तु विराजै बैन में= शुद्ध-नय के अनुसार वस्तु सुशोभित होती है वचनों में (जिनेन्द्र देव के वचनों में)।

विशेषार्थ :- शुद्ध-नय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि शुद्ध-नय की अपेक्षा जीव/आत्मा आदि से लेकर अंत तक अर्थात् निगोद से लेकर सिद्ध-अवस्था तक परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन चेतना-लक्षणवाला है। पर-पदार्थों के संयोग एवं स्वरूप की कल्पना से भी सर्वथा-भिन्न है, क्योंकि आत्मा चेतन है और परपदार्थ अचेतन हैं, पर-पदार्थों के बीच रहते हुये भी आज तक इस जीव ने पर-पदार्थों को छुआ भी नहीं है— ऐसा जिनवाणी कहती है— "मैं चेतन और तू जड़ है, बेमेल हमारा मेल है"। कविवर कहते हैं जीव का त्रिकाल एकमात्र जाननहार चेतन-स्वभाव ही प्रगट है, शुद्ध-नय की अपेक्षा से जीव का ऐसा ही स्वरूप जिनेन्द्रदेव की वाणी में प्रगट हुआ है अर्थात् जिनागम में वर्णित है।

(कवित्त)

सद्गुरु कहैं भव्य-जीवनिसौं, तोरहु तुरत मोह की जेल।

समकित-रूप गहो अपनौ गुन, करहु सुद्ध-अनुभवकौ खेल॥

पुदगल-पिण्ड भाव-रागादिक, इनसौं नाहीं हमारौ मेल।

ए जड़-प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल॥ 12॥

शब्दार्थ :- सद्गुरु कहैं भव्यजीवनिसौं= सद्गुरु भव्यजीवों से कहते हैं, तोरहु तुरत मोह की जेल= तुरंत/अतिशीघ्र मोह के बंधन को तोड़ दो, समकितरूप गहो अपनौ गुन= सम्यक्त्व-स्वरूप अपने गुणों को ग्रहण करो, करहु सुद्ध-अनुभवकौ खेल= शुद्ध-आत्मा की अनुभूति करो, पुदगल-पिण्ड भाव-रागादिक= पुद्गल के पिण्डरूप मोह-राग-द्वेषादि समस्त भाव, इनसौं नाहीं तुम्हारौ मेल= इनसे तुम्हारा मेल नहीं है, ए जड़-प्रगट गुपत तुम चेतन= ये तो प्रकट जड़ हैं, तुम चेतनस्वरूप अदृश्य हो, जैसे भिन्न तोय अरु तेल= जिसप्रकार जल और तेल भिन्न-भिन्न हैं।

विशेषार्थ :- जीव के लिये हितकारी-उपदेश देते हुये कविवर कहते हैं कि "हे भव्यजीवो! सद्गुरु कहते हैं कि तुम तुरंत मोह की जेल को तोड़ दो अर्थात् मोह के इन बंधनों को जिनसे तुमने संसार, शरीर और भोगों को अपना मान रखा है, उसे शीघ्रतिशीघ्र तोड़ दो, और अपने गुणों को ग्रहण करो अर्थात् अपने आत्मस्वरूप को पहचानो। तुम अनंत-गुणों के धनी हो, क्यों पर से ममत्व का अपराध करके मोह की जेल में बंद हो? हे आत्मन्! सम्यक्त्व-स्वरूप अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करो और आनंद की मस्ती में मगन हो जाओ।"

आत्मस्वभावं परभाव-भिन्नमापूर्णमाद्यन्त-विमुक्तमेकम्।

विलीन-सङ्कल्प-विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ 10॥

न हि विदधति बद्धस्पृष्ट-भावादयोऽमी, स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।

अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्न, जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥ 11॥

रागादि-भावों का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि ये रागादि-भाव पुद्गल का पिण्ड है, जड़ है, इनसे आत्मा का कोई मेल नहीं है। हे जीवराज! ये तो जड़ हैं कभी दृश्य और कभी अदृश्य होते हैं, लेकिन तुम तो सदाकाल चैतन्य ज्ञानस्वरूप ही रहते हो। ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार जल और तेल को हम कितना भी मिलाने की कोशिश करें, तो भी वे कभी नहीं मिलते, सदाकाल पूर्ण-भिन्न ही रहते हैं। ठीक उसीप्रकार जड़/पुद्गल और चेतन अनादिकाल से एकसाथ रहते हुये भी आज तक जड़ का एक भी परमाणु चेतनरूप और चेतन का एक भी प्रदेश जड़रूप नहीं हुआ और न कभी होगा, एकसाथ रहने के बाबजूद भी इन दोनों में त्रिकाल-अत्यन्ताभाव कायम रहता है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ बुधिवन्त नर निरखै शरीर-घर, भेदग्यान-दृष्टिसौ विचारै वस्तु-वासतौ।
अतीत-अनागत-वरतमान मोहरस, भीग्यौ चिदानन्द लखै बंध में विलासतौ॥
बंध को विदारि महा-मोह कौ सुभाउ डारि, आत्मा को ध्यान करै देखै परगासतौ।
करम-कलंक-पंक-रहित प्रगटरूप, अचल-अबाधित विलोकै देव-सासतौ॥ 13॥

शब्दार्थ :- कोऊ बुधिवन्त-नर निरखै शरीर-घर= कोई बुद्धिमान्-मनुष्य शरीररूपी घर को देखे, भेदग्यानदृष्टिसौ विचारै वस्तु-वासतौ= भेदविज्ञान की दृष्टि से वस्तु के वास्तविक-स्वरूप का विचार करता है, अतीत-अनागत-वरतमान= भूतकाल, भविष्यकाल, वर्तमानकाल, मोहरस भीग्यौ= मोह के रस से भीगा हुआ, चिदानन्द लखै बंध में विलासतौ= चैतन्य का आनंद देखते हुए भी बंध में विलास करता है, बंध को विदारि महामोह को सुभाउ डारि= बंध को विदीर्ण कर, महाभयंकर-मोह का स्वभाव छोड़कर, आत्मा को ध्यान करै देखै परगासतौ= आत्मा का ध्यान करता है, प्रकाशमान देखता है, करम-कलंक-पंक-रहित प्रगटरूप= कर्मकलंक-रूपी कीचड़ से रहित प्रत्यक्ष-स्वरूप, विलोकै देव-सासतौ= शाश्वत-आत्मदेव देखता है।

विशेषार्थ :- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का सुंदर-उपाय बताते हुये कविवर कहते हैं कि जब कोई ज्ञानी-जीव शरीररूपी-घर में विराजमान आत्मवस्तु को भेदविज्ञान की दृष्टि से देखता है, तो उसे पहले तो भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल यानि तीनों ही कालों में मोह-राग-द्वेषरूपी रस में भीगा हुआ और कर्मबंधन में विलास करता हुआ चिदानन्द अर्थात् आत्मा दृष्टिगोचर होता है।

तब वह ज्ञानी-जीव कर्मबंधन को छोड़कर, महा-भयंकर मोह को नष्ट करके एकमात्र ज्ञान के प्रकाश में आत्मा का ध्यान करता है अर्थात् आत्मानुभूति का पुरुषार्थ करता है, तो उसे कर्म-कलंकरूपी कीचड़ से रहित 'अचल', कर्मों की बाधा से रहित 'अबाधित', जन्म-मरण से रहित 'शाश्वत-आत्मदेव' दिखाई देता है।

इस छंद में कवि ने पर्यायदृष्टि से कथन प्रारम्भ करते हुये द्रव्यदृष्टि से स्वरूप तक पहुँचने की सुन्दर-प्रेरणा दी है। अनादिकाल से कर्मों के साथ होने से वर्तमान में जीव मोह के बंधनों में जकड़ा हुआ है, जब जीव आत्मानुभूति का पुरुषार्थ करता है, तब पहले तो उसे अपना स्वरूप कर्मबंधन और मोह-रागादि-भावों से जकड़ा हुआ ही दिखाई देता है, यदि ऐसा न हो, तो वह कर्मबंधन से छूटने का पुरुषार्थ ही क्यों करेगा?

उदाहरण के लिये जैसे यदि हमें छिलका-रहित दाल चाहिये, तो पहले तो हमें दाल छिलका-सहित

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवम्, नित्यं कर्मकलङ्क-पङ्क-विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥12॥

ही नजर आयेगी, लेकिन फिर हम पुरुषार्थ करेंगे, तो दाल और छिलका अलग-अलग हो जायेंगे, तब हम दाल को ग्रहण करके छिलके को हटा देंगे। ठीक उसीप्रकार आत्मानुभूति के समय साधक-जीव को पहले तो मोहरस से भीगा हुआ आत्मा ही दिखाई देता है। फिर भेदविज्ञान या प्रज्ञारूपी छैनी से मोह के बंधनों को तोड़कर जब आत्मस्वरूप पर दृष्टि केन्द्रित होती है, तो कर्मकलंक और विकारी-भावोंरूपी कीचड़ से रहित अचल-अनुपम शाश्वत भगवान् आत्मा दिखाई देता है, तभी सच्ची-प्रतीति और अनुभूति होती है।

(सवैया तेईसा)

सुद्ध-नयातम आतम की, अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक-पदारथ, नाम के भेद कहावत दोई॥
यौं सरवंग सदा लखि आपुहि, आतम-ध्यान करै जब कोई।
मेटि असुद्ध-विभावदसा तब, सुद्ध-सरूप की प्रापति होई॥ 14॥

शब्दार्थ :- सुद्धनयातम आतम की अनुभूति= शुद्ध-नय के अनुसार आत्मा की अनुभूति, विज्ञान-विभूति सोई= वही ज्ञान की विभूति/वैभव है, वस्तु-विचारत एक-पदारथ= वस्तुस्वरूप की दृष्टि से पदार्थ एक ही है, नाम के भेद कहावत दोई= नाम के लिये दो भेद कहे जाते हैं, यौं सरवंग सदा लखि आपुहि= इसप्रकार सर्वांग से हमेशा अपने-आप को देखकर, आत्म-ध्यान करै जब कोई= जब कोई आत्मस्वरूप का ध्यान करता है, मेटि असुद्ध विभावदसा तब= तब अशुद्ध वैभाविक-स्थिति नष्ट होकर, सुद्ध-सरूप की प्रापति होई= शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ :- आत्म-वस्तु और गुण अभेद हैं— यह सिद्ध करते हुये कविवर कहते हैं कि शुद्ध-नय की अपेक्षा से आत्मस्वरूप की अनुभूति ज्ञान की अनुभूति ही हैं, वस्तुस्वरूप की दृष्टि से दोनों एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है, ये भेद सिर्फ नाम के लिये हैं। आत्मा अनंत-गुणों का अभेद पिण्ड है। आत्मानुभूति कहो या ज्ञानानुभूति कहो दोनों एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है। जो स्वयं को इसप्रकार अर्थात् गुण और गुणी को अभेद देखकर, जानकर और मानकर, उसी ज्ञान से जब अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करता है, तो विभाव-भावों की स्थिति अर्थात् अशुद्ध-स्थिति मिट जाती है, और सच्चे शुद्ध-आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

— इन पंक्तियों में कवि ने स्पष्ट किया कि आत्मा और आत्मा के गुण दोनों अलग-अलग वस्तु नहीं हैं, दोनों में तादात्म्य-संबंध है, अर्थात् गुण और गुणी नाम भले ही दो हैं, पर दोनों अभेद ही हैं। जैसे अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता, चीनी की मिठास, नमक के खारेपन को हम भिन्न करना चाहें, तो भी नहीं कर सकते; क्योंकि इनमें तादात्म्य-संबंध होने से वे अभेद हैं, उन्हें भिन्न नहीं किया जा सकता, ठीक उसीप्रकार आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत-गुणों का पिण्ड है। कहने में भले ही ऐसा आये कि "ज्ञान आत्मा का गुण है या सुख आत्मा का गुण है"; परन्तु वास्तव में ये भिन्न-वस्तु नहीं हैं, अभेद हैं; इसलिये ज्ञानानुभूति भी आत्मानुभूति है और सुखानुभूति भी आत्मानुभूति ही हैं। और जब साधक अपने को इसरूप अनुभव करता है, तब उसे समस्त विभावों से रहित शुद्ध-आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।

आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्॥ 13॥

अपनैही गुण-परजायसौं प्रवाहरूप, परनयौ तिहुँकाल अपने आधारसौं।
अन्तर-बाहर प्रकाशवान एकरस, खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं॥
चेतना के रस सरवंग भरि रह्यौ जीव, जैसे लोन-कांकर भरयौ है रस-खारसौं।
पूरन-सरूप अति-उज्जवल विग्यानघन, मोकौ होहु प्रगट विसैस-निरवारसौं॥ 15॥

शब्दार्थ :— अपनैही गुण-परजायसौं प्रवाहरूप= अपने ही गुण-पर्यायों से धाराप्रवाहरूप, परिनयौ तिहुँकाल अपने आधारसौं= तीनों-काल स्वयं के ही आधार से परिणमन करता है, अन्तर-बाहर प्रकाशवान एकरस= अंतरंग-बहिरंग प्रकाशवान एकरूप, खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं= समानरूप से भव/संसार के विकारों से भिन्न रहता है, चेतना के रस सरवंग भरि रह्यौ जीव= चैतन्यता के रस से सर्वांग भरा हुआ जीव, जैसे लोन-कांकर भरयौ है रस-खारसौं= जैसे नमक की डली भरी हुई है खारेपन से, पूरन-सरूप अति-उज्जवल विग्यानघन= पूर्ण-स्वरूप अत्यंत-उज्जवल, ज्ञान का घनपिण्ड, मोकौ होहु प्रगट विसैस-निरवारसौं= (मोहादि के) विशेष-निवारण से मुझे भी प्रगट हो।

विशेषार्थ :— ज्ञानी-जीव के चिंतन का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि आत्मा त्रिकाल अपने ही गुण-पर्यायों में धाराप्रवाहरूप से अर्थात् जैसे सामान्यरूप से नदी का जल अपनी एक अखंड-धारा में बहता रहता है, उसीप्रकार आत्मा भी अपने ज्ञानादि-गुणों में बिना किसी अवलंबन के अपने ही आधार से सहज-प्रवाहित होता रहता है। अंतरंग और बहिरंग दोनों ही रूपों में एक समान अर्थात् कम ज्यादा नहीं समानरूप से प्रकाशित रहता है। भव-विकार अर्थात् मोहादि समस्त विकार, सांसारिक उतार-चढ़ाव या अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं से आत्मा के सहज-परिणमन पर कोई अन्तर नहीं पड़ता।

कहने का तात्पर्य यही है कि निगोद से लेकर सिद्ध-अवस्था तक आत्मा का चैतन्य-प्रकाश त्रिकाल एकसमान विद्यमान रहता है। यद्यपि ज्ञानावरणादि-कर्मों का आवरण आत्मा के ज्ञानादि-गुणों के परिणमन पर आवरण तो डालता है, लेकिन इन कर्मों ने आजतक आत्मा के ज्ञानादि-गुणों को और सहज-प्रकाशमान चैतन्य-स्वरूप को कभी प्रभावित/विकृत नहीं किया है। यदि ऐसा हो जाता, तो वह ज्ञानादि-गुण शुद्धरूप में कैसे अनुभव में आते? इससे सिद्ध होता है कि भव-विकार से आत्मस्वरूप त्रिकाल अछूता ही रहता है।

एक उदाहरण के माध्यम से आत्मा के जीवत्व स्वरूप का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि यह आत्मा चेतना के रस से उसी तरह सर्वांग अर्थात् लबालब भरा हुआ है, जैसे नमक की डली के संपूर्ण-भागों में खारापन समाहित है। उस डली को किसी भी कोने से, कितने ही छोटे से हिस्से को चखें, खारेपन का ही स्वाद आयेगा। ठीक उसीप्रकार आत्मा किसी भी पर्याय में रहे, उसका चैतन्य-स्वरूप ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। कवि कहते हैं कि ऐसा परिपूर्ण-स्वरूप, विकारों से रहित अत्यंत-उज्जवल, ज्ञान का घनपिण्ड आत्मस्वरूप मोहादि के निवारण-पूर्वक मुझे भी प्रगट हो।

जिसप्रकार मिश्री में मिठास सर्वत्र और लबालब भरी रहती है, किसी भी कोने से उसे चखें, एकमात्र मिठास का ही रस आता है, ठीक उसीप्रकार आत्मा के अनंत-गुणों में से किसी भी गुण का आस्वादन करें, एकमात्र चैतन्य का ही रस आता है। उस अनुपम-रस के रसास्वादन की अनुभूति मुझे भी अतिशीघ्र हो ऐसी उत्कृष्ट-भावना कवि ने यहाँ व्यक्त की है।

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदन्तमन्तर्बहि-र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।

चिदुच्छलन-निर्भरं सकल-कालमालम्बते, यदेकरसमुल्लसल्लवण-खिल्य-लीलायितम्॥ 14॥

(कवित्त)

जहँ ध्रुव-धर्म कर्मक्षय-लच्छन, सिद्धि-समाधि साधि पद सोई।
सुद्धपयोग जोग-महिमंडित, साधक ताहि कहै सब कोई॥
यौ परतच्छ-परोच्छरूपसौं, साधक साधि अवस्था दोई।
दुहु कौ एक ग्यान संचय करि, सैवे सिववंचक थिर होई॥ 16॥

शब्दार्थ :— जहँ ध्रुव-धर्म कर्मक्षय-लच्छन= जहाँ अविनाशी-धर्म, जिसका लक्षण कर्म-क्षय है, सिद्धि समाधि साधिपद सोई= सिद्धिसाधिका-समाधि की प्राप्ति, वही साध्य-पद है, सुद्धपयोग जोग-महिमंडित= शुद्धोपयोगमयी योगरूपी भूमि से अलंकृत, साधक ताहि कहै सब कोई= सब कोई उसे साधक/साधना करनेवाला कहते हैं, यौ परतच्छ-परोच्छ-रूपसौं= इसप्रकार प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से, साधक साधि अवस्था दोई= साधना करनेवाला दोनों ही अवस्थाओं को साधकर, दुहु कौ एक ग्यान संचय करि= दोनों का एकसाथ ज्ञान अर्जित करके, सैवे सिववंचक थिर होई= उसका सेवन कर मोक्ष की दृढ़-इच्छावाला होता है।

विशेषार्थ :— साध्य और साधक का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि सर्व-कर्मों से रहित, शाश्वत अविनाशी सिद्ध-पद ही साध्य है, और उस साध्य को प्राप्त करनेवाले, तथा जो मन, वचन, काय तीनों योगों से शुद्ध-उपयोग को धारण करनेवाले हैं, उन सभी को 'साधक' कहते हैं।

कहा जाता है "जैसा साध्य हो, वैसा ही साधक होना चाहिये, तभी साध्य की सिद्धि संभव है।" जैसे सिद्ध-पद जीव की पूर्ण-निर्मल शुद्ध-दशा है, वही साध्य है, अतः उस सिद्ध-पद की सिद्धि करनेवाला उपयोग भी पूर्ण-शुद्ध होना चाहिये। इसीलिये शुद्धोपयोग, और उसको धारण करनेवाले को ही साधक कहा, अर्थात् शुद्धात्मा की साधना के लिये उपयोग का शुद्ध होना भी अति-आवश्यक है, यानि विकारों की गंदगी के रहते हुये सिद्ध-पद की साधना कदापि संभव नहीं है।

इसप्रकार साध्य और साधक— दोनों ही अवस्थायें जीव की ही हैं। इनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है, मोक्ष का इच्छुक सम्यग्दृष्टि-जीव इन दोनों ही अवस्थाओं का ज्ञानकर चित्त की स्थिरतापूर्वक इनको ग्रहण करता है, वही सच्चा-साधक है।

हे आत्मन्! मोक्ष के इच्छुक प्रत्येक जीव के लिये एकमात्र-साध्य 'सिद्ध-पद' ही हैं। क्योंकि वही अचल, अविनाशी, शाश्वत सुखप्रदायक है। अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये सभी शुद्धोपयोग के धारी होने से 'सच्चे-साधक' हैं। बस इनमें 'प्रत्यक्ष' (अरिहंत और सिद्ध) और 'परोक्ष' (आचार्य उपाध्याय साधु) का भेद है।

(कवित्त)

दरसन-ग्यान-चरन-त्रिगुनातम, समलरूप कहिये विवहार।
निहचै-दृष्टि एकरस-चेतन, भेदरहित अविचल-अविकार॥
सम्यक-दसा प्रमान उभै-नय, निर्मल-समल एक ही बार।
यौ समकाल जीव की परिनति, कहै जिनेद गहै गनधार॥ 17॥

शब्दार्थ :— दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम= सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र तीनों गुणरूप, समलरूप कहिये विवहार= व्यवहार से मल/दोष-सहित कहते हैं, निहचै-दृष्टि एकरस चेतन= निश्चयनय से आत्मा

एष ज्ञानधनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः। साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ 15 ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्। मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ 16 ॥

एकरूप, भेदरहित अविचल अविकार= अभेद, हल-चल से रहित स्थिर, विकारों से रहित है, सम्यक्दसा प्रमान उभै-नय= सम्यग्दर्शन की स्थिति प्रमाण और दोनों नय, निर्मल-समल एक ही बार= निर्मल/भूतार्थ, समल/अभूतार्थ एक ही साथ, यौ समकाल जीव की परिणति= इसप्रकार एक ही समय में जीव की परिणति, कहैं जिनेद गहै गनधार= जिनेन्द्रदेव कहते हैं और गणधर ग्रहण करते हैं।

विशेषार्थ :— निश्चय और व्यवहार-नय से जीव की परिणति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि व्यवहार-नय से आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीन-गुणरूप है, लेकिन व्यवहारनय को असत्यार्थ अभूतार्थ कहते हैं। जबकि निश्चयनय जोकि सत्यार्थ है, उसके अनुसार जीव एक रूप, ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला भेदरहित अभेद, हल-चल रहित अविचल, विकारों से रहित पूर्ण-शुद्ध है।

कवि ने इस छंद में निश्चय और व्यवहार-नयों की सुंदर-विवक्षा सिद्ध की है, कहा जाता है कि 'सम्यग्दर्शन' आत्मा के 'श्रद्धा-गुण' की पर्याय है, 'सम्यग्ज्ञान' आत्मा के 'ज्ञान-गुण' की पर्याय है, और 'सम्यक्चारित्र' आत्मा के 'चारित्र-गुण' की पर्याय है, 'बल' आत्मा के 'वीर्य-गुण' की पर्याय है, लेकिन कवि कहते हैं कि ऐसा भेदरूप-कथन भी वास्तव में व्यवहार ही हैं, निश्चय से तो आत्मा अनंत-गुणों का एक अभेद-पिण्ड है, जिसमें न कोई भेद है, न कोई विकार, पूर्ण-शुद्ध निर्विकार चेतन-तत्त्व है। इसीलिये भेदरूप-कथन करने से ही व्यवहार-नय को 'अभूतार्थ' कहा गया है, और अभेदरूप-कथन करने से निश्चय-नय को 'भूतार्थ' कहा गया है।

सम्यग्दर्शन के समय सम्यग्दृष्टि-जीव को ये दोनों-नय 'भूतार्थ' और 'अभूतार्थ' एक ही काल में एक साथ वर्तते हैं। जीव की ऐसी ही निर्मल और समल-परिणति जिनेन्द्रदेव ने कही है, और गणधर भगवान् ने भी इसीरूप में ग्रहण और विवेचित किया है।

(दोहा)

एकरूप आतम-दरब, ग्यान-चरन-दुग तीन।
भेदभाव-परिणामसौं, विवहारै सु मलीन॥ 18॥

शब्दार्थ :— एकरूप आतम-दरब= आत्मद्रव्य एकरूप है, ग्यान-चरन-दुग तीन= ज्ञान, चरण, दर्शन तीन, भेदभाव परिणामसौं= परिणामों से भेदरूप, विवहारै सु मलीन= व्यवहार में मलिन है।

विशेषार्थ :— व्यवहारनय से जीव का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि आत्म-द्रव्य तो एक ही हैं, उसे ज्ञान, चारित्र और दर्शन— इन तीन रूप कहना ही व्यवहार है, जो द्रव्य-दृष्टि से सदोष या असत्यार्थ-कथन है।

(दोहा)

जदपि समल विवहारसौं, पर्यय-सक्ति अनेक।
तदपि नियत-नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक॥ 19॥

शब्दार्थ :— जदपि समल विवहारसौं= यद्यपि व्यवहारनय से मल/दोष-सहित है, पर्यय-सक्ति अनेक= पर्याय-शक्ति बहुत, तदपि नियत-नय देखिये= फिर भी निश्चयनय से देखें, तो आत्मा, सुद्ध निरंजन एक= शुद्ध निरंजन/कालिमारहित एक/अभेद-अखंड है।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः, एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्वयवहारेण मेचकः॥ 17॥

परमार्थेन तु व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषैककः। सर्वभावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वादमेचकः॥ 18॥

विशेषार्थ :- निश्चय-नय की मुख्यता से कथन करते हुये कविवर कहते हैं कि यद्यपि व्यवहार-नय से आत्मा अनंत-गुणों और उनके परिणामन की अनंत-शक्तिवाला है, लेकिन फिर भी निश्चय-नय से आत्मा गुणभेद-रहित, शुद्ध, अंजन अर्थात् विकारी-भावों की कालिमा से रहित निरंजन एक अखंड-तत्त्व है।

(दोहा)

एक देखिये जानिये, रम रहिये इक ठौर।

समल-विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥ 20 ॥

शब्दार्थ :- एक देखिये जानिये= एक आत्मा को ही देखो, जानो, रम रहिये इक ठौर= उस एक में ही रम जाओ, समल-विमल न विचारिये= मल/दोषसहित या मल/दोषरहित का विचार मत करो, यहै सिद्धि नहि और= यही सिद्धि है, कहीं और कुछ नहीं।

विशेषार्थ :- शुद्ध-निश्चय-नय से आत्मा का स्वरूप बताते हुये कविवर कहते हैं कि आत्मा एक ही है, इसलिये एकमात्र आत्मस्वरूप को ही देखो, जानो और उसी में रमण करो अर्थात् लीन हो जाओ। 'समल' अर्थात् विकारों से सहित या 'विमल' अर्थात् विकारों से रहित है, —ऐसा विचार न करते हुये मात्र आत्मानुभूति का पुरुषार्थ करो; क्योंकि यही एकमात्र करने योग्य कार्य है। इसी में सर्वप्रकार से कल्याण संभव है। सुखी होने का इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।

उपर्युक्त छंदों में कवि ने एकमात्र आत्मा का ही सच्चा-स्वरूप वर्णित किया है, और उसी को देखने, जानने और रमने की सुंदर-प्रेरणा दी है। क्योंकि आत्मस्वरूप का विकल्परहित सच्चा श्रद्धान, ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है, और वही एकमात्र कल्याण का मार्ग है।

(सवैया इकतीसा)

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत-ग्यान, विमल-विकासवंत-ज्योति लहलही है।

यद्यपि त्रिविधरूप विवहार में तथापि, एकता न तजै यौ नियत-अंग कही है॥

सो है जीव कैसी हूं जुगति के सदीव ताके, ध्यान करिबै कौ मेरी मनसा उनही है।

जाते अविचल-रिद्धि होत और भाँति सिद्ध, नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहींसही है॥ 21 ॥

शब्दार्थ :- जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत-ग्यान= जिसका, स्वरूप सुलक्षण अनंत-ज्ञान से शोभित है, विमल-विकासवंत-ज्योति लहलही है= निर्मल, विकासरूप/प्रकाश स्वरूप ज्योति जगमगा रही है, यद्यपि त्रिविधरूप विवहार में= फिर भी व्यवहार में तीनरूप हैं, तथापि एकता न तजै यौ नियत-अंग कही है= फिर भी एकता नहीं छोड़ता— ऐसा निश्चय-नय से कहा गया है, सो है जीव कैसी हूं जुगति के सदीव ताके= ऐसा आत्मा किसी भी प्रकार से, किसी भी युक्ति से हमेशा उसका, ध्यान करिबै कौ मेरी मनसा उनही है= ध्यान करने को मेरा मन हुआ है, जाते अविचल रिद्धि होत= इसके अडिग/एकटक ध्यान से ऋद्धि प्राप्त होती है, और भाँति सिद्धि नाहीं नाही, नाही= और किसी भी प्रकार लक्ष्य की प्राप्ति नहीं है, नहीं है, नहीं है, यामैं धोखो नाहीं सही है= इसमें धोखा नहीं है, बिल्कुल सही है।

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः। दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ 19 ॥

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकतायाः अपतितमिदमात्म-ज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।

सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं। न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ 20 ॥

विशेषार्थ :- आत्मा के ज्ञान-गुण की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुये कविवर कहते हैं कि जो अनंतज्ञानरूपी शुभ-लक्षण से सुशोभित है, जिसके निर्मल-ज्ञान की ज्योति प्रतिसमय प्रकाशवान् है, यद्यपि व्यवहार-नय से वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनरूप से विद्यमान है, लेकिन फिर भी निश्चय-नय से तीनों-गुणों की एकता कभी भी भंग नहीं होती।

आत्मा अनंत-लक्षणों या गुणों से विभूषित होने पर भी कवि ने ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ क्यों कहा ? क्योंकि एकमात्र ज्ञान ही है, जो स्व और पर दोनों को, प्रकाशित करता है, त्रिकाल-ज्ञान से ही आत्मा जानने में आता है। जीव किसी भी गति में गमन करे उसे जाननेवाला एकमात्र ज्ञान ही है, इसीलिये कवि ने आत्मा को अनंत-ज्ञान से सुशोभित कहा।

कविवर आत्मानुभूति की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुये आगे कहते हैं कि मेरी बस एक ही इच्छा है कि ऐसी ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनुभूति किसी भी प्रकार, किसी भी युक्ति से मुझे हो जाये, मेरा चित्त सदैव एकमात्र आत्मा का ध्यान करने के लिये लालायित है; क्योंकि इसी के यानि आत्मा के ध्यान से ही समस्त ऋद्धियों अर्थात् सुखों की प्राप्ति संभव है, अन्य किसी भी प्रकार से सुख की प्राप्ति संभव नहीं है! नहीं है! नहीं है!! यही सत्य है। इसमें कोई संदेह या भ्रम नहीं है।

(सवैया तेईसा)

कै अपनो पद आप संभारत, कै गुरु के मुख की सुनि बानी।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै, प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी॥
भाव अनंत भये प्रतिबिंबित, जीवन-मोख-दसा ठहरानी।
तैं नर दर्पन-ज्यौं अविकार, रहैं थिररूप सदा सुखदानी॥ 22॥

शब्दार्थ :- कै अपनो पद आप संभारत= या तो अपना स्वरूप अपने आप संभालते हैं, कै गुरु के मुख की सुनि बानी= या गुरु के मुख से वाणी सुनकर, भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै= स्व-पर का ज्ञान जिनके जागृत हुआ है, प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी= सुंदर विवेकपूर्ण-निर्णय की शक्ति प्रगट हुई है, भाव अनंत भये प्रतिबिंबित= अनंत-परिणाम झलकने लगे, जीवन-मोख दसा ठहरानी= जीवन-मुक्त स्थिति प्राप्त हुई, ते नर दर्पन-ज्यौं अविकार= वे जीव दर्पण की तरह अविकारी, रहैं थिररूप= स्थिर रूप रहते हैं, सदा सुखदानी= हमेशा सुखदायक-दशा।

विशेषार्थ :- ज्ञानी-जीव की स्थिति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि या तो वे स्वयं अपने आत्मस्वरूप का चिंतन करते हैं, या गुरु के मुख से जिनेन्द्र की वाणी सुनकर अपने परिणामों को स्थिर करते हैं। उनके हृदय में भेदविज्ञान करने की कला प्रगट हुई है, जिससे स्व-पर के निर्णय की अद्भुत-कला जागृत हुई है, अर्थात् अब उन्हें आत्मस्वरूप का निर्णय/ आत्मानुभूति हो चुकी है।

ऐसे ज्ञानी-जीवों को अनंत-भाव प्रतिबिंबित होने पर भी उन जीवों की स्थिति जीवन-मुक्त (वेदांत-दर्शन में जो जीव शरीर से तो सहित हैं, किंतु दुष्कर्मों से मुक्त हो चुके हैं, उन्हें 'जीवन-मुक्त' कहा गया है) के समान ही है। वे ज्ञानी-जीव स्वभाव में स्थिरता के विपरीत-परिस्थितियों के होने पर भी दर्पण के समान निर्विकार रहते हैं। और अपने स्वरूप में स्थिर रहकर अनंत-सुख में केलि या रमण करते हैं।

उपर्युक्त-पंक्तियों में कवि ने ज्ञानी जीव की परिणति को दर्पण के माध्यम से अभिव्यक्त किया

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।

प्रतिफलन-निमग्नाऽनन्त-भाव-स्वभावै-र्मकुरवदविकारा संततं स्युस्त एव॥ 21॥

है। जिसप्रकार दर्पण के सामने कैसा भी पदार्थ झलके, अच्छा-बुरा, गंदा-साफ, दर्पण की निर्मलता पर कोई फर्क नहीं पड़ता, ठीक उसीप्रकार जिन जीवों को प्रतिसमय स्वरूप की महिमा और उसके अतीन्द्रिय आनंद का रसास्वादन होता है, संयोगजन्य अनेकों विकार रहते हुये भी उनका ज्ञान हमेशा दर्पणवत् अविकारी ही रहता है, और वे निरन्तर अपने स्वरूप की मस्ती में ही केलि करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

याही वर्तमान-समै भव्यनि कौ मिटौ मोह, लग्यौ है अनादि कौ पग्यौ है कर्ममल-सौं।
उदै करै भेदज्ञान महारुचि कौ निधान, उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दल-सौं॥
जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि, कबहूँ अपनपौ न कहै पुदगल-सौं।
यहै करतूति यौ जुदाई करै जगत-सौं, पावक ज्यौं भिन्न करै कंचन उपलसौं॥ 23॥

शब्दार्थ :— याही वर्तमान-समै= इसी वर्तमान समय में, भव्यनि कौ मिटौ मोह= भव्य-जीवों का मोह मिट गया, लग्यौ है अनादि कौ= (जो) अनादिकाल से लगा हुआ था, पग्यौ है कर्ममल-सौं= कर्मरूपी मल/गंदगी से रचा-पचा है, उदै करै भेदज्ञान= भेदविज्ञान का उदय होने से, महारुचि कौ निधान= दृढ़-श्रद्धानरूपी रुचि का खजाना, उरकौ उजारौ भारौ= हृदय का बहुत उजाला, न्यारौ दुंद-दल-सौं= संशय और द्वंद/दुविधा के समूह से भिन्न, जातैं थिर रहै= जिससे स्वरूप में स्थिर रहे, अनुभौ-विलास गहै= अनुभूति का आनंद ग्रहण करते हैं, फिरि कबहूँ अपनपौ न कहै पुदगल-सौं= फिर कभी पुद्गल को अपना नहीं कहते, यहै करतूति यौ जुदाई करै जगत् सौं= इसप्रकार यही प्रक्रिया जगत् से भिन्न करती है, पावक ज्यौं भिन्न करै कंचन उपलसौं= जिसप्रकार अग्नि सोने को स्वर्ण-पाषाण से भिन्न करती है।

विशेषार्थ :— भेदज्ञान की महिमा बताते हुये कविवर कहते हैं कि अनादिकाल से जीव के साथ अष्टकर्मरूपी-मल लगा हुआ है, अर्थात् कर्म और जीव का संयोग-संबंध अनादिकाल से है, और जीव भी अनादि से ही इन कर्मों के साथ रचा-पचा है, अर्थात् इनको ही जीव ने अपना मान रखा है, कविवर कहते हैं कि वह मोहादिरूप कर्ममल इसी वर्तमान समय में अर्थात् इसी मनुष्यभव में मिट जाये। और उनके हृदय में भेदविज्ञानरूपी सूर्य का उदय हो, जिसके प्रकाश से संशयरूपी अंधकार का समूल विनाश हो, आत्मस्वरूप का दृढ़ श्रद्धान हो और आत्मज्ञान का प्रकाश हो।

भेदज्ञान की प्रक्रिया को एक सुंदर-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हुये कविवर कहते हैं कि एकबार भेदज्ञानपूर्वक स्वरूप का निर्णय होने पर जीव स्वरूप में स्थिर रहने का पुरुषार्थ करता है, और आत्मिक-आनंद का स्वाद लेता है, फिर वह कभी पुद्गल यानि शरीरादि समस्त-परपदार्थों को अपना नहीं मानता। भेदज्ञान की यह प्रक्रिया जीव को संसार से ठीक वैसे ही भिन्न कर देती है, जैसे अग्नि कालिमा-सहित स्वर्ण-पाषाण में से स्वर्ण और कालिमा को भिन्न-भिन्न कर देती है।

(सवैया इकतीसा)

बनारसी कहैं भैया भव्य! सुनौ मेरी सीख, कैहूँ भाँति कैसैहूँकै ऐसो काजु कीजिये।
एकहूँ मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ, ग्यानकौं जगाइ अंस-हंस खोजि लीजिये॥

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्म-लीढम्, रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।

इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकेमेकः, किल कलयति काले क्वापि तादात्म्य-वृत्तिम् ॥ 22 ॥

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्-ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।

पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ 23 ॥

वाही कौ विचार वाको ध्यान यहै कौतूहल, यौही भरि जनम परम-रस पीजिये।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप, अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए॥ 24॥

शब्दार्थ :— बनारसी कहैं भैया भव्य सुनौ मेरी सीख= बनारसीदास जी कहते हैं भाई भव्यजीव ! मेरी बात सुनो ! कैहूं भाँति कैसैहूँकै एकहूँ मुहूरत ऐसो काज कीजिये= किसी भी प्रकार से कैसे भी करके एक मुहूर्त के लिये ही सही ऐसा कार्य करो कि, मिथ्यातकौ विधुंस होइ= मिथ्यात्व का विनाश हो जाये और, ग्यानकौ जगाइ अंस-हंस खोज लीजिए= ज्ञान को जागृतकर आत्मा का अंश/आत्मानुभूति ढूँढ लीजिए, वाही कौ विचार= उसी का चिंतन, वाको ध्यान= उसी का ध्यान, यहै कौतूहल= ऐसा अद्भुत-कार्य, यौही भरि जनम परम-रस पीजिये= इसप्रकार जीवनभर परम-रस/आत्मिक-आनंद का पान करो, तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप= संसार में निवास के विलास के विकारी रूप को छोड़कर, अंतकरि मोह कौ= मोह का अंत करके, अनंतकाल जीजिये= अनंतकाल तक जीवित रहो।

विशेषार्थ :— साधर्मी-वात्सल्य की सुंदर-अभिव्यक्ति करते हुये कविवर कहते हैं कि "भाई भव्य ! मेरी बात सुनो, तुम किसी भी तरह, कैसे भी करके एक मुहूर्त अर्थात् पौने अड़तालीस मिनिट के लिये बस एक काम कर लो कि इस मिथ्यात्व-बैरी का विनाश हो जाये, और आत्मज्ञान का अंश प्रकट हो जिससे आत्मस्वरूप की खोज/अनुभूति हो जाये।"

उस आत्मिक-खोज का फल बताते हुये कविवर कहते हैं कि फिर एकमात्र उसी का यानि आत्मस्वरूप का चिंतन और उसी का ध्यान करना, ऐसा अद्भुत-कार्य करने पर हे आत्मन् ! तुम्हें जीवनभर उसके आनंद का रसास्वादन होता रहेगा। और तुम संसार का निवास छोड़कर अर्थात् जन्म-मरण का चक्र और मोह-राग-द्वेषादि समस्त विकारी-भावों को भी छोड़कर अर्थात् इनका भी नाशकर अनंतकाल तक आत्मिक-आनंद का रसास्वादन करते हुये शाश्वत, अविनाशी सिद्ध-पद को प्राप्त कर लोगे।

कवि के द्वारा लिखित इन पंक्तियों में कवि के हृदय की सरलता और सरसता की सुंदर झलक दिखाई दे रही है। जैसे लौकिक में भी जब हमें कुछ हितकारी-जानकारी प्राप्त होती है, तो उसे हम अपने परिजनों और मित्रों के बीच अवश्य साझा करते हैं, फिर यहाँ तो कवि को भव-बंधन के भयंकर दुःखों से छूटने का और अतीन्द्रिय-आनंद की खोज का मार्ग मिला, तो फिर ये बात संसार के घोर-दुःखों से पीड़ित, और आत्म-सुख के रसिक-जीवों को भी क्यों न बतायी जाये ? कवि की ऐसी हार्दिक-उत्सुकता इन पंक्तियों में परिलक्षित हो रही है।

हे आत्मन् ! तुम कैसे भी, कुछ भी करके बस एक मुहूर्त के लिये पुरुषार्थ करके मिथ्यात्व का विनाश कर दो। लेकिन कवि ने ऐसा क्यों कहा ?

क्योंकि पहली-बात, जब तक मिथ्यात्व का विनाश नहीं होगा मोक्षमार्ग की शुरूआत भी नहीं होगी, और दूसरी-बात, यदि वास्तव में उपयोग अंतर्मुहूर्त के लिये स्वरूप में ठहर गया, तो अनंतकाल तक मात्र सुख ही सुख का वेदन होगा। और जन्म-मरण के भयावह-दुःखों से सदा के लिये छुटकारा मिल जायेगा।

(सवैया इकतीसा)

जाके देह-द्युतिसौं दसों दिसा पवित्र भई, जाके तेज-आगैं सब तेजवंत रुके हैं।
जाकौ रूप-निरखि थकित महारूपवंत, जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुके हैं॥

जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवण कौं सुख होत, जाके तन-लच्छन अनेक आइ ढुके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार-गुन, निहचै-निरखि सुद्ध-चेतनसौं चुके हैं॥ 25॥

शब्दार्थ :— जाके देह-द्युतिसौं= जिसके शरीर की चमक/कांति से, दसों दिसा पवित्र भई हैं= दशों दिशाये पवित्र हो गई है, जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं= जिसके तेज/आभा के सामने सभी आभावान्-पदार्थ फीके पड़ जाते हैं, जाको रूप-निरखि थकित महारूपवंत= जिसके रूप/सौन्दर्य को देखकर महान्-सौन्दर्य के धारी भी शिथिल या उत्साह-विहीन पड़ जाते हैं, जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुके हैं= जिस शरीर की गंध से सभी सुगंधित-पदार्थ लज्जित होकर छिप जाते हैं, जाकी दिव्यधुनि सुनि= जिसकी दिव्यध्वनि को सुनकर, श्रवण कौं सुख होत= कानों को सुख होता है, जाके तन-लच्छन अनेक आइ ढुके हैं= जिसके शरीर में अनेक शुभ-लक्षण स्वयं आकर विराजमान हैं, तेई जिनराज= वे जिनेन्द्र देव, जाके कहे विवहार-गुण= जिनके व्यवहार से अनेक गुण कहे गये हैं, निहचै निरखि= निश्चय से देखें, सुद्ध-चेतनसौं चुके हैं= (ये सभी गुण) शुद्ध-आत्मा से भिन्न हैं।

विशेषार्थ :— समवसरण में साक्षात् विराजमान तीर्थंकर-परमात्मा के बाह्य-स्वरूप की स्तुति करते हुये कविवर कहते हैं कि जिनके परम-औदारिक शरीर की चमक से अर्थात् निर्मलता से दशों-दिशाये पवित्र हो गई हैं, क्योंकि तीर्थंकर-परमात्मा का शरीर जन्म से ही धवल-रुधिर और मल-मूत्र-पसीना आदि से रहित पूर्ण-निर्मल होता है। जिनके तेज या आभा के सामने समस्त आभावान्-पदार्थ फीके पड़ जाते हैं, उनके शरीर के तेज से स्वतः ही 'भामंडल' की रचना होती है, जिसमें भव्यजीवों को अपने सात भव दिखाई देते हैं। उनका शरीर 'समचतुरस्र-संस्थान' रूप होने से अतिसुंदर होता है, जिसके सामने जगत् के सभी सुंदर-पदार्थ थक जाते हैं अर्थात् सौन्दर्य-विहीन हो जाते हैं, जिनके शरीर की सुगंध को देखकर समस्त सुगंधित-पदार्थ स्वयं ही छिप जाते हैं।

जिनकी दिव्यध्वनि को सुनकर कानों को या सुननेवालों को वचनातीत-सुख की प्राप्ति होती है, क्योंकि वहाँ उपस्थित सभी जीवों को अपनी-अपनी भाषा में समझ आती है, यदि जीव भावपूर्वक सुनें तो अनंतकाल के लिए सुखी हो जाता है। जगत् में जितने भी शुभ-लक्षण विद्यमान हैं, वे सभी उनके औदारिक-शरीर के सामने स्वयं ही आकर झुक जाते हैं, अर्थात् भगवान् का शरीर समस्त शुभ-लक्षणों से संपन्न होता है। लेकिन हे आत्मन्! ये सभी गुण तो जिनेन्द्र-परमात्मा के व्यवहार से कहे गये हैं, क्योंकि ये तो इस जड़ पौद्गलिक-शरीर की विशेषतायें हैं, जो आत्मस्वरूप में स्थिरता होने से स्वतः ही उत्पन्न होती है। निश्चय से देखा जाये तो तीर्थंकर-परमात्मा पूर्ण-शुद्ध अनंत-गुणों की खान है, जो इन जड़-शरीर के या व्यवहार-गुणों से सर्वथा-भिन्न हैं।

(सवेया इकतीसा)

जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं, आयु-परजंत महारूप महाबल है।
बिना ही जतन जाके तन मैं अनेक गुन, अतिसै-विराजमान काया निर्मल है॥
जैसे बिनु-पवन समुद्र अविचलरूप, तैसे जाकौ मन अरु आसन अचल है।
ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगत् में, जाकी सुभगति महा-सुकृत को फल है॥ 26॥

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये, धामोद्दाम-महस्विनां जन-मनो मुष्णन्ति रूपेण च।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतम्, वन्द्यास्तेऽष्टसहस्र-लक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ 24॥
नित्यमविकार-सुस्थित-सर्वांगमपूर्व-सहज-लावण्यम्। अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ 25॥

शब्दार्थ :— जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं= जिसमें बाल्यावस्था, तरुणावस्था, वृद्धावस्था नहीं है, आयु-परजंत महारूप महाबल है= आयुपर्यंत सर्वांग-सुंदर, अनंतबल के धनी, बिना ही जतन जाके तनमें अनेक गुन= बिना किसी प्रयत्न के जिसके शरीर में अनेक-गुण हैं, अतिसै-विराजमान काया निर्मल= अतिशय सहित विराजमान हैं, शरीर भी मलरहित है, जैसे बिनु-पवन समुद्र अविचलरूप= जिसप्रकार हवा के वेग से समुद्र चलायमान नहीं होता, तैसे जाकौं मन अरु आसन अचल है= उसीप्रकार जिनका मन और मुद्रा स्थिर है, ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगत् में= ऐसे जिनेन्द्रदेव संसार में जयवंत होवें, जाकी सुभगति= जिनकी श्रेष्ठ-भक्ति करना, महा-सुकृत को फल है= महान् पुण्य का फल है।

विशेषार्थ :— इस छंद के माध्यम से कवि ने तीर्थकर-परमात्मा की सुंदर, महाबलशाली, निर्मल-काया का बहुत ही सुंदर-वर्णन किया। जो बाल-युवा-वृद्धपने से रहित जन्म से लेकर मोक्ष प्राप्त करने तक सदाकाल एक जैसी ही रहती है। हम संसारी-प्राणी अपनी काया को सुंदर बनाने के लिये क्या-क्या जतन करते हैं, फिर भी हम उसे सुंदर नहीं बना पाते। जब कि तीर्थकर-परमात्मा 'अंतरंग में उपयोग की निर्मलता' और बाहर में उसकी आनुषंगिक पुण्य-प्रकृतियाँ स्वयं अपना अतिशय-वैभव प्रकट करती है। आयु-पर्यंत अर्थात् जन्म से लेकर मोक्ष प्राप्त करने तक महारूपवान और महान् बल के धारी होते हैं। बिना किसी बाहरी-प्रयत्न के, केवल महान् पुण्य के उदय से उनके शरीर में अनंत अतिशयात्मक-गुण विद्यमान होते हैं, उनकी काया परम-पवित्र होती है।

जगत् में पवन/हवा के वेग को बलशाली माना गया है; क्योंकि वह अपने वेग से मनुष्य, मकान, वृक्ष आदि बहुत सी सामग्री को उड़ाकर ले जाने की सामर्थ्य रखती है; परन्तु जिसप्रकार हवा का तीव्र-वेग अविचल-समुद्र को चलायमान नहीं कर सकता, ठीक उसीप्रकार ये पुण्य-प्रकृतियों के उदय की अनुकूलताजन्य-सुसंयोग तीर्थकर-परमात्मा के चित्त और आसन को चलायमान नहीं कर सकते हैं। कविवर कहते हैं कि ऐसे तीर्थकर-परमात्मा संसार में सदा जयवंत होवें। ऐसे परमात्मा की पूजा-भक्ति का सुअवसर मिलना अतितीव्र-पुण्य का फल है। यद्यपि हम सभी इतने तीव्र-पुण्य के धनी तो नहीं हैं कि हमें यहाँ पंचमकाल में साक्षात् तीर्थकर-परमात्मा का समागम मिलता, लेकिन फिर भी हम सौभाग्यशाली है कि तीर्थकर-परमात्मा की वाणी आज आचार्यों और ज्ञानियों के माध्यम से हमें प्राप्त है, हम चाहें तो आज भी अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। इसीलिये तो ज्ञानियों ने कहा है —

यदि अवसर चूका तो, भव-भव पछतायेगा। फिर काल अनंत अरे! दुःख का घन छायेगा॥

(देहा)

जिनपद नाहीं शरीरकौ, जिनपद चेतन-माँहि।

जिन-वर्नन कछु और है, यह जिन-वर्नन नाहिं॥ 27॥

शब्दार्थ :— जिनपद नाहीं शरीर कौ= जिन-पद शरीर का नाम नहीं है, जिनपद चेतनमाँहि= जिनेन्द्र का पद तो चैतन्य-स्वरूप आत्मा है, जिनवर्नन कछु और है= जिनेन्द्र का वर्णन कुछ और है, यह जिनवर्नन नाहिं= यह (देह का वर्णन) जिनेन्द्र का वर्णन नहीं है।

विशेषार्थ :— जिनेन्द्र-परमात्मा के वास्तविक-स्वरूप का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि हे आत्मन्! वास्तव में 'जिनेन्द्र परमात्मा' यह इस शरीर का नाम नहीं है, जिसका वर्णन मैंने उपर्युक्त-पंक्तियों में किया। 'जिनेन्द्र परमात्मा' नाम तो उस चेतन-आत्मा का है जो कर्म-मल से रहित परमशुद्ध,

अनंत-गुणों का धारी है। तीर्थकर-परमात्मा के बाहरी-वैभव का जो वर्णन मैं ने किया वास्तव में देखा जाये, तो ये जिनेन्द्र का वर्णन है ही नहीं, जिनेन्द्रदेव का वर्णन तो इससे पूर्ण-भिन्न है।" ऐसा क्यों?

जिन/जिनेन्द्र/जितेन्द्रिय ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं। जिनका अर्थ है— जिसने इन्द्रियों को जीता, सो जिन है। बाहरी-वैभव से जिनेन्द्र की पहचान नहीं है, क्योंकि ये बाहरी-वैभव तो पुण्य-प्रकृति का खेल है, जो मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है; इसीलिये इसे छोड़कर ही तीर्थकर-परमात्मा सिद्ध-परमात्मा बनते हैं। और उस अविनाशी, शाश्वत सिद्ध-पद के सामने इस तुच्छ जड़-वैभव का कोई मूल्य नहीं है।

(सवैया इकतीसा)

ऊँचे-ऊँचे गढ़ के कंगूरे यौं विराजत हैं, मानौं नभलोक-गीलवे कौं दाँत दीयौ है।

सोहै चहुँओर उपवन की सघनताई, घेरा करि मानौ भूमिलोक घेरि लीयौ है॥

गहरी गंभीर-खाई ताकी उपमा बनाई, नीचौ करि आनन पताल-जल पीयौ है।

ऐसो है नगर यामैं नृप को न अंग कोऊ, यौही चिदानन्दसौं सरीर भिन्न कीयौ है॥ 28॥

शब्दार्थ :— ऊँचे-ऊँचे गढ़ के कंगूरे यौं विराजत हैं= उन्नत/विशाल महल के कंगूरे इसप्रकार शोभायमान हैं, मानौं नभलोक गीलवें कौं दाँत दीयौ है= मानो आकाशलोक को लीलवे/अपने अंदर समेटने को दाँतों की रचना की हो, सौहें चहुँओर उपवन की सघनताई= चारों ओर बगीचे की सघनता ऐसे सुशोभित हो रही है कि, मानौ भूमिलोक घेरि लीयौ है= मानो उसने सम्पूर्ण पृथ्वीलोक को घेर लिया हो, गहरी गंभीर-खाई= गहरी विकट-खाई, ताकी उपमा बनाई= जो ऐसी लगती है, नीचौ करि आनन पताल-जल पीयौ है= कि मानो मुँह नीचा करके पाताल का जल पी लिया हो, ऐसो है नगर यामैं नृप को न अंग कोऊ= ऐसा नगर है, जिसमें राजा या उसके कोई अनुचर नहीं हैं, यौही चिदानन्दसौं सरीर भिन्न कीयौ है= उसीप्रकार चेतन-आत्मा से शरीर अलग किया/अनुभवा है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार नगर का वर्णन राजा का वर्णन नहीं, ठीक उसीप्रकार शरीर के सौंदर्य का वर्णन तीर्थकर-परमात्मा का वर्णन होने पर भी वास्तव में उनका वर्णन नहीं है, क्योंकि तीर्थकरत्वपने की पूज्यता शरीर से नहीं आत्मिक-गुणों से है।

कवि ने कल्पना की है कि जैसे किसी नगर में बहुत सुंदर-सुंदर महल बने हो, जिसकी मुंडेरों पर सफेद-पत्थरों को तराशकर ऊँचे-ऊँचे सुंदर कंगूरे बनाये गये हों। उनकी विशालता देखकर ऐसा लगता है कि मानो सारे आकाश को लीलने को दाँत गढ़े गये हों अर्थात् सारे आकाश को अपने अंदर ही समेटने को तैयार हों। नगर के चारों ओर सुंदर-सुंदर घने पेड़-पौधे के बगीचे बने हुये हैं, जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो उपवनों की सुंदर-आकृति ने मिलकर पृथ्वीलोक को चारों ओर से घेर लिया है।

उस नगर में गहरी और विकट खाई बनी हों, जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो उस खाई रूपी मुँह को नीचा करके वह नगर पाताललोक का जल पी रहा हो। लेकिन जिसप्रकार नगर की सुंदरता का वर्णन करने पर राजा का वर्णन नहीं होता, जबकि वह नगर उस राजा का ही है, उसी की पहचान है, कहा भी जाता है कि ये अमुक-राजा का नगर है, लेकिन फिर भी वह वर्णन उस राजा का नहीं है। ठीक उसीप्रकार ये समस्त वैभव तीर्थकर का ही है, तीर्थकर की ही पहचान है, लेकिन फिर भी तीर्थकर का स्वरूप इससे पूर्णतः भिन्न है, ठीक उसीप्रकार जैसे शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। तीर्थकर के शरीर

प्राकार-कवलितांबरमुपवन-राजी-निगीर्ण-भूमितलं। पिबतीव हि नगरमिदं परिखा-वलयेन पातालम् ॥ 26॥

का वर्णन पुण्य- प्रकृतियों का वर्णन है, जबकि तीर्थंकर का वर्णन पुण्य-पाप से सर्वथा-रहित चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा का वर्णन है।

(सवैया इकतीसा)

जामैं लोकालोक के सुभाव-प्रतिभासे सब, जगी ग्यान-सकति-विमल जैसी आरसी।
दर्सन उद्योत लीयौ, अंतराय अंत कीयौ, गयौ महा-मोह, भयौ परम-महारसी॥
सन्यासी सहज-जोगी जोगसौं उदासी जामैं, प्रकृति-पचासी लग रही जरि छार-सी।
सोहै घट-मंदिरमें चेतन प्रगट-रूप, ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी॥ 29॥

शब्दार्थ :- जामैं लोकालोक के सुभाव-प्रतिभासे सब= जिसमें समस्त लोकालोक का स्वाभाविक-प्रतिभास होता है, जगी ज्ञान-सकति-विमल जैसी आरसी= दर्पण जैसी निर्मल-ज्ञान-शक्ति जागृत हुई है, दर्सन उद्योत लीयौ, अंतराय अंत कीयौ= अनंत-दर्शन प्रकट किया, अंतराय-कर्म को नष्ट किया, गयौ महामोह, भयौ परम महारसी= विकट मोहनीय-कर्म नष्ट हुआ और परम-रस के धनी हुये, सन्यासी सहज-जोगी= जो सन्यासी हैं और सहज-योग के धारक योगी हैं, जोगसौं उदासी= (मन-वचन-काय की चंचलता रूप) योगों से उदासीन हैं, जामैं प्रकृति पचासी= जिसमें पचासी (85) कर्मप्रकृतियाँ, लागि रहीं जरी छार-सी= जली हुई रस्सी की राख के जैसी लग रही हैं, सोहै घट-मंदिर में चेतन प्रगटरूप= देहरूपी मंदिर में चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा प्रकट रूप में शोभायमान है, ऐसो जिनराज ताहि बंदत बनारसि= ऐसे जिनेन्द्रदेव को बनारसीदास वंदन करते हैं।

विशेषार्थ :- जिनेन्द्र-परमात्मा के घातिया-कर्मों के क्षय और अनंत-चतुष्टय प्रकट होने की सुंदर-विवेचना करते हुये कविवर कहते हैं कि जिनको सहज अपने स्वरूप की स्थिरतापूर्वक कर्मों का अभाव होने से निर्मल-केवलज्ञान प्रकट हुआ है। यह केवलज्ञान दर्पण के समान निर्मल है, जिसप्रकार दर्पण में पदार्थ अच्छा हो या बुरा, ज्यों का त्यों झलकता है, ठीक उसीप्रकार भगवान् के ज्ञान में तीनों-लोक तीनों-काल के समस्त द्रव्य-गुण और पर्याय युगपत् हाथ पर रखे आँवले की तरह यथावत् स्पष्ट झलकते हैं।

ज्ञानावरणी का क्षय होने से 'केवलज्ञान/अनंतज्ञान' और दर्शनावरणी का क्षय होने से 'केवलदर्शन/अनंतदर्शन' प्रकट हुआ है और अंतराय-कर्म का पूर्ण-क्षय होने से 'अनंतवीर्य' प्रकट हुआ है। महामोह अर्थात् कर्मों का राजा मोहनीय-कर्म का क्षय होने से जिनेन्द्र-परमात्मा परम-आनंद-रस अर्थात् 'अनंतसुख' के धनी है। इसप्रकार केवली-परमात्मा को चारों घातिया-कर्मों का क्षय हो जाने से 'अनंत-चतुष्टय' प्रकट हुये हैं। यही तीर्थंकर-परमात्मा/ जिनेन्द्रदेव का वास्तविक-स्वरूप है।

संसार में रहते हुये भी सन्यासी अर्थात् संसार से पूर्ण-विरक्त रहते हैं, संसार की कोई भी क्रिया-प्रतिक्रिया उन्हें बाधित नहीं करती। मन-वचन-काय तीनों योगों के होने के बावजूद भी योगों से उदासीन अर्थात् विरक्त ही रहते हैं। घातिया-कर्मों का तो क्षय हो चुका है, परन्तु अघातिया-कर्मों की 85 प्रकृतियों का सद्भाव रहता है, लेकिन उनकी उपस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे जली हुई रस्सी की राख हो। जलने के बाद भी उसमें वो ऐंठ या बल तो दिखाई देते हैं, किंतु अब उन बलों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, यानि उसमें अब रस्सी जैसी सामर्थ्य नहीं रहती; ठीक उसीप्रकार तीर्थंकर-परमात्मा के शरीर व अघातिया-कर्मों का सद्भाव तो होता है, पर उनका अस्तित्व जली-जेवरी की तरह बलहीन ही होता है, अर्थात् उनकी उपस्थिति प्रभाव-विहीन ही रहती है। उनका उपयोग तो एकमात्र देहरूपी-मंदिर में विराजमान चेतनदेव में ही लीन रहता है, ऐसे तीर्थंकर-परमात्मा को बनारसीदास मन, वचन, काया से वंदन करते हैं।

यद्यपि आगम में केवलज्ञान की तुलना दर्पण से की गई है। लेकिन दर्पण का उदाहरण सिर्फ,

केवलज्ञान की निर्मलता को ही सिद्ध करता है, स्व-पर-प्रकाशीपने को नहीं। जब कि केवली का ज्ञान निर्मलता के साथ-साथ स्व-पर-प्रकाशक भी हैं। दर्पण केवल अपने सामने आनेवाले पदार्थ को प्रकाशित करता है, अन्य को नहीं; जबकि केवलज्ञान में संपूर्ण-लोकालोक झलकता है। वास्तव में देखा जाये; तो यह है तीर्थकर/केवली का स्वरूप। ऐसे वीतरागी-सर्वज्ञ-परमात्मा को बनारसीदास जी सादर वंदन करते हैं।

(कवित)

तन-चेतन विवहार एक से, निहचै भिन्न-भिन्न हैं दोइ।
तनकी थुति विवहार-जीवथुति, नियतदृष्टि मिथ्याथुति सोइ॥
जिन सो जीव, जीव सो जिनवर, तन-जिन एक न मानै कोइ।
ता कारन तन की संस्तुति सौं, जिनवर की संस्तुति नहिं होइ॥ 30॥

शब्दार्थ :- तन-चेतन विवहार एक से= शरीर और आत्मा व्यवहार से एक है, निहचै भिन्न-भिन्न हैं दोइ= निश्चय से दोनों भिन्न-भिन्न हैं, तनकी थुति विवहार-जीवथुति= शरीर की स्तुति व्यवहार से जीव की स्तुति है, नियतदृष्टि मिथ्या-थुति सोइ= निश्चय या वस्तुस्वभाव की दृष्टि से वही स्तुति झूठी है, जिन सो जीव= जिनेन्द्र ही जीवरूप, जीव सो जिनवर= जीव ही जिनेन्द्र है, तन-जिन एक न मानै कोइ= शरीर और जिनेन्द्र को कोई एक नहीं मानता, ता कारन तन की संस्तुतिसौं= इसी कारण शरीर की संस्तुति से, जिनवर की संस्तुति नाहिं होइ= जिनेन्द्र की स्तुति नहीं होती है।

विशेषार्थ :- व्यवहार की मुख्यता से जिनेन्द्र-परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि व्यवहार-नय से जिनेन्द्र की आत्मा और शरीर भले ही एक मानकर स्तुति की गयीं हैं, पर निश्चय-नय से देह और आत्मा— दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिये जिनेन्द्र-परमात्मा के शरीर की स्तुति को व्यवहारनय से तो जीव की स्तुति कहा जाता है, लेकिन जब हम वस्तु के स्वरूप का विचार करते हैं अथवा द्रव्यदृष्टि से कथन करते हैं, तब वही स्तुति मिथ्या सिद्ध होती है; क्योंकि वह वास्तव में जीव की स्तुति है ही नहीं।

क्योंकि शरीर और बाह्य-वैभव का मिलना तो पुण्य के आधीन है, और ये पुण्यजनित-वैभव न तो जीव के साथ त्रिकाल रहता है और न ही मोक्ष-प्राप्ति में सहकारी है। जबकि आत्मिक-गुणों के प्रकट होने में जीव का अपना पुरुषार्थ है, और ये गुण सदाकाल जीव के साथ ही रहते हैं, इसीलिये वास्तव में वही 'जिन' का सच्चा-स्वरूप है।

निश्चय-नय की मुख्यता से जो जिनेन्द्र-परमात्मा हैं, वही जीव है, और जो उनका जीव या आत्मा है, वही जिनेन्द्र-परमात्मा है। अर्थात् जिनेन्द्र-परमात्मा कहें या उनकी आत्मा कहें एक ही बात है, उनमें कोई भेद नहीं है, और जो जिनेन्द्र-परमात्मा का शरीर है, उसे ज्ञानियों ने जिनेन्द्र नहीं माना है। इसलिये जिनेन्द्र-परमात्मा के शरीर की स्तुति कितनी भी अच्छे से क्यों न की जाये, वह जिनेन्द्र-परमात्मा का स्तवन नहीं है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिनेन्द्र और जिनेन्द्र की आत्मा-ऐसी दो वस्तु नहीं है, अर्थात् उनमें कोई भेद नहीं है। पर्याय में भी परमशुद्ध-चेतनस्वरूप भगवान् आत्मा ही 'जिन' या 'जिनेन्द्र' हैं।

'देवागम स्तोत्र' में 'आचार्य समन्तभद्र' भी यही बात कहते हैं कि "हे भगवन्! आप आकाश में विराजते हो, छत्र-चमर-भामण्डल व समवसरणादि विभूतियों से विभूषित हो, सौ-सौ इन्द्र आपको

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-न्तुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्त्वतः।

स्तोत्रं निश्चितो भवति चित्तुत्येव सैवं भवे-न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तर-बलादेकत्वमात्माङ्गयोः॥ 27॥

नमस्कार करते हैं— इसलिये आप पूज्य नहीं हो! बल्कि आप अनंतज्ञानादि गुणों से सुशोभित परम वीतरागी हो, इसलिये आप पूज्य हो।"

वही भाव बनारसीदास जी ने यहाँ व्यक्त किया है कि बाह्य-वैभव या शरीर की स्तुति जिनेन्द्र की स्तुति नहीं है। बल्कि जिस आत्मा ने अपने अनंत-गुणों को प्रकट किया, वास्तव में वह आत्मा ही परमात्मा है, और उसी की स्तुति ही जिनेन्द्र की स्तुति है।

(सवैया तेईसा)

ज्यों चिरकाल-गड़ी वसुधा-माँहि, भूरि-महानिधि अंतर-गूझी।
कोउ उखारि धरै महि-ऊपर, जे दृगवंत तिन्हें सब सूझी॥
त्यों यह आतम की अनुभूति, पड़ी जड़भाउ अनादि अरूझी।
नै-जुगतागम-साधि कही गुरु, लच्छन-वेदि विचच्छन-बूझी॥ 31॥

शब्दार्थ :— ज्यों चिरकाल-गड़ी वसुधा-माँहि= जैसे बहुत समय से पृथ्वी में गहरे गड़ी हुई, भूरि-महानिधि अंतर-गूझी= अंतरंग में छिपी हुई अपार निधि/खजाना, कोउ उखारि धरै महि-ऊपर= कोई उखाड़कर/खोदकर निकालकर पृथ्वी के ऊपर रख दे तो, जे दृगवंत तिन्हें सब सूझी= जो आँखवाले/बुद्धिमान हैं, उन सबको दिखाई देने लगती है, त्यों यह आतम की अनुभूति= वैसे ही यह आत्मा की अनुभूति, पड़ी जड़भाउ अनादि अरूझी= अनादिकाल से जड़भावों में उलझी हुई है, नै-जुगतागम-साधि कही गुरु= नय, युक्ति और आगम से सिद्ध करके गुरु/आचार्यों ने कही है, लच्छन-वेदि विचच्छन-बूझी= लक्षणों को जानकर ज्ञानी-जीवों ने बताया या कही है।

विशेषार्थ :— धरती में गुप्त-लक्ष्मी के उदाहरण के माध्यम से आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित आत्मनिधि का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष बहुत समय से जमीन में गढ़ा हुआ धन पुरुषार्थपूर्वक जमीन से बाहर निकालकर रख दे, तो वह छिपी हुई लक्ष्मी भी नेत्रधारियों को दिखने लगती है।

नेत्रधारियों को दिखाई देने लगती है— ऐसा कवि ने क्यों कहा ? क्योंकि जमीन से निकलने पर भी वह लक्ष्मी एक अंधे-व्यक्ति को दिखाई नहीं देती, ठीक उसीप्रकार आचार्यों ने हम अज्ञानी-जीवों पर अत्यंत-करुणा करके हमारी निधि, अक्षय-सुख का खजाना न जाने कितने तर्क और युक्तियों से सिद्ध कर हमें दिखाया। आत्मानुभूति का मार्ग इतना सरल कर दिया कि हम जब चाहे उस आनंद की अनुभूति का रसास्वादन कर सकते हैं। लेकिन हमारी स्थिति तो उस अंधे व्यक्ति के समान है, जिसके सामने खजाना पड़ा है और वह उसे देख नहीं पा रहा है।

ठीक उसीप्रकार यह आत्मसंपदा, जो अनादिकाल से अज्ञानता के कारण देहादि जड़-पदार्थों के नीचे दबी हुई थी/ छिपी हुई थी, जिसे लक्षणों के ज्ञाता अर्थात् आगम के वेत्ता आचार्यों और ज्ञानियों ने नय, युक्ति और आगम के आलोक में समझायी है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे कोऊ जन गयौ धोबी के सदन तिन, पहिरयो परायौ-वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यौ "भैया! यह तो हमारौ-वस्त्र", चीन्हें पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है॥

इति परिचित-तत्त्वैरात्म-कायैकतायां, नयविभजन-युक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्।

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य, स्वरस-रभसकृष्टः प्रस्फुटनेक एव॥ 28॥

अवतरति न यावद्वृत्तिमत्यन्तवेगा-दनवमपरभाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः।

झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥ 29॥

तैसें ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी-जीव, संग के ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है।

भेदज्ञान भयौ अब आपा-पर जान्यौ तब, न्यारौ परभाव से स्वभाव निज गह्यौ है॥ 32॥

शब्दार्थ :— जैसे कोऊ जन गयौ धोबी के सदन= जैसे कोई व्यक्ति धोबी के घर गया, तिन पहिरयो परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है= उसने दूसरे का कपड़ा पहन रखा था और उसे अपना मान रहा था, धनी देखि कह्यौ "भैया! यह तो हमारौ वस्त्र"= कपड़े के असली मालिक ने देखकर कहा "भाई! यह वस्त्र तो मेरा है", वस्त्र-चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है= वस्त्र के लक्षण देखकर, पहिचानते ही त्यागभाव अंगीकार किया, तैसे ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी-जीव= उसीप्रकार अनादिकाल से पुद्गल के साथ संयोग होने से, जीव संग के ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है= जीव इसके प्रति ममत्वभाव से स्वभाव के विपरीत उसमें बह रहा है, भेदज्ञान भयौ अब आपा-पर जान्यौ तब= अब भेदज्ञान होने पर, जब स्व और पर को जाना उसी समय, न्यारौ परभाव स्वभाव निज गह्यौ है= परभावों से भिन्न अपना स्वभाव ग्रहण किया।

विशेषार्थ :— धोबी के माध्यम से भेदज्ञान की प्राप्ति का सुंदर-वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति धोबी के घर गया, और अपने वस्त्रों के बदले में दूसरे के वस्त्र ले आया। फिर उन्हें अपने वस्त्र मानकर पहनने लगा, लेकिन एक दिन उस कपड़े का असली मालिक मिला और उसने वस्त्र को देखते ही पहचान लिया, और कहने लगा कि "भाई! यह वस्त्र तो मेरा है", फिर जैसे ही उसकी नज़र वस्त्र पर पड़ी, लक्षण आदि से वह पहचान गया कि 'हाँ, वास्तव में ये मेरा वस्त्र नहीं है'। यद्यपि अभी भी वह व्यक्ति उस वस्त्र को पहने हुये है, लेकिन जानकारी होने के बाद उसके भावों में उस वस्त्र का त्याग प्रतिसमय वर्त रहा है, अर्थात् वस्त्र पहिचानते ही 'यह वस्त्र मेरा नहीं है'— ऐसा त्यागभाव वर्त रहा है।

उसीप्रकार अनादिकाल से जीव और शरीरादि पुद्गल-पदार्थों का एकसाथ संयोग होने से जीव इन संयोगों में ममत्व करता आया है, अर्थात् इनको अपना मानता आया है, जिससे अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभाव के विपरीत मोह-राग-द्वेषादि भावों रूप परिणामन कर रहा है। लेकिन जब आगम के अभ्यास से, ज्ञानियों के वचनों को सुनकर अनादिकाल से पड़ी ममत्वबुद्धि पर जिस क्षण प्रज्ञारूपी छैनी से वार होता है और स्व-पर का भेदविज्ञान होता है, उसी क्षण स्व का ग्रहण और पर का त्याग हो जाता है। फिर चाहे वह जीव इस शरीर और संयोगों के बीच कितने ही समय तक रहे, परन्तु उसके परिणाम जल से भिन्न कमल की तरह निर्मल ही रहते हैं। देहादिक की क्रिया होने पर भी परिणाम कीचड़ में पड़े स्वर्ण की शुद्धता की तरह निर्मल रहते हैं, अर्थात् देहादिक-संयोगों और आत्मा के बीच भेदज्ञान प्रतिसमय वर्तता है, यही सम्यग्दर्शन का स्वरूप और महिमा है।

(अडिल्ल छंद)

कहैं विचच्छन-पुरुष सदा मैं एक हूँ। अपने-रससौं भयौ आपनी टेक हौं॥

मोहकर्म मम नाहिं, नाहिं भ्रमकूप है। सुद्ध-चेतना-सिंधु हमारौ रूप है॥ 33॥

शब्दार्थ :— कहैं विचच्छन-पुरुष सदा मैं एक हूँ= विचक्षण-पुरुष हमेशा कहते हैं 'मैं एक हूँ', अपने रससौं भयौ आपनी टेक हौं= अपने ही रस से भरा हुआ अपने ही आश्रय से हूँ, मोहकर्म मम नाहिं नाहिं भ्रमकूप है= मोहादि कर्म मेरे में नहीं है, ना ही भ्रमरूपी कुँआ है, सुद्ध-चेतना-सिंधु हमारौ रूप है= निर्मल-चैतन्यरस से भरा हुआ समुद्र (की तरह अपार व अगाध) ही हमारा रूप है।

सर्वतः स्वरस-निर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।

नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्धन-महोनिधिरस्मि॥ 30॥

विशेषार्थ :- आत्मा का सच्चा-स्वरूप वर्णित करते हुये कविवर कहते हैं कि विचक्षण-पुरुषों अर्थात् ज्ञानियों का कहना है कि 'मैं त्रिकाल एक ज्ञान स्वभावी आत्मा हूँ, मैं अपने ही चैतन्यरस से लबालब भरा हुआ हूँ, और अपने ही आधार से रहता हूँ।'

मोह-राग-द्वेषादि कर्म मेरे आत्मस्वरूप में नहीं है, ये पंचेन्द्रिय के विषय-भोग 'भ्रम के कुँये' के समान है। हे आत्मन्! तुम कहाँ भ्रम के कुँये में डूबकी लगा रहे हो, इन विषय-भोगों में सुख की कल्पना मृगतृष्णा के समान भ्रामक है। हे चेतन! क्यों मोह-राग-द्वेषादि भावों को अपना स्वरूप मानकर दुःखी होते हो, यह तेरा स्वरूप नहीं है। जैसे कुँये का पानी बहुत गहरा होता है, एकबार पानी लेने नीचे उतरे तो बाहर आने का कोई रास्ता नहीं मिलता; ठीक उसीप्रकार ये विषयभोग भी भ्रम का कुँआ है, जिसमें व्यक्ति डूबता चला जाता है। सुख की चाह में जैसे ही हमने अपना ज्ञायक-स्वभाव छोड़ा और इन मोहादि-भावों को अपना माना, तो फिर इनमें डूबते ही चले गये, जिसका फल कि अनादिकाल से संसार में आज तक डूबे ही हुये हैं, और चाहकर भी बाहर नहीं निकल पा रहे हैं।

इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं, 'हे आत्मन्! ये तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो चैतन्य के रस से भरा हुआ अथाह सागर है। जैसे सागर में जल अथाह है, ठीक उसीप्रकार भगवान् आत्मा अनंत-सुख का निधान है, जो अनंतकाल तक ऐसे ही रहनेवाला है। उसे किसी के सहारे की अपेक्षा नहीं है, वह तो अपने ही आधार से अपने ही स्वचतुष्टय में पूर्ण है और सदाकाल ऐसे ही रहेगा। मोहादि-कर्मों ने तेरे स्वरूप को न कभी स्पर्श किया है, और न कभी स्पर्श कर सकते हैं, तू स्वयं ही भ्रम से इन्हें अपना मानता आया है। एकबार इस भ्रम के कुँये से बाहर तो निकल, अनंत-गुणों से लबालब समुद्र तेरे सामने है— यही तेरा वास्तविक स्वरूप है।'

(सवेया इकतीसा)

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निज-परगुन, दृग-ज्ञान-चरन त्रिविध परिनयौ है।

विसद-विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ, आपुही में आपनौ सहारो सोधि लयौ है॥

कहत बनारसि गहत पुरुषारथ कौं, सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयौ है।

पन्ना के पकाये जैसे कंचन विमल होत, तैसे सुद्ध-चेतन प्रकासरूप भयौ है॥ 34॥

शब्दार्थ :- तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निज-परगुन= सात-तत्त्व की सम्यक्-श्रद्धान होने से स्व और पर की पहिचान हुई, दृग-ज्ञान-चरन त्रिविध परिनयौ है= दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनरूप परिणमन हुआ, विसद-विवेक आयौ= निर्मल विवेक/भेदविज्ञान प्रकट हुआ, आछौ विसराम पायौ= अच्छा/उत्तम-विश्राम प्राप्त किया, आपुही मैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है= अपने में ही अपना सहारा खोज लिया है, कहत बनारसि गहत पुरुषारथ कौं= बनारसीदास जी कहते हैं, मैंने पुरुषार्थ को ग्रहण किया, सहज सुभासौं= सहज ही स्वभाव से, विभाव मिटि गयौ है= विभाव नष्ट हो गया है, पन्ना के पकाये= स्वर्णपत्र को पकाने पर, जैसे कंचन विमल होत= जैसे सोना शुद्ध होता है, तैसे सुद्ध-चेतन प्रकासरूप भयौ है= वैसे ही शुद्धात्मा प्रकाशरूप/अनुभवगोचर हुआ है।

विशेषार्थ :- सम्यग्दर्शन होने पर जीव की स्थिति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जीवादि सातों-तत्त्वों का सम्यक्-श्रद्धान होने से निज और पर अर्थात् स्व-पर का भेदविज्ञान-पूर्वक निर्णय हो गया, जिससे दर्शन-ज्ञान और चारित्र-तीनों गुण सम्यक्-रूप से परिणमित हो गये हैं। अब ज्ञान निर्मल होने से स्वयं ही अपने स्वरूप में पूर्ण-विश्राम मिल गया है, अब मुझे कहीं जाने की जरूरत नहीं है; क्योंकि

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके, स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम्।

प्रकटित-परमाथै-दर्शन-ज्ञान-वृत्तैः, कृत-परिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः॥ 31॥

मैंने अपना सहारा स्वयं में ही खोज लिया है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रत्येक जीव के स्वाभाविक-गुण हैं, और त्रिकाल जीव के साथ ही रहते हैं। बस अंतर इतना है कि मिथ्यादृष्टि-जीव के इन्हीं गुणों का मिथ्यारूप परिणामन हो रहा है और सम्यग्दृष्टि-जीव के इन्हीं गुणों का सम्यक् रूप परिणामन हो रहा है। जब भेदविज्ञानपूर्वक सात-तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान होता है, तब स्व का ग्रहण और पर का त्याग होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों गुण सम्यक् रूप से परिणामन करते हैं।

जब निज-स्वभाव का ग्रहण होता है, अर्थात् जब उपयोग स्वरूप में ठहरता है, तब मोहादि विकारी-भाव तो स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं, उनको नष्ट करने का पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता; क्योंकि विकारी-भावों की उत्पत्ति का कारण ही स्वरूप में अस्थिरता है। यानि हम बस एकबार स्वरूप की महिमा और अनुभूति का पुरुषार्थ कर ले, बाकी सारे कार्य तो स्वयं होंगे, करने नहीं पड़ेंगे।

जिसप्रकार खदान से निकले हुये कालिमा-सहित स्वर्णपत्र को रसायन आदि के सहयोग से तेज अग्नि में तपाने पर कालिमा तो जलकर भस्म हो जाती है और शुद्ध-सोना निखरकर सामने आ जाता है, ठीक उसीप्रकार "स्वरूपे प्रतपनः तपः" अर्थात् स्वरूप में स्थिरता ही तप है— आचार्यों की इस युक्ति के अनुसार तपरूपी अग्नि के ताप से जब उपयोग स्वरूप में ठहरता है, तो कर्मों की कालिमा स्वतः नष्ट हो जाती है और चैतन्य-स्वरूप आत्मा अपने अनंत-गुणों-सहित प्रकाशित होता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसें कोऊ पातुर बनाय वस्त्र-आभरन, आवति अखारे निसि आडौ-पट करकैं।

दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै, सकल-सभा के लोग देखैं दृष्टि धरि कैं॥

तैसे ग्यान-सागर मिथ्याति-ग्रंथि भेदि करि, उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरि कैं।

ऐसौ उपदेस सुनि चाहिये जगत-जीव, सुद्धता संभारै जग-जालसौं निसरि कैं॥ 35॥

शब्दार्थ :- जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन= जैसे कोई अभिनेत्री (नर्तकी/नायिका) वस्त्र और आभूषण से सजकर, आवति अखारे निसि आडौ पट करकैं= नाट्यस्थल/रंगमंच पर रात में परदा आड़ा करके आती है, दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै= दोनों ओर से दीपकों के प्रकाश को संभालकर परदा दूर करती है, सकल सभा के लोग= सभा के समस्त लोग, देखैं दृष्टि धरि कैं= गौर से/आँखे खोल-खोलकर देखते हैं, तैसे ग्यान-सागर मिथ्याति-ग्रंथि भेदिकर= उसीप्रकार मिथ्यात्व की ग्रंथि को खोलने पर ज्ञान का सागर, उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरि कैं= उछलता हुआ प्रकट हुआ है, जिसमें तीनों लोक समाये हुये हैं, ऐसौ उपदेस सुनि चाहिये जगत जीव= ऐसा उपदेश जगत् के जीवों को सुनना चाहिये, सुद्धता गंभीरा= शुद्ध, गंभीर, जग जालसौं निसरि कैं= संसार के झंझटों से निकलकर।

विशेषार्थ :- भेदविज्ञान की विशेषता का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जैसे नाटक की पात्रा अर्थात् कोई नायिका सुंदर-वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जब रंगमंच पर परदे के पीछे आकर खड़ी हो जाती है, तो किसी को दिखाई नहीं देती। लेकिन जब दोनों ओर प्रकाश की व्यवस्था को अच्छे से देखकर जैसे ही परदे को हटाती हैं, तो सारी-सभा के लोग एकदम गौर से देखने लगते हैं। ठीक उसीप्रकार ज्ञान का सागर अर्थात् अनंतज्ञान का धनी चैतन्य-स्वरूप भगवान् आत्मा जो मिथ्यात्व के परदे से ढँका हुआ था,

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका, आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।

आप्लाव्य विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण, प्रोन्मन एष भगवानवबोधसिन्धुः॥ 32॥

वह मिथ्यात्व की गाँठ को भेदकर अर्थात् मिथ्यात्व के परदे के हटते ही अपने वास्तविक-स्वरूप में प्रगट हो जाता है। जो कुछ समय बाद तीनों-लोको को भी प्रकाशित करेगा, अर्थात् केवलज्ञान प्रकट करेगा।

अनादिकाल से चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा मिथ्यात्व के आवरण से ढँका हुआ है, लेकिन जब ग्रंथिभेद होता है अर्थात् प्रथमोपशम-सम्यग्दर्शन होता है, तो अखंड-मिथ्यात्व की गाँठ खुल जाती है और दर्शनमोहनीय कर्म— मिथ्यात्व, सम्यकमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति के रूप में खंडित हो जाता है। इसे ही आगम में ग्रंथिभेद कहते हैं, और ज्ञायक भगवान् आत्मा प्रकाशित हो जाता है। इसलिये हे जीवराज! यदि सुखी होना है, तो पहले मिथ्यात्वरूपी परदे को हटाने का सम्यक् पुरुषार्थ कर।

अंतिम पंक्तियों में असीमकरुणा के साथ जगत् के जीवों को प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि 'हे जगत् के जीवों! तुम्हें भी जिनवाणी का ऐसा अमृतमयी-उपदेश अवश्य सुनना चाहिये, और अपने परिणामों को संभालते हुये संसार के झंझटों से निकलकर आत्मस्वरूप का आश्रय लेने का पुरुषार्थ करना चाहिये।'



आत्मकथ्य के रूप में कविवर के उद्गार

इतर-निगोद में विभाव ताके बहुरूप,
तामैं हू सुभाव ताकौ एक-अंस आवै है।
वहै-अंस तेजपुंज बादर-अगनि जैसें,
एकतैं अनेक-रस रसना बड़ावै है॥ 1॥

आगैं जोर बढ्यौ घ्राण-चक्षु-श्रोत नरदेह,
देह-देही भिन्न दीखै भिन्नता ही भावै है।
'बानारसीदास' निज-ज्ञान को प्रकाश भयो,
शुद्धता में वास कियै सिद्ध-पद पावै है॥ 2॥

उदै भयो भानु कोऊ पंथी उठ्यौ पंथ-काज,
कहै नैन तेज थोरो दीप कर चाहिये।
कोऊ कोटीध्वज नृप-छत्र-छाँह पुरतज,
ताहि हौंस भई जाय ग्राम-वास रहिये॥ 3॥

मंगल-प्रचंड तज काहू ऐसी इच्छा भई,
एक खर निज-असवारी-काज चाहिए।
'बानारसीदास' जिनवचन-प्रकास सुन,
और बैन सुन्यो चाहै तासों ऐसी कहिये॥ 4॥



(द्वितीय-अधिकार)

अजीव-द्वार

(दोहा)

जीव-तत्त्व-अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय।

अब अधिकार-अजीव कौ, सुनहु चतुर-चित लाय ॥ 1 ॥

शब्दार्थ :- जीव-तत्त्व-अधिकार यह= यह जीवतत्त्व नामका अधिकार, कह्यौ प्रगट समुझाय= समझाते हुये कहा, अब अधिकार-अजीव कौ= अब अजीव नाम का अधिकार, सुनहु चतुर-चित लाय= मन लगाकर सुनो।

विशेषार्थ :- 'अजीव-अधिकार' का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हुये कविवर कहते हैं कि इससे पूर्व 'जीवतत्त्व-अधिकार' का सांगोपांग-वर्णन किया, अब 'अजीवतत्त्व-अधिकार' का वर्णन करता हूँ। हे चतुर-चित्तवाले जीवो! इसे ध्यान से सुनो।

(सवैया इकतीसा)

परम-प्रतीति उपजाय गनधर-की-सी, अंतर अनादि की विभावता विदारी है।

भेदग्यान-दृष्टिसौ विवेक की सकति साधि, चेतन-अचेतन की दसा निरवारी है ॥

करम कौ नास करि अनुभौ-अभ्यास धरि, हिए मैं हरखि निज-उद्धता संभारी है।

अंतराय नास भयौ सुद्ध-परकास थयौ, ग्यानकौ विलास ताकौ वंदना हमारी है ॥ 2 ॥

शब्दार्थ :- परम-प्रतीति उपजाय गनधर-की सी= गणधरदेव जैसा दृढ़-श्रद्धान उत्पन्न हुआ है, अंतर अनादि की विभावता विदारी है= अंतरंग से अनादि से चले आ रहे विभाव-भाव नष्ट हो गए हैं, भेदग्यान-दृष्टिसौ विवेक की सकति साधि= भेदविज्ञान की कला से विवेक की शक्ति को साधकर, चेतन-अचेतन की दसा निरवारी है= जीव और जड़/पुद्गल की स्थिति को भिन्न-भिन्न किया है, करमकौ नास करि= कर्मों को नष्ट करके, अनुभौ अभ्यास धरि= आत्मानुभूति का अभ्यास करके, हिएमैं हरखि निज-उद्धता संभारी है= हृदय में हर्षित होकर अपनी उद्धतता को संभाला/नियंत्रित किया है, अंतराय नास भयौ= अंतराय-कर्म नष्ट हो गया, सुद्ध-परकास थयौ= शुद्ध-स्वरूप का प्रकाश हुआ है, ग्यानकौ विलास= ज्ञान का विलास/अनंतता, ताकौ वंदना हमारी है= उनको हमारा नमस्कार है।

विशेषार्थ :- पूर्ण-ज्ञान की वंदना और स्वयं के अनंतज्ञान प्रकट होने की सुंदर-भावना व्यक्त करते हुये कविवर कहते हैं कि मेरे हृदय में गणधर देव जैसा दृढ़-श्रद्धान उत्पन्न होने से अनादिकाल से चली आ रही विभाव-परिणति अर्थात् मिथ्यात्व का नाश हो गया है। अंतरंग में भेदविज्ञान की अनमोल-कला के जागृत होने से विवेकपूर्वक-ज्ञान की शक्ति से आत्मा और जड़-पदार्थों की भिन्नता का निर्णय हो गया है। अब तो हृदय में प्रतिसमय स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ दृढ़ हो- ऐसी भावना है।

भेदविज्ञानपूर्वक तत्त्व का निर्णय होने से कर्मों को नष्ट कर दिया है, आत्मानुभूति का अभ्यास करते हुये प्रसन्नतापूर्वक अपने हृदय में आत्मस्वरूप की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है। आत्मस्वरूप का ग्रहण होने से अनुभूति में बाधक अंतराय-कर्म का स्वतः ही नाश हो गया है और शुद्ध-आत्मतत्त्व का

जीवाजीव-विवेक-पुष्कलदृशा प्रत्यावयत्पार्षदान्-आसंसार-निबद्ध-बंधनविधि-ध्वंसाद् विशुद्धं स्फुटत्।

आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं, धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥ 1 ॥

प्रकाश हुआ, जिससे पूर्ण-ज्ञान जैसा आनंद प्रगट हुआ है— ऐसे पूर्ण-ज्ञान में जो निरन्तर केलि करते हैं, उन 'केवली-परमात्मा' को हमारा बारम्बार नमस्कार हो।

(सवैया इकतीसा)

भैया! जगवासी तू उदासी हैकैं जगतसौं, एक छह-महीना उपदेश मेरौ मानु रे।
और संकल्प-विकल्प के विकार तजि, बैठिकैं एकांत मन एक-ठौर आनु रे॥
तेरौ घट-सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर है सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न हैहै कछु ऐसौ तू विचारतु है, सही हैहै प्रापति सरूप यौही जानु रे॥ 3॥

शब्दार्थ :- भैया जगवासी तू उदासी हैकैं जगतसौं= हे संसार में रमने वाले जीवराज ! तुम जगत् से उदासीन होकर, एक छह महीना उपदेश मेरौ मानु रे= मात्र छह महीने के लिये मेरी सीख मान लो, और संकल्प-विकल्प के विकार तजि= और संकल्प-विकल्पों के विकारों को छोड़कर, बैठिकैं एकांत मन एक-ठौर आनु रे= एकांत में बैठकर मन को एकाग्र करो, तेरौ घट-सर= तेरा हृदय ही तालाब है, तामैं तूही है कमल ताकौ= तुम ही उसमें खिलनेवाले कमल हो, तूही मधुकर है= तुम ही भौरा होकर, सुवास पहिचानु रे= सुगंध पहिचान ले, प्रापति न हैहै कछु= कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी, ऐसौ तू विचारतु है= ऐसा तुम विचार करते हो, (जबकि) सही हैहै प्रापति= वास्तव में प्राप्ति होगी, सरूप यौही जानु रे= ऐसा वस्तु का स्वरूप है= यह तुम जान लो।

विशेषार्थ :- भव्यों को आत्मानुभव की शिक्षा देते हुये कविवर कहते हैं कि हे संसार में रमनेवाले जीवराज ! तू संसार से विरक्त होकर मात्र छह-महीने के लिये मेरी बात मान ले अर्थात् जिनागम के उपदेश को हृदय से स्वीकार कर ले, और संसार, शरीर और संयोगों के समस्त संकल्प-विकल्पों को त्यागकर एकांत-स्थान पर एकाग्रचित्त होकर आत्मस्वरूप में लीन होने का प्रयास कर।

एकांत-स्थान पर बैठकर चिंतन करना कि तेरा हृदय/आत्मा ही सरोवर है, तू ही उसमें खिलनेवाला कमल है, और तू ही उस कमल के फूल का रस पीनेवाला भौरा है, एकबार अपने चैतन्य के रस का रसपान तो कर। कभी ऐसा विचार मत करना कि इससे क्या मिलेगा ? हे आत्मन् ! तू एक बार ऐसा कर तो सही, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि तुझे नियम से आत्मा के आनंद का रसपान होगा। क्योंकि आत्मा स्वयं ही सिद्धि-स्वरूप है, अतः समर्पित होकर तो देख, सिद्धि न होने का प्रश्न ही नहीं है। आत्मसिद्धि का यही एकमात्र उपाय है, अन्य कोई नहीं।

उपर्युक्त-पंक्तियाँ कवि के सरस-हृदय की परिचायिका है। संसार के सभी जीव सच्चे-सुख को प्राप्त करें ऐसी पवित्र-भावना कवि ने यहाँ व्यक्त की है। कितनी अद्भुत-बात है कि मात्र छह-महीने यदि हम ज्ञानियों के अनुसार अपने स्वरूप की साधना-हेतु प्रवर्तन करें, तो स्वरूप की सिद्धि हुये बिना नहीं रहेगी। परन्तु संसार, शरीर और संयोगों के समस्त संकल्प-विकल्पों को त्यागकर ही यह कार्य संभव है। हे आत्मन् ! विचार तो करो, निर्विकल्प-आत्मा की अनुभूति आत्मिक-विकल्पों के साथ संभव नहीं, तो सांसारिक-विकल्पों के रहते कैसे संभव होगी ?

भाई ! एक बार स्वीकार तो कर कि "तू ही सरोवर है, तू ही कमल है, और तू ही रसपान करनेवाला भौरा अर्थात् मैं ही ज्ञाता, मैं ही ज्ञान और मैं ही ज्ञेयरूप हूँ। यदि तुम ऐसा करने में सफल होते हो, तो निश्चितरूप से तुम्हें आत्मिक-आनंद की अनुभूति होगी ही होगी। क्योंकि सच्चे-सुख की प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है।"

विरम किमपरेणाकार्य-कोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।

हृदय-सरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्ना, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ 2॥

(दोहा)

चेतनवंत अनंत-गुन, सहित सु आतमराम।

याते अनमिल और सब, पुद्गल के परिणाम॥ 4॥

शब्दार्थ :- चेतनवंत अनंत गुन= चेतनता से भरपूर अनंत-गुणों, सहित सु आतमराम= से सहित आत्मा है, याते अनमिल और सब= इससे बेमेल/भिन्न शेष सभी, पुद्गल के परिणाम= पुद्गल के परिणाम हैं।

विशेषार्थ :- चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा और जड़-स्वरूप पुद्गल का लक्षण बताते हुये कविवर कहते हैं कि आत्मा चैतन्य-रस से भरपूर, अनंतगुणों से सहित हैं, और इससे भिन्न शेष सभी पुद्गल के परिणाम या परिणति है।

चेतनरूप भगवान् आत्मा यानि मैं कैसा हूँ? मैं चैतन्य-स्वरूप भगवान् आत्मा अनंत-दर्शन, अनंत-ज्ञान, अनंत-वीर्य, अनंत-सुख का धनी परिपूर्ण-शुद्ध चेतन-तत्त्व हूँ, ध्रुव (शाश्वत), अचल (स्थिर), अनुपम (ऐसा तत्त्व, जिसकी जगत् में कोई उपमा ही नहीं), अखण्ड (जिसका कोई खण्ड न कर सके), निर्विकार (विकारों से रहित), निर्द्वन्द्व (द्वन्द्व से रहित), निराकुल (आकुलता से रहित), निराधार (किसी के आधार की अपेक्षा नहीं अपने ही आधार), निर्मम (ममता से रहित), निर्मल (रागादि-मल से रहित), निराकार (दृष्टि का विषय ऐसे आकार से रहित, मात्र ज्ञानाकार), प्रचण्ड (मोहरूपी शत्रु को दमित करने में समर्थ), अशरीरी (औदारिक आदि पाँचों-शरीरों से रहित), अरूपी (रूप से रहित), अविनाशी/अक्षय (जो कभी नष्ट नहीं हो सकता), अकर्ता (जड़-कर्मों का कर्ता नहीं), अविचल (कोई चलायमान नहीं कर सकता), निष्कलंक (कलंक-रहित), निरपेक्ष (अपेक्षा-रहित), निर्विकल्प (विकल्पों से रहित), अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से रहित), निरालम्बी (आलम्बन से रहित), निष्क्रिय (जड़-क्रिया से रहित), निष्कर्म (आठों कर्मों से रहित), निर्बन्ध (बंध से रहित), असंयुक्त/असंयोगी (संयोगों से रहित), परिपूर्ण (स्वयं में पूर्ण), स्वाधीन (परकृत-बाधाओं से रहित स्वाधीन), निस्पृह (स्पृह से रहित), परम तृप्त, ज्ञानानुभूति से युक्त, अनंत-शक्तियों से संपन्न एक अद्भुत-तत्त्व हूँ। अधिक क्या कहूँ ऐसा समझो— "सर्वत्र सुंदर लोक में शुद्धात्मा हमारा है"।

इसके अलावा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, प्रकाश, आतप (सूर्य का ताप), उद्योत (चन्द्रमा की शीतलता), तम (अंधकार), छाया, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, राग, द्वेष आदि सभी परिणाम पौद्गलिक हैं।

(कवित्त)

जब चेतन सँभारि निज-पौरुष, निरखै निज-दृगसौं निज-मर्म।

तब सुखरूप विमल अविनासिक, जानै जगत्-सिरोमनि धर्म॥

अनुभौ करै सुद्ध-चेतन कौ, रमै स्वभाव वमै सब-कर्म।

इहि-विधि सधै मुक्तिकौ मारग, अरु समीप आवै सिव-सर्म॥ 5॥

शब्दार्थ :- जब चेतन सँभारि निज-पौरुष= जब आत्मा अपने आत्मिक-बल को सँभालकर, निरखै निज दृगसौं निज मर्म= अपने ज्ञानमयी-नेत्रों से अपना रूप निहारता है, तब सुखरूप विमल अविनासिक= तब

चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्वसारो जीव इयानयम्, अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥ 3॥

सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तम्, स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।

इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्, कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्॥ 4॥

सुखस्वरूप, विकारों से रहित निर्मल, अविनाशी, जानै जगत-सिरोमणि धर्म= लोक के शिरोमणि धर्म को जानता है, अनुभौ करै सुद्ध-चेतन कौ= शुद्ध-चेतनरूप भगवान् आत्मा का अनुभव करता हैं, रमै स्वभाव= स्वभाव में रमता हैं, वमै सब कर्म= कर्म का वमन अर्थात् विनाश करता हैं, इह विधि सधै मुक्तिकौ मारग= इसप्रकार मोक्ष का मार्ग सधता है, अरु समीप आवै सिव सर्म= और तब मोक्षरूपी सुख समीप आता है।

विशेषार्थ :- आत्मज्ञान का फल बताते हुये कविवर कहते हैं "जब जीव अपने आत्मिक-पुरुषार्थ से अपने चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा को अपने ज्ञानमयी-नेत्रों से निरखता है, तब उसे अपने वास्तविक-शुद्ध-स्वरूप की अनुभूति होती है"— यह कहकर कवि ने स्पष्ट कर दिया कि आत्मानुभूति में शास्त्रज्ञान तो निमित्त-मात्र है, वास्तव में स्वयं का ज्ञान ही कार्यकारी है, अर्थात् जबतक जीव स्वयं से पुरुषार्थ नहीं करेगा तबतक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी।

किन्तु जब साधक इसप्रकार पुरुषार्थ करते हुये आत्मानुभूतिपूर्वक स्वरूप में स्थिरता करता है, तब वह समस्त-कर्माँ का वमन अर्थात् विनाश करता है। और मोह-राग-द्वेषादि भावों की मलिनता से रहित निर्मल, जन्म-जरा-मरण से रहित अविनाशी, शाश्वत-परमपद को प्राप्त करता है। इसप्रकार से साधना करने पर ही मोक्षमार्ग सिद्ध होता है, और सच्चा निराकुल आत्मिक-सुख प्राप्त होता है।

(देहा)

वरनादिक-रागादि यह, रूप हमारौ नाहिं।

एक ब्रह्म नहिं दूसरौ, दीसै अनुभव-माँहिं॥ 6॥

शब्दार्थ :- वरनादिक-रागादि= वर्ण आदि पौद्गलिक-विकार और राग-द्वेष आदि आत्मिक-विकार, यह रूप हमारौ नाहिं= ये सब मेरा रूप नहीं हैं, एक ब्रह्म नहिं दूसरौ= एकमात्र आत्मा ही मैं हूँ, अन्य कुछ भी मैं नहीं हूँ, दीसै अनुभव-माँहिं= ऐसा अनुभव के समय दिखाई देता है।

विशेषार्थ :- आत्मा और पुद्गल में भिन्नता बताते हुये कविवर कहते हैं कि वर्णादि अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शरीर आदि जड़-पदार्थ आदि पौद्गलिक-परिणाम और रागादि अर्थात् मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भाव— यह मेरा अर्थात् चेतन आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मानुभूति के समय एकमात्र चिद्ब्रह्म-स्वरूप भगवान् आत्मा ही अनुभवगोचर होता है, अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता।

(देहा)

खांडो कहिये कनककौ, कनक-म्यान संयोग।

न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग॥ 7॥

शब्दार्थ :- खांडो कहिये कनक कौ= तलवार को भी सोने की कहते हैं, कनक-म्यान संयोग= सोने की म्यान के संयोग से, न्यारौ निरखत म्यानसौं= म्यान से भिन्न देखने पर, लोह कहैं सब लोग= सभी लोग (उसे) लोहा कहते हैं।

विशेषार्थ :- देह और जीव की भिन्नता को एक दृष्टांत के माध्यम से स्पष्ट करते हुये कविवर कहते हैं कि लोहे की तलवार भी जब सोने की म्यान में रखी जाती है, तब वह तलवार लोहे की होने पर भी सोने का ही नाम पाती है। लेकिन जैसे ही तलवार को म्यान से अलग करते हैं, लोग उसे 'लोहे की' ही कहते हैं।

वर्णाद्या वा राग-मोहादयो वा, भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः। तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी, नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्॥ 5॥

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्तेव तस्यान् कथं च नान्यत्। रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम्॥ 6॥

जीव और देह भी तलवार और म्यान की तरह एकक्षेत्रावगाह-रूप रहते हैं। जबतक संसारी-जीव को भेदविज्ञान नहीं वर्तता, तबतक वह इस नश्वर-देह को भी चेतन ही मानता है; लेकिन जैसे ही भेदविज्ञान के द्वारा जीव को आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, उसी क्षण यह देह नश्वर और अशुचि लगने लगती है, और चेतन आत्मा परम-पवित्र अविनाशी तत्त्व भासित होता है। तब इस नश्वर-देह से आत्मबुद्धि स्वतः ही छूट जाती है, और एकमात्र निज-स्वभाव से अपनत्व वर्तता है।

(देहा)

वरनादिक पुद्गल-दसा, धरै जीव बहुरूप।
वस्तु विचारत करमसौ, भिन्न एक-चिद्रूप॥ 8॥

शब्दार्थ :- वरनादिक पुद्गल-दसा= वर्ण आदि पुद्गल की पर्यायें हैं, धरै जीव बहुरूप= जीव इनके संयोग में नाना-रूपों को धारण करता है, वस्तु विचारत करमसौ= वस्तु-स्वरूप का क्रमशः विचार करने पर (ज्ञात होता है) भिन्न एक चिद्रूप= भगवान् आत्मा इनसे भिन्न एक चेतन-स्वरूप है।

विशेषार्थ :- जीव और पुद्गल की भिन्नता का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि स्पर्श, रस, गंध और वर्णरूप पुद्गल के नानारूपों को जीव आज तक धारण करता आया है, लेकिन जब वस्तु के स्वरूप का विचार करते हैं, तो सिद्ध होता है कि ये सब तो कर्म के उदय से प्राप्त नाना-स्वांग है, आत्मा तो इन सभी से भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है। कहने का अभिप्राय यह है कि अनादिकाल से आठों-कर्मों का संयोग होने से जीव अर्थात् मैं नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव पर्याय को धारण करते हुये चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ दुःखी हो रहा हूँ, लेकिन आज जब आगम का अभ्यास किया, तो वस्तु का वास्तविक-स्वरूप ख्याल में आया कि ये सब पर्यायें तो पुद्गलमय हैं, विनाशीक हैं, कर्मों के उदय और क्षयोपशम के आधीन हैं, इनमें एकत्व-ममत्व करके ही तो मैं आज तक दुःखी होता आया हूँ। जबकि मैं तो इन सबसे भिन्न परम-शुद्ध, निर्विकार, अनंत-सुख की खान, चैतन्यमूर्ति भगवान् आत्मा हूँ।

(देहा)

ज्यौं घट कहिये घीव कौ, घट कौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नामसौ, जड़ता लहै न जीव॥ 9॥

शब्दार्थ :- ज्यौं घट कहिये घीवकौ= जिसप्रकार घड़े को (घी का संयोग होने पर) घी का घड़ा कहते हैं, घटकौ रूप न घीव= परन्तु घड़ा घी रूप नहीं होता, त्यौं वरनादिक नामसौ= उसीप्रकार वर्णादिक-नामों से, जड़ता लहै न जीव= जीव अचेतना प्राप्त नहीं करता।

विशेषार्थ :- जिसप्रकार मिट्टी का घड़ा घी का संयोग होने पर घी का घड़ा नाम पाता है, लेकिन इससे घड़ा घी रूप और घी घड़ेरूप नहीं हो जाता, ठीक उसीप्रकार यह चेतन-आत्मा अनादिकाल से शरीर का संबंध होने पर भी, तथा नाना-गतियों में नाना-प्रकार के रूप रखने पर भी कभी ये आत्मा शरीररूप और शरीर आत्मारूप नहीं हुआ अर्थात् चेतन कभी जड़रूप/अचेतनरूप और अचेतन कभी चेतनरूप नहीं हुआ, तो फिर मैं क्यों भ्रमित हो रहा हूँ?

वर्णादि-सामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य। ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ 7 ॥

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्। जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ 8 ॥

(दोहा)

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव ।

अचल अनादि-अनंत नित, प्रगट जगतमैं जीव ॥ 10 ॥

शब्दार्थ :- निराबाध चेतन अलख= (जीव) बाधारहित, चेतन, इन्द्रिय-अगोचर, जानै सहज स्वकीव= सहज स्वयं अपने को ही जानता है, अचल अनादि-अनंत नित= स्थिर, जिसकी कोई आदि न हो, जिसका कोई अंत न हो, नित्य, प्रगट जगत मैं जीव= जगत् के जीवों को प्रतिसमय प्रकट है ।

विशेषार्थ :- आत्मा के वास्तविक-स्वरूप का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं "जीव निराबाध, चेतन, अलख, सहज, ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी, अचल, अनादि-अनंत, नित्य, जगत् के जीवों में प्रत्यक्ष प्रकट है" ।

'निराबाध' यानि आत्मा बाधा-रहित है अर्थात् साता-असाता वेदनीय के उदय-क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाली बाधाओं से रहित है, क्योंकि साता-असाता के उदय-क्षयोपशम का फल शरीर और बाह्य-संयोगों में परिलक्षित होता है, चेतन-आत्मा पर नहीं, वह तो इन सबसे त्रिकाल-भिन्न ही रहता है ।

'चेतन' अर्थात् त्रिकाल चेतयितारूप से विद्यमान है, किसी भी पर्याय में एकसमय के लिये भी कभी जड़रूप नहीं हुआ, और न कभी हो सकता है । 'अलख' अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देता, क्योंकि इन्द्रियाँ तो रूपी-पदार्थ को ही जानती है, अरूपी को नहीं, जबकि आत्मा अरूपी और अतीन्द्रिय-तत्त्व है, इसीलिए कभी इन्द्रियों के द्वारा जानने में आ ही नहीं सकता ।

'सहज' स्वकीय अर्थात् प्रतिसमय सहज स्वयं ही स्वयं को जानता है यानि ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है, ज्ञेयों को नहीं । 'अचल' अर्थात् अपने ज्ञान स्वभाव में ही स्थिर रहता है, चाहे किसी भी गति या किसी भी पर्याय में रहे स्वभाव से ज्ञानस्वरूप ही रहता है । 'अनादि' अर्थात् आदि से रहित, 'अनंत' अर्थात् अंत से रहित/ जन्म-मरण से रहित है । 'नित्य' अर्थात् कभी विनाश को प्राप्त नहीं होगा, जिसका विनाश होता है, वह पर्याय मैं नहीं हूँ । मैं तो अजर-अमर शाश्वत अविनाशी तत्त्व हूँ, जो जगत् के समस्त जीवों में प्रत्यक्ष प्रमाणित है ।

(सवैया इकतीसा)

रूप-रसवंत मूरतीक एक पुदगल, रूप बिनु औरु यौं अजीव दर्व दुधा है ।

चारि हैं अमूरतीक-जीव भी अमूरतीक, याहीतैं अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है ॥

औरसौं न कबहूँ प्रगट आप आपुहीसौं, ऐसौ थिर चेतन-सुभाऊ सुद्ध सुधा है ।

चेतनकौ अनुभौ अराधैं जग तेई जीव, जिन्हकौं अखंड-रस चाखिवै की छुधा है ॥ 11 ॥

शब्दार्थ :- रूप-रसवंत मूरतीक एक पुदगल= रूप-रस आदि गुणोंवाला, मूर्तिक एक पुदगल-द्रव्य है, रूप-बिनु औरु यौं अजीव दर्व= रूप के बिना और भी अजीव-द्रव्य, दुधा हैं= (जो) दो प्रकार के हैं, चारि हैं अमूरतीक= चार अमूर्तिकद्रव्य अजीव हैं, जीव भी अमूरतीक= जीव भी अमूर्तिक है, याहीतैं अमूरतीक वस्तु= इसीलिए अमूर्तिक वस्तु (का) ध्यान मुधा है= ध्यान व्यर्थ है, औरसौं न कबहूँ प्रगट= (जीवद्रव्य) किसी और से कभी प्रगट नहीं होता, आप आपुहीसौं= आप स्वयं अपने आप ही प्रकट है, ऐसौ थिर चेतन-सुभाऊ सुद्ध मुदा है= चेतन का ऐसा स्थिर-स्वभाव शुद्ध-अमृतस्वरूप है, चेतनकौ अनुभौ अराधैं= आत्म-अनुभव की आराधना,

अनाद्यनन्तमचलं स्वयंवेद्यमिदं स्फुटम् । जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ 9 ॥

वर्णाधैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतः, नामूर्तत्वमपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा, व्यक्तं व्यञ्जि-जीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥ 10 ॥

जग तेई जीव= जगत् में वे ही जीव करते हैं, जिन्हकों अखंड-रस चाखिबै की छुधा है= जिनको प्रतिसमय आत्मिक-आनंद के रसास्वादन करने की भूख/ललक/तीव्र-इच्छा है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने दो तथ्यों का स्पष्टीकरण किया। पहला लोक में छह-द्रव्य है, जिनमें से एक पुद्गलद्रव्य 'रूपी' और 'मूर्तिक' है, और शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्य 'अरूपी' और 'अमूर्तिक' हैं। जीव-द्रव्य भी 'अरूपी' और 'अमूर्तिक' है। इसप्रकार छह में से पाँच-द्रव्य 'अमूर्तिक' हैं, सो यदि अमूर्तिक-पदार्थ का ध्यान करते हो, तो व्यर्थ है; क्योंकि भले ही जीव-द्रव्य अमूर्तिक है, पर शेष चार-द्रव्य भी तो अमूर्तिक हैं; और इन अमूर्तिक-द्रव्यों का स्वभाव और लक्षण भिन्न होने से अमूर्तिक जीव-द्रव्य से इनका कोई संबंध नहीं है, इसलिये केवल अमूर्तिक-पदार्थ का ध्यान करने से आत्मा की सिद्धि कभी नहीं होगी।

दूसरा आत्मस्वरूप की सिद्धि जगत् में उन्हीं जीवों को होती है, जिन्हें अपने अखण्ड-चैतन्यस्वरूप का अमृतपान करने की तीव्रतम-ललक होती है। इसलिये ऐसे जीवों को आत्मस्वरूप की सिद्धि करने के लिये आत्मा के अमूर्तिक-स्वरूप का नहीं, बल्कि ज्ञान-स्वभावी, सहज, स्वयं-सिद्ध, परिपूर्ण, चैतन्यमूर्ति, सुखस्वरूप अतीन्द्रिय-तत्त्व का ध्यान करना चाहिये।

(सवैया तेईसा)

चेतन-जीव अजीव-अचेतन, लच्छन-भेद उभै-पद न्यारे।

सम्यक्दृष्टि-उदोत विचच्छन, भिन्न लखैं लखिकैं निरधारे॥

जे जगमाँहि अनादि-अखंडित, मोह-महामद के मतवारे।

ते जड़-चेतन एक कहैं, तिन्हकी फिरि टेक टरै नहिं टारे॥ 12॥

शब्दार्थ :— चेतन-जीव= जीव चेतन है, अजीव-अचेतन= अजीव अचेतन है, लच्छन-भेद उभै-पद न्यारे= लक्षणभेद से दोनों ही पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, सम्यक्दृष्टि-उदोत-विचच्छन= सम्यक्/सच्ची दृष्टिवान् विचक्षण/ज्ञानी पुरुष, भिन्न लखैं= (दोनों को) भिन्न-भिन्न देखते हैं, लखिकैं निरधारे= (और) देखकर सम्यक्-निर्णय करते हैं, जे जगमाँहि अनादि अखंडित= जो अनादिकाल से अखंडरूप से संसार में ही मगन हैं, मोह-महामद के मतवारे= मोहरूपी तीव्रतम-मदिरा के नशे में चकचूर हैं, ते जड़-चेतन एक कहैं= वे (जीव) जड़ और चेतन को एक ही मानते हैं, तिन्हकी फिरि टेक टरै नहिं टारे= उनकी यह कुटेव/गंदी-आदत टालने पर भी नहीं टलती।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने ज्ञानी/मोक्षार्थी और संसारी-जीव की परिणति का वर्णन किया है।

संसार में दोप्रकार के जीव हैं, एक तो वे जीव जो अनादिकाल से आज तक संसार और मोह-माया के बंधनों में ही जकड़े हुये हैं, और दूसरे वे जीव जो इन बंधनों को तोड़कर सम्यक्-मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं।

पहली-प्रकृति के यानि संसार में रमनेवाले जीव मोह के कारण आज तक शरीर और आत्मा को एक या शरीर को ही आत्मा मानते आ रहे हैं— उनकी ये अनादि की ऐसी कुटेव या गंदी-आदत है, जो कितना भी समझाने का पुरुषार्थ करो फिर भी नहीं छूटती।

जबकि दूसरी-प्रकृति के जीव, जो मोह के बंधनों को तोड़कर आत्मस्वरूप के सच्चे श्रद्धानी हैं, वे जीव शरीर और आत्मा के लक्षणों के आधार पर इनके स्वरूप का सम्यक्-निर्णय करते हैं, और स्वरूप में स्थिरता का निरन्तर पुरुषार्थ करते हैं।

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं, ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।

अज्ञानिनो निरवधि-प्रविजृम्भितोऽयं, मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति॥ 11॥

(सवैया तेईसा)

या घट में भ्रमरूप अनादि, विसाल महा-अविवेक अखारौ।
तामहिं और स्वरूप न दीसत, पुगल नृत्य करै अति-भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक, सौंजि लियै वरनादि पसारौ।
मोहसौं भिन्न जुदौ जड़सौं, चिनमूरति नाटक-देखनहारौ॥ 13॥

शब्दार्थ :— या घट में भ्रमरूप अनादि= इस हृदय में अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी भ्रम, विसाल महा-अविवेक अखारौ= अज्ञानता रूपी विस्तृत-नाट्यशाला है, तामहिं और स्वरूप न दीसत= जिसमें (पुद्गल के द्वारा दिखाये जानेवाले रूपी के अलावा) कोई और रूप नहीं दिखता, पुगल नृत्य करै अतिभारौ= पुद्गल (अपने परिवार के साथ) बहुत-भारी नृत्य कर रहा है, फेरत भेख दिखावत कौतुक= भेष बदल-बदलकर आश्चर्यजनक (क्रियायें करता है), सौंजि लिये वरनादि पसारौ= साथ में वर्णादि का विस्तार (भी), मोहसौं भिन्न जुदौ जड़सौं= मोहादि से भिन्न, जड़ता से न्यारा, चिनमूरति नाटक देखनहारौ= चैतन्यमूर्ति भगवान् आत्मा (इस) नाटक को (मात्र) देखनेवाला है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने रंगमंच के माध्यम से संसारी-जीव के कृत्यों का सुंदर-चित्रण किया है। यह संसार एक रंगमंच है, जहाँ जीव और पुद्गल दोनों पात्र साथ-साथ रंगमंच पर आते हैं। फिर रंगमंच पर पुद्गल-द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि अपने परिवार के साथ नानाप्रकार के स्वाँग रखकर अर्थात् चार-गति चौरासी-लाख योनियों में नाना-प्रकार की पर्यायों में जन्म लेकर अनादिकाल से भ्रमरूप कौतुक दिखा रहा है। विडम्बना यह है कि इस मायाजाल को देखते-देखते मोह के बंधनों से भरे इन प्रपंचों में जीव ऐसा उलझता है कि उसे फिर इनके अलावा कुछ और दिखाई ही नहीं देता। वह इस भ्रम को ही सत्य मानकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हो जाता है, और दुःखी होता है।

जबकि वास्तविकता तो यह है कि इतना सब कुछ होने के बाद भी आत्मा तो इन मोह के बंधनों और जड़ता से सदाकाल न्यारा ही रहा, कभी इन रूप हुआ ही नहीं। और अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभावरूप रहकर इस भ्रमरूप नाटक को मात्र आज तक देखता ही रहा है, कभी इसका कर्त्ता नहीं बना।

अंतिम-पंक्तियों में कवि सम्यग्दृष्टि-जीव को लक्ष्य में रखकर अपनी बात कहते हैं कि पुद्गल का यह भ्रमरूप-नाटक सम्यग्दृष्टि-जीव के साथ भी चलता है, पर वह अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को कायम रखकर मात्र इस नाटक को देखता रहता है, अर्थात् हर्ष-विषादरूप, इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि या राग-द्वेषरूप नहीं होता। जबकि मिथ्यादृष्टि-जीव अपने को उसी रूप अनुभव करने लगता है। इसीलिये मिथ्यादृष्टि-जीव प्रतिसमय अनंत-दुःखी, और सम्यग्दृष्टि-जीव प्रतिसमय अनंत-सुख की ओर अग्रसर रहता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे करवत एक काठ-बीच खंड करै, जैसे राजहंस निरवारै दूध-जलकौं।
तैसें भेदग्यान निज भेदक-सकति-सेती, भिन्न-भिन्न करै चिदानंद-पुद्गलकौं॥

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये, वर्णादिमान्दति पुद्गल एव नान्यः।

रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्य-धातुमय-मूर्तिरयं च जीवः॥ 12॥

इत्थं ज्ञान-क्रकच-कलनात्पाटनं नाटयित्वा, जीवाजीवौ स्फुट-विघटनं नैव यावत्प्रयातः।

विश्वं व्याप्य प्रसभ-विकसद् व्यक्त-चिन्मात्र-शक्त्या, ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे॥ 13॥

अवधिकौ धावै मनपर्यैकी अवस्था पावे, उमगिकैं आवै परमावधि के थलकौ।

याही-भाँति पूरन-सरूप कौ उदोत करै, करै प्रतिबिंबित पदारथ-सकलकौ॥ 14॥

शब्दार्थ :— जैसे करवत एक-काठ बीच खंड करै= जिसप्रकार आरा-मशीन/लकड़ी काटने की मशीन एक लकड़ी के टुकड़े को बीच में से भेदकर दो टुकड़े कर देती है, जैसे राजहंस निरवारै दूध-जलकौ= जिसप्रकार राजहंस पक्षी दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है, तैसें भेदग्यान निज भेदक-सकतिसेती= उसीप्रकार (सम्यग्दृष्टि-जीव) भेदविज्ञानरूप अपनी भेदक-शक्ति से, भिन्न-भिन्न करै चिदानंद-पुद्गलकौ= आत्मा और पुद्गल को भिन्न-भिन्न कर देता है, अवधिकौ धावै= (फिर) अवधिज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है, मनपर्यैकी अवस्था पावे= मनःपर्ययज्ञान की अवस्था को प्राप्त करता है, उमगिकैं आवै परमावधि के थलकौ= हर्षपूर्वक परमावधि-ज्ञान की भूमि को आता है, याही-भाँति पूरन-सरूप को उदोत करै= इसीप्रकार (स्वरूप में स्थिरता के द्वारा) पूर्ण-स्वरूप को प्रकट करता है, करै प्रतिबिंबित पदारथ-सकल कौ= (और) ज्ञान में झलकनेवाले समस्त-पदार्थों को प्रकाशित करता है।

विशेषार्थ :— भेदविज्ञान होने के बाद की स्थिति का वर्णन करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि जिसप्रकार आरा-मशीन लकड़ी के टुकड़े को बीच में से काटकर अलग-अलग कर देती है, जैसे राजहंस-पक्षी अपनी स्वयं की भेदक-शक्ति से दूध और पानी अलग-अलग कर देता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव भेदविज्ञान होने पर अपनी उस भेदक-शक्ति अर्थात् प्रज्ञा-छैनी से जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न कर देता है।

वह ज्ञानी-जीव क्रम से अवधिज्ञान में भी परमावधिज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है। और परमावधिज्ञान प्राप्त करके मनःपर्ययज्ञान की अवस्था को प्राप्त करता है। फिर अति-हर्षपूर्वक आत्मस्वरूप में निरन्तर स्थिरता-पूर्वक अनंतगुणी-विशुद्धि करता हुआ पूर्ण-स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान को प्रकट करता है, जिसके प्रकाश में जगत् के समस्त पदार्थ स्वयं प्रतिबिंबित होते हैं।

अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हुये और मिथ्यात्व के घोर-बंधनों में जकड़े हुये संसारी-जीव को एक साधक-जीव अपनी श्रुतज्ञानरूपी प्रज्ञा-छैनी से देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर आत्मस्वरूप को ग्रहण करता है।

फिर निरन्तर आत्मसाधना करते हुये वह जीव अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान को भी प्राप्त करता है, और स्वरूप में स्थिरता का तीव्र-पुरुषार्थ करते हुये पूर्ण-स्वाधीन होकर केवलज्ञान प्रकट करता है। केवलज्ञान यानि वह परिपूर्ण और निर्मल-ज्ञान, जिसमें तीन लोक के समस्त द्रव्य, गुण, और तीनों काल की समस्त पर्यायें युगपत् प्रकाशित होती हैं, जिसका कभी क्षय नहीं होता।

अवधिज्ञान के तीन भेद हैं —

- 1- देशावधि— जो अविरति-सम्यग्दृष्टि जीव को होता है।
- 2- परमावधि— असंख्यात-लोकप्रमाण संयमी-मनुष्य को होनेवाला ज्ञान परमावधि होता है।
- 3- सर्वावधि— जो परमावधि से भी अधिक जानता है, वह सर्वावधि होता है।

सामान्य-अवधिज्ञान तो चारों गतियों के जीवों को हो सकता है, किन्तु देशावधि-ज्ञान सम्यग्दृष्टि-मनुष्यों और तिर्यचों को होता है। तथा परमावधि और सर्वावधिज्ञान-मोक्षगामी-मनुष्यों को होता है। इसीलिये कवि ने परमावधि ज्ञान की प्राप्ति को श्रेष्ठ कहा, जिससे परमावधि ज्ञान की प्राप्ति के बाद शीघ्रतिशीघ्र केवलज्ञान की प्राप्ति हो।



(तृतीय-अधिकार)

कर्त्ता-कर्म-द्वार

(दोहा)

यह अजीव-अधिकार कौ, प्रगट बखानौ मर्म।

अब सुनु जीव-अजीव के, करता-किरिया-कर्म॥ 1॥

शब्दार्थ :— यह अजीव-अधिकार कौ= अजीव अधिकार के, प्रगट बखानौ मर्म= रहस्य का वर्णन किया, अब सुनु जीव-अजीव के= अब सुनो जीव और अजीव के, करता-किरिया-कर्म= कर्त्ता क्रिया और कर्म।

विशेषार्थ :— इससे पूर्व 'अजीव-अधिकार' में अजीव-तत्त्व का सुंदर-वर्णन किया, अब जीव और अजीव के कर्त्ता, क्रिया और कर्म के मर्म को सुनो।

(सवैया इकतीसा)

प्रथम अग्यानी-जीव कहै 'मैं सदीव एक, दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ'।

अंतर-विवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ, भयौ बोध, गयौ मिटि भारत-भरमकौ॥

भासे छहौं-दरब के गुन-परजाय सब, नासे दुःख, लख्यौ मुख पूरन-परमकौ।

करमकौ करतार मान्यौ पुदगल-पिण्ड, आप करतार भयौ आतम-धरमकौ॥ 2॥

शब्दार्थ :— प्रथम अग्यानी-जीव कहै मैं सदीव एक= प्रथम तो मिथ्यादृष्टि-जीव कहता है "हमेशा मैं अकेला ही, दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ= कर्म का कर्त्ता हूँ "दूसरा कोई नहीं है", अंतर-विवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ= (फिर) अंतरंग में ज्ञान का उदय हुआ और स्व-पर का भेद जागृत हुआ, भयौ बोध, गयौ मिटि भारत भरमकौ= सम्यग्ज्ञान हुआ और भ्रम का युद्ध मिट गया/समाप्त हो गया, भासे छहौं-दरब के गुन-परजाय सब= छहों-द्रव्य अपने समस्त गुण-पर्यायों के साथ भासित होने लगे, नासे दुःख= दुःख नष्ट हो गया, लख्यौ मुख पूरन-परमकौ= परिपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ भगवान् आत्मा को देखा, करमकौ करतार मान्यौ पुदगल-पिण्ड= कर्मों का कर्त्ता पुदगल-पिंड को माना, आप करतार भयौ आतम-धरमकौ= आप स्वयं आत्म-स्वभाव का कर्त्ता हुआ।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'मिथ्यादृष्टि' और 'सम्यग्दृष्टि' दोनों जीवों की परिणति का सुंदर-चित्रण किया है। पहले अर्थात् अनादिकाल से जीव निज-स्वरूप से विमुख और कर्म का संयोग होने के कारण अज्ञानतावश स्वयं को ही कर्म का कर्त्ता मानता आया है। लेकिन जब उस जीव ने आगम का अभ्यास किया, तब अंतर्मन में विवेक जागृत हुआ और स्व-पर यानि आत्मा और देहादिक की भिन्नता का सच्चा-श्रद्धान और निर्णय हुआ। तब अनादिकाल से चली आ रही भ्रम की दीवार एकक्षण में धराशायी हो गई, अर्थात् मिथ्यात्व नष्ट हो गया और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई।

हे आत्मन्! सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद भी संसार का परिणमन तो यथावत् चलता रहता है, बस जीव की परिणति बदल जाती है। पहले वह जीव जिन-कार्यों का कर्त्ता स्वयं को मानकर दुःखी हो रहा था, अब उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ-ज्ञान होने से उसे छहों-द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायें स्पष्ट और सहज स्वयं अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परिणमित होती हुई दिखाई देने लगती हैं।

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी, इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्म-प्रवृत्तिम्।

ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं, साक्षात्कुर्वन्निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि विश्वम्॥ 1॥

जिससे पर में ममत्व-बुद्धि, एकत्व-बुद्धि, कर्तृत्व-बुद्धि, भोक्तृत्व-बुद्धिरूप जो दुःख था, वह सम्यग्ज्ञान के आलोक में मिट गया, और सच्चा आत्मस्वरूप प्रतिभासित होने लगा। अब वही जीव सम्यग्ज्ञान के आलोक में पुद्गल-कर्मा का कर्ता पुद्गल को मानने लगा और आत्मस्वभाव का कर्ता स्वयं को मानने लगा, अर्थात् उसने सहज और स्वयं-परिणमित वस्तु-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। वास्तव में यही 'सम्यग्दृष्टि-जीव' का सच्चा-स्वरूप और पहिचान है।

(सवैया इकतीसा)

जाही-समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै, वेदत स्वरूप-निज भेदत-भरमकौ।
महा-परचंड मति-मंडन अखंड-रस, अनुभौ-अभ्यासि परगासत-परमकौ॥
ताही-समै घटमै न रहे विपरीत-भाव, जैसे तम-नासै भानु प्रगटि धरमकौ।
ऐसी दसा आवै जब, साधक कहावै तब, करता ह्वै कैसे करै पुगल-करमकौ॥ 3॥

शब्दार्थ :- जाही-समै जीव देहबुद्धिकौ विकार तजै= जिससमय संसारी-जीव देह में अपनत्व-बुद्धि के अशुद्ध-परिणाम को छोड़ता है, वेदत स्वरूप-निज= और अपने आत्मस्वरूप का वेदन करता है, भेदत-भरमकौ= तब मिथ्यात्वरूपी भ्रम को नष्ट करता है, महा-परचंड मति-मंडन अखंड-रस= महा-प्रचंड, ज्ञान की शोभारूप, अखंड-आत्मिकरस (का वेदन करता है), अनुभौ-अभ्यासि= (और) आत्म-अनुभव के ऐसे अभ्यासपूर्वक, परगासत परमकौ= आत्मस्वरूप को प्रकाशित करता है, ताही-समै घटमै न रहे विपरीत-भाव= उससमय हृदय में मिथ्यात्वभाव नहीं रहता है, जैसे तम-नासै भानु प्रगटि धरमकौ= जैसे सूर्य के उदित होने पर स्वभावतः ही अंधकार विनाश को प्राप्त होता है, ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब= जब ऐसी स्थिति होती है, तब वह जीव मोक्षार्थी कहलाता है, करता ह्वै कैसे करै पुगल-करमकौ= (तब) वह कर्ता होकर पुद्गल-कर्मा को कैसे कर सकता है?

विशेषार्थ :- सम्यग्दृष्टि-जीव की परिणति का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं। जिस-क्षण जीव आत्मस्वरूप का सच्चा-श्रद्धान करता है, उसीसमय मिथ्यात्व अर्थात् देह के प्रति आत्मबुद्धि का त्याग हो जाता है, और उसे अखंड-आत्मिकरस का रसास्वादन होने लगता है। फिर वह जीव महा-प्रचंड, ज्ञानस्वरूप अखंड आत्मिक अनुभव के निरंतर अभ्यास से आत्मस्वरूप को प्रकाशित करता है। जिसप्रकार सूर्य का उदय होने पर अंधकार तत्क्षण विनाश को प्राप्त होता है, उसीप्रकार आत्मानुभूतिरूपी-सूर्य का उदय होने पर मिथ्यात्वरूपी-अंधकार भी स्वयं ही विनाश को प्राप्त होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि हमें मिथ्यात्वरूपी-अंधकार को भगाने का पुरुषार्थ नहीं करना है, बल्कि 'मैं आत्मा हूँ'- ऐसे दृढ़-श्रद्धान का पुरुषार्थ करना है। जब ऐसी दृढ़ता का अभ्यास निरन्तर होने लगता है, तब वह जीव सच्चा-साधक या मोक्षमार्गी कहलाता है। फिर वह स्वप्न में भी स्वयं को पुद्गल-कर्मा का कर्ता नहीं मानता है।

(सवैया इकतीसा)

जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म, करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है।
अंतर सुमति भासी जगसौं भयौ उदासी, ममता मिटाइ परजाइ-बुद्धि नाखी है॥

पर-परिणतिमुज्झत् खंडयद्-भेदवादा-निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।

ननु कथमवकाशः कर्तु-कर्म-प्रवृत्ते-रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः॥ 2॥

इत्येवं विरच्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां, स्वं विज्ञानघन-स्वभावमभयादास्तिध्नुवानः परम्।

अज्ञानोत्थिकर्तृ कर्म-कलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं, ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥ 3॥

निरभै-सुभाव लीनो अनुभौ के रस भीनौ, कीनौ विवहारदृष्टि निहचैमैं राखी है।

भ्रम की डोरी तोरी धरम को भयौ धोरी, परमसौं प्रीति जोरी करमकौ साखी है॥ 4॥

शब्दार्थ :— जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म= संसार में अनादिकाल से अज्ञानी-जीव कहता है 'ये मेरा कर्म है', करता मैं याकौ= 'मैं ही इसका कर्ता हूँ', किरियाकौ प्रतिपाखी है= (हमेशा) क्रिया का ही पक्षधर रहा, अंतर सुमति भासी= (जब) अंतरंग में सद्बुद्धि जागृत हुई, जगसौं भयौ उदासी= (तब) संसार से विरक्त हुआ, ममता मिटाई परजाइ-बुद्धि नाखी है= (देहादिक संयोगों में) ममत्वपने का त्यागकर, पर्याय-बुद्धि को नष्ट किया, निरभै सुभाव लीनौ= निर्भय-स्वभाव का ग्रहण किया, अनुभौ के रस भीनौ= आत्मानुभूति के रस में मगन हुआ, कीनौ विवहारदृष्टि निहचैमैं राखी है= व्यवहारधर्म करते हुये भी दृष्टि निश्चय पर ही रखी, भ्रम की डोरी= भ्रम की डोरी तोड़कर, धरम को भयौ धोरी= धर्म का स्वामी हुआ, परमसौं प्रीति जोरी= परम-स्वभाव से प्रीति जोड़ी, करमकौ साखी है= कर्मों का साक्षी है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मिथ्यात्व की अवस्था से लेकर सम्यक्त्व-प्राप्ति का सुंदर-चित्रण किया है। अज्ञानी-जीव अनादिकाल से स्वयं को जड़-कर्मों का कर्ता मानता आया है, अर्थात् ये मेरा कर्म है और मैं इसका कर्ता, इसप्रकार वह हमेशा क्रिया का ही पक्षधर रहा है। (अनादि की छोड़ें, आज भी जब हम प्रतिदिन जिनवाणी में सुनते हैं कि आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, परद्रव्य का कर्ता और भोक्ता नहीं है; तब भी हम स्वयं को परद्रव्य और कर्मों का कर्ता ही मानते हैं, एक-क्षण के लिए भी पर में कर्तृत्व-बुद्धि नहीं छूटती है।)

लेकिन आगम के अभ्यास से जब अंतरंग में बुद्धि का सम्यक् रूप से परिणमन हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई, तब संसार से सहज ही विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ। परपदार्थों और देहादिक संयोगों से ममत्वपना छूट गया, और पर्याय-बुद्धि/पर्यायदृष्टि नष्ट हो गई। पर्याय-दृष्टि से तात्पर्य है कि द्रव्य-दृष्टि से सर्व-जीव समान होने पर भी पर्याय-बुद्धि से जीवों में विविधता दिखाई देती है अर्थात् मनुष्य, तिर्यच, देव, नारकी, दुःखी-सुखी, छोटा-बड़ा, पापी-पुण्यात्मा, संयोगों और देहादिक से जीव मात्र को देखना 'पर्याय-बुद्धि' है। और सम्यग्दृष्टि-जीव की पर्याय-बुद्धि नष्ट हो जाने से उसे सर्वजीव समान और भगवान् आत्मा ही प्रतीत होते हैं, इसीलिये वह हमेशा सुखी है, जबकि मिथ्यादृष्टि-जीव, प्रत्येक जीव को पर्याय-दृष्टि से देखता है, सो प्रतिसमय दुःखी रहता है।

सम्यग्दृष्टि-जीव सर्वप्रकार से निर्भय होकर स्वभाव का आश्रय लेता है, और आत्म-अनुभव के रस में मगन हो जाता है। यद्यपि व्यवहार में सब क्रियायें यथावत् होने पर भी दृष्टि निरन्तर निश्चय अर्थात् स्वभाव पर ही रहती है। अनादिकाल से चले आ रहे परद्रव्य में कर्तृत्वपने के भ्रम को तोड़कर सत्य-धर्म का स्वामी हो जाता है, अर्थात् अब वह स्वयं को जड़-कर्मों से सर्वथा भिन्न सिर्फ अपने स्वाभाविक-गुणों के परिणमन का ही कर्ता मानता है।

इसीलिये आचार्यों ने सर्वत्र यही कहा कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का पुरुषार्थ करो, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूटती। और सम्यग्दर्शन होने पर यह मिथ्या-बुद्धि एक क्षण भी टिकती नहीं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि-जीव व्यवहार में पूर्ववत् ही परिणमन करता है, परन्तु दृष्टि हमेशा स्वभाव पर ही रहती है, अर्थात् अंतरंग में यह श्रद्धान बराबर रहता है कि ये सब कर्माधीन-परिणमन चल रहा है, मैं तो इन क्रियाओं का मात्र ज्ञाता हूँ, और आत्मिक-आनंद के वेदन का पुरुषार्थ प्रतिसमय चलता रहता है।

जैसो जो दरब ताके तैसो गुन-परजाय, ताहीसौं मिलत पै मिलै न-काहु आनसौं।
 जीव-वस्तु चेतन करम-जड़ जातिभेद, अमिल-मिलाप ज्यौं नितंब जु रै कानसौं॥
 ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ, ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागे भानसौं।
 सोई जीव करमकौ करता सो दीसै पै, अकरता कह्यौ है सुद्धताके परमानसौं॥ 5॥

शब्दार्थ :- जैसो जो दरब ताके तैसो गुन-परजाय= जैसा जो द्रव्य है, उसके गुण और पर्याय भी वैसे ही होते हैं, ताहीसौ मिलत पै मिलै न-काहु आनसौं= वे केवल उसी से मिलते हैं, अन्य किसी से नहीं मिलते, जीव-वस्तु चेतन= जीव-पदार्थ चेतन है, कर्म-जड़ जातिभेद= जड़-कर्मों की जाति ही भिन्न है (अचेतन है), अमिल-मिलाप= बेमेल-मिलाप, ज्यौं नितंब जु रै कानसौं= जैसे नितंब का मेल कान से, ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ= ऐसा विवेक/सद्बुद्धि जिसके हृदय में प्रगट हुआ है, ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागे भानसौं= उसका भ्रम उसीप्रकार दूर हो जाता है, जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार दूर हो जाता है, सोई जीव करमकौ करता सो दीसै पै= उसीप्रकार जीव कर्म का कर्ता दिखाई देता है परन्तु, अकरता कह्यौ है सुद्धता के परमानसौं= शुद्धता के प्रमाण से उसे 'अकर्ता' ही कहा गया है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने जीव और पुद्गल की जातिगत-भिन्नता का वर्णन किया है। इस लोक में छह-द्रव्य हैं, और छहों-द्रव्यों के गुण और उनका परिणामन अर्थात् पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं। न कोई किसी के गुण-पर्याय से मेल खाता है, और न ही कोई किसी को सहयोग या बाधा पहुँचाता है। सभी द्रव्य त्रिकाल अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप स्वतंत्र-परिणामन करते हैं। आज तक किसी भी द्रव्य ने अपना स्वभाव नहीं छोड़ा है, एकमात्र जीव-द्रव्य ही अपने स्वभाव को छोड़कर पर की ओर दौड़ लगाता है, और फिर स्वयं ही दुःखी होता है।

चेतन और जड़ की तो जाति ही भिन्न-भिन्न है, इनका मेल कैसे हो सकता है? जैसे नितंब और कान का कभी मेल नहीं हो सकता है, उसीप्रकार जड़ और चेतन/आत्मा और शरीर का भी कोई मेल नहीं है। जिनका न केवल स्वभाव (एक का ज्ञाता-दृष्टा और दूसरे का स्पर्श-रसादिवाला) भिन्न है, बल्कि जाति (एक चेतन, दूसरा जड़/अचेतन) भी भिन्न है, यानि गुण-पर्याय से पूर्णतः भिन्न है, फिर उनका मेल कैसे संभव है??

जिस जीव के हृदय में भेदविज्ञान के द्वारा सम्यक्स्वरूपी सुविवेक प्रकट होता है, उसके हृदय से मिथ्यात्वरूपी-भ्रम ऐसे भागता है, जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार भागता है। यद्यपि उसके बाद भी जीव बाहर में पूर्ववत् कर्म के कर्ता के रूप में दिखाई तो देता है, लेकिन अंतरंग-परिणामों में शुद्धता अर्थात् अकर्तृत्व का भाव वर्तने से ज्ञानियों ने उस जीव को कर्मों का 'अकर्ता' ही कहा है।

कर्मों की लीला कर्मों में, ज्ञानी की लीला ज्ञायक में।

(छप्पय)

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक।
 आपा परगुन लखै, नाहि पुगल इहि लायक॥

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि, व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्भवमृते का कर्तृ-कर्मस्थितिः।

इत्युद्गम-विवेक-घस्मरमहो भारेण भिन्दन्स्तमो, ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥ 4॥

जीवदरब चिद्रूप सहज, पुगल अचेत जड़।
जीव अमूरति मूरतीक, पुगल अंतर बड़।।
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट, तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़-कर्मकौ, सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै॥ 6॥

शब्दार्थ :— जीव ग्यानगुन-सहित= आत्मा ज्ञान-गुण से सहित है, आपगुन-परगुन ज्ञायक= स्व और पर के गुणों को जाननेवाला है, आपा परगुन लखै= अपने और पर के गुणों को देख सके, नांहि पुगल इहि लायक= पुदगल-द्रव्य इस लायक ही नहीं है, जीवदरब चिद्रूप सहज= जीव-द्रव्य सहज चेतन-स्वरूप है, पुगल अचेत जड़= पुदगल-द्रव्य अचेतन है जड़ है, जीव अमूरति= आत्मा अमूर्तिक है, मूरतीक पुगल= पुदगल मूर्तिक है, अंतर बड़= (दोनों में) बड़ा अंतर है, जब लग न होइ अनुभौ प्रगट= जबतक (आत्म) अनुभव प्रगट नहीं होता, तब लग मिथ्यामति लसै= तबतक बुद्धि मिथ्यारूप ही रहती है, करतार जीव जड़-कर्मकौ= आत्मा जड़-कर्मों का कर्ता है, सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै= सद्बुद्धि (सम्यक्त्व) के प्रगट होने पर ही यह भ्रम दूर होता है।

विशेषार्थ :— जीव और पुदगल के स्वाभाविक-गुणों का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जीव यानि आत्मा ज्ञान-गुण से सहित है, इसीलिए वह स्वयं अपने और पर के गुणों को भी जानने की सामर्थ्य रखता है। लेकिन दूसरी ओर पुदगल-द्रव्य, जो स्वयं अपने और दूसरों के गुणों को जान सके, वह इस लायक ही नहीं है अर्थात् पुदगल में ज्ञान गुण न होने से उसकी स्व और पर को जानने की सामर्थ्य ही नहीं है।

जीवद्रव्य तो चेतनस्वरूप है, इसलिये वह सहज ही स्वपर-प्रकाशक-शक्ति का धनी है, जबकि पुदगल अचेतन, है जड़ है; इसलिये उसमें किसी को भी जानने की शक्ति नहीं है। इसके अलावा जीव-द्रव्य अमूर्तिक है और पुदगल-द्रव्य मूर्तिक है, सो इन दोनों द्रव्यों में बहुत बड़ा अंतर है।

जबतक जीव को आत्मानुभूति नहीं होती, तबतक मिथ्यामति अर्थात् बुद्धि का विपरीत-परिणामन चलता रहता है, और जीव जड़-कर्मों का कर्ता भी बना रहता है, तथा मिथ्यात्वरूपी भ्रम भी नष्ट नहीं होता। हम अज्ञानी-जीवों को सबसे बड़ा भ्रम यही है कि आँख देखती है और कान सुनते हैं आदि.....। अर्थात् ज्ञेयों से ज्ञान होता है— ऐसी हमारी मान्यता है। जबकि कविवर कहते हैं कि पुदगल तो इस लायक ही नहीं है, क्योंकि जो स्वयं को नहीं जान सकता, वह हमें कैसे ज्ञान करा सकता है? हे आत्मन्! विचार तो करो एक जड़-वस्तु चेतन-आत्मा को कैसे प्रकाशित कर सकती है?? भाई! मेरा तो स्वभाव ही ज्ञानमयी है, लोक में समाहित छह-द्रव्यों में से एक मात्र जीव-द्रव्य ही ऐसा है, जो स्वयं को भी प्रकाशित करता है, और संपूर्ण लोकालोक को भी प्रकाशित करता है, शेष सभी-द्रव्य तो अचेतन हैं, जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं है।

प्रश्न उठता है कि तो फिर ये भ्रम बना ही क्यों?? तब कविवर कहते हैं कि जबतक तेरी बुद्धि मिथ्यारूप अर्थात् विपरीत परिणामन करती रहेगी, तबतक ये भ्रम यूँ ही बना रहेगा, अर्थात् जबतक तू पर में ही अनुरक्त रहेगा, पर को ही सर्वस्व मानता रहेगा, तबतक ये भ्रम बना ही रहेगा, लेकिन जिस दिन तेरी बुद्धि सम्यक् रूप से परिणामन करने लगेगी अर्थात् स्वयं में ही अनुरक्त होगी, स्वयं को ही सर्वस्व स्वीकार करेगी, यह भ्रम तत्क्षण विनष्ट हो जायेगा।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्व-परपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्, व्याप्तु-व्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्त-भेदात्।

अज्ञानात्कर्तृ-कर्म-भ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावद्, विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवदयं भेदमुत्पाद्य सद्यः॥ 5॥

"मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
जिस क्षण ये निर्णय होगा, उस क्षण तू स्वयं सुखी होगा।।"

(दोहा)

करता परिनामी-दरव, करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरिन, वस्तु एक त्रय-नाम॥ 7॥

शब्दार्थ :- करता परिनामी-दरव= कर्ता स्वयं परिणामी-द्रव्य है, करमरूप परिनाम= कर्मरूप परिणाम भी उसीका, किरिया परजय की फिरिन= क्रियारूप परिणमन भी उसी का, वस्तु एक त्रय-नाम= एक ही वस्तु के तीन नाम हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने कर्ता, क्रिया और कर्म-तीनों को अभेद बताया है। पहले उदाहरण के माध्यम से समझते हैं— जैसे सोने के आभूषण— इसमें सोना ही कर्ता है, सोना ही कर्म है, और सोना ही क्रिया है। कैसे?

आभूषणरूपी-कार्य में आभूषण को उत्पन्न करनेवाला स्वयं सोना ही है, इसलिए सोना ही कर्ता है। इसीप्रकार सोना ही स्वयं आभूषणरूप परिणामित हुआ है, सो सोना ही कर्म है। और स्वर्ण-पिण्ड के रूप में भी सोना ही था और आभूषणरूप कार्य में भी सोना ही है, सो सोना ही क्रिया है। सुनार को आभूषण का कर्ता, आभूषण को उसका कर्म और पिण्डरूप स्वर्ण का आभूषण रूप होने को क्रिया कहना— ये तो भेदरूप या व्यवहार का कथन है।

इसीप्रकार द्रव्य भी अपने परिणामों का कर्ता स्वयं ही है; क्योंकि वे परिणाम द्रव्य के ही हैं, और परिणाम द्रव्य से अभिन्न होने के कारण द्रव्य ही कर्म है, और द्रव्य स्वयं ही परिणाम की अवस्थारूप परिणामित होता है, सो अवस्था से अवस्थान्तर होने से द्रव्य ही क्रिया है।

जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है (कर्ता) और जानना उसका कार्य (कर्म) है, और जो जाननरूप-कार्य (क्रिया) हुआ उसमें भी ज्ञान ने ज्ञान को ही जाना अर्थात् स्वयं ही जाननक्रिया-रूप परिणामित हुआ। कहने का अभिप्राय यही है कि निश्चय से आत्मा ही कर्ता है, आत्मा ही कर्म है, और आत्मा ही क्रिया है, यानि एक ही वस्तु के कर्ता, कर्म और क्रिया तीन नाम हैं।

(दोहा)

करता करम क्रिया करे, क्रिया करम करता।
नाम-भेद बहुविधि भयौ, वस्तु एक निरधार॥ 8॥

शब्दार्थ :- करता करम क्रिया करे= कर्ता ही कर्म और क्रिया करता है, क्रिया करम करता= क्रिया भी कर्म और कर्ता की है, नामभेद बहुविधि भयौ= नाम के भेद से बहुतप्रकार का है, वस्तु एक निरधार= (वास्तव में) वस्तु एक ही है।

विशेषार्थ :- कर्ता, कर्म और क्रिया का एकत्व बताते हुये कविवर कहते हैं कि कर्ता ही कर्म और क्रिया को करनेवाला है, और क्रियारूप परिणमन भी कर्म और कर्ता का ही है। नाम के भेद से वस्तु को तीनरूप में कहा गया है, वास्तव में देखा जाये तो वस्तु का स्वरूप तीनों का एक अभेदरूप ही है, भेदरूप नहीं। यही

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म। या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ 6॥

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य। एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ 7॥

निश्चय और सम्यक्-दृष्टि है। 'आचार्य अमृतचंद्र' के अनुसार—

"यः परिणमति स कर्त्ता, यत्परिणामं भवेत्तु तत्कर्म।

या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमेव भिन्नं न वस्तुतया ॥" —(समयसार जी, कलश नं 51)

अर्थात् जो परिणमित होता है, वह कर्त्ता है, जो परिणाम है, वही कर्म है, और जो परिणति है, सो क्रिया है, यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं है।

(दोहा)

एक कर्म की करतव्यता, करै न करता दोड़।

दुधा दरब-सत्ता सधी, एक-भाव क्यों होड़ ॥ 9 ॥

शब्दार्थ :— एक कर्म करतव्यता= एक कर्म के कर्त्तापने के, करै न करता दोड़= दो द्रव्य कर्त्ता नहीं हो सकते हैं, दुधा दरब-सत्ता सधी= दोनों-द्रव्य की सत्ता भिन्न-भिन्न सिद्ध है, एक भाव क्यों होड़= (फिर) उन दोनों का भाव(कार्य) एक कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ :— एक कर्म का एक ही कर्त्ता होता है, इसकी सिद्धि करते हुये कविवर कहते हैं कि एक कर्म का कर्त्ता और क्रिया एक ही होता है, कभी एक कार्य के दो कर्त्ता नहीं होते। दोनों द्रव्यों अर्थात् जीव और पुद्गल की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है, तो उनका भाव/कार्य एक कैसे हो सकता है?

कहने का अभिप्राय यही है कि जीव और पुद्गल दो भिन्न द्रव्य अनादिकाल से साथ होते हुये भी दोनों द्रव्यों की सत्ता, स्वभाव, लक्षण, गुण, परिणामन सब कुछ भिन्न-भिन्न हैं। दोनों ही द्रव्य अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में स्वतंत्ररूप से परिणामन करते हैं, यानि जब कुछ भिन्न-भिन्न है, तो इनका भाव/कार्य या परिणामन एक कैसे हो सकता है? क्योंकि आत्मा का स्वभाव चेतनस्वरूप है, और पुद्गल का स्वभाव अचेतन है, जड़ है, यानि एक चेतन-पदार्थ और एक अचेतन-पदार्थ— दोनों एक कार्य के कर्त्ता कैसे हो सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं हो सकते, इन दोनों के कार्यों में पूर्णरूप से भिन्नता है।

'समयसार कलश जी' में भी आचार्य भगवन् यही कहते हैं—

"नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयो प्रजायेत।

उभयोर्न परिणतिः, स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥" —(समयसार जी, कलश नं 53)

अर्थात् दो-द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो-द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता, दो-द्रव्यों की एक परिणति नहीं होती, क्योंकि द्रव्य अनेक हैं, सो उनके परिणामन भी अनेक ही हैं, सब मिलकर एक नहीं हो जाते।

अभिप्राय यह है कि दो भिन्न-वस्तुयें सर्वथा-भिन्न ही रहती हैं, दोनों कभी एकरूप परिणमित नहीं होती, न ही उनकी क्रिया कभी एक होती है। लोक की वस्तु-व्यवस्था ही ऐसी है, यदि हम ऐसा नहीं मानेंगे, तो सभी द्रव्यों की स्वतंत्रता का ही लोप हो जायेगा। जीव अपने परिणामों का भी कर्त्ता बने और पुद्गल के परिणामों का भी कर्त्ता बने, ऐसा संभव ही नहीं है, फिर भी जो अज्ञानभाव से ऐसा मानते हैं, आचार्य देव ने उन्हें 'द्विक्रियावादी-मिथ्यादृष्टि' कहा है, क्योंकि वस्तुस्वरूप में एकद्रव्य दूसरे-द्रव्य का कर्त्ता हो— यह तीन काल में कभी संभव ही नहीं है।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत। उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ 8 ॥

एक-परिणाम के न करता दरब-दोड़, दोड़-परिणाम एक-दरब न धरतु हैं।
एक-करतूति दोड़-दर्व कबहूँ न करै, दोड़-करतूति एक-दरब न करतु हैं॥
जीव-पुद्गल एक-खेत-अवगाही दोड़, अपने-अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड़-परनामनिकौं को करता है पुद्गल, चिदानंद-चेतन सुभाउ आचरतु है॥ 10॥

शब्दार्थ :— एक-परिणाम के न करता दरब-दोड़= एक-परिणाम के कर्त्ता दो-द्रव्य नहीं होते, दोड़-परिणाम एक-दरब न धरतु है= दो-परिणाम एक-द्रव्य धारण नहीं करता, एक-करतूति दोड़-दर्व कबहूँ न करै= एक-परिणाम को दो-द्रव्य कभी नहीं करते, दोड़-करतूति एक-दरब न करतु है= दो-परिणाम एक-द्रव्य नहीं करता है, जीव-पुद्गल दोड़ एक खेत-अवगाही= जीव और पुद्गल दोनों एकक्षेत्रावगाही हैं, अपने-अपने रूप कोउ न टरतु है= अपने-अपने स्वरूप को कोई भी नहीं छोड़ता है, जड़-परनामनिकौं करता है पुद्गल= जड़-परिणामों का कर्त्ता पुद्गल-द्रव्य है, चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है= चेतन-आत्मा तो अपने स्वभावरूप आचरण करता है।

विशेषार्थ :— कर्त्ता, कर्म और क्रिया का विशेष वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं सभी-द्रव्य और उनके कार्य एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न है। किसी एक कार्य के दो कर्त्ता कभी नहीं होते। जैसे मिट्टी से घड़ा बना, इसमें घड़े रूपी कार्य का कर्त्ता कुम्हार को कहना व्यवहार है, निमित्तरूप कथन है; क्योंकि यदि घड़े का कर्त्ता कुम्हार होता तो कुम्हार को घड़े रूप परिणामित होना चाहिये था, जबकि ऐसा नहीं होता। मिट्टी ही स्वयं घड़े रूप परिणामित होती है, इसलिये मिट्टी ही उसकी 'कर्त्ता' है। और घड़ा मिट्टी रूप है मिट्टी ही उसमें अभिन्न है, सो वही उसका 'कर्म' है, और मिट्टी के पिण्ड से घड़े बनने रूप प्रक्रिया में मिट्टी ही सहभागी है, सो वही 'क्रिया' है।

इसप्रकार कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों मिट्टी पर ही घटित हुये, जो एक स्वतंत्र पुद्गल-द्रव्य है। कुम्हार जोकि एक भिन्न जीव-द्रव्य था, उस पर तो केवल निमित्त का आरोप आया, कर्त्तापने का नहीं।

जीव और पुद्गल की भिन्नता बताते हुये कविवर कहते हैं कि जीव और पुद्गल दोनों एक क्षेत्रावगाही हैं अर्थात् अनादिकाल से साथ-साथ हैं, लेकिन किसी ने भी आज तक अपना स्वभाव नहीं छोड़ा है अर्थात् आज तक न जीव पुद्गलरूप और न ही पुद्गल जीवरूप हुआ है। साथ-साथ परिणामन करते हुये भी दोनों में पूर्ण-भिन्नता है, जड़-कार्यों का कर्त्ता पुद्गल-द्रव्य है और चैतन्य-स्वरूप भगवान् आत्मा तो हमेशा अपने जानन-स्वभावरूप ही आचरण करता है, इसलिए अपने चैतन्य-भावों का ही कर्त्ता है।

उसी उदाहरण पर पुनः विचार करते हैं, जैसे मिट्टी और कुम्हार एक क्षेत्रावगाही हैं, फिर भी मिट्टीरूपी पुद्गल-द्रव्य ने घड़े बननेरूप अपना कार्य किया, और कुम्हाररूपी जीव-द्रव्य ने मिट्टी से घड़े बननेरूप प्रक्रिया को अपने स्वभाव के अनुरूप मात्र जाना, अर्थात् दोनों द्रव्यों ने अपना-अपना स्वतंत्र-कार्य किया। इसीप्रकार आत्मा भी अनादिकाल से अपने स्वभाव के अनुसार मात्र जाननरूप-क्रिया का ही कर्त्ता है, ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं, इसप्रकार जीव-द्रव्य भी और अन्य-द्रव्य भी स्वतंत्ररूप से ही परिणामन कर रहे हैं। कोई द्रव्य किसी अन्य-द्रव्य का कार्य कभी नहीं करता। लोक में ऐसी ही स्वतंत्र वस्तु-व्यवस्था है।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य। नैकस्य च क्रिये द्वे एकमेनेकं यतो न स्यात् ॥ 9॥

महाधीठ दुःख कौ वसीठ परदर्वरूप, अंधकूप काहूपै निवान्यौ नहि गयौ है।

ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौ अनादिहीकौ, याहि अहंबुद्धि लिये नानाभाँति भयौ है॥

काहू समै काहू कौ मिथ्यात-अंधकार-भेदि, ममता-उछेद सुद्धभाव-परिनयौ है।

तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि, आतम-सकति से जगत् जीत लयौ है॥ 11॥

शब्दार्थ :- महाधीठ दुःख कौ वसीठ परदर्वरूप= महाधीठ, दुःख का दूत, परद्रव्यरूप, अंधकूप काहूपै निवान्यौ नहि गयौ है= अंधा-कुँआ, किसी के भी द्वारा हटाया नहीं जा सका है, ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौ अनादिहीकौ= ऐसा मिथ्यात्व-भाव जीव के अनादिकाल से ही लगा हुआ है, याहि अहंबुद्धि लिये नानाभाँति भयौ है= इसी में अहंपने करके नानारूप हुआ है, काहू-समै काहूकौ मिथ्यात-अंधकार भेदि= किसी समय कोई जीव मिथ्यात्वरूपी अंधकार को भेदकर/नष्टकर, ममता-उछेद सुद्ध-भाव परिनयौ है= ममत्व का त्यागकर, शुद्ध-भावरूप परिणमित होता है, तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि= वही जीव विवेक धारणकर बंध के साम्राज्य को नष्ट करके, आतम-सकति से जगत् जीत लयौ है= आत्मशक्ति से जगत् को जीत लेता है।

विशेषार्थ :- इन-पंक्तियों में कवि ने सटीक-शब्दों में 'मिथ्यात्व का स्वरूप' वर्णित किया है। कैसा है मिथ्यात्व? 'महाधीठ है'— यानि जो किसी की भी नहीं सुनता, जैसे जगत् में भी कोई बच्चा जब किसी की नहीं सुनता, तो लोग उसे 'महाधीठ' कहते हैं, वही लोकभाषा का शब्द कवि ने यहाँ मिथ्यात्व के लिये प्रयोग किया है। सत्य भी है हम मिथ्यादृष्टि-जीवों को समझाने के लिये गणधरदेव ने इतने विशाल जिनागम की रचना की, हम प्रतिदिन सुनते भी हैं, पर इसी मिथ्यात्व के प्रभाव में आकर मानते बिल्कुल भी नहीं हैं, तो हम भी 'महाधीठ' ही हैं।

जो 'दुःख का वसीठ' यानि अग्रदूत है अर्थात् जिसके रहने पर जीव को दुःख के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। 'परद्रव्यरूप है' अर्थात् ये मिथ्यात्वपना मेरा स्वभाव नहीं है, परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होता है, इसलिए परद्रव्यरूप है। 'अंधकूप है' अर्थात् अंधे-कुँयें के समान है, ऐसा अंधा-कुँआ जिसमें गिरने पर बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नजर न आये, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव भी चार-गति चौरासी-लाख योनिरूप अंधे-कुँयें में ही भटकता रहता है, कभी बाहर ही नहीं निकल पाता। 'निवान्यौ' अर्थात् जो किसी और के द्वारा हटाया नहीं जा सकता अर्थात् मिथ्यात्व या विपरीत-मान्यता को जीव स्वयं ही दूर कर सकता है, किसी और के पुरुषार्थ से अपना भला कभी नहीं होगा।

ऐसा मिथ्यात्व-भाव जीव के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है, और इसी में अहंबुद्धि करके अर्थात् इसी मिथ्यात्व-बैरी को अपना सर्वस्व मानकर यह जीव नानाप्रकार के रूप रखता है अर्थात् चारों-गतियों में नाना-भेष धारणकर जन्म-मरण करता हुआ निरन्तर दुःखी होता है।

किसी समय, कोई-जीव मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट करके, ममत्व का त्याग करके, शुद्ध-भावरूप परिणमित होता है; तब वह विवेक को धारणकर अर्थात् भेदविज्ञान-पूर्वक संसार-बंध के कारणों को हटाकर, आत्मशक्ति के बल पर सारे संसार को जीत लेता है अर्थात् मोह के बंधनों को तोड़कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब जीव अपने चैतन्य-स्वभाव का आश्रय लेता है, उसी क्षण ये महाधीठ मिथ्यात्व का विनाश अर्थात् दर्शनमोहनीय का क्षय, उपशम या

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः।

तद्भूतार्थ-परिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्, तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः॥ 10॥

क्षयोपशम हो जाता है। फिर संसार, शरीर और भोगों से ममत्वभाव त्यागकर स्वरूप में ज्यों-ज्यों स्थिर होता है, त्यों-त्यों बंध का साम्राज्य यानि बंध के कारणों— मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का अभाव करता हुआ अपनी आत्मिक-शक्ति से संसार का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त करता है।

(सवैया इकतीसा)

सुद्धभाव-चेतन असुद्धभाव-चेतन, दुहूँकौ करतार जीव और नहिं मानिये।
कर्मपिंडकौ विलास वर्न-रस-गंध-फास, करता दुहूँकौ पुदगल परवानिये॥
तातैं वरनादि-गुन ग्यानावरनादि-कर्म, नाना-परकार पुदगलरूप जानिये।
समल-विमल-परिनाम जे-जे चेतन के, ते-ते सब अलख-पुरुष यौं बखानिये॥ 12॥

शब्दार्थ :— सुद्धभाव-चेतन= शुद्ध-भाव भी आत्मा के, असुद्धभाव-चेतन= अशुद्ध-भाव भी आत्मा के हैं, दुहूँकौ करतार जीव और नहिं मानिये= दोनों का कर्त्ता जीव है, और किसी को मत मानो, कर्मपिंडकौ विलास= कर्मों के पिण्ड का साम्राज्य, वर्न-रस-गंध-फास= वर्ण, रस, गंध और स्पर्श है, करता दुहूँकौ पुदगल परवानिये= दोनों का कर्त्ता पुदगल है— ऐसा निर्णय करना चाहिये, तातैं नाना-परकार वरनादि-गुन= इसीलिए नानाप्रकार के वर्ण आदि गुण और, ग्यानावरनादि-कर्म= ज्ञानावरणी आदि कर्मों को, पुदगलरूप जानिये= पुदगलरूप जानना चाहिये, समल-विमल-परिनाम= मल-सहित/अशुद्ध, मल-रहित/शुद्ध परिणाम, जे-जे चेतन के= जो-जो आत्मा के हैं, ते-ते सब अलख-पुरुष यौं बखानिये= वे-वे सब इन्द्रिय-अगोचर-पुरुष अर्थात् आत्मा के हैं— ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ :— कविवर कहते हैं कर्म के अनुसार ही कर्त्ता होता है। इस अपेक्षा से शुद्ध-भाव भी आत्मा के हैं, और अशुद्ध-भाव भी आत्मा के ही हैं, यानि दोनों ही भावों का कर्त्ता जीव है, अन्य कोई नहीं है। इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों का पिण्ड और पुदगल का साम्राज्य स्पर्श-रस-गंध और वर्ण आदि का कर्त्ता पुदगल-द्रव्य को ही मानना चाहिये।

कहने का अभिप्राय यह है कि जितने भी शुद्ध-भाव अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन, सुख, वीर्य आदि हैं; उन भावों का कर्त्ता भी आत्मा है, और जितने अशुद्ध-भाव अर्थात् मोह, राग, द्वेषादि-भाव हैं; उनका कर्त्ता भी आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि समस्त शुद्ध-भाव जीव के दर्शन और चारित्र-गुणों की स्वाभाविक-पर्याय हैं, और मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भाव जीव के दर्शन और चारित्र-गुणों की विकारी-पर्याय हैं, लेकिन इनका कर्त्ता जीव ही है।

इसीप्रकार ज्ञानावरणी आदि आठों कर्मरूप पुदगल-परमाणुओं का और उसके स्पर्श-रस-गंध और वर्ण आदि समस्त-गुणों का कर्त्ता पुदगल-द्रव्य को ही मानना चाहिये।

उदाहरण के लिए गुलाब के पेड़ पर उगनेवाले फूल और काँटे, जैसे गुलाब का फूल पेड़ का अपना फूल है, उसीप्रकार काँटे भी तो गुलाब के पेड़ के ही हैं, क्या हम उन काँटों को किसी अन्य पेड़ का मानते हैं? नहीं। ठीक उसीप्रकार जैसे जाननरूप परिणमन आत्मा का अपना परिणमन है, उसीप्रकार मोह-राग-द्वेषादि के भाव भी गुलाब के पेड़ में उगनेवाले काँटों की तरह आत्मा के गुणों का विकारी-परिणमन हैं। जैसे हम गुलाब को ग्रहण करके काँटों को वहीं छोड़ देते हैं, ठीक उसीप्रकार सुखी होने के लिये जीव विकाररूपी काँटों को छोड़कर ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेता है। और ज्ञानस्वभाव का ग्रहण होने पर विकारों की उत्पत्ति स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः। आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ 11॥

जैसे गजराज नाज-घास के गरास करि, भच्छत सुभाय नहि भिन्न-रस लीयौ है।
जैसे मतवारौ नहि जानै सिखरनि-स्वाद, जुंग में मगन कहै गरु-दूध पीयौ है॥
तैसे मिथ्यादृष्टि-जीव ग्यानरूप है सदीव, पग्यौ पाप-पुनसौँ सहज सुन्न-हीयौ है।
चेतन-अचेतन दुहूँकौ मिश्र-पिंड लिखि, एकमेक-मानै-न-विवेक-कछु-कीयौ है॥ 13॥

शब्दार्थ :- जैसे गजराज नाज-घास के गरास करि= जिसप्रकार हाथी अनाज और घास के ग्रास/निवाला करके, भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है= (मिलाकर) भक्षण करता है, दोनों का भिन्न स्वाद नहीं लेता, जैसे मतवारौ नहि जानै सिखरनि-स्वाद= जिसप्रकार मतवाला-पुरुष श्रीखंड का स्वाद नहीं जानता, जुंग में मगन कहै "गरु दूध पीयौ है"= धुन में मगन होकर कहता है कि "गाय का दूध पिया है", तैसे मिथ्यादृष्टि-जीव ग्यानरूप है सदीव= उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव भी हमेशा ज्ञानरूप ही है, पग्यौ पाप-पुनसौँ= (लेकिन) पाप और पुण्य के रस में भीगा होने से, सहज सुन्न-हीयौ है= सहज ही विवेकरहित होता है, चेतन-अचेतन= आत्मा और समस्त बाह्य-पदार्थ, दुहूँकौ मिश्र-पिंड लिखि= दोनों का मिश्रितरूप देखकर, एकमेव मानै= एकमेक मानता है, न विवेक कछु कीयौ है= कोई विवेक नहीं करता।

विशेषार्थ :- मिथ्यादृष्टि-जीव की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि पर में ममत्व-बुद्धि होने के कारण यह जीव भेदविज्ञान के मर्म को नहीं समझता। जैसे हाथी अनाज और घास का मिला हुआ ग्रास मुँह में रखता है, तब उसकी दृष्टि सिर्फ खाने पर होने से अनाज और घास दोनों का स्वाद एकदम भिन्न होने पर भी उसे उनका भिन्न-स्वाद भासित नहीं होता। जैसे कोई मदिरा के नशे में मतवाला हो और उसे दही और चीनी के मिश्रण से बना पदार्थ श्रीखंड खिलाया जाये, तो उसे उसका सही स्वाद भासित नहीं होता; बल्कि उसे ऐसा लगता है कि मैंने गाय का दूध पिया है।

ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव को भी जड़ और चेतन की परिणति भिन्न-भिन्न होते हुये भी एकरूप ही भासित होती है, जबकि वह भी अनंत-वैभव का धनी ज्ञान-स्वभावी आत्मा है; उसको भी मात्र अपने ज्ञान का ही वेदन होता है, लेकिन कर्मोदय के परिणामों, पाप-पुण्यरूप क्रियाओं, विषयभोगों और परपदार्थों के आकर्षण में वह इतना मगन होता है, कि उसे उन्हीं का ही रस आता है। एक क्षण के लिये भी न तो ज्ञानस्वरूप की महिमा आती है और न ही जड़ और चेतन की भिन्नता ख्याल में आती है, इसीलिए वह स्वयं को कर्म का कर्ता और कर्मफल का भोक्ता मानता है।

जैसे महाधूप की तपतिमें तिसायौ-मृग, भरमसौँ मिथ्याजल-पीवनकौ धायौ है।
जैसे अंधकार-माहिं जेवरी निरखि नर, भरमसौँ डरपि सरप मानि आयौ है॥
अपनै सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा, पवन-संजोगसौँ उछरि अकुलायौ है।
तैसे जीव जड़सौँ अव्यापक सहजरूप, भरमसौँ करमकौ करता कहायौ है॥ 14॥

शब्दार्थ :- जैसे महाधूप की तपतिमें तिसायौ-मृग= जिसप्रकार भयंकर-धूप की गर्मी में प्यासा-हिरण,

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी, ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।

पीत्वा दधीक्षु-मधुराम्ल-रसातिगृह्यया, गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्॥ 12॥

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा, अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।

अज्ञानाच्च विकल्प-चक्र-करणाद्-वातोत्तरंगाब्धिवत्, शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रोभ्वन्त्याकुलाः॥ 13॥

भ्रमसौ मिथ्याजल-पीवनकौ आयौ है= भ्रम से जल नहीं होने पर मृगतृष्णा को जल समझकर पीने के लिये आता है, जैसे अंधकार-माँहि जेवरी निरखि नर= जिसप्रकार अंधेरे में रस्सी देखकर व्यक्ति, भ्रमसौ डरपि सरप मानि आयौ है= भ्रम से उसे सर्प मानकर डर कर आता है, अपने सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा= अपने स्वभाव के अनुसार जैसे समुद्र हमेशा शांत रहता है, पवन-संजोगसौ उछरि अकुलायौ है= हवा के संयोग से उछलकर आकुलित होता है, तैसे जीव जड़सौ अव्यापक सहजरूप= उसीप्रकार जीव जड़ में व्याप्त हुये बिना भी सहजरूप से, भ्रमसौ करमकौ करता कहायौ है= भ्रम से कर्म का कर्ता कहलाता है।

विशेषार्थ :— इन पंक्तियों में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव की तुलना कई उदाहरणों के माध्यम से की है। पहली तुलना मृगजल अर्थात् प्यास से व्याकुल होकर मृगतृष्णा में जल मानने वाले हिरण से की। जैसे महाभयंकर-गर्मी में प्यासा-हिरण भ्रम से 'मृगजल' पीने के लिये आतुर रहता है। 'मृगजल' अर्थात् जब तेज-गर्मी में सूर्य की चमक बालू पर पड़ती है, तो बालू भी पानी की तरह प्रतीत होती है और प्यास से आकुलित हिरण उस चमक को पानी समझकर उसके पीछे दौड़ता है, लेकिन जब वहाँ पहुँचता है, तब वहाँ उसे पानी नहीं मिलता; पुनः जब वह नजर उठाता है, तो फिर कुछ दूरी पर सूर्य की धूप की चमक से पानी का भ्रम होता है, और वह फिर दौड़ता है— इसप्रकार वह दौड़ता ही रहता है, पर पानी नहीं मिलता। ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख की मिथ्या/झूठी कल्पना करके नये-नये विषयों को बदलता रहता है और सुख की चाह में भ्रमित होता रहता है पर सुख नहीं मिलता।

दूसरे-उदाहरण के माध्यम से कवि कहते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति अंधेरे में रस्सी को ही साँप समझकर डरने लगे, तो यह तो उसका भ्रम ही हैं, वास्तव में तो वह रस्सी है, ठीक उसीप्रकार यदि मिथ्यादृष्टि-जीव शरीर और संयोगों को ही अपना हितैषी मानकर उनके वियोग के डर से दुःखी होवे, तो यह तो उसका भ्रम ही है, क्योंकि संयोगों का वियोग तो निश्चित है।

इसीप्रकार सामान्यरूप से देखा जाये, तो समुद्र अपने स्वभाव से तो हमेशा शांत ही रहता है, पर हवा के झोंकों से लहरें उठती हैं, और उसका शांत-स्वभाव क्षुब्ध दिखाई देता है, ठीक उसीप्रकार आत्मा स्वभाव से त्रिकाल-शुद्ध और पूर्ण-भिन्न ही रहता है, जितनी भी मलिनता है सब पर्याय में ही है, स्वभाव तो आज तक मलिन हुआ ही नहीं। स्वभाव तो आज भी ज्ञाता-दृष्टा ही है और कल भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहेगा। जिसने आज तक अणुमात्र भी पर को स्पर्श नहीं किया, वह कर्ता कैसे बन सकता है? फिर भी जीव पुद्गल के हर परिणामन का कर्ता स्वयं को ही मानता है, और फिर स्वयं ही दुःखी होता है यह जीव का भ्रम ही है, अन्य कुछ नहीं।

(सवैया इकतीसा)

जैसे राजहंस के बदन के सपरसत, देखिये प्रगट न्यारौ-छीर न्यारौ-नीर है।
तैसे समकिती की सुदृष्टि में सहजरूप, न्यारौ-जीव न्यारौ-कर्म न्यारौ ही सीर है॥
जब सुद्ध-चेतनकौ अनुभौ-अभ्यासै तब, भासै आप अचल न दूजौ और सीर है।
पूरब-करम-उदै आइकै दिखाई देइ, करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है॥15॥

शब्दार्थ :— जैसे राजहंस के बदन के सपरसत= जैसे राजहंस-पक्षी के बदन/शरीर यानि मुख के स्पर्श से, देखिये प्रगट न्यारौ-छीर न्यारौ-नीर है= दूध अलग पानी अलग प्रगट दिखाई देता है, तैसे समकिती की सुदृष्टि

ज्ञानाद् विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं।

चेतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो, जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥ 14 ॥

में सहजरूप= उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव की सम्यक्-दृष्टि में सहज ही, न्यारौ-जीव न्यारौ-कर्म न्यारौ ही सरीर है= जीव अलग, कर्म अलग, शरीर भी अलग है, जब सुद्ध-चेतनको अनुभौ-अभ्यासै तब= जब चेतनस्वरूप शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करता है, तब भासै आप अचल= तब अपना स्वरूप अचल भासित होता है, न दूजौ और सीर है= तब दूसरा कोई और साथी नहीं दिखता, पूरब-करम-उदै आइकै दिखाई देइ= पूर्व-कर्म का उदय आकर दिखाई देता है, करता न होय= (परन्तु उसका) कर्ता नहीं होता, तिन्हकौ तमासगीर है= उसका भी तमाशबीन/दर्शक ही रहता है।

विशेषार्थ :- भेदविज्ञानी-जीव कर्म का कर्ता क्यों नहीं होता, मात्र ज्ञाता ही क्यों रहता है?— इसका सुंदर-वर्णन कवि ने इस छंद में किया है। जैसे मिले हुये दूध और पानी को लोक में कोई अलग नहीं कर सकता, लेकिन राजहंस-पक्षी के पास ऐसी क्षमता है कि उसके मुख का स्पर्श होते ही दोनों पदार्थ अलग-अलग हो जाते हैं, ठीक उसीप्रकार शरीर, कर्म और आत्मा भी नीर-क्षीर की तरह दिखते तो एकक्षेत्रावगाही हैं, लेकिन फिर भी एकमात्र ज्ञानी-जीवों को ही भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं; क्योंकि इसके लिये भेदविज्ञानरूपी पैनी-नज़र का होना अति-आवश्यक है, जो सिर्फ ज्ञानी-जीवों के पास ही होती है।

ज्ञानी-जीवों को जब अपने आत्मस्वरूप के अनुभव का अभ्यास होता है, तब उन्हें संसार में एकमात्र अपना आत्मा ही अनुमप-सुखमय भासित होता है, उसके जैसा संसार में अन्य कोई नहीं दिखता, जिससे पर से भिन्न अपने आत्मस्वरूप का श्रद्धान और दृढ़ हो जाता है।

मोक्ष होने से पहले सभी जीवों के साथ कर्म का सद्भाव होता ही है, और उन कर्मों का उदय भी वर्तता है, लेकिन जहाँ मोही-जीव उदय में आये हुये कर्मों और कर्मफलों का मोह और अहंबुद्धि के कारण कर्ता और भोक्ता बन जाता है, वहीं ज्ञानी-जीव उदय में आये हुये उन कर्मों और कर्मफलों का मात्र तमाशगीर/दर्शक रहता है, यानि उस अनुकूल-प्रतिकूल परिणामन का मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है, उसमें हस्तक्षेप नहीं करता अर्थात् अपने उपयोग को उससे नहीं जोड़ता और सहज-साम्यभाव धारण करता है।

(सवेया इकतीसा)

जैसैं उसनोदक में उदक-सुभाव सीरौ, आग की उसनता फरस-ग्यान लखियै।

जैसे स्वाद व्यंजन में दीसत विविधरूप, लौन को सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै॥

तैसे घट-पिंड में विभावता अग्यानरूप, ग्यानरूप-जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।

भरमसौं करम कौ करता है चिदानंद, दरब-विचार करता-भाव नखियै॥ 16॥

शब्दार्थ :- जैसे उसनोदक में उदक-सुभाव सीरौ= जैसे उष्ण-उदक या गरम-जल की अवस्था में भी पानी का स्वभाव ठंडा ही है, आग की उसनता फरस-ग्यान लखियै= (फिर भी) वह उष्णता अग्नि की है— यह स्पर्श-ज्ञान जान लेता है, जैसे स्वाद व्यंजन में दीसत विविधरूप= जैसे भोजन में स्वाद विविधरूपों में दिखाई देता है, लौन को सुवाद जीभ ग्यान चखियै= नमक का स्वाद (खारा है), जीभ/रसना-इन्द्रिय चख लेती है, तैसे घट-पिंडमें विभावता अग्यानरूप= उसीप्रकार घटपिण्ड/शरीर में विभाव-भाव अज्ञानतारूप, ग्यानरूप-जीव भेद-ग्यानसौं परखियै= ज्ञानरूप-आत्मा को भेदविज्ञान के द्वारा पहिचानना चाहिये, भरमसौं करमसौं करता है चिदानंद= चैतन्य-स्वरूप भगवान् आत्मा भ्रम से अपने को करम का कर्ता मानता है, दरब-विचार करताभाव नखियै= द्रव्य-दृष्टि से विचार करने पर परकर्तृत्व का भाव नहीं दिखाई देता है।

ज्ञानादेव ज्वलन-पयसोरौण्य-शैत्य-व्यवस्था, ज्ञानादेवोल्लसति लवण-स्वाद-भेद-व्युदासः।

ज्ञानादेव स्वरस-विकसन्नित्य-चैतन्यधातोः, क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥ 15॥

विशेषार्थ :— जीव और पुद्गल की पहचान कैसे होती है?— इसका वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार पानी का स्वभाव शीतल होते हुये भी गरम-पानी को स्पर्श करके अग्नि-जनित उष्णता को पहचान लिया जाता है। जैसे पकी हुई सब्जी में वैसे तो विविध मसालों का स्वाद रहता है, लेकिन फिर भी जीभ पर रखते ही नमक के खारेपन का स्वाद अन्य-मसालों के बीच भी अलग पहचान लिया जाता है।

ठीक उसीप्रकार घट-पिंड यानि आत्मा में अज्ञानत्वरूप विभावभाव और ज्ञानरूप स्वभाव-भाव को ज्ञानी-जीव भेदविज्ञान के द्वारा परख या जान लेते हैं। अज्ञानदशा में आत्मा को कर्मों का कर्ता मानना जीव का केवल भ्रम है, द्रव्यदृष्टि से या स्वभाव की अपेक्षा आत्मा को कर्मों का कर्ता नहीं है।

कहने का अभिप्राय यही है कि विभावरूप-परिणमन आत्मा का स्वभाव नहीं है, पर-संयोग की स्थिति में अज्ञानता से उत्पन्न होनेवाला विकार है, जैसे अग्नि का संयोग हटते ही जल पुनः अपने शीतल-स्वभावरूप परिणमन करता है, उसीप्रकार पर-संयोग यानि पर से दृष्टि हटते ही आत्मा अपने जानन-स्वभावरूप परिणमन करता है।

हे आत्मन्! जगत् का परिणमन पूर्ण-स्वतंत्र है, मिथ्यादृष्टि-जीव उस परिणमन का कर्ता स्वयं को मानता है, यही उसका अज्ञान है, भ्रम है, विभाव है, और ज्ञानी-जीव उस परिणमन का मात्र ज्ञाता रहता है— यही स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान है।

(दोहा)

ग्यानभाव-ज्ञानी करै, अग्यानी-अज्ञान।

दर्वकर्म पुद्गल करै, यह निहचै परवान॥ 17॥

शब्दार्थ :— ग्यानभाव-ज्ञानी करै= ज्ञानभाव ज्ञानी करता है, अग्यानी-अग्यान= अज्ञानी अज्ञान-भाव करता है, दर्वकर्म-पुद्गल करै= द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गल है, यह निहचै परवान= यही निश्चय से मानना चाहिये।

विशेषार्थ :— पदार्थ अपने स्वभाव का ही कर्ता होता है। आत्मा चेतनस्वरूप है, सो अपने चैतन्य-भावों का ही कर्ता है, कर्मरूप अचेतन पुद्गल-परमाणुओं का कर्ता आत्मा तीन-काल में भी न हुआ है, और न हो सकता है।

आत्मा के परिणाम दो-प्रकार के होते हैं— शुद्ध और अशुद्ध। जिस समय आत्मा अपने जानन-स्वभावरूप परिणमन करता है, वह शुद्धचेतना-रूप है, उसका कर्ता 'ज्ञानभाव' है। लेकिन जिस समय आत्मा मोह-राग-द्वेषादि विकारीभाव-रूप परिणमन करता है, वह अशुद्ध-चेतनारूप है, उससमय उसका कर्ता 'अज्ञानभाव' है। लेकिन द्रव्य-कर्मरूप अचेतन पुद्गल-परमाणुओं का कर्ता पुद्गल-द्रव्य ही है, क्योंकि चेतन आत्मा का अचेतन-कर्मों के साथ व्यापक-व्याप्य संबंध नहीं है; तो उनका कर्ता आत्मा कैसे हो सकता है? निश्चय से यही सत्य और प्रामाणिक है।

(दोहा)

ग्यान-सरूपी आत्मा, करै ग्यान नहि और।

दरब-करम चेतन करै, यह विवहारी-दौर॥ 18॥

शब्दार्थ :— ग्यान-सरूपी आत्मा= ज्ञान-स्वरूपी आत्मा, करै ग्यान नहि और= ज्ञान ही करता है और कुछ

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा। स्यात्कर्तात्मात्म-भावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ 16॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्। परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ 17॥

नहीं, दरब-कर्म चेतन करै= द्रव्य-कर्म आत्मा करता है, यह विवहारी-दौर= यह व्यवहार का कथन है।

विशेषार्थ :- ज्ञान-भाव का कर्ता केवल जीव है, अन्य कोई नहीं— इस कथन को स्पष्ट करते हुये कविवर कहते हैं कि "आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानरूप ही परिणामन करता है, ज्ञानरूप अर्थात् जाननेरूप कार्य के अलावा आत्मा और कुछ नहीं करता"। जैसे चीनी सर्वांग में केवल मिठास से भरपूर है, सो केवल मिठासरूप ही परिणामन करती है। नमक सर्वांग में केवल खारेपन से भरपूर है, सो खारेरूप ही परिणामन करता है। ठीक उसीप्रकार आत्मा सर्वांग में ज्ञान से भरपूर है, सो केवल जाननरूप ही परिणामन करता है।

आत्मा को कर्मरूप पुद्गल-परमाणुओं का कर्ता कहना— ये मोही-जीवों का अज्ञान है, व्यवहार-कथन है। और आगम में 'व्यवहार' को 'असत्यार्थ' कहा गया है; क्योंकि 'व्यवहार' उसी का नाम है, जो संयोगों से कथन करता है, जो वस्तु के सत्य-स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करता है।

(सवैया तेईसा)

पुगलकर्म करै नहिं जीव, कही तुम मैं समुझी नहिं तैसी।

कौन करै यह रूप कहौ अब, को करता करनी कहु कैसी॥

आपु ही आप मिलै-बिछुरै जड़, क्यों करि मो मन संशय ऐसी?

शिष्य-संदेह-निवारन-कारन, बात कहैं गुरु है कछु ऐसी॥ 19॥

शब्दार्थ :- पुगलकर्म करै नहि जीव= पुद्गल-कर्म जीव नहीं करता, कही तुम मैं समुझी नहिं तैसी= तुमने ऐसा कहा, पर वैसा मुझे समझ में नहीं आया, कौन करै यह रूप कहौ अब= फिर कौन करता है यह सब परिणामन? को करता करनी कहु कैसी= कौन कर्ता है? यह किसकी करनी है? बताओ, आपुही आप मिलै बिछुरै जड़= पुद्गल अपने आप मिलता और बिछुड़ता है, क्यों करि मो मन संशय ऐसी= (कैसे?) क्यों मेरे मन में ऐसा संशय है? शिष्य संदेह निवारन कारन= शिष्य का भ्रम दूर करने के लिये, बात कहैं गुरु है कछु ऐसी= गुरु कुछ ऐसी बात कहते हैं।

विशेषार्थ :- पिछले-छंद में कवि ने कहा कि "आत्मा अपने परिणामों का, और पुद्गल अपने परिणामों का कर्ता है"— यह बात शिष्य की समझ में नहीं आई। अतः इस छंद में कवि ने शिष्य की उसी शंका का वर्णन किया है। वह पूछता है ज्ञानावरणादि जड़-कर्मों को जीव नहीं करता— ऐसा आपने कहा तो, पर मेरी समझ में नहीं आया। क्योंकि यदि जीव ये सब नहीं करता, तो फिर कौन करता है? ये किसकी क्रिया हैं?"

शिष्य आगे कहता है कि ये जड़-कर्म अपने आप मिलते हैं और अपने आप बिछुड़ते हैं, पर कैसे? ये बात मेरी समझ में नहीं आई, इसमें मुझे संदेह है। तब शिष्य की शंका का निवारण करने के लिये गुरुजी सत्य को कुछ ऐसे कहते हैं।

वास्तव में देखा जाये तो यह शंका किसी एक जीव की नहीं, हर मिथ्यादृष्टि-जीव की है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का परिणामन स्वतंत्र है, कोई किसी का कर्ता नहीं— यह बात मिथ्यादृष्टि-जीव के गले नहीं उतरती, क्योंकि उसे तो प्रतिसमय कर्तृत्वबुद्धि का ही बोझ सवार है। उसे तो यही लगता है कि "हर कार्य का कर्ता मैं ही हूँ, मेरे बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिलता।"

लेकिन माँ जिनवाणी कहती है "भाई! जगत् का ये परिणामन पूर्ण-स्वतंत्र और स्वयं होता है, कोई

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशाङ्कयैव।

एतर्हि तीव्ररयमोह-निवर्हणाय सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गल-कर्म-कर्तृ॥ 18॥

किसी का कर्ता नहीं है।" शिष्य की शंका को दूर करने के लिये इस सत्य का निरूपण कविवर अगले छंद में करेंगे।

(दोहा)

पुद्गल परिणामी-दरब, सदा परिणवै सोइ।
यातैं पुद्गल-कर्म कौ, पुद्गल करता होइ॥20॥
जीव चेतना-संजुगत, सदा-पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन-भाव को, करता जीव न और॥21॥

शब्दार्थ :- पुद्गल परिणामी-दरब= पुद्गल परिणामी-द्रव्य है, सदा परिणवै सोइ= सदा वैसा ही परिणमन करता है, यातैं पुद्गल-कर्मकौ= इसलिये पुद्गल-कर्मों का, पुद्गल करता होइ= पुद्गल ही कर्ता होता है॥20॥

जीव चेतना-संजुगत= जीव और चेतना-संयुक्त है, सदा पूरण सब ठौर= हरतरह से हमेशा पूर्ण है, तातैं चेतन-भाव को= इसलिए चेतन-भाव का, करता जीव न और= कर्ता जीव है, अन्य कोई नहीं है॥21॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त दोनो-छंदों में कविवर शिष्य की शंका का समाधान करते हुये कहते हैं कि जगत् का प्रत्येक-द्रव्य परिणमनशील है, पुद्गल-द्रव्य भी परिणामी-द्रव्य हैं अर्थात् अनादिकाल से परिणमनरूप ही है, पूरण-गलन तो पुद्गल का स्वभाव है, सो स्वयं ही पुद्गल-परमाणु मिलते हैं, और बिछुड़ते रहते हैं, ज्ञानावरणादि आठ-कर्मों रूप भी पुद्गल-द्रव्य स्वयं ही परिणमता है, इसलिये स्वयं ही उसका कर्ता होता है।

इसीप्रकार जीव-द्रव्य भी अनादिकाल से परिणमनशील है, इसका स्वभाव चेतनारूप है; सो ये अपने स्वभाव के अनुरूप ही जाननरूप परिणमन करता है, अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा-स्वभावी होने से प्रत्येक परिणमन का मात्र ज्ञाता ही रहता है, अपने चैतन्य-भावों के अलावा पुद्गल के परिणमन का भी ज्ञाता ही रहता है, कभी कर्ता नहीं बनता, बन भी नहीं सकता; क्योंकि जीव और पुद्गल दो भिन्न-द्रव्य हैं और दोनों में अत्यन्तभाव है, सो दोनों ही द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप सहज-परिणमन करते हैं। उन दोनों के भिन्न-भिन्न परिणमन को एक-दूसरे का 'कर्ता' कहनेवाला या दोनों को मिलाकर एक माननेवाला जीव अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि है, और उन दोनों के परिणमन को भिन्न-भिन्न सहज स्वीकार करनेवाला और अपने स्वभाव-अनुसार ज्ञाता-दृष्टारूप प्रवर्तन करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है, मोक्षमार्ग का पथिक है।

(अडिल्ल-छंद)

ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु हैं। अज्ञानीकौ भोग बंध-फल देतु है॥
यह अचरज की बात हिये नहीं आवही। पूछै कोऊ सिष्य गुरु समझावही॥22॥

शब्दार्थ :- ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु हैं= ज्ञानी-जीवों को भोग (शुभ-अशुभ-कर्मों का फल), कर्मों की निर्जरा का कारण है, अज्ञानीकौ भोग बंध-फल देतु हैं= अज्ञानी-जीवों को वही भोग कर्मबंधनरूप फल देते हैं, यह अचरज की बात हिये नहीं आवही= यह आश्चर्य की बात हृदय में नहीं बैठी, पूछै कोऊ सिष्य गुरु समझावही= कोई शिष्य ऐसा पूछता है, गुरु उसे समझाते हैं।

स्थितेत्यविध्ना खलु पुद्गलस्य, स्वभावभूता परिणामशक्तिः। तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥19॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया, स्वभावभूता परिणामशक्तिः। तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता॥20॥

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः। अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥21॥

विशेषार्थ :- शिष्य के प्रश्न का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि कोई शिष्य ऐसा पूछता है कि "ज्ञानियों के लिये भोग भी कर्मों की निर्जरा का कारण है, और अज्ञानी के लिये वही भोग कर्मों के बंध का कारण है, ये आश्चर्यजनक बात मेरे हृदय में नहीं बैठी अर्थात् समझ में नहीं आई।" तब गुरु शिष्य को समझाते हुये कहते हैं—

(सवैया इकतीसा)

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक, दोऊ-कर्मबंध पै दुहूकौ एक-खेतु है।

ग्यानी-मूढ़ करम करत दीसैं एकसै पै, परिनामभेद न्यारौ-न्यारौ फल देतु हैं॥

ग्यानवंत करनी करै पै उदासीनरूप, ममता न धरैं तातैं निर्जराकौ हेतु है।

वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप, अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है॥ 23॥

शब्दार्थ :- दया-दान-पूजादिक= दया, दान, पूजा आदि शुभ-भाव, विषय-कषायादिक= विषय-कषायादिरूप पाप-भाव, दोऊ कर्मबंध= दोनों ही कर्म-बंधन के कारण हैं, पै दुहूकौ एक-खेतु है= परन्तु दोनों का क्षेत्र एक ही है, ग्यानी-मूढ़ करम करत दीसैं एकसै पै= ज्ञानी और अज्ञानी दोनों कार्य करते हुये एक जैसे ही दिखाई देते हैं, परन्तु परिनामभेद न्यारौ-न्यारौ फल देतु है= परिणामों की भिन्नता अलग-अलग फल देती है, ग्यानवंत करनी करै पै उदासीनरूप= ज्ञानी-जीव क्रिया करते हैं, परन्तु उदासीनभाव से, ममता न धरैं तातैं निर्जराकौ हेतु है = ममता नहीं रखते, इसलिये (वे ही भोग) कर्मों की निर्जरा का कारण है, वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप= वही क्रिया अज्ञानी-जीव करता है, परन्तु मग्न होकर, अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है= ममत्वभाव के कारण अंधा होकर कर्मबंधनरूपी फल को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ :- शिष्य की शंका का समाधान करते हुये कविवर कहते हैं कि दया, दान, पूजा आदि के शुभ/पुण्य-भाव और पंचेन्द्रिय के विषयभोग में आसक्तिरूप एवं कषायादि के अशुभ/पाप-भाव—दोनों ही कर्मबंधन के कारण हैं; क्योंकि दोनों का उत्पत्ति-स्थान एक रागभाव ही है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही बाहर में एक जैसी ही क्रिया करते हुये दिखाई देते हैं; परन्तु परिणामों में भिन्नता होने से दोनों को फल अलग-अलग मिलता है।

क्योंकि ज्ञानी-पुरुष क्रिया करते हैं, पर उदासीन होकर अर्थात् सहज और अनासक्त-भाव से। उस क्रिया के प्रति मोहरहित मात्र जाननहार होने से ज्ञानियों के लिये वही क्रिया कर्मों की निर्जरा का कारण बनती है। जबकि अज्ञानी-जीव जब वही क्रिया करता है, तो आसक्ति-भाव से उसी में मग्न होकर या कहें मोह में अंधा होकर करता है, सो वही क्रिया उसे कर्मबंधनरूप फल देती है।

सम्यग्दृष्टि-जीव भोग करता हुआ भी अबंधक है और मिथ्यादृष्टि-जीव भोग करे या न करें, फिर भी अंतरंग में भोगों के प्रति इष्टबुद्धि और लालसा के कारण निरन्तर बंधनरूप ही है। कैसे?

हे आत्मन्! भोग-सामग्री ना तो बंध का कारण है और ना ही निर्जरा का। वह तो पुद्गल का स्वतंत्र-परिणामन है। बंध का कारण तो मोह-भाव, परद्रव्य में आसक्ति-भाव, एकत्वपना, ममत्वपना है। और निर्जरा का कारण मोहरहित होकर परद्रव्य में अनासक्ति, भिन्नत्वपना और निर्ममत्वपना है।

ये अनासक्ति का भाव ज्ञानियों में होता है और अज्ञानी में नहीं। इसीलिये ज्ञानी भोगसामग्री भोगते हुए यहाँ तक कि संसार की क्रियायें करते हुए भी अपेक्षाकृत 'निर्बंधक' रहते हैं, और अज्ञानी-जीव भोग-

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता, सर्वे भावा भवन्ति हि। सर्वेऽप्यज्ञान-निर्वृत्ता, भवन्त्य ज्ञानिनस्तु ते ॥ 22 ॥

सामग्री भोगते हुए या संसार की क्रियायें करते हुए ना भी दिखे, तो भी प्रतिसमय बंध ही बंध; क्योंकि बंध का कारणभूत आसक्ति-भाव मौजूद है, तो बंधरूप कार्य तो होगा ही। कर्मबंधन का मूल-कारण भोग-सामग्री नहीं, मोह-भाव है; जो अज्ञानी के मौजूद है और ज्ञानी के नहीं।

वहीं दूसरी ओर वीतरागता की अपेक्षा विचार करें, तो बंध का कारण 'कषायभाव' और निर्जरा का कारण 'अकषायभाव'। इस अपेक्षा ये कथन पूर्ण-सत्य है कि ज्ञानियों के भी जितने अंश में अकषायभाव या वीतरागता है, उतनी निर्बन्धता, और जितने अंश में कषायभाव है, उतने अंश में बंध ही है। परन्तु मिथ्यादृष्टि-जीव की अपेक्षा ये बंध बहुत कम भी है, और फिर प्रतिसमय आत्मानुभूति की ओर अग्रसर होने से निर्जरित भी होता रहता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि-जीव प्रतिसमय अपने को इन सबसे भिन्न अनुभव करता है, ये विचार उसे प्रतिसमय चलता है कि— "ये जो कुछ भी हो रहा है वह सब कर्म का परिणामन है, मैं तो इन सबसे भिन्न जाननहार-तत्त्व हूँ, सो ये सब मुझे मात्र जानने में आ रहे हैं, लेकिन ना तो मैं कभी इन रूप हुआ हूँ और ना होता हूँ, मैं तो त्रिकाल-शुद्ध-चैतन्य हूँ"— ऐसा भेदज्ञान प्रतिसमय वर्तता है, और कर्म की क्रियारूप परिणामन करते हुये भी वे निर्बन्ध रहते हैं। इसीलिए कहने में यही आता है कि "सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के हेतु हैं"।

(छप्पय)

ज्यों माटी में कलस होन की सकति रहे ध्रुव।
 दंड-चक्र चीवर-कुलाल, बाहिज-निमित्त हुव॥
 त्यों पुद्गल-परवांनु-पुंज वरगना-भेष धरि।
 ग्यानावरनादिक रूप, विचरंत विविध परि॥
 बाहिज-निमित्त बहिरात्मा, गहि संसै अग्यानमति।
 जगमाँहि अहंकृत-भावसौं, करमरूप ह्वै परिनमति॥ 24॥

शब्दार्थ :— ज्यों माटी में कलस होन की सकति रहे ध्रुव= जिसप्रकार मिट्टी में कलशरूप होने की शक्ति अक्षयरूप से रहती है, दंड-चक्र चीवर-कुलाल बाहिज-निमित्त हुव= दंड, चाक, धागा, कुम्हार बाह्य-निमित्त होते हैं, त्यों पुद्गल-परवांनु-पुंज वरगना भेष धरि= उसीप्रकार पुद्गल-स्कन्ध वर्गणाओं के रूप में, ग्यानावरनादिक रूप विचरंत विविध परि= ज्ञानावरणी आदि विविधरूपों में भ्रमण कर रहे हैं, बाहिज-निमित्त बहिरात्मा गहि संसै अग्यानमति= बहिरंग-निमित्त को बहिरात्मा/मिथ्यादृष्टि अज्ञानी-जीव (आत्मस्वरूप में) संशय के कारण ग्रहण करता है, जगमाँहि अहंकृत-भावसौं करमरूप ह्वै परिनमति= (और) अहंकार-भाव से, संसार में कर्मरूप होकर परिणमित होता है।

विशेषार्थ :— पुद्गल-वर्गणायें कर्मरूप कैसे परिणमित होती हैं?— इस कथन को स्पष्ट करते हुये कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार मिट्टी में कलश/घड़ेरूप परिणमित होने की शक्ति प्रतिसमय विद्यमान रहती है। दंड, चाक, धागा और कुम्हार तो बहिरंग-निमित्त हैं, ठीक उसीप्रकार पुद्गल-कार्माण वर्गणाओं में ज्ञानावरणादि आठों-कर्म के विविधरूपों में परिणमित होने की शक्ति सदाकाल विद्यमान रहती है, अर्थात् वे इसी रूप में लोक में ठसाठस भरी हुई हैं।

उन वर्गणाओं को मिट्टी की तरह बहिरात्मा/मिथ्यादृष्टि अज्ञानी-जीव का आत्मतत्त्व के प्रति

अज्ञानमय-भावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्। द्रव्यकर्म-निमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ 23॥

संशय, देह के प्रति ममत्वबुद्धि, अहंकार से भरपूर कर्तृत्वबुद्धि रूप बाहरी निमित्त मिलने पर लोक में भरी पुद्गल-वर्गणायें कर्मरूप में परिणामित होकर आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाती है।

संपूर्ण लोक में ठसाठस भरी पुद्गल-वर्गणायें वैसे तो जड़ हैं, भिन्न-द्रव्य हैं, जीव का कुछ नहीं बिगाड़ती हैं, लेकिन जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर की ओर आकर्षित होता है, तब मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें हम 'भावकर्म' कहते हैं। और इन्हीं भावकर्म का निमित्त पाकर लोक में भरी पुद्गल-कार्माण वर्गणायें तुरंत कर्मरूप में परिणामित होकर जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह-रूप से सम्बद्ध हो जाती है, जिन्हें हम 'द्रव्यकर्म' कहते हैं। जीव के साथ कर्मों के जुड़ने के 148 रूप हैं अर्थात् आठ-कर्मों की 148 कर्म प्रकृतियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्नरूप से उदय में आकर फल देती हैं।

जीव उदय में आये हुये इन अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों के साथ ज्योंही मोहासक्त होकर जुड़ता है, पुनः नवीन-कर्म वर्गणायें आकर जीव के साथ चिपक जाती हैं, और फिर उदय में आकर फल देती हैं, ऐसा यह क्रम अनादिकाल से इसीप्रकार चला आ रहा है।

वस्तु का सच्चा-स्वरूप समझने पर जब जीव इन अनुकूल-प्रतिकूल-प्रसंगों से जुड़ने के बजाय, सहज-ज्ञाता रहकर अपने आत्मस्वरूप की साधना का अभ्यास करता है, तब ये कर्म-बंधन स्वतः ही ढीला पड़ता है, और तब सच्चे-सुख का या मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

(सवैया तेईसा)

जे न करै नयपच्छ-विवाद, धरै न विखाद अलीख न भाखै।

जे उदवेग तजै घट-अंतर, सीतल-भाव निरन्तर राखै॥

जे न गुनी-गुन-भेद विचारत, आकुलता मन की सब नाखै।

ते जग में धरि आतम-ध्यान, अखंडित ग्यान-सुधारस-चाखै॥ 25॥

शब्दार्थ :— जे न करै नयपच्छ-विवाद= जो नयवाद का झगड़ा नहीं करते, धरै न विखाद= जो किसी भी प्रकार का खेद नहीं करते, अलीख न भाखै= जो कभी झूठ नहीं बोलते, जे उदवेग तजै= जो चिंता/व्यग्रता छोड़ते हैं, घट-अंतर सीतलभाव निरन्तर राखै= हृदय में/अंतरंग में निरन्तर शांतभाव रखते हैं, जे न गुनी-गुन-भेद विचारत= जो गुण-गुणी का भेद नहीं विचारते, आकुलता मन की सब नाखै= मन की सब आकुलताओं को छोड़ते हैं, ते जग में धरि आतमध्यान= वे जगत् में आत्मध्यान को धारण करते हैं, अखंडित ग्यान-सुधारस चाखै= (और) निरन्तर ज्ञानरूपी-अमृत का रसास्वादन लेते हैं।

विशेषार्थ :— इन पंक्तियों में कवि ने उन जीवों की महिमा का गुणगान किया है, जो निर्विकल्प होकर मात्र आत्मिक-आनंद का रसास्वादन करते हैं; क्योंकि विकल्प कैसा भी हो राग का हो या विराग का—आकुलता का ही जनक है। और आकुलता दुःख रूप ही है, इससे विपरीत निराकुलता ही सच्चा-सुख है।

इसीलिये कविवर कहते हैं कि जो नयों के विकल्प तक से मुक्त है अर्थात् जबतक ये विकल्प रहेगा कि 'शुद्धनय से आत्मा ऐसा है, अशुद्धनय से ऐसा', तबतक यह जीव विकल्पों में ही भ्रमण करता रहेगा और आत्मिक-आनंद से अनभिज्ञ रहेगा। जबतक जीव विषाद/खेद, झूठ, चिंता आदि विकल्पों से ग्रसित रहेगा, तबतक दुःखी रहेगा। जिस क्षण उसके चित्त में सहजता, समता का भाव वर्तेगा, उसी क्षण

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।

विकल्पजाल-च्युत-शान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ 24॥

उसे आत्मिक-सुख का वेदन होगा।

जबतक जीव को गुण-गुणी में भेद दिखेगा अर्थात् आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंतगुण हैं, यह ज्ञान-गुण का कार्य है, यह दर्शन-गुण का, यह श्रद्धा-गुण का— ऐसा गुण-भेद का विकल्प रहेगा, तब तक अभेद-आत्मा की अनुभूति नहीं होगी। आत्मस्वरूप को समझने के लिये कई विकल्प हो सकते हैं, लेकिन आत्मानुभूति निर्विकल्प ही होती है। इसलिये कवि कहते हैं कि जो जीव हरप्रकार की आकुलता से रहित होते हैं, उन्हीं को ज्ञानामृत का रसास्वादन होता है।

(सवैया इकतीसा)

विवहार-दृष्टिसौ विलोकत बंध्यौ-सौ दीसै, निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनहीं।

एक-पच्छ बंध्यौ एक-पच्छसौ अबंध सदा, दोऊ पच्छ अपनै अनादि धरे इनिहीं।

कोऊ कहै समल, विमलरूप कोऊ कहै, चिदानंद तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं।

बंध्यौ मानै, खुल्यौ मानै, दोऊ नैकौ-भेद जानै, सोई ग्यानवंत जीवतत्त्व पायौ तिनिहीं ॥ 26 ॥

शब्दार्थ :— विवहार-दृष्टिसौ विलोकत बंध्यौसौ दीसै= व्यवहार-नय से देखने पर (आत्मा) बँधा-सा दिखाई देता है, निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं= निश्चय-नय से देखें, तो यह किसी से बँधा हुआ नहीं है, एक-पच्छ बंध्यौ एक-पच्छसौ अबंध सदा= एक-पक्ष से बँधा और एक-पक्ष से अबंध हमेशा, दोऊ पच्छ अपनै अनादि धरे इनिहीं= दोनों ही पक्ष अनादि से आत्मा ने धारण किये हैं, कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै= कोई कहता है आत्मा मल-सहित है, कोई कहता है मल-रहित है, चिदानंद तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं= (और फिर) आत्मस्वरूप का वैसा ही बखान किया गया, जैसा जिसने जाना, बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै= बंधा माने, खुला माने, दोऊ नैकौ भेद जानै= जो दोनों-नयों के भेद को जानता है, सोई ग्यानवंत जीव= वही ज्ञानी-जीव है, तत्त्व पायौ तिनिहीं= वही उसके अभिप्राय को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'निश्चय-नय' और 'व्यवहार-नय' का सुंदर-चित्रण किया है। वस्तु अनंत-धर्मात्मक है, और उन सभी धर्मों का बिना किसी विरोध के कथन करने की पद्धति का नाम 'नय' है। यहाँ 'निश्चय-नय' और 'व्यवहार-नय' या कहें 'द्रव्य-दृष्टि' और 'पर्याय-दृष्टि' से आत्मा के स्वरूप को दर्शाया है।

अनादिकाल से जीव कर्मों के साथ है, और अपने को इन कर्मों से बँधा हुआ ही मानता आया है, 'व्यवहार-नय' या पर्याय-दृष्टि से ये कथन सही भी हैं; लेकिन 'निश्चय-नय' से या द्रव्य-दृष्टि से विचार करें, तो आत्मा कभी कर्मों से बँधा ही नहीं, पूर्ण-स्वतंत्र एक भिन्न-द्रव्य है। वास्तविकता यही है कि अनादिकाल से मुक्त और बंध ऐसे ही दोनों रूपों को जीव धारण किये हुये है।

उपर्युक्त-कथन सत्य होते हुये भी भ्रम यहाँ खड़ा होता है कि कोई जीव को 'समल' यानि कर्ममल से सहित मानता है, और कोई जीव को कर्ममल से रहित यानि 'विमल' मानता है। और उसी रूप में आत्मस्वरूप का कथन करता है।

जब कि वास्तविकता ये है कि जो जीव के मुक्त और बंध दोनों रूपों को स्वीकार करता है, दोनों के वास्तविक-स्वरूप और अभिप्राय को समझता है, वही सम्यग्ज्ञानी है, उसे ही आत्मस्वरूप की सम्यक् प्रतीति होती है। क्योंकि यदि हम किसी एक नय या दृष्टि से वस्तु को स्वीकार करेंगे, तो विरोध खड़ा

एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।

यस्तत्त्ववेदी च्युत-पक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ 25 ॥

होगा। जैसे यदि हम जीव को केवल कर्मों से सहित ही मानेंगे, तो फिर मोक्ष का अस्तित्व ही नहीं ठहरेगा। और यदि केवल कर्मों से रहित ही मानेंगे, तो फिर मोक्ष के पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी, और जीव स्वच्छंदी हो जायेगा। और ये दोनों ही स्थितियाँ आगम के अनुकूल नहीं हैं।

इसीलिये कवि ने कहा जो आत्मा के 'बंध' और 'मुक्त'— दोनों ही रूपों को स्वीकार करता है, दोनों के सम्यक् अभिप्राय और स्वरूप को समझता है, वही सम्यग्ज्ञानी है, अर्थात् स्वयं को अंतरंग में कर्म-सहित मानकर, बाह्य में कर्म-रहित होने का सम्यक् पुरुषार्थ करके मुक्ति रमा को वरनेवाले जीव ही लोकोत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

(सवैया इकतीसा)

प्रथम नियत-नय दूजी विवहार-नय, दुहूँ को फलावत अनंत-भेद फले हैं।

ज्यों-ज्यों नय फले त्यों-त्यों मन-कल्लोल फलैं, चंचल-सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं॥

ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी-जीव, समरसी भये एकतासौं नहिं टले हैं।

महामोह-नाशि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज-बल-परगासि सुखरासि-माँहि रले हैं॥ 27॥

शब्दार्थ :— प्रथम नियतनय दूजी विवहारनय= पहला निश्चय-नय दूसरा व्यवहार-नय, दुहूँ को फलावत अनंत-भेद फले हैं= दोनों का विस्तार करने पर अनंत-भेद फलते हैं/होते हैं, ज्यों-ज्यों नय फले त्यों-त्यों मन-कल्लोल फलैं= जैसे-जैसे नयभेद बढ़ते हैं वैसे-वैसे मनरूपी चंचल-लहरें बढ़ती हैं, चंचल-सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं= चंचल-स्वभाव लोकालोक तक उछलता है, ऐसी नयकक्ष ताकौ-पक्ष तजि ग्यानी जीव= ऐसी नयकक्ष/नय-भूमिका का पक्ष छोड़कर ज्ञानी-जीव, समरसी भये एकतासौं नहिं टले हैं= समरसी/पक्षातीत होकर (स्वरूप से) एकता को नहीं छोड़ते हैं, महामोह नाशि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि= महामोह को नष्ट करके शुद्ध-अनुभव के अभ्यास से, निज-बल परगासि सुखरासि-माँहि रले हैं= आत्मिक-बल प्रकट करके सुख का खजाना प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ :— इन-पंक्तियों में कवि ने नयों के माध्यम से आत्मस्वरूप को समझने और नयातीत अतीन्द्रिय-आनंद की महिमा का गुणगान किया है। मुख्यरूप से नयों के दो भेद हैं— 'निश्चय-नय' और 'व्यवहार-नय'। पर इनका विस्तार करने पर इनके अनंत-भेद होते हैं, जैसे अशुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय, परमशुद्ध-निश्चयनय, द्रव्यार्थिक-नय, पर्यायार्थिक-नय, नैगमादि सात-नय, क्रियानय आदि अनेक नय— इत्यादि।

आत्मस्वरूप को समझने के लिये इन नयों की महती-उपयोगिता है। नयों को समझे बिना आगम के सिद्धांतों में और आचार्यों के कथन में विरोधाभास खड़ा होता है, क्योंकि कहीं आचार्यदेव कहते हैं कि "आत्मा मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों का कर्ता है", और कहीं कहते हैं "विकारों को तो आत्मा ने आज तक छुआ ही नहीं"; कहीं कथन आता है "जीव बहुत दुःखी है", और कहीं कथन आता है कि "दुःख तो आत्मा का स्वभाव ही नहीं है"। यदि नयों का परिपक्व-ज्ञान नहीं है अर्थात् ये समझ नहीं है कि आचार्यों ने किस अपेक्षा से कौन-सा कथन किया है? तब जीव भ्रमित होता है, और नयों का सम्यक् ज्ञान होने पर भ्रम का अस्तित्व भी नजर नहीं आता।

ज्यों-ज्यों नयों के माध्यम से ज्ञानी-जीव को आत्मा का वास्तविक-स्वरूप समझ में आता है,

स्वेच्छा-समुच्छलदनल्प-विकल्पजाला-मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम्।

अन्तर्बहिस्समरसैक-रसस्वभावं, स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥ 45॥

त्यों-त्यों मनरूपी-लहरें उछलने लगती है। उन्हें संपूर्ण लोकालोकाश में एक आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ भाषित होता है। नयों के माध्यम से आत्मस्वरूप को समझने के बाद जो ज्ञानी-जीव इन नयों के पक्ष को छोड़कर अर्थात् समस्त-विकल्पों को छोड़कर मात्र समताभाव को धारण करते हैं, उन्हीं जीवों को आत्मानुभूति होती है। वे ही जीव सर्वप्रथम महाबलशाली-मोह का नाश करते हैं, क्योंकि मोह ही समस्त-कर्मों का राजा है। जबतक दर्शनमोहनीय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम नहीं होता, तब तक आत्मिक-सुख का वेदन भी नहीं होता।

दर्शनमोहनीय का क्षय या उपशम होते ही साधक-जीव निरन्तर शुद्ध आत्मिक-अनुभूति के अभ्यास से आत्मिक-बल को प्रगट करता है, और फिर सच्चे-सुख का वेदन करते हुये आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू बाजीगर चौहटे बजाइ ढोल, नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसे मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं, भ्रम में धाड़ बहु काय-निज मानी है॥
अब ग्यानकला-जागी भ्रम की दृष्टि भागी, अपनी-पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै होत परवानं ऐसो भांति भई, निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है॥ 28॥

शब्दार्थ :- जैसे काहू बाजीगर चौहटे बजाइ ढोल= जैसे कोई जादुई खेल दिखानेवाला चौराहे पर ढोल बजाकर, नानारूप धरिकैं= अनेकप्रकार के स्वांग रखकर, भगल-विद्या ठानी है = बहुरूपिये की कला धारण की या अपनायी हो, तैसे मैं अनादिकौ= उसीप्रकार मैंने अनादिकाल से, मिथ्यातकी तरंगनिसौं = मिथ्यात्व की तरंगों से, भ्रम में धाड़= भ्रम में बहुत भटककर, काय निज मानी है= प्राप्त-काया को अपना माना है, अब ग्यानकला जागी = अब सम्यग्ज्ञानरूपी कला जागृत हुई, भ्रम की दृष्टि भागी= भ्रमकी दृष्टि भाग गई, अपनी पराई सब सौंज= अपनी और पर की सब साझेदारी या मिलावट को, पहिचानी है= पहिचान लिया, जाकै उदै होत= जिसके उदय होने पर, परवानं ऐसो भांति भई= इसतरह निर्णय हुआ है, निहचै हमारी जोति= निश्चय से हमारा जो स्वरूप है, सोई हम जानी है= वही हमने जान लिया है।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत-छंद में मिथ्यात्व के उदय में जीव की क्या दशा होती है?— इसका वर्णन करते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि "जैसे कोई बाजीगर या जादुई तमाशा दिखानेवाला चौराहे पर ढोल बजाकर सबको इकट्ठा करके तरह-तरह के स्वांग या भेष रखकर अपनी ठगविद्या से अच्छे भले आदमी को भी भ्रमित कर देता है। उसीप्रकार इस जीव ने भी अनादिकाल से मोह/मिथ्यात्व की तरंगों में मस्त होकर नानाप्रकार के स्वांग धारण किये, और आज तक हर स्वांग को अपना मानता आया है।" अर्थात् मोह के कारण भ्रम से हर शरीर या प्राप्त पर्याय को ही अपना मानता रहा, या उसी को अपना स्वरूप मानकर इष्ट-अनिष्ट-बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष करके अनंत-दुःख उठाता रहा।

कविवर कहते हैं अब आगम के अभ्यास से सम्यग्ज्ञान की वह कला जागृत हुई है, जिससे इस नश्वर-देह में होनेवाली आत्मबुद्धि का भ्रम अब दूर हो गया, जिससे मुझे अपने और पराये की सच्ची पहचान हो गई है। जैसे रात्रि के घोर-अंधकार में जो वस्तु दिखाई नहीं देती, वह सूर्य के उदय होने पर उसके प्रकाश में स्पष्ट और साफ नजर आने लगती है, ठीक उसीप्रकार मिथ्यात्व के घोर-अंधकार में

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलतुष्कलोच्चल-विकल्प-वीचिभिः।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं, कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥46॥

मुझे जिस आत्मस्वरूप की पहचान नहीं हो रही थी, अब सम्यग्ज्ञानरूपी-सूर्य के उदय होने पर उसकी सच्ची-पहचान हो गई है। अब मेरी स्थिति यह है कि निश्चय से वास्तव में जो मेरा अपना था, अब मैंने उसे पहचान लिया है।

(सवेया इकतीसा)

जैसे महारतन की ज्योति में लहर उठै, जल की तरंग जैसे लीन होय जल में।
तैसे सुद्ध-आतम-दरब परजाय करि, उपजै-बिनसै-थिर रहै निज-थल में॥
ऐसै अविकलपी-अजलपी आनंदरूपी, अनादि-अनंत गहि लीजै एकपल में।
ताको अनुभव कीजै परम-पीयूष पीजै, बंध कौ विलास डारि दीजै पुद्गल में॥ 29॥

शब्दार्थ :- जैसे महारतन की ज्योतिमें लहर उठै= जिसप्रकार महान्-रत्न की आभा में चमक की लहर उठती है, जल की तरंग जैसे लीन होय जल में= जल में उठनेवाली लहरें जैसे जल में समा जाती है, तैसे सुद्ध-आतम-दरब परजाय करि= उसीप्रकार शुद्धात्म-द्रव्य की पर्याय, उपजै बिनसै थिर रहै निज-थल में= उपजती है, विनष्ट होती है, स्थिर रहती है अपने स्वरूप में, ऐसै अविकलपी अजलपी आनंदरूपी= ऐसे विकल्परहित, जल्परहित, आनंदरूप, अनादि-अनंत गहि लीजै एक पल में= अनादि-अनंत तत्त्व को एकपल में ग्रहण कर लो, ताको अनुभव कीजै परम-पीयूष पीजै= उसका अनुभव करो, परम-अमृत का पान करो, बंध कौ विलास डारि दीजै पुद्गल में= बंध का साम्राज्य पुद्गल पर छोड़ दो।

विशेषार्थ :- 'ज्ञान स्वयं अपने को ही जानता है'— इस सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कविवर कहते हैं जैसे एक उत्तम-रत्न की चमक स्वयं रत्न से ही निकलती है, और रत्न में ही समा जाती है; जैसे समुद्र में उठनेवाली लहरें समुद्र से ही उठती हैं, और समुद्र में ही विलीन हो जाती है; ठीक उसीप्रकार शुद्धात्म-द्रव्य की जाननरूप अनंत-पर्यायें अपने ज्ञान-गुण से ही उत्पन्न होती है, और ज्ञान में ही विलीन हो जाती है, और आत्मा त्रिकाल अपने स्वरूप में ही स्थिर या लीन रहता है।

ऐसे विकल्प-रहित अर्थात् निर्विकल्प, जल्प-रहित अर्थात् कषाय-जनित दुःख से रहित, परिपूर्ण आनंदस्वरूपी, अनादि-अनंत अर्थात् शाश्वत परमात्मा को एकपल में ग्रहण कर लो। कहने का अभिप्राय यह है कि अब विकल्पों में समय बर्बाद मत करो, मैं अनादि-अनंत, जन्म-मरण से रहित, त्रिकाली, शाश्वत, अविनाशी, अनंत-सुख की खान, ध्रुवतत्त्व हूँ— शीघ्रतिशीघ्र ऐसा श्रद्धान करो, उसी का अनुभव करो, और उसी के आनंद-अमृत का पान करो। कर्मों के उदय, फल, बंध आदि का विचार मत करो, क्योंकि ये तो पुद्गल की लीला है, उसी पर छोड़ दो। कविवर कहते हैं— हे आत्मन्! पुरुषार्थ तो कर, कर्मों की दशा स्वयं बदल जायेगी, क्योंकि वैसे भी ये जड़ का परिणामन है, तेरा नहीं।

(सवेया इकतीसा)

दरब की नय, परजायनय दोऊ, श्रुतग्यानरूप, श्रुतग्यान तो परोख है।
सुद्ध-परमातम कौ अनुभौ प्रगट तातैं, अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है॥
अनुभौ-प्रवांन भगवान पुरुष-प्रमान, ग्यान औ' विग्यानघन महासुख-पोख है।
परम-पवित्र यौ अनंत-नाम अनुभौ के, अनुभौ बिना न कहूँ और ठौर मोख है॥ 30॥

चित्स्वभाव-भर-भावित-भावा-भाव-भाव-परमार्थतयैकम्।

बन्ध-पद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम्॥ 47॥

शब्दार्थ :- दरब की नय, परजायनय दोऊ= द्रव्यार्थिक-नय, पर्यायार्थिक-नय दोनों, श्रुतग्यानरूप= श्रुतज्ञानरूप हैं, श्रुतग्यान तो परोक्ष है= श्रुतज्ञान तो परोक्ष है, सुद्ध-परमात्म कौ अनुभौ प्रगट= जबकि शुद्ध-परम-आत्मतत्त्व का अनुभव प्रत्यक्ष है, तातैं= इसलिये, अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है= अनुभव साक्षात् है, आत्मानुभव अदोष/निर्दोष है, अनुभौ-प्रवांन भगवान् पुरुष-प्रमाण= अनुभव-प्रमाण, भगवान्, पुरुष-प्रमाण, ग्यान औ विग्यानघन= ज्ञान और विज्ञानघन, महासुख-पोख है= परमसुख का पोषक है, परम-पवित्र यौ अनंत नाम अनुभौके= परम-पवित्र— इसप्रकार अनुभव के अनंत-नाम हैं, अनुभौ बिना न कहूँ और ठौर मोख है= अनुभव के बिना कोई और स्थान मोक्ष का नहीं है।

विशेषार्थ :- आत्मानुभव की महिमा का गुणगान करते हुये कविवर कहते हैं कि द्रव्यार्थिक-नय और पर्यायार्थिक-नय— ये दोनों ही श्रुतज्ञान के अंश हैं, और श्रुतज्ञान परोक्ष-प्रमाणरूप है, जबकि शुद्ध परम-आत्मतत्त्व का अनुभव प्रत्यक्ष होता है, इसीलिये अनुभव सर्वश्रेष्ठ है, अनुभव अदोष/निर्दोष है।

आत्मानुभूति को 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहा गया है, जबकि नय श्रुतज्ञान के अंश हैं, जो परोक्ष-प्रमाणरूप है। कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मानुभूति की महिमा का मैं कितना भी गुणगान करूँ, वह कथनमात्र ही होगा; क्योंकि आत्मानुभूति तो वचनातीत है, निर्दोष है।

सामान्यतः जिनेन्द्र भगवान् के एक हजार आठ नामों का महिमापूर्ण-वर्णन 'जिन-सहस्रनाम' में आता है। यहाँ कविवर पं. बनारसीदास जी आत्मानुभूतिरूप-परिणाम की अचिन्त्य-महिमा बताते हुये कहते हैं कि अनुभव के भी प्रमाण, भगवान्, प्रमाण-पुरुष, ज्ञान और विज्ञानघन, महान् /सच्चे-सुख का पोषक, परम-पवित्र— ऐसे अनंत-नाम बताये हैं। अनुभव के अलावा अन्य किसी स्थान का नाम मोक्ष नहीं है, ऐसा कहकर कवि ने अनुभव की जिनेन्द्र-परमात्मा से भी अनन्तगुनी-महिमा प्रकट की है। कवि ने स्वयं लिखा है —

"अनुभव चिंतामणि-रत्न, अनुभव है रसकूप।

अनुभव मारग-मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप॥"

(सवैया इकतीसा)

जैसे एक-जल नानारूप-दरबानुजोग, भयौ बहु भाँति पहिचान्यौ न परतु है।

फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत, अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है॥

तैसे यह चेतन-पदारथ विभाव तासौं, गति-जोनि-भेस-भव-भांवरि भरतु है।

सम्यक-सुभाइ पाइ अनुभौ के पंथ धाड़, बंध की जुगति-भानि मुकति करतु है॥ 31॥

शब्दार्थ :- जैसे एक-जल नानारूप-दरबानुजोग= जिसप्रकार एक ही स्वच्छ-जल विभिन्न-प्रकार के द्रव्यों अर्थात् वस्तुओं के संयोग से, भयौ बहु भाँति= बहुतप्रकार का हो जाता है, पहिचान्यौ न परतु है= यहाँ तक कि उसे पहिचानना भी मुश्किल होता है, फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत= फिर समय पाकर अन्य-वस्तुओं का संयोग दूर होते ही, अपनै सहज नीचे-मारग ढरतु है= सहज अपने स्वभाव के अनुसार नीचे की ओर अर्थात् स्वाभाविक निर्मलता की ओर ढलता है, तैसे यह चेतन-पदारथ विभाव तासौं= उसीप्रकार यह आत्मारूपी-पदार्थ विभाव के संयोग से, गति-जोनि-भेस-भव-भांवरि भरतु है= गति, योनि, भेष धारणकर संसार-चक्र

आक्रामन्विकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना, सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।

विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्, ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत् किञ्चनैकोऽप्ययम्॥ 48॥

दूरं भूरि-विकल्प-जाल-गहने भ्राम्यन्निजौघाच्चयुतो, दूरादेव विवेक-निम्न-गमनानीतो निजौघं बलात्।

विज्ञानैक-रसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहरन्, आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्॥ 49॥

भरता है, सम्यक्-सुभाइ पाइ अनुभौ के पंथ धाइ= सम्यक् स्वभाव को पाकर अनुभव के मार्ग पर चलकर, बंध की जुगति भानि मुक्ति करतु है= बंध की युक्ति को पहिचानकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के सद्भाव में होनेवाली जीव की दशा का सटीक-वर्णन किया है। जैसे स्वच्छ-पानी वैसे तो पारदर्शी होता है। पर अन्य-पदार्थों, जैसे— गेरू, चूना, हल्दी, रंग आदि के संयोग से उन्हीं के रंग-रूप दिखने लगता है, यहाँ तक कि उसका असलीरूप पहचानना ही मुश्किल हो जाता है। लेकिन फिर समय पाकर जब ये संयोग दूर होते हैं, तो वापस अपने स्वच्छ-स्वभाव की ओर लौटता है। उसीप्रकार यह जीव भी स्वयं स्वभाव से निर्मल होने पर भी मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों का संयोग होने पर गति, योनि, तरह-तरह के भेष धारणकर संसार में चक्कर लगाता रहता है। फिर अवसर पाकर या सुयोग मिलने पर सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर आत्म-अनुभव के मार्ग पर चलता है, तो शीघ्र ही बंध की युक्ति को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त करता है।

एक अन्य-उदाहरण के माध्यम से इस सिद्धांत को समझते हैं, जिसप्रकार किसी बगीचे में फव्वारा/फाउण्टेन लगा है, उसमें नीचे पानी को इकट्ठा करके प्रेशर से पानी को ऊपर की ओर फेंकते हैं, तब पानी स्वच्छ दिखाई देता है, लेकिन जब उसके चारों ओर हरी, लाल, पीली, नीली लाइट लगा देते हैं, तब जिस रंग की लाइट होती है पानी भी उसी रंग का दिखाई देने लगता है। यद्यपि पानी उससमय भी पूर्ण-निर्मल है; पर रंगीन-प्रकाश के संयोग से उसीरूप दिखाई देता है। परन्तु जैसे ही वह संयोग हटता है, पानी पुनः अपने निर्मलरूप में प्रकट हो जाता है।

ठीक उसीप्रकार ज्ञायक भगवान् आत्मा स्वभाव से पूर्ण-निर्मल है, लेकिन जब पर-सन्मुख या पर की ओर आकर्षित होता है, तब मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों रूप परिणमित होता है। यद्यपि जैसे लाइट ने जल में प्रवेश नहीं किया, और पानी उस समय भी निर्मल ही है; ठीक उसीप्रकार विकारी-भावों ने भी कभी आत्मा में प्रवेश नहीं किया, और विकाररूप परिणमित होते समय भी आत्मा स्वभाव से निर्मल ही रहता है। लेकिन जिस-प्रकार हरी पीली लाइट के संयोग से पानी विविध रंगों रूप हो जाता है ठीक उसीप्रकार इन विकारी-भावों का संयोग होने से, और उस रूप परिणमित होने से जीव चार गति, चौरासी लाख योनियों में नानाप्रकार के भेष धारणकर भव-भांवरि अर्थात् संसार-चक्ररूपी भँवर में फँसकर पुरुषार्थ-विहीन हो जाता है।

जैसे लाइट का संयोग हटने पर पानी अपने सहज स्वभाव को प्राप्त करता है, ठीक उसीप्रकार सत्यधर्म का सद्भाव होने पर यह जीव पुनः अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभाव को प्रकट करता है, और आत्मानुभूति को प्राप्त करता है। ज्यों-ज्यों अनुभव के मार्ग पर आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों बंध की युक्ति अर्थात् प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग की चौकड़ी को नष्ट करता हुआ मुक्तिरमा को वरण करता है।

(देहा)

निसि-दिन मिथ्याभाव-बहु, धरै मिथ्याती-जीव।

तातैं भावित-करमकौ, करता कह्यौ सदीव॥ 32॥

शब्दार्थ :— निसि-दिन मिथ्याभाव-बहु धरै मिथ्याती-जीव= मिथ्यादृष्टि-जीव रात-दिन देह में आत्मबुद्धिरूप बहुत मिथ्या-भाव करता है, तातैं भावित-करम कौ करता कह्यौ सदीव= इसलिये वह भाव-कर्मों का सदाकाल-कर्ता कहा जाता है।

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलं। न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥ 50॥

विशेषार्थ :— मिथ्यादृष्टि-जीव 'भावकर्म का कर्त्ता' क्यों कहा जाता है? इस कथन को स्पष्ट करते हुये कविवर कहते हैं कि जीव अनादिकाल से देह और कर्मों के साथ है, और प्राप्त-देह में आत्मबुद्धि करने से मिथ्यादृष्टि नाम पाता है। जब दृष्टि ही मिथ्या है, तो परिणमन सम्यक् कैसे हो सकता है? अर्थात् अनादि से जीव मिथ्यात्व के कारण मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावरूप ही परिणमन करता आया है, इसीलिये जीव को इन विकारी-भावों का कर्त्ता कहा जाता है।

(चौपाई)

करै करम सोइ करतारा, जो जानै सो जाननहारा।
जो करता नहिं जानै सोई, जानै सो करता नहिं होई॥ 33॥

शब्दार्थ :— करै करम सोइ करतारा= जो कर्म करता है, वही कर्त्ता होता है, जो जानै सो जाननहारा= जो जानता वह ज्ञाता होता है, जो करता नहिं जानै सोई= जो कर्त्ता नहीं होता, वही ज्ञाता होता है, जानै सो कर्त्ता नहिं होई= जो जानता है, वह कर्त्ता नहीं होता।

विशेषार्थ :— जीव ज्ञाता और कर्त्ता दोनों एक साथ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का स्वभाव मात्र जानना-देखना है, कर्त्ता बनना जीव का स्वभाव नहीं है। पुद्गल का स्वभाव कार्यरूप परिणमित होना है, जानना पुद्गल का स्वभाव नहीं है। अर्थात् जानना और करना दो भिन्न द्रव्यों का स्वतंत्र-परिणमन है, और दो-द्रव्यों के बीच अत्यन्तभाव होने से एक-द्रव्य दूसरे-द्रव्य का कार्य कभी नहीं करता। इसीलिये कवि ने कहा जो ज्ञाता है सो कर्त्ता नहीं, और जो कर्त्ता है सो ज्ञाता नहीं हो सकता।

(सोरठा)

ग्यान मिथ्यात न एक, नहिं रागादिक ग्यान-मांहि।
ग्यान करम-अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं॥ 34॥

शब्दार्थ :— ग्यान-मिथ्यात न एक= ज्ञान और मिथ्यात्व एक नहीं है, नहिं रागादिक ग्यान-मांहि= ना ही राग-द्वेषादि-भाव ज्ञान में होते हैं, ग्यान करम-अतिरेक= ज्ञान और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, ग्याता सो करता नांहि= जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं होता।

विशेषार्थ :— ज्ञान और रागादि-भावों की भिन्नता का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि ज्ञान और मिथ्यात्व दोनों भिन्न-भिन्न है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का त्रिकाली स्वाभाविक-गुण है, जबकि मिथ्यात्व आत्मा का वैभाविक क्षणिक-परिणमन है, दोनों एक कैसे हो सकते हैं? इसलिये कहा जाता है कि रागादि-भाव ज्ञान में नहीं होते, क्योंकि ये तो पर के संयोग से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं; आत्मा का स्वाभाविक-परिणमन नहीं है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशी होने से ज्ञान इन रागादि-भावों को सिर्फ जानता है, करता नहीं है। इन दोनों में परस्पर स्वाभाविक-भिन्नता होने के कारण ही कवि ने कहा "जो ज्ञाता है, वह कर्त्ता नहीं हो सकता है, और जो कर्त्ता है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता।"

(छप्पय)

करम-पिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नहिं।
दोऊ भिन्न-सरूप, बसहिं दोऊ न जीवमांहि॥

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्। यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥51॥
ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः, ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः। ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥52॥

करमपिंड पुगल, विभाव रागादि मूढ़ भ्रम।
 अलख-एक, पुगल-अनंत, किमि धरहि प्रकृति-सम॥
 निज-निज-विलासजुत जगतमाँहि, जथा सहज-परिनमहिं तिम।
 करतार-जीव जड़-करम कौ, मोह-विकल-जन कहहिं इम॥ 35॥

शब्दार्थ :- करमपिंड अरु रागभाव= ज्ञानावरणादि-कर्मों का समूह और रागादि-भाव, मिलि एक हौहि नहिं= मिलकर एक नहीं होते हैं, दोऊ भिन्न-सरूप= दोनों का स्वरूप भिन्न है, बसहिं दोऊ न जीवमाँहि= दोनों ही जीव में नहीं रहते हैं, अलख-एक= अलक्ष्य आत्मा एक है, पुगल-अनंत= पुद्गल अनंत हैं, किमि धरहि प्रकृति-सम= कैसे एकसमान-स्वभाव धारण कर सकते हैं? निज-निज विलासजुत जगतमाँहि= जगत् में (सभी द्रव्य) अपने-अपने स्वभाव में, जथा सहज-परिनमहिं तिम= जैसा स्वभाव है, उसी के अनुसार परिणमन करते हैं, करतार-जीव जड़-करम कौ= जीव जड़-कर्मों का कर्ता है, मोह-विकल-जन कहहिं इम= ऐसा मोहवश व्याकुल होकर संसारी-प्राणी कहते हैं।

विशेषार्थ :- 'द्रव्यकर्म' और 'भावकर्म' में भिन्नता का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि करम-पिंड अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, और रागभाव अर्थात् मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म— ये दोनों ही मिलकर कभी एक नहीं होते; क्योंकि दोनों का स्वरूप ही भिन्न है, और दोनों ही जीव में नहीं होते। कर्मों का पिण्ड तो पुद्गल है, और रागादि-भावकर्म अज्ञानी-जीव का भ्रम है। आत्मा एक और पुद्गल-कर्म अनंत— दोनों की प्रकृति एक कैसे हो सकती है?

जगत् में छहों-द्रव्य अपने-अपने विलासयुक्त यानि स्वभाव के अनुरूप ही सहज-परिणमन करते हैं, फिर भी जीव को जड़कर्मों का कर्ता कहना या मानना— ये संसारी मोही-जीवों की विकलता अर्थात् मोह से ग्रसित परिणाम है। द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों ही आत्मा से भिन्न हैं, कैसे?

आत्मा ज्ञानादि अनंत-गुणों का पिण्ड है, जीव का स्वभाव मात्र जानना और देखना है। और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशी होने से पर-पदार्थ ज्ञान में झलकते हैं, यह तो हुई सहज-प्रक्रिया। फिर जीव की भूल क्या है?

जीव स्वयं के स्वभाव को भूलकर पर की इस झलकन को ही अपना स्वरूप मान लेता है, और उनमें इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करता है, जिससे मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों की उत्पत्ति होती है, जिन्हे हम 'भावकर्म' कहते हैं। इन भावकर्मों का निमित्त पाकर लोक में भरी कार्माण-वर्गणायें तत्क्षण जीव के साथ आकर चिपक जाती है, जिन्हें हम 'द्रव्यकर्म' कहते हैं।

ये 'द्रव्यकर्म' तो कार्माण-वर्गणायें हैं, जो भिन्न-द्रव्य होने से जीव से पूर्णतः भिन्न हैं। और 'भावकर्म' भी आत्मा का स्वभाव नहीं होने से ये भी आत्मा से पूर्णतः भिन्न ही हैं। क्योंकि ये 'भावकर्म' पर के संयोग और जीव की भूल से उत्पन्न होनेवाले 'औपाधिक-भाव' हैं। यदि जीव अन्य-द्रव्यों की तरह अपने स्वभावरूप-परिणमन करे, तो इन विकारी-भावों का तो अस्तित्व ही नहीं ठहरता। इसीलिये कवि ने कहा कि ये दोनों ही कर्म आत्मा से भिन्न हैं। आत्मा एक और कर्म-वर्गणायें अनंत, दोनों का स्वभाव भिन्न, दोनों का परिणमन भिन्न है, फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि। द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ-कर्म-स्थितिः।

ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-नैपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्॥ 53॥

छह-द्रव्यों के समूह को 'लोक' कहते हैं। और इस लोक में सभी द्रव्य अपनी-अपनी मर्यादा में स्वतंत्र परिणामन करते हैं। न कोई किसी के आधीन है और न कोई किसी का कार्य करता है। इन सभी द्रव्यों में एकमात्र जीवद्रव्य ही अपनी मर्यादा को लाँघता है, स्वयं ही अपने को जड़कर्मा का कर्ता मानता है, और फिर उन कर्मों के अपने अनुसार परिणामन न करने पर स्वयं ही दुःखी होता है, इस सबका एकमात्र-कारण संसारी-जीव का मोह और अज्ञानभाव ही है, अन्य कोई कारण नहीं।

(छप्पय)

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहिं धरै भ्रम-मल।

ग्यान ग्यानरस-रमै, होइ करमादिक-पुद्गल।

असंख्यात-परदेस सकति, जगमगै प्रकट-अति।

चिदविलास गंभीर-धीर, थिर रहै विमलमति॥

जब लगि प्रबोध घटमाँहि उदित, तब लगि अनय न पेखिये।

जिमि धरम-राज वरतंत पुर, जहं-तहं नीति परेखिये॥ 36॥

शब्दार्थ :— जो मिथ्यात न करै= जो मिथ्यात्वभाव नहीं करता, भाव नहिं धरै भ्रम-मल= भ्रमरूपी मलिन-भावों को भी नहीं धरता, ग्यान ग्यानरस-रमै= ज्ञान, ज्ञानरस में ही लीन, होइ करमादिक पुद्गल= कर्मादिक पुद्गल होते हैं, असंख्यात-परदेस सकति= असंख्यात-प्रदेशी शक्ति, जगमगै प्रकट अति= जगमगाती हुई प्रकट होती है, चिदविलास गंभीर धीर= चैतन्य में ही मगन, गंभीर, धीर, थिर रहै विमलमति= निर्मल-बुद्धि स्थिर रहती है, जब लगि प्रबोध घटमाँहि उदित= जबतक सम्यग्ज्ञान हृदय में प्रकाशित रहता है, तब लगि अनय न पेखिये= तब तक अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता, जिमि धरम-राज-वरतंत पुर= जैसे (जब) धर्म का राज नगर में वर्तता है, जहं-तहं नीति परेखिये= तब हरतरफ नीति ही दिखाई देती है।

विशेषार्थ :— आत्मानुभव की महिमा और इस अधिकार का निष्कर्ष बताते हुये कविवर कहते हैं कि जीव मिथ्यात्वभाव को नहीं करता, और भ्रमरूपी मलिन अर्थात् रागादि-भावों को भी धारण नहीं करता, हमेशा ज्ञानरस में ही लीन रहता है। ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म तो पुद्गल की ही रचना है, सो पुद्गल है ही, लेकिन मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म भी पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होने के कारण पुद्गल ही हैं, मेरा यानि चेतन-आत्मा का स्वभाव नहीं है। जब जीव ऐसा चिंतनकर ज्ञानावरणादि-आठों द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म इन दोनों से ही पूर्ण-भिन्न निज-स्वभाव पर दृष्टि केन्द्रित करता है, तब आत्मा के असंख्यात-प्रदेशों में एक निर्मल चैतन्य-आत्मज्योति प्रगट होती है, जिसे 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं। जिसके प्रकाश से पर में कर्तृत्व-बुद्धिरूपी अज्ञान-अंधकार हमेशा के लिये दूर हो जाता है।

जबतक इस निर्मल-ज्योति का प्रकाश अर्थात् 'सम्यग्ज्ञान' वर्तता है, तबतक अनय अर्थात् नीति-विरुद्ध कुछ नहीं होता। सर्वत्र न्याय, नीति, सदाचार-सहित धर्म का राज ही प्रवर्तित रहता है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र कार्य-व्यवस्था का सहज-प्रवर्तन वर्तता है।

कर्ता कर्ता भवति न यथा, कर्म कर्मापि नैव। ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा, पुद्गलः पुद्गलोऽपि।

ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-श्चिच्छक्तीनां निकर-भरतोऽत्यन्त-गम्भीरमेतत्॥ 54॥



(चतुर्थ-अधिकार)

पुण्य-पाप-एकत्व-द्वार

(दोहा)

करता-किरिया-करमकौ, प्रगट बखान्यौ मूल।

अब वरनौ अधिकार यह, पाप-पुन समतूल॥ 1॥

शब्दार्थ :- करता-किरिया-करमकौ= कर्ता, क्रिया, कर्म का, प्रगट बखान्यौ मूल= मूल से स्पष्ट-वर्णन किया, अब वरनौ अधिकार यह= अब इस अधिकार का वर्णन करता हूँ, पाप-पुन समतूल= (जिसमें) पाप और पुण्य दोनों की समानता वर्णित हैं।

विशेषार्थ :- पिछले अधिकार में कर्ता-कर्म और क्रिया का मूलभूतरूप से स्पष्ट-वर्णन किया, अब कविवर प्रतिज्ञा करते हैं कि "मैं इस अधिकार में पाप और पुण्य की समानता का वर्णन करता हूँ।"

(कवित्त मात्रिक)

जाके उदै होत घट-अंतर, बिनसै मोह-महातम-रोक।

सुभ अरु अशुभ-करम की दुविधा, मिटै सहज दीसै इक थोक॥

जाकी कला होत संपूरन, प्रतिभासै सब लोक-अलोक।

सो प्रबोध-ससि निरखि बनारसि, सीस नवाइ देत पग धोक॥ 2॥

शब्दार्थ :- जाके उदै होत घट-अंतर= जिसके उदय होने पर हृदय में, बिनसै मोह-महातम-रोक= मोहरूपी भयंकर-अंधकार नष्ट हो जाता है, सुभ अरु अशुभ-करम की दुविधा= शुभ और अशुभ-कर्मों की भिन्नता का भेद, मिटै सहज दीसै इक-थोक= मिट जाता है, (दोनों) सहज ही एकसमान दिखाई देते हैं, जाकी कला होत संपूरन= जिसकी कला संपूर्ण होने पर, प्रतिभासै सब लोक-अलोक= लोक और अलोक के समस्त-पदार्थ झलकते हैं, सो प्रबोध-ससि निरखि बनारसि= उस केवलज्ञानरूपी चंद्रमा को देखकर बनारसी, सीस नवाइ देत पग-धोक= सिर झुकाकर चरणों में वंदना करता है।

विशेषार्थ :- मंगलाचरण-स्वरूप अपनी भावना व्यक्त करते हुए कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का काला गहन-अंधकार भी क्षणभर में विनाश को प्राप्त होता है, ठीक उसीप्रकार रत्नत्रयरूपी सूर्य के उदित होने पर अनादि का मोहरूपी गहन-अंधकार भी तत्क्षण ही विनाश को प्राप्त होता है। उसके सम्यक्-प्रकाश में शुभ और अशुभ-कर्म का भेद या उनमें भिन्नपने की बुद्धि सहज ही समाप्त हो जाती है, और दोनों ही परिणाम एकसमान भासित होते हैं।

रत्नत्रय की साधना पूर्ण होने पर अर्थात् केवलज्ञान प्रकट होने पर ज्ञान की निर्मलता में लोक और अलोक के समस्त द्रव्य, गुण एवं उनकी समस्त पर्यायें युगपत् सहज-प्रतिभासित होती हैं। जैसे चंद्रमा के आने पर जगत् के समस्त जीवों को दिनभर की तपन से छुटकारा मिल जाता है, और शीतलता की प्राप्ति होती है; ठीक उसीप्रकार भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर जगत् के संतप्त-जीवों को भगवान् की छवि का अवलोकन करने मात्र से ही अद्भुत-शांति या शीतलता का अनुभव होता है। दिव्यध्वनिरूपी

तदथ कर्म शुभाशुभ-भेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।

ग्लपित्-निर्भर-मोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोध-सुधाप्लवः॥ 1॥

अमृत का पान करने पर तो दुःख का सदा के लिये अभाव ही हो जाता है। कवि कहते हैं कि ऐसी अनुपम शीतल-छवि को निरखते हुये मैं बनारसीदास उनके चरणों में सिर झुकाकर सविनय-वंदन करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू चांडाली जुगल-पुत्र जनें तिनि, एक दीयौ बांभन कै एक घर राख्यौ है।
बांभन कहायौ तिनि मद्य-मांस त्याग कीनौ, चंडाल कहायौ तिनि मद्य-मांस चाख्यौ है॥
तैसें एक वेदनी-करमके जुगल-पुत्र, एक पाप एक पुन नाम-भिन्न भाख्यौ है।
दुहूँ माँहि दौर-धूप दोऊ कर्मबंधरूप, यातैं ग्यानवंत नहिं कोउ अभिलाख्यौ है॥ 3॥

शब्दार्थ :— जैसे काहू चांडाली= किसी चांडालिनी ने जुगल-पुत्र जनें तिनि= जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया, उनमें से, एक दीयौ बांभन कै= एक ब्राह्मण को दे दिया, एक घर राख्यौ है= एक अपने घर में रख लिया, बांभन कहायौ= जो ब्राह्मण कहलाया, तिनि मद्य-मांस त्याग कीनौ= उसने शराब, मांस आदि का त्याग किया, चांडाल कहायौ= जो चांडाल कहलाया, तिनि मद्य-मांस चाख्यौ है= उसने शराब, मांस आदि का सेवन किया, तैसें एक वेदनी-करम के जुगल-पुत्र= वैसे ही एक वेदनीय-कर्म के जुड़वाँ-पुत्र, एक पाप एक पुन= एक 'पुण्य' और एक 'पाप', नाम-भिन्न भाख्यौ है= ऐसे अलग-अलग नाम कहे गये हैं, दुहूँ माँहि दौर धूप दोऊ= दोनों में दौड़ धूप, कर्मबंधरूप= (दोनों) कर्मबंधनरूप, यातैं ग्यानवंत नहिं कोउ अभिलाख्यौ है= इसीलिये ज्ञानीजन किसी की भी अभिलाषा नहीं करते।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पुण्य और पाप की समानता को एक सरल-उदाहरण के माध्यम से वर्णित किया है। जैसे एक चांडालनी के यहाँ दो जुड़वाँ-पुत्रों ने जन्म लिया, उनमें से एक पुत्र उस चांडालनी ने ब्राह्मण को दे दिया और दूसरे पुत्र को उसने अपने पास रखा। ब्राह्मण के घर पलनेवाले पुत्र ने सहज ही परिवार में शराब, मांस आदि का सेवन न होने से त्यागरूप प्रवर्तन किया, और दूसरे ने परिवार में शराब, मांस आदि का सेवन होने से भक्ष्यसेवनरूप प्रवर्तन किया; लेकिन मूल में तो वह दोनों 'चांडालनी के ही पुत्र' कहलायेंगे। बाहरी-प्रवर्तन से उनका कुल-स्वरूप तो नहीं बदलेगा।

ठीक उसीप्रकार पुण्य हो या पाप— दोनों ही 'वेदनीय-कर्म' की ही संतान हैं। जिस तरह धर्मविमुख-परिणाम, हिंसादि-पाप, व्यसन आदिरूप प्रवर्तन से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी; वैसे ही मात्र पूजा-पाठ, दया-दानादिक, व्रत-संयम आदि शुभभावरूप प्रवर्तन करने से भी जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि वे हैं तो दोनों कर्म ही, और कर्मों के रहते हुये जीव को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होगी।

भाई! पुण्य-पाप दोनों मूल में वेदनीय-कर्म की संतान होने से दोनों में दौड़-धूप बराबर है, अर्थात् जितनी आकुलता जीव को पाप के उदय और उसके फल को भोगने में होती है, उतनी ही आकुलता पुण्य के उदय और उसके फल को भोगने में भी होती है, - यदि ऐसा न होता, तो वर्तमान में सभी पुण्यवान् जीव सुखी होते। हमारे तीर्थकर-परमात्मा अथाह-पुण्य को धूलि-सम छोड़कर क्यों जाते ?? हे आत्मन्! पुण्य और पाप दोनों ही आकुलता के जनक हैं, दोनों में ही निराकुलता नहीं है। जबकि आगम के अनुसार सच्चा-सुख तो निराकुलता में ही है।

इसके अलावा दोनों ही पुनः कर्मबंधनरूप हैं, अर्थात् इनसे कर्मों का बंधन ही होता है, कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती। दोनों का फल संसार-परिभ्रमण ही है, अर्थात् दोनों से ही जीव को चार-गति

एको दूरात्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः, शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेद-भ्रमेण॥ 2॥

चौरासी-लाख योनियों में भटकने और दुःख के अलावा कुछ नहीं मिलता, — कहने का अभिप्राय यही है कि हम चाहे पुण्यरूपी लक्जरी-कोच में सफर कर रहे हों या पापरूपी जनरल-कोच में— मंजिल दोनों की एक ही है संसार-परिभ्रमण।

कविवर कहते हैं कि "इसीलिए ज्ञानी-जीव पुण्य या पाप दोनों में से किसी की भी वांछा नहीं करते हैं, बल्कि समस्त-कर्मा से रहित त्रिकाल अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति का पुरुषार्थ करते हैं।"

(चौपाई)

कोऊ सिष्य कहै गुरु-पांही, पाप-पुन दोऊ सम नाहीं।

कारन-रस-सुभाव-फल न्यारे, एक अनिष्ट लगै इक प्यारे॥ 4॥

शब्दार्थ :— कोऊ सिष्य कहै गुरु-पांही= कोई शिष्य गुरु के पास आकर कहता है, पाप-पुन दोऊ सम नांही= पाप और पुण्य दोनों समान नहीं है, कारन-रस-सुभाव-फल न्यारे= कारण, रस, स्वभाव और फल भिन्न-भिन्न हैं, (इसीलिये) एक अनिष्ट लगै= एक बुरा लगता है, इक प्यारे= एक अच्छा (लगता है)।

विशेषार्थ :— पुण्य-पाप की समानता के संबंध में शिष्य की शंका को वर्णित करते हुये कविवर कहते हैं कि कोई शिष्य गुरु के पास जाकर कहता है कि "गुरुजी! पाप और पुण्य दोनों समान नहीं हैं, क्योंकि दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल भिन्न-भिन्न हैं; इनमें से एक अनिष्ट यानि बुरा लगता है, पर दूसरा इष्ट यानि अच्छा लगता है।

वास्तव में देखा जाये, तो ये शंका केवल शिष्य की ही नहीं, कवि ने हम सभी के मनोभावों की भी सटीक-प्रस्तुति की है। भले ही हम सभी अच्छे स्वाध्यायी हैं, परन्तु फिर भी पुण्य के प्रति आकर्षण को नहीं छोड़ पाते हैं। वह हमारे अंतर्मन में अपनी जगह हमेशा बनाये रहता है। बुरा जानकर पाप को तो सभी छोड़ना चाहते, पर पुण्य का आकर्षण हमें अपनी ओर खींचता है, कहीं न कहीं हमें पुण्य में मिठास नजर आती है। तभी तो शिष्य कहता है कि गुरुजी! पाप और पुण्य में देखो कितनी भिन्नता है—

पाप-बंध का कारण— संक्लेश-परिणाम, पुण्य-बंध का कारण— विशुद्ध-परिणाम, पाप का रस— असाता का उदय होने से कड़वा, पुण्य का रस— साता का उदय होने से मीठा, पाप का स्वभाव— कषाय की तीव्रतारूप प्रवर्तन, पुण्य का स्वभाव— कषाय की मंदतारूप प्रवर्तन, पाप का फल— नरकादि कुगतियों में गमन, पुण्य का फल— देवादि सुगतियों में गमन

इसीलिए शिष्य कहता है कि गुरुवर! मेरी शंका निराधार नहीं है; क्योंकि उपर्युक्त इतनी सारी भिन्नता होने पर हम पुण्य और पाप दोनों को समान कैसे कह सकते हैं??

(सवैया इकतीसा)

संकलेस-परिणामनिसौ पाप-बंध होइ, विसुद्ध-सौ पुन-बंध 'हेतु-भेद' मानियै।

पाप के उदै 'असाता' ताकौ है कटुक-स्वाद, पुन-उदै 'साता'-मिष्ट 'रस-भेद' जानिये॥

पाप संक्लेसरूप पुन है विसुद्धरूप, दुहूँ को 'सुभाव-भिन्न भेद' यों बखानिये।

पापसौ कुगति होय पुनसौ सुगति होय, ऐसो 'फलभेद' परतच्छि परमानियै॥ 5॥

शब्दार्थ :— संक्लेस-परिणामनिसौ पाप-बंध होइ= संक्लेश-परिणामों से पाप का बंध होता है, विसुद्ध-सौ पुन-बंध= विशुद्ध-परिणामों से पुण्यबंध (होता है— ऐसा), हेतु-भेद मानियै= यह कारणभेद मानना चाहिये,

हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणां, सदाप्यभेदान् हि कर्मभेदः। तद्बन्ध-मार्गाश्रितमेकमिष्टं, स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥ 3॥

पापकै उदै असाता= पाप के उदय में असाता/प्रतिकूलता, ताकौ है कटुक-स्वाद= जिसका स्वाद कड़वा होता है, पुन्न-उदै साता मिष्ट= पुण्य के उदय में साता/अनुकूलता जिसका स्वाद मीठा लगता है, रस-भेद जानियै= ऐसा रस-भेद जानना चाहिये, पाप संक्लेशरूप= पाप संक्लेशरूप है, पुन्न है विसुद्धरूप= पुण्य विसुद्धरूप है, दुहूँ कौ सुभाव भिन्न= दोनों का स्वभाव भिन्न है, भेद यौ बखानियै= ऐसा स्वभावभेद कहा गया है, पापसौं कुगति होइ= पाप से कुगति होती है, पुन्नसौं सुगति होइ= पुण्य के उदय में सुगति, ऐसौ फलभेद= ऐसा फलभेद, परतच्छि परमानियै= प्रत्यक्षतः प्रमाणित करना चाहिये।

विशेषार्थ :— इस-छंद में शिष्य ने अपनी शंका को न केवल तर्क से बल्कि आगम-सम्मत सटीक-तर्कों से सिद्ध किया है।

पहली 'कारण-भिन्नता'— सबसे पहले पाप और पुण्य में कारण भेद सिद्ध किया कि संक्लेश-परिणामों से पाप का बंध और विसुद्ध-परिणामों से पुण्य का बंध होता है। आगम के अनुसार संक्लेश-परिणाम अर्थात् पाँच-पाप, सप्त-व्यसन, अभक्ष्य-भक्षण, अन्याय, अनीति और धर्म की विमुखतारूप आदि अशुभ-परिणामों से जीव को पाप का बंध होता है। जबकि इसके विपरीत व्रत, नियम, संयम, अभक्ष्य-भक्षण का त्याग, अन्याय, अनीति- अनाचार का त्याग, पूजा-पाठ दया-दानादिक के भावों से पुण्य का बंध होता है। अब यदि कारण से विचार करें, तो शिष्य का तर्क पूर्णतः सही प्रतीत होता है।

दूसरी 'रस/स्वाद-भिन्नता'— पाप के उदय में असाता होती है और उसका स्वाद कड़वा होता है, और पुण्य के उदय में साता होती है, जिसका स्वाद मधुर प्रतीत होता है। आगम में भी हम यही सुनते हैं कि हे आत्मन्! आज जीवन में जो तुझे असाता अर्थात् रोगादि की वेदना, धन-वैभव की हीनता, पारिवारिक-प्रतिकूलतायें मिली हैं, वे तेरे ही द्वारा पूर्व में कमाये हुये पाप के उदय से मिली हैं। ये कड़वे-बीज तूने खुद ही बोये थे, तो आज इन फलों का स्वाद तुझे कड़वा क्यों लगता है? क्योंकि जैसा बीज वैसा ही फल, फिर आज तू दुःखी क्यों होता है? और दूसरी ओर जो साता के उदयजन्य संयोग अर्थात् निरोगी-काया, धन-वैभव की प्रचुरता, पारिवारिक- अनुकूलतायें मिली हैं, जिनका स्वाद तुझे बहुत मधुर और मोहक लगता है; वे सब किसी परद्रव्य की देन नहीं हैं, बल्कि ये पुण्य के परिणाम अर्थात् मीठे बीज भी तूने खुद ही बोये थे, जिनके मोहक-स्वाद में तू वर्तमान में इतरा रहा है। देखा जाये, तो स्वाद की दृष्टि से भी पुण्य-पाप में भिन्नता सही साबित होती है।

तीसरी स्वभाव की भिन्नता— पाप के उदय में कषाय की तीव्रतारूप प्रवर्तन होता है और पुण्य के उदय में कषाय की मंदतारूप प्रवर्तन होता है। हम विचार करें, तो स्वभाव की ऐसी भिन्नता तो हमें प्रत्यक्ष दिखाई देती है। जिन जीवों के पाप का उदय होता है, वर्तमान में भी उनके परिणाम प्रतिसमय संक्लेशरूप ही रहते हैं, जैसे बात-बात पर क्रोध आना, अभिमान के चलते किसी की विनय न करना, मन-वचन-काय में कुटिलता होना, और लोभ के कारण कभी दया-दानादिक के भाव नहीं होना, इन्द्रिय-विषयों को भोगने की अति-तीव्र-लालसा होना, धर्म-कार्यों में अनुत्साह या बोझिल-प्रवृत्ति होना इत्यादि। वहीं दूसरी ओर जिन जीवों के पुण्य का उदय होता है, वर्तमान में भी उनके परिणाम मंदकषायरूप ही रहते हैं, जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चारों कषायों की हीनता होना, पाँचों-इन्द्रिय के विषयों को भोगने की तीव्र-लालसा का अभाव होना, दया-दानादिक, पूजा-पाठ, व्रत-नियम, तथा धर्मप्रभावना के कार्यों में तन-मन-धन से उत्साह वर्तना इत्यादि। देखा जाये, तो आगम के अनुसार ये

तर्क भी सत्य प्रतीत होता है।

चौथी फल की भिन्नता— पाप के उदय में कुगतियों में गमन और पुण्य के उदय में सुगति-गमन होता है। आगम के अनुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव— ये चार गतियाँ मानी गई हैं, और इनमें से नरक और तिर्यंचादि को 'कुगति' और मनुष्य और देवगति को 'सुगति' माना गया है। जो जीव जैसा परिणाम करता है, उसके फल में वैसी ही गति का बंध करता है। आचार्यों का कथन है कि पाप के फल में नरकादि कुगतियों में गमन होता है और पुण्य के फल में स्वर्गादि सुगतियों में गमन होता है। इस आधार से शिष्य का ये कथन भी सत्य प्रतीत होता है।

इन्हीं तथ्यों के आधार पर शिष्य कहता है कि "गुरुजी! कारण, रस, स्वभाव और फल की दृष्टि से उपर्युक्त इतनी भिन्नता होने पर पुण्य और पाप को समान कैसे माना जाये"??

(सवैया इकतीसा)

पाप-बंध पुन-बंध दुहूँ मैं मुक्ति नाहिं, कटुक-मधुर-स्वाद पुगल कौ पेखिए।
संकलेस-विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल, कुगति-सुगति जगजाल में विसेखिए॥
कारनादि-भेद तोहि सूझत मिथ्यात-मांहि, ऐसौ द्वैत-भाव ग्यान-दृष्टि में न लेखिए।
दोऊ महा-अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप, दुहूँ को विनास मोख-मारग मैं देखिए॥ 6॥

शब्दार्थ :— पाप-बंध पुन-बंध दुहूँ मैं मुक्ति नाहिं= पापबंध और पुण्यबंध दोनों में मुक्ति नहीं है, कटुक-मधुर स्वाद पुगल कौ पेखिए= कड़वा और मीठा स्वाद पुगल का समझना चाहिये, संकलेस-विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल= संक्लेश और विशुद्ध दोनों स्वाभाविकरूप से कर्म की चाल है, कुगति-सुगति जगजाल में विसेखिए= कुगति और सुगति संसार ही हैं— ऐसा समझना चाहिये, कारनादि-भेद तोहि सूझत मिथ्यात-मांहि= कारण आदि भेद तुझे मिथ्यात्व के कारण दिखाई देते हैं, ऐसौ द्वैत-भाव ग्यान-दृष्टि में न लेखिए= ऐसा द्वैत-भाव ज्ञानदृष्टि में नहीं होता है, दोऊ महाअंधकूप= दोनों ही अंधे-कुँये में डालनेवाले हैं, दोऊ कर्मबंधरूप= दोनों कर्मबंधनरूप हैं, दुहूँ को विनास= दोनों का विनाश, मोख-मारग देखिए= मोक्षमार्ग में दिखाई देता है।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में शिष्य ने पाप और पुण्य की भिन्नता सिद्ध करने की पूरी कोशिश की, परन्तु शिष्य के सभी तर्कों का सटीक-जबाब देते हुये कविवर कहते हैं कि यद्यपि पाप-बंध और पुण्य-बंध दोनों के स्वरूप में भिन्नता है; पर हैं तो दोनों में बंधन ही, मुक्ति तो दोनों से ही नहीं है। और बंधन कभी भी किसी के लिए सुख का कारण नहीं हो सकता, तभी तो कहते हैं— "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं", और मैं तो परम-स्वाधीन-तत्त्व हूँ, बंधन का तो मेरे स्वरूप में अस्तित्व ही नहीं है, फिर मैं बंधन में सुखी कैसे रह सकता हूँ? और जो तुमने पाप के स्वाद को कड़वा और पुण्य के स्वाद को मधुर कहा, तो भाई ये कड़वापन और मधुरता तो पुद्गल की पर्याय है, आत्मा की नहीं, आत्मा तो त्रिकाल अरस-स्वभावी है।

संक्लेश और विशुद्ध दोनों ही परिणाम कर्म के निमित्त से यानि कर्मों के उदय या क्षयोपशम से होने वाले भाव हैं; आत्मा के स्वभावरूप परिणाम नहीं हैं, क्योंकि आत्मा का परिणाम तो पूर्ण-शुद्ध होता है, संक्लेशरूप या विशुद्धरूप नहीं होता है। इसीप्रकार कुगति-गमन और सुगति-गमन संसार के ही दो भिन्न-स्थल हैं, अर्थात् कुगति हो या सुगति— है तो संसार ही न; मोक्ष तो नहीं है। भाई! गति कोई भी हो, दुःखरूप ही है, यदि कोई भी गति सुखरूप होती, तो सिद्ध-भगवान् चारों-गतियों से भिन्न पंचमगति में क्यों निवास करते? अर्थात् सिद्ध-गति का तो अस्तित्व ही नहीं होना चाहिये था।

हे आत्मन्! पाप और पुण्य में कारण, रस, स्वभाव और फलरूप जो भिन्नता तुझे दिख रही है; वह मिथ्यात्व अर्थात् उल्टी-मान्यता के कारण दिख रही है। तेरी आँखों पर मोह का चश्मा जो लगा हुआ है, जिससे तुझे जीव और पुद्गल का मिला-जुला परिणामन दिखाई दे रहा। ऐसा जीव और पुद्गल का द्वैत-भाव यानि मिला-जुला परिणामन ज्ञान की नजर से नहीं दिखता अर्थात् ज्ञानियों को जीव और पुद्गल का मिला-जुला नहीं, स्वतंत्र-परिणामन सहज ही परिलक्षित होता है।

पाप और पुण्य दोनों ही महाअंधकूप है, अर्थात् जैसे कुँयें में घने अंधकार के अलावा और कुछ नहीं होता, और एक बार कुँये में गिरने पर बाहर निकलने का कोई रास्ता आसानी से नजर नहीं आता; ठीक उसीप्रकार पाप की तरह पुण्य भी गहन अंधकार-स्वरूप ही है। क्योंकि एक बार यदि जीव पुण्य में ही संतुष्ट हो गया, तो आत्महित के सारे रास्ते स्वतः ही बंद हो जाते हैं। पाप और पुण्य दोनों ही कर्मबंधनरूप हैं, अर्थात् ये दोनों ही स्वभाव के विस्मरण और पर के लक्ष्य से उत्पन्न होने हैं, इनसे पुनः कर्म का बंधन होता है, जिससे संसार का परिभ्रमण यथावत् चलता रहता है।

कविवर कहते हैं कि मोक्षमार्ग में इन दोनों का ही विनाश देखा जाता है, अर्थात् जो जीव मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हैं, या जिन जीवों ने मोक्ष की प्राप्ति की है, उनसे कर्मों का क्षय करके ही मोक्ष प्राप्त किया है, पाप हो या पुण्य, शुभ हों या अशुभ— कर्मों के रहते हुये न तो कोई जीव आज तक मोक्ष गया है और न कभी जायेगा।

(सवैया इकतीसा)

शील-तप-संजम-विरति-दान-पूजादिक, अथवा असंजम-कषाय-विषैभोग है।

कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ- स्वरूप मूल, वस्तु के विचारत दुविध-कर्मरोग हैं॥

ऐसी बंध-पद्धति बखानी वीतरागदेव, आतम-धरममें करम त्याग-जोग है।

भौ-जल-तरैया राग-दोष कौ हरैया महा-, मोख को करैया एक सुद्ध-उपयोग है॥ 7॥

शब्दार्थ :- शील-तप-संजम-विरति-दान-पूजादिक= शील/ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि के भाव, अथवा= या, असंजम-कषाय-विषैभोग है= असंयम, कषायभाव और विषयभोग के भाव, कोऊ सुभरूप= कोई शुभरूप है, कोऊ अशुभ स्वरूप मूल= कोई मूलतः अशुभरूप है वस्तु के विचारत= वस्तुस्वरूप का विचार करने पर, दुविध-कर्मरोग है= दोनों ही कर्मों के रोग हैं, ऐसी बंध-पद्धति बखानी वीतरागदेव= ऐसी बंध की पद्धति जिनेन्द्रदेव ने कही है, आतम-धरममें करम त्याग-जोग है= आत्मधर्म में दोनों ही कर्म त्यागने-योग्य हैं, भौ-जल-तरैया= संसाररूपी सागर से तारनेवाला, राग-दोष को हरैया= राग-दोष को हरनेवाला, महा-मोख कौ करैया= महा-मोक्ष को करने वाला, एक सुद्ध-उपयोग है= एकमात्र शुद्ध-उपयोग ही है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कविवर व्यवहार की दृष्टि से पिछले विषय को और अधिक खुलासा करते हुए कहते हैं कि 'शील' यानि ब्रह्मचर्य का भाव, 'तप' यानि इच्छाओं को रोकने का परिणाम, 'संयम' यानि छहों-काय के जीवों की रक्षा का भाव, और पाँचों-इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति का भाव, 'व्रत' यानि पाँचों-पापों के त्यागरूप परिणाम, चारों-प्रकार के दान का भाव, जिनेन्द्रदेव की पूजा-वंदना आदि का भाव, अथवा इसके विपरीत असंयम यानि जीवदया का भाव नहीं होना, पाँचों-इन्द्रियों के विषयों में आसक्तिरूप प्रवर्तन, क्रोध, मान, माया लोभरूप कषाय की तीव्रता का परिणाम, विषय-भोग (कुशीलजन्य) की तीव्र-

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्-बन्ध-साधनमुशन्त्यविशेषात्।

तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं, ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः॥ 4॥

लालसारूप परिणाम— इनमें से कोई परिणाम तो कषाय की मंदतारूप होने से शुभ या पुण्यरूप है, और कोई कषाय की तीव्रतारूप होने से अशुभ या पापरूप है; परन्तु हैं तो दोनों कषाय के ही रूप।

जब हम वस्तु के मूल-स्वरूप का विचार करते हैं, तो ये दोनों ही कर्म-कृत रोग हैं। क्योंकि हर जीव अपनी आयु से जीता है और आयुर्कर्म क्षय होने पर स्वतः ही मरण को प्राप्त होता है, तब जीवों को मारने का या बचाने का परिणाम मेरा कैसे हुआ ?? मैं तो दोनों ही परिस्थितियों का मात्र ज्ञाता ही रहा, यही मेरा अपना परिणाम है।

इसीप्रकार व्रत, तप, शील, संयम आदि का परिणाम कषाय की मंदता का परिणाम है, और तदनुरूप होनेवाली क्रिया शरीर की है, मेरी नहीं। केवल इनको जाननेवाला परिणाम मेरा है, जो पूर्ण-शुद्ध है। जब वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता का ऐसा चिंतन चलता है, तब ये सब कषायजनित-परिणाम प्रत्यक्ष 'पर' भासित होते हैं, और जीव को कर्म का बंध नहीं होता, जबकि इसके विपरीत चाहे परिणाम शुभ का हो या अशुभ का, बंध तो प्रतिसमय होता ही है। कवि कहते हैं कि ये बंध का स्वरूप मैंने नहीं कहा, तीर्थकर-परमात्मा की वाणी में ऐसा ही ध्वनित हुआ है, कि आत्मधर्म यानि आत्मिक-सुख की प्राप्ति में शुभ हो या अशुभ दोनों ही कर्म त्याग करने योग्य ही हैं, अर्थात् कर्मों के रहते हुये जीव कभी सुखी नहीं हो सकता है।

यदि हमें संसार-समुद्र से पार होना है, कर्मों के जनक राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को जीतना है, और अनंत-सुख की प्रकटतारूप मोक्ष या सिद्ध-पद को प्राप्त करना है, तो समस्त कर्मों से रहित एकमात्र शुद्ध-उपयोग अर्थात् वीतरागता ही कार्यकारी है।

(सवैया इकतीसा)

शिष्य कहे 'स्वामी! तुम करनी असुभ-सुभ, कीनी है निषेध मेरे संसै मन-माँहि है।

मोख के सधैया ज्ञाता देसविरती-मुनीस, तिनकी अवस्था तो निरावलंब नाहीं है"॥

कहै गुरु "करम कौ नास अनुभौ-अभ्यास, ऐसौ अवलंब उनही कौ उन पांही है।

निरुपाधि आतम-समाधि सोइ सिवरूप, और दौर-धूप पुदगल-परछांही है"॥ 8॥

शब्दार्थ :— शिष्य कहै स्वामी! तुम करनी असुभ-सुभ= शिष्य कहता है गुरुजी! आपने तो अशुभ और शुभ दोनों क्रियाओं का, कीनी है निषेध मेरे संसै मन-माँहि है= निषेध किया है, इससे मेरे मन में यह संशय है, कि मोख के सधैया ज्ञाता= मोक्ष के साधक-ज्ञानी, देसविरती-मुनीस= देशव्रती और मुनिराज, तिनकी अवस्था तो= उनकी स्थिति तो, निरावलंब नाहीं है= अवलंबन-रहित नहीं है, कहै गुरु करम कौ नास अनुभौ अभ्यास= गुरु कहते हैं, कर्म का विनाश, अनुभव का अभ्यास, ऐसौ अवलंब उनही कौ उन पांही है= ऐसा अवलंबन वे स्वयं अपने लिये ही करते हैं निरुपाधि आतम-समाधि सोइ सिवरूप= उपाधिरहित जो आत्मसमाधि, वही मोक्षस्वरूप है, और दौर-धूप तो पुदगल-परछांही है= अन्य दौड़-धूप तो पुदगल की परछाई है।

विशेषार्थ :— पिछले छंद में कवि ने शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम और क्रियाओं को मोक्षमार्ग में त्यागने-योग्य कहा था। ये कथन शिष्य के गले नहीं उतरा और वह गुरुजी से कहता है कि "आपने जो शुभ-अशुभ-क्रिया का निषेध किया, उसके बारे में मुझे संदेह है; क्योंकि जितने भी मोक्ष के साधक ज्ञानी-पुरुष या पथिक हैं, फिर चाहे वे अणुव्रती-श्रावक हों या महाव्रती-मुनिराज हों, वे सभी शील, व्रत, तप, संयम आदि क्रियायें करते हुये दिखाई देते हैं, तो हम कैसे मानें कि मोक्ष की साधना इनके आलंबन

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृत-दुरिते कर्मणि किल, प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।

तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम्, स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः॥ 5॥

के बिना भी हो सकती है" ?

गुरुजी शिष्य की शंका का समाधान करते हुये कहते हैं कि "हाँ! ये बात सही है कि ज्ञानी-पुरुष के जीवन में ये क्रियायें देखी जाती हैं, परन्तु वे इन क्रियाओं को कर्मों की निर्जरा का कारण नहीं मानते। कर्मों की निर्जरा का कारण तो एकमात्र आत्मानुभूति ही है। जब उपयोग स्वरूप में नहीं ठहरता, तब बाहर में कषाय की मंदता होने से ये व्रतादिक के भाव सहज आते हैं, वे इन-भावों को करते नहीं हैं; सहज होते हैं, परन्तु उनको बंध का कारण ही मानते हैं, और वापस स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं। हे आत्मन्! ये व्रतादिक के भाव मोक्षमार्ग की मंजिल नहीं पड़ाव हैं, जो भूमिकानुसार सहज होते हैं।"

कर्म के निमित्त से होने के कारण राग-द्वेष-मोहादि-भावों को 'औपाधिक-भाव' कहा जाता है, इसलिए कवि कहते हैं कि उपाधि-रहित अर्थात् राग-द्वेष-मोहादि भावों से रहित यानि शुभ और अशुभ किसी भी प्रकार के विकल्प से रहित निर्विकल्प-आत्मानुभूति ही मोक्ष-स्वरूप है, शेष सारी दौड़-धूप तो पुद्गल की परछाई हैं। अर्थात् वीतरागता के अतिरिक्त जितने भी परिणाम हैं, वे परलक्ष्यी, कर्मकृत और कषाय की मंदता के फलस्वरूप होने से जड़ हैं, और तदनुरूप जितनी क्रिया है वह भी शरीर की होने से पुद्गल की ही है।

कहने का अभिप्राय यही है कि विकल्प चाहे कैसा भी हो शुभ या अशुभ, कर्मबंध का ही कारण है, एकमात्र निर्विकल्प-आत्मानुभूति ही कर्मों की निर्जरा का कारण है, यही सत्य है और यही मोक्षमार्ग है।

(सवैया तईसा)

मोख-सरूप सदा चिनमूरति, बंधमई-करतूति कही है।
जावत-काल बसै जहाँ चेतन, तावत सो रस-रीति गही है॥
आतम कौ अनुभौ जबलौ, तबलौ सिवरूप-दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत, बंध-विथा तब फैल रही है॥ १॥

शब्दार्थ :— मोख-सरूप सदा चिनमूरति= चैतन्य-आत्मा हमेशा मोक्ष-स्वरूप है, बंधमई करतूति कही है= क्रियायें बंधमयी कही गई हैं, जावतकाल बसै जहाँ चेतन= जितने समय तक चेतन जहाँ बसता है, तावत सो रस-रीति गही है= तबतक वह उसरूप प्रतीति को ग्रहण करता है, आतम कौ अनुभौ जबलौ= जबतक आत्मा का अनुभव, तबलौ सिवरूप-दसा निबही है= तबतक मुक्तरूप-दशा रहती है, अंध भयौ करनी जब ठानत= ज्योंही स्वरूप से विमुख होकर कर्ताबुद्धि करता है, बंध-विथा तब फैल रही है= उसीसे बंध की व्यथा का विस्तार होने लगता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने शिष्य की शंका का सटीक-समाधान किया है कि "हे आत्मन्! मुक्ति का स्वरूप तो हमेशा से एक ही है और एक ही रहेगा— चैतन्यस्वरूप में स्थिरता, वीतरागता। इसके अलावा जितनी भी क्रियायें हैं, वे चाहे शुभ हों या अशुभ, एकमात्र बंध की ही कारण हैं। इसलिये भाई! ज्ञानी-जीव का भी जितनी देर उपयोग जहाँ टिकता है, फल भी उसी के अनुसार मिलता है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि मुक्ति के साधक का उपयोग जितनी देर अपने आत्मस्वरूप में स्थिर रहता है, उतनी देर मुक्त या अबंध-दशा ही रहती है, यानि कर्मों का बंधन नहीं होता है, और जैसे ही उपयोग स्वरूप से हटता है, फिर चाहे क्रिया कैसी भी हो शुभ या अशुभ, ज्ञानी-जीव को भी कर्म का बंध

यदेतज् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनम्, शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।

अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्, ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्॥ ६॥

होता ही है। हाँ लेकिन उस बंध की स्थिति जली-जेवरी अर्थात् जली हुई रस्सी के समान बलहीन होती है, जो शीघ्र ही निर्जरित भी होता जाता है।

विशेष बात-यहाँ कवि ने स्वरूप से विस्मृत साधक को 'अंधे' की उपमा दी है। जैसे ही साधक का उपयोग अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभाव से बाहर आता है, वह अंधे के समान हो जाता है, जैसे अंधा-व्यक्ति दिखाई न देने के कारण ठोकें खाता है, वैसे ही स्वभाव से बाहर आने पर साधक कर्मकृत-क्रिया में उलझता है, और बंधन को भी प्राप्त होता है।

(सोरठा)

अंतर-दृष्टि लखाउ, निज-सरूप कौ आचरन।

ए परमात्म-भाउ, सिव-कारन येई सदा॥ 10॥

शब्दार्थ :- अंतर-दृष्टि लखाउ= स्वयं को अंतर्दृष्टि से देखना, निज-सरूप कौ आचरन= अपने स्वरूप में रमना, ए परमात्म-भाउ= यही परमात्मा का स्वभाव है, सिव-कारन येई सदा= यही सदा से मोक्ष का कारण है।

विशेषार्थ :- मोक्ष-प्राप्ति का 'अस्ति' से कथन करते हुए अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बताते हुए कविवर कहते हैं कि यदि हम संसार के दुःखों से छूटना चाहते हैं, और सच में मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, तो इसका केवल एक ही उपाय है कि स्वयं को देखो, स्वयं को जानो और स्वयं में ही रम जाओ।

वास्तव में यही परमात्मा का स्वभाव है, और यही सदा से मोक्ष का उपाय भी है। कवि ने यहाँ 'परमात्मा' शब्द में 'श्लेष-अलंकार' का प्रयोग किया है, पहला अर्थ परमात्मा यानि परम-आत्मा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ-आत्मा और दूसरा अर्थ परमात्मा यानि केवलज्ञानी-परमात्मा और दोनों का स्वभाव एक ही है। कहने का अभिप्राय यही है कि मोक्ष का एकमात्र-उपाय स्वरूप में रमना है। और इस संसार में मेरे लिये मेरी आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है, अन्य कोई नहीं, इसलिये स्व-स्वरूप की आराधना ही एकमात्र मुक्ति का सच्चा-उपाय है।

(सोरठा)

करम सुभासुभ दोइ, पुद्गल-पिंड विभाव-मल।

इनसौ मुकति न होइ, नहिं केवल-पद पाइए॥ 11॥

शब्दार्थ :- करम सुभासुभ दोइ= शुभ और अशुभ-कर्म दोनों ही, पुद्गल-पिंड विभाव-मल= पुद्गल के पिण्ड हैं, विभावरूपी मल हैं, इनसौ मुकति न होइ= इनसे मुक्ति नहीं होगी, नहिं केवल-पद पाइए= (और) न ही केवलज्ञान की प्राप्ति होगी।

विशेषार्थ :- मोक्ष-प्राप्ति का नास्ति से कथन अर्थात् किससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी, उसका वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म पुद्गल के पिण्ड हैं। कैसे? ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म तो पुद्गल के परमाणु हैं ही, परन्तु इनके निमित्त से होने वाले ये शुभ-अशुभ भाव भी पुद्गल या पर के लक्ष्य से उत्पन्न होने के कारण पुद्गल के ही हैं। और जड़ व चेतन दो भिन्न-द्रव्य हैं और दोनों में अत्यन्ताभाव होने से ये जड़कर्म चेतन-आत्मा के लिये मुक्ति के साधक कैसे हो सकते हैं?

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा। एकद्रव्य-स्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥ 7॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि। द्रव्यान्तर-स्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥ 8॥

दूसरा-कारण दोनों ही कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव हैं, कैसे? क्योंकि स्वभाव त्रिकाली होता है, कभी क्षय को प्राप्त नहीं होता। यदि ये शुभ-अशुभ भाव आत्मा का स्वभाव होते तो, सिद्ध-अवस्था में इनका क्षय नहीं होता। इसलिये सिद्ध होता है कि ये दोनों ही कर्म 'स्वभाव' नहीं 'विभाव' है। और जो मेरा नहीं वो मेरे लिये सुख का कारण कैसे हो सकता है?

तीसरा-कारण ये शुभ-अशुभ भाव-मल हैं, कैसे? लोक में भी जबतक दो वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपने स्वभाव में रहती हैं, निर्मल रहती हैं, लेकिन जैसे ही वह मिलती हैं, अपनी स्वाभाविक-निर्मलता को खो देती हैं, ठीक उसीप्रकार जबतक पुद्गल और चेतन दोनों भिन्न रहते हैं, तबतक मलिनता नहीं होती; लेकिन जैसे ही दोनों मिलते हैं, मलिनतारूप, संयोगरूप शुभ-अशुभ भावों की उत्पत्ति होती है, इसीलिये आगम में भी और यहाँ कवि ने भी इन संयोगी-भावों को 'मल' की उपमा दी है। और इन मलिन-भावों से निर्मल चैतन्य-स्वरूप की आराधना कैसे संभव हो सकती है?

इसीलिए कविवर कहते हैं कि इन शुभ-अशुभ भावों से न तो मोक्ष की प्राप्ति संभव है, और न ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष का उपाय तो एकमात्र स्व-स्वरूप की आराधना और लीनता ही है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ सिष्य कहै "स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध, सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी"?

गुरु कहै "जबलौं क्रिया के परिणाम रहै, तबलौं चपल-उपयोग जोग धरनी॥

थिरता न आवैं तोलौं सुद्ध-अनुभौ न होइ, यातैं दोऊ-क्रिया मोख-पंथ की कतरनी।

बंध की करैया दोऊ, दुहू में न भली कोऊ, बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी" ॥ 12 ॥

शब्दार्थ :- कोऊ सिष्य कहै स्वामी= कोई शिष्य कहता है "गुरुजी! असुभक्रिया असुद्ध= अशुभ-क्रिया अशुद्ध, सुभक्रिया सुद्ध= शुभ-क्रिया शुद्ध है, तुम ऐसी क्यों न वरनी= तुमने/आपने ऐसा वर्णन क्यों नहीं किया", गुरु कहै जबलौं क्रिया के परिणाम रहै= गुरुजी कहते हैं "जबतक क्रिया के परिणाम रहते हैं, तबलौं चपल-उपयोग जोग धरनी= तबतक उपयोग की चंचलता योग की कारण बनी रहती है, थिरता न आवैं तोलौं= (उपयोग की) स्थिरता नहीं आती तबतक, सुद्ध-अनुभौ न होइ= (जबतक) शुद्ध-अनुभूति नहीं होती, यातैं दोऊ-क्रिया= इसलिये दोनों क्रिया, मोख-पंथ की कतरनी= मोक्षमार्ग में कैची के समान घातक हैं, बंध की करैया दोऊ= दोनों बंध को करनेवाली हैं, दुहू में न भली कोऊ= दोनों में कोई अच्छी नहीं है, बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी= (दोनों को मोक्षमार्ग में) बाधक जानकर मैंने इन दोनों क्रियाओं का निषेध किया है"।

विशेषार्थ :- पुनः शिष्य कहता है कि गुरुजी! अशुभभाव/पाप तो बुरा था, पर भगवान् की पूजा, भक्ति, व्रत, तप आदि शुभभाव तो अच्छे थे, इनका निषेध क्यों किया? आपने अशुभ को 'अशुद्ध' और शुभ को 'शुद्ध'— ऐसा वर्णन क्यों नहीं किया?

समाधान— गुरु जी कहते हैं कि "भाई जबतक क्रिया के परिणाम रहते हैं, तब तक उपयोग की चंचलता बनी रहती है, एकाग्रता नहीं रहती।" हे आत्मन्! जबतक तुझे कुछ भी करने का भाव रहेगा, तबतक उपयोग की चंचलता बनी रहेगी। उदाहरण के लिए जैसे हमारा नियम हो कि हमें प्रतिदिन षडावश्यकों का पालन करना है, तो जबतक हमारा ये नियम पूरा नहीं हो जाता, तबतक हमें आकुलता बनी रहती है। और जिस दिन ये नियम बिना किसी बाधा के समय से पूरा हो जाता है, उस दिन हमें एक संतुष्टि का अहसास होता है। अंतर में एक खुशी की अनुभूति होती है कि आज मेरा नियम पूरा हो गया,

मोक्षहेतु-तिरोधानादु, बन्धत्वात्स्वयमेव च। मोक्षहेतु-तिरोधायि, भावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १॥

तो क्या वास्तव में वह नियम मेरे करने से पूरा हुआ ? नहीं, यदि ऐसा होता, तो प्रतिदिन मेरे हिसाब से पूरा होना चाहिए था, पर ऐसा होता नहीं है। क्यों ?

क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि सारी क्रिया तो जड़ की थी, और जड़ में ही स्वतंत्ररूप से परिणमित भी हो रही थी। मैं चेतन-आत्मा तो इन क्रियाओं का मात्र ज्ञाता था, यदि मुझे द्रव्य की ऐसी स्वतंत्रता का भान होता, तो न तो मुझे उन कार्यों को करने की आकुलता होती और न ही उन कार्यों को न कर पाने का दुःख होता। इससे सिद्ध होता है कि क्रिया भले ही शुभ हो, पर है तो वह आकुलता की जनक ही, और आकुलता में सुख कभी संभव ही नहीं है। पं. दौलतराम जी छहढाला में कहते हैं— "आकुलता शिवमाँहि न तातै, शिवमग लाग्यौ चाहिये।"

इसीलिए कविवर आगे कहते हैं कि जब तक मन-वचन-काय में एकाग्रता नहीं होती, उपयोग में भी स्थिरता नहीं आती, और जबतक उपयोग स्वरूप में एकाग्र नहीं होता; तबतक शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं होती। जैसे कैंची चाहे सोने की हो या लोहे की उसका काम काटना ही है, ठीक उसीप्रकार क्रिया चाहे शुभ हो या अशुभ, उपयोग की एकाग्रता भंग करने के कारण 'मोक्षमार्ग की कतरनी' अर्थात् बाधक ही है। साथ ही दोनों ही क्रियायें बंधनस्वरूप भी हैं, चाहे उनसे पाप का बंध हो या पुण्य का बंध, होता तो बंध ही है। दोनों में से कोई भी क्रिया भली या अच्छी नहीं है; क्योंकि जो क्रिया जीव को बंधन में निमित्त है, दुःख व आकुलता की जनक है, वह क्रिया अच्छी कैसे हो सकती है ? इसप्रकार दोनों ही क्रिया मोक्षमार्ग में बाधक होने के कारण ही मैंने क्रिया का निषेध किया है। हे आत्मन्! कुछ करने का नाम 'धर्म' नहीं है; बल्कि कुछ न करने, मात्र अपने स्वभाव के अनुरूप जाननरूप-प्रवर्तन का नाम ही 'धर्म' है, और यही मोक्ष का उपाय है।

(सवैया इकतीसा)

मुक्ति के साधक कौं बाधक करम सब, आत्मा अनादि कौ करम-माँहि लुक्यौ है।

एते पर कहै जो कि "पाप बुरौ पुन भलौ", सोई महामूढ मोखमारग-सौं चुक्यौ है॥

सम्यक्-सुभाव लिये हिये मैं प्रगट्यौ ग्यान, ऊरध उमंगि चलयौ काहूपै न रुक्यौ है।

आरसी-सौ उज्जल बनारसी कहत आपु, कारन-सरूप हैकै कारजकौ दुक्यौ है॥ 13॥

शब्दार्थ :— मुक्ति के साधक कौं बाधक करम सब= मोक्ष के पथिक को सभी करम बाधक हैं, आत्मा अनादि कौ करम-माँहि लुक्यौ है= आत्मा अनादिकाल से कर्मों के बीच ही छिपा हुआ है, एते पर कहै जो कि "पाप बुरौ पुन भलौ"= इतने पर भी जो ये कहे कि "पाप बुरा है पुण्य भला है", सोई महामूढ मोखमारग-सौं चुक्यौ है= वही महामूर्ख मोक्षमार्ग से च्युत है, सम्यक् सुभाव लिये हिये मैं प्रगट्यौ ग्यान= आत्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन होने पर हृदय में सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, ऊरध उमंगि चलयौ काहूपै न रुक्यौ है= उत्साहपूर्वक ऊपर की ओर बढ़ता है, किसी से भी नहीं रुकता है, आरसी-सौ उज्जल बनारसी कहत= (सम्यग्ज्ञान) दर्पण के समान उज्ज्वल होता है, बनारसीदास कहते हैं, आपु कारनसरूप हैकै कारज कौं दुक्यौ है= स्वयं कारणस्वरूप होकर कार्यरूप परिणमित होता है।

विशेषार्थ :— शिष्य की शंका का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कविवर कहते हैं कि मुक्ति के साधक अर्थात् मोक्षमार्ग के पथिक के लिये सभी कर्म बाधक ही हैं, फिर चाहे वे शुभ हों या अशुभ।

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।

सम्यक्त्वादि-निजस्वभाव भवान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्-नैष्कर्म्य-प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥ 10॥

यह जीव अनादिकाल से कर्मों के बीच ही छिपा हुआ है, अर्थात् अनादिकाल से यह जीव आठ-कर्मों के साथ ही है, परन्तु न तो जीव आज तक सुखी हुआ और न ही बंधन से मुक्त हुआ। यदि कर्म करते हुये जीव सुखी और मुक्त होता, तो आज संसार में कोई भी जीव दुःखी नहीं होता, सभी सुखी होते, पर ऐसा दिखाई नहीं देता।

इतने पर भी यदि कोई ये कहे कि "पाप बुरा है और पुण्य भला है", तो उससे बड़ा मूर्ख इस दुनिया में कोई और नहीं; क्योंकि पुण्य हो या पाप, हैं तो दोनों कर्म ही न? जो जीव पुण्य/शुभभावों को भला मानकर पुण्य में ही संतुष्ट हो गया, वह जीव कभी सच्चे-सुख या मोक्षमार्ग पर चलने का पुरुषार्थ ही नहीं करेगा, क्योंकि 'आवश्यकता ही तो आविष्कार की जननी होती है', अर्थात् जिसको सच्चे-सुख की चाहत ही नहीं, वह सुखी होने का पुरुषार्थ क्यों करेगा? इसलिए कवि ने ऐसे जीव को 'महामूर्ख' की उपमा दी है, क्योंकि वह जीव मोक्षमार्ग से चूका हुआ है, यानि कोसों दूर है।

जिस जीव को आत्मस्वरूप की सम्यक्-अनुभूति होती है, उसी के हृदय में सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ऐसा जीव हृदय में उमंग धारणकर अर्थात् अति-उत्साह से मोक्ष के मार्ग की ओर निरन्तर अग्रसर होता है, फिर वह किसी के रोकने से नहीं रुकता।

बनारसीदास जी कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान दर्पण के समान निर्मल होता है, उसकी निर्मलता में स्वयं आत्मा कारण-स्वरूप होकर कार्य-रूप परिणमित होता है अर्थात् जीव स्वयं अपने स्वरूप में स्थिरतापूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करते हुये सिद्धपद को प्राप्त करता है, कहने का अभिप्राय कि कारण-परमात्मा ही स्वयं कार्य-परमात्मा के रूप में विराजमान होता है।

(सवैया इकतीसा)

जौलौं अष्टकर्म कौ विनास नांही सरवथा, तौलौं अंतरातमा धारा दोइ बरनी।

एक ग्यानधारा एक सुभासुभ-कर्मधारा, दुहूँ की प्रकृति न्यारी-न्यारी धरनी॥

इतनौ विसेस जु कर्मधारा बंधरूप, पराधीन-सकति विविध-बंध करनी।

ग्यानधारा मोखरूप मोख की करनहार, दोख की हरनहार भौ-समुद्र-तरनी॥ 14॥

शब्दार्थ :- जौलौं अष्टकर्म कौ विनास नांही सरवथा= जबतक आठों-कर्मों का पूरीतरह से क्षय नहीं होता, तौलौं अंतरातमा धारा दोइ बरनी= तबतक अंतरात्मा में दोनों धारायें वर्तती है, एक ग्यानधारा= एक ज्ञानधारा, एक सुभासुभ-कर्मधारा= एक शुभ और अशुभ-कर्मधारा, दुहूँ की प्रकृति न्यारी-न्यारी धरनी= दोनों की प्रकृति भी अलग-अलग है, सत्ता भी अलग-अलग, इतनौ विसेस जु कर्मधारा बंधरूप= इतना विशेष है, जो कर्मधारा है, वह बंधनरूप है, पराधीन-सकति विविध-बंध करनी= आत्मशक्ति को पराधीन करनेवाली है, और अनेकप्रकार के कर्मबंध करनेवाली है, ग्यानधारा मोखरूप मोख की करनहार= ज्ञानधारा मोक्षस्वरूप है, और मोक्ष को प्रकट करनेवाली है, दोख की हरनहार भौ-समुद्र-तरनी= दोष/दुःख को हरनेवाली है, भव-समुद्र से पार करानेवाली है।

विशेषार्थ :- उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने "क्षीर-नीरवत्" अर्थात् दूध का दूध और पानी का पानी जैसा सटीक-विवेचन किया है। शिष्य की जिज्ञासा थी कि ज्ञानियों को कर्मबंध होता है या नहीं, वास्तव में देखा जाये तो ज्ञानियों के जीवन में शुभ-भावों की प्रकटता देखकर ये सवाल हम संसारी-जीवों के

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा, कर्म-ज्ञान-समुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।

किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय तन्, मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ 11॥

मन में भी रहता है, और हमारे इस सवाल का सटीक-समाधान करते हुये कविवर कहते हैं कि "जबतक आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह-स्थित ज्ञानावरणादि आठों-कर्म समूलरूप से या पूरीतरह से क्षय नहीं हो जाते, तबतक अंतरात्मा या सम्यग्दृष्टि-जीव के अंतरंग में दोनोंप्रकार की धारायें वर्तती है, एक ज्ञानधारा यानि आत्मानुभूति/आत्मस्वरूप में स्थिरता से स्वभावरूप-प्रवर्तन, और दूसरी कर्मधारा अर्थात् स्वरूप में अस्थिरता से शुभ-अशुभ-विभावरूप-प्रवर्तन।"

लेकिन दोनों ही धाराओं की प्रकृति/स्वभाव, और सत्ता/स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। इन दोनों की विशेषता यह है कि जो कर्मधारा है वह बंधरूप है, अर्थात् जितनी देर साधक जीव स्वरूप से बाहर शुभ-अशुभ भावों में प्रवर्तन करता है, उतनी देर उसको भी कर्म का बंध होता है, उतनी देर आत्मशक्ति पराधीन यानि कर्मों के आधीन होती है, और तत्समय के भावों की योग्यतानुसार अनेकप्रकार का बंध भी होता है।

जबकि दूसरी ओर जो ज्ञानधारा है, वह स्वयं मोक्ष-स्वरूप है, और मोक्ष को ही प्रकट करनेवाली है, समस्त-दोषों को दूर करनेवाली है, और अथाह-अपार भवसमुद्र से पार करानेवाली है। कहने का अभिप्राय यही है कि ज्ञानियों को भी जितने अंश वीतरागता या स्वरूप में स्थिरता, उतनी निर्बंधता, और जितनी स्वरूप में अस्थिरता, उतना बंध भी होता है।

इस प्रकरण में पाँचों-पाण्डवों का उदाहरण एकदम सटीक है। कैसे? पाँचों-पाण्डव स्वरूप की साधना में लीन थे, जब दुर्योधन के कहने पर उनको तप्त-लोहे के आभूषण पहनाये गये, तब युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो 'ज्ञानधारा' में प्रवर्तित रहे, और फलस्वरूप तत्काल मुक्ति को प्राप्त हुये, जबकि नकुल और सहदेव शुभभावरूप- 'कर्मधारा' में प्रवर्तित हुये और फलस्वरूप तैंतीस-सागर के लिये सर्वार्थसिद्धि रूप देवगति की सांसारिक-अवस्था मिली यानि कर्मधारा के एक परिणाम के फल ने मुक्ति को सागरों पर्यन्त दूर कर दिया।

हे आत्मन्! कर्मधारा चाहे शुभ ही क्यों न हो, बंधन का ही कारण है, मुक्ति का नहीं, जबकि ज्ञानधारा यानि वीतरागता प्रतिसमय मोक्ष का कारण ही नहीं, मोक्षस्वरूप भी है।

(सवैया इकतीसा)

समुझैं न ग्यान, कहैं "करम कियेसौं मोख", ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहलमैं।

ग्यान-पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा, बरतैं सुछंद तेऊ बूढ़े हैं चहलमैं॥

जथा-जोग करम-करैं पै ममता न धरैं, रहैं सावधान ग्यान-ध्यान की टहलमैं।

तेई भवसागर के ऊपर हैं तरैं जीव, जिन्हिकौं निवास स्यादवाद-महल में॥ 15॥

शब्दार्थ :- समुझैं न ग्यान कहैं "करम कियेसौं मोख"= जो ज्ञान को तो समझते नहीं और कहते हैं कि कर्म करने से ही मोक्ष हो जायेगा, ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहल में= ऐसे जीव मिथ्यात्व के पागलपन में व्याकुल हैं, ग्यान-पच्छ गहैं= ज्ञान-पक्ष को ग्रहण करें, कहैं "आतमा अबंध सदा"= कहते हैं कि "आत्मा हमेशा अबंध ही है" (ऐसा मानकर), बरतैं सुछंद तेऊ बूढ़े हैं चहलमैं= स्वच्छंद-प्रवर्तन करते हैं, वे भी संसार की कीचड़ में ही डूबे हैं, जथाजोग-करम करैं= यथायोग्य/भूमिकानुसार-कर्म/कार्य करते हैं, पै ममता न धरैं= परन्तु ममता नहीं रखते, रहैं सावधान= सावधान रहते हैं, ग्यान-ध्यान की टहलमैं= ज्ञान और ध्यान की सेवा में, तेई भवसागर के= वे ही संसार समुद्र से, ऊपर हैं तरैं जीव= ऊपर हैं और तिरने में समर्थ हैं, जिन्हिकौं निवास स्यादवाद-महलमैं= जिनका/उन्हीं का निवास/ठिकाना स्याद्वादरूपी महल में है।

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये, मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयम्, ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च॥ 12॥

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने ज्ञानी और अज्ञानी की विचारधारा का सटीक-विवेचन किया है। पहले संसारी-जीव की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं "संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, उन-जीवों की परिणति भी भिन्न-भिन्न है। बहुत से जीव ऐसे हैं जो मात्र कर्मकांड में ही उलझे हुये हैं, उनको ज्ञान-पक्ष अर्थात् स्वरूप का तो भान नहीं है, और जप-तप, पूजा-पाठ, दया-दानादिक यहाँ तक कि दिगम्बर-भेष धारण करके मंद-कषाय के परिणाम से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं"। कवि कहते हैं कि" ऐसे जीव घोर-मिथ्यादृष्टि हैं, पागल के समान हैं"। जैसे पागल-व्यक्ति को "मैं कौन हूँ?"— इसकी तो खबर है नहीं, और लोग जैसा कहते हैं, वह वैसा ही करने लगता है, या देखादेखी कुछ भी करता है। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव की स्थिति भी पागल के समान ही है, उसे भी "मैं कौन हूँ"? इसकी तो खबर नहीं है, जैसे संयोग मिलते हैं, वह जीव वैसा ही प्रवर्तन करने लगता है।

दूसरी-धारा में वे जीव हैं, जो मात्र ज्ञान-पक्ष को ही पकड़कर बैठे हैं, जो आत्मा को सांख्यमत की तरह अबंध-स्वरूप ही मानते हैं, यानि वे जीव जो व्रत, तप, नियम, संयम तो दूर सामान्य-सदाचार का भी पालन नहीं करते; क्योंकि वे ये मानते हैं कि आत्मा को तो बंध कभी होता ही नहीं, ये तो जड़ की क्रिया है, अपनी योग्यतानुसार जड़ में हो रही है, मैं इसको करनेवाला नहीं हूँ, इसलिये कुछ भी करो कैसे भी करो, कोई बंध या फल नहीं मिलता। यहाँ तक कि आगम और अध्यात्म के अच्छे अभ्यासी भी हैं, परन्तु निश्चयाभासी, स्वच्छंदी होकर मनमाना-प्रवर्तन करते हैं, कविवर कहते हैं ऐसे जीव भी संसार की चहल यानि कीचड़ में ही डूबे हुए हैं।

तीसरी-धारा में वे जीव हैं, जो यथायोग्य-भूमिकानुसार क्रिया करते हैं, अर्थात् यथायोग्य भूमिकानुसार स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ होने से बाहर में व्रतादिक की क्रिया जिनके सहज पलती है, पालनी नहीं पड़ती। यहाँ तक कि मुनिराज को यदि ये विकल्प भी आ जाये कि "मैं महाव्रतों का पालन करता हूँ", तो शरीर की यानि जड़ की क्रिया का स्वामी बनने से उनका गुणस्थान गिर जायेगा, इसलिए ज्ञानी-जीव ममता धारण नहीं करते अर्थात् कर्म की क्रिया से सहज भेदज्ञान करते हुये स्वयं को शुद्ध चैतन्य-स्वरूप अनुभव करते हैं। जो निरन्तर ज्ञान यानि भेदज्ञान, और ध्यान यानि स्वरूप में स्थिरता में सावधान रहते हैं, हे आत्मन्! वे ही जीव इस संसाररूपी समुद्र को पार करने में समर्थ हैं, और उन्हीं जीवों का निवास स्याद्वादरूपी महल में होता है, अर्थात् वे ही जीव मुक्तिरमा को वरण करके चैतन्य-महल में निवास करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं मतवारौ कोऊ कहै और करै और, तैसे मूढ़-प्राणी विपरीतता धरतु है।

असुभ-कर्म बंध-कारन बखानै मानै, मुक्ति के हेतु सुभ-रीति आचरतु है॥

अंतर-सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई, ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है।

करनीसौं भिन्न रहै आत्म-सुरूप गहै, अनुभौ अरंभि रस-कौतुक करतु है॥ 16॥

शब्दार्थ :- जैसैं मतवारौ कोऊ= जैसे कोई मतवाला-व्यक्ति, कहै और करै और= कहता कुछ और है, और करता कुछ और है, तैसे मूढ़-प्राणी= वैसे ही अज्ञानी-प्राणी, विपरीतता धरतु है= विपरीतता को धारण करता है, असुभ-कर्म= अशुभ-कर्मों को, बंध-कारन बखानै मानै= बंध का कारण कहता और मानता है, मुक्ति के हेतु सुभ-रीति आचरतु है= (लेकिन) मुक्ति को प्राप्त करने के लिए, सुभ-रीति आचरतु है= शुभाचरण

भेदोन्मादं भ्रमरस-भरान्नाटयत्पीतमोहं, मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्द्धमारब्धकेलि, ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्ज्वल्य भरेण॥ 13॥

को बुद्धिपूर्वक करता है, अंतर-सुदृष्टि भई= अंतरंग में दृष्टि सम्यक् होने से, मूढ़ता बिखर गई= मूर्खता बिखर गई/नष्ट हो गई है, ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है= ज्ञान का प्रकाश भ्रमरूपी-अंधकार विनाश करता है, करनीसौं भिन्न रहै आत्म-सरूप गहै= कर्तृत्वभाव से भिन्न रहता है, आत्मस्वरूप को ग्रहण करता है, अनुभौ अरंभि= अनुभव को आरंभकर, रस-कौतुक करतु है= आत्मरस में आनंद करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने अज्ञानी और ज्ञानी-पुरुषों की क्रिया का वर्णन किया है। कवि ने अज्ञानी-जीव की तुलना मतवाले/शराबी-व्यक्ति से की है। जैसे किसी मदिरा पीनेवाले व्यक्ति के मदिरा पीने के बाद उसकी कथनी और करनी में अंतर आता है, उसे कुछ होश नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है, और क्या कर रहा है? ठीक उसीप्रकार अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव ने भी अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा पी रखी है, जिससे इसे वस्तु-स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान न होकर विपरीत श्रद्धान ही रहता है। ऐसा जीव अशुभ-भावों या पाप को तो बंध का कारण मानता है; पर शुभ-भावों को या पुण्य को मुक्ति का कारण मानकर उत्साह से बुद्धि-पूर्वक तदनुरूप-आचरण भी करता है।

लेकिन जब होनहार अच्छी हो तब तत्त्वाभ्यास का सुयोग भी मिलता है। जब अज्ञानी-जीव को वस्तु का सही-स्वरूप समझ में आता है, तब अंतरंग में आत्मस्वरूप का सच्चा-श्रद्धान होने पर विपरीत-दृष्टि भी सम्यक् हो जाती है। जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर अंधकार को भगाने के लिये पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, बल्कि वह स्वयं भाग जाता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान का प्रकाश या दृष्टि सम्यक् होने पर सारी मूढ़ता या अज्ञानता स्वयं ही बिखर जाती है अर्थात् दूर हो जाती है, फिर मूढ़ता को भगाने का पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है। फिर उस ज्ञान के 'सम्यक्'-प्रकाश में जीव कर्तृत्व-बुद्धि से रहित अपने आत्मस्वरूप को ग्रहण करता है, और आत्मानुभूति करते हुये आत्मिक-आनंद का रसास्वादन करता है।

निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं "पाप की अपेक्षा भले ही पुण्य को अच्छा कहा जाता हो, पर मोक्ष और मोक्षमार्ग की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों समान ही है। दोनों ही बंध के कारण हैं, दोनों ही मोक्षमार्ग में बाधक हैं। हे आत्मन्! पाप यदि कड़वा जहर है, तो पुण्य मीठा जहर। लेकिन जहर तो जिंदगी का घातक ही है, रक्षक तो नहीं। अग्नि चाहे शीशम की हो या चंदन की, दोनों का काम जलाना ही है।" इसी बात को 'आचार्य योगीन्द्रदेव' इसप्रकार कहते हैं—

"जह लोहम्मियं णियडं, बुह तह सुण्णम्मियं जाणि।

जे सुहु-असुह परिच्चयहिं, ते वि हवन्ति हु णाणि॥ —(योगसार जी, दोहा नं 72)

अर्थात् हे पंडित! जैसे लोहे की साँकल को तू साँकल समझता है, उसीप्रकार सोने की साँकल को भी तू साँकल अर्थात् बंधन ही समझ। जो शुभ और अशुभ दोनों ही भावों का परित्याग करते हैं, निश्चय से वे ही ज्ञानी होते हैं।

हे आत्मन्! तीर्थंकर-प्रकृति पुण्य-प्रकृतियों में सबसे उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति है, लेकिन ये भी मोक्ष-मार्ग में बाधक ही हैं, क्योंकि जबतक तीर्थंकर-प्रकृति का उदय चल रहा है, तबतक तीर्थंकर-परमात्मा भी मोक्ष नहीं जा सकते, उनके लिये वह पुण्य-प्रकृति भी एक बेड़ी के समान है।

इसलिये निष्कर्ष यही है कि हम सभी जीव पाप-क्रियाओं से तो पुरुषार्थपूर्वक विरक्त होवें, लेकिन पुण्य भी भव-भ्रमण का ही कारण है इसलिये हेय है, छोड़ने योग्य ही है, — ऐसा विवेक रखते हुये इन दोनों से भिन्न आत्मानुभूति के मार्ग पर अग्रसर हों यही 'नाटक समयसार' जी के इस अधिकार का अमृत-संदेश है।



(पंचम-अधिकार)

आस्रव-द्वार

(दोहा)

पाप-पुन की एकता, वरनी अगम-अनूप।

अब आस्रव-अधिकार कछु, कहौ अध्यात्मरूप॥ 1॥

शब्दार्थ :- पाप-पुन की एकता= पाप और पुण्य की समानता का, वरनी अगम-अनूप= गहन, उपमारहित वर्णन किया, अब आस्रव-अधिकार= अब आस्रव-अधिकार के, कछु कहौ अध्यात्मरूप= आध्यात्मिकरूप के बारे में कुछ कहता हूँ।

विशेषार्थ :- पिछले-अधिकार में पाप-पुण्य की समानता का गहन और अनुपम-वर्णन करने के बाद कविवर बनारसीदास जी कहते हैं "अब आस्रव-अधिकार का कुछ आध्यात्मिकरूप से वर्णन करता हूँ।"

(सवैया इकतीसा)

जेते जगवासी-जीव थावर-जंगमरूप, तेते निज-बस करि राखे बल-तोरिकैं।

महाअभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध-जोधा, रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ-मोरिकैं॥

आयौ तिहि-थानक अचानक परम-धाम, ग्यान-नाम सुभट सवायौ-बल फोरिकैं।

आस्रव-पछारयौ रन-थंभ तोरि डारयौ ताहि, निरखि बनारसी नमत कर-जोरिकैं॥ 2॥

शब्दार्थ :- जेते जगवासी-जीव थावर-जंगमरूप= जगत् के जितने भी स्थावर और दो-इन्द्रिय आदि त्रस-जीव हैं, तेते निज-बस करि राखे बल-तोरिकैं= उन सभी को बलहीन करके अपने वश में कर रखा है, महा-अभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध-जोधा= महा-घमंडी ऐसा आस्रव नामक शूरवीर-योधा, रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ मोरिकैं= युद्ध का खंभा रोपकर मूछें मरोड़कर खड़ा हुआ है, आयौ तिहि-थानक अचानक परमधाम= अचानक उस स्थान पर आया परमशक्ति-सम्पन्न, ग्यान-नाम सुभट सवायौ-बल फोरिकैं= ज्ञान नाम का महान् योद्धा आस्रव से अधिक बलशाली होकर, आस्रव पछारयौ= आस्रव को पराजित कर, रन-थंभ तोरि डारयौ= युद्ध का खंभा तोड़ दिया है, ताहि निरखि बनारसी नमत कर-जोरिकैं= उसे देखकर बनारसी हाथ जोड़कर वंदन करता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आस्रव की हार और सम्यग्ज्ञान की जीत का वर्णन बहुत सुंदरता से चित्रित किया है। युद्ध-स्थल पर संसार के मोह-जाल में फँसे समस्त त्रस और स्थावर-जीव तथा आस्रवरूपी-योद्धा मौजूद है, और इस अनंत-बलशाली आस्रवरूपी-योद्धा ने सभी जीवों को बलहीन करके अपने वश में कर रखा है। अभिमान से सराबोर इस आस्रवरूपी-योद्धा ने युद्ध-स्थल पर मूछों पर ताव देकर रन-थंभ यानि युद्ध का झंडा गाढ़कर अपनी जीत का शंखनाद किया है।

लेकिन तभी अचानक वहाँ आस्रवरूपी-योद्धा से सवाया यानि अधिक बलशाली ज्ञानरूपी सुभट-राजा प्रवेश करता है। उसने आस्रवरूपी-योद्धा को परास्त किया और रन-थंभ उखाड़कर फेंक दिया। ऐसे ज्ञान यानि 'सम्यग्ज्ञान' को बनारसीदास हाथ जोड़कर सविनय-वंदन करता है।

अथ महामद-निर्भर-मन्थरं समर-रङ्ग-परागतमास्रवं।

अयमुदार-गभीर-महोदयो जयति दुर्जय-बोध-धनुर्धरः॥ 1॥

कहने का अभिप्राय यही "है कि हे आत्मन्! आस्रव कितना भी बलशाली क्यों न हो, वर्तमान में भी यदि हमारा ज्ञानरूपी विवेक जागृत हो, तो हम आस्रव को तत्क्षण ही परास्त कर सकते हैं।" आस्रव यानि पूर्वबद्ध कर्मों का उदय में आकर जीव को विकारित करना। जिसकी उदयाधीन-व्यवस्था को पलटना हमारे वश में नहीं है, पर यदि इनके उदय के समय हमारा ज्ञान या भेदज्ञानरूपी विवेक जागृत है, अर्थात् "मैं इन भावों से भिन्न शुद्ध-चेतन-तत्त्व हूँ"— ऐसा चिंतन प्रतिक्षण चलता है, तो ये आस्रव वर्तमान में भी हमें पराजित नहीं कर सकेगा और भविष्य के लिये पुनः कर्मबंधन से भी हमें मुक्ति मिलेगी— भेदज्ञान ही महामंत्र है, मोह तिमिर-क्षयकार।

(सवैया तेईसा)

दर्वित-आस्रव सो कहिए जहँ, पुगल-जीवप्रदेस-गरासै।

भावित-आस्रव सो कहिए जहं, राग-विरोध-विमोह विकासै॥

सम्यक्-पद्धति सो कहिए जहँ, दर्वित-भावित-आस्रव नासै।

ग्यान-कला प्रगटै तिहि थानक, अंतर-बाहिर और न भासै॥ 3॥

शब्दार्थ :— दर्वित-आस्रव सो कहिए= द्रव्यास्रव उसे कहते हैं, जहँ पुगल जीवप्रदेस गरासै= जहाँ पुद्गल जीव के प्रदेश को घेर लेता है, भावित-आस्रव सो कहिए= भावास्रव उसे कहते हैं, जहँ राग-विरोध-विमोह विकासै= जहाँ राग, विरोध, विमोह का विकास हो, सम्यक्-पद्धति सो कहिए= सच्ची-प्रक्रिया वही कही जाती है, जहं दर्वित-भावित-आस्रव नासै= जहाँ द्रव्यास्रव, भावास्रव दोनों का विनाश होता है, ग्यानकला प्रगटै तिहि थानक= उसी जीव के ज्ञानकला प्रगट होती है, अंतर-बाहिर और न भासै= (जिसे) अंतरंग और बहिरंग में ज्ञान के अलावा कुछ और भासित नहीं होता है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने 'द्रव्यास्रव' और 'भावास्रव' के स्वरूप का वर्णन किया है। आस्रव अर्थात् कर्मों का आना। कैसे? अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर, मन-वचन-काय के निमित्त से जो पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है, उससे जो शुभ-अशुभ प्रवृत्ति होती है, वो 'भाव-आस्रव' है। अर्थात् मोह-राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति 'भावास्रव' है, और उसके निमित्त से लोक में ठसाठस भरी हुई पुद्गल-वर्गणायें आकर्षित होकर जीव के प्रदेशों के साथ बंधती हैं, वह 'द्रव्यास्रव' है।

जैसे घर का दरवाजा खोलने पर हवा के साथ धूल-मिट्टी के कण भी अंदर आते हैं; ठीक उसीप्रकार जब-जब उपयोग जाननहार-स्वभाव को छोड़कर पर-सन्मुख होता है, तब-तब मोह-राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती है; यही 'भावास्रव' है। और इसके निमित्त से कर्म-परमाणुओं का जीव के सन्मुख आना 'द्रव्यास्रव' है।

सम्यक्-पद्धति अर्थात् सच्ची-रीति तो यह है कि आत्मा में तो न द्रव्यास्रव होता है, न भावास्रव, अर्थात् दोनों का ही अस्तित्व आत्मा में नहीं है, आत्मा तो मात्र जाननहार-स्वभावी ही है। जिसको ये ज्ञान-कला प्रगट होती है, उसे अंतर-बाहिर ज्ञान के अलावा कुछ और दिखाई नहीं देता, यानि वह मात्र जाननहार-रूप ही प्रवर्तन करता है।

(चौपाई)

जो दरवास्रव-रूप न होई, जहँ भावास्रव-भाव न होई।

जाकी दसा ग्यानमय लहिए, सो ग्यातार निरास्रव कहिए॥ 4॥

भावो राग-द्वेष-मोहैर्विना यो स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव। रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्त्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥ 2॥

शब्दार्थ :— जो दरवास्त्रव-रूप न होई= जो द्रव्यास्त्रव-रूप नहीं होता, जहं भावास्त्रव भाव न होई= जहाँ भावास्त्रवरूप भाव भी नहीं होते, जाकी दसा ग्यानमय लहिए= जिसकी स्थिति ज्ञानमय ही रहती है, सो ग्यातार निरास्त्रव कहिए= वह ज्ञानी आस्त्रव-रहित कहलाता है।

विशेषार्थ :— ज्ञानी-जीव निरास्त्रवी कैसे रहते हैं? इसका वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि ज्ञानी-जीव के द्रव्यास्त्रव और भावास्त्रव— दोनों ही नहीं होते; क्योंकि उनका उपयोग अपने ज्ञायक-स्वभाव पर रहता है। अर्थात् वे अपने को मात्र जाननहार ही अनुभव करते हैं। ज्ञानीजन विचार करते हैं कि "मैं इन कर्मों से पृथक् शुद्ध चेतन-तत्त्व हूँ, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला हूँ; ये शुभ-अशुभ परिणाम मेरे नहीं हैं; इनसे मेरा कुछ हित-अहित नहीं हो सकता"— इसप्रकार विचार करने पर बाहर में कर्म का आस्त्रव भले ही हो; पर ज्ञानी-जीव दुःखी नहीं होते, इस अपेक्षा से ज्ञानी-जीवों को 'निरास्त्रवी' कहा गया है।

(सवैया इकतीसा)

जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि-पूरवक, तिह परिनामन की ममता हरतु है।
मनसौं अगोचर अबुद्धि-पूरवक-भाव, तिनके विनासिवे कौं उद्यम धरतु है॥
याही भाँति पर-परिनति कौ पतन करै, मोख को जतन करै भौ-जल तरतु है।
ऐसे ग्यानवंत ते निरास्त्रव कहावैं सदा, जिन्हिकौ सुजस सुविचच्छन करतु है॥ 5॥

शब्दार्थ :— जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि-पूरवक= जितने मन के द्वारा बुद्धिपूर्वक जानने योग्य हैं, तिह परिनामन की ममता हरतु है= उन परिणामों की ममता को हरता है, मनसौं अगोचर अबुद्धि-पूरवक-भाव= मन के द्वारा नहीं जानने योग्य अबुद्धि-पूर्वक होने वाले भाव, तिनके विनासिवे कौं उद्यम धरतु है= उनके नष्ट करने का पुरुषार्थ करता है, याही भाँति पर-परिनति कौ पतन करै= इसप्रकार पर की परिणति को नष्ट करते हैं, मोख को जतन करै भौ-जल तरतु है= मोक्ष का उपाय करते हैं, संसार सागर से तिरते हैं, ऐसे ग्यानवंत ते निरास्त्रव कहावैं सदा= ऐसे ज्ञानीजन हमेशा निरास्त्रवी कहलाते हैं, जिन्हिकौ सुजस सुविचच्छन करतु है= उन्हीं का सुयश/गुणगान समस्त विद्वज्जन करते हैं।

विशेषार्थ :— ज्ञानीजन कर्मास्त्रव से कैसे बचते हैं?— इसका मार्मिक-वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं मनगोचर यानि जिनको इन्द्रियों और मन से जाना जा सके, प्रगट यानि जो इन्द्रिय-विषय प्रत्यक्ष द्रष्टव्य हैं, बुद्धिपूर्वक यानि जानबूझकर की जानेवाली सांसारिक-क्रियायें और परिणाम— इनसे ममत्व-बुद्धि या अपनेपन का त्याग करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जिन इन्द्रिय-विषयों, दृश्यों, परिस्थितियों के निकट जाने पर अपने परिणाम मलिन हों, विकारित हों, उनसे सदैव अपने को दूर रखते हैं और जिन संयोगों की निकटता से परिणाम आकुलित हों, उनके प्रति ममत्व नहीं रखते।

मन से जैसे भूतकाल में भोगे गये भोगों को स्मरण करके वर्तमान में विकार उत्पन्न होना, या भविष्य में क्या होगा ऐसा सोचकर वर्तमान में आकुलित होना— ऐसे परिणाम उत्पन्न ही न हों, इसका पुरुषार्थ करना अर्थात् अपने उपयोग को अधिक से अधिक स्वाध्याय और आत्मचिंतन में व्यस्त रखना, जिससे उपयोग पर-सन्मुख ही न हो।

भावास्त्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्त्रवेभ्यः स्वत एवं भिन्नः।

ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्त्रवो ज्ञायक एक एव॥ 3॥

सनस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम्, वारंवारमबुद्धिपूर्वमनिशं तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।

उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-न्नात्मानित्य-निरास्त्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥4॥

इसप्रकार ज्ञानीजन पर-परिणति अर्थात् पर के लक्ष्य से होने वाले परिणाम या कहें उपयोग पर-सन्मुख होने पर जो मोह-राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न होते हैं, उसके पतन का या विनाश का उपाय करते हैं। और भौ-जल अर्थात् संसाररूपी-समुद्र को पार करने अर्थात् मोक्षमार्ग पर चलने का सम्यक्-पुरुषार्थ करते हैं, और अपने स्वरूप में अधिकाधिक-स्थिरता का प्रयास करते हैं, जिससे शीघ्रतिशीघ्र इस जन्म-मरण की व्याधि से छुटकारा मिले।

ऐसे ज्ञानीजीव कर्माश्रव का सद्भाव होते हुये भी निराश्रवी या आश्रव-रहित कहे जाते हैं, क्योंकि कर्म का आश्रव उनके परिणामों को मलिन और आकुलित नहीं करता। ऐसे ज्ञानियों का सुजस या गुणगान विद्वतजन् हर्ष और बहुमानपूर्वक करते हैं।

वास्तव में देखा जाये, तो जो कर्माश्रव से बचने की प्रक्रिया ज्ञानियों के लिए वर्णित की है, यदि हम संसारी मिथ्यादृष्टि-जीव भी इन विषय-कषाय के प्रसंगों से, पापवर्धक-क्रियाओं से, उन परिस्थितियों से जिनसे मेरे परिणाम मलिन, विकृत हों, पुनः तीव्र कर्म-बंधन में निमित्त हो; उनसे स्वयं को बचाने का पुरुषार्थ करें, तब निश्चित ही हम वर्तमान में कर्मों के तीव्र आश्रव से होनेवाली आकुलता से और पुनः होनेवाले कर्म-बंधन से कुछ सीमा तक बच सकते हैं। इसीप्रकार यदि देह और देहादिक-संयोगों से निरन्तर तत्त्वाभ्यास-पूर्वक भेदज्ञान चले, तो कर्माश्रव-जनित आकुलता में साम्यभाव रखने के पुरुषार्थ को भी संबल प्राप्त होता है।

(सवैया तेईसा)

ज्यों जग में विचरै मतिमंद, सुछंद सदा वरतै बुध तैसो।

चंचल-चित्त असंजित-वैन, सरीर-सनेह जथावत् जैसो॥

भोग-संजोग परिग्रह-संग्रह, मोह-विलास करै जहँ ऐसो।

पूछत सिष्य आचारजसौं यह, सम्यकवंत निराश्रव कैसो॥ 6॥

शब्दार्थ :— ज्यों जग में विचरै मतिमंद= जिसप्रकार बुद्धिहीन/ मिथ्यादृष्टि-जीव जगत् में विचरण करता है, सुछंद सदा वरतै बुध तैसो= उसीप्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि-जीव भी जगत् में स्वच्छंद/स्वाधीन होकर विचरण करता है, चंचल-चित्त असंजित-वैन= चित्त की चंचलता, असंयत-वचन, सरीर-सनेह जथावत् जैसो= शरीर से स्नेह सब एक जैसा, भोग-संजोग परिग्रह-संग्रह= भोग और संयोग, परिग्रह-संग्रह की वृत्ति, मोह-विलास करै जहँ ऐसो= मोह का विकास, सब एक जैसा ही करता है, पूछत सिष्य आचारजसौं= शिष्य आचार्य/गुरुजी से पूछता है, यह सम्यकवंत निराश्रव कैसो= (फिर) यह सम्यग्दृष्टि-जीव निराश्रव कैसे?

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने 'सम्यग्दृष्टि जीव को निराश्रवी कहा'— यह बात शिष्य के गले नहीं उतरी, तब शिष्य ने गुरु के समक्ष जो भावना व्यक्त की, उसका वर्णन कवि ने इस छंद में किया है।

शिष्य कहता है कि "गुरुजी! मिथ्यादृष्टि-जीव और सम्यग्दृष्टि-जीव में बाहर में तो सब कुछ तो समान है, जैसे एक मिथ्यादृष्टि-जीव जगत् में विचरण करता है, यानि अपनी स्वेच्छा से खाता-पीता, पहनता-ओढ़ता है, सम्यग्दृष्टि-जीव भी उसीप्रकार जगत् में विचरण करता है। जैसी चित्त की चंचलता, बोलचाल, शरीर के प्रति स्नेह या शरीर को सजाने-संवारने की प्रवृत्ति, कहने का अभिप्राय कि मन-वचन-काय की जैसी प्रवृत्ति जगत् में मिथ्यादृष्टि-जीव की दिखाई देती है, लगभग वैसी ही प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टि-जीव की भी रहती है।

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्य-प्रत्यय-संततौ। कुतो निराश्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥ 5 ॥

एक मिथ्यादृष्टि-जीव जैसे इन्द्रिय-विषयों को भोगते हुये दिखाई देता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भी भोगों में प्रवृत्त दिखाई देता है। माता-पिता, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के जैसे संयोग मिथ्यादृष्टि-जीव के दिखाई देते हैं, वैसे ही संयोग सम्यग्दृष्टि-जीव के भी दिखाई देते हैं। सोना-चाँदी, धन-धान्य, नौकर-चाकर आदि परिग्रह जोड़ने की प्रवृत्ति जैसी मिथ्यादृष्टि-जीव में देखी जाती है, वैसी ही संग्रह-वृत्ति सम्यग्दृष्टि-जीव में भी देखी जाती है। मोह का विकास यानि अपने से जुड़े संयोगों से जैसी मोह-बुद्धि मिथ्यादृष्टि-जीव में दिखती है, वैसी ही सम्यग्दृष्टि-जीव में भी दिखती है। अर्थात् अपने परिवार का भरण-पोषण, व्यापार-धंधा जैसा एक मिथ्यादृष्टि-जीव करता है, वैसा ही एक सम्यग्दृष्टि-जीव भी करता है। जब सब कुछ समान है, तो फिर मिथ्यादृष्टि-जीव 'आस्रव-सहित' और सम्यग्दृष्टि-जीव 'निरास्रवी' या 'आस्रव-रहित' ऐसा कैसे कहा गया है?"

(सवैया इकतीसा)

पूरब-अवस्था जे करम-बंध कीने अब, तेई उदै आइ नाना-भाँति रस देत हैं।
केई सुभ-साता केई असुभ-असातारूप, दुहूसौं न राग न विरोध सम-चेत हैं॥
जथाजोग-क्रिया करै, फल की न इच्छा धरै, जीवन-मुक्ति कौ विरद गहि लेत हैं।
यातैं ग्यानवंतकौ न आस्रव कहत कोऊ, मुद्धतासौं न्यारे भए, सुद्धता-समेत हैं॥ 7॥

शब्दार्थ :- पूरब-अवस्था जे करम-बंध कीने= पूर्व-पर्याय में जो कर्मबंध किये थे, अब तेई उदै आइ नाना-भाँति रस देत हैं= अब वही कर्म उदय में आकर विभिन्नप्रकार से फल देते हैं, केई सुभ-साता केई असुभ-असातारूप= कोई शुभकर्म सातारूप कोई अशुभकर्म असातारूप, दुहूसौं न राग न विरोध समचेत हैं= दोनों से ही न राग न द्वेष, समताभाव रखते हैं, जथाजोग-क्रिया करै फल की न इच्छा धरै= यथायोग्य-कार्य करते हैं फल की इच्छा नहीं रखते, जीवन-मुक्ति कौ विरद गहि लेत हैं= जीवन-मुक्त का पद प्राप्त करते हैं, यातैं ग्यानवंतकौ न आस्रव कहत कोऊ= इसीलिये ज्ञानी-जीव को कोई आस्रवी नहीं कहता, मुद्धतासौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं= मिथ्यात्व से भिन्न होकर शुद्धता से सहित हुये हैं।

विशेषार्थ :- अनादिकाल से जीव ज्ञानावरणादि-आठ कर्मों के साथ है, निजस्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण प्रतिसमय पर-सन्मुख ही रहा, और पर में अपनत्व होने से निरन्तर पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि भी कायम रही। फलस्वरूप मोह-राग-द्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती रही, जिसके फलस्वरूप ज्ञानावरणादि-आठ कर्मरूप कार्माण-वर्गणायें आकर जीव के साथ सम्बद्ध होती रही, फिर ये द्रव्यकर्म उदय में आये, और फिर इष्ट-अनिष्ट बुद्धि, फिर रागादि-भावकर्म और फिर पुनःद्रव्यकर्म। कर्म-बंधन की यह परम्परा अनादिकाल ऐसे ही चलती चली आ रही है।

इस छंद में इसी क्रम का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि पूर्व-अवस्था में या भवों में जीव ने जो कर्म बाँधे थे, वे ही अब उदय में आकर विभिन्नप्रकार से फल देते हैं। ज्ञानावरणादि आठ-कर्मों की 148 प्रकृतियों में से कुछ शुभरूप होती है, सो उनके उदय में कषाय की मंदता वर्तती है, सातारूप फल मिलता है, और जीव को निरोगी-काया और बाहरी-जीवन में उस संबंधी अनुकूलतायें प्राप्त होती है। कुछ प्रकृतियाँ अशुभरूप होती हैं, सो उनके उदय में कषाय की तीव्रता वर्तती है, अतः असातारूप संयोगों (रोगी-शरीर और बाहरी-जीवन में भी प्रतिकूलताओं) की प्राप्ति होती है।

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः, समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः।

तदपि सकल-राग-द्वेष-मोह-व्युदासा-दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः॥ 6॥

यहाँ तक की सारी व्यवस्था तो जीव को कर्म के उदयानुसार प्राप्त होती है, चाहे वह मिथ्यादृष्टि-जीव हो या सम्यग्दृष्टि-जीव हो, इसमें फेरबदल करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। दोनों में अन्तर अब शुरू होता है, जहाँ मिथ्यादृष्टि-जीव कर्म के उदय में प्राप्त इन संयोगों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना, और राग-द्वेष के भाव करके वर्तमान में भी आकुलित या दुःखी होता है और भविष्य के लिये भी नवीन-कर्म का बंध करता है। वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव कर्म के उदय में प्राप्त इन संयोगों में न तो इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है, न ही राग-द्वेष के भाव करके आकुलित होता है, बल्कि वह तो दोनों ही परिस्थितियों को कर्मोदय-जन्य और स्वयं से पूर्णतः भिन्न मानकर समता-भाव रखता है, इसलिये वर्तमान में भी सुख की अनुभूति करता है।

यद्यपि बाहरी-आचरण और क्रिया में दोनों में समानता दिखाई देती है, फिर भी दोनों के श्रद्धान में भिन्नता वर्तती है। जहाँ मिथ्यादृष्टि-जीव हर कार्य के बदले फल की इच्छा रखता है, वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव निर्वाणक या वांक्षारहित होता है। संसार, शरीर, भोगों के प्रति निर्ममत्व-बुद्धि रखने से वर्तमान-पर्याय में भी जीवन-मुक्त अर्थात् अर्हन्त-भगवान् जैसा यश प्राप्त करता है। इसीलिए ज्ञानी-जीव या सम्यग्दृष्टि-जीव को कर्म-आस्रव का सद्भाव होते हुये भी 'निरास्रवी' कहा जाता है, क्योंकि वह मुद्धता से न्यारा अर्थात् मिथ्यात्व का अभाव होने से सम्यक्त्व से सहित होता है।

निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि आत्मा के अनन्त-गुणों में से तीन प्रमुख-गुण— श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र हैं, जिनका सहज-परिणामन प्रतिसमय चल रहा है। जब श्रद्धागुण का परिणामन पर के लक्ष्य-पूर्वक चलता है, तो मिथ्यात्व नाम पाता है, और जब उसी श्रद्धागुण का परिणामन स्व के लक्ष्य से चलता है, तो 'सम्यक्त्व' नाम पाता है। हाँ, ये सही है कि श्रद्धान सम्यक् होते ही ज्ञानगुण का परिणामन भी तत्क्षण ही सम्यक् हो जाता है। परन्तु चारित्रगुण के पूर्णरूप से सम्यक्-परिणामन में समय लगता है; जैसे-जैसे स्वरूप में स्थिरता बढ़ती है, चारित्रगुण में भी विशुद्धता बढ़ती जाती है।

इसीलिए मिथ्यादृष्टि-जीव और सम्यग्दृष्टि-जीव के श्रद्धान में भिन्नता वर्तने पर भी बाह्य-प्रवृत्ति समान दिखाई देती है। जैसे रामचंद्र जी तद्भव-मोक्षगामी थे, फिर भी बाहर में सामान्य संसारी-जीव की तरह राज-पाठ, शादी-ब्याह, वनवास, युद्ध आदि कार्य करते हुये दिखाई दे रहे थे। लेकिन ये सब कार्य करते समय अंतरंग में श्रद्धागुण का सम्यक् परिणामन भी चल रहा था, जिससे प्रतिसमय संसार की हर-क्रिया से भेदज्ञान भी वर्त रहा था और निरास्रवीपना भी।

(दोहा)

जो हित-भाव सो राग है, अनहित-भाव विरोध।

भ्रामिक-भाव विमोह है, निरमल-भाव सुबोध॥८॥

शब्दार्थ :— जो हितभाव सो राग है= जो हित/भलाई का परिणाम है, वह राग है, अनहित-भाव विरोध= (और जो) बैर/अहित का भाव वह द्वेष, भ्रामिक-भाव विमोह है= भ्रम का परिणाम मोह है, निरमल-भाव सुबोध= शुद्ध-भाव सच्चा-ज्ञान है।

विशेषार्थ :— राग, द्वेष, मोह का पारिभाषिक-स्वरूप बताते हुए कविवर कहते हैं कि जब किसी भी वस्तु या व्यक्ति को देखकर मन में इष्टबुद्धि उत्पन्न हो, अर्थात् वह वस्तु मुझे अच्छी लगे, उस व्यक्ति के प्रति दया या उसकी भलाई का परिणाम उत्पन्न हो, वह 'राग' है। जब किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर उसके प्रति अनिष्टबुद्धि हो अर्थात् वह मुझे अच्छी न लगे, उस व्यक्ति के प्रति मेरे मन में बैर, विरोध या उसका अहित करने का भाव आये, वह 'द्वेष' है। और जब किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अहंबुद्धि का भाव हो,

अर्थात् ये वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ, यहाँ तक कि उस व्यक्ति या वस्तु के खोने पर मुझे दुःख या आकुलता हो, वह 'मोह' का परिणाम है।

यद्यपि राग और मोह दोनों एक जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु दोनों के स्वरूप में बहुत-अंतर है। जैसे पड़ोसी के बच्चे के प्रति जो लगाव है, वह राग है, और अपने बच्चे के प्रति जो लगाव है, वह मोह है। कैसे? जैसे पड़ोसी के बच्चे को कुछ हो जाये, तो हमें अच्छा तो नहीं लगता है; पर फिर भी दुःख या आकुलता नहीं होती है। और वहीं अपने बच्चे को कुछ हो जाये, तो आकुलता ही आकुलता, एक मिनट भी चैन नहीं आती— ये मोह का परिणाम है।

(दोहा)

राग-विरोध-विमोह मल, ईई आस्रवमूल।

ईई करम बढ़ाइकै, करै धरम की भूल॥ 9॥

शब्दार्थ :— राग-विरोध-विमोह मल= राग, द्वेष, मोहरूपी मल, ईई आस्रवमूल= ये ही आस्रव के मूल हैं, ईई करम बढ़ाइकै= ये ही कर्म बढ़ाकर, करै धरम की भूल= धर्म को भुलानेवाले हैं।

विशेषार्थ :— इस छंद में आस्रव का मूलकारण बताते हुये कविवर कहते हैं कि राग, द्वेष, मोह ये तीनों ही मल/विकार आस्रव के मूलकारण हैं। यहाँ कवि ने मोह, राग, द्वेष तीनों को मल कहा। क्या ये सच में मल के समान लगते हैं? विचार कीजिये कि द्वेष को तो हम एकबार बुरा/मल कहते भी हैं, पर राग? राग तो हमें कहीं से भी मल नजर नहीं आता। इसे तो हम बहुत अच्छा मानते हैं, जबकि देखा जाये, तो राग-परिणाम द्वेष से कहीं ज्यादा खतरनाक है। इतिहास देखें, तो रामायण, महाभारत आदि के जितने भी युद्ध हुये, वहाँ कहीं न कहीं मूल में राग ही विद्यमान था, फिर चाहे वह सीता के प्रति हो या द्रौपदी के प्रति। आज हम जितना भी अभक्ष्य-भक्षण, अन्याय, अनीति, पापाचार आदि करते हैं, स्वाद की लोलुपता, और पैसे के प्रति रागवश ही करते हैं, द्वेषवश नहीं। और मोह तो हमारे लिये दूर-दूर तक मल की परिधि में भी नहीं आता, उसे तो हमारा अंतर्मन 'मल' मानने को तैयार ही नहीं है। धर्म को भुलाने वाले और कर्म की वंश-परम्परा को बढ़ानेवाले सभी मूलकारण तो हमें अच्छे लगते हैं। फिर जब ये वंश-परम्परा अपना फल देती है, तो हम दुःखी क्यों होते हैं? जब ये बीज हमने खुद ही बोये हैं, तो फल खाने में हमें ऐतराज क्यों होता है?

(दोहा)

जहाँ न रागादिक-दसा, सो सम्यक्-परिणाम।

यातैं सम्यकवंत कौ, कह्यो निरास्रव नाम॥ 10॥

शब्दार्थ :— जहाँ न रागादिक-दसा= जहाँ रागादि-भाव नहीं है, सो सम्यक् परिणाम= वहीं परिणाम सम्यक् है, यातैं सम्यकवंत कौ= इसीलिए सम्यग्दृष्टि-जीव को, कह्यो निरास्रव नाम= निरास्रवी कहा गया है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने सम्यक्-परिणामों की महिमा का वर्णन किया है। जहाँ मोह-राग-द्वेष भावों की गंदगी नहीं होती, वही परिणाम सम्यक् या निर्मल है। अभिप्राय यह है कि जब जीव मात्र अपने जानन-स्वभावरूप परिणामन करता है, तब वह आत्मा का मल-रहित, निर्मल-परिणाम है। और जिन जीवों के निरन्तर ऐसा स्वाभाविक परिणामन चल रहा है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है, और निरास्रवी है। भले ही उस जीव को कर्म का आस्रव चल रहा हो, परन्तु वह कर्मास्रव उसके ज्ञान-स्वभाव पर हावी नहीं होता,

राग-द्वेष-विमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः। तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ 7॥

इसलिए वह जीव आसन्न का सद्भाव होते हुये भी 'निरासन्वी' नाम पाता है।

(सवैया इकतीसा)

जे केई निकट-भव्यरासी जगवासी-जीव, मिथ्यामति-भेदि ग्यान-भाव-परिनए हैं।

जिन्हिकी सुदृष्टि में न राग-द्वेष-मोह कहूं, विमल-विलोकनि में तीनों जीति लए हैं॥

तजि-परमाद घट-सोधि जे निरोधि-जोग, सुद्ध-उपयोग की दसा में मिलि गए हैं।

तेई बंधपद्धति-विदारि परसंग-डारि, आपमें मगन ह्वै कै आपरूप भए हैं॥ 11॥

शब्दार्थ :— जे केई निकट-भव्यरासी जगवासी-जीव= जो कोई आसन्न-भव्य संसारी-जीव हैं, मिथ्यामति-भेदि ग्यानभाव-परिनए हैं= मिथ्यात्व को भेदकर/छोड़कर, ज्ञानभावरूप परिणमित हुये हैं, जिन्हिकी सुदृष्टि में राग-द्वेष-मोह कहूं= जिनकी सम्यक्-दृष्टि में कहीं भी राग, द्वेष, मोह नहीं है, विमल-विलोकनि में तीनों जीति लए हैं= निर्मल-दृष्टि में उक्त तीनों को जीत लिया है, तजि-परमाद घट-सोधि जे निरोधि-जोग= प्रमाद को छोड़कर, चित्त को निर्मलकर जो योगनिरोध कर, सुद्ध-उपयोग की दसा में मिलि गए हैं= शुद्ध-उपयोग की दशारूप परिणमित हो गये हैं, तेई बंधपद्धति विदारि परसंग डारि= वे ही बंध की पद्धति को नष्ट करके, पर-संबंध को छोड़कर, आपमें मगन ह्वैकै आपरूप भए हैं= अपने में मगन होकर आत्मरूप हुए हैं।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने उन आसन्न-भव्यजीवों की परिणति का वर्णन किया है, जो अपने स्वरूप को पहचानकर मोक्षमार्ग पर अग्रसर हैं। इस संसार में अनंत-जीवराशि है, उसमें से छह-महीने आठ-समय में 608 जीव ही मोक्ष जाते हैं। जिन जीवों में मोक्ष जाने की पात्रता है, उनको 'भव्यजीव' कहते हैं, लेकिन उनमें से भी जो अल्पकाल में ही मोक्ष जानेवाले हैं, उन्हें 'आसन्न-भव्य' कहते हैं। उन्हीं आसन्न-भव्यजीवों का वर्णन कवि ने इन पंक्तियों में किया है। ऐसे जीव जो भले ही संसार में हों, पर जिन्होंने अनादि से चले आ रहे मिथ्यात्वरूपी गहन-अंधकार को नष्ट कर दिया है, जो अब मात्र अपने ज्ञान-स्वभाव रूप ही परिणामन करते हैं, जिनकी निर्मल-दृष्टि में मोह, राग, द्वेष का अस्तित्व भी नहीं है, वे जीव आसन्न-भव्य अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष जानेवाले हैं, क्योंकि उन जीवों ने आत्मस्वरूप के सम्यक्-श्रद्धान से तीनों विकारों को जीत लिया है।

ऐसे आसन्न-भव्य-जीव प्रमाद को छोड़कर यानि सर्व सांसारिक-क्रियाओं में अरुचिपूर्वक, विकारों का अभाव होने से निर्मल-चित्त से, योग-निरोधकर, अपने उपयोग को अपने स्वरूप में स्थिर करते हैं। इसके फलस्वरूप अनादि से चली आ रही कर्म-बंधन की इस प्रक्रिया को तोड़कर, पर-संबंध या पर के लक्ष्य को भी छोड़कर, एकमात्र अपने स्वरूप में मगन होकर अपने पूर्ण-लक्ष्य या सिद्ध-पद को प्राप्त करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जेते जीव पंडित-खयोपशमी-उपसमी, तिन्हिकी अवस्था ज्यों लुहार की संडासी है।

खिन आग-मांहि खिन पानी-मांहि तैसे एऊ, खिन में मिथ्यात खिन ग्यान कला भासी है॥

जौलौ ग्यान रहै तौलौ सिथिल चरन-मोह, जैसे कीले-नाग की सकति-गति नासी है।

आवत मिथ्यात तब नाना-रूप बंध करै, ज्यों उकीले-नाग की सकति परगासी है॥ 12॥

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धत-बोधचिह्न-मैकाग्रमेव कलयन्ति सदैव ये ते।

रागादि-मुक्तमनसः सततं भवन्तः, पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम्॥ 8॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादि-योगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।

ते कर्मबन्धमिह विभ्रति पूर्वबद्ध-द्रव्यास्रवैः कृत-विचित्र-विकल्प-जालम्॥ 9॥

शब्दार्थ :— जेते-जीव पंडित खयोपशमी-उपसमी= जितने जीव पंडित/सम्यग्दृष्टि, क्षयोपशमी, उपशमी, तिन्हकी अवस्था ज्यों लुहार की संडासी है= (उनके परिणामों की) स्थिति लुहार की संडासी के समान (अस्थिर) है, खिन आग-मांहि खिन पानी-मांहि= क्षण में अग्नि में, क्षण में पानी में, तैसे एऊ खिन में मिथ्यात= वैसे ही ये भी क्षण में मिथ्यात्व, खिन ग्यानकला भासी है= क्षण में ज्ञानभाव भासित होता है, जौलौ ग्यान रहै तौलौ सिथिल चरन-मोह= जब तक ज्ञान रहता है, तबतक चारित्रमोह शिथिल रहता है, जैसे कीले नाग की सकति-गति नासी है= जैसे नाग को कीलित करने पर उसकी गमनशक्ति नष्ट हो जाती है, आवत मिथ्यात, तब नानारूप बंध करै= जब मिथ्यात्व का उदय होता है, तब विभिन्नप्रकार का बंध करता है, ज्यों उकीले-नाग की सकति परगासी है= जैसे नाग के उत्कीलित/मंत्रबद्धता दूर करने पर उसकी गमनशक्ति प्रगट हो जाती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उपशम और क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि-जीवों के परिणामों की अस्थिरता का एक सरल-उदाहरण के माध्यम से सुंदर-वर्णन किया है। जैसे लुहार जब लोहे से कुछ भी सामान बनाता है, तो लोहे को अपने अनुसार ढालने के लिये उसे ठंडा और गर्म दोनों प्रकार का ताव देता है, इसलिये उस लोहे को पकड़ने के लिये उपयोग में आनेवाली लुहार की संडासी क्षण में पानी में और क्षण में अग्नि में रहती है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि-जीवों में जो उपशम-सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि-जीव हैं, उनके परिणाम भी इसी तरह क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं, कभी मिथ्यात्व के, तो कभी सम्यक्त्व के।

उपशम-सम्यक्त्व का उत्कृष्टकाल एवं जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है, और क्षयोपशम-सम्यक्त्व का उत्कृष्टकाल 66 सागर तक, और जघन्यकाल अंतर्मुहूर्त है। उपशम-सम्यक्त्व में दर्शन-मोहनीय की सातों प्रकृतियाँ (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति) का उपशम यानि शांत रहती है, सो उतने समय तक जीव के परिणाम निर्मल रहते हैं, लेकिन काल पूरा होते ही फिर मलिन हो जाते हैं। परन्तु क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि-जीव के सात में से छह प्रकृतियों का तो उदयाभावी-क्षय हो जाता है, परन्तु एक सम्यक्प्रकृति उदय में रहती है, जिस कारण से चल, मल, अगाढ़-दोष लगने से परिणामों में पूर्ण-निर्मलता नहीं रहती।

आगे चारित्र-मोहनीय के उदय और अनुदय में होनेवाले जीव के परिणामों की स्थिति का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जैसे जहरीला और फुफकारनेवाला नाग भी जब सपेरे के द्वारा मंत्र-कीलित कर दिया जाता है, तो कुछ समय के लिये उसकी सारी शक्ति क्षीण हो जाती है, ठीक उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव का उपयोग जितनी देर निज-स्वरूप में ठहरता है, उतनी देर मोहनीयकर्म की दशा कीलित-नाग की तरह शिथिल हो जाती है, अर्थात् उस समय सत्ता में मौजूद होने के बावजूद भी मोहनीयकर्म का बंध नहीं होता।

लेकिन जैसे ही सम्यग्दृष्टि-जीव का उपयोग स्वरूप से च्युत होता है, चारित्र-मोहनीय वापस अपना पूरा रंग दिखाती है, ठीक वैसे ही जैसे कीलित-नाग को जब सपेरा उकीलित करता है, तो फिर वही नाग अपनी पूरी-शक्ति के साथ सक्रिय हो जाता है। कविवर-रचित उपर्युक्त-पंक्तियों में हमने देखा कि स्वरूप में स्थिरता होने पर ये प्रबल-प्रकृति भी शिथिल हो जाती है।

(दोहा)

यह निचोर या ग्रंथ कौ, यहै परमरस-पोख।

तजै सुद्ध-नय बंध है, गहै सुद्ध-नय मोख॥ 13॥

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि। नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि॥ 10॥

शब्दार्थ :- यह निचोर या ग्रंथ कौ= यही इस ग्रंथ का निष्कर्ष है, यहै परमरस-पोख= यही परमरस की पोषक-बात है कि, तजै सुद्ध-नय बंध है= शुद्ध-नय (के विषयभूत शुद्धात्म तत्त्व को) छोड़ना ही बंध है, गहै सुद्धनय मोख= शुद्धनय (के विषयभूत शुद्धात्म तत्त्व) को ग्रहण करना मोक्ष है।

विशेषार्थ :- इस अधिकार के निष्कर्षरूप में कविवर कहते हैं कि जब भी जीव शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्म-तत्त्व को छोड़ता है, तो बंध को प्राप्त होता है। और जब शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्म-तत्त्व को ग्रहण करता है, तो मोक्ष को प्राप्त होता है। और यही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जहाँ जीव परमरस का पोषण अर्थात् अनंत आत्मिक-सुख को प्राप्त करता है।

(सवैया इकतीसा)

करम के चक्र में फिरत जगवासी-जीव, ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत-विषमता।
अंतर सुमति आई, विमल बड़ाई पाई, पुदगल सौं प्रीति टूटी, छूटी माया-ममता॥
सुद्ध-नै निवास कीनौ, अनुभौ-अभ्यास लीनौ, भ्रमभाव छांड़ि दीनौ, भीनौ चित्त-समता।
अनादि-अनंत अविकलप-अचल ऐसौ, पद-अवलंबि अवलोकै राम-रमता॥ 14॥

शब्दार्थ :- करम के चक्र में फिरत जगवासी-जीव= संसारी-जीव करम के चक्र या फेरे में फिर रहे हैं, ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता= (जिससे) बहिर्मुख हो रहे है, सर्वत्र दुःख ही दुःख व्याप्त है, अंतर सुमति आई, विमल बड़ाई पाई= (जब) अंतरंग में सुमति आई, तो उत्कृष्ट-निर्मलता की प्राप्ति हुई, पुदगलसौं प्रीति टूटी, छूटी माया ममता= जड़ पुदगल से स्नेह खत्म हो गया, और मोह-माया छूट गई, सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ= शुद्धनय/आत्मस्वरूप में निवास किया, आत्मानुभव का अभ्यास किया, भ्रमभाव छांड़ि दीनौ= भ्रमबुद्धि यानि पर में अहंबुद्धि छूट गई, भीनौ चित्त समता= चित्त समतारस से भीग गया, अनादि-अनंत अविकलप-अचल ऐसौ= जिसकी कोई आदि न हो, जिसका कभी अंत न हो, विकल्परहित, स्थिर ऐसे पद का, अवलंबि अवलोके राम-रमता= आलम्बन करके, अवलोकन करके आत्मस्वरूप में मगन हुआ।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने बहिरात्मा से अंतरात्मा बनने की यात्रा का सुंदर-वर्णन किया है। वर्तमान में जीव पूर्वबद्ध-कर्मों के उदय और फिर वर्तमान में पुनः मोह, राग, द्वेष के भाव करके फिर नवीन-कर्म का बंधन- ऐसे कर्म-बंधन के अटूट-चक्र में फँसा हुआ है। उसका उपयोग प्रतिसमय बहिर्मुख यानि देह और देह से संबंधित-संयोगों और विषयभोग में रमा हुआ है, जिससे अनेकानेक-विषमताओं और दुःखों से घिरा हुआ है।

किसी तीव्र-पुण्य के उदय से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिला, जिनवाणी सुनने का सुयोग मिला तो अंतरंग में सद्बुद्धि आई, परिणामों में निर्मलता आई है; जिससे पुदगल से अर्थात् बाहर में पुण्य-पाप के उदय में प्राप्त जड़-पदार्थों से राग टूटा, संयोगों के प्रति जो ममत्व-बुद्धि थी, वह भी छूट गई। शुद्धनय के विषयभूत निज-शुद्धात्म-स्वरूप की महिमा आई, तो सहज ही अनुभव का अभ्यास हुआ, जब उपयोग ने अपने स्वरूप का लक्ष्य किया, तो पर और पर्याय के स्वामित्वपने की भ्रमबुद्धि छूट गई, और अंतरंग समतारस से सराबोर हो गया। मैं अनादि-अनंत, हरप्रकार के विकल्प

धीरोदार-महिम्यनादिनिधने बोधे निबन्धन्युतिम्, त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वकषः कर्मणाम्।

तत्रस्थाः स्वमरीचि-चक्रमचिरात्संहत्य निर्यद्बहिः पूर्णज्ञान-घनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः॥ 11॥

से रहित निर्विकल्प, अविचल परमात्मा हूँ— ऐसा अवलोकन होने पर एक क्षण भी बिलम्ब न कर जीव अपने आत्मस्वरूप में रमने का अभ्यास करने लगा।

(सवैया इकतीसा)

जाके परगासमैं न दीसैं राग-द्वेष-मोह, आस्रव मिटत, नहि बंधकौ तरस है।

तिहूँकाल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप, आपहूँ अनंत-सत्ता नंततैं सरस हैं॥

भाव-श्रुतग्यान-परवान जो विचारि वस्तु, अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।

अतुल-अखंड-अविचल-अविनासी धाम, चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक-दरस है॥ 15॥

शब्दार्थ :- जाके परगासमैं न दीसैं राग-द्वेष-मोह= जिसके होते ही राग, द्वेष, मोह दिखाई नहीं देते, आस्रव मिटत, नहि बंधकौ तरस है= आस्रव मिट जाता है, बंध का त्रास/दुःख भी नहीं रहता, तिहूँकाल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप= तीनों काल जिसमें अनंतरूप प्रतिबिंबित होते हैं, आपहूँ अनंत-सत्ता नंततैं सरस हैं= आप स्वयं अनंत-सत्तात्मक अनंतानंत-सहित है, भाव-श्रुतग्यान-परवान जो विचारि वस्तु= भाव-श्रुतज्ञान-प्रमाण वस्तु-स्वरूप का विचार करके, अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है= जो वचनातीत है, ऐसे अनुभव को प्राप्त करता है, अतुल-अखंड-अविचल-अविनासी धाम= जिसकी तुलना नहीं है, खंडरहित, स्थिर, विनाश-रहित स्वरूप, चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक-दरस है= ऐसे चिदानंद का नाम 'सम्यग्दर्शन' है।

विशेषार्थ :- जब जीव का उपयोग स्व-सन्मुख होता है, तब उपयोग पर-सन्मुख न होने से उसमें मोह-राग-द्वेष का तो अस्तित्व ही नहीं रहता। भावास्रव के मिटने से द्रव्यास्रव स्वयं ही मिट जाता है; क्योंकि द्रव्यास्रव का निमित्त-कारण तो भावास्रव है। और जब आस्रव नहीं, तो बंध का तो सवाल ही नहीं; क्योंकि बंध हमेशा आस्रवपूर्वक ही होता है।

अनुभव के काल में जीव को ऐसी अनुभूति होती है। कि जिस ज्ञान में तीन-लोक और तीन-काल के समस्त पदार्थ अपनी अनंत-पर्यायों-सहित प्रतिबिंबित होते हैं, ऐसी अनंतगुणी-शक्ति का स्वामी मैं भगवान् आत्मा हूँ।

भाव-श्रुतज्ञान-प्रमाण आत्मवस्तु के स्वरूप का विचार किया जाये, तो आत्मा केवल अनुभवगम्य है, जैसे हम किसी भोज्य-पदार्थ को खाने के बाद उससे मिलनेवाली-संतुष्टि को वचनों से व्यक्त नहीं कर सकते। ठीक उसीप्रकार आत्मा के अनंत-गुणों को और अनुभव के काल में होने वाली आनंद की अनुभूति जोकि मात्र अनुभवगम्य है, वाणी उस अनुभूति को स्पर्श भी नहीं कर सकती अर्थात् शब्दों में गुणगान नहीं किया जा सकता। दूसरा-कारण शब्द तो भाषा-वर्गणा यानि पुद्गल की पर्याय है, और जड़-भाषा से चेतन-आत्मा का गुणगान तीन-काल में भी संभव नहीं है।

तीनों-लोकों में जिसके समान कोई दूसरा-पदार्थ नहीं है ऐसा 'अतुलनीय', जो आज तक न खंड-खंड हुआ है और न कभी होगा ऐसा 'अखंड', जिसे कोई चलायमान नहीं कर सकता— ऐसा 'अविचल', जिसका कभी न विनाश हुआ है और न होगा ऐसा 'अविनाशी', प्रतिसमय चैतन्य-लक्षण-स्वभावी, आनंद का घनपिण्ड 'मैं आत्मा हूँ'— ऐसा अनुभव ही 'सम्यग्दर्शन' है।

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोऽप्यास्रवाणां, नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।

स्फार-स्फारैः स्वरस-विसरैः प्लावयत्सर्वभावा-नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत्॥ 12॥



(षष्ठ-अधिकार)

संवर-द्वार

(दोहा)

आस्रव कौ अधिकार यह, कह्यो जथावत जेम।

अब संवर-वरनन करौं, सुनहु भविक धर प्रेम॥ 1॥

शब्दार्थ :- आस्रवकौ अधिकार यह= आस्रव का अधिकार यह, कह्यो जथावत जेम= यथावत् वर्णन किया, अब संवर वरनन करौं= अब संवर का वर्णन करूँगा, सुनहु भविक धर प्रेम= भव्यजनो ! प्रीतिपूर्वक सुनो।

विशेषार्थ :- कविवर कहते हैं कि मैंने 'आस्रव-अधिकार' का यथावत्-वर्णन किया, अब मैं 'संवर-अधिकार' का वर्णन करूँगा, सभी भव्यजीव प्रीतिपूर्वक सुनो।

(सवैया इकतीसा)

आतमकौ अहित अध्यात्म-रहित ऐसौ, आस्रव-महातम अखंड-अंडवत् है।

ताकौ विसतार गिलिबे कौ परगट भयौ, ब्रह्मंड कौ विकासी ब्रह्मंडवत् है॥

जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पे, सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत् है।

सोहै ग्यानभान-सुद्ध संवरकौ भेष धरै, ताकी रुचि-रेखकौ हमारी दंडवत् है॥ 2॥

शब्दार्थ :- आतमकौ अहित अध्यात्म-रहित= आत्मा के लिए अहितकारी, अध्यात्म से रहित, ऐसौ आस्रव-महातम अखंड-अंडवत् है= घोर-अंधकारमय, अंडे के समान अखंड, ऐसा आस्रव, ताकौ विसतार गिलिबे कौ परगट भयौ= उसके विस्तार को नष्ट करने के लिये प्रगट हुआ है, ब्रह्मंड कौ विकासी ब्रह्मंडवत् है= ब्रह्मांड को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के समान, जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ= जिसमें सभी प्रकाशित होते हैं, जो सब रूप/व्याप्त जैसा है, पे सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत् है= फिर भी आकाश के प्रदेश के समान सबसे अलिप्त है, सोहै ग्यानभान-सुद्ध संवरकौ भेष धरै= शुद्ध-ज्ञानरूपी सूर्य, संवर का भेष धारण किये हुए सुशोभित है, ताकी रुचि-रेखकौ हमारी दंडवत् है= उसकी आभा को हमारा साष्टांग-प्रणाम है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने सम्यग्ज्ञानरूपी-संवर को महिमा-मंडित करते हुए प्रणाम किया है। आस्रव अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूपी विकारी-भाव आत्मा के ज्ञान-स्वभाव का घात करने से प्रतिसमय 'अहितकारी' हैं, 'अध्यात्म से रहित' हैं अर्थात् इन विकारों के रहते हुये आत्मस्वरूप कभी प्रगट नहीं हो सकता, 'महातम' अर्थात् ये आस्रव-भाव घोर-अंधकार के समान है, 'अंडवत्' अर्थात् जैसे अंडे का आकार अखंड होता है चारों ओर से एक जैसा, उसका कोई ओर-छोर नहीं होता; ठीक उसीप्रकार इन आस्रव-भावों ने जीव को चारों से घेर रखा है, यहाँ तक कि इस अंधकार से बाहर निकलने का कोई रास्ता जीव को दिखाई नहीं देता।

इतने विशाल आस्रव को गीलवे/लीलवे अर्थात् नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी-सूर्य प्रगट हुआ है, जो पूरे ब्रह्मांड या तीनों लोकों को प्रकाशित करता हुआ स्वयं सूर्य के समान है, जैसे सूर्य के आने पर जगत् का घोर-अंधकार भी क्षणभर में गायब हो जाता है, ठीक उसीप्रकार संवररूपी सूर्य के आने पर

आसंसार-विरोधि-संवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-न्यक्कारात्प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं सम्पादयत्संवरम्।

व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरस-प्राग्भारमुज्जृम्भते॥ 1॥

आस्रवरूपी घनघोर-अंधकार भी क्षणभर में विलय को प्राप्त होता है।

सूर्य स्वयं तो प्रकाशित होता ही है, उसके प्रकाश में जगत् की हर वस्तु भी प्रकाशित होती है। लेकिन सूर्य किसी भी वस्तु को कभी स्पर्श नहीं करता, ठीक उसीप्रकार संवर अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रकट होने पर उसके प्रकाश में जगत् के समस्त ज्ञेय प्रकाशित होने पर भी ज्ञान आकाश के प्रदेश के समान अखंड और व्यापक रहता है, कभी ज्ञेयरूप नहीं होता।

ऐसा सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य संवर का भेष धारणकर शोभायमान है, बनारसीदास जी कहते हैं कि ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य की आभा अर्थात् संवर को मैं प्रणाम करता हूँ।

(सवैया तेईसा)

सुद्ध-सुछंद-अभेद-अबाधित, भेद-विग्यान सुतीछन-आरा।

अंतरभेद सुभाव-विभाऊ, करै जड़-चेतनरूप दुफारा॥

सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ, न रुचै तिन्हकौ परसंग-सहारा।

आतमको अनुभौ करि ते, हरखैं-परखैं परमातम-धारा॥ 3॥

शब्दार्थ :- सुद्ध-सुछंद-अभेद-अबाधित= विकाररहित शुद्ध, स्वाधीन/स्वतंत्र, भेदरहित, बाधारहित, भेद-विग्यान सुतीछन आरा= भेदविज्ञानरूपी अत्यधिक-पैनी धारवाली आरी/करोत, अंतरभेद सुभाव विभाऊ= के अंतरंग में भेदने/प्रवेश करने पर स्वभाव और विभाव (भिन्नता को प्राप्त होते हैं), करै जड़-चेतनरूप दुफारा= जड़ और चेतन दो टुकड़े अर्थात् भेदविज्ञान हो जाता है, सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ= वह जिनके हृदय में उपजता है, न रुचै तिन्हकौ परसंग-सहारा= उन्हें पर का साथ अर्थात् संसार में कुछ भी नहीं रुचता, आतमको अनुभौ करि ते= आत्मा का अनुभव करके, हरखैं परखैं परमातम-धारा= अतिप्रसन्न होते हैं, परमात्मा के स्वरूप को पहचान लेते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने भेदविज्ञान का महत्त्व और फल का वर्णन किया है। भेदविज्ञान= 'भेद'+ 'वि'+ 'ज्ञान' अर्थात् भेद का या भिन्नपने का विशेष-ज्ञान। दो वस्तुयें जो आपस में भिन्न होते हुये भी हमें एकरूप दिखाई दे रही है, उनको भिन्न-भिन्न देखना ही भेदविज्ञान है। क्योंकि जो पहले से भिन्न हो, उसी को भिन्न किया जा सकता है; जो पहले से भिन्न न हो, उसको भिन्न करना असंभव है।

जैसे बादाम के ऊपर छिलका— यद्यपि बादाम के साथ ही पैदा होता है, पर हमेशा साथ रहते हुये भी भिन्न ही रहता है, इसीलिये हम उसे बाद में भिन्न-भिन्न भी कर लेते हैं। पर क्या बादाम गिरी को बादाम से भिन्न कर सकते हैं? कभी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जो पहले से ही भिन्न है, उन्हीं में भेदज्ञान करना है, जैसे शरीर और आत्मा।

इसीप्रकार जड़ और चेतन या कहें शरीर और आत्मा अनादिकाल से साथ रहते हुये भी पूर्णतः भिन्न हैं। मैं आत्मा समस्त-विकारों से रहित पूर्ण 'शुद्ध', सहज-ज्ञान स्वभावरूप-परिणामन करने के लिये किसी भी रूप में पर की कोई अपेक्षा नहीं होने से पूर्ण-स्वतंत्र, 'अभेद' यानि आज तक किसी पर वस्तु ने मेरे ज्ञान-स्वरूप में प्रवेश नहीं किया, नय-प्रमाण आदि सभीप्रकार की बाधा से रहित 'अबाधित', ऐसी भेदविज्ञानरूपी अत्यंत पैनी-करोत जब अंतरंग में प्रवेश करती है; तो ज्ञान-स्वभाव और मोह, राग, द्वेषादि विभाव, देहादि जड़ और चेतनरूप-आत्मा का भिन्नपना स्पष्ट-प्रतिभासित हो जाता है; जैसे आरा-मशीन में कितनी भी मोटी-लकड़ी प्रवेश करे एकक्षण में उसके दो टुकड़े हो जाते हैं।

चैतूष्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।

भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः शुद्धज्ञान-घनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥ 2॥

भेदविज्ञान का फल बताते हुए कविवर कहते हैं कि जिसके हृदय में ऐसा भेदज्ञान प्रगट होता है, उसे संसार की सभी मनमोहक-वस्तुओं से अरुचि हो जाती है, सभी संयोग अशरण प्रतीत होते हैं, अर्थात् फिर भले ही वह जीव जगत् के इन संयोगों के बीच में रहे पर इनसे एकत्व-बुद्धि नहीं रहती। अब उसे आत्मानुभूति में सच्चा-आनंद वर्तता है, आत्मा परमात्मा के स्वरूप को पहचानकर उसी मार्ग का अनुसरण करता है।

(सवैया तेईसा)

जो कबहूँ यह जीव-पदारथ, औसर पाइ मिथ्यात मिटावै।
सम्यक-धार-प्रवाह बहै गुन, ज्ञान-उदै मुख-ऊरध धावै॥
तो अभि-अंतर दर्वित-भावित, कर्म-कलेस प्रवेस न पावै।
आतम-साधि अध्यातम के पथ, पूरन है परब्रह्म कहावै॥ 4॥

शब्दार्थ :— जो कबहूँ यह जीव-पदारथ= जब कभी यह जीव नाम का पदार्थ, औसर पाइ मिथ्यात मिटावै= अवसर पाकर (काललब्धि पकने पर) मिथ्यात्व को मिटा देता है, सम्यक-धार प्रवाह बहै= सम्यक्त्व की धारा के प्रवाह में बहता हुआ, गुन ज्ञान-उदै मुख ऊरध धावै= सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर, ऊर्ध्वमुखी होता है, तो अभि-अंतर दर्वित-भावित कर्म-कलेस= तब अंतरंग में द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी क्लेश, प्रवेस न पावै= प्रवेश नहीं करते, आतम-साधि अध्यातम के पथ= आत्मा की साधना करते हुए अध्यात्म के पथ पर चलकर, पूरन है परब्रह्म कहावै= पूर्णता को प्राप्त करके परमात्मा कहलाते हैं।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' की महिमा का वर्णन किया है। अनादिकाल से जीव चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करता आ रहा है, कदाचित् अवसर प्राप्त होने पर अर्थात् अति-तीव्र-पुण्य के उदय से कभी इस जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिले, जिनवाणी सुनने का सुयोग मिले और आत्मा की बात सुनने में उत्साह वर्ते, साथ ही दर्शनावरणी-कर्म का अनुदय हो, और स्व-पर में भेदज्ञान वर्ते, तो अनादि का मिथ्यात्व एक क्षण में दूर होता है।

एकबार सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव को जो आनंद की अनुभूति होती है, उसकी धारा में जीव सहज ही बहने लगता है अर्थात् सहज ही स्वरूप में स्थिरता की ओर उन्मुख होने लगता है, सम्यग्ज्ञान का उदय होने से जीव ऊर्ध्वमुखी होता है अर्थात् जीव के परिणाम निरन्तर उत्तरोत्तर-विशुद्धि को प्राप्त होते हैं।

परिणामों में निरन्तर विशुद्धि होने से ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेष आदि भावकर्म का क्लेश या दुःख प्रवेश नहीं करता अर्थात् ये जड़कर्म जीव को आकुलित नहीं करते। शनैः-शनैः जीव-स्वरूप में स्थिरतापूर्वक अध्यात्म-मार्ग पर चलकर अर्थात् मुनिपना अंगीकार करके आत्मसाधना करता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता है, ज्ञान की पूर्णता अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करने पर वही जीव 'परमात्मा' कहलाता है।

(सवैया तेईसा)

भेदि मिथ्यात सु बेदि-महारस, भेदविज्ञान- कला जिन्ह पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करै उर सौंज पराई॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन-ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।

तदयमुदयदात्मा-राममात्मानमात्मा-परपरिणति-रोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥ 3॥

उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट, होत निरंतर जोति सवाई।

ते मतिमान सुवर्न-समान, लगै तिन्हकौं न सुभासुभ-काई॥ 5॥

शब्दार्थ :- भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस= मिथ्यात्व को भेदकर, महारस/आत्मिक-रस का वेदन करते हैं, भेद-विज्ञान-कला जिन्ह पाई= भेदविज्ञानरूपी कला जिन्होंने प्राप्त की, जो अपनी महिमा अवधारत= जो अपनी महिमा को स्वयं धारण करते हैं, त्याग करै उर सौज पराई= (वे जीव) मन से पर-वस्तुओं के अपनत्व का त्याग करते हैं, उद्धत-रीति फुरी जिन्हके घट= (ज्ञान ज्योति) ऊपर की ओर चढ़ती हुई रीति जिनके हृदय में स्फुरित/प्रगट हुई है, होत निरंतर जोति-सवाई= वह ज्योति निरन्तर बढ़ती रहती है, ते मतिमान सुवर्न-समान= वे बुद्धिमान-जीव स्वर्ण के समान हैं, लगै तिन्हकौं न सुभासुभ-काई= उनको शुभ-अशुभ-भावोंरूपी काई स्पर्श नहीं करती है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने भेदविज्ञान और सम्यग्दृष्टि-जीव की महिमा वर्णित की है। सच तो यही है कि जिनको 'स्व' और 'पर' में भेदज्ञान की कला आती है, वे ही जीव आत्मिक-आनंद की अनुभूति का रसास्वादन करते हैं। इतना ही नहीं वे जीव वर्तमान में भी इस विपरीत-देश, काल, वातावरण में भी सुखी रहते हैं, आकुलता-रहित रहते हैं।

जिन जीवों ने मिथ्यात्व को भेदकर अपने स्वरूप की महिमा को पहचाना है, वे ही जीव ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत-गुणों की प्रगटता को अवधारण करते हैं। देह और देह से संबंधित समस्त संयोगों से उन्हें सहज ही विरक्ति होती है। जो सम्यग्ज्ञानरूपी-ज्योति उनके हृदय में स्फुरित हुई है, वे उसे अंतरंग में स्वरूप में स्थिरता को धारण करते हुये सवाई करते हैं, यानि उत्तरोत्तर बढ़ाते हैं।

कविवर कहते हैं कि ऐसे मतिमान-जीव या बुधिवंत-जीव स्वर्ण के समान होते हैं, जैसे लोहे को कुछ समय के लिये पानी में छोड़ने पर उसमें जंग या काई लग जाती है। जबकि सोना पानी तो दूर कीचड़ में गिरने पर भी खरा ही रहता है, गंदगी उसे कभी स्पर्श भी नहीं करती; ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में रहे, कर्मादय की घोर अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं के बाबजूद भी स्वर्ण के समान खरा रहता है, शुभ-अशुभ भावों की काई उसे कभी स्पर्श भी नहीं करती, अर्थात् वह स्वयं को जाननहार ही अनुभव करता है।

(अडिल्ल)

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है। संवरसौं निर्जरा अनुक्रम-मोष है॥

भेदग्यान सिवमूल जगतमहि मानिये। जदपि हेय है, तदपि उपादेय जानिये॥ 6॥

शब्दार्थ :- भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है= भेदज्ञान संवर का कारण, निर्दोष है, संवरसौं निर्जरा अनुक्रम-मोष है= संवर से निर्जरा, और क्रम से मोक्ष है, भेदग्यान सिवमूल जगतमहि मानिये= जगत् में एकमात्र भेदज्ञान ही मोक्ष की जड़ है, जदपि हेय है तदपि उपादेय जानिये= यद्यपि छोड़ने योग्य है, फिर भी ग्रहण करने योग्य जानना चाहिये।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने भेदविज्ञान हेय होते हुये भी बहुत ही सुंदरता से इसकी उपादेयता को

निज-महिम-रतानां भेदविज्ञान-शक्त्या, भवतिनियतमेषां शुद्ध-तत्त्वोपलम्भः।

अचलितमखिलायद्रव्य-दूरेस्थितानां, भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥ 4॥

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्म-तत्त्वस्य किलोपलम्भात्। स भेदविज्ञानता एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्॥ 5॥

सिद्ध किया है। अनादि का मोही अज्ञानी-जीव जो देहादिक जड़-पदार्थों में ही रचा-पचा हो, जिसे आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान ही न हो, उसके लिये सीधे मुक्ति की बातें करना हास्यास्पद ही होगी। लेकिन यदि उसे क्रम से देह और देहादिक-संयोगों की असारता, क्षणभंगुरता का ज्ञान कराया जाये और मैं स्वयं जगत् में इन सबसे पूर्ण-भिन्न सर्वश्रेष्ठ अलौकिक-तत्त्व हूँ, इसकी महिमा से परिचित कराया जाये, तो निश्चित ही वह जीव मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होगा,— यही तो भेदज्ञान है। इसी से जीव को आत्मानुभूति होगी, यही तो संवर है। जब संवर होगा, तभी कर्मों का क्षय या निर्जरा होगी, और जब धीरे-धीरे समस्त कर्मों का क्षय हो जायेगा, तभी तो मुक्ति होगी। इससे सिद्ध होता है सर्वप्रथम करने योग्य कार्य तो भेदविज्ञान या तत्त्वनिर्णय ही है, अर्थात् यही तो मोक्षरूपी वृक्ष की जड़ है, कहने का अभिप्राय यही है कि यदि जड़ ही नहीं होगी, तो वृक्ष कैसे खड़ा होगा ?

यही संदेश तो कवि ने यहाँ दिया है कि भेदविज्ञान ही संवर का कारण है, संवर, निर्जरा का और निर्जरा मोक्ष की कारण है। इसीलिये कवि ने 'भेदविज्ञान' को 'मोक्ष की जड़' कहा है।

लेकिन ये भी उतना ही सत्य है, कि वृक्ष को उगाते समय किसान जितना ध्यान जड़ का रखता है, एक बार फसल आने के बाद वही जड़ उसके लिये महत्त्व नहीं रखती, ठीक उसीप्रकार मोक्षमार्ग पर चलने के लिये जो भेदविज्ञान परमावश्यक है, वही मोक्ष की पूर्णता में बाधक बन जाता है। क्योंकि यदि जीव भेदविज्ञानरूपी विकल्पों में ही उलझा रहेगा, तो स्वरूप में स्थिरता कब करेगा ? इसीलिए भेदविज्ञान को मोक्षमार्ग की अपेक्षा 'उपादेय' होते हुये भी मुक्ति की अपेक्षा 'हेय' कहा गया है।

(देहा)

भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुक्ति न होइ।

परम-जोति परगट जहाँ, तहाँ न विकल्प कोइ॥ 7॥

शब्दार्थ :— भेदग्यान तबलौं भलौ= भेदज्ञान तबतक अच्छा है, जबलौं मुक्ति न होइ= जबतक मुक्ति न हो, परम-जोति परगट जहाँ= उत्कृष्ट ज्ञान-ज्योति जहाँ प्रगट होती है, तहाँ न विकल्प कोइ= वहाँ कोई विकल्प नहीं होते।

विशेषार्थ :— जहाँ पिछले छंद में कवि ने भेदविज्ञान की उपयोगिता/उपादेयता सिद्ध की थी वहीं इस छंद में भेदविज्ञान की हेयता सिद्ध की है। जैसे किसी व्यक्ति ने जीवन में कभी आम का फल-खाना तो दूर देखा भी न हो। पर सुना बहुत हो कि आम फलों का राजा होता है। बहुत मीठा और स्वादिष्ट होता है निश्चित ही उसके मन में खाने की इच्छा जरूर होगी, परन्तु जब आम देखा ही नहीं तो जिज्ञासा/विकल्प भी बहुत होंगे, कैसा रंग-रूप, आकार-प्रकार आदि, परन्तु ये वही उपयोगी-विकल्प होंगे, जो उस व्यक्ति को आम तक पहुँचायेगें। लेकिन इतने परिश्रम के बाद जब आम खाने को मिलेगा, तो वह व्यक्ति उसका स्वाद लेगा या उन विकल्पों में भटकेंगा ? अर्थात् जिन विकल्पों ने उसे आम की प्राप्ति करायी, अब वही विकल्प उस आम की स्वादानुभूति में बाधक है, ठीक उसीप्रकार शरीर और आत्मा की भिन्नता को सिद्ध करनेवाले भेदविज्ञान के जिन विकल्पों ने पर से भिन्न स्व की अनुभूति और सिद्धि करायी, अब वही विकल्प स्वरूप की स्थिरता में बाधक है। क्योंकि यदि साधक का उपयोग विकल्पों में ही भटकता रहेगा, तो स्वरूप में स्थिरता न होने से कर्मों की निर्जरा भी नहीं होगी, और कर्मों की निर्जरा नहीं तो मुक्ति भी नहीं होगी। इसीलिए कवि ने कहा कि परमज्योति प्रगट होने पर कोई

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया। तावद्यावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥ 6॥

विकल्प नहीं रहता अर्थात् 'आत्मानुभूति निर्विकल्प ही होती है।'

(चौपाई)

भेदग्यान-संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।

भेदग्यान जिन्हके घट-नाहीं, ते जड़-जीव बंधें घट-मांही॥ 8॥

शब्दार्थ :- भेदग्यान-संवर जिन्ह पायौ= भेदविज्ञान के द्वारा जिन्होंने संवर/आत्मानुभूति को प्राप्त किया, सो चेतन सिवरूप कहायौ= वह जीव शिवरूप/मोक्षमार्गी कहलाता है, भेदग्यान जिन्हके घट नाहीं= जिनके हृदय में भेदविज्ञान नहीं है, ते जड़-जीव बंधें घट-मांही= वे जड़/अज्ञानी-जीव शरीर के बंधन को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने स्व और पर के भेदविज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न आत्मानुभूतिरूप-संवर की महत्ता को वर्णित किया है। कहने का अभिप्राय यही है कि जिन जीवों के हृदय में भेदविज्ञान की ज्योति जल रही है, वास्तव में वही जीव मोक्ष का अधिकारी है। और इसके विपरीत जिसके हृदय में भेदविज्ञान की ज्योति नहीं जल रही है या कहें जिन्हें पर की ही महिमा आती है, वे जीव चेतन होते हुये भी जड़ के ही समान हैं।

जैसे कोई व्यक्ति अपने घर की ओर तो देखे नहीं और दूसरे के घर की व्यवस्था बनाने में दिन-रात एक कर दे, तो दुनिया उसे मूर्ख कहती है। ठीक उसीप्रकार जब जीव अपने अनंत-गुणों की ओर तो निहारे नहीं, और देहादिक नश्वर जड़-संयोगों में रमते हुए अपना अमूल्य-समय व्यर्थ गँवाये, तो कविवर कहते हैं कि वह जीव चेतन होते हुये भी जड़ के समान ही है।

लोक में कहावत है 'जैसी करनी वैसी भरनी' अर्थात् जो जैसा करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है, तदनुसार देहादिक जड़-पदार्थों की संभाल करनेवाला जीव भी घट यानि देहादिक से ही बँधा रहता है, अर्थात् 'ऐसे जीव को देह से भिन्न भगवान् आत्मा की अनुभूति नहीं होती'।

(दोहा)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल-नीर।

धोबी अंतर-आतमा, धोवै निजगुण-चीर॥ 9॥

शब्दार्थ :- भेदग्यान साबू भयौ= भेदविज्ञान को साबुन बनाकर, समरस निरमल-नीर= समतारूपी स्वच्छ-जल से, धोबी अंतर-आतमा= जो अंतरात्मा/सम्यग्दृष्टि-जीवरूपी धोबी, धोवै निजगुण-चीर= अपने गुणोरूपी वस्त्र को धोता है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने धोबी के उदाहरण के माध्यम से सम्यग्दृष्टि-जीव की परिणति का सुन्दर-चित्रण किया है। जैसे कोई धोबी गंदे-वस्त्रों को साबुन लगाकर निर्मलजल से साफ करता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भेदविज्ञानरूपी साबुन लगाकर और साम्यभावरूपी निर्मल-जल में खंगालकर कषाय-जनित विकारों की गंदगीरूपी मैल को धोकर साफ करता है, और अपने अनंत-गुणों की विशुद्धि को प्रगट करता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे रज-सोधा रज सोधिकैं दरब काढैं, पावक कनक-काढ़ि दाहत उपलकौं।

पंक के गरभ में ज्यों डारिये कतक-फल, नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥

भेदविज्ञानतः सिद्धाः ये किल केचन। अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ 7॥

दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौ, राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकौ।
तैसेँ ग्यानवंत भेदग्यान की सकति साधि, वेदै निज-संपति उछेदै पर-दलकौ॥ 10॥

शब्दार्थ :— जैसे रजसोधा रज सोधि कै दरब काढ़ै= जैसे रज सोधनेवाला रज सोधकर कीमती-वस्तु निकाल लेता है, पावक कनक-काढ़ि दाहत उपलकौ= (सुनार) स्वर्ण-पत्थर को अग्नि में तपाकर सोना निकाल लेता है, पंक के गरभ में ज्यों डारिये कतकफल= कीचड़-मिश्रित जल में जैसे फिटकरी को डालने पर, नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौ= वह मल/गंदगी को निधारकर जल को स्वच्छ कर देता है, दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौ= दही को मथनेवाला दही को मथकर जैसे मक्खन को निकाल लेता है, राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकौ= राजहंस-पक्षी जैसे जल को छोड़कर दूध पी लेता है, तैसेँ ग्यानवंत भेदग्यान-सकति साधि= उसीप्रकार ज्ञानी-जीव भेदविज्ञान की शक्ति को साधकर, वेदै निज-संपति उछेदै पर-दलकौ= अपनी संपदा का वेदन/अनुभव करता है और पर द्रव्य का समूह को त्याग करता है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने भेदविज्ञान की प्रक्रिया और उसके फलस्वरूप ज्ञानी-जीवों को मिलनेवाली उपलब्धि का कई उदाहरणों के माध्यम से बहुत सुंदर-स्पष्टीकरण किया है।

जैसे रज/धूल के कणों को सोधकर रजशोधक अपनी मेहनत से उसमें छिपी अपनी प्रयोजनभूत कीमती-सामग्री को निकाल लेता है। जैसे स्वर्णकार खदान से प्राप्त स्वर्णपत्थर को अग्नि में तपाकर अपनी बुद्धिमत्ता से उसमें छिपे स्वर्ण को निकाल लेता है। जैसे कितना भी गंदा जल हो या कीचड़ हो, उसमें यदि फिटकरी को डाल दिया जाये तो कीचड़ और पानी तुरंत अलग-अलग हो जाते हैं, अर्थात् कतकफल (फिटकरी) डालने से पानी ऊपर आ जाता है और सारी कीचड़ नीचे बैठ जाती है।

जैसे दही को मथनेवाला दही को ऐसे बिलोता है कि दही में छिपा हुआ मक्खन भी ऊपर आ जाता है और छाछ अलग हो जाती है। ऊपरी तौर पर देखने पर दूध में पानी कहीं दिखाई नहीं देता, लेकिन फिर भी राजहंस-पक्षी उस दूध में से दूध के कणों को पी लेता है और पानी को छोड़ देता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव अनादि से मिले देह और आत्मा को भेदविज्ञान की अनुपम-कला से देहादिक परद्रव्यों के बीच रहकर भी, देहादिक परद्रव्यों से भिन्न अपने अनंत-गुणात्मक-स्वरूप का वेदन कर लेते हैं।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में एक विशेष-बात है कि चाहे रजकण हों, स्वर्णपत्थर हो, कीचड़ हो, दही हो या दूध हो— सभी अपने सहज मिश्रितरूप में ही हैं, यहाँ तक कि उनमें प्रयोजनभूत-सामग्री प्रत्यक्ष दिखाई भी नहीं दे रही, लेकिन फिर भी उस विधा का पारखी अपनी कला-चातुर्य से उसमें से अपनी प्रयोजनभूत-सामग्री को प्राप्त कर लेता है। ठीक उसीप्रकार शरीर और आत्मा अनादि से साथ हैं, और उनमें से एक दृश्य और दूसरा अदृश्य होने पर भी ज्ञानी-जीव भेदविज्ञान की अनुपम-कला से मूर्तिक के बीच रहते हुये अमूर्तिक-आत्मा के अनंत-गुणों के रसास्वादन का वेदन प्रतिसमय करते हैं— यह है भेदविज्ञान की अनूठी-कला, और भेदविज्ञान के फलस्वरूप प्राप्त उपलब्धि।

(छप्पय)

प्रगटि भेद-विग्यान, आपगुन-परगुन जानै।

पर-परनति परित्याग, सुद्ध-अनुभौ-थिति ठानै॥

भेदज्ञानोच्छलन-कलनाच्छुद्ध-तत्त्वोपलम्भा-द्राग-ग्राम-प्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।

विभ्रतोषं परममलालोकमम्लानमेकं, ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्॥ 8॥

करि अनुभौ-अभ्यास, सहज संवर-परगासै।
 आस्रव-द्वार-निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै॥
 छय करि विभाव, समभाव भजि, निरविकल्प निज-पद गहै।
 निर्मल-विसुद्धि सासुत-सुथिर, परम-अतीन्द्रिय- सुख लहै॥ 11॥

शब्दार्थ :- प्रगटि भेद-विग्यान= भेदविज्ञान प्रगट होने पर आपगुन परगुन जानै= स्व-गुण और पर-गुणों को जानता है, पर-परनति परित्याग= पर-परिणति का त्यागकर, सुद्ध-अनुभौ-थिति ठानै= शुद्ध अनुभव/ स्वरूप में स्थिरता करता है, करि अनुभौ-अभ्यास सहज संवर-परगासै= आत्म-अनुभव का अभ्यास होने से सहज संवर प्रगट करता है, आस्रव-द्वार निरोधि करमघन-तिमिर विनासै= आस्रव द्वार के रुकने से घनघोर कर्मरूपी अंधकार विनाश को प्राप्त होता है, छय करि विभाव= विभावों को नष्ट करके, समभाव भजि= समता-भाव को धारण करके, निरविकल्प निज-पद गहै= विकल्प रहित निज-आत्मपद को ग्रहण करता है, निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर परम-अतीन्द्रिय-सुख लहै= स्वच्छ, विशुद्ध, शाश्वत, सुस्थिर, इन्द्रियों से रहित सुख को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने उस स्थिति का वर्णन किया है, जब भेदविज्ञान की प्रक्रिया निरन्तर चलती है, और प्रतिसमय भेदविज्ञान चलने पर जीव को कैसी अनुभूति होती है।

भेदविज्ञान का अर्थ ही यही है कि दो भिन्न-चीजों की भिन्नता का ज्ञान करना, सो जब 'स्व' अर्थात् आत्मा और 'पर' अर्थात् देहादिक समस्त-पदार्थों में भिन्नता का अनुभव होता है, तो स्व के अर्थात् अपने अनंत आत्मिक-गुण और देहादिक पर-द्रव्य के समस्त गुणों में सहज स्पष्ट भिन्नता प्रतिभासित होती है। जब जीव को स्वयं अपने अनंत-गुणों की महिमा आती है, तो पर-परिणति यानि मोह, राग, द्वेष आदि विकारी-भावों का सहज ही त्याग हो जाता है, और उपयोग स्वरूप को लक्ष्य करता है। जब अनुभूति का यह अभ्यास निरन्तर चलता है, तब जो विशुद्धि प्रगट होती है, उसे संवर कहते हैं। और संवर/आत्मानुभूति होने पर उपयोग स्वरूप में स्थिर होने से आस्रव का स्वयं निरोध हो जाता है, और कर्मघन अर्थात् अनंत-संसार का अनुबंध करनेवाली अनंतानुबंधी का घोर-अंधकार भी विनाश को प्राप्त होता है।

इसप्रकार समस्त-विभावों का क्षय करके, स्वरूप में स्थिरतारूप समता-भाव को भजकर या धारण करके निर्विकल्प-स्वात्मपद को प्राप्त करता है। और विकारों से रहित निर्मल, विशुद्धि अर्थात् स्वाभाविक-परिणमनरूप विशुद्धि प्राप्त कर, अनादि-अनंत शाश्वत, त्रिकाल रहनेवाला, इन्द्रियों से रहित परम-अतीन्द्रिय आत्मिक-सुख को प्राप्त करता है।



अज्ञानी-जीव की परिणति

ज्यों मतिहीन विवेक-बिना नर, साजि मतझज ईधन ढोवै।
 कंचन-भाजन धूल भरै शठ, मूढ़ सुधारससौं पग धोवै॥
 बाहित काग-उड़ावन-कारण, डार महामणि मूरख रौवै।
 त्यों यह दुर्लभ-देह 'बनारसि', पाय अजान अकारथ खोवै॥

(सप्तम-अधिकार)

निर्जरा-द्वार

(दोहा)

वरनी संवर की दसा, जथा-जुगति-परवानं।

मुक्ति-वितरनी निर्जरा, सुनहु भविक धरि कान॥ 1॥

शब्दार्थ :- वरनी संवर की दसा= संवर की दशा का वर्णन किया, जथा-जुगति-परवानं= युक्ति-प्रमाण के अनुसार, मुक्ति-वितरनी निर्जरा= (अब) मुक्ति को देनेवाली निर्जरा, सुनहु भविक धरि कान= हे भव्यजीव ! कान रखकर/ध्यान से सुनो।

विशेषार्थ :- निर्जरा-अधिकार के वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुये कविवर कहते हैं कि संवर का जैसा स्वरूप आगम में वर्णित है, मैंने वैसा ही वर्णन किया। अब आगे मुक्ति को देनेवाली निर्जरा का वर्णन करूँगा, सो सभी भव्यजीव कान लगाकर अर्थात् ध्यान से सुनो।

(चौपाई)

जो संवरपद-आनंदै, सो पूरवकृत-कर्म निकंदै।

जो अफंद है बहुरि न फंदै, सो निरजरा बनारसि बंदै॥ 2॥

शब्दार्थ :- जो संवरपद आनंदै= जो संवर का आनंद लेता है, सो पूरवकृत-कर्म निकंदै= सो पूर्व में किये हुए कर्मों की निर्जरा करता है, जो अफंद है बहुरि न फंदै= जो फंद/बंधन से रहित होकर दुबारा नहीं बंधते, सो निरजरा बनारसि बंदै= उस निर्जरा (अविपाक-निर्जरा) को बनारसी वंदन करता है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने निर्जरा का महत्त्व अर्थात् उस स्थिति का वर्णन किया है, जब जीव आत्मानुभूतिरूप संवर की प्राप्ति कर, उसका निरन्तर-अभ्यास करता है, जिससे उस समय भी नवीन कर्मों का बंध तो रुकता ही है, पहले बंधे कर्मों की भी निर्जरा होती है। और जैसे-जैसे कर्मों की निर्जरा होती जाती है, जीव उतना ही निर्बन्ध होता जाता है। यद्यपि सकाम निर्जरा तो हम सभी जीवों को भी प्रतिसमय हो रही है, पर वह निर्जरा पुनः कर्मबंधन में निमित्त होने से कार्यकारी नहीं है। जबकि यह निर्जरा ऐसी होती है, कि एकबार निर्जरित होने पर जीव दुबारा कर्मों के बंधन में नहीं बँधता, यानि मुक्ति की ओर ही अग्रसर होता है। बनारसीदास जी कहते हैं कि ऐसी निर्जरा को मैं सविनय-वंदन करता हूँ।

(दोहा)

महिमा सम्यग्ज्ञान की, अरु विरागबल जोड़।

क्रिया-करत फल-भुंजतै, करम-बंध नहिं होइ॥ 3॥

शब्दार्थ :- महिमा सम्यग्ज्ञान की= सम्यग्ज्ञान की महिमा, अरु विरागबल जोड़= और वैराग्य का बल दोनों, क्रिया-करत फल-भुंजतै= क्रिया करते हुए, फल भोगते हुये भी, करम-बंध नहिं होइ= कर्म का बंधन नहीं होता।

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः, कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।

प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धमधुना व्याजृम्भते निर्जरा, ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति॥ 1॥

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल। यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते॥ 2॥

विशेषार्थ :- इन पंक्तियों में कवि ने सम्यग्ज्ञान की महिमा और फल वर्णित किया है। कितनी अचिंत्य-महिमा है ज्ञान और वैराग्य की ? एकबार ज्ञान और वैराग्य सम्यक् होने पर जीव चाहे शुभ-अशुभ कैसी भी क्रिया करे, उन क्रियाओं का फल भोगता हुआ भी दिखाई दे, तब भी उसे कर्म का बंधन नहीं होता, जब कि अज्ञान-अवस्था में वह कर्म का बंधन प्रतिसमय होता है। तभी तो "दौलतराम जी" 'छहढाला' में कहते हैं — "सो सब महिमा ज्ञान-तनी मुनिनाथ कहे हैं"।

(सवेया इकतीसा)

जैसैं भूप कौतुक-सरूप करै नीच-कर्म, कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है।

जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ, जारहीसौं प्रेम भरतारसौं चित-बंक है॥

जैसैं धाड़ बालक चुँघाड़ करै लालि-पालि, जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।

तैसैं ग्यानवंत नाना-भाँति करतूति ठानै, किरियाकौ भिन्न मानै यातैं निकलंक है॥ 4॥

शब्दार्थ :- जैसैं भूप कौतुक-सरूप करै नीच कर्म= जैसे राजा कौतूहली-वृत्ति-स्वरूप तुच्छ-कर्म करता है, कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है= (फिर भी) वह खेल ही कहलाता है, उसे देखकर कौन उसे रंक/गरीब कह सकता है, जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार= जैसे व्यभिचारिणी व्यभिचार विचार करती है, वाकौ जारहीसौं प्रेम, भरतारसौं चित बंक है= उसका प्रेम अपने यार से ही रहता है, पति से प्रेम नहीं करती, जैसैं धाड़ बालक चुँघाड़ करै लालि-पालि= जैसे धाय बालक को दूध पिलाये लालन-पालन करे, जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है= तब भी वह उसे किसी और का ही मानती है, भले ही वह उसकी गोद में है, तैसैं ग्यानवंत नाना-भाँति करतूति ठानै= वैसे ही ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि-जीव विभिन्न-प्रकार के कार्य करते हैं, किरियाकौ भिन्न मानै यातैं निकलंक है= लेकिन उन क्रियाओं से स्वयं को भिन्न मानते हैं, इसलिये कलंक-रहित/निर्दोष है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने कई उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि-जीव भी, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव की भाँति ही संसार की सभी सामान्य-क्रियायें करता है; फिर भी सम्यग्दृष्टि-जीव 'निकलंक' और अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव 'कलंक-सहित' माना गया है।

जैसे कोई राजा किसी को आश्चर्यचकित करने के लिए या किसी अन्य कारणवश यदि कोई निम्न-कार्य भी करे, तो भी उसे कोई निम्न-जाति का नहीं कहता; बल्कि निम्न-कार्य करते हुये भी सब उसे राजा ही मानते हैं। ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव चाहे पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों में रत दिखे, चाहे व्यापार, युद्ध आदि करता हुआ दिखाई दे; तब भी वह जीव स्वयं को इन भोगों और क्रियाओं से भिन्न ही अनुभव करता है, —यही अन्तर है ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में।

जैसे कोई व्यभिचारिणी/चरित्रहीन-नारी भले ही पति के साथ रहती हो, फिर भी वह पति से प्यार नहीं करती, बल्कि प्रतिसमय पति से विमुख ही रहती है, जबकि अपने प्रेमी के साथ न रहने पर भी प्रतिसमय उसी का ध्यान करती है, उसी से प्यार करती है। ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भले ही देह और संयोगों के बीच रहे, पर फिर भी उसका चित्त यानि उपयोग स्व की ओर उन्मुख और पर से विमुख ही रहता है।

जैसे कोई धाय अर्थात् बच्चे को पालनेवाली, किसी बच्चे का पालन-पोषण करें, उसे गोद में बिठाये, यहाँ तक कि उसे दूध भी पिलाये फिर भी वह उस बच्चे को किसी और का ही बच्चा मानती है। अपने बच्चे की तरह पालन करती हुई भी स्वप्न में भी कभी उसको अपना बच्चा नहीं मानती है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव प्रतिसमय देह के साथ रहता है, देह की सारी क्रियायें भी करता है; लेकिन फिर भी उस धाय की तरह स्वप्न में कभी देह को अपना नहीं मानता।

कहने का अभिप्राय यही है कि सम्यग्दृष्टि-जीव कर्म के उदय में नानाप्रकार के स्वांग रखता है, शुभ-अशुभ विविधप्रकार की क्रियायें भी करता दिखता है, शरीर और शरीर से संबंधित सभी कार्य करता है; लेकिन चित्त में प्रतिसमय इन क्रियाओं के प्रति हेय भाव ही वर्तता है। 'मैं इन क्रियाओं को करते हुये भी इन क्रियाओं का मात्र ज्ञाता ही हूँ, कर्ता नहीं'— ऐसी कर्तृत्व-बुद्धि का अभाव होने से उसे 'निकलंक' यानि कालिमा-रहित कहा जाता है, और वहीं अज्ञानी-जीव को पर में कर्तृत्व-बुद्धि वर्तने से 'कलंकी' कहा जाता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसें निसि-वासर कमल रहै पंकही मैं, पंकज कहावै पै न वाकै ढिंग पंक है।

जैसें मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात, मंत्र की सकति वाकै बिना विष-डंक है॥

जैसें जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे-अंग, पानी में कनक जैसें काईसौं अटक है।

तैसें ग्यानवंत नानाभांति-करतूति ठानै, किरियाकौ भिन्न मानै यातें निकलंक है॥ 5॥

शब्दार्थ :— जैसें निसि-वासर कमल रहै पंकही में= जैसे रात-दिन कमल का फूल कीचड़ में रहता है, पंकज कहावै पै न वाकै ढिंग पंक है= पंकज भी कहलाता है, फिर भी उसके पास/स्वरूप में कीचड़ नहीं है, जैसें मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात= जैसे मंत्रवादी अपने शरीर को विषधर अर्थात् नाग से डसवाता है, मंत्र की सकति वाकै बिना विष डंक है= लेकिन मंत्र की शक्ति के कारण उस पर विष का असर नहीं होता, जैसें जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे-अंग= जैसे जीभ चिकनाई ग्रहण करके भी रूखी ही रहती है, पानी में कनक जैसें काईसौं अटक है= पानी में सोना जैसे काई से बेदाग रहता है, तैसें ग्यानवंत नानाभांति-करतूति ठानै= उसीप्रकार ज्ञानी-जीव विभिन्नप्रकार की क्रियायें करते हैं, किरियाकौ भिन्न मानै यातें निकलंक है= परन्तु उन क्रियाओं से स्वयं को भिन्न मानते हैं, इसीलिए निकलंक है।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने सम्यग्दृष्टि-जीव को कर्म की क्रिया करते हुये भी निर्बंध सिद्ध किया था, उसी कथन को पुनः कुछ और उदाहरणों के माध्यम से इस छंद में स्पष्ट किया है।

जैसे कमल का फूल, जो कीचड़ में ही खिलता है, दिन-रात कीचड़ में ही रहता है, नाम भी उसका 'पंकज' है, फिर भी उसके किसी कोने में भी कीचड़ का अस्तित्व नहीं होता, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भी दिन-रात देह के साथ ही रहता है, संसारीजन उसे देह के नाम से ही संबोधित करते हैं, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि में देह में एकत्वबुद्धि का कोई अस्तित्व नहीं होता, देह में रहते हुये भी वह देह से भिन्न ही रहता है।

जैसे कोई 'सर्पवशीकरण-मंत्र-विद्या' (गारुडी-विद्या) का जानकर हो, उसे कोई भयंकर-विषधर नाग काट भी ले; तो भी उन मंत्रों के कारण उसे उस नाग के विष का असर नहीं होता। 'आगम के अनुसार कर्म का उदय किसी भी जीव को किसी भी समय आ सकता है', सम्यग्दृष्टि-जीव के जीवन में भी पापोदय-जनित कितनी भी प्रतिकूलतायें आ जायें, वह उनसे कभी विचलित नहीं होता; क्योंकि उसके पास भी एक 'वशीकरण-मंत्र' है— कि 'मैं तो इन कर्मोदय-जनित प्रतिकूलताओं से भिन्न मात्र जाननहार-तत्त्व हूँ'— ऐसा अनुभवन होने से कर्मोदय-जनित विष का उस पर कोई असर नहीं होता।

जैसे जीभ कितने भी चिकने-पदार्थों का भक्षण करे, पर फिर भी वह हमेशा रूखी ही रहती है, उसपर चिकनाई का कोई असर नहीं होता, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव के जीवन में भी पुण्योदय-जनित कितनी भी अनुकूलतायें क्यों न आ जायें, वह कभी हर्षित होकर अभिमानी नहीं होता, उस समय भी वह स्वयं को इन सबसे भिन्न जाननहार ही अनुभव करता है।

जैसे सोना कितनी भी देर तक पानी में रहे, पर काई उसे कभी स्पर्श भी नहीं करती है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव कितना भी भोगों के बीच में रहे, भोक्तृत्व-बुद्धिरूपी काई उसे कभी स्पर्श भी नहीं करती; क्योंकि उसकी दृष्टि तो प्रतिसमय अभोक्तृत्व-स्वभावी आत्मा पर ही रहती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सम्यग्दृष्टि-जीव कर्मोदय-जनित नानाप्रकार की क्रियायें करते हैं, लेकिन उन क्रियाओं से स्वयं को प्रतिसमय भिन्न ही अनुभव करते हैं। पर में कर्तृत्व, देह में एकत्व, संयोगों में ममत्व, भोगों में भोक्तृत्व-बुद्धिरूपी कलंक का अभाव होने से वे 'निकलंक' है।

(दोहा)

पूर्व-उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती।

करै न नूतन-बन्ध, महिमा ज्ञान-विरागकी॥ 6॥

शब्दार्थ :- पूर्व उदै सनबंध= पूर्व कर्म के उदय से, विषै भोगवै समकिती= सम्यग्दृष्टि-जीव विषयों का भोग करता है, करै न नूतन-बन्ध= नवीन-बंध नहीं करता, महिमा ज्ञान-विरागकी= यह ज्ञान और वैराग्य की महिमा है।

विशेषार्थ :- इस छंद में ज्ञान और वैराग्य की महिमा के प्रभाव का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि पूर्व-कर्म के उदय के संबंध से वर्तमान में सम्यग्दृष्टि-जीव पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगता हुआ दिखाई देता है, परन्तु फिर भी उसे नवीन-कर्म का बंध नहीं होता; क्योंकि उसके अंतरंग में अपने स्वभाव के प्रति 'मैं तो मात्र जाननहार हूँ', और पंचेन्द्रिय के विषय भोगों के प्रति अंतरंग में वैराग्य अर्थात् अनासक्ति का भाव वर्तता है।

(सवैया तेईसा)

सम्यकवंत सदा उर-अंतर, ज्ञान-विराग उभै-गुन धारे।

जासु प्रभाव लखै निज-लच्छन, जीव-अजीव-दसा निरवारै॥

आतम कौ अनुभव करि ह्वै थिर, आप तिरै अर औरनि तारै।

साधि सुदर्व लहै सिव-सर्म, सु कर्म-उपाधि-विथा वमि-डारै॥ 7॥

शब्दार्थ :- सम्यकवंत सदा उर-अंतर= सम्यग्दृष्टि-जीव अपने अंतरंग में हमेशा, ज्ञान-विराग उभै गुन धारे= ज्ञान और वैराग्य दोनों गुण धारण करते हैं, जासु प्रभाव लखै निज-लच्छन= जिसके प्रभाव से अपने गुणों को देखते हैं, जीव-अजीव दसा निरवारै= जीव और अजीव की स्थिति का निवारण करते हैं, आतम कौ अनुभव करि ह्वै थिर= आत्मा का अनुभव करके स्थिर होते हैं, आप तिरै अर औरनि तारै= स्वयं तिरते हैं, औरों को भी तारते हैं, साधि सुदर्व लहै सिव सर्म= स्वद्रव्य को साधते हैं, और मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं, सु कर्म उपाधि विथा वमि डारै= और कर्म की उपाधिरूप व्यथा को वमन/दूर करते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने ज्ञान और वैराग्य को सर्वश्रेष्ठ ही नहीं, मोक्ष का कारण भी कहा है। सम्यग्दृष्टि-जीव अंतरंग में इन दोनों गुणों को धारण करता है, अंतरंग में क्यों? क्योंकि जो जीव अंदर से विरक्त होता है, उसकी चर्या में विरक्ति सहज दिखाई देती है।

नाशनुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।

ज्ञानवैभव-विरागता-बलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥ 3॥

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः, स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च, स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥ 4॥

संसार में प्रत्येक वस्तु परिणामनशील और स्वतंत्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। संयोगों का मिलना-बिछुड़ना पुण्य-पाप के आधीन है। देहादिक समस्त-पदार्थ अजीव हैं, जड़ हैं, क्षणभंगुर/विनाशीक है, और मैं अनंत-गुणों का धारी, अजर, अमर, अविनाशी जीव-तत्त्व हूँ। जब जीव को अपने ज्ञान-गुण से जगत् की स्वचालित वस्तु-व्यवस्था का यथार्थ और सम्यक्-निर्णय होता है, तो सहज ही अंतरंग से वैराग्य प्रगट होता है। सम्यग्दृष्टि-जीव का ये सम्यक्-श्रद्धान ही उसे मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर करता है।

जब जीव को आत्मस्वरूप का सम्यक्-निर्णय होता है, स्वरूप की महिमा और अनंत-गुणों से परिचय होता है, तो स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ भी सहज चलता है। जीव का यही सम्यक्-पुरुषार्थ न केवल स्वयं को संसाररूपी-समुद्र को पार करने में सहायक होता है; बल्कि औरों के लिए भी प्रेरणास्रोत बनता है। स्व-द्रव्य को साधते हुये अर्थात् अपने उपयोग को स्व-स्वरूप में केन्द्रित करते हुये और कर्मोदय-जनित उपाधि अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों का वमन करते हुए जीव अल्प-समय में मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

(सवैया तेईसा)

जो नर सम्यकवंत कहावत, सम्यग्ज्ञान-कला नहि जागी।
आतम-अंग अबंध विचारत, धारत-संग कह हम त्यागी॥
भेष धरै मुनिराज-पटंतर, अंतर मोह-महानल दागी।
सुन्न-हिये करतूति करै पर, सो सठ-जीव न होय विरागी॥ 8॥

शब्दार्थ :— जो नर सम्यकवंत कहावत= जो व्यक्ति स्वयं को सम्यग्दृष्टि कहते हैं, सम्यग्ज्ञान-कला नहि जागी= (परन्तु जिनके) सम्यग्ज्ञान-कला जागृत नहीं हुई, आतम-अंग अबंध विचारत= आत्मा को बंधनमुक्त मानते हैं, धारत-संग कहैं हम त्यागी= परिग्रह धारण करके भी स्वयं को 'त्यागी' कहते हैं, भेष धरै मुनिराज-पटंतर= मुनिराज के समान भेष धारण करते हैं, अंतर मोह-महानल दागी= अंतरंग में मोहरूपी भयंकर-अग्नि धधक रही है, सुन्न-हिये करतूति करै पर= शून्य-हृदय से क्रियायें करता है, परन्तु सो सठ जीव न होय विरागी= वह जीव मूर्ख है, कभी विरागी नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र की कोई कीमत नहीं है, अर्थात् समस्त-क्रियायें व्यर्थ हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्रत, तप, ध्यान आदि क्रियायें कर्मों की निर्जरा का कारण है, सम्यग्ज्ञान के अभाव में वही क्रियायें कर्मबंधन की कारण हैं।

सम्यग्ज्ञान के अभाव में यदि कोई व्यक्ति स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानकर चारित्र को अंगीकार करता है, स्वयं को बंधनमुक्त अर्थात् मोक्षमार्गी मानता है, परिग्रह को धारण करते हुये भी स्वयं को त्यागी कहता है, वह जीव विरागी नहीं मूर्ख है। क्योंकि ऐसी विपरीतता जिनधर्म में संभव नहीं है।

संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, कुछ जीव ऐसे हैं, जिन्हें आत्मस्वरूप का श्रद्धान और ज्ञान तो है नहीं, और भावावेश में या देखादेखी बाहर में मुनिवेश अंगीकार करते हैं, और मुनिचर्या का पालन भी करते हैं, कविवर कहते हैं कि वह मुनिपना व्यर्थ है; क्योंकि ऐसे जीवों को मिथ्यात्व का सद्भाव होने से अंतरंग में मोहरूपी-अग्नि प्रतिसमय धधकती रहती है। ऐसे जीव शून्य-हृदय से या भावरहित

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-दित्युत्तानोत्तुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।

आलम्बन्तां समितिपरां ते यतोऽद्यापि पापा, आत्मानात्मावगम-विरहात् सन्ति सम्यक्त्व-रिक्ताः ॥ 5 ॥

मुनियों का बाहरी-आचरण भी पालते हैं, लेकिन जैसे अंकरहित-शून्य की कोई कीमत नहीं है, उसीप्रकार भावरहित-क्रिया या कहेँ सम्यक्त्व के बिना व्यवहार-चारित्र की भी कोई कीमत नहीं है।

हे आत्मन्! आगम के अनुसार सम्यक् रूप से चारित्र का पालन तो सम्यग्दृष्टि-जीव को ही होता है। बिना सम्यग्दर्शन के व्रत, तप, शील, संयामादि व्यवहार-चारित्र कार्यकारी नहीं है।

'आचार्य योगीन्द्र देव' 'योगसार जी' में कहते हैं—

वय-तव-संजम-मूलगुण, मूढहँमोक्खुणवुत्तु।

जावु ण जाणइ इक्कु परु सुद्धउ-भाव पवित्तु॥ —(योगसार जी गाथा नं 29)

अर्थात् जब तक एक परमशुद्ध श्रेष्ठतम (आत्मा) का ज्ञान नहीं होता, तब तक मूढ़-लोगों के जो व्रत-तप-संयम और मूलगुण आदि हैं, उन्हें मोक्ष का कारण नहीं कहा जा सकता है।

वहीं अगली-गाथा में आचार्य भगवन् कहते हैं कि यदि जीव व्रत, तप, संयम, शील के साथ निर्मल-आत्मा को भी पहिचानता है, तो वह शीघ्र ही शिव-सुख को प्राप्त करता है—

जइ णिम्मलु अप्पा मुणइ वय-संजम-संजुत्तु।

तो लहु पावइ सिद्धि-सुहु इउ जिणणाहहँ उत्तु॥ —(योगसार जी गाथा नं 30)

कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मानुभूति के बिना व्यवहार-चारित्र ठीक उसीप्रकार है, जैसे बिना बीज डाले फसल के उगने का इंतजार करना। जैसे कोई किसान खेत में बीज तो ना डाले और बाकी सब काम समय पर और अवश्य करे; जैसे खूब हल चलाये, खाद-पानी भी डाले, कीड़ों से भी सुरक्षित रखे, यानि हरप्रकार का पुरुषार्थ करे, और फसल आने का इंतजार भी करे, लेकिन क्या फसल आयेगी? नहीं, क्यों? अरे भाई! जब बीज ही नहीं डाला, तो फसल कैसे उगेगी? ठीक उसीप्रकार जब तक निश्चय-चारित्र का बीज यानि सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तब तक व्यवहार में भी सम्यक्-चारित्ररूपी फसल नहीं लहलहायेगी, और ना ही मोक्षरूपी फल लगेंगे।

(सवैया तेईसा)

ग्रन्थ रचै, चरचै सुभ-पंथ, लखै जगमै विवहार सुपत्ता।

साधि-संतोष अराधि-निरंजन, देह सुसीख, न लेइ अदत्ता॥

नंग-धरंग फिरै तजि-संग, छकै सरवंग मुधारस-मत्ता।

ए करतूति करै, सठ पै, समुझै न अनातम-आतम-सत्ता॥ 9॥

शब्दार्थ :— ग्रन्थ रचै, चरचै सुभ-पंथ= ग्रंथों की रचना करें, शुभ-मार्ग की चर्चा करें, लखै जगमै विवहार सुपत्ता= संसार में सुपात्र को देखकर व्यवहार करें, साधि-संतोष अराधि-निरंजन= संतोष धारणकर राग-द्वेषरूपी-अंजन से रहित की आराधना करें, देह सुसीख न लेइ अदत्ता= अच्छी सीख/उपदेश दें, बिना दिये कुछ भी ग्रहण न करें, नंग-धरंग फिरै तजि-संग= परिग्रह छोड़कर नग्न-अवस्था में विचरण करें, छकै सरवंग मुधारस-मत्ता= सर्वांग में छककर मूढ़ता के रस में धुत हों, ए करतूति करै सठ पै= (ऐसे जीव कितनी भी) क्रियायें करें, पर वे मूर्ख हैं, समुझै न अनातम-आतम सत्ता= आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को नहीं समझते।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने अंतरंग में आत्मस्वरूप के सम्यक्-श्रद्धान से रहित, और बाहर में मुनिवेष धारण करनेवाले द्रव्यलिङ्गी-मुनि के स्वरूप का वर्णन किया है। जबतक जीव को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है, तब तक उसकी मुनिधर्म-संबंधी समस्त-क्रियायें निष्फल/व्यर्थ हैं।

फिर चाहे वह मुनिवेषधारी-जीव सुन्दर-शास्त्र-रचना करे, चर्चा करे, बहिरंग-मुनिधर्म का

निरतिचार-पालन करे, लोक में भी सुसंगत-जीवों के साथ ही व्यवहार करें, आचरण में संतोषी-प्रवृत्ति हो अर्थात् अन्याय, अनीति, अनाचार से कोई वास्ता न हो, 'अंजनरहित' यानि निर्दोष अर्थात् जन्म-मरण आदि समस्त-दोषों से रहित अरिहंत, सिद्ध-परमात्मा की आराधना करे। कहने का अभिप्राय है कि वीतरागी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का उपासक हो, अच्छी शिक्षा दें, बिना दिया कुछ भी ग्रहण न करे अर्थात् चोरी आदि समस्त पापों से रहित हो, संपूर्ण-परिग्रह का त्यागकर नग्न रहते हों, फिर भी वह मुनिपना निरर्थक है।

हे आत्मन्! आगम में आत्मज्ञान के अभाव में होनेवाले अर्थात् अज्ञानतापूर्वक किये जानेवाले इस तपश्चरण को 'बालतप' और 'मूढ़ता' की संज्ञा दी गई है, और द्रव्यलिंगी-मुनि इन मूढ़ताओं के रस में ही आनंदित है, अर्थात् देह-आश्रित होनेवाली इन जड़-क्रियाओं में ही संतुष्ट हैं, वह इन भावरहित-क्रियाओं से ही अपने को मोक्षमार्गी मानता है। कविवर कहते हैं कि मोक्षमार्ग की दृष्टि से ऐसे जीव की सभी क्रियायें निरर्थक हैं, क्योंकि जबतक जीव को आत्मा और अनात्मा की भिन्नता का ज्ञान नहीं है, अर्थात् मैं त्रिकाल-शुद्ध चेतन-आत्मा हूँ, और अनात्मा अर्थात् जिसमें चेतनता का अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे मोह, राग, द्वेषादि समस्त विकारी-भाव और देहादिक समस्त संयोगी जड़-पदार्थों से पूर्णतः भिन्न हूँ। "मैं तो मात्र जाननहार तत्त्व हूँ, इन जड़-क्रियाओं का कर्ता मैं नहीं हूँ"— जबतक जीव को ऐसा श्रद्धान नहीं है, तबतक वह जीव मुनिधर्म के अनुरूप कितनी भी क्रियायें करे, तो भी वह शठ है अर्थात् मूर्ख है, विरागी नहीं है।

(सवैया तेईसा)

ध्यान धरै, करै इंद्रिय-निग्रह, विग्रहसौं न गनै निज-नत्ता।
 त्यागि विभूति, विभूति मढ़ै तन, जोग गहै, भवभोग-विरत्ता॥
 मौन रहै, लहै मंदकषाय, सहै वध-बंधन, होइ न तत्ता।
 ए करतूति करै सठ पै, समुझै न अनातम-आतम सत्ता॥ 10॥

शब्दार्थ :— ध्यान धरै करै इंद्रिय-निग्रह= स्थूलरूप से ध्यान करें, इंद्रियों को वश में भी करे, विग्रहसौं न गनै निज-नत्ता= अपने शरीर से नाता नहीं रखते, त्यागि विभूति, विभूति मढ़ै= बाह्य-वैभव को त्यागकर, भभूति लगायें, तन-जोग गहै भवभोग-विरत्ता= काय-योग ग्रहण करे, संसार और विषयभोगों से विरक्त हों, मौन रहै लहै मंदकषाय= चुप रहें, मंद-कषाय को प्राप्त हों, सहै वध-बंधन होइ न तत्ता= वध-बंधन सहन करें, फिर भी दुःखी न हों, ए करतूति करै सठ पै= इतनी क्रियायें करने पर भी मूर्ख, समुझै न अनातम-आतम-सत्ता= अनात्मा और आत्मा के स्वरूप को नहीं समझता।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने पुनः स्पष्ट किया कि भेदविज्ञान अर्थात् चेतन और अचेतन के भेद को जाने बिना समस्त-आचरण मिथ्या है। जगत् में ऐसे अनेकों जीव हैं, जो मुक्ति पाने के लिए मुनिवेष धारणकर अनेकानेक-क्रियायें करते हैं, कईप्रकार के कठिन से कठिन आसन लगाकर ध्यान करते हैं। पाँचों-इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं, जैसे जमीन पर सोना, सदी-गर्मी-बरसात सहन करना, दिन में एक बार आहार करना, उसमें भी कई-कई दिनों तक निर्जल-उपवास भी करना, वनों और गुफाओं में रहना इत्यादि क्रियायें करते हैं।

शरीर से कोई नाता नहीं रखते अर्थात् शरीर से रंचमात्र भी स्नेह नहीं रखते, जगत् के समस्त वैभव, मान-सम्मान, धनादि का त्याग करते हैं, बहुत से भेषधारी अपने तन पर भभूति लगाकर घोर-साधना करते हैं, तरह-तरह के प्राणायाम, योगा आदि भी करते हैं, संसार और भोगों से पूरी तरह विरक्त रहते हैं,

सुनसान बियावान-जंगलों में शरीर को नानाप्रकार के कष्ट देकर साधना करते हैं, कई दिनों तक मौन रहते हैं, कषाय में भी इतनी मंदता होती है कि उनके शरीर को काटकर नमक भी भर दें, तो आँख का कोना भी लाल न हो, वध-बंधन आदि अनेक दुःख, कितने भी उपसर्ग-परीषह आयें, सब सहन करते हुये रंचमात्र भी दुःखी नहीं होते। आश्चर्य कि बात है कि वह जीव इतनी सब क्रियायें करता है, किसलिये? एकमात्र सुखी होने के लिये, मुक्ति पाने के लिए; फिर भी न तो वह सुखी होता है और न ही मुक्त; क्योंकि वह आत्मा और अनात्मा या स्व और पर की भिन्नता को नहीं समझता।

(चौपाई)

जो बिनु-ग्यान क्रिया अवगाहै, जो बिनु-क्रिया मोखपद चाहै॥

जो बिनु-मोख कहे मैं सुखिया, सो अजान मूढनि में मुखिया॥ 11॥

शब्दार्थ :- जो बिनु-ग्यान क्रिया अवगाहै= जो बिना ज्ञान के क्रिया/चारित्र को ग्रहण करे, जो बिनु-क्रिया मोखपद चाहै= जो बिना क्रिया/चारित्र के मोक्ष प्राप्त करना चाहे, जो बिनु मोख कहे मैं सुखिया= जो बिना मोक्ष प्राप्त किये ही कहे कि "मैं सुखी हूँ", सो अजान मूढनि में मुखिया= वह अज्ञानी-जीव, मूर्खों का मुखिया है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने उन सभी जीवों की चर्चा की है, जो मोक्ष की प्राप्ति के लिए स्व-पर में भेदविज्ञान को छोड़कर बाकी सब कुछ करना चाहते हैं। संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, कुछ जीव ऐसे हैं जो बिना ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्राप्त किये बिना मात्र चारित्र के बल पर ही मोक्ष पाना चाहते हैं, इसलिये वे चारित्र का तो यथायोग्य-पालन करते हैं, परन्तु आत्मश्रद्धान बिल्कुल नहीं करते हैं। कविवर कहते हैं कि वे जीव मूर्ख हैं, क्योंकि स्वयं को जाने बिना ज्ञान कभी सम्यक् नहीं होता और जब ज्ञान सम्यक् नहीं, तो क्रिया सम्यक् कैसे होगी? जबतक हमें यह नहीं पता होगा कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वभाव है? मुझे सुखी होना है, तो मेरे लिये प्रयोजनभूत क्या है? उसके लिए मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं? तबतक हम जो भी क्रिया करेंगे, वह सम्यक् नहीं होगी। इसीलिए पहले सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति और फिर क्रिया या चारित्र के पालन का उपदेश आगम में दिया गया है।

संसार में कुछ जीव ऐसे हैं, जो बिना क्रिया या चारित्र पालन किये ही मोक्ष पाना चाहते हैं, अर्थात् ऐसे जीव शास्त्र-स्वाध्याय तो खूब करते हैं, दिन-रात आत्मा की ही बात करते हैं, लेकिन चारित्रपरक समस्त क्रियाओं को कर्मकांड मानते हैं। इसलिये विवेकशून्य होकर अभक्ष्य-भक्षण, अन्याय-अनीतिपूर्वक आचरण भी करते हैं, अर्थात् विचारों में, शब्दों में तो आत्मा, पर आचरण में तदनु रूप कुछ भी नहीं। क्योंकि वे तो ये मानते हैं कि "आत्मा तो न कुछ खाता है, और न ही कुछ करता है, ये भोजन और परिणमन-संबंधी क्रिया तो जड़ में हो रही है, मैं इस भोजन या परिणमन-संबंधी क्रिया का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो अकर्ता-स्वभावी आत्मा हूँ।" कविवर कहते हैं "वे जीव भी मूर्ख ही हैं।"

संसार में कुछ जीव ऐसे भी हैं, जो ये मानते हैं कि "मैं तो मुक्त ही हूँ, आत्मा कभी कर्मों से बँधा ही नहीं, सो मुझे मोक्ष-प्राप्ति की आवश्यकता ही नहीं है, मैं तो वर्तमान में भी पूर्ण-सुखी हूँ,"— ऐसे जीव भी मूर्ख ही हैं। कवि तो यहाँ तक कहते हैं कि ये जीव अज्ञानी और मूर्ख ही नहीं हैं, 'मूर्खों के भी मुखिया' अर्थात् महामूर्ख हैं।

सम्यग्ज्ञान अर्थात् जीवादि-पदार्थ जिस रूप में है, उनको ज्यों का त्यों जानना। और सम्यक्चारित्र अर्थात् सम्यक्-आचरण, जिन क्रियाओं से कर्मों का ग्रहण हो, उनके त्याग का नाम सम्यक्-चारित्र है।

कई बार ऐसा कहने में आता है कि सम्यग्दर्शन हो गया, तो मोक्ष तो हो ही जायेगा। — इस भ्रांति

को दूर करने में यह कथन बहुत कारगर साबित होता है कि अकेला सम्यग्दर्शन ही मोक्ष मार्ग नहीं है, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र भी साथ होना चाहिये। हालाँकि ये बात सही है कि सम्यग्दर्शन होने से आपकी गाड़ी सही रास्ते पर तो आ गई है, पर अगर गाड़ी वहीं खड़ी रही, तो मंजिल पर कैसे पहुँचेगी? इसलिये तीनों का होना बहुत जरूरी है। सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के साथ ही हो जाता है, पर सम्यक्चारित्र के लिये पुरुषार्थ जरूरी है।

हाँ, यह बात भी सत्य है कि ये पुरुषार्थ सहज होता है। जब श्रद्धा, ज्ञान सम्यक् होते हैं, तो जीव स्वरूप में लीन होने का पुरुषार्थ करता है; तब बाहर में कषाय की मंदता से व्रतादिक और 28 मूलगुणों के पालन के भाव सहज आते ही हैं, करने नहीं पड़ते, फिर भी ये व्यवहार-कथन ही है। निश्चय से तो अपने आत्मस्वरूप का सच्चा-श्रद्धान, सच्चा-ज्ञान, और उसमें लीनता ही सच्चा मोक्ष-मार्ग है।

(सवैया इकतीसा)

जगवासी-जीवनसौं गुरु उपदेस कहैं, तुमैं इहां सोवत अनंतकाल बीते हैं।
जागौ हूँ, सचेत-चित्त समता-समेत सुनौ, केवलि-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं॥
आवौ मेरे निकट, बताऊँ मैं तुम्हारे गुन, परम-सुरस भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे बैन कहैं गुरु, तौऊ तैं न धरे उर, मित्त कैसे पुत्त किधौं चित्र कैसे चीते हैं॥ 12॥

शब्दार्थ :— जगवासी-जीवनसौं गुरु उपदेस कहैं= संसार के जीवों से गुरु उपदेश-स्वरूप कहते हैं, तुमैं इहां सोवत अनंतकाल बीते हैं= तुम्हें यहाँ सोते हुए अनंतकाल बीत गया है, जागौ हूँ सचेत-चित्त समता-समेत सुनौ= जागृत होकर, ध्यानपूर्वक समताभाव से सुनो, केवलि-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं= केवली के वचन, जिन्होंने इन्द्रियों के रस अर्थात् विषयों के आकर्षण को जीता है, आवौ मेरे निकट आओ बताऊँ मैं तुम्हारे गुन= आओ, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें तुम्हारे गुण/हित बताता हूँ, परम-सुरस भरे करमसौं रीते हैं= परमानंद-रस से भरे हुये हैं, कर्म से खाली हैं, ऐसे बैन कहैं गुरु तौऊ तैं न धरे उर= गुरु ऐसे वचन कहते हैं, फिर भी तुम हृदय में धारण नहीं करते, मित्त कैसे पुत्त किधौं चित्र कैसे चीते हैं= क्या तुम मिट्टी के पुतले हो या तस्वीर में बने चित्र/आकृति हो।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने हम अज्ञानी-जीवों पर की गई आचार्यों की करुणा का बहुत ही सुंदर और मधुर-शब्दों में वर्णन किया है। हे जगत् के जीवो! तुम्हें यहाँ सोते हुए अनंतकाल बीत गया अर्थात् अनादिकाल से आज तक यह जीव मोह की मदिरा पीकर गहरी-निद्रा में सोया हुआ है।

ऐसा क्यों कहा आचार्यों ने? क्योंकि अनादि से आज तक हमने सबको जाना, परन्तु एकमात्र अपने स्वरूप को नहीं पहचाना, और मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों में ही लिप्त रहे, इसीलिये आचार्य भगवन् कहते हैं कि 'हे चेतन! अब तो जागो! सचेत होकर, सावधान होकर, शांत-चित्त से यानि समताभाव धारण करके मेरी बात सुनो। हे आत्मन्! ये मेरे नहीं, केवली के वचन हैं, जिन्होंने अक्षरस अर्थात् पंचेन्द्रिय कि विषयों को जीता है। और जब तुम इन वचनों को सुनोगे, तो आज तक जिन पंचेन्द्रिय के विषयों ने तुम्हें अपने आधीन कर रखा था, तुम भी उन विषयों पर विजय प्राप्त कर सकोगे'।

'हे मोह की चिर-निद्रा में सुप्त-जीवो! तुम मेरे पास तो आओ, मैं तुम्हें तुम्हारे अनंत-गुणों से परिचित करवाऊँगा, तुम आनंद-रस से परिपूर्ण शुद्ध चेतन-तत्त्व हो, और कर्म से रीते हो अर्थात् जहाँ

आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमन्ताः, सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्थाः।

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः, शुद्धः शुद्धः स्वरस-भरतः स्थायि-भावत्वमेति॥ 6॥

मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विकारी-भावों का तो अस्तित्व भी नहीं है।"

कैसी बिडम्बना है कि आचार्य भगवन् इतने मधुर-शब्दों में हमें हमारे ही हित की बात कह रहे हैं, फिर भी हम उन वचनों को अपने हृदय में धारण नहीं करते। तब गुरुजी कहते हैं कि—" ऐसा लगता है कि या तो तुम मिट्टी के पुतले हो या फिर तस्वीर में बने चित्र के समान हो; क्योंकि जैसे मिट्टी के पुतले से या तस्वीर में बने चित्र से कुछ भी कहो उसे कोई फर्क नहीं पड़ता है; ठीक उसीप्रकार हम इतने स्नेह और वात्सल्य से तुम्हें तुम्हारी ही निधि बतला रहे हैं, और तुम हो कि मानना तो दूर, सुनना भी नहीं चाहते हो? कैसी विचित्र-महिमा है मोह-ग्रसित हम अज्ञानी-जीवों की।

(दोहा)

एते पर बहुरौं सुगुरु, बोलें वचन-रसाल।

सैन-दसा जागृत-दसा, कहै दुहूँ की चाल॥ 13॥

शब्दार्थ :— एते पर बहुरौं सुगुरु= इतनी बात होने पर पुनः सुगुरु, बोलें वचन-रसाल= मीठे-वचनों में बोले, सैन-दसा जागृत-दसा= शयनदशा और जागृतदशा, कहै दुहूँ की चाल= दोनों की स्थिति को कहता हूँ।

विशेषार्थ :— इस छंद में गुरु की प्रतिज्ञा का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि इतने पर भी दयालु-गुरु बहुत ही मीठे-शब्दों में जीव की 'शयनदशा' (अज्ञानभाव) और 'जागृतदशा' (ज्ञानभाव) का वर्णन करते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि हम अज्ञानी-जीव तो ढीठ हैं, बेसुध हैं, सुनने को तैयार भी नहीं हैं, पर फिर भी आचार्यों की, गुरुओं की करुणा तो देखो कि वे हमें हमारे हित के लिये, हमें हमारी मनःस्थिति का परिचय करवाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

(सवैया इकतीसा)

काया-चित्रसारी में करम-परजंक भारी, माया की संवारी सेज चादरि-कल्पना।

सैन करै चेतन अचेतनता-नींद लिये, मोह की मरोर यहै लोचन कौ ढपना॥

उदै-बल जोर यहै स्वासकौ सबद-घोर, विषै-सुख-कारज की दौर यहै सपना।

ऐसी मूढ़-दसामैं मगन रहै तिहुँ-काल, धावै भ्रमजाल में न पावैं रूप अपना॥ 14॥

शब्दार्थ :— काया-चित्रसारी में करम-परजंक भारी= शरीररूपी शयनागार में कर्मरूपी भारी-पलंग, माया की संवारी सेज चादरि कल्पना= छल-कपट से सजी सुन्दर सेज/बिस्तर पर कल्पना की चादर (ओढ़कर), सैन करै चेतन अचेतनता नींद लिये= जीव सो रहा है, जड़ की तरह गहरी-नींद में, मोह की मरोर यहै लोचन कौ ढपना= मोह की तीव्रता से आँखें बंद हैं, उदै-बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर= कर्मोदय का जोर, श्वास का बहुत शोर, विषै-सुख-कारज की दौर यहै सपना= विषय-सुख को पाने के लिए की दौड़ रहा है, यह सपना (देख रहा है), ऐसी मूढ़दसा में मगन रहै तिहुँ-काल= ऐसी अज्ञानदशा में तीनों काल मगन रहता है, धावै भ्रमजाल में न पावैं रूप अपना= भ्रमरूपी जाल में दौड़ता है, लेकिन अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करता।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने अनादि से मोह की निद्रा में सुप्त हम अज्ञानी-जीवों की वास्तविक-स्थिति का बहुत ही सुंदर-चित्रण किया है। जैसे लोक में संसारी-प्राणी अपने आलीशान-महल में सुंदर-पलंग पर बेसुध होकर सोता है। वह मात्र सोता ही नहीं नये-नये सपने भी बुनता है, और उन सपनों के पूरा होने के लिये योजनायें भी बनाता है; लेकिन सपने देखते-देखते कब सुबह हो जाती है, और सारे सपने चकनाचूर हो जाते हैं— इसे पता ही नहीं चलता। ठीक वैसा ही चित्रण कवि ने इस छंद में किया है।

कविवर कहते हैं शरीर रूपी शयनागार में कर्मरूपी भारी पलंग है, शयनागार यानि विश्राम स्थल जो हमें एक निश्चित अवधि के लिये ही मिला है, समय पूरा होते ही खाली करना पड़ेगा, 'भारी' इसलिए क्योंकि अनंत संसार का अनुबंध करनेवाली अनंतानुबंधी जो मौजूद है, छल कपट के प्रपंचों से बुनी पर बाहर से सजी-संवरी सेज सजी हुई है, जिस पर कल्पनाओं की चादर रखी है, सच भी यही है जीव की मनःस्थिति भी ऐसी ही है वास्तविकता में कुछ हो न हो पर कल्पनाओं की उड़ान हमेशा ऊँची ही रहती है, उस पलंग पर जीव-राजा अचेतन होकर अर्थात् स्वयं के चेतनस्वरूप को भूलकर अचेतन की तरह लेटा हुआ है, जैसे ठंडी हवा लगते ही पलकें अपने आप झुकने लगती है, ठीक उसीप्रकार मोह के तीव्र झकोरों से पलकें स्वतः ही बंद होने लगी है।

जैसे गहरी नींद में होने पर घुरकने या खर्राटों की तेज आवाज आती है, ठीक उसीप्रकार इधर कर्मोदय का जोर और उधर साँसों की तेज आवाज होने पर भी ये जीव-राजा चैन से सोया है, सोया ही नहीं सपने देखने में भी मस्त है, सुख की चाह में पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों को जुटाने और उनको भोगने की चाहत में मगन— ऐसी मूढता या अज्ञानतापूर्ण स्थिति में ये जीव तीनों काल अर्थात् प्रतिसमय दौड़ता रहता है, इस भ्रम में कि अब सुख मिलेगा, अब सुख मिलेगा, और अपने वास्तविक स्वरूप से अनजान रहते हुये इस बीच कब आयु पूरी हो जाती है, इसे पता ही नहीं चलता, और फिर वही चक्र नया शरीर, नये सपने, इसी तरह अनंतकाल बीतता चला गया।

(सवैया इकतीसा)

चित्रसारी न्यारी, परजंक न्यारौ, सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी, इहां झूठी मेरी थपना।

अतीत-अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ पै, न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना॥

स्वास औ सुपन दोऊ निद्रा की अलंग बूझै, सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।

त्यागी भयौ चेतन, अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना॥ 15॥

शब्दार्थ :— चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ सेज न्यारी= (मुझसे) शयनागार भिन्न, पलंग भिन्न, सेज भिन्न, चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी थपना= चादर भी भिन्न है, यहाँ मेरी स्थापना/अस्तित्व भी झूठा है, अतीत-अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ= अतीतकाल की सोने की अवस्था में सोनेवाला भी कोई और था, पै न विद्यमान पलंक न यामैं अब छपना= अब वर्तमान में न वह पलंग है न उसमें मेरा अस्तित्व है, स्वास औ सुपन दोऊ निद्रा की अलंग बूझै= श्वास और स्वप्न दोनों नींद के संयोग से थे, सूझै सब अंग लखि आतम-दरपना= अब आत्म-दर्पण में अपने गुण साफ दिखाई दे रहे हैं, त्यागी भयौ चेतन अचेतनता-भाव त्यागि= अब चेतन अचेतनता-भाव त्यागकर त्यागी हुआ है, भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना= और अच्छे से आँख खोलकर अपने आत्मस्वरूप को संभालता है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने उस स्थिति का वर्णन किया है, जब निरन्तर भेदविज्ञान करते हुये सम्यक्-श्रद्धानुरूप आत्मानुभूति होने से जीव का ज्ञान भी सम्यक् हो गया है। सम्यग्ज्ञान से पूर्व सभी वस्तुओं में जो ममत्वपना भासित हो रहा था, अब वे सभी वस्तुयें स्वयं से भिन्न दिखाई दे रही हैं। शरीररूपी शयनागार, कर्मरूपी पलंग, मायाजनित सेज, और कल्पना की चादर, —इनमें अब उसे अपना अंश भी नजर नहीं आता, अर्थात् देह से, मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों, कषायों से, सांसारिक समस्त-क्रियाओं से भेदज्ञान वर्त रहा है। यद्यपि अभी सब चीजें यथावत् जैसी थीं, जहाँ थीं, वैसी ही हैं, कुछ भी नहीं बदला है; बस दृष्टि बदल गई, पहले जहाँ मोह की धारा चल रही थी, अब वहाँ ज्ञान की धारा बह रही है।

मोही-जीव की अतीत में जो सुप्त-अवस्था थी, ज्ञान प्रकट होने पर जीव को अनुभव होता है कि वह अवस्था मेरी नहीं थी, वो सोनेवाला कोई और था, अब तो मुझे वर्तमान का एक-पल भी उस मोहनिद्रा-रूप नहीं बिताना है।

ये श्वास और स्वप्न दोनों ही नींद से संबंध रखते हैं; क्योंकि लौकिक में भी जब जीव सोता है, तभी स्वप्न और श्वास की आवाज (खर्राटे) आती है। उसीप्रकार कर्मोदय का जोर और श्वास के चलने का संबंध भी मोह से है, वर्ना जीव तो समस्त-कर्मों से त्रिकाल भिन्न, अजर-अमर-अविनाशी-तत्त्व है। सम्यग्ज्ञान होने से आत्मारूपी-दर्पण में अब जीव को अपने समस्त-गुण प्रत्यक्ष और स्पष्ट-प्रतिभासित हो रहे हैं, इसलिये चेतन-आत्मा स्वरूप के विस्मरणरूपी अचेतनत्वरूप-भाव को त्यागकर भलीभाँति अपने ज्ञानरूपी नेत्रों को खोलकर स्वरूप को संभालता है अर्थात् स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करता है।

(दोहा)

इह-विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव।

जे सोवहि संसार में, ते जगवासी-जीव॥16॥

शब्दार्थ :- इह-विधि जे जागे पुरुष= इसप्रकार जो जागृत-पुरुष हैं, ते शिवरूप सदीव= वे हमेशा मोक्षस्वरूप ही हैं, जे सोवहि संसार में= जो संसार में सोते हैं ते जगवासी-जीव= वे संसारी-जीव हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने पिछले दोनों छंदों में वर्णित 'जीव की शयन और जागृत-अवस्थाओं' का फल बताया है। जो जीव ऊपर-वर्णित भेदविज्ञान और आत्मानुभूति करते हुये प्रतिसमय सचेत रहते हैं, वे संसार में रहते हुये भी मोक्षस्वरूप ही हैं क्योंकि उन जीवों को मोक्ष-प्राप्ति का पुरुषार्थ शुरू हो गया है, और अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। लेकिन जो जीव मोह की निद्रा में अचेत हैं अथवा संसार में ही मगन हैं; जिन्हें अपने स्वरूप की अनुभूति तो दूर उसके बारे में कुछ पता तक नहीं है, वे जीव कहीं भी रहें, संसारी ही हैं, और मुक्ति की मंजिल उनसे कोसों दूर है।

(दोहा)

जो पद भौपद-भय हरै, सो पद सेऊ अनूप।

जिहि पद-परसत और पद, लगै आपदारूप॥17॥

शब्दार्थ :- जो पद भौपद-भय हरै= जो पद संसार के पदों का भय दूर करे, सो पद सेऊ अनूप= वह उपमारहित-पद शीघ्र स्वीकार करे, जिहि पद-परसत और पद लगै आपदारूप= (क्योंकि) इस पद को स्पर्श करने पर अन्य सभी पद कष्टरूप लगते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कविवर पुनः संसारी-जीव को प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि 'हे आत्मन्! अनादिकाल से तुम संसार में ही हो, और दुःखी भी, आज तक जितने भी पद या सम्मान तुमने प्राप्त किये, उनमें से किसी भी पद को प्राप्त करने के बाद न तो तुम सुखी हुये और न ही जन्म-मरण की वेदना से तुम्हें छुटकारा मिला। इसलिये हे भाई! अब तुम उस पद को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो, जिससे तुम्हें जन्म-मरण के इस चक्र से शीघ्रतिशीघ्र छुटकारा मिले। वह पद उपमारहित है अर्थात् जगत् में उसकी तुलना में कोई पद नहीं है अथवा उसकी तुलना संसार की किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती है। कहने का अभिप्राय यही है कि उसकी तुलना में जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो तुझे सुखी कर सके।

एकमेव हि तत्त्वाद्यं, विपदामपदं पदम्। अपदान्येव भासन्ते, पदान्यन्यानि यत्पुरः॥7॥

जिस पद को स्पर्श करने पर जगत् में विद्यमान सभी पद कष्टदायक लगने लगते हैं, उस अनुपम सुखद-पद को प्राप्त करने के बाद जगत् का प्रत्येक पदार्थ निस्सार लगने लगें, कष्टरूप लगने लगे; तुम उस पद को अंगीकार करो। आखिर कौन-सा पद है वह, जिसकी आचार्यों ने इतनी महिमा वर्णित की है? वह है निजात्म-स्वरूप की अनुभूति और रमणता का पद। जिसके आगे संसार के सभी पद 'अपद' के समान हैं।

(सवैया इकतीसा)

जब जीव सोवै, तब समुझै सुपन सत्य, वही झूठ लागै, तब जागै नींद खोइकै।
जागै कहै "यह मेरौ तन, मेरी सौंज", ताहू झूठ मानत, मरन-तिथि जोइकै॥
जानै निज-मरम, मरन तब सूझै झूठ, बूझै जब और अवतार-रूप होइकै।
वाहू अवतार की दसा में फिरि यहै पेच, याही भाँति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै॥ 18॥

शब्दार्थ :— जब जीव सोवै, तब समुझै सुपन सत्य= जब जीव सोता है, तब समझता है, कि सपने सच होते हैं, वही झूठ लागै तब जागै नींद खोइकै= वही झूठ लगता है, जब नींद से जागता है, जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज= जागकर कहता है, "यह मेरा शरीर मेरी वस्तु है", ताहू झूठ मानत मरन-तिथि जोइकै= उसको तब झूठ मानता है, जब मरण की तिथि जान लेता है, जानै निज-मरम मरन तब सूझै झूठ= जब निजस्वरूप का मर्म जानते हैं, तब मरण झूठ दिखाई देता है, बूझै जब और अवताररूप होइकै= यह बात उसे तब समझ में आती है, जब वह अन्य-पर्याय में जन्म लेता है, वाहू अवतार की दसा में फिरि यहै पेच= उस अवतार/जन्मकी दशा में फिर वही चक्र, याही भाँति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै= इसीप्रकार हमने सारा जग खोजकर देखा कि सब झूठा है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने जीव की उस स्थिति का वर्णन किया है, जब जीव को संसार प्रत्यक्ष-मिथ्या भासित होता है, फिर भी वह मानने को तैयार नहीं होता। जैसे कोई गहरी-नींद में स्वप्न देखे, तो उस समय वह उस स्वप्न को भी सच मान लेता है, लेकिन नींद खुलते ही सब कुछ झूठ लगने लगता है; ठीक उसीप्रकार संसार में मोह रूप शयन-अवस्था में जीव को शरीर, कुटुम्ब, परिवार, धन-वैभव आदि सब कुछ अपना लगता है; लेकिन जैसे ही मरण का ख्याल आता है, या कहीं कोई मरण का प्रसंग सामने देखता है, तब एक क्षण में ही सब झूठ लगने लगता है। लेकिन कुछ समय बाद फिर सब भूल जाता है, और फिर वही अपनापन शुरू हो जाता है।

पुण्य के उदय से कदाचित् कभी जिनवाणी सुनने का सुयोग बने और अपने स्वरूप का मर्म जाने तो, फिर सब झूठ लगने लगता है। संसार की स्थिति विचित्र है; कोई न कोई अवतार या चमत्कार के प्रसंग बनते ही रहते हैं, उन प्रसंगों को देखकर फिर वही पेच/प्रपंच अर्थात् एकत्व ममत्व बुद्धि शुरू, फिर सब झूठ, फिर सब सच, यही चक्र चलता रहता है। इसप्रकार हमने सारा संसार खोज लिया कहीं भी कुछ सत्य नहीं दिखा, सब झूठ ही दिखा।

वास्तव में देखा जाये, तो हम संसारी मोहीजनों की सच्चाई भी तो यही है कि जिन संयोगों और पदार्थों के बीच हम रहते हैं, क्या एक क्षण के लिये भी वे हमें झूठ लगते हैं? नहीं। मोह-निद्रित-अवस्था में देखा हुआ हर स्वप्न हमें सत्य ही लगता है। लेकिन जैसे ही कोई प्रतिकूलता आ जाये, किसी संयोग का वियोग हो जाये, या अपने ही देह छूटने का प्रसंग बन जाये, तो सब एक पल में ही झूठ, निस्सार लगने लगता है। लेकिन कुछ समय बीतते ही फिर वही राग शुरू हो जाता है।

इसीप्रकार जिनवाणी सुनते समय, स्वाध्याय करते समय कुछ क्षण के लिये स्वरूप की महिमा

आती है, जगत् असार भासित होता है, लेकिन दूसरे ही पल फिर वही पर में तन्मयता, अपनापन, कैसी विचित्र महिमा है मोह की, सारी सच्चाई आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखती है, फिर भी हम नहीं चेतते।

(सवैया इकतीसा)

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि, दुंदज-अवस्था की अनेकता हरतु है।

मति-श्रुत-अवधि इत्यादि विकल्प मेटि, निरविकल्प-ग्यान मनमें धरतु है॥

इंद्रियजनित-सुख-दुःखसौं विमुख ह्वैकै, परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है।

सहज-समाधि साधि त्यागी पर की उपाधि, आतम-आराधि परमात्म करतु है॥ 19॥

शब्दार्थ :- पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि= सम्यग्दृष्टि-जीव विवेक प्राप्तकर एकत्व की धुन लगाकर, दुंदज-अवस्था की अनेकता हरतु है= द्वंद्व अर्थात् विकल्परूप-अवस्था की अनेकता को छोड़ देता है, मति-श्रुत-अवधि इत्यादि विकल्प मेटि= मति-श्रुत-अवधि इत्यादि विकल्पों को मेटकर, निरविकल्प-ग्यान मनमें धरतु है= विकल्परहित-ज्ञान मन में धारण करता है, इंद्रियजनित सुख-दुःखसौं विमुख ह्वैकै= इंद्रियजनित सुख-दुःख से विमुख होकर, परम के रूप ह्वै करम-निर्जरतु है= आत्मस्वरूप में स्थिर होकर कर्मों की निर्जरा करता है, सहज-समाधि साधि त्यागी पर की उपाधि= पर की उपाधि त्यागकर, सहज समाधिभाव प्राप्त कर, आतम-आराधि परमात्म करतु है= आत्मा की आराधना करते हुए परमात्म-पद प्राप्त करता है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने जीव की उस स्थिति का वर्णन किया है, जब जीव भेदविज्ञान-पूर्वक सम्यक्-श्रद्धान-सहित सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है। वह पंडित अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव विवेकपूर्वक सम्यग्ज्ञान के द्वारा एकमात्र आत्मा को ग्रहणकर द्वंदज अर्थात् समस्त सांसारिक-द्वंद्वों/ विकल्पों की अनेकता को त्याग देता है। क्योंकि शुद्धात्मा एक, अखंड और विकल्पों से रहित तत्त्व है; जबकि संसार में विकल्पों का कोई अंत नहीं, एक कार्य के लिये भी अनेक-अनेक विकल्प। लेकिन जो शुद्धात्मा को ग्रहण करते हैं, अर्थात् अपने उपयोग को एक निजस्वरूप में ही केन्द्रित करते हैं, वे नाना-विकल्पों से सहज ही छूट जाते हैं।

फिर वह जीव मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान आदि के विकल्पों को भी मिटाकर एकमात्र विकल्प-रहित यानि निर्विकल्प-आत्मज्ञान को ही लक्ष्य बनाता है। जिस जीव का लक्ष्य आत्मज्ञान हो, अनंतसुख का वेदन हो, उसे भला इंद्रिय-जनित क्षणिक-सुख और दुःख से प्रीति कैसे हो सकती है? सहज ही इनसे विमुख होकर स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करता है, जिससे अनंतसुख के वेदन में बाधक-कर्मों की निर्जरा होती है। तब जीव को सहज ही समाधि का भाव आता है और पर की उपाधि या पर के लक्ष्य से होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि औपाधिक-भावों का त्याग करके, एकमात्र आत्मा की आराधना-पूर्वक, परमसुखी परमात्म-पद को प्राप्त करता है।

(सवैया इकतीसा)

जाके उर-अंतर निरन्तर अनंत-दर्द-भाव, भासि रहै पै सुभाव न टरतु है।

निर्मलसौं निर्मल सुजीवन प्रगट जाके, घट में अघट-रस कौतुक करतु है॥

एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वाद समासादयन्, स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहं स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।

आत्मात्मानुभवानुभाव-विवशो भ्रश्यद्-विशेषोदयं, सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्॥ 8॥

जागै मति-श्रुति-औधि-मनपर्यै-केवल सु, पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।
सो है ज्ञान-उदधि उदार महिमा अपार, निराधार एक में अनेकता धरतु है॥ 20॥

शब्दार्थ :- जाके उर-अंतर निरन्तर अनंत-दर्द-भाव भासि रहै= जिसके अंतरंग में प्रतिसमय अनंत-द्रव्य और उनके परिणाम भासित हो रहे हैं, पै सुभाव न टरतु है= फिर भी स्वभाव को नहीं छोड़ता है, निर्मलसौ निर्मल सु जीवन प्रगट जाके= निर्मल से निर्मल सुंदर-जीवन जिसके प्रगट है, घट में अघट-रस कौतुक करतु है= अंतरंग में अघट-रस केलि करता है, जागै मति-श्रुति-औधि-मनपर्यै-केवल सु= मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान स्वरूप, सु पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है= पाँचप्रकार की ज्ञान-तरंगें वेगपूर्वक उछलती हैं, सो है ज्ञान- उदधि उदार महिमा-अपार= वह ज्ञानरूपी समुद्र उदार है, जिसकी महिमा अपार है, निराधार एक में अनेकतानेकता धरतु है= निराधार है, एक होते हुये भी अनेकता को धारण करता है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने ज्ञान और समुद्र का बहुत ही सुंदरता से तुलनात्मक एवं सटीक-चित्रण प्रस्तुत किया है। जिसप्रकार समुद्र के तल में अनंत बहुमूल्य-रत्न विद्यमान रहते हैं, ठीक उसीप्रकार ज्ञानरूपी-समुद्र में भी अनंत-द्रव्य, उनके अनंत-गुण, और उनकी अनंत-पर्यायें विद्यमान रहती हैं या प्रतिबिंबित होती हैं। लेकिन जैसे समुद्र कभी रत्नरूप नहीं होता, ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी कभी ज्ञेयरूप नहीं होता, अर्थात् ज्ञान अपना स्वाभाविक-प्रवर्तन कभी नहीं छोड़ता।

जैसे समुद्र का जल निर्मल रहता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों के संसर्ग में रहते हुए भी कभी मलिन नहीं होता, इन देहादिक-संयोगों और विकारों के बीच रहकर भी सहजरूप में प्रकाशित रहता है। जैसे समुद्र स्वयं में परिपूर्ण है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी सर्वप्रकार की अपेक्षाओं से रहित स्वयं में परिपूर्ण है। जिसप्रकार समुद्र में प्रतिसमय अनेक-लहरें उठती हैं, लेकिन वह फिर भी अप्रभावित रहता है। ठीक उसीप्रकार ज्ञानरूपी समुद्र में भी मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान आदि रूप अनेक लहरें उठती हैं, लेकिन फिर भी ज्ञान तद्रूप न होकर अप्रभावित ही रहता है।

जैसे समुद्र का हृदय अत्यंत-उदार या विशाल होता है, यानि कितनी ही नदियों का जल हो, उसमें समा जाता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानरूपी समुद्र में भी अनंत-ज्ञानरूप-पर्यायें भी सहज समा जाती हैं। जैसे समुद्र अथाह-अपार होते हुये भी निराधार यानि आधार-रहित या कहें स्वयं अपने ही आधार रहता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी अनंत होते हुए भी निराधार या स्वयं के आधार से ही रहता है। जैसे समुद्र एक होते हुये भी लहरों की विविधतारूप अनेकता को लिये हुये हैं, ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी ज्ञायक-स्वभाव की अपेक्षा एक होते हुये भी ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा विविधतारूप अनेकता को लिये हुये हैं।

इसप्रकार कवि ने ज्ञान की बहुत ही सुंदर-महिमा वर्णित की है। हे आत्मन! ऐसे अनंतज्ञान का निधान, जाननरूप अनंत-पर्यायों का धनी, फिर भी त्रिकाल-शुद्ध ऐसा भगवान् आत्मा मैं ही हूँ। बस एकबार प्रतीति तो कर, ये सारा आत्मिक-वैभव प्रत्यक्ष-प्रतिभासित होगा।

(सवैया इकतीसा)

केई क्रूर-कष्ट सहैं तपसौं शरीर दहैं, धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वैकै झूले हैं।
केई महाव्रत गहैं क्रिया में मगन रहैं, वहैं मुनिभार पै पयार-केसे पूले हैं॥

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदन-व्यक्तयो, निष्पीताखिल-भाव-मण्डल-रस-प्राग्भार-मत्ता इव।

यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्, वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुत-निधिशचैतन्य-रत्नाकरः॥ 9॥

इत्यादिक जीवन कौं सर्वथा मुक्ति नाहि, फिरैं जगमांहि ज्यौं बयारि के वधूले हैं।

जिन्हके हियेमें ग्यान तिन्हीकौं निरवान, करम के करतार भरम में भूले हैं॥ 21॥

शब्दार्थ :— केई क्रूर कष्ट सहै= कई क्रूर/मूर्ख कष्ट सहते हैं, तपसौं शरीर दहै= तप से शरीर को दहाते हैं, धूम्रपान करै= (चिलम आदि से) धूम्रपान करके नशाकारक-वस्तुओं का सेवन करते हैं, अधोमुख हैकै झूले हैं= नीचे मुख करके उल्टे लटकते हैं, केई महाव्रत गहै= कई महाव्रत ग्रहण करते हैं, क्रिया में मगन रहै= बाह्य-क्रिया में ही रचे-पचे रहते हैं, वहै मुनिभार= मुनिपद का भार वहन करते हैं, पै पयार-केसे पूले हैं= फिर भी पुआल के पूले की तरह हैं (देखने के ही बड़े हैं, पर निःसार हैं), इत्यादिक जीवन कौं सर्वथा मुक्ति नाहि= इत्यादि-प्रकार के जीवों को कदापि मुक्ति संभव नहीं है, फिरैं जगमांहि ज्यौं बयारि के वधूले हैं= वे जग में ऐसे भटकते हैं, जैसे हवा के बबंडर हों, जिन्हके हिये में ग्यान तिन्हीकौं कौं निरवान= जिनके हृदय में ज्ञान उन्हीं को निर्वाण होता है, करम के करतार भरम में भूले हैं= (अन्य सभी) कर्मों के कर्ता बनकर भ्रम में भूले हैं।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने कोरे बाह्य-क्रियाकाण्ड की हेयता और ज्ञान की उपादेयता को सिद्ध किया है। संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, सभी दुःखी हैं, और दुःख दूर करने का अर्थात् दुःखों से मुक्ति का उपाय भी प्रतिसमय करते हैं, लेकिन उनमें से किन जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होगी और किन जीवों को नहीं— इसका सुंदर-वर्णन कवि ने उपर्युक्त पंक्तियों में किया है।

कुछ जीव तो ऐसे हैं, जो ऐसी तपस्या करते हैं, जिससे शरीर को अनेकप्रकार से कष्ट हों, और शरीर कृश हो, जैसे शरीर पर कोड़े मारना, एक पैर से खड़े रहना, पंचाग्नि-तप तपना इत्यादि, कुछ जीव संसार के दुःखों से त्रस्त होकर, उस दुःख को भुलाने के लिये चरस, गांजा, अफीम, शराब आदि नशाकारक-वस्तुओं का उपयोग करते हैं। कुछ जीव ओंधे-मुख अर्थात् उल्टे लटककर दुःखों से छूटना चाहते हैं, क्योंकि इन सभी जीवों ने शरीर को ही आत्मा माना है, और शरीराश्रित-क्रियाओं को ही दुःखों से मुक्ति का उपाय।

यहाँ तक तो कवि ने उन जीवों की चर्चा की, जिन्हें जिनधर्म और जिनागम की शरण नहीं मिली है, जो मुक्ति के वास्तविक-स्वरूप को ही नहीं जानते। लेकिन जो जीव जिनधर्मानुयायी भी हैं, मुक्ति के स्वरूप को भी जानते हैं, और जिनाम्नाय में वर्णित मुनिधर्म-रूप महाव्रतों आदि को भी धारण करते हैं, और उसके अनुरूप बाह्य-चर्या को पालने का रुचिपूर्वक पुरुषार्थ भी करते हैं, पर आत्मज्ञान से जिनका कोई लेना-देना नहीं है। कविवर कहते हैं कि "ऐसे जीव मुनिपद के भार को ठीक वैसे ही वहन करते हैं, जैसे 'पयार के पूले' अर्थात् अनाज के कण के बिना खाली घास को संभालकर रखना", अर्थात् जैसे कोई किसान अनाज की परवाह तो करे नहीं और कचरे के समान घास को बड़े जतन से सहेजकर रखे, ठीक उसीप्रकार जो आत्मज्ञान और श्रद्धान को तो समझे नहीं और देह की क्रिया को बड़े जतन से पाले— ऐसे मुनिव्रत-धारक जीवों को कवि ने 'पयार के पूले' की संज्ञा दी है।

कविवर कहते हैं कि इत्यादिरूप से प्रवर्तन करनेवाले नानाप्रकार के जीवों को कभी भी किसी भी कीमत पर मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे जीव जगत् में ठीक उसीप्रकार भटकेंगे, जैसे 'बयार के वधूले' अर्थात् हवा के बबंडर, जिसप्रकार हवा के बबंडर का कोई ठिकाना नहीं होता है, वे तो बस हवा के साथ उड़ते ही रहते हैं, ठीक उसीप्रकार आत्मज्ञान-रहित जीवों का कोई ठिकाना नहीं है, वे कर्मोदय के वेग में

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः, क्लिश्यन्तां च परे महाव्रत-तपोभारेण भग्नाश्चिरम्।

साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं, ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥ 10॥

अनंतकाल तक यूँ ही परिभ्रमण करते रहेंगे।

हाँ लेकिन जिन जीवों को आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञान है, वे निश्चित ही एक न एक दिन मुक्ति को प्राप्त करेंगे। परन्तु जो जीव कर्म के कर्ता बनकर अर्थात् मात्र क्रियाकाण्ड के भरोसे मुक्ति को पाना चाहते हैं, वे 'भ्रम में भूले हैं' अर्थात् ये उनका भ्रम ही है कि हमें मुक्ति प्राप्त होगी, वास्तविकता रंचमात्र भी नहीं है।

(दोहा)

लीन भयौ विवहार में, उकति न उपजै कोइ।

दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुक्ति कहाँ सौ होइ?॥ 22॥

शब्दार्थ :— लीन भयौ विवहार में= व्यवहार में ही मगन हुआ, उकति न उपजै कोइ= (दुःख दूर करने का) कोई उपाय नहीं करता, दीन भयौ प्रभु-पद जपै= दीन होकर भगवान् के चरणों को ही जपता है, मुक्ति कहाँ सौ होइ= उसे मुक्ति कैसे हो सकती है?

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उन जीवों का वर्णन किया है जो व्यवहार में ही लीन हैं अर्थात् जो व्रत, तप, पूजा-पाठ, सामायिक-जाप तो सब करते हैं; पर जिनके हृदय में स्व और पर में भेदविज्ञान नहीं वर्तता, यानि जो मिथ्यात्व से ग्रसित हैं, बस भगवान् के चरणों की पूजा-वंदना करके ही मुक्ति पाना चाहते हैं; कविवर उनसे कहते हैं कि "मुक्ति का मुख्य-कारण तो भेदविज्ञान और आत्मश्रद्धान है, सो जब तक ये नहीं, तब तक मुक्ति कैसे संभव है?"

(दोहा)

प्रभु सुमरौ पूजा पढो, करो विविध-विवहार।

मोख-सरूपी आत्मा, ग्यान-गम्य निरधार॥ 23॥

शब्दार्थ :— प्रभु सुमरौ पूजा पढो= भगवान् का सुमिरन करो, पूजा करो, पाठ या स्तुति पढ़ो, करो विविध-विवहार= विभिन्न-प्रकार का व्यवहार करो, मोख-सरूपी आत्मा= मोक्षस्वरूपी आत्मा, ग्यान-गम्य निरधार= ज्ञानगम्य है— ऐसा निर्णय करो।

विशेषार्थ :— 'आत्म-वस्तु अनुभवगोचर है'— इस कथन को सिद्ध करते हुए कविवर कहते हैं कि कोरे व्यवहार-चारित्र का कोई फल नहीं है। कोई व्यक्ति भगवान् का अधिकाधिक-स्मरण करे अर्थात् सामायिक, जाप, ध्यान आदि क्रिया करे, नित्य या प्रतिदिन नियम से भगवान् की पूजा-अर्चना करे, स्तुति-पाठ आदि भी खूब रुचिपूर्वक पढ़े, अन्य व्यवहार-चारित्र अर्थात् अणुव्रत, महाव्रत आदि का भी पालन करे; फिर भी उससे सिवाय पुण्यबंध के और कुछ नहीं होगा।

क्योंकि जिसके श्रद्धान से मुक्ति संभव है, वह आत्मवस्तु तो अनुभवगोचर है, वाणी से उसका कथन संभव नहीं है। जैसे कोई रसगुल्ले के स्वरूप का अच्छे से बखान करे, पर क्या बखान करने मात्र से उसे रसगुल्ले का स्वाद आ सकता है? कभी नहीं। अर्थात् जबतक वह स्वयं रसगुल्ले को नहीं खायेगा, तबतक उसे उसके स्वाद की अनुभूति नहीं होगी, ठीक उसीप्रकार जीव को मुक्ति तबतक संभव नहीं होगी, जबतक वह स्वयं मोक्षस्वरूपी-आत्मा का रसास्वादन नहीं करेगा; क्योंकि आत्मिक-सुख की अनुभूति, अनुभव का विषय है, कथन का नहीं।

(सवैया तेईसा)

काज-बिना न करै जिय उद्यम, लाज-बिना रन- माँहि न जूझै।
डील-बिना न सधै परमात्म, सील-बिना सतसौं न अरूझै॥
नेम-बिना न लहै निहचै पद, प्रेम-बिना रस- रीति न बूझै।
ध्यान-बिना न थंभै मन की गति, ग्यान-बिना सिवपंथ न सूझै॥ 24॥

शब्दार्थ :— काज-बिना न करै जिय उद्यम= बिना प्रयोजन के जीव पुरुषार्थ नहीं करता, लाज-बिना रन- माँहि न जूझै= स्वाभिमान के बिना युद्ध नहीं लड़ता, डील-बिना न सधै परमात्म= नर-देह के बिना परमात्म-पद नहीं सधता है, सील-बिना सतसौं न अरूझै= शील के बिना सत्य की प्राप्ति नहीं होती है, नेम-बिना न लहै निहचै-पद= नियम के बिना निश्चयपद/मोक्षपद प्राप्त नहीं होता, प्रेम-बिना रस-रीति न बूझै= प्रेम के बिना रसरीति समझ में नहीं आती, ध्यान-बिना न थंभै मन की गति= ध्यान के बिना मन की गति नहीं थमती, ग्यान-बिना सिवपंथ न सूझै= ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग नहीं दिखता।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने बहुत ही सरल-उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध किया है कि 'ज्ञान के बिना मोक्ष तो दूर मोक्षमार्ग भी समझ में नहीं आता'। जैसे लोक में देखा जाता है कि कोई भी व्यक्ति बिना प्रयोजन या लाभ के उद्देश्य के बिना व्यापार नहीं करता है, वास्तव में देखा जाये तो व्यापार ही नहीं, हम बिना प्रयोजन कोई भी कार्य नहीं करते हैं। जैसे जबतक राजा के स्वाभिमान को चोट नहीं पहुँचती, तबतक वह युद्ध करने को तैयार नहीं होता; जैसे शरीर के बिना परमात्म-पद की प्राप्ति नहीं होती है, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति केवल पुरुष-पर्याय से ही संभव है अन्य-पर्याय से नहीं; जैसे शील के बिना सत्य नहीं मिलता अर्थात् जबतक जीवन में सदाचार, विवेक, स्वभाव की सरलता, सहजता नहीं होगी; तबतक न तो सत्य से भेंट होती है और न ही सत्य जीवन में टिकता है।

जैसे नियम या संयम-पालन के बिना मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं होता अर्थात् जबतक हम अपने को नियमों में आबद्ध नहीं करते, तबतक हम इन्द्रियविजय या इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं कर पाते हैं। जैसे प्रेम के बिना रस-रीति समझ में नहीं आती अर्थात् लौकिक शृंगार आदि रस व रीतियाँ समझ में नहीं आतीं, जैसे ध्यान के बिना मन की गति को रोकना असंभव है, अर्थात् उपयोग को एकमात्र प्रयोजनभूत-आत्मतत्त्व पर केन्द्रित करो, मन की गति चंचलता स्वतः ही थम जाती है। ठीक उसीप्रकार जबतक आत्मज्ञान या सम्यग्ज्ञान नहीं है, तबतक मोक्ष तो दूर मोक्षमार्ग की शुरुआत भी नहीं होती, और तबतक मोक्षमार्ग की दृष्टि से चारित्र के नाम पर की जाने वाली हर क्रिया अंकरहित-शून्य के समान निस्सार है।

(सवैया तेईसा)

ग्यान-उदै जिन्हके घट-अंतर, जोति जगी मति होत न मैली।
बाहिज-दिष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतमध्यान-कला विधि फैली॥
जे जड़-चेतन भिन्न लखैं, सुविवेक लियैं परखैं गुन-थैली।
ते जगमैं परमारथ-जानि, गहैं रुचि मानि अध्यात्म-सैली॥ 25॥

शब्दार्थ :— ग्यान-उदै जिन्हके घट अंतर= जिनके हृदय में ज्ञान का उदय होने से, जोति जगी मति होत न मैली= सम्यग्ज्ञान की ज्योति जली है, उनकी बुद्धि मैली नहीं होती है, बाहिज-दिष्टि मिटी जिन्हके हिय= जिनके हृदय से बाह्य-दृष्टि (देहादिक के प्रति एकत्व बुद्धि) मिट गई है, आतमध्यान-कला विधि फैली= आत्मध्यान

की कला फैली/जागृत हुई है, जे जड़-चेतन भिन्न लखै= जो जड़ और चेतन को भिन्न देखते हैं, सुविवेक लियै परखै गुन-थैली= सुविवेक से गुणों की थैली को परखते हैं, ते जगमै परमारथ जानि= वे जगत् में आत्मतत्व को प्रयोजनभूत जानकर, गहै रुचि मानि अध्यातमसैली= रुचिपूर्वक आत्मानुभव को ग्रहण करते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने जीव की उस स्थिति का वर्णन किया है, जब निरन्तर तत्वाभ्यास-पूर्वक स्व और पर में भिन्नता वर्तती है, और आत्मश्रद्धान-पूर्वक ज्ञान भी सम्यक्त्वता को प्राप्त होता है।

कविवर कहते हैं कि जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी-सूर्य का उदय हुआ है, उनकी बुद्धि कभी मैली नहीं होती है। जैसे लौकिक में भी जब सूर्य का उदय होता है, तो अंधकार स्वतः ही भाग जाता है, और जबतक सूर्य का प्रकाश रहता है, तबतक वापस भी नहीं आता है; ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश के रहते हुये मैली-मति/परिणतिरूप 'मिथ्यात्व' वापस नहीं आता।

जिनके हृदय से बाह्य-दृष्टि यानि देहादिक के प्रति एकत्व, ममत्वबुद्धि जब हट जाती है, तब आत्मध्यान की कला जागृत होती है, अर्थात् स्वयं की अनुभूति का पुरुषार्थ प्रबल होता है। ऐसे जीव जड़ और चेतन या आत्मा और समस्त-परपदार्थों को भिन्न-भिन्न देखते हैं, और फिर अपने सदबुद्धि-विवेक से गुणों की थैली/पूँजी को परख लेते हैं। जैसे लोक में काँच और हीरा सामने हो और पारखी-व्यक्ति की नजर जब हीरे को पहचान लेती है तब उसे कहना नहीं पड़ता कि हीरे को ग्रहण करे और काँच को छोड़ दे, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव जब आत्मगुणों की थैली को परख लेते हैं, तब एक मात्र यही प्रयोजनभूत है ऐसा जानकर, मानकर रुचिपूर्वक स्वरूप के अनुभव और स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं।

(दोहा)

बहुविधि-क्रिया-क्लेससौं, सिवपद लहै न कोइ।

ग्यानकला-परकाशसौं, सहज-मोखपद होइ॥ 26॥

शब्दार्थ :- बहुविधि-क्रिया क्लेससौं= बहुतप्रकार की क्रियाओं के क्लेश से, सिवपद लहै न कोइ = कोई मोक्षपद प्राप्त नहीं करता, ग्यानकला-परकाशसौं= ज्ञान-कला के प्रकाश से, सहज मोखपद होइ= सहज ही मोक्षपद प्राप्त होता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने दोटूक-शब्दों में पुनः वही बात प्रेरणा-स्वरूप कही कि "हे आत्मन्! केवल बाह्य-क्रियाओं यानि पूजा-पाठ, व्रत, तप, सामायिक, ध्यान, अणुव्रत यहाँ तक कि महाव्रत आदिके पालन से भी आज तक न तो किसी जीव को मोक्ष की प्राप्ति हुई है, और न हो सकती है, और न कभी होगी।"

विचार करने योग्य-बात है कि कवि ने इन बाह्य-क्रियाओं का क्लेश कहा है। क्यों? क्या व्रतादिक का पालन करना क्लेश है? जबकि अधिकांश-जीव तो इन्हें शुभभाव ही नहीं, धर्म भी मानते हैं।

हाँ, मिथ्यादृष्टि-जीव के लिये इन क्रियाओं का पालन क्लेश ही है, क्योंकि अंतरंग में आत्मश्रद्धान न होने से, और बाहर में अनंतानुबंधी का उदय होने से ये क्रियायें सहज नहीं पलती हैं; बल्कि उसे प्रयत्नपूर्वक पालनी पड़ती हैं। और जो कार्य प्रयत्नपूर्वक या जबरदस्ती किये जाते हैं, उनमें परिणामों का आकुलित होना स्वाभाविक है, इस अपेक्षा से कवि ने इन क्रियाओं को 'क्लेश' की संज्ञा दी।

जबकि पंचम-गुणस्थानवर्ती व्रती-श्रावक को अंतरंग में आत्मानुभूति के साथ-साथ 'अनंतानुबंधी' और 'अप्रत्यख्यानवरणी' दो कषाय-चौकड़ी का अभाव होने से ये व्रतादिक के परिणाम और बाहर में

तत्संबंधी-क्रिया सहज पलती हैं, पालनी नहीं पड़ती। इसलिए वहाँ आकुलता न होने से इन्हीं व्रतादिक को क्लेश नहीं, धर्म और कर्मों की निर्जरा का कारण माना जाता है।

लेकिन मिथ्यात्व की अवस्था में भी यदि जीव इन बाह्य-क्रियाओं को करते हुये स्वयं को इन क्रियाओं से भिन्न अनुभव करे या स्वयं को इन क्रियाओं का कर्ता न मानते हुये, अपने को सिर्फ एक जाननहार-तत्त्व के रूप में अनुभव करे, अर्थात् ज्ञानकलारूप प्रवर्तन करे तो उसके प्रकाश में सहज ही मोक्षमार्ग प्रकाशित ही नहीं प्रशस्त भी होता है।

(दोहा)

ग्यानकला घट-घट बसै, जोग-जुगति के पार।

निज-निज कला उदोतकरि, मुक्त होइ संसार॥ 27॥

शब्दार्थ :- ग्यानकला घट-घट बसै= ज्ञानकला सभी के हृदय में विद्यमान है, जोग-जुगति के पार= योग, युक्ति से परे, निज-निज कला-उदोत करि= अपनी-अपनी कला को प्रकाशित कर, मुक्त होइ संसार= संसार से मुक्त होओ।

विशेषार्थ :- उपर्युक्त छंद में कवि ने हमें हमारी ही अनंत-शक्तियों का परिचय कराया है। हे आत्मन्! तू कहाँ दर-दर भटक रहा है, कहाँ ज़ेयों में ज्ञान को खोज रहा है, अनंतज्ञान का निधान तू स्वयं है, एकबार विचार तो कर। सभी जीवों में स्वभाव से भगवान् बनने की सामर्थ्य विद्यमान है, मन, वचन, काया के नियंत्रणरूप योग और तार्किकबुद्धिरूप युक्तियों से भिन्न तू अनंतज्ञानादि-गुणों का धारी परमशुद्ध-चेतन-तत्त्व है। इसलिये हे भव्यजीव! तुम अपनी-अपनी शक्तियों को प्रगट करो अर्थात् एकबार दृढ़ता से देहादिक समस्त-परपदार्थों से सर्वथा-भिन्न मैं शुद्धात्मा हूँ— ऐसा श्रद्धान तो करो। पर्याय की पामरता स्वयं दूर होकर प्रभुता प्रकट होगी और संसार से मुक्ति भी होगी।

(कुंडलिया-छंद)

अनुभव-चिंतामनि-रतन, जाके हिय परगास।

सो पुनीत-सिवपद लहै, दहै चतुरगति-वास॥

दहै चतुरगति-वास, आस धरि क्रिया न मंडै।

नूतन-बंध-निरोधि, पुब्बकृत बिहंडै॥

ताके न गनु विकार न गनु बहुभार न गनु भव।

जाके हिरदै-माँहि, रतन-चिंतामनि अनुभव॥ 28॥

शब्दार्थ :- अनुभव-चिंतामनि-रतन जाके हिय परगास= चिंतामणि-रत्न के समान आत्मानुभव जिसके हृदय में प्रकाशित है, सो पुनीत-सिवपद लहै दहै चतुरगति-वास= वह पवित्र (जीव) मोक्षपद को प्राप्त करता है, चारों गतियों में निवास को दहन करता है, दहै चतुरगति-वास आस-धरि क्रिया न मंडै= चतुर्गति निवास दहन करने के साथ-साथ वह जीव फल की इच्छारूप-निदानपूर्वक किसी भी क्रिया को नहीं करता, नूतन-बंध निरोधि पुब्बकृत बिहंडै= नवीन बंध को रोककर, पूर्व में किये हुये कर्मों को भी निर्जरित करता है, ताके न गनु विकार न

पदमिदं ननु कर्म-दुरासदं, सहज-बोध-कला-सुलभं किल।

तत इदं निजबोध-कलाबलात्, कलयितुं यततां सततं जगत्॥ 11॥

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्र-चिन्तामणिरपि यस्मात्। सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ 12॥

गनु बहुभार न गनु भव= उस जीव के न विकार होते हैं, न बहुत भार/परिग्रह, और न ही भव, जाके हिरदै-माँहि रतन-चिंतामनि अनुभव= जिसके हृदय में अनुभवरूपी चिंतामणि-रत्न होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'अनुभव' की अपूर्व महिमा वर्णित की है। स्व-पर के भेदविज्ञान-पूर्वक वस्तु-स्वरूप का विचार करने से अर्थात् आत्म-स्वरूप का चिंतन करने से, उसी का ध्यान करने से मन विश्रांति को प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी संकल्प-विकल्परूप चंचलता मिट जाती है, जिससे साम्यभाव प्रकट होता है। और उस समय आत्मिक-रस का आस्वाद अर्थात् आत्मानुभूति होने पर जो अतीन्द्रिय-आनंद या सुख का वेदन होता है, उसी का नाम 'अनुभव' है।

ऐसे 'आत्मानुभव' को कवि ने 'चिंतामणि-रत्न' कहा है। जैसे लौकिक में भी जिसके घर में चिंतामणि-रत्न का प्रकाश या सद्भाव हो उसके घर में दरिद्रतारूपी-अंधकार प्रवेश नहीं करता है। ठीक उसीप्रकार जिसके हृदय में आत्मानुभूतिरूपी चिंतामणि-रत्न का प्रकाश होता है, उसके हृदय में मिथ्यात्वरूपी-दरिद्रता का प्रवेश नहीं होता। वह जीव परम-पवित्र-मोक्षपद को शीघ्र प्राप्त करता है, और चारों गतियों के दुःखों से छूट जाता है।

जो जीव चतुर्गति के निवास का दहन करता है, वह इच्छा-सहित-क्रिया को धारण नहीं करता अर्थात् सांसारिक-सुख की इच्छा तो करता ही नहीं, अन्य किसी अभिलाषा से भी किसी भी प्रकार के अणुव्रत-महाव्रतादि के पालनरूप क्रिया नहीं करता। जिससे नवीन-कर्मों का बंध तो रुकता ही है, पूर्व में बँधे कर्मों की निर्जरा भी सहज होती है।

अब उस आत्मानुभवी-जीव के न तो राग-द्वेष आदि विकारों की तीव्रतारूप परिणामन होता है, और न ही परिग्रह का बहुत भार रहता है, और न ही उसके बहुत भव शेष रहते हैं अर्थात् वह जीव अल्पकाल में ही मोक्ष को प्राप्त करता है, जिसके हृदय में आत्मानुभूतिरूपी चिंतामणि-रत्न का प्रकाश या कहें वास रहता है।

(सवेया इकतीसा)

जिन्हके हिये में सत्य-सूरज उदोत भयौ, फैली मति-किरन मिथ्यात-तम नष्ट है।

जिन्हकी सुदिष्टि में न परचै-विषमतासौं, समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट-पुष्ट हैं॥

जिन्हके कटाक्ष में सहज मोखपंथ सधै, मन को निरोध जाके तनकौ न कष्ट है।

तिन्हके करम की कलोलें यह है समाधि, डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है॥ 29॥

शब्दार्थ :— जिन्हके हिये में सत्य-सूरज उदोत भयौ= जिनके हृदय में सत्य का सूर्य उदित हुआ है, फैली मति-किरन मिथ्यात-तम नष्ट है= सम्यक्-बुद्धिरूपी किरणों के फैलने से मिथ्यात्वरूपी-अंधकार नष्ट हो गया है, जिन्हकी सुदिष्टि में न परचै विषमतासौं= जिनकी सुदृष्टि में राग-द्वेषरूपी विकारों से परिचय नहीं है, समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट-पुष्ट हैं= साम्यभाव से प्रीति और ममता से विरोधभाव है, जिन्हके कटाक्ष में सहज मोखपंथ सधै= जिनकी चितवन मात्र से सहज ही मोक्षपंथ सधता है, मन को निरोध जाके तनकौ न कष्ट= मन पर नियंत्रण है, शरीर का कष्ट भी नहीं है, तिन्हके करम की कलोलें यह है समाधि= उनको कर्म की लहरें समाधिरूप हैं, डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है= मन-वचन-कायरूपी योग का आसन/आधार चलायमान हो जाता है, बोलना भी मौनव्रतरूप कहा जाता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन की विशेष-महिमा वर्णित करते हुये बड़ी ही सरसता से

स्पष्ट किया कि सम्यग्दृष्टि-जीव विषय-भोगादि कोई भी क्रिया करें, फिर भी उसके कर्मों की निर्जरा ही होती है।

जिनके हृदय में सम्यग्दर्शनरूपी-सूर्य का उदय हुआ है, उसकी ज्ञानरूपी-किरणों से मिथ्यात्वरूपी-अंधकार हमेशा के लिये पलायन कर गया है। ठीक उसीप्रकार, जैसे सूर्य की किरणें ज्यों-ज्यों पृथ्वी की ओर बढ़ती है, त्यों-त्यों रात्रि का काला गहन-अंधकार स्वतः ही पलायन कर जाता है।

सम्यग्दृष्टि-जीव की दृष्टि सम्यक् होने से जगत् की विषमताओं यानि रागादि-विकार-जनित परिस्थितियों से परिचय नहीं होता अर्थात् तदनुरूप विपरीत-प्रवर्तन नहीं होता। सर्वत्र साम्यभाव वर्तता है और ममता से विरोध वर्तता है, अर्थात् दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से मोहरूप-प्रवर्तन नहीं होता।

जिनकी चितवन से भी मोक्षमार्ग सधता है, अर्थात् जैसे जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा बिना कुछ कहे भी प्रतिसमय वीतरागता का ही उपदेश देती है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव की प्रत्येक क्रिया से भी मोक्षमार्ग ही प्रशस्त होता है। पाँचों इन्द्रियों और मन पर सहज-नियंत्रण होने से न तो शरीर को कष्ट होता है और न ही परिणामों में तनिक भी मलिनता आती है।

इसीलिये कर्म के उदय से आनेवाली अनुकूलता-प्रतिकूलतायें भी समाधि का साधन बनती है, अर्थात् जहाँ संसारी-जीव इनसे घबराकर विपरीत-प्रवर्तन करता है, वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव इनके माध्यम से संसार की क्षणभंगुरता का विचार करते हुए स्वभावरूप प्रवर्तन करते हैं। यहाँ तक कि बोलते हुये भी वह मौनव्रती है। अभिप्राय यही है कि नानाविध-प्रवृत्तियाँ करते हुए भी उसके कर्मों की निर्जरा ही होती है।

(सवैया इकतीसा)

आतमसुभाउ-परभाउ की न सुधि ताकों, जाकौ मन मगन परिग्रह में रह्यौ है।

ऐसौ अविवेक को निधान परिग्रह-राग, ताकौ त्याग इहांलौ समुच्चैरूप कह्यौ है॥

अब निज-पर-भ्रम दूर करिवै कै काज, बहुरौ सुगुरु उपदेस को उमह्यौ है।

परिग्रह-त्याग परिग्रह कौ विशेष-अंग, कहिवै कौ उद्दिम-उदार लहलह्यौ है॥ 30॥

शब्दार्थ :- आतम-सुभाउ परभाउ की न सुधि ताकों= आत्म-स्वभाव और पर-भाव की जिसको खबर नहीं है, जाकौ मन मगन परिग्रह में रह्यौ है= जिसका मन परिग्रह में लीन है, ऐसौ अविवेक को निधान परिग्रह-राग= ऐसे अविवेक /अज्ञान का कारण परिग्रह का राग है, ताकौ त्याग इहांलौ समुच्चैरूप कह्यौ है= (इसलिये) उसका (परिग्रह का) त्याग यहाँ तक समुच्चयरूप से कहा है, अब निज-पर भ्रम दूर करिवै कै काज= अब स्व और पर में (रागरूप) भ्रम दूर करने के लिए, बहुरौ सुगुरु उपदेस को उमह्यौ है= ज्ञानी-सुगुरु उपदेश देने को तत्पर हुये हैं, परिग्रह-त्याग परिग्रह कौ विशेष-अंग= परिग्रह के त्याग का और परिग्रह के विशेष-अंगों को कहिवै कौ उद्दिम-उदार लहलह्यौ है= उत्साहपूर्वक उदारमन से कहने को प्रवृत्त हुए हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कविवर आगे की विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि अब मैं परिग्रह के सामान्य-त्याग और परिग्रह के अंगों अर्थात् परिग्रह के विशेष-त्याग का वर्णन करूँगा।

हम संसारी-जीवों को जो आत्मस्वभाव यानि "मैं ज्ञाता-दृष्टा त्रिकाल-शुद्ध चेतन-आत्मा जन्म-मरण से रहित अविनाशी-तत्त्व हूँ, और परभाव यानि मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भाव मेरा स्वभाव

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव, सामान्यतः स्व-परयोरविवेक-हेतुम्।

अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्, भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः॥ 13॥

नहीं है, ये तो पर के लक्ष्य से होनेवाले परिणाम हैं"— ऐसी खबर नहीं है, उसका प्रमुख-कारण परिग्रह में लीनता है; क्योंकि हमने अपना स्वरूप और सुख-दुःख का कारण परिग्रह को ही माना है, सो प्रतिसमय उसी की संभाल में मगन रहते हैं, अपनी वास्तविक-सुधि लेने का हमारे पास समय ही नहीं है। कविवर कहते हैं कि इस सारी अज्ञानता का एकमात्र-कारण परिग्रह के प्रति जीव का राग-भाव है, इसलिए यहाँ तक तो परिग्रह के समुच्चयरूप से त्याग की बात कही।

कविवर आगे कहते हैं कि "निज और पर में जो अज्ञानतारूप-भ्रम है, जो स्वाभाविक-सुखानुभूति में सर्वाधिक-बाधक है, उसे दूर करने के लिए परिग्रह के विशेष-त्याग का उत्साहपूर्वक और उदारमन से वर्णन करूँगा।"

पहले 'परिग्रह' शब्द का अर्थ देखते हैं— 'परि'+ 'ग्रहण' = 'परिग्रह'। अर्थात् मन-वचन-काय से परवस्तु के ग्रहण का परिणाम ही 'परिग्रह' है। तो प्रश्न उठता है 'पर' यानि क्या? मैं शुद्धात्मा हूँ, और मेरे अलावा सब 'पर' हैं। यहाँ तक कि रागादिभाव भी परलक्षी-भाव होने से 'पर' ही हैं, उनको ग्रहण करना या उन्हें अपना मानना भी 'परिग्रह' है। 'आचार्य उमास्वामी के अनुसार— 'मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात् मोहकर्म के उदय से पर-पदार्थों में जो आसक्ति अर्थात् ममत्व का भाव है, उसे 'मूर्च्छा' कहते हैं, वही 'परिग्रह' है। 'राजवार्तिक' के अनुसार— 'ममेदं वस्तु अहं स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते।' अर्थात् 'यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ'— इसप्रकार का ममत्व-परिणाम ही 'परिग्रह' है।

(दोहा)

त्याग-जोग परवस्तु सब, यह सामान्य-विचार।

विविध-वस्तु नाना-विरति, यह विशेष-विस्तार॥३१॥

शब्दार्थ :— त्याग-जोग परवस्तु सब= समस्त पर-वस्तुयें त्यागने योग्य हैं, यह सामान्य-विचार= यह सामान्य-उपदेश है, विविध-वस्तु नाना-विरति= विविध-प्रकार की वस्तुओं के प्रति नाना-प्रकार से विरक्ति का भाव, यह विशेष-विस्तार= यह विशेष-त्याग का विस्तार है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सामान्य और विशेषरूप से परिग्रह के त्याग का स्वरूप समझाया है। आगम में अंतरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह के 24 भेद हैं। जो इसप्रकार हैं—

अंतरंग-परिग्रह— मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जगुप्सा, वेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) ये 14 प्रकार का अंतरंग-परिग्रह है।

बहिरंग-परिग्रह— क्षेत्र, वास्तु (कोठी, मकान आदि), सोना, चाँदी, धन, धान्य, दास, दासी, वस्त्र और बर्तन— ये दस प्रकार का बहिरंग-परिग्रह है।

यह समस्त प्रकार का परिग्रह त्यागने योग्य है— ये सामान्य-उपदेश हैं। और इनका विरक्तिपूर्वक-त्याग करना ये विशेष-उपदेश है। यहाँ कवि ने 'विशेष' शब्द का प्रयोग— 'विरक्तिपूर्वक' के अर्थ में किया है।

कहने का अभिप्राय यही है कि बिना अंतरंग-विरक्ति के किसी भी वस्तु को छोड़ देना 'त्याग' नहीं है। किसी के कहने पर, देखादेखी, परिस्थिति-वश अर्थात् जैसे हमें ज्ञात हो कि ये वस्तु हमें प्राप्त नहीं होगी, तो हम उसका त्याग कर देते हैं। बीमारी के चलते डॉ. ने किसी वस्तु को खाने के लिये मना किया, तो हमने मजबूरी में उसका त्याग कर दिया। लोक में ऐसे कई प्रसंग आते हैं, जब हम दूसरों की इच्छा से त्यागवृत्ति को अपनाते हैं, यद्यपि हम उस वस्तु का उपयोग नहीं करते, पर अंतरंग से विरक्ति का भाव न

होने से अथवा आसक्ति न घटने से वह त्याग, 'त्याग' संज्ञा प्राप्त नहीं करता अर्थात् त्याग करते हुये भी वह निष्फल है।

साथ ही मिथ्यात्व का त्याग, अविरति का त्याग, कषाय का त्याग, विकथाओं का त्याग, प्रमाद का त्याग भी विशेष-त्याग है।

(चौपाई)

पूरब-करम-उदै रस भुंजै, ग्यान-मगन ममता न प्रयुंजै।
उरमैं उदासीनता लहिये, यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये॥ 32॥

शब्दार्थ :- पूरब-करम उदै-रस भुंजै= पूर्वकृत-कर्म के उदय के रस/फल में विविध-प्रकार के फल को भोगते हैं, ग्यान-मगन ममता न प्रयुंजै= ज्ञान में मग्न रहते हैं, उनमें ममता नहीं करते, उरमैं उदासीनता लहिये= हृदय में विरक्ति का भाव धारण करते हैं, यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये= इसप्रकार ज्ञानीजन 'परिग्रही' नहीं कहलाते।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने बहुत ही सरलता से स्पष्ट किया है कि परिग्रह के होते हुये भी सम्यग्दृष्टि-जीव 'परिग्रहवंत' या कहें 'परिग्रही' नहीं है।

सम्यग्दर्शन यानि आत्मा का सच्चा-श्रद्धान होना। सम्यग्दृष्टि-जीव की बाह्य-स्थिति अभी पूर्ववत् ही है। मात्र दृष्टि अर्थात् श्रद्धान ही बदला है, इसलिये पूर्वबद्ध-कर्म तो उदय में आते हैं, और उनके अनुसार बाह्य सुख-दुःख की सामग्री भी उनको प्राप्त होती है। लेकिन जहाँ अज्ञानी-जीव मोह के उदय से उस सामग्री को तन्मय होकर भोगता है, वहीं ज्ञानी-जीव मोहग्रस्त नहीं होने से उन विषयों में तन्मय नहीं होते; बल्कि वे तो अपने ज्ञाता-स्वभाव में मग्न रहते हैं, और बाहर में कर्मोदय-जनित क्रिया सहज-प्रवर्तित होती रहती है।

हृदय में पर-पदार्थों, प्राप्त भोग-सामग्री, संयोगों आदि के प्रति उदासीनता अथवा विरक्ति का भाव होने से परिग्रह होते हुए भी उन्हें 'निष्परिग्रही' कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यही है कि परिग्रह का कारण 'पर में आसक्ति का भाव', और निष्परिग्रही होने का प्रमुख-कारण 'पर में अनासक्ति का भाव' है।

(सवैया इकतीसा)

जे-जे मनवांछित विलास-भोग जगत में, ते-ते विनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे-जे भोग-अभिलाष चित्त-परिनाम, तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं॥
एकता न दुहू-माँहि तातैं वांछा फुरै नाहि, ऐसे भ्रम-कारज को मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत, परसौं न करैं हेत, यातैं ग्यानवंतकौं अवंचक कहत हैं॥ 33॥

शब्दार्थ :- जे-जे मनवांछित विलास-भोग जगत में= जो-जो मनचाही विलासितापूर्ण भोग-सामग्री संसार में है, ते-ते विनासीक सब राखे न रहत हैं= वह सब नष्ट होनेवाली हैं, चाहने पर भी टिकती नहीं हैं, और जे-जे भोग-अभिलाष चित्त-परिनाम= और जो-जो भोगों की इच्छारूप मन के भाव हैं, तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं= वे भी नष्ट होनेवाले हैं, परन्तु फिर भी धाराप्रवाह रूप से बहते/होते रहते हैं, एकता न

पूर्वबद्ध-निजकर्म-विपाकात्, ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।

तद्भवत्वथ च रागवियोगात्, नूनमेति न परिग्रहभावम्॥ 14॥

वेद्य-वेदक-विभाव-चलत्वाद, वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।

तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान्, सर्वतोऽप्यति-विरक्तिमुपैति॥ 15॥

दुहू-माँहि तातैं वांछा फुरै नांहि= दोनों (भोग-सामग्री और भोग-संबंधी इच्छा) के बीच एकता नहीं है, इसलिए (ज्ञानियों को) इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती, ऐसे भ्रमकारज को मूर्ख चहत है= ऐसे भ्रमपूर्ण-कार्य (दोनों में एकता करना) को मूर्ख-लोग ही चाहते हैं, सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत= (ज्ञानी) हमेशा सावधान रहते हैं, परद्रव्यों से अनुराग नहीं करते, यातैं ग्यानवंतकौं अवंचक कहत हैं= इसलिए ज्ञानियों को 'इच्छा-रहित' कहा जाता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जगत् की समस्त भोग-सामग्री, और उस भोग-सामग्री को भोगने-संबंधी समस्त-परिणामों की नश्वरता का और ज्ञानी-जीव की 'निर्वाछकता' का बहुत ही सुंदर-वर्णन किया है।

संसार में जितनी भी भोग-सामग्री है, सब विनाशीक है, क्षणभंगुर है; कभी मिलती है कभी छूट जाती है, इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है; क्योंकि पुद्गल का पर्यायगत स्वभाव ही ऐसा है। हम कितना भी पुरुषार्थ करें पुण्य-पाप के उदय से प्राप्त भोग-सामग्री को सहेजकर नहीं रख सकते, हम अपने ही जीवनकाल में कितने ही परिवर्तन देखते हैं, कोई राजा से रंक बनता है, तो कोई रंक से राजा।

भाई! भोग-सामग्री तो 'पर' है, लेकिन मोह के कारण उसको भोगने के जो परिणाम मेरे हैं, जो धारा-प्रवाह उत्पन्न होते ही रहते हैं; वे भी विनाशीक हैं, क्षणभर में बदल जाते हैं। जब भी हमें इच्छा हो और भोग-सामग्री प्राप्त हो जाये— ऐसा तो तीनकाल में भी संभव नहीं है। जबतक हम उस उत्पन्न-इच्छा को पूरा करने का पुरुषार्थ करते हैं तबतक वहाँ अनेक नई-इच्छाओं का जन्म हो चुका होता है, यानि न तो कभी इच्छा पूरी होती है, और न कभी वे परिणाम स्थायी रहते हैं।

भोग-सामग्री और भोग-संबंधी-इच्छा— इन दोनों में एकता या कहें सुमेल न होने से, अर्थात् इनका वास्तविक-स्वरूप ज्ञात होने से ज्ञानी-जीवों को इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती है। भोगों की वांक्षा-संबंधी— भ्रमपूर्ण या मूर्खतापूर्ण-परिणाम अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव को ही होते हैं; क्योंकि उसे ही इस भोग-सामग्री में सुख-प्राप्ति का भ्रम होता है। ज्ञानियों को ऐसा भ्रम तीन-काल में नहीं होता; क्योंकि इस क्षणभंगुर, विनाशीक भोग-सामग्री से त्रिकाल एकसमान रहनेवाला अविनाशी-सुख प्राप्त नहीं होगा— इस तथ्य से ज्ञानीजीव भली-भाँति परिचित हैं। क्यों न हों, जिसने सच्चे आत्मिक-सुख का स्वाद चख लिया हो, भला उसे इस छलावे में आनंद कैसे आ सकता है??

इसीलिए ज्ञानी-जीव प्रतिसमय सावधान और सचेत रहते हैं, पर-द्रव्यों से अथवा इस विनाशीक भोग-सामग्री से किंचित् भी अनुराग नहीं रखते। जब अनुराग ही नहीं, तो इच्छा भी नहीं। इसीलिये ज्ञानी-जीव को 'अवांचक' अर्थात् 'इच्छा-रहित' कहा जाता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे फिटकड़ी लौद हरड़े की पुट बिना, स्वेत-वस्त्र डारिये मजीठ-रंग नीर में।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल, भेदै नहिं अंतर-सुफेदी रहै चीर मैं॥
तैसे समकितवंत राग-द्वेष-मोह बिनु, रहै निशि-वासर परिग्रह की भीर में।
पूरब-करम हरै, नूतन न बंध करै, जाचै न जगत-सुख राचै न शरीर में॥ 34॥

शब्दार्थ :— जैसे फिटकड़ी-लौद हरड़े की पुट बिना= जैसे फिटकरी-लौद और हरड़ के प्रयोग बिना, स्वेत-वस्त्र डारिये मजीठ-रंग नीर में= लाल-रंग के पानी में सफेद कपड़ा डालने पर, भीग्यौ रहै चिरकाल= बहुत

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म-राग-रसरिक्ततयैति।

रङ्ग-युक्तिरकषायित-वस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिलुंठतीह॥ 16॥

समय तक भीगने पर भी, सर्वथा न होड़ लाल= किंचित् भी लाल नहीं होता, भेदै नहिं अंतर-सुफेदी रहै चीरमैं= अंतरंग को नहीं भेदता, वस्त्र में सफेदी ही रहती है, तैसे समकितवंत राग-द्वेष-मोह बिनु= ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव राग-द्वेष-मोह के बिना, रहै निशि-वासर परिग्रह की भीर में= परिग्रह की भीड़ में रात-दिन रहे, (फिर भी) पूरब-करम हरै नूतन न बंध करै= पूर्व-कर्मों की निर्जरा करता है, और नवीन-बंध नहीं करता है, जाचै न जगत-सुख राचै न शरीर में= संसार का सुख नहीं चाहता, शरीर में भी नहीं राचता/मग्नता नहीं करता।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने बहु-प्रचलित सरल-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि-जीव परिग्रह के मध्य रहता हुआ भी 'निष्परिग्रही' कैसे रहता है?

जैसे कपड़ा रंगनेवाला जब कपड़ा रंगता है, तो वह पानी में लाल-रंग के अलावा फिटकरी, लोंद और हरड़ का भी प्रयोग करता है। इनका प्रयोग किये बिना कपड़ा कितनी भी देर तक क्यों न भिगोया जाये, वह रंगता नहीं है, उसमें सफेदी विद्यमान रहती है। ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव राग-द्वेष-मोह इन तीनों से रहित होने के कारण परिग्रह के बीच रहकर भी 'परिग्रही' नहीं कहलाता।

कहने का अभिप्राय यही है कि जैसे फिटकरी, लोंद और हरड़ के डालने पर लाल-रंग चढ़ता है, यानि सफेद कपड़े को भी अपने रंग में रंगकर लाल कर देता है; ठीक उसीप्रकार राग-द्वेष और मोह इन तीनों के कारण ही आत्मा से पूर्ण-भिन्न होते हुये भी परिग्रह अपना रंग दिखाता है, अर्थात् जीव 'परिग्रही' कहलाता है। वर्ना पर-वस्तु तो पूर्णतः भिन्न-द्रव्य है, और जब दोनों-द्रव्यों के बीच अत्यन्तभाव है, तो दोनों-द्रव्य कितने ही काल साथ रहे कोई फर्क नहीं पड़ता। 'परिग्रही' कहलाने का मूल-कारण पर-वस्तु नहीं, पर-वस्तु में अपनापन है, मोह-राग-द्वेष का परिणाम है। और पर-वस्तु में अपनेपन का ये परिणाम सम्यग्दृष्टि-जीव में नहीं है, सो वह परिग्रह के बीच रहकर भी निष्परिग्रही है, और मिथ्यादृष्टि-जीव में ये तीनों परिणाम जड़ से विद्यमान हैं, सो वह परिग्रह के बीच रहे या न रहे वह 'परिग्रही' ही कहलाता है।

परवस्तु में अपनेपन के परिणाम से जहाँ मिथ्यादृष्टि-जीव पूर्व-कर्मों को भोगकर दुःखी होता है, और नवीन-कर्मों का भी बंध करता है; वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव परिग्रह के इस मिथ्या-परिणाम के न होने से न तो पूर्वकर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगता है, बल्कि उनकी भी निर्जरा करता है, और नवीन-कर्मों का बंध भी नहीं करता है। देहादिक और जगत् के भ्रमरूप-मिथ्यासुख के वास्तविक-स्वरूप से परिचित होने के कारण न तो लौकिक-सुख की वांछा करता और न ही शरीर में रमता है अर्थात् देहादिक से मोह-बुद्धि नहीं करता। इसलिए सम्यग्दृष्टि-जीव संसार में रहकर भी 'निष्परिग्रही' और 'सुखी' है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू देसकौ बसैया बलवंत-नर, जंगल में जाइ मधु-छत्ताकौ गहतु है।

वाकौ लपटाँहि चहुँओर मधु-मच्छिका पै, कंबल की ओटसौ अडंकित रहतु है॥

तैंसें समकिती सिवसत्ताकौ स्वरूप साधै, उदै की उपाधिकौ समाधिसी कहतु हैं।

पहिरै सहजकौ-सनाह मन में उछाह, ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु हैं॥ 35॥

शब्दार्थ :- जैसे काहू देसकौ-बसैया बलवंत-नर= जैसे किसी देश में रहने वाला बलवान् पुरुष, जंगल में जाइ मधु-छत्ताकौ गहतु है= जंगल में जाकर मधुमक्खी के छत्ते को ग्रहण करता है, वाकौ लपटाँहि चहुँओर मधु-मच्छिका पै= मधुमक्खियाँ उसके चारों ओर लिपट जाती हैं, पै कंबल की ओटसौ अडंकित रहतु है= परन्तु कंबल की आड़ में रहने से वह डंकरहित रहता है, तैंसें समकिती सिवसत्ताकौ स्वरूप साधै= उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव (जब) मोक्ष की सत्ता का स्वरूप साधते हैं, तब उदै की उपाधिकौ समाधिसी कहतु हैं= उदय निर्जरा-द्वार

की उपाधि को समाधि के समान कहते हैं, पहिरै सहजकौ-सनाह मन में उछाह= मन में उत्साह भरकर सहज-स्वरूप का बख्तर/कवच पहने रहते हैं, ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु हैं= सुख की राह पर चलते हैं, परन्तु आकुलता को प्राप्त नहीं होते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पुनः एक नये उदाहरण के माध्यम से सिद्धांत को घटाया है। मधुमक्खी के छत्ते को तोड़नेवाले पुरुष जब जंगल में जाकर मधुमक्खी के छत्ते को तोड़ते हैं, तो छत्ते की अधिकांश मक्खियाँ उस पुरुष के चारों ओर लिपट जाती हैं। लेकिन वह पुरुष बदन पर कंबल लपेटकर ही छत्ते को तोड़ने जाता है, इसलिए मधुमक्खियों के डंक से प्रभावित नहीं होता अर्थात् उसके चारों ओर मधुमक्खियों के लिपटे होने पर भी उनका डंक उसे नहीं लगता; क्योंकि वे मधुमक्खियाँ कंबल पर चिपटकर डंक मारती रहती हैं, और वह डंक उस कंबल तक ही सीमित रह जाता है, उसके शरीर में नहीं चुभता है।

ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भी जब परिग्रह के मध्य रहते हैं, तब वह अपने जाननहार-स्वभाव का कंबल पहने रहते हैं; जिससे मोह-राग-द्वेष आदि विकाररूप अंतरंग-परिग्रह और देहादिक संयोगोरूप बहिरंग-परिग्रहरूपी मधुमक्खियों के डंक से प्रभावित नहीं होते हैं, अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलताओं का कितना भी उदयजनित-संयोग बनें, परन्तु फिर भी तदनुरूप विकाररूप परिणामित होकर 'परिग्रही' नहीं होते, अर्थात् अपने ज्ञाता-स्वभावरूप रहकर 'निष्परिग्रही' ही रहते हैं।

बल्कि कर्मोदय-जनित अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप इन औपाधिक-भावों को भी समाधि के समान मानते हैं, क्योंकि इससे परिणामों में दृढ़ता आती है, और स्वरूप की साधना और प्रबल होने से कर्मों का बंध नहीं, बल्कि निर्जरा ही होती है। इसलिए मन में अपूर्व-उत्साह धारण करते हुये, आत्म-स्वभाव का कवच पहनकर सुख की राह ठानते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग पर ही अग्रसर होते हैं, रंचमात्र भी आकुलित नहीं होते हैं।

(दोहा)

ग्यानी ग्यान-मगन रहै, रागादिक-मल खोइ।

चित-उदास करनी करै, करम-बंध नहिं होइ॥ 36॥

शब्दार्थ :— ग्यानी ग्यान-मगन रहै= ज्ञानी-जीव ज्ञान में मग्न/लीन रहते हैं, रागादिक-मल खोइ= राग-द्वेष आदि दोषों को हटाकर, चित-उदास करनी करै= उदासीन/अनासक्त-मनसे क्रियायें करते हैं, (इसकारण उनको) करम-बंध नहिं होइ= कर्मों का बंध नहीं होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि जिन क्रियाओं को करते हुये अज्ञानी-जीव प्रतिसमय बंध करता है, उन्हीं क्रियाओं को करते हुये ज्ञानी-जीव प्रतिसमय निर्बंध रहते हैं, ऐसा क्यों?

ज्ञानी-जीव प्रतिसमय अपने स्वभावरूप अर्थात् जाननहाररूप ही प्रवर्तन करते हैं, जिससे पर-पदार्थों में, और उदयजनित-भावों में इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि न होने से मोह-राग-द्वेष के परिणाम उत्पन्न ही नहीं होते, जिससे कर्म का बंध नहीं होता। साथ ही उदास-चित्त अर्थात् विरक्त-मन से क्रिया करने से भी कर्म का बंध नहीं होता है। यहाँ 'उदास-मन' से तात्पर्य है मोह-रहित सहज-प्रवर्तन करना, जब उपयोग मात्र जाननरूप प्रवर्तन करता है, तो मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती; क्योंकि कर्मबंध का मूल कारण यही विकारी-भाव है।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्, सर्वराग-रस-वर्जनशीलः।

लिप्यते सकल-कर्मभिरेषः, कर्म-मध्य-पतितोऽपि ततो न॥ 17॥

(दोहा)

मोह-महातम-मल हरै, धरै सुमति-परकास ।

मुक्ति-पंथ परगट करै, दीपक-ज्ञान-विलास ॥ 37 ॥

शब्दार्थ :- मोह-महातम-मल हरै=मोहरूपी गहन-अंधकार के दोष को दूर करते हैं, धरै सुमति परकास=सुबुद्धिरूपी-प्रकाश को धारण करते हैं, मुक्ति-पंथ परगट करै=मुक्ति-पंथ/मोक्षमार्ग प्रकाशित करते हैं, दीपक-ज्ञान-विलास=ज्ञानरूपी-दीपक के विलास अर्थात् प्रज्वलन से।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया कि ज्ञानी-जीव मोक्षमार्ग का प्रकाश कैसे करते हैं? जैसे दीपक के प्रकाश से गहन-अंधकार में भी हमें रास्ता दिखाई देने लगता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी-दीपक के सुबुद्धिरूपी-प्रकाश से अनादि का मोहरूपी गहन-अंधकार भी तत्क्षण विलय को प्राप्त होता है, जिससे भव्यजीवों के लिए मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है।

दीपक भले ही छोटा हो, परन्तु फिर भी उसका प्रकाश रास्ता देखने में सहायक है; ठीक उसीप्रकार ज्ञान भले ही अल्प हो, पर यदि सम्यक् है, तो मोक्ष का मार्ग अवश्य प्रकाशित करता है। इसके विपरीत, क्षयोपशम-ज्ञान भले ही बहुत हो, पर सम्यक् न हो, तो वह तीन-काल में भी मोक्ष का मार्ग प्रकाशित नहीं कर सकता है।

(सवैया इकतीसा)

जामैं धूम को न लेस, वातकौ न परवेस, करम-पतंगनिकौ नास करै पल में।

दसाकौ न भोग, न सनेहकौ संजोग जामैं, मोह-अंधकारकौ वियोग जाके थलमैं ॥

जामैं न तताई नहिं राग-रकताई रंच, लहलहै समता-समाधि-जोग जलमैं।

ऐसी ग्यान-दीप की सिखा जागी अभंगरूप, निराधार फुरी पै दुरी है पुद्गलमैं ॥ 38 ॥

शब्दार्थ :- जामैं धूम को न लेस वातकौ न परवेस= जिसमें रंचमात्र भी धुँआ नहीं है, और हवा का भी प्रवेश नहीं है, करम-पतंगनिकौ नास करै पल में= कर्मरूपी पतंगों को जो क्षण में नष्ट करता है, दसा को न भोग न सनेह कौ संजोग= जिसमें बाती का भी प्रयोग नहीं है, न जिसमें सनेह यानि चिकनाई का प्रयोग है, मोह-अंधकारकौ वियोग जाके थलमैं= इसके अस्तित्व में मोहरूपी अंधकार का मूल में ही वियोग है, जामैं न तताई नहिं राग-रकताई रंच= जिसमें गरमाहट भी नहीं है, और न ही रागरूपी रक्तिमा/लालिमा है, लहलहै समता-समाधि-जोग जलमैं= जिसकी ज्वाला/ज्योति में समता, समाधि और योग लहलहाते हैं, ऐसी ग्यानदीप की सिखा जागी अभंगरूप= ऐसी ज्ञानरूपी दीपक की ज्योति अखंडरूप से जागृत हुई है, निराधार फुरी पै दुरी है पुद्गलमैं= (जो) बिना किसी आधार के स्फुरायमान है, परन्तु पुद्गल में छिपी हुई है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने बहुत ही सरसता से सम्यग्ज्ञान और दीपक में साम्य और विरोध दोनों को वर्णित किया है।

यहाँ 'सम्यग्ज्ञान' को 'दीपक' माना है, और उन दोनों में साम्य बैठाते हुये दोनों में भिन्नता भी सिद्ध की है। जैसे लोक में जो दीपक जलता है, उसमें से धुँआ निकलता है; लेकिन ज्ञानरूपी-दीपक विकार की कालिमारूपी धुँयें से रहित है। लौकिक-दीपक में हवा का प्रवेश होते ही बुझ जाता है, लेकिन ज्ञानरूपी-दीपक में कर्म के झकोररूपी-हवा का प्रवेश ही नहीं होता, तो बुझने का तो सवाल ही नहीं। जैसे लौकिक-दीपक की लौ से पतंगे आदि तत्क्षण ही जलकर नष्ट हो जाते हैं, ठीक उसीप्रकार ज्ञानरूपी-दीपक के

जलने पर कर्मरूपी कीट-पतंगे स्वयं ही जलकर नष्ट हो जाते हैं।

जैसे लौकिक-दीपक बिना बाती और तेल के नहीं जलता है, लेकिन ज्ञानरूपी-दीपक को जलने के लिये न तो ज्ञेयरूपी-बाती की आवश्यकता होती है और न ही रागरूपी-संयोगों की चिकनाई की आवश्यकता है। जैसे लौकिक में भी दीपक के प्रकाश में अंधकार का वियोग या कहें कोई अस्तित्व ही नहीं होता, अर्थात् प्रकाश होते ही अंधकार स्वयं ही भाग जाता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक के जलने पर मोहरूपी अंधकार का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

लौकिक-दीपक जलने पर गरमाहट महसूस होती है, जबकि ज्ञानरूपी-दीपक के जलने पर दुःख की गरमाहट नहीं, बल्कि सुखरूपी-शीतलता का अनुभव होता है। लौकिक-दीपक की लौ में लालिमा रहती है, जबकि ज्ञानरूपी-दीपक में राग या कषायरूपी-लालिमा दिखाई नहीं देती।

जैसे दीपक की ज्योति के प्रकाश में जगत् के पदार्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में साम्यभाव, स्वरूप में स्थिरतारूप-समाधि, और मन-वचन-काय की स्थिरतारूप-योग लहलहाते हैं अर्थात् पल्लवित और पुष्पित होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं— ऐसी अखंड, अनुपम-ज्ञानरूपी ज्योति स्फुरायमान हुई है, लेकिन पुद्गल में छिपी हुई है अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होकर देहरूपी-देवालय में विराजमान है।

(सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरब, तामैं तैसोई सुभाउ सधै, कोऊ दरब काहूकौ सुभाऊ न गहतु है।

जैसे संख उज्जल, विविध-वर्न माटी भखै, माटीसौ न दीसत नित-उज्जल रहतु है॥

तैंसैं ग्यानवंत नाना-भोग परिग्रह-जोग, करत विलास, न अग्यानता लहतु है।

ग्यान-कला दूनी होइ, दुंद-दसा सूनी होइ, ऊनी होइ भौ-स्थिति बनारसी कहतु है॥ 39॥

शब्दार्थ :— जैसो जो दरब, तामैं तैसोई सुभाउ सधै= जैसा जो पदार्थ होता है, उसका वैसा ही स्वभाव सिद्ध/फलित होता है, कोऊ दरब काहूकौ सुभाऊ न गहतु है= कोई भी पदार्थ किसी का भी स्वभाव ग्रहण नहीं करता, जैसे संख उज्जल विविध-वर्न-माटी भखै= जैसे शंख उजला (होकर भी) विविध-रंगों की मिट्टी का भक्षण करता है, माटीसौ न दीसत नित उज्जल रहतु है= (लेकिन फिर भी) मिट्टी जैसा दिखाई नहीं देता है, हमेशा उजला ही रहता है, तैंसैं ग्यानवंत नाना-भोग परिग्रह-जोग= उसीप्रकार ज्ञानी-जीव विविध-प्रकार के भोग, परिग्रह के संयोग में, करत विलास, न अग्यानता लहतु है= विलास करते हुए भी अज्ञानता को प्राप्त नहीं होता है, ग्यानकला दूनी होइ= ज्ञान-कला दुगुनी होती जाती है, दुंद-दसा सूनी होइ= द्वंद्व/भ्रम की दशा शून्य हो जाती है, ऊनी होइ भौ-स्थिति बनारसी कहतु है= संसार की स्थिति कम हो जाती है— ऐसा बनारसीदास जी कहते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उस स्थिति का वर्णन किया है, जब सम्यग्दृष्टि-जीव परिग्रह को भोगते हुये, संयोगों के बीच रहते हुए भी परिग्रह के रंग में नहीं रंगता है।

लोक में भी हम देखते हैं कि जिस पदार्थ का जो स्वभाव होता है, वह कभी नहीं बदलता है। जैसे चीनी का स्वभाव मीठापन, नीबू का स्वभाव खट्टापन, और नमक का स्वभाव खारापन; अब इन तीनों को कितना भी मिलाया जाये, फिर भी तीनों ही अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं; क्योंकि जब हम चखते हैं, तब हमें तीनों का स्वाद अलग-अलग ही आता है।

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः, कर्तुं नैष कदाचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।

अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवेत्सन्ततम् ज्ञानिन्, भुंक्ष्व परापराध-जनितो नास्तीह बन्धस्तव॥ 18॥

इसीप्रकार न ही कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के स्वभाव को ग्रहण करता है, न उस रूप होता है, फिर चाहे वे कितने ही काल तक साथ में क्यों न रहें या भोग करें। जैसे शंख स्वभाव से सफेद होता है, दिन-रात अनेक-रंगों की मिट्टी का भक्षण करने पर भी वह आज तक मटमैला नहीं हुआ, उजला ही रहा। जैसे शरीर और आत्मा अनादिकाल से साथ हैं, फिर भी दोनों पूर्णतः भिन्न हैं, न ही आज तक दोनों ने अपना स्वभाव बदला है और न ही रूप, अर्थात् न तो आज तक चेतन-आत्मा जड़रूप हुआ, और न ही जड़ चेतनरूप।

उसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव नानाप्रकार के भोग भोगने पर भी, और अनेकों संयोगों के बीच रहने पर भी कभी अज्ञानता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् स्वप्न में भी परिग्रह के प्रति ममत्व का भाव उत्पन्न नहीं होता। बल्कि विपरीत-परिस्थितियों में ज्ञानकला अर्थात् भेदविज्ञान की कला और अधिक प्रबल होती है, और मोहरूपी भ्रम की स्थिति शून्य हो जाती है, जिससे कर्मों की प्रतिसमय निर्जरा होने से भौ-स्थिति अर्थात् संसार की स्थिति घटती जाती है— ऐसा बनारसीदास जी कहते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जौलौं ज्ञान को उदोत तौलौं नहिं बंध होत, बरतै मिथ्यात तब नाना-बंध होहि है।

ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै-भोगनिसौं, जोगनिसौं उद्दम की रीतितैं बिछोहि है॥

सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत, यहु तौ एकंत भगवंत कौ दिरोहि है।

विषैसौं विमुख होहि अनुभौ-दसा अरोहि, मोख-सुख टोहि, तोहि ऐसी मति सोहि है॥ 40॥

शब्दार्थ :— जौलौं ज्ञान को उदोत= जबतक ज्ञान का प्रकाश रहता है, तौलौं नहिं बंध होत= तबतक बंध नहीं होता, बरतै मिथ्यात तब नाना-बंध होहि है= जब मिथ्यात्व वर्तता है, तब विविधप्रकार का बंध होता है, ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै-भोगनिसौं= तू ऐसा कथन सुनकर भी विषय-भोगों में लगा हुआ है, जोगनिसौं उद्दम की रीतितैं बिछोहि है= प्रयत्नपूर्वक पुरुषार्थ करने की रीति को छोड़ दिया है, सुनु भैया संत! तू कहै मैं समकितवंत= सुनो भैया संत! तुम कहते हो कि "मैं सम्यग्दृष्टि हूँ" यहु तौ एकंत भगवंत कौ दिरोहि है= यही एकांत तो जिनेन्द्रदेव का द्रोही है, विषैसौं विमुख होहि, अनुभौ-दसा अरोहि= विषय-भोगों से विरक्त होकर अनुभव की दशा को ग्रहण करके, मोख-सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है= मोक्ष-सुख को देखो, तुझे ऐसी बुद्धि शोभती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उन जीवों का वर्णन किया है, जो अपने आपको 'सम्यग्दृष्टि' भी कहते हैं, और विषय-भोगों में प्रवृत्त भी रहते हैं।

आगम के अनुसार "जबतक ज्ञान का प्रकाश हो, तबतक बंध नहीं होता, और जबतक मिथ्यात्व वर्तता है, तबतक बंध होता है"— जिनवाणी का ये कथन सुनकर कोई जीव यह मान ले कि 'मैं तो ज्ञाता-दृष्टा भगवान् आत्मा हूँ, मैं तो कुछ करता ही नहीं, यह सब तो जड़ का परिणामन है, सो कुछ भी करो, कुछ भी खाओ-पिओ, कोई फर्क नहीं पड़ता'— यह सोचकर विषय-भोगों में प्रवृत्त हो और सामान्य नियम-संयम की प्रवृत्ति को भी जानबूझकर छोड़ दे, और कहे कि "मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ"— उसके प्रति कविवर कहते हैं "तुम्हारा यह एकांत या एक-पक्ष को स्वीकार करना भी मिथ्यात्व ही है, जो आत्मा एवं जिनेन्द्रदेव का द्रोही या विरोधी है, अर्थात् इससे भी आत्मा का अहित ही होगा।"

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्थाप्युच्यते, भुङ्क्षे हन्त जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।

बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते, ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम्॥ 19॥

क्योंकि जिसे आत्मस्वरूप का सच्चा-श्रद्धान होता है, उसकी विषय-भोगों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, जिसने सच्चा-आत्मसुख का स्वाद चख लिया हो, उसे इन क्षणिक और भ्रामिक-भोगों में आनंद कैसे आ सकता है? उसे इनसे विरक्ति नियम से वर्तती ही है। जबतक ऐसा न हो तबतक समझना वह जीव मिथ्यात्व की अवस्था में ही है। क्योंकि स्वयं बनारसीदास ही आगे कहते हैं – "ज्ञानी मगन विषय-सुख-मांहीं, यह विपरीति संभवै नाहीं।"

सम्यक्-दशा तो वह है, जब पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों से विरक्ति हो, अर्थात् इनके त्यागरूप प्रवर्तन भी हो, और आत्मस्वभाव का ग्रहण हो अर्थात् आत्मस्वरूप का दृढ़ और सम्यक्-श्रद्धान भी हो, और मोक्ष-सुख या पूर्ण-सुखी होने का लक्ष्य हो— ऐसी सुमति ही जीव को शोभा देती है।

(चौपाई)

ग्यानकला जिनके घट जागी, ते जगमाँहि सहज-वैरागी।

ग्यानी मगन विषै-सुखमाँही, यह विपरीति संभवै नांही॥ 41॥

शब्दार्थ :— ग्यानकला जिनके घट जागी= सम्यग्ज्ञान की कला, जिनके हृदय में जागृत है, ते जगमाँहि सहज वैरागी= वे संसार में सहज-वैरागी रहते हैं, ग्यानी मगन विषै-सुखमाँही= ज्ञानी-जीव विषयों के सुख में मगन रहें, यह विपरीति संभवै नांही= यह उल्टी-चाल संभव नहीं है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया कि ज्ञानी-जीव विषयों में मगन कैसे हो सकता है? क्योंकि जिसके चित्त में ज्ञानकला जागृत होती है, अर्थात् जब भेदविज्ञान-पूर्वक जड़ से भिन्न निज-स्वभाव की महिमा आती है, और अनुभूति के आनंद का जो रस आता है उसकी तुलना जगत् के किसी भी रस से संभव ही नहीं है। तो फिर ज्ञानी-जीव को इन क्षणिक, जड़, पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में रस कैसे आ सकता है? और जब रस ही नहीं आता, तो मगनता कैसे हो सकती है? अर्थात् ऐसी विपरीतता तीन-काल में भी संभव नहीं है। यदि जीव स्वयं को सम्यग्दृष्टि कहे, और पंचेन्द्रिय के विषयों में रमता हुआ दिखे, तो समझना कि वह जीव ज्ञानी नहीं, अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि ही है।

जैसे चंदन के वृक्ष पर जहरीले-साँप रहते हैं, परन्तु दिन-रात साथ रहने पर भी साँप का जहर चंदन के अंदर प्रवेश नहीं करता। ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव कर्मोदय-जनित प्रसंगों में, परन्तु आगम के अनुकूल विषय-भोगों में प्रवर्तन करते हुये कदाचित् दिखे भी, परन्तु फिर भी भोगों में मगनता तो कदापि संभव ही नहीं है।

(दोहा)

ग्यान-सक्ति वैराग्य-बल, सिव-साधैँ समकाल।

ज्यौँ लोचन न्यारे रहैँ, निरखैँ दोउ नाल॥ 42॥

शब्दार्थ :— ग्यान-सक्ति वैराग्य-बल सिव-साधैँ समकाल= ज्ञान-शक्ति और वैराग्य-बल दोनों एक साथ/एक समय में ही मोक्षमार्ग को साधते हैं, ज्यौँ लोचन न्यारे रहैँ निरखैँ दोउ नाल= जैसे दोनों नेत्र अलग-अलग रहते हैं, परन्तु देखते दोनों एक साथ ही हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने बहुत ही सरल-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया कि मोक्षमार्ग में ज्ञान और वैराग्य दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू की तरह होते हैं, ज्ञान के बिना वैराग्य की और वैराग्य के बिना ज्ञान की कोई कीमत नहीं। क्योंकि ज्ञान के बिना वैराग्य आकुलता-रहित सहजता से

पालना असंभव है, और बिना वैराग्य के ज्ञान मोक्षरूपी मंजिल तक पहुँचाने में असमर्थ होता है। इसलिए मोक्षमार्ग में ज्ञान और वैराग्य दोनों भिन्न होते हुए भी एकसाथ ही कार्य करते हैं।

जिसप्रकार दोनों ही नेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी देखने का काम एक साथ ही करते हैं, ठीक उसीप्रकार 'सम्यग्ज्ञान' जीव के ज्ञान-गुण की पर्याय है, और 'वैराग्य' जीव के चारित्र-गुण की पर्याय है, दोनों में भिन्नता होते हुए भी मोक्षमार्गरूपी कार्य दोनों एकसाथ ही करते हैं।

(चौपाई)

मूढ 'करम को करता' होवै, फल-अभिलाष धरै फल-जोवै।

ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी, लगै न लेप निर्जरा-दूनी॥ 43॥

शब्दार्थ :— मूढ करम को करता होवै= मूर्ख-जीव कर्म का कर्ता बनता है, फल-अभिलाष धरै फल जोवै= (पहले भी) फल की इच्छा रखता है, (और बाद में भी) फल चाहता है, ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी= ज्ञानी फल की वांक्षा से रहित होकर कर्म करता है, लगै न लेप निर्जरा दूनी= बंध भी नहीं होता, और निर्जरा भी दुगनी होती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने ज्ञानी क्रिया करते हुए निर्बंध और अज्ञानी को बंध— इस सत्य का स्पष्टीकरण किया है। पहले विचार करते हैं कि अज्ञानी कर्म से बंधता क्यों है? पहली-गलती— अज्ञानी-जीव स्वयं को उस क्रिया का कर्ता मानता है। दूसरी-गलती— वह पहले से फल की वांक्षा रखकर ही कार्य शुरू करता है। और तीसरी-गलती— बाद में फल मिला कि नहीं? — ये भी विचार करता है। फल अच्छा मिला तो हर्ष/खुश होता है, और बुरा मिले तो विषाद/दुःखी होता है, जिससे वह हर क्रिया के फल में कर्मबंधन को प्राप्त होता है। सीधा-सा न्याय है, जो फल की चाह करता है, उसको फल भोगना पड़ता है, जो फल की चाह नहीं रखता उसे भोगना भी नहीं पड़ता।

जैसे सम्यग्दृष्टि-जीव न तो स्वयं को किसी भी क्रिया का कर्ता मानता है, न ही किसी भी क्रिया के बदले फल की वांक्षा करता है, और न ही क्रिया के फल में हर्ष और विषाद करके सुखी और दुःखी होता है, इसीलिए वह उस क्रिया के फलस्वरूप कर्मबंधन को भी प्राप्त नहीं होता है। बल्कि हर क्रिया विरक्ति या उदासीनता-पूर्वक करने से और सहज रहने से बंधन के बजाय उसके उत्तरोत्तर निर्जरा होती है।

(दोहा)

बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन-पेम।

खुलै करमसौं समकिती, गोरखधंधा-जेम॥ 44॥

शब्दार्थ :— बंधै करमसौं मूढ़= अज्ञानी-जीव कर्म से बंधता है, ज्यौं पाट-कीट तन पेम= जैसे रेशम का कीड़ा जो अपनी लार को अपने तन पर ही लपेटता है, खुलै करमसौं समकिती= सम्यग्दृष्टि कर्मबंधन से खुलता/छूटता है, गोरखधंधा जेम= जैसे गोरखधंधा।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि जीव अपने बंधन के धागे स्वयं ही बुनता है, और मुक्ति का पुरुषार्थ भी स्वयं ही करता है। जैसे रेशम का कीड़ा स्वयं अपनी लार को अपने शरीर पर लपेटता जाता है, और अंत में स्वयं उसमें कैद होकर मरण को प्राप्त होता है, ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्, कुर्वाणः फल-लिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।

ज्ञानं संस्तदपास्त-राग-रचनो नो बध्यते कर्मणा, कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फल-परित्यागैक-शीलो मुनिः॥ 20॥

जीव स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर, अपने ही परिणामों से अपने लिये ही कर्मों की गठरी तैयार करता है, और उसका फल भी स्वयं ही भोगता है।

वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव प्रतिसमय अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभावस्वरूप प्रवर्तन करता है, सो अपने ही परिणामों के बल पर अपने लिये स्वयं ही कर्मबंधन से छूटने का या मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। ठीक उसीप्रकार जैसे गोरखधंधा नाम का कीड़ा स्वयं ही अपनी युक्तियों से अपने बुने जाल से बाहर निकलता है।

(सवैया तेईसा)

जे निज पूरब-कर्म उदै, सुख-भुंजत भोग उदास रहेगें।
जे दुःख में न विलाप करै, निरबैर हियै तन-ताप सहैगें॥
है जिन्हकै दिढ़-आत्मज्ञान, क्रिया करिकै फल कौ न चहैगें।
ते सुविचच्छन-ग्यायक हैं, तिनकौ 'करता' हम तौ न कहैगें॥ 45॥

शब्दार्थ :— जे निज पूरब-कर्म उदै= जो अपने पूर्वकर्म के उदय से, सुख-भुंजत भोग उदास रहेगें= प्राप्त भोग-सामग्री में उदासीन रहकर सुख भोगते हैं, जे दुःख में न विलाप करै= जो दुःख में दुःखी नहीं होते, निरबैर हियै तन-ताप सहैगें= बैर-रहित हृदय से शरीर के कष्टों को सहन करते हैं, है जिन्हकै दिढ़ आत्मज्ञान= जिनके दृढ़ आत्मज्ञान है, क्रिया करिकै फल कौ न चहैगें= वे क्रिया करके फल की इच्छा नहीं करते, ते सुविचच्छन-ग्यायक हैं= वे विद्वान्-पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं, तिनकौ करता हम तौ न कहैगें= उनको 'कर्ता' हम तो नहीं कहेंगे।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि ज्ञानी-जीव कर्म के उदय में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होने पर भी कर्म के कर्ता क्यों नहीं बनते?

पूर्व-कर्म के उदय में जिसप्रकार अज्ञानी-जीव को भोग-सामग्री प्राप्त होती है, उसीप्रकार पूर्व-कर्म के उदय में ज्ञानी-जीव को भी भोग-सामग्री प्राप्त होती है। लेकिन अज्ञानी-जीव उस भोग-सामग्री को आसक्ति ही नहीं, अधिकतर तो अति-आसक्तिपूर्वक भोगता है, वहीं ज्ञानी-जीव उस भोग-सामग्री को उदासीन या कहें विरक्त-भाव से भोगते हैं। यदि कोई सामग्री या संयोग दुःख में भी निमित्त होती है, तब भी वे दुःखी नहीं होते, न ही किसी के प्रति द्वेष और बैर का भाव रखते हैं; बल्कि अपने ही पूर्वकर्म का उदय जानकर साम्यभाव रखते हैं।

इतना ही नहीं ऐसे जीवों को निज आत्मस्वरूप का भी दृढ़ श्रद्धान होता है, कितनी भी प्रतिकूलता आ जाये इनका श्रद्धान डगमगाता नहीं है। जो किसी भी क्रिया के फल में सांसारिक-सुख की ही नहीं मोक्ष-सुख की भी वांक्षा नहीं करते, वे ही विद्वान् जीव वास्तव में 'सम्यग्दृष्टि' हैं। कविवर कहते हैं कि उनको हम कर्म का कर्ता कैसे कह सकते हैं? अर्थात् वे ज्ञानी-जीव कर्म के कर्ता नहीं होते।

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकी सुदृष्टि में अनिष्ट-इष्ट दोऊ सम, जिन्हकौ अचार सु विचार सुभ-ध्यान है।
स्वारथकौ त्यागि जे लगे हैं परमारथकौ, जिन्हकै बनिजमें न नफा है न ज्यान है॥
जिन्हकी समुझि में सरीर ऐसौ मानियत, धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है।
पारखी-पदारथ के साखी-भ्रम-भारथ के, तेई साधु तिनहीकौ जथारथ-ग्यान है॥ 46॥

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं, किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापेत्।

तस्मिन्नापतिते त्वकम्प-परमज्ञान-स्वभावे स्थितो, ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः॥ 21॥

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं, यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्-त्रैलोक्यमुक्ताध्वनिः।

सर्वमेव निसर्ग-निर्भयतया शङ्का विहाय स्वयं, जानन्तः स्वमवध्य-बोध-वपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥ 22॥

शब्दार्थ :— जिन्हकी सुदृष्टि में अनिष्ट-इष्ट दोऊ सम= जिनकी सम्यक्-दृष्टि में अप्रिय और प्रिय-दोनों समान हैं, जिन्हकौ अचार सु विचार सुभ-ध्यान है= जिनका आचरण और विचार शुभध्यानरूप है, स्वारथकौ त्यागि जे लगे हैं परमारथकौ= (सांसारिक) स्वार्थवृत्ति को त्यागकर जो परमारथ या मोक्षमार्ग में लगे हैं, जिन्हके बनिजमें न नफा है न ज्यान है= जिनके व्यापार/कार्य में न फायदा है, न नुकसान है, जिन्हकी समुझि में सरीर ऐसौ मानियत= जिनकी सोच में शरीर को ऐसा मानते हैं, धानकौसौ छीलक= धान के छिलके के समान, कृपानकौसौ म्यान है= म्यान में रखी तलवार के समान, पारखी पदारथ के साखी भ्रम-भारथ के= पदार्थों के जानकार हैं, भ्रमरूपी युद्ध के साक्षी हैं, तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है= वे ही साधु हैं, और उन्हीं को यथार्थ-ज्ञान है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि संसार और संयोगों के बीच में रहते हुये ज्ञानी की चिंतनधारा कैसी रहती है ?

संसार में नानाप्रकार के पदार्थ और संयोग हैं, जो जीव को अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त होते हैं, उनमें से कुछ हमें बहुत अच्छे लगते हैं और कुछ खराब। जो इष्ट या अच्छे लगते हैं, हम उनसे 'राग' करते हैं, और जो हमें अनिष्ट या बुरे लगते हैं, उनसे हम 'द्वेष' करते हैं। जबकि ज्ञानी-जीव के लिए दोनों समान होते हैं, जिससे उन्हें राग-द्वेष विकारी-भावों की उत्पत्ति ही नहीं होती। उनका समस्त-आचरण और विचार केवल निज-आत्मध्यान के लिये ही होता है। जैसे यदि वे भोजन भी ग्रहण करते हैं, तो सिर्फ उतना ही, जिससे उनकी साधना निर्विघ्न हो, चिंतन भी चलता है, तो इसका कि कब और कैसे मैं स्वरूप में स्थिर होऊँ ?

जो जगत् की भ्रमपूर्ण और संसार में परिभ्रमण करानेवाली सांसारिक-स्वार्थवृत्ति को छोड़कर एकमात्र आत्मध्यान के मार्ग पर ही अग्रसर होते हैं। जिनके वचन व्यापार में न तो सांसारिक-लाभ की चर्चा होती है और न नुकसान की, एकमात्र धर्म की ही चर्चा में अनुरक्त रहते हैं। जिनके चिंतन में देह और आत्मा के बीच निरन्तर भेदज्ञान वर्तता है। जैसे चावल धान के अंदर पैदा होने पर भी उससे भिन्न ही रहता है, यदि ऐसा न होता तो धान कूटनेवाला चावल और धान को अलग नहीं कर सकता था। जैसे तलवार म्यान के अंदर रहने पर भी सदैव भिन्न रहती है, ठीक उसीप्रकार देहरूपी-म्यान में आत्मारूपी-तलवार सदाकाल-भिन्न रहती है।

जो भ्रमरूप-संसार में चलनेवाली विकारों की लड़ाई के साक्षी अर्थात् ज्ञातामात्र हैं। अभिप्राय यह है कि सत्य से सुपरिचित होने से उनकी दृष्टि में भ्रमरूप-संसार का कोई स्थान नहीं है— ऐसे निर्मल-जीव ही वास्तव में सच्चे-साधु हैं, और उन्हीं का ज्ञान यथार्थ या कहें निर्दोष है।

(सवेया इकतीसा)

जम-कौसौ भ्राता दुःखदाता है असाता-कर्म, ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है।

सुरग-निवासी भूमि-वासी औ पाताल-वासी, सबही कौ तन-मन कंपितु रहतु है॥

उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत-भैसौ, डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है।

सहज-सुवीर जाकौ सासतौ-सरीर ऐसौ, ग्यानी-जीव आरज-आचारज कहतु है॥ 47॥

शब्दार्थ :— जमकौसौ भ्राता दुःखदाता है असाताकर्म= असाता-वेदनीयकर्म यमराज के भाई के समान दुःख देनेवाला है, ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है= इसके उदय में मूर्ख/ मिथ्यादृष्टि-जीव साहस ग्रहण नहीं करता है, सुरग-निवासी भूमि-वासी औ पाताल-वासी= स्वर्ग में रहनेवाले, भूमि पर रहनेवाले, और पाताल में रहनेवाले, निर्जरा-द्वार

सबहीकौ तन-मन कंपितु रहतु है= सभी का शरीर और मन कंपित रहता है, उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सप्त-भैसौ= उजले हृदयवाले अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव, (स्वयं को) सात-भयों से भिन्न देखते हैं, डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है= निशंकित होकर आनंद प्राप्त करते हैं, सहज-सुवीर जाकौ सासतौ-सरीर= आत्मबल के धनी जिसका ज्ञान-शरीर शाश्वत है, ऐसौ ग्यानी-जीव आरज-आचारज कहतु है= ऐसा ज्ञानी-जीव का आचरण पवित्र/अनुकरणीय कहलाता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि ज्ञानी निर्भय और अज्ञानी भयभीत क्यों रहता है?

अनादिकाल से जीव आठ-कर्मों के साथ है, यद्यपि मोहनीय-कर्म बलवान है और एकमात्र वही दुःख का कारण है; परन्तु संसारी-जीव उसको दुःख का कारण कभी नहीं मानता, उसे समस्त दुःख का कारण असाता-वेदनीयकर्म ही लगता है, क्योंकि जिस सांसारिक क्षणिक-सुख में जीव मग्न है, इस कर्म का उदय जीव के उस क्षणिक सुख में बाधक बनता है; इसीलिये कवि ने असाताकर्म को 'यमराज का भाई' कहा। जैसे यमराज के सामने जीव अपना धैर्य खो देता है, ठीक उसीप्रकार असाता-वेदनीय कर्म के उदय में भी जीव अपना धैर्य, साहस सब खो देता है। यहाँ तक कि कुगुरु-कुदेवादि को भी पूजने के लिये तैयार हो जाता है, और फिर भी महादुःखी होता है।

असाता-वेदनीयकर्म का उदय केवल हम मनुष्यों को ही नहीं, स्वर्ग में रहनेवाले देवों, भूमि पर रहनेवाले तिर्यच और व्यंतर आदि तथा पाताल यानि अधोलोक में रहनेवाले भवनवासी, नारकी आदि सभी जीवों को कंपित कर देता है अर्थात् सभी जीव इससे भयभीत और दुःखी रहते हैं।

जब कि वहीं दूसरी ओर जिनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश है अर्थात् सम्यग्दृष्टि ज्ञानी-जीव इस कर्म के उदय में तनिक भी भयभीत और दुःखी नहीं होते हैं; क्योंकि वह इस कर्म के उदय में मिलनेवाले संयोगों और संयोगी-भावों से स्वयं को प्रतिक्षण भिन्न अनुभव करते हैं। सातोंप्रकार के भय सम्यग्दृष्टि-जीव को नहीं होते, वे हमेशा निर्भय और सुखी रहते हैं, क्योंकि वे आत्मबल के धनी होते हैं, वे इस नश्वर-देह को नहीं, बल्कि ज्ञान को अपना शरीर मानते हैं, जो शाश्वत है, कभी मरण को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी जीव परम-पवित्र ऐसे उत्तम-आचरण के धनी होते हैं।

(दोहा)

इहभव-भय परलोक-भय मरन-वेदना-जात।

अनरच्छा-अनगुप्त-भय अकस्मात्-भय सात॥ 48॥

शब्दार्थ :- इहभव-भय = इसलोक का भय, परलोक-भय= परलोक का भय, मरन-वेदना-जात= मरण का भय, वेदनाजनित भय, अनरच्छा= अनरक्षा-भय, अनगुप्त-भय= अगुप्ति भय, अकस्मात्-भय= अकस्मात् भय, सात= ये सात भय होते हैं।

विशेषार्थ :- सप्त-भयों के नामों का वर्णन करते हुए कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि इसलोक का भय, परलोक का भय, मरण का भय, वेदनाजनित-भय, अनरक्षा-भय, अगुप्ति-भय और अकस्मात्-भय— ये सातप्रकार के भय होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

दसधा-परिग्रह-वियोग-चिंता इह-भव, दुर्गति-गमन-भय परलोक मानिये।

प्राणिकौ-हरन मरन-भै कहावै सोइ, रोगादिक-कष्ट यह वेदना बखानिये॥

रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा-भय, चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।

अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ, ऐसौ भय-अकस्मात् जगतमैं जानिये॥ 49॥

शब्दार्थ :— दसधा-परिग्रह-वियोग-चिंता इह-भव= दसप्रकार का परिग्रह अलग हो जाने की चिंता 'इहलोक-भय' है, दुर्गति-गमन भय-परलोक मानिये= दुर्गति में जाने का भय 'परलोक-भय' मानो, प्राननिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ= प्राणों का वियोग होना वह 'मरण-भय' कहलाता है, रोगादिक-कष्ट यह वेदना बखानिये= रोगादिक के चलते कष्ट का होना यह 'वेदना-भय' कहा जाता है, रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा-भय= हमारी रक्षा करने वाला कोई नहीं है ये 'अनरक्षा-भय' है, चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये= चोर दुश्मन आदि के आने पर कैसे बचेगें मन में ऐसा विचार आना 'अगुप्ति-भय' है, अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ= जो पहले सोची न हो, ऐसी अचानक विपत्ति का आना, ऐसौ भय-अकस्मात् जगतमैं जानिये= ऐसा 'अकस्मात्-भय' लोक में जानना चाहिए।

विशेषार्थ :— इस-छंद में सप्तभयों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि दसप्रकार के बाह्य-परिग्रह के अलग होने का भय 'इहलोक-भय' है। नरक-निगोद-निर्यचादि दुर्गतियों में गमन का भय 'परलोक-भय' है। दसप्रकार के प्राणों का हरण या छूटना 'मरण-भय' कहलाता है। शरीर में होनेवाले रोगादिक के होने पर कष्ट का होना 'वेदना-भय' है। मेरी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है ऐसा मानना 'अनरक्षा-भय' है। चोर-दुश्मन आदि के आने पर स्वयं को कैसे बचायेंगे, ऐसा सोचना 'अगुप्ति-भय' है। जिसके बारे में पहले सोचा भी न हो और अचानक ऐसा कुछ भी होना 'अकस्मात्-भय' है,— ऐसा लोक में माना जाता है। इनका विशेष-विवेचन इसप्रकार है—

1. इहलोक-भय— अनादिकाल से संसारी-जीव को कर्म का संयोग होने से अंतरंग-परिग्रह के साथ साथ सोना-चाँदी, क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य, बर्तन-भांडे, दास-दासी आदि बाह्य परिग्रह की भी प्राप्ति होती है, जिसे हर मिथ्यादृष्टि-जीव अपनी जान से भी ज्यादा संभालकर रखता है कि, कहीं यह परिग्रह मुझसे छूट न जाये, ये भय उसे जीवन-पर्यंत बना ही रहता है। जब कि हम अच्छे से जानते हैं कि ये सब हमें यहीं छोड़कर जाना है, परलोक में इसे साथ ले जाने की व्यवस्था नहीं है, तो फिर भयभीत क्यों ?

2. परलोक-भय— मरण के बाद मेरा जन्म किस गति में होगा ?— यह आशंका हर संसारी मिथ्यादृष्टि-जीव को रहती है, जब कि इस देह का वियोग होने पर अगले भव में कहाँ जन्म लेना है, यह सब पूर्वनिश्चित है; तब भी हम भयभीत रहते हैं।

3. मरण-भय— मरण का भय तो प्रत्येक संसारी मिथ्यादृष्टि-जीव को प्रतिसमय रहता है, चाहे वो संज्ञी हो या असंज्ञी। तिर्यच-गति का असंज्ञी-जीव भी अपने प्राणों को बचाने की पूरी कोशिश करता है। और हम मनुष्यों की तो बात ही अलग है, हम अच्छे से जानते हैं कि जीव का मरण आयु-कर्म के आधीन है, जिसे एक पल भी कोई घटा-बढा नहीं सकता, फिर भी हम भयभीत रहते हैं। जबकि वास्तविकता तो यह है कि मरण का समय, मरण का स्थान आदि सब पूर्व-निश्चित है, जिसे टालने में हम तो क्या जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं, फिर हम प्रतिसमय मरण से भयभीत क्यों रहते हैं ?

4. वेदना-भय— रोगादि से होनेवाली वेदना का भय होना 'वेदना-भय' है। जिनवाणी माँ कहती है कि "हे आत्मन्! शरीर तो रोगों का पिटारा है, और आत्मा तो कभी रोगी हुआ ही नहीं"। भगवान् की वाणी

में आया 'मैं तो शरीर आदि से भिन्न भगवान् आत्मा हूँ, तो जब रोग मुझे हुआ ही नहीं, तो वेदना कैसी? मेरे में और इन सभी पदार्थों में तो अत्यन्ताभाव है।' — यह सब सुनकर भी हम निरन्तर भयभीत रहते हैं।

5. अनरक्षा-भय— पिता, पुत्र, पति आदि संयोगों के बिछुड़ जाने पर अब मेरी रक्षा कौन करेगा? ऐसा भय करना 'अनरक्षा-भय' है। वास्तव में देखा जाये, तो क्या ये संयोग हमारी रक्षा कर सकते हैं? हम प्रत्यक्ष-अनुभव करते हैं कि जब मरण-समय नजदीक हो, सारे संबंधी भी पास खड़े हों, डॉ. भी साथ हो; पर क्या उस समय कोई हमारी रक्षा करने में समर्थ होता है? नहीं। क्या संयोगों के बिछुड़ जाने पर, कोई रक्षक न होने से किसी की जिंदगी रुक जाती है? नहीं। तो फिर भय कैसा?

6. अगुप्ति-भय— रुपया पैसा जमीन जायदाद आदि के खोने का भय 'अगुप्ति-भय' है। हम यह भूल ही जाते हैं कि जो होना है सो निश्चित है। यदि पाप का उदय आयेगा तो इस लक्ष्मी का भी वियोग होना निश्चित है; और पुण्य का उदय है तो इसे कोई छीन नहीं सकता, तो फिर हम क्यों व्यर्थ ही भयभीत रहते हैं? हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि जब डकैती पड़ती है तो हमारे सामने होते हुए भी यह लक्ष्मी हमसे छिन जाती है, हम उसे रोक नहीं पाते फिर भी हम भयभीत रहते हैं, क्यों?

7. अकस्मात्-भय— संसारी-जीवों की ये प्रवृत्ति है कि अचानक कुछ न हो जाये ऐसी आशंका उन्हें हर समय बनी रहती है। घर से व्यक्ति निकले और वापस समय पर घर न आये, तो फिर मन में न जाने कितनी आशंकायें जन्म लेती है। क्यों? क्योंकि हम भूल जाते हैं कि हर कार्य अपने समय पर ही होता है, अकस्मात् कुछ नहीं होता। यदि कोई दुर्घटना भी घटी है, तो उसका भी समय पूर्व-निश्चित था, वह भी तेरे उदय के आधीन ही घटी है। हे आत्मन्! तो फिर भय कैसा?

(छप्पय)

नख-सिख-मितपरवान, ग्यान-अवगाहनिरक्खत।
 आतम-अंग अभंग संग, पर-धन इम अक्खत॥
 छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार भार-जसु।
 जहाँ उतपत्ति तहाँ प्रलय, जासु संजोग-विरह तसु॥
 परिगह-प्रपंच परगट परखि, इहभव-भय उपजै न चित्त।
 ग्यानी निसंक-निकलंक निज- ग्यानरूप निरखंत नित॥ 50॥

शब्दार्थ :— नख-सिख-मित परवान= सिर की चोटी से लेकर पैर के नाखून तक परिमित, ग्यान-अवगाह निरक्खत= ज्ञान की अवगाहनारूप देखते हैं, आतम-अंग अभंग= आत्मा के स्वरूप को भंगरहित, संग परधन इम अक्खत= संयोग/परिग्रह को पराये धन के समान जानते/कहते हैं, छिनभंगुर संसार-विभव= संसार का वैभव क्षणभंगुर है, परिवार भार-जसु= परिवार आदि संयोगों को भार के समान (मानते हैं), जहाँ उतपत्ति, तहाँ प्रलय= जहाँ उत्पत्ति है, वहाँ विनाश भी है, जासु संजोग विरह तसु= जिसका संयोग उसका वियोग (भी है — ऐसा मानते हैं), परिगह-प्रपंच परगट परखि इहभव-भय उपजै न चित्त= परिग्रह को प्रत्यक्ष प्रपंच/ जंजाल देखकर इहलोकभय चित्त में उत्पन्न नहीं होता, ग्यानी निसंक निकलंक निज-ग्यानरूप निरखंत नित= ज्ञानी जीव अपने स्वरूप को प्रतिदिन शंकारहित विकाररहित मात्र ज्ञानरूप देखते हैं।

लोकः शाश्वत एक एष सकल-व्यक्तो विविक्तात्मन-श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः।

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धीः कुतो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ 23॥

विशेषार्थ :- ज्ञानी-जीव अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव को पूर्वकथित सातों भय क्यों नहीं होते हैं? इसका स्पष्टीकरण आगे के छंदों में क्रम से किया जा रहा है।

पहला इहलोक भय बाह्य-परिग्रह के छूटने का भय 'इहलोक-भय' है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव को यह भय प्रतिसमय रहता है, क्योंकि उसे परिग्रह में ममत्वबुद्धि है, साथ ही पैर के नाखून से सिर तक सर्वांग-देह के साथ एकत्वबुद्धि होने से स्वयं को देहरूप ही अनुभव करता है; जबकि ज्ञानी-जीव स्वयं को देह और संयोगों से भिन्न देखते हैं। जिस परिवार और कुटुम्बीजनों के साथ अज्ञानी-जीव को आनंद आता है, ज्ञानी-जीव उसे भार या बोझ समझते हैं, उनकी दृष्टि में संसार का समस्त वैभव क्षणभंगुर है। जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका विनाश अवश्य होगा, संयोगों का वियोग निश्चित है,— ऐसा दृढ-श्रद्धान ज्ञानी-जीव को प्रतिसमय वर्तता है।

कवि कहते हैं कि ज्ञानी-जीव जब परिवार, कुटुम्ब, धन-वैभव आदि जड़-पदार्थों का ऐसा नश्वर-स्वरूप प्रत्यक्ष देखते हैं, तो इनके छूटने का भय उन्हें उत्पन्न ही नहीं होता। इसीलिए ज्ञानी-जीव स्वयं को इन जड़-पदार्थों से पूर्णतः भिन्न किसी भी प्रकार की शंका से रहित निःशंक, समस्त विकारों से रहित निःकलंक, एकमात्र ज्ञान-स्वरूप ही अनुभव करते हैं; और प्रतिसमय निर्भय रहते हैं।

(छप्पय)

ग्यानचक्र मम-लोक, जासु अवलोक मोख-सुख।
 इतर-लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमाँहि दोख-दुख॥
 पुन्न-सुगतिदातार, पाप-दुरगति-पद-दायक।
 दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित सिवनायक॥
 इहविधि विचार परलोक-भय, नहिं व्यापत वरतै सुखित।
 ग्यानी निसंक-निकलंक निज-, ग्यानरूप निरखंत नित॥ 51॥

शब्दार्थ :- ग्यानचक्र मम-लोक जासु अवलोक मोख-सुख= ज्ञान-स्वरूपी आत्मा मेरा लोक है, जिसे देखने से मोक्ष-सुख होता है, इतर-लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमाँहि दोख-दुख= अन्य कोई लोक मेरे नहीं है, ना ही वह मेरा है, जिसमें दोष-दुःख है, पुन्न सुगतिदातार, दुरगति पद-दायक= पुण्य सुगति को देनेवाला है, और पाप दुर्गति को देनेवाला है, दोऊ खंडित खानि मैं अखंडित सिवनायक= दोनों खंडित यानि नाशवान् हैं, (जबकि) मैं अविनाशी, मोक्ष का नायक हूँ, इहविधि विचार परलोक-भय नहिं व्यापत= इसप्रकार विचार करने से परलोक का भय मन में व्याप्त नहीं होता है, वरतै सुखित ग्यानी निसंक-निकलंक निज-ग्यानरूप= (बल्कि वे तो) सुखरूप वर्तते हैं, ज्ञानी-जीव अपने स्वरूप को प्रतिसमय शंकारहित, विकाररहित मात्र-ज्ञानरूप देखते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने 'परलोक का भय' ज्ञानी-जीव को क्यों नहीं होता?— इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है।

जहाँ अज्ञानी-जीव स्वयं को छोड़कर समस्त-लोक को अपना मानता है, और फलस्वरूप दुःखी होता है। वहीं ज्ञानी-जीव मानते हैं कि समस्त लोक में एकमात्र मेरी ज्ञानस्वरूपी-आत्मा ही मेरा लोक है; क्योंकि उसके अवलोकन-मात्र या श्रद्धान से ही मुझे मोक्षसुख या सच्चे-सुख की प्राप्ति होती है, फलस्वरूप प्रतिसमय-सुखी रहते हैं।

जिनमें पापाचार आदि दोष और चारों गतियों में परिभ्रमणरूप दुःख हैं, वे अन्यलोक मेरे नहीं हैं। यद्यपि पुण्य मनुष्यगति और देवगतिरूप सुगति को प्राप्त कराने में निमित्त हैं, और पाप नरकगति, निर्जरा-द्वार

तिर्य्यगति और निगोदरूप दुर्गति को प्राप्त कराने में निमित्त हैं; परन्तु हैं तो दोनों (पुण्य और पाप) संसाररूप ही, दोनों ही नाशवान् हैं, संसार में परिभ्रमण करानेवाले हैं, दुःखरूप हैं; जबकि मैं तो अनंतसुख का घनपिण्ड, कभी नष्ट न होनेवाला अविनाशी ध्रुव-तत्त्व हूँ, और मोक्षरूपी-महल का राजा हूँ— ऐसा विचार करते हैं।

जहाँ अज्ञानी-जीव को यह भय रहता है कि मैं अगले-भव में कहाँ किस गति में जाऊँगा ? वहीं ज्ञानी-जीव विचार करते हैं कि 'मैं कहीं भी रहूँ, किसी भी गति में जाऊँ, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि मैं तो हमेशा अपने स्व-चतुष्टय में ही निवास करता हूँ।'— इसप्रकार विचार करने से ज्ञानी-जीव को 'परलोक का भय' उत्पन्न ही नहीं होता, इसलिए वह हमेशा सुखी रहते हैं, और प्रतिसमय अपने को समस्त शंकाओं से रहित 'निशंक', समस्त-विकारों से रहित 'निकलंक', एकमात्र 'ज्ञानरूप' ही अनुभव करते हैं, और 'निर्भय' रहते हैं।

(छप्पय)

फरस-जीभ-नासिका, नैन अरु श्रवन-अच्छ इति।
मन-वच-तन बल-तीन, स्वास-उस्वास आउ-थिति॥
ये दस-प्राण विनास, ताहि जग 'मरन' कहिज्जइ।
ग्यान-प्राण-संजुगत, जीव तिहुँ-काल न छिज्जइ॥
यह चिंत करत नहिं मरन-भय, नय-प्रवांन जिनवर-कथित।
ग्यानी निसंक-निकलंक निज-, ग्यानरूप निरखंत नित॥ 52॥

शब्दार्थ :— फरस-जीभ-नासिका-नैन अरु श्रवन-अच्छ इति= स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र— ये पाँच इन्द्रिय (प्राण), मन-वच-तन बल-तीन स्वास-उस्वास आउ-थिति= मन, वचन, काया— तीन बल (प्राण), श्वासोच्छ्वास (प्राण), आयु (प्राण), ये दस-प्राण-विनास ताहि जग 'मरन' कहिज्जइ= इन दस प्राणों के विनाश को संसार में 'मरण' कहा जाता है, ग्यान-प्राण-संजुगत जीव तिहुँ-काल न छिज्जइ= ज्ञान-प्राण से सहित जीव तीनों काल में कभी नष्ट नहीं होता, यह चिंत करत नहिं मरन-भय= यह चिंतन करने से मरण का भय नहीं होता, नय-प्रवांन जिनवरकथित= जिनेन्द्र-परमात्मा द्वारा कहे गये नय के अनुसार, ग्यानी निसंक-निकलंक निज- ग्यानरूप निरखंत नित= ज्ञानी जीव अपने स्वरूप को प्रतिसमय शंकारहित, विकाररहित, मात्र ज्ञानरूप देखते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि ज्ञानी-जीव को 'मरणभय' क्यों नहीं होता ?

लोक में पाँच-इन्द्रियाँ, तीन-बल, श्वासोच्छ्वास और आयु की स्थिति-ये दस-प्राण माने गये हैं, और इन दस-प्राणों के विनाश को ही 'मरण' कहा जाता है। पर विचार कीजिये कि ये दसों-प्राण तो शरीर के अंतर्गत हैं, जैसे पाँचों इन्द्रियाँ और तीनों बल तो शरीर का हिस्सा हैं ही, श्वास की क्रिया भी शरीर करता है, और आयु भी शरीर के संयोग से ही कही जाती है, जिसे 'पुद्गल-द्रव्य' कहते हैं। जबकि मैं तो जीव-द्रव्य हूँ, जो कि अजर-अमर है, इन दस-प्राणों का न तो जीव में कोई अस्तित्व है और न ही कोई संबंध, फिर इनके मरण होने पर जीव का मरण कैसे हुआ ?

तो फिर प्रश्न उठता है कि अज्ञानी-जीव को मरण का भय क्यों होता है ? और लोक में ऐसा कथन क्यों किया जाता है ? अज्ञानी-जीव को मरण का भय इसलिये होता है कि वह शरीर को अपना स्वरूप

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो, ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।

तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ 24॥

या शरीर को ही आत्मा मानता है, और इसके बिछुड़ने को अपना मरण, इसीलिए भयभीत भी होता है और दुःखी भी। जब कि ज्ञानी-जीव न केवल शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न मानते हैं, बल्कि स्वयं को शरीर से पूर्णतः भिन्न मात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनुभव करते हैं, ऐसे ज्ञान प्राण से सहित जीव का कभी मरण या विनाश नहीं होता इसीलिए न तो वह कभी भयभीत होते हैं और न दुःखी।

लोक में दस-प्राणों के वियोग को 'मरण' व्यवहार की मुख्यता से कहा जाता है। निश्चयनय से तो सभी जानते हैं कि आत्मा मरती ही नहीं, केवल पर्याय बदलती है। केवली-भगवान् द्वारा कथित नय-प्रमाण की साक्षीपूर्वक उक्त-कथन का चिंतन करने से ज्ञानी-जीव को मरण का भय ही उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए ज्ञानी-जीव स्वयं को मात्र ज्ञानस्वरूप अनुभवते हुये शंकारहित 'निःशंक', विकाररहित 'निकलंक' और भयरहित 'निर्भय' रहते हैं।

(छप्पय)

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोउ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नाहि विय॥
करम-वेदना दुविध, एक-सुखमय दुतीय-दुख।
दोऊ मोह-विकार, पुगलाकार बहिरमुख॥
जब यह विवेक मनमहिं धरत, तब न वेदनाभय विदित।
ग्यानी निसंक-निकलंक निज-, ग्यानरूप निरखंत नित॥ 53॥

शब्दार्थ :- वेदनवारौ जीव जाहि वेदत सोउ जिय= वेदन करनेवाला आत्मा जिसका वेदन करता है, उस जीव को, यह वेदना अभंग सु तौ मम अंग नाहि विय= 'यह वेदन अखंड रहता है, कि यह वेदना तो मेरे अंग (ज्ञान) में व्याप्त नहीं होती' (ऐसा मानता है), करम-वेदना दुविध एक सुखमय दुतीय दुख= कर्म-वेदना दोप्रकार की है, एक सुखरूप, दूसरी दुःखरूप, दोऊ मोह-विकार पुगलाकार बहिरमुख= दोनों मोह का विकाररूप हैं, पुद्गल का आकाररूप हैं और परलक्ष्यी हैं, जब यह विवेक मनमहिं धरत= जब ऐसा विवेक मन में धारण करते हैं, तब न वेदनाभय विदित= तब वेदनाभय का अनुभव नहीं होता, ग्यानी निसंक-निकलंक निज-ग्यानरूप निरखंत नित= ज्ञानी जीव अपने स्वरूप को प्रतिसमय शंकारहित, विकाररहित, ज्ञानरूप देखते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि सप्तभयों में से 'वेदनाभय' ज्ञानी को क्यों नहीं होता ?

'वेदन' यानि 'अनुभूति करना' या 'आस्वादन करना'। और यह वेदन करना प्रत्येक जीव की जीवनशैली का अभिन्न-अंग है, अन्तर इतना है कि जहाँ ज्ञानी-जीव प्रतिसमय अपने 'ज्ञान-स्वभाव' का वेदन करते हैं, वहीं अज्ञानी-जीव प्रतिसमय अपने 'मोह-जनित विकार' का वेदन करता है।

यह मोह-जनित-विकार दोप्रकार का होता है— एक 'सातारूप' होने से सुखाभास और दूसरा 'असातारूप' होने से दुःखरूप। ये दोनों ही विकार पुद्गलरूप और बहिर्मुखी हैं; क्योंकि इनका संबंध भी आत्मा से पूर्णतः भिन्न बाह्य जड़-पदार्थों से है, और इनका फल भी चाहे वह अच्छा हो या बुरा, देहरूप जड़ या पुद्गल को ही प्राप्त होता है। जैसे यदि मनपसंद भोग-सामग्री मिले, तो उसका भोग भी ये शरीर ही करता है, और यदि रोगजनित-वेदना हो, तो उसका असर या प्रतिफल भी शरीर को ही मिलता है। आत्मा ने तो आज तक न किसी सामग्री का भोग किया, और न ही कभी रोगादिरूप परिणामित हुआ।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते, निर्भेदोदित-वेद्य-वेदक-बलादेकं सदाऽनाकुलैः।

नैवान्यागत-वेदनैव हि भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ 25॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब सारा प्रतिफल पुद्गलरूप-देह को ही प्राप्त होता है, तो फिर वेदना का भय जीव को क्यों होता है? क्योंकि अज्ञानी-जीव मोह के कारण जब इस जड़-देह को ही अपना मानता है, तो उसको मिलने वाले प्रतिफल साता-असाता को भी अपना ही मानता है। यद्यपि दोनों ही मोह-जनित, परिश्रम-साध्य और विकाररूप होने से कष्टप्रद ही हैं; परन्तु साता का उदय कष्टसाध्य होने पर भी इसे इष्ट होने से उसके वेदन में तो इसे बहुत-आनंद आता है, और असाता का वेदन अनिष्ट होने से वेदना के भय से भयभीत रहता है। जब कि ज्ञानी-जीव विचार करते हैं कि जब देह ही अपनी नहीं, तो देह को मिलनेवाला प्रतिफल मेरा कैसे हो सकता है? इसीलिए देह में होनेवाले प्रतिफल का वेदन न करके वे उस-समय भी अपने ज्ञान-स्वभाव का ही वेदन करते हैं, अर्थात् देह में होनेवाले परिणामन के भी वे 'भोक्ता' नहीं, मात्र 'ज्ञाता' ही रहते हैं,— ऐसा विवेक प्रतिसमय चित्त में रहने से ज्ञानियों को वेदना का भय उत्पन्न ही नहीं होता। इसीलिए ज्ञानी-जीव प्रतिसमय किसी भी प्रकार की शंका से रहित 'निःशंक', समस्त विकारों से रहित 'निष्कलंक', जड़-वेदन के भय से रहित 'निर्भय' और स्वयं को एकमात्र 'ज्ञानरूप' ही अनुभव करते हैं।

(छप्पय)

जो स्व-वस्तु सत्ता-सरूप, जगमाँहि त्रिकालगत ।
तासु विनास न होइ सहज, निहचै-प्रवांन मत ॥
सो मम आतम-दरब सरवथा, नहिं सहाय धर ।
तिहि-कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर ॥
जब इहि-प्रकार निरधार किय, तब अनरच्छा-भय नसित ।
ग्यानी निसंक-निकलंक निज- ग्यानरूप निरखंत नित ॥ 54 ॥

शब्दार्थ :— जो स्व-वस्तु सत्ता-सरूप जगमाँहि त्रिकालगत= जो आत्मवस्तु सत्स्वरूप जगत् में त्रिकाल विद्यमान है, तासु विनास न होइ सहज निहचै प्रवांन मत= उसका कभी भी विनाश नहीं होता— यह सहज बात निश्चय से प्रमाणित है, सो मम आतम-दरब सरवथा नहिं सहाय धर= सो मेरा आत्मद्रव्य कभी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, तिहि-कारन रच्छक न होइ भच्छक न कोइ पर= इसकारण न कोई दूसरा रक्षक होता है और न कोई भक्षक, जब इहि-प्रकार निरधार किय तब अनरच्छा-भय नसित= जब इसप्रकार निर्णय होता है, तब अनरक्षा का भय नष्ट हो जाता है, ग्यानी निसंक-निकलंक निज-ग्यानरूप निरखंत नित= ज्ञानी जीव अपने स्वरूप को प्रतिसमय शंकारहित, विकाररहित और मात्र ज्ञानरूप देखते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि 'अनरक्षा-भय' ज्ञानियों को क्यों नहीं होता?

पहले विचार करते हैं कि कोई 'मेरी रक्षा करे'— ऐसा भाव किसे और क्यों आता है? पहली बात रक्षा का विकल्प उसे होगा, जिसे अपने मरण का भय हो। और इस विकल्प का कारण यह कि उसने स्वयं के अविनाशी-स्वरूप को तो जाना नहीं, और प्राप्त-संयोगों को ही अपना रक्षक माना है, तभी तो उनके बिछुड़ने और खोने का भय उसे प्रतिसमय रहता है। और ऐसे विकल्प संसार में एकमात्र अज्ञानी-जीव को ही होते हैं, क्योंकि उसी ने देह और प्राप्त-संयोगों में ममत्व-बुद्धि करके उन्हीं को अपना रक्षक या कहें

यत्सन्नाशमुपैति तत्र नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।

अस्यात्राणमतो न किञ्चिन् भवेत्तद्भिः कुतो ज्ञानिनो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ 26 ॥

सर्वस्व मान रखा है, और उससे विपरीत-संयोगों को अपना भक्षक माना है। इसीलिए जैसे ही संयोगों के वियोग का अवसर आता है, ये अपने आपको असहाय और अनरक्षित महसूस करता है, और दुःखी होता है। जबकि ज्ञानी-जीव की प्रवृत्ति इसके विपरीत होती है। पहली बात तो वे स्वयं को देह और संयोगों से पूर्ण-भिन्न शुद्धात्मा मानते हैं, और केवली भगवान् की वाणी से प्रमाणित होता है कि आत्मद्रव्य शाश्वत है, उसका कभी क्षय नहीं होता है। तब ज्ञानी-जीव विचार करते हैं, कि फिर मेरा क्षय कैसे हो सकता है? इसलिये स्वयं के विनाश का भय उत्पन्न ही नहीं होता।

दूसरी-बात, अज्ञानी-जीव संयोगों से रक्षा की अपेक्षा रखता है और जब वे नहीं होते, तो अनरक्षा का भय होता है। जबकि ज्ञानी-जीव विचार करते हैं, मैं तो अपने स्व-चतुष्टय से परिपूर्ण हूँ; और जगत् में अपने आधार से हूँ, मुझे किसी के सहयोग या सहायता, और रक्षा की अपेक्षा नहीं, इसलिये न मेरा कोई रक्षक है, और न कोई भक्षक, तो 'अनरक्षा का भय' कैसे होगा? इसप्रकार स्वचिंतन से अपने स्वरक्षित-स्वरूप का यथार्थ-निर्णय होने से स्वप्न में भी ज्ञानी-जीव को अनरक्षा का भय उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए ज्ञानी-जीव सर्व-शंकाओं से रहित 'निःशंक', सर्व-विकारों से रहित 'निष्कलंक', और अनरक्षा-भय से रहित 'निर्भय' रहते हैं, और स्वयं को प्रतिसमय एकमात्र 'ज्ञानस्वरूप' ही अनुभव करते हैं।

(छप्पय)

परमरूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित।

पर-प्रवेस तहाँ नाहिं, माँहि महि अगम-अखंडित॥

सो मम-रूप अनूप, अकृत-अनमित-अटूट धन।

ताहि चोर किम गहै, ठौर नहिं लहै और जन॥

चितवंत एम धरि ध्यान जब, तब 'अगुप्ति-भय' उपसमित।

ग्यानी निसंक-निकलंक निज- ग्यानरूप निरखंत नित॥ 55॥

शब्दार्थ :- परमरूप परतच्छ जासु लच्छन चिन्मंडित= सर्वश्रेष्ठ आत्मवस्तु (परमात्मा के समान) प्रत्यक्ष है, जिसका लक्षण चेतना से मंडित अर्थात् चैतन्य-स्वरूप, पर- प्रवेस तहाँ नाहिं माँहि महि अगम अखंडित= परवस्तु का प्रवेश उसमें नहीं है, पृथ्वी-मंडल पर जिसका पार पाना/जान सकना असंभव है, सो ममरूप अनूप अकृत अनमित अटूट धन= इसलिये मेरा रूप अनुपम किसी के द्वारा नहीं किया गया अर्थात् स्वयंसिद्ध है असीमित/अपार, क्षयरहित धन, ताहि चोर किम गहै ठौर नहिं लहे और जन= उसे चोर कैसे ग्रहण कर सकता है, जब अन्य लोग भी उसका ठिकाने का पता नहीं लगा सकते हैं, चितवंत एम धरि ध्यान जब, तब अगुप्ति-भय उपसमित= जब चित्त में ऐसा चिंतन करते हैं, तब अगुप्ति-भय शांत हो जाता है, ग्यानी निसंक-निकलंक निज-ग्यानरूप निरखंत नित= ज्ञानी-जीव अपने स्वरूप को प्रतिसमय सर्व-शंकाओं से रहित, विकारों से रहित मात्र ज्ञानरूप निरखते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में सप्तभयों में से ज्ञानियों को 'अगुप्ति-भय' क्यों नहीं होता?— इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है।

वास्तव में देखा जाये, तो लोक में भी चोरी उसीकी होती है, जो वस्तु स्वयं से भिन्न होती है, जैसे रुपया पैसा जवाहरात आदि। लेकिन जो वस्तु आत्मसात् होती है, उसकी चोरी तो लोक में भी नहीं होती।

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्, शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।

अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ 27॥

जैसे— विद्या, कला, प्रतिभा आदि। लेकिन मोहासक्त अज्ञानी-जीव तो फिर भी हरसमय भयभीत रहता है, और भय भी किसका जो वस्तु जड़ है, अपने से पूर्णतः भिन्न है, परभव में जिसे साथ ले जाना असंभव है, आयु पूर्ण होते ही सब यहीं छोड़कर जाना है। लेकिन मोह की महिमा देखो, यह सब जानते हुये भी हम प्रतिसमय भयभीत हैं। इन जड़-वस्तुओं के मोह में इतने आसक्त हैं कि कभी विचार भी नहीं आता कि मैं कौन हूँ? किसके लिये रात-दिन चिंतित हूँ? इस नश्वर जड़-वैभव के लिये।

जिनवाणी कहती है, 'हे आत्मन्! तू तो जगत् का सर्वश्रेष्ठ-पदार्थ है, चैतन्य-स्वरूप अनंतगुणों का धारी है, तेरे अंदर पर वस्तु का रंचमात्र भी प्रवेश नहीं है। जो 'अगम' है अर्थात् इन्द्रियों और बाह्य-साधनों से जिसको जानना असंभव है। ये जड़-पदार्थ तो खंड-खंड हो जाते हैं, पर तू तो 'अखंड-तत्त्व' है, जिसे कोई खंड-खंड नहीं कर सकता। जगत् में तेरे समान कोई और नहीं है ऐसा 'अनुपम-तत्त्व' है, तेरा स्वरूप स्वयंसिद्ध है, तेरी महिमा अपार है। जगत् में जिसको धन कहा जाता है, वह तो देखते-देखते क्षय को प्राप्त हो जाता है, जबकि तू तो ऐसा धन है, जिसका आज तक क्षय ही नहीं हुआ। ऐसे 'अपूर्व-धन' की चोरी कौन-सा चोर कर सकता है? चोरी तो दूर कोई अन्य-व्यक्ति उसको छू भी नहीं सकता।"

जब ज्ञानी-जीव को इसप्रकार का चिंतन चलता है, तो 'अगुप्ति का भय' उन्हें उत्पन्न ही नहीं होता। इसीलिए ज्ञानी-जीव प्रतिसमय सर्व-शंकाओं से रहित निःशंक, सर्व-विकारों से रहित निष्कलंक, और 'अगुप्ति-भय' से रहित 'निर्भय' रहते हैं, और स्वयं को इन सबसे भिन्न मात्र 'ज्ञानस्वरूप' ही अनुभव करते हैं।

(छप्पय)

सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध, सहज-सुसमृद्ध सिद्ध-सम।

अलख अनादि-अनंत, अतुल-अविचल-सरूपमम।

चिदविलास-परगास, वीत-विकलप सुखस्थानक।

जहाँ दुविधा नहीं कोड़, होइ तहाँ कछु न अचानक॥

जब यह विचार उपजंत तब, 'अकस्मात्-भय' नहि उदित।

ग्यानी निसंक-निकलंक निज-, ग्यानरूप निरखंत नित॥ 56॥

शब्दार्थ :— सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध सहज-सुसमृद्ध सिद्ध-सम= कर्म-कलंक से रहित, अनंतज्ञान का धनी, राग-द्वेष के विरोध से रहित, सहज, समृद्धशाली, सिद्ध के समान, अलख अनादि-अनंत अतुल-अविचल-सरूपमम= अरूपी, आदि-अंत से रहित, उपमा-रहित, स्थिर मेरा स्वरूप, चिदविलास परगास वीत विकलप सुखस्थानक= चैतन्य के रस से सराबोर, विकल्प से रहित निर्विकल्प, सुख का स्थान, जहाँ दुविधा नहीं कोड़ होइ तहाँ कछु न अचानक= जहाँ कोई दुविधा नहीं होती और वहाँ अचानक कुछ नहीं होता, जब यह विचार उपजंत तब अकस्मात् भय नहि उदित= जब इसप्रकार का चिंतन उत्पन्न होता है, तब 'अकस्मात्-भय' उत्पन्न ही नहीं होता, ग्यानी निसंक-निकलंक निज-ग्यानरूप निरखंत नित= ज्ञानी जीव अपने स्वरूप को प्रतिसमय शंकारहित, विकार-रहित मात्र ज्ञानरूप देखते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि सप्तभयों में से 'अकस्मात्-भय' ज्ञानियों के क्यों नहीं होता?

अकस्मात् यानि अचानक कुछ होना। यह भय अज्ञानी-जीव को प्रतिसमय रहता है कि अचानक

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो, यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।

तान्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो, निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ 28 ॥

कुछ अनहोनी न हो जाये। 'अनहोनी यानि वह क्रिया, जो इसके विचारों के अनुकूल न हो'। जबकि आगम के अनुसार अनहोनी कभी होती ही नहीं, जो कुछ भी होता है, होने योग्य ही होता है, और अपने निर्धारित-समय पर ही होता है। पर मोहासक्त-जीव वस्तु-व्यवस्था के इस स्वतंत्र-परिणामन को मानने को तैयार ही नहीं, इसलिए प्रतिसमय भयभीत रहता है।

जबकि ज्ञानी-जीव इस स्वतंत्र-परिणामन को न केवल जानते हैं, वरन् स्वीकार भी करते हैं। और साथ ही विचार करते हैं कि मैं स्वभाव से समस्त कर्म-कालिमा से रहित पूर्ण-शुद्ध हूँ, अनंतज्ञान का धारी हूँ, परस्पर-विरुद्ध भावों से रहित अविबुद्ध, सहज और सिद्धों के समान महान् वैभवशाली-तत्त्व हूँ। मेरा स्वरूप इन्द्रियगोचर न होने से अलख/अरूपी, आदि और अंत से रहित अविनश्वर है। जगत् में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है; इसलिये अतुलनीय हूँ। अपने स्वभाव से कभी चलायमान नहीं होता हूँ; इसलिए अविचल हूँ। मेरा आत्मस्वरूप सदाकाल चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित रहता है, वहाँ किसी भी प्रकार का कोई विकल्प है ही नहीं, बस, एकमात्र सुख का खजाना हूँ। कहने का अभिप्राय यही है कि जब सब कुछ पूर्व-निश्चित, स्वतंत्र और स्वयंसिद्ध है, अर्थात् जब कोई दुविधा ही नहीं, तो अचानक कुछ कैसे हो सकता है? या जो भी होता है, सब पूर्व-निश्चित ही होता है, तो भय कैसा?

जब इसप्रकार का चिंतन ज्ञानी-जीव को चलता है, तो 'अकस्मात्-भय' ज्ञानियों को उत्पन्न ही नहीं होता। इसीलिए ज्ञानी-जीव सर्व-शंकाओं से रहित 'निःशंक', समस्त-विकारों से रहित 'निष्कलंक', और सप्त-भयों से रहित 'निर्भय' रहते हैं, और अपने को एकमात्र 'ज्ञानस्वरूप' ही अनुभव करते हैं।

(छप्पय)

जो पर-गुण त्यागंत, सुद्ध निज-गुण गहंत ध्रुव।

विमल-ग्यान-अंकुर, जासु घटमहिं प्रकास हुव॥

जो पूरबकृत-कर्म, निरजरा-धार बहावत।

जो नव-बंध निरोध, मोख-मारग-मुख धावत॥

निःसंकतादि जस अष्ट-गुण, अष्टकर्म-अरि संहरत।

सो पुरुष-विचच्छन तासु पद, बनारसि वंदन करत॥ 57॥

शब्दार्थ :- जो परगुण त्यागंत सुद्ध निज-गुण गहंत ध्रुव= जो पर-गुण त्यागते हैं, नित्य-शुद्ध अपने गुणों को ग्रहण करते हैं, विमल-ग्यान-अंकुर जासु घटमहिं प्रकास हुव= निर्मल-ज्ञानरूपी अंकुर जिसके हृदय में प्रकाशित हुआ है, जो पूरबकृत-कर्म निरजरा-धार बहावत= जो पूर्वबद्ध-कर्मों को निर्जरा की धार में बहाते हैं, जो नव-बंध निरोध मोख-मारग मुख धावत= जो नवीन कर्मबंध को रोकते हैं, और मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख हैं, निःसंकतादि जस अष्ट-गुण अष्ट-कर्म-अरि संहरत= जिसके निशंकतादि अष्ट-गुण (प्रगट हैं, और) अष्ट-कर्मरूपी शत्रु का संहार/नष्ट करते हैं, सो पुरुष-विचच्छन तासु पद बनारसि वंदन करत= वे पुरुष सम्यग्ज्ञानी हैं, उनके चरणों में, बनारसीदास नमस्कार करते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने उन जीवों की महिमा वर्णित की है, जो मोक्षमार्ग के सन्मुख हैं, जिन्होंने पर-गुणों अर्थात् देहादिक समस्त परपदार्थों, और संयोगों से एकत्व, ममत्वबुद्धि का त्याग किया है, और अपने निज-स्वरूप के नित्य या अक्षय-गुणों को ग्रहण किया है, जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी अंकुर

टङ्कोत्कीर्ण-स्वरस-निचित-ज्ञान-सर्वस्वभाजः, सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।

तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनावकर्मणो नास्ति बन्धः, पूर्वोपातं तदनुभवतो निश्चितं निजैव॥ 29॥

प्रस्फुटित हुआ है, जिन्हें अपने आत्मस्वरूप का सच्चा-श्रद्धान और ज्ञान है।

जो आत्मस्वरूप में स्थिरतापूर्वक पूर्वबद्ध-कर्माँ को निर्जरा की धार में बहाते हैं, अर्थात् जैसे पानी का प्रबलवेग अपने साथ सब कुछ बहाकर ले जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी-जीव ज्यों-ज्यों स्वरूप में स्थिर होते हैं, त्यों-त्यों पूर्वसंचित-कर्माँ की निर्जरा होती जाती है। साथ ही नवीन-कर्माँ का बंध भी रुक जाता है, और ज्ञानी-जीव मोक्षमार्ग पर दौड़ने लगते हैं अर्थात् मोक्ष की ओर अग्रसर होते हैं।

कविवर कहते हैं ज्ञानी-जीव स्वरूप में स्थिरता के पुरुषार्थ-पूर्वक निशंकतादि आठ-गुणों का सहज पालन करते हुये ज्ञानावरणादि-आठकर्माँ का संहार करते हैं अर्थात् नष्ट करते हैं। वास्तव में वे ही जीव सच्चे-ज्ञानी अर्थात् सम्यग्ज्ञानी हैं, इसीलिए बनारसीदास उनके चरणों में वंदन/नमस्कार करते हैं।

(सोरठा)

प्रथम निसंसै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन।

तृतिय-अंग अगिलानि, निर्मल-दिष्टि चतुर्थ-गुन॥58॥

पंच अकथ-परदोष, थिरीकरन छट्टम सहज।

सत्तम वच्छल-पोष, अष्टम-अंग प्रभावना॥59॥

शब्दार्थ :- प्रथम निसंसै जानि= पहला संशय नहीं होना(निःशंकित) जानो, दुतिय अवंछित परिनमन= दूसरा परिणमन की वांक्षा (निःकांक्षित) का न होना, तृतिय अंग अगिलानि= तीसरा-अंग ग्लानि का भाव न होना (निर्विचिकित्सा), निर्मल-दिष्टि चतुर्थ-गुन= चौथा-गुण निर्मल-दृष्टि (अमूढदृष्टि) होना, पंच अकथ परदोष= पाँचवा दूसरे के दोषों को न कहना (उपगूहन), थिरीकरन छट्टम सहज= स्थितिकरण छठवाँ सहज, सत्तम वच्छल-पोष= सातवाँ वात्सल्य-भाव का होना, अष्टम-अंग प्रभावना= आठवाँ-अंग प्रभावना।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन के आठ-अंगों के नामों का वर्णन किया है।

पहला-अंग जिनवचनों में शंका नहीं करना अर्थात् 'निःशंकित-अंग', दूसरा धर्मकार्य के बदले में मनवांछित-परिणमन की इच्छा नहीं करना अर्थात् 'निःकांक्षित-अंग', तीसरा मुनिराज के मलिन-शरीर को देखकर ग्लानि का भाव नहीं होना अर्थात् 'निर्विचिकित्सा-अंग', चौथा निर्मल-दृष्टि यानि देव, गुरु और धर्म-संबंधी समस्त-मूढ़ताओं का त्यागकर दृष्टि का निर्मल होना अर्थात् 'अमूढदृष्टि-अंग'। पाँचवाँ दूसरों के दोषों को नहीं कहना या उजागर नहीं करना अर्थात् 'उपगूहन-अंग', छठवाँ धर्म से डिगते हुये को पुनः धर्म में स्थिर करना अर्थात् 'स्थितिकरण-अंग'। सातवाँ साधर्मियों के प्रति वात्सल्य का या स्नेह का भाव रखना अर्थात् 'वात्सल्य-अंग' और आठवाँ जिनधर्म की प्रभावना करना अर्थात् 'प्रभावना-अंग'—ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।

ये आठों-अंग सम्यग्दृष्टि-जीव के जीवन में नियम से होते हैं, हम यह भी कह सकते हैं कि ये सम्यग्दर्शन को मापने का थर्मामीटर हैं, बाहरी-पहचान हैं, अर्थात् जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, उसके जीवन में ये आठ-अंग अवश्य होते हैं। जिसप्रकार शरीर के अंग होते हैं, और वे कभी शरीर से अलग नहीं होते, ठीक उसीप्रकार निःशंकित आदि आठों-अंग कभी सम्यग्दर्शन से भिन्न नहीं होते हैं। इन आठों-अंगों का विशेष- वर्णन कविवर अगले छंद में कर रहे हैं।

(सवैया इकतीसा)

धर्म मैं न संसै सुभकर्म-फल की न इच्छा, असुभ कौ देखि न गिलानि आनै चित्तमैं।

साँची-दिष्टि राखै काहू प्रानीकौ न दोष भाखै, चंचलता-भानि थिति-ठानै बोध-वित मैं॥

प्यार निजरूपसौं उछाह की तरंग उठै, एई आठौ अंग जब जागै समकित मै।

ताहि समकित कौं धरै सो समकितवंत, वहै मोख पावै जौ न आवै फिर इतमै॥ 60॥

शब्दार्थ :— धर्ममैं न संसै= धर्म में संशय नहीं करना, सुभकर्म-फल की न इच्छा= शुभ-कर्म के फल की इच्छा नहीं करना, असुभ कौ देखि न गिलानि आनै= अशुभ को देखकर ग्लानि का नहीं आना, चित्त मै सांची दिष्टि राखै= चित्त में सच्ची दृष्टि रखना, काहू प्रानीकौ न दोष भाखै= किसी भी प्राणी के दोषों को प्रकट नहीं करना, चंचलता-भानि थिति-ठानैबोध-वित मै= चंचलता हटाकर रत्नत्रय में स्थिरता करना, प्यार निज रूपसौं= अपने आत्मस्वरूप से अनुराग रखना, उछाह की तरंग उठै= (आत्म-उन्नति और धर्म-प्रभावना के लिए) उत्साह की लहर उठाना, एई आठौ अंग जब जागै समकित मै= जब ये आठों-अंग सम्यग्दृष्टि-जीव के जाग्रत होते हैं, ताहि समकितकौं सो धरै सो समकितवंत= उस सम्यग्दर्शन को जो जीव धारण करते हैं, वही सम्यग्दृष्टि है, वहै मोख पावै जौ न आवै फिर इत मै= वही मोक्ष प्राप्त करते हैं, और वे फिर इस संसार में नहीं आते।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन के आठों-अंगों के स्वरूप का वर्णन किया है। जिस जीव को अपने आत्मस्वरूप का सम्यक-श्रद्धान होता है उस जीव को ये आठ-अंग अवश्य प्रकट होते हैं। इनका विशेष-वर्णन इसप्रकार है—

1. निःशंकित-अंग— जिनेन्द्र परमात्मा के वचनों में कभी भी शंका नहीं करना, जैसे— संसार, शरीर और भोगों का जैसा स्वरूप जिनागम में वर्णित है, वैसा ही मानना, अन्यथा कदापि नहीं मानना, मै आत्मा अनंत-गुणों का धनी, शाश्वत, अविनाशी-तत्त्व हूँ, इत्यादि— इस विषय में स्वप्न में भी शंका नहीं करना 'निःशंकित-अंग' है।

2. निःकांक्षित-अंग— शुभकार्य या धर्मकार्य के बदले पुण्य या भोगों की वांछा नहीं करना। जैसे— मेरे घर में शांति हो जाये, ऐसी इच्छा से शांतिपाठ करवाना, घर में धन-संपदा पुत्रादि की प्राप्ति की वांछा से विधान आदि करना या करवाना, या मुझे स्वर्गादिक की प्राप्ति हो— ऐसी भावना से व्रत-संयम नियम आदि करना 'कांक्षा-दोष' है, और ऐसी भावना न रखना— 'निःकांक्षित-अंग' है।

3. निर्विचिकित्सा-अंग— मुनिराज के मलिन-शरीर को देखकर ग्लानि का भाव नहीं आना निर्विचिकित्सा अंग है। वास्तव में देखा जाये तो संसार के किसी भी पदार्थ को कभी भी घृणा की नजर से नहीं देखना चाहिए। क्योंकि ये उस वस्तु का स्वरूप है, उसे अच्छी या बुरी कहना मेरा भ्रम है। और सम्यग्दृष्टि-जीव को यह भ्रम कभी नहीं होता।

4. अमूढ़दृष्टि-अंग— देव-मूढ़ता, गुरु-मूढ़ता, धर्म-मूढ़ता तीनों मूढ़ताओं का त्यागकर दृष्टि को निर्मल करना। जैसे— रागी देवी-देवताओं की पूजा करना, कराना, और प्रशंसा करना 'देव-मूढ़ता' है, इसीप्रकार होली-दीवाली आदि त्यौहारों पर होलिका या लक्ष्मी, गणेश आदि को देव मानकर उनको पूजना 'देव-मूढ़ता' है। कुलदेवी को पूजना, शादी-ब्याह के प्रसंगों पर बहुत सारे देवी-देवताओं को पूजना भी 'देव-मूढ़ता' है। वीतरागी निर्ग्रन्थ-भावलिंगी दिगम्बर-मुनिराज के अलावा किसी भी वेषधारी को गुरु मानना 'गुरु-मूढ़ता' है। गौ-दान, कन्या-दान, मकर-संक्रांति आदि दसप्रकार के कुदान को स्वयं देना या देनेवाले की अनुमोदना करना धर्म मूढ़ता है। गंगा-स्नान, कुँआ-बाबड़ी आदि खुदवाना, सूर्यग्रहण-चंद्रग्रहण आदि मानना, तुलसी पूजना, करवाचौथ मनाना, सूर्य को अर्घ्य देना, देहली पूजना अर्थात् धर्म के नाम पर कुछ भी अंधविश्वास-पूर्वक पूजना 'धर्ममूढ़ता' है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सभी मूढ़ताओं का कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करना और

एकमात्र वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का दृढ़-श्रद्धान करना ही 'अमूढदृष्टि-अंग' है।

5. उपगूहन-अंग— हमेशा अपने गुणों को और दूसरे के दोषों को छिपाना, तथा अपने दोषों को और दूसरे के गुणों को उजागर करना 'उपगूहन-अंग' है।

6. स्थितिकरण-अंग— धर्म-मार्ग से डिगते हुये मुनिराज और श्रावकों को पुनः धर्ममार्ग में दृढ़ या स्थिर करना, क्योंकि कर्म का उदय कभी भी, किसी भी जीव को आ सकता है। फिर चाहे वह रोगादि के रूप में आये, प्रबल-कषाय के उदय के रूप में आये या मिथ्या-उपदेश से या मंत्र-तंत्र-चमत्कार आदि के कारण भी कभी-कभी जीव श्रद्धान और आचरण दोनों से ही चलायमान हो सकता है; तब उसे पुनः धर्म में स्थिर करना श्रावक और मुनि दोनों का ही कर्तव्य बनता है, और यही 'स्थितिकरण-अंग' है।

7. वात्सल्य-अंग— अपने आत्मस्वरूप के प्रति अति-अनुराग रखना, साथ ही साधर्मि के प्रति गौ-वच्छवत् निःस्वार्थ-स्नेह रखना, अर्थात् जैसे गाय अपने बच्चे से जब तक वह समर्थ नहीं होता, तब तक एक मिनट के लिये भी दूर नहीं करती, लेकिन जैसे ही वह समर्थ होता है फिर उसकी तरफ पलटकर भी नहीं देखती, ठीक उसीप्रकार धर्म एवं धर्मात्माओं के प्रति निःस्वार्थभाव से विनय, स्नेह और भाईचारे का व्यवहार रखना, 'वात्सल्य-अंग' है।

8. प्रभावना-अंग— आत्मस्वरूप की उन्नति या कहे स्वरूप में स्थिरता के लिए प्रतिसमय उत्साहित रहना। साथ ही वीतरागी देव-गुरु-धर्म की जैसे बने वैसे प्रभावना करना 'प्रभावना-अंग' है। 'आचार्य समन्तभद्र' कहते हैं कि 'संसारी जीवों के हृदय में जो अज्ञानतारूपी-अंधकार फैला हुआ है, उसे वस्तुस्वरूप का सच्चा-प्रतिपादन करके दूर करना, और साथ ही जिनशासन का महत्त्व बताना, सो 'प्रभावना-अंग' है।"

वास्तव में देखा जाये, तो जिनशासन की प्रभावना का अधिकार तो सम्यग्दृष्टि-जीव को ही है। क्योंकि वही वस्तुस्वरूप का सच्चा प्रतिपादन कर सकता है। 'राजवार्तिक जी' में आचार्य अकलंक देव कहते हैं— 'सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना 'प्रभावना' है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि अज्ञानरूपी-अंधकार का विनाश जिसप्रकार बने उसप्रकार दूर करना सो 'प्रभावना-अंग' है। फिर चाहे वह प्रभावना पूजा-विधानादि के रूप में की जाये, दया-दानादि के रूप में की जाये या स्वाध्याय-तत्त्वचर्चा आदि के रूप में की जाये।

लेकिन 'प्रभावना-अंग' का सबसे उत्तम-साधन स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा ही है, क्योंकि यदि जीव को एकबार सच्ची-जानकारी प्राप्त हो जाये, तो अज्ञानतारूपी-अंधकार स्वयं ही दूर होता है। जैसे सूर्य के निकलने पर अंधकार को भगाने का पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, बल्कि वह स्वयं ही चला जाता है, ठीक उसीप्रकार आगम के आलोक में यदि वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान हो, तो अज्ञानता स्वयं दूर होती है।

इसप्रकार ये आठों अंग सम्यग्दृष्टि-जीव को तो नियम से होते ही हैं, हम सभी जीवों को भी यथायोग्य इन आठों-अंगों को अपने जीवन में अवश्य धारण करके सम्यग्दर्शन का अभ्यास करना चाहिए।

(सवैया इकतीसा)

पूर्व-बंध नासै सो तो संगीत-कला प्रकासै, नव-बंध रुंधि ताल-तोरत उछरि कै।
निसंकित आदि अष्ट-अंग संग सखा जोरि, समता-अलापचारी करै सुर भरि कै॥

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः, प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादि-मध्यान्त-मुक्तं, ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य॥ 30॥

निरजरा-नाद गाजै ध्यान-मिरदंग बाजै, छक्यौ महानंद में समाधि रीझ करिकै।
सत्ता-रंगभूमि में मुक्त भयौ तिहूँकाल, नाचै सुद्धदिष्टि-नट ग्यान-स्वांग धरिकै॥६१॥

शब्दार्थ :- पूर्व-बंध नासै सो तो संगीत-कला प्रकासै= पूर्वबद्ध-कर्मों का निर्जरा वह तो संगीत-कला के प्रकाश के समान है, नवबंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै= नवीन-कर्मों का बंध उछलकर ताल टूटने के समान है, निसंकित आदि अष्ट-अंग संग-सखा जोरि= निःशंकतादि आठ-अंग उसके सखी/सहचरी हैं, समता-अलापचारी करै सुर-भरिकै= स्वर भरकर समता का आलाप करती है, निरजरा-नाद गाजै= निर्जरा का मंगलनाद हो रहा है, ध्यान-मिरदंग बाजै= ध्यानरूपी मृदंग बज रहा है, छक्यौ महानंद में समाधि रीझ करिकै= समाधि में आकृष्ट होकर महा-आनंद में तृप्त है, सत्ता-रंगभूमि में मुक्त भयौ तिहूँकाल= सत्तारूपी-रंगभूमि में तीनों काल के लिए मुक्त हो गया है, नाचै सुद्धदिष्टि-नट ग्यान-स्वांग धरिकै= ज्ञानरूपी स्वांग को धारण करके सम्यग्दृष्टिरूपी-नट नाच रहा है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने सम्यग्दृष्टि-जीव की प्रवृत्ति को एक 'संगीतक' का रूप देकर प्रस्तुत किया है।

जिसप्रकार रंगमंच पर एक गायक अपने सुर-ताल के साथ अपने गायन की मस्ती में डूबकर सुंदर-प्रस्तुति देता है, ठीक उसीप्रकार अपने अनंतगुणों की सत्तारूपी रंगमंच पर शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित हुआ सम्यग्दृष्टिरूपी-नट सम्यग्ज्ञानरूपी-स्वांग को धारणकर या प्राप्तकर, पूर्वबद्ध-कर्मों को नष्टकर संगीत-कला को यानि स्वयं को प्रकाशित करता है, और नवीन-कर्मबंधरूपी ताल को छोड़ता जाता है, अर्थात् ज्ञानावरणादि-आठकर्मों का पुद्गल-पिण्ड, जो जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाह-रूप है, उसे छोड़ता हुआ, निःशंकित आदि आठ-अंगरूप सखा/सहचारी के साथ, (क्योंकि ये आठों अंग सम्यक्त्व के सहायक-गुण हैं) स्वरूप की एकाग्रतारूपी स्वर भरकर 'समता' का आलाप करता है।

जिससे आत्मध्यान-रूपी 'मृदंग' पर निर्जरारूपी 'ध्वनि' गुंजायमान होती है, और समाधिपूर्वक अर्थात् मन-वचन-काय की एकतापूर्वक आत्मिक-स्वरूप के आनंद की मस्ती का छककर स्वाद लेता है। फलस्वरूप इन अष्टकर्मों की सत्ता का समूल विनाश करते हुए इनसे तीनों काल के लिए मुक्त हो जाता है अर्थात् शाश्वत-मोक्ष की प्राप्ति करता है।



कविवर के जीवन की अंतिम-रचना

ज्ञान-कुतक्का हाथ, मारि अरि-मोहना।

प्रकटे रूप-सरूप अनन्त जु सोहना॥

जा परजय कौ अन्त सत्य करि मानना।

चले 'बनारसिदास' फेरि नहि आवना॥

(अष्टम-अधिकार)

बंध-द्वार

(दोहा)

कही निरजरा की कथा, सिवपथ-साधनहार।

अब कछु बंध-प्रबंध कौ, कहूँ अलप-विस्तार॥ 1॥

शब्दार्थ :— कही निरजरा की कथा= निर्जरा का स्वरूप कहा, सिवपथ-साधनहार= जो मोक्षमार्ग की साधक है, अब कछु बंध-प्रबंध कौ= अब कुछ बंध के प्रबंध को, कहूँ अलप-विस्तार= कुछ विस्तार से कहता हूँ।

विशेषार्थ :— इस-छंद में पूर्व 'निर्जरा-द्वार' की पूर्णता और 'बंध-द्वार' को प्रारंभ करने की प्रतिज्ञा करते हुए कविवर कहते हैं कि पिछले अधिकार में मैंने मोक्षमार्ग की साधिका निर्जरा का वर्णन किया। साधिका क्यों? क्योंकि कर्मों की निर्जरा अथवा क्षय किये बिना मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही नहीं होता। कविवर कहते हैं कि अब आगे मैं कर्मों के बंध का स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद का कुछ विस्तार से वर्णन करूँगा।

(सवैया इकतीसा)

मोह-महामद पाई जिनि संसारी विकल कीने, याहीतैं अजानुबाहु-विरद बिहतु है।

ऐसौ बंध-वीर विकराल महाजाल-सम, ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है॥

ताकौ-बल भंजिवे कौ घट मैं प्रगट भयौ, उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है।

सो है समकित-सूर आनंद-अंकुर ताहि, निरखि बनारसी "नमो-नमो" कहतु है॥ 2॥

शब्दार्थ :— मोह-महामद पाई जिनि संसारी विकल कीने= मोहरूपी-मदिरा पिलाकर जिसने संसारी-जीवों को दुःखी किया है, याहीतैं अजानुबाहु-विरद बिहतु है= इसीलिए 'घुटनों तक लंबी भुजाओंवाला' — इस रूप में बहुत-प्रसिद्धि है, ऐसौ बंध-वीर विकराल महाजाल-सम= ऐसा बंध नाम का सुभट (जो) भयंकर-महाजाल के समान है, ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है= ज्ञान को (उसीतरह) क्षीण करता है, जैसे राहु चंद्रमा को ग्रसता है, ताकौ-बल भंजिवे कौ घट मैं प्रगट भयौ= उसके बल को नष्ट करने के लिए हृदय में प्रकट हुआ है, उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है= बलवान्, महान् जो तीव्र-पुरुषार्थी है, सो है समकित-सूर= वह है सम्यग्दर्शनरूपी शूरवीर, आनंद-अंकुर= आनंदरूपी अंकुर, ताहि निरखि बनारसी "नमो-नमो" कहतु है= उसे देखकर बनारसीदास बारम्बार नमस्कार करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सम्यक्त्व की महिमा वर्णित करते हुए सम्यक्त्वरूपी-शूरवीर को नमस्कार किया है।

अनादिकाल से संसार के समस्त अज्ञानी-जीवों को जिसने मोहरूपी-मदिरा पिलाकर, अपने वश में करके, अति-दुःखी किया है, अर्थात् पर में ममत्वबुद्धि के कारण जीव अपने स्वरूप से अनजान रहता है, जिससे कर्मबंध, फिर कर्मोदय, पुनः एकत्व-ममत्व बुद्धि और फिर कर्मबंध, जिससे जीव दुःखी-कर्मबंध और दुःख का ये सिलसिला अनादिकाल से इसीप्रकार चला आ रहा है।

ये बंधरूपी-सुभट, जिसका नाम संसार में प्रसिद्ध है, जिसकी अजानबाहु अर्थात् घुटनों तक लंबी

रागोद्वार-महारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्, क्रीडन्तं रसभाव-निर्भर-महानाट्येन बन्धं धुनत्।

आनन्दामृत-नित्य-भोजि सहजावस्थां स्फुटन्नाट्यद्, धीरोदारमनाकुलं निरुपधि-ज्ञानं समुन्मज्जति॥ 1॥

विशाल-भुजायें हैं, जिनमें जीव पूरी तरह से जकड़ा हुआ है, जिसका रूप महाजाल के समान विकराल अर्थात् महा-भयंकर है। जैसे बेड़ियों में जकड़ा जीव चाहते हुये भी आसानी से नहीं छूट पाता, ठीक उसीप्रकार कर्मबंधन से जकड़ा हुआ जीव चाहते हुये भी आसानी से नहीं छूट पाता। जिसप्रकार राहू के ग्रसने पर चंद्रमा का प्रकाश धीमा हो जाता है, ठीक उसीप्रकार कर्मबंधन की जकड़न के कारण ज्ञान-गुण भी शक्तिहीन हो जाता है।

लेकिन इस कर्मबंधरूपी राहू का बल नष्ट करने के लिए अब हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी-शूरवीर प्रकट हुआ है। अर्थात् जैसे युद्ध में महायोद्धा के आने पर बलवान शत्रु का भी विनाश होता है, ठीक उसीप्रकार हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी शूरवीर/योद्धा के प्रकट होने पर कर्मबंध रूपी राहू/शत्रु भी तत्क्षण ही विनाश को प्राप्त होता है। सम्यक्त्वरूपी-शूरवीर जो बलवान, महान् और तीव्र-पुरुषार्थी है, जिसके उदय होने पर आनंदरूपी-अंकुर अर्थात् आत्मिक-आनंद की अनुभूति होती है, बनारसीदास जी कहते हैं मैं उस सम्यक्त्वरूपी-योद्धा को बारम्बार नमन करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

जहाँ परमात्म-कला कौ परकास तहाँ, धरम-धरा में सत्य-सूरज की धूप है।
जहाँ सुभ-असुभ-कर्मकौ गढ़ास तहाँ, मोह के बिलासमें महा-अंधेर-कूप है॥
फैली फिरै घटा-सी छटा-सी घन-घटा-बीचि, चेतन की चेतना दुहूँधा गुपचूप है।
बुद्धिसौं न गही जाइ बैनसौं न कही जाइ, पानी की तरंग जैसे पानी में गुडूप है॥ 3॥

शब्दार्थ :- जहाँ परमात्म-कला कौ परकास= जहाँ परमात्म-कला यानि ज्ञान-ज्योति का प्रकाश है, तहाँ धर्म-धरा में सत्य-सूरज की धूप है= वहाँ धर्मरूपी पृथ्वी पर सत्यरूपी सूरज की धूप है, जहाँ सुभ-असुभ कर्मकौ गढ़ास= जहाँ शुभ-अशुभ-कर्मों की सघनता है, तहाँ मोह के बिलासमें महा-अंधेर-कूप है= वहाँ मोह की विलासितारूप महाभयंकर अंधा-कुँआ है, फैली फिरै घटा-सी छटा-सी घन-घटा बीचि= बादलों की घटा में बिजली की छटा-सी फैली हुई है, चेतन की चेतना दुहूँधा गुपचूप है= आत्मा की दोनोंप्रकार की चेतना छिपी हुई है, बुद्धिसौं न गही जाइ= बुद्धि से ग्रहण नहीं की जा सकती, बैनसौं न कही जाइ= वचनों से नहीं कही नहीं जा सकती, पानी की तरंग जैसे पानी में गुडूप है= जैसे पानी की तरंग पानी में ही विलीन हो जाती है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने 'कर्म-चेतना' और 'ज्ञान-चेतना' का सुंदर-वर्णन किया है?

जहाँ-जहाँ आत्मा की ज्ञान-ज्योति विद्यमान है अर्थात् जहाँ-जहाँ जाननपना है, वहाँ धर्मरूपी-धरती पर सत्यरूपी-सूर्य का उजाला है, अर्थात् वहाँ सर्वत्र आत्मधर्म और सत्य के उजाले में वस्तु के स्वरूप का यथार्थ-ज्ञान होता है; ठीक उसीप्रकार जैसे सूर्य के उजाले में हर वस्तु साफ-साफ दिखाई देती है। और जहाँ व्रत, संयम, दया-दानादिक शुभ-भाव और पाप-कषायादिक अशुभ-भावों की सघनता है अर्थात् जीव मात्र इन्हीं भावों में व्यस्त है, वहाँ मोह की विलासिता यानि मगनता के कारण महा-भयंकर अंधेरा-कुँआ है, जिसमें वस्तु का यथार्थ-स्वरूप भासित नहीं होता, ठीक उसीप्रकार जैसे अंधेरे कुँये में प्रवेश करने पर कुछ दिखाई नहीं देता।

उपर्युक्त दोनों ही स्थितियों में जीव की चेतना या कहें चेतनत्व-गुण शरीररूपी-बादलों के बीच चमकती हुई बिजली के समान फैला हुआ है। जैसे आसमान में घिरे बादलों की सुंदर-छवि के बीच बिजली चमकती है, ठीक उसीप्रकार इन शरीररूपी घने-बादलों के बीच बिजली की सुंदर-छवि के समान चेतना-गुण विद्यमान है।

यह चेतना-गुण अरूपी होने से न तो बुद्धि विकल्पों के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, और न ही

वचनों के द्वारा उसका वर्णन किया जा सकता है। वह तो जल की तरंग/लहर के समान है, जैसे जल की तरंग जल से उठकर जल में ही विलीन हो जाती है, उसीप्रकार चेतना-गुण की पर्याय आत्मा में व्यक्त होकर आत्मा में ही विलीन हो जाती है।

(सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गणासौं जग में न बंधै जीव, बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं।
चेतन-अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव, बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं॥
कर्मसौं-अबंधसिद्ध, जोगसौंअबंध-जिन, हिंसासौंअबंध-साधु, ग्याताविषै-भोगसौं।
इत्यादिक वस्तु के मिलापसौं न बंधै जीव, बंधै एक रागादि असुद्ध-उपयोगसौं॥ 4॥

शब्दार्थ :— कर्मजाल-वर्गणासौं जग में न बंधै जीव= कर्मरूप पुद्गल-परमाणुओं के समूह से संसार में जीव नहीं बंधता है, बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं= न ही मन-वचन-काय तीनों योगों से कभी बंधता है, चेतन-अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव= चेतन और अचेतन की हिंसा से भी जीव नहीं बंधता है, बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं= आत्मा पंचेन्द्रिय के विषयोंरूपी विष के रोग से नहीं बंधता है, कर्मसौं अबंध सिद्ध, जोगसौं अबंध-जिन= कर्म से अबंध सिद्ध-भगवान्, योग से अबंध अरिहंत-भगवान्, हिंसासौं अबंध साधु= हिंसा से अबंध साधु, ग्याता विषै-भोगसौं= ज्ञानी विषय-भोगों से अबंध, इत्यादिक वस्तु के मिलापसौं न बंधै जीव= इत्यादि वस्तु के मिलने से जीव नहीं बंधता है, बंधै एक रागादि असुद्ध- उपयोगसौं= जीव बंधता है तो एकमात्र रागादिरूप अशुद्ध-उपयोग से।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कविवर कहते हैं कि संसार में जीव कर्मरूपी पुद्गल वर्गणाओं से बंधन को प्राप्त नहीं होता है, और न ही कभी मन वचन और काय इन तीनों योगों से बंधता है। जीव-अजीव की हिंसा से भी जीव नहीं बंधता है, और न ही आत्मा पंचेन्द्रिय-के विषयों रूपी-विष के रोग से बंधन को प्राप्त होता है। फिर संसार में जीव के बंधन का मुख्य-कारण क्या है?

आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बंध का कारण कहा है। उन्हीं बंध के कारणों को यहाँ कविवर बनारसीदास जी ने कार्माण-वर्गणायें, योग, हिंसा और भोग के नाम से वर्णित किया है।

अधिकांश संसारी मिथ्यादृष्टि-जीव कर्म को बंध या दुःख का कारण मानते हैं, कि "इन कर्मों की बजह से मैं बँधा हुआ हूँ", लेकिन कविवर कहते हैं कि सिद्धालय में ये कर्मरूपी पुद्गल-वर्गणायें मौजूद होने पर भी रागादि-भाव न होने से सिद्ध-भगवान् कभी बंधन को प्राप्त नहीं होते हैं।

दूसरा मन-वचन और काया इन तीनों योगों की चंचलता को बंध का कारण माना गया है, लेकिन तेरहवें गुणस्थान में अरिहंत भगवान् के इन तीनों योगों की उपस्थिति मौजूद होने पर भी रागादिभाव न होने से वे कभी बंधन को प्राप्त नहीं होते हैं।

तीसरा जीवों की हिंसा को बंध का कारण माना गया है, लेकिन आचार्य उपाध्याय और साधुओं से महाव्रती होने पर भी अबुद्धि-पूर्वक या अनजाने में जीवों की हिंसा होती है; परन्तु फिर भी यत्नाचार प्रवृत्ति और रागादि भावों के न होने से वे मुनिराज बंधन को प्राप्त नहीं होते हैं।

चौथा पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों को संसार में विष और रोगों की संज्ञा दी गई है, अर्थात् इनको विष

न कर्मबहुलं जगन् चलनात्मकं कर्म वा, न नैक-करणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।

यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः, स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्गुणम्॥ 2॥

या जहर के समान माना गया है। इनको भोगने पर तो जीव बंधता ही है, परन्तु कवि कहते हैं कि आत्मा को जाननेवाले सम्यग्दृष्टि-जीव रुचि और तल्लीनता न होने से पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगते हुये भी बंधन को प्राप्त नहीं होते हैं; बल्कि सम्यग्दृष्टि-जीव के लिये भोग भी निर्जरा के हेतु माने गये हैं।

तो फिर बंधन का कारण क्या है? तब कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि एकमात्र मोह-राग-द्वेषादि भावरूप अशुद्ध-उपयोग ही जीव को बंध का कारण है, अन्य और कोई नहीं। जहाँ मिथ्यादृष्टि-जीव कर्मों से एकत्वपना, योगों से ममत्वपना या अपनत्वपना, हिंसा में बुद्धिपूर्वक-प्रवर्तन, और भोगों में तल्लीनता के कारण उपयोग मलिन होने से बंधन को प्राप्त होते हैं। वहीं इन सबकी विपरीतता होने से अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावरूप उपयोग में मलिनता न होने से सर्वज्ञ-परमात्मा, साधु और सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी जीव बंधन को प्राप्त नहीं होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बंध का मुख्य-कारण एकमात्र अशुद्ध उपयोग अर्थात् मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भाव ही हैं।

(सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गणाकौ वास लोकाकास-माँहि, मन-वच-कायकौ निवास गति-आउमैं।

चेतन-अचेतन की हिंसा बसै पुगलमैं, विषै-भोग वरतै उदै कै उरझाऊ में॥

रागादि सुद्धता-असुद्धता है अलख की, यहै उपादान-हेतु बंध के बढाउ में।

याहीतैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूँकाल, राग-दोष-मोह नाहीं सम्यक-सुभाउमैं॥ 5॥

शब्दार्थः— कर्मजाल-वर्गणाकौ वास लोकाकास-माँहि= कर्मरूप-पुद्गल-वर्गणाओं का निवास लोकाकाश में है, मन-वच-कायकौ निवास गति-आउमैं= मन, वचन, काय का निवास गति और आयुर्कर्म में है, चेतन-अचेतन की हिंसा बसै पुगलमैं= चेतन-अचेतन की हिंसा पुद्गल में बसती है, विषै-भोग वरतै उदै कै उरझाऊ में= विषय-भोग में प्रवर्तन उदय के अनुसार, रागादि सुद्धता-असुद्धता है अलख की= राग-द्वेष आदि भावों की शुद्धता और अशुद्धता है आत्मा की, यहै उपादान-हेतु बंध के बढाउ में= यही उपादान-कारण है बंध के बढ़ने में, याहीतैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूँकाल= इसीलिए ज्ञानी-जीव को तीनों काल बंधन-रहित कहा गया है, राग-दोष-मोह नाहीं सम्यक-सुभाउमैं= (क्योंकि) सम्यक्-स्वभाव में राग-द्वेष-मोह भाव नहीं है।

विशेषार्थः— जहाँ पिछले-छंद में कवि ने स्पष्ट किया था कि कार्माण-वर्गणायें, योग, हिंसा और भोग 'बंध के कारण' नहीं हैं, वहीं इस छंद में स्पष्ट करते हैं कि 'ये सब बंध के कारण क्यों नहीं हैं'?

कर्म-रूप परिणमित होनेवाली कार्माण-वर्गणाओं का निवास-स्थान संपूर्ण-लोकाकाश है अर्थात् ये वर्गणायें न केवल पुद्गल के परमाणुरूप हैं, बल्कि ये रहती भी संपूर्ण-लोकाकाश में हैं। आत्मस्वभाव में तो इनका अस्तित्व ही नहीं है। इसीप्रकार मन-वचन और काय— इन तीनों योगों का संबंध भी गति और आयु-कर्म से है अर्थात् जब जीव जिस गति और आयु में जाता है, वहाँ उसे ये मन-वचन-काय रूप पुद्गल-परमाणु के संयोग नवीन प्राप्त होते हैं, और आयु पूरी होने पर ये संयोग स्वतः ही छूट जाते हैं, अर्थात् ये भी आत्म-स्वभाव का अंश नहीं हैं।

चेतन और अचेतन की हिंसा का संबंध भी पुद्गल से है, क्योंकि हिंसा-संबंधी कार्य होने पर देखा जाये, तो आत्मा तो कभी मरती नहीं, मात्र पुद्गल-परमाणुओं के स्वरूप या पर्याय में ही बदलाव आता है, अर्थात् इनका अस्तित्व भी मेरे आत्मस्वभाव में नहीं है। इसीप्रकार पाँचों-इन्द्रियों के विषय-भोगों का

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्, तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्-व्यापादनं चास्तु तत्।

रागादीनुपयोग-भूमिमनयन् ज्ञानं भवेत् केवलं, बन्ध नैव कुतोऽप्युपैत्यमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्॥ 3॥

संबंध भी पुण्य-पाप के उदयानुसार है, अर्थात् इनका प्राप्त होना या न होना भी अपने हाथ में नहीं है, कर्मों के आधीन है।

कहने का तात्पर्य यही है कि मिथ्यादृष्टि-जीव जिनको बंध का कारण मानता है, उन सबका संबंध तो पुद्गल से है, आत्मा से नहीं। आत्मा और कर्मरूप पुद्गल-परमाणु दो भिन्न और स्वतंत्र-द्रव्य हैं, इन दोनों द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है, सो एक-द्रव्य दूसरे-द्रव्य के लिये बंध का कारण कैसे हो सकता है?

तो फिर बंध का कारण कौन है? तब कविवर कहते हैं कि बंध का कारण एकमात्र मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भाव से होनेवाली उपयोग की मलिनता ही है, और सम्यक्त्व-स्वभाव में ये मोह-राग-द्वेष के भाव नहीं होते, इसीलिये ज्ञानी-जीवों को तीनों-काल या प्रतिसमय 'बंधन-रहित' या 'निर्बंध' ही कहा गया है।

(सवेया इकतीसा)

कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधै पै, तथापि ग्याता 'उद्दिमी' बखान्यौ जिनबैन में।
ग्यान-दिष्टि देत विषै-भौगनिसौ हेत दोउ, क्रिया एक-खेत यौतौ बनै नांहि जैन में॥
उदै-बल उद्दिम गहै, पै फल कौ न चहै, निरदै-दसा न होइ हिरदै के नैन में।
आलस-निरुद्दिमकी भूमिका मिथ्यात-माँहि, जहाँ न संभारै जीव मोह-नींद सैन मैं॥ 6॥

शब्दार्थ :- कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधै= कर्मों का समूह, योग, हिंसा और, भोग से नहीं बंधता है, पै तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिनबैन में= परन्तु फिर भी ज्ञानी को जिनवचनों में पुरुषार्थी कहा गया है, ग्यानदिष्टि देत विषै-भौगनिसौ हेत= ज्ञानदृष्टि हो और विषय भोगों से प्रेम भी हो, दोउ क्रिया एक-खेत यौतौ बनै नांहि जैन में= दोनों कार्य एकक्षेत्र या एकसाथ हों ऐसा तो संभव ही नहीं है जैन/जिनवचनों में, उदै बल उद्दिम गहै पै फल कौ न चहै= उदय के अनुसार पुरुषार्थ करता है, परन्तु फल की इच्छा नहीं करता, निरदै दसा न होइ हिरदै के नैन में= निर्दय यानि दयारहित-अवस्था नहीं होती हृदय की आँखों में, आलस निरुद्दिमकी भूमिका मिथ्यात-माँहि= आलस और पुरुषार्थ-रहित अवस्था मिथ्यात्व के उदय में होती है, जहाँ न संभारै जीव मोह-नींद सैन मैं= जहाँ जीव स्वयं को नहीं संभालता मोहरूपी निद्रा में सोता रहता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि सम्यक्त्व और मिथ्यात्व या सम्यग्ज्ञान-दृष्टि और भोगों से अनुराग दोनों क्रिया एकसाथ संभव नहीं है।

ये सत्य है कि कार्माण-वर्गणायें, मन-वचन-काय तीनों-योग, जीव-हिंसा और विषय-भोगों से बंध नहीं होता; परन्तु फिर भी ज्ञानी-जीव निरन्तर पुरुषार्थी रहता है— ऐसा जिनवचनों में कहा गया है। क्यों? क्योंकि जिसे एकबार आत्मिक-आनंदरूप सच्चे-सुख का स्वाद आ जाता है, वह पूर्ण-सुख की प्राप्ति का पुरुषार्थ अवश्य करता ही है,— ऐसा ही जिनेन्द्र-परमात्मा की वाणी में कहा गया है।

सम्यग्ज्ञान-दृष्टि भी प्रवर्त और पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों से अनुराग भी प्रवर्त— ऐसी दो विपरीत क्रियायें एक साथ हों,— ऐसा जैन में नहीं बनता अर्थात् जिनवचनों में ऐसा उपदेश ही नहीं है। कहने का अभिप्राय यही है कि जैसे दिन और रात, सुख और दुःख, अमृत और जहर-इत्यादि दो विपरीत-स्थितियाँ एकसाथ नहीं होतीं, ठीक उसीप्रकार दृष्टि सम्यक् हो और भोगों में आसक्ति हो— ऐसी विपरीत-स्थिति एक साथ संभव ही नहीं है।

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां, तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।

अकाम-कृत्कर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां, द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च ॥ 4॥

यद्यपि सम्यग्दृष्टि-जीव कर्मों के उदय के अनुसार पुरुषार्थ करता है अर्थात् प्रवर्तन करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु फल की इच्छा नहीं करता, अर्थात् अंतरंग-भावों से स्वयं को उस क्रिया का कर्त्ता नहीं, मात्र ज्ञाता ही मानता है। न आगामी किसी भी प्रकार के फल की वांक्षा करता है और न ही प्राप्त-फल में हर्ष या विषादरूप-भाव करके आकुलित होता है।

सम्यग्दृष्टि-जीव के हृदय में निर्दयता और हिंसा का नहीं, जीवमात्र के प्रति दया का भाव रहता है, इसलिए भोगों के प्रति आसक्ति होती ही नहीं। आलस या कहें प्रमाद और पुरुषार्थ-हीनता का भाव तो मिथ्यात्व की भूमिका में आता है, जिससे जीव प्रतिसमय स्वरूप से विस्मृत रहता है और मोह की नींद में चैन से सोता है अर्थात् प्रतिसमय स्व से विमुख और पर के सन्मुख रहता है। पर में आसक्त रहना— यही तो मिथ्यादृष्टि-जीव की पहचान है।

(दोहा)

जब जाकौ जैसो उदै, तब सोहै तिहि थान।

सकति मरोरै जीव की, उदै महा बलवान॥ 7॥

शब्दार्थ :- जब जाकौ जैसो उदै= जब जिसका जैसा उदय, तब सोहै तिहि थान= तब उस स्थान पर वैसा ही प्रवर्तन होता है, सकति मरोरै जीव की= जीव की शक्ति को बलहीन कर देता है, उदै महाबलवान= कर्म का उदय बड़ा बलशाली होता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कर्मोदय की प्रबलता का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जब जिस जीव का जैसा कर्म का उदय होता है, तब वह वैसा ही प्रवर्तन करता है, क्योंकि कर्म का उदय इतना बलवान् होता है कि वह जीव को बलहीन करके अपने अनुसार प्रवर्तन करवाता है। (इसका विशेष-स्पष्टीकरण कविवर अगले छंद में करेंगे।)

(सवैया इकतीसा)

जैसे गजराज परयौ कर्दम कै कुंड-बीच, उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुःख-दंदसौं।

जैसे लोह-कंटक की कोरसौं उरझ्यौ-मीन, ऐंचत असाता लहै साता लहै संदसौं॥

जैसे महाताप सिर-वाहिसौं गरास्यौ नर, तकै निज-काज उठि सकै न सुछंदसौं।

तैंसैं ग्यानवंत सब जानै न बसाइ कछू, बंध्यौ फिरै पूरब-करम फल-फंदसौं॥ 8॥

शब्दार्थ :- जैसे गजराज परयौ कर्दम कै कुंडबीच= जैसे हाथी कीचड़ के गड्ढे में पड़ा/फसा हो, उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुःख-दंदसौं= (तब वह) पुरुषार्थ करने पर भी नहीं छूटता दुःख-द्वन्द से, जैसे लोह-कंटक की कोरसौं उरझ्यौ मीन= जैसे लोहे के काँटे की नोंक से उलझी हुई मछली, ऐंचत असाता लहै साता लहै संदसौं= खींचने से कष्ट पाती है और छूटने पर साता का अनुभव करती है, जैसे महाताप सिर-वाहिसौं गरास्यौ नर तकै= जैसे तेज बुखार सिर-शूल/दर्द से पीड़ित मनुष्य तकता रहता है, निज-काज उठि सकै न सुछंदसौं= अपने आप अपनी स्वच्छंदता से उठ नहीं सकता है, तैंसैं ग्यानवंत सब जानै न बसाइ कछू= वैसे ही ज्ञानी-जीव सब जानते हैं, पर वश में कुछ नहीं सो विवश होकर, बंध्यौ फिरै पूरब-करम-फल फंदसौं= पूर्वकर्म के फल में बंधन से बंधे रहते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने कर्म की प्रबलता को उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। यद्यपि उस प्रबलता में सम्यग्दर्शन होने पर दर्शनमोहनीय तो क्षय या उपशम को प्राप्त हो जाती है, परन्तु चारित्र-मोहनीय का पूर्ण-क्षय तो स्वरूप की पूर्ण-स्थिरता होने पर ही होता है। तबतक जिस जीव ने जैसा कर्म

बाँधा है, वैसा ही उदय में आता है। और जब चरित्र-मोहनीय का प्रबल उदय आता है, तब सम्यग्दृष्टि-जीव भी न चाहते हुये भी उस रूप परिणामित होता है।

जैसे हाथी यद्यपि बहुत बलवान् है, लेकिन यदि वह कीचड़ के गड्ढे में गिर जाये, तो बहुत-पुरुषार्थ करने पर भी वह हाथी अपने आपको उस गड्ढे से बाहर निकालने में असमर्थ होता है। मछली पकड़नेवाले मछली पकड़ने के लिये लोहे के काँटे में आटे की गोली लगाकर पानी में डालते हैं, पहले तो मछली चंचलता के कारण आसानी से पकड़ में नहीं आती; परन्तु यदि एक बार मछली उस काँटे में फँस जाये, तो फिर अथक-पुरुषार्थ करने पर भी वह उससे छूट नहीं पाती।

जैसे बहुत-तेज बुखार और सिर में तीव्र-शूल या दर्द होने पर बलवान से बलवान् मनुष्य भी शरीर शिथिल हो जाने से छोटे-से काम के लिए भी अपने को पराधीन अनुभव करता है, अर्थात् वह अपने आप कुछ नहीं कर पाता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव की दृष्टि यद्यपि सम्यक् है, अंतरंग से वह स्वयं को किसी भी क्रिया का कर्ता भी नहीं मानता और न ही विपरीत-परिणाम होने पर आकुलित होता है; लेकिन फिर भी प्रतिकूलता आने पर उस रूप कार्य करता हुआ दिखाई देता है— ऐसे कई उदाहरण आगम में देखने को मिलते हैं।

जैसे रामचंद्र जी तद्भव-मोक्षगामी थे, लेकिन फिर भी कर्मोदय की प्रबलता देखो! सीता का हरण होने पर रावण से युद्ध करते हैं। लक्ष्मण का वियोग होने पर उनकी लाश को कंधे पर लेकर घूमते हैं। जैसे माघनन्दि-मुनिराज नग्न-दिगम्बर भावलिंगी-मुनि होने पर भी कर्म के उदय की प्रबलता में कुम्हार की लड़की के साथ सम्बन्ध करने को विवश हुये थे।

कहने का अभिप्राय यही है कि दृष्टि सम्यक् होने पर भी प्रबल-कर्म का उदय जीव की निर्णय-क्षमता को कुछ समय के लिये बलहीन कर देता है, और सम्यग्दृष्टि-जीव भी उसरूप कार्य करता हुआ दिखाई देता है। लेकिन यह बलहीनता कुछ समय के लिये ही रहती है, जैसे ही कर्म का उदय-समय पूरा होता है, जीव पुनः अपने स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करता है।

(चौपाई)

जे जिय मोह-नींद में सौवै, ते आलसी निरुद्धि होवै।

द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना, ते आलस तजि उद्धि कीना॥१॥

शब्दार्थ :— जे जिय मोह-नींद में सौवै= जो जीव मोह की नींद में सोते हैं, ते आलसी निरुद्धि होवै= वे आलसी, पुरुषार्थहीन होते हैं, द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना= जो दृष्टि खोलकर जागृत हैं, वे चतुर हैं, ते आलस तजि उद्धि कीना= वे आलस छोड़कर पुरुषार्थ करते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में पुरुषार्थी कौन और पुरुषार्थ-हीन कौन?— इसका वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जो जीव मोह की निद्रा में सोते हैं, वे जीव मोक्षमार्ग में प्रमादी और पुरुषार्थहीन होते हैं, और जो जीव ज्ञान-दृष्टि खोलकर जागृत रहते हैं, वे बुद्धिमान्-पुरुष आलस छोड़कर मोक्षमार्ग में निरन्तर पुरुषार्थी रहते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि जब तक मिथ्यात्व की अवस्था रहती है, तब तक जीव मोक्ष के लिए पुरुषार्थ नहीं करता; क्योंकि जिसे स्वरूप की खबर ही नहीं, वह पुरुषार्थी कैसे होगा? और जिस जीव को स्वरूप की खबर है, अर्थात् सम्यग्दर्शन है, उसे स्वरूप की स्थिरता का पुरुषार्थ न चले— ऐसी विपरीतता संभव ही नहीं है।

काच बाँधै सिरसौ सुमनि बाँधे पाइनि सौं, जानै न गँवार कैसी मनि कैसौ काँच है।
योही मूढ़ झूठमें मगन झूठ हीकौं दोरै, झूठी-बात मानै, पै न जानै कहा साँच है॥
मनिकौं परखि जानै जौहरी जगत-माँहि, साँच की समुझि ग्यान-लोचन की जाँच है।
जहाँ को जु वासी, सो तौ तहाँ को मरम जानै, जाकौ जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है॥ 10॥

शब्दार्थ :— काच बाँधै सिरसौ सुमनि बाँधे पाइनि सौं= काँच बाँधते हैं सिर से, सुमणि बाँधते हैं पैर से, जानै न गँवार कैसी मनि कैसौ काँच= जानते ही नहीं गँवार हैं कि कौनसी मणि है, कौनसा काँच है? योही मूढ़ झूठमें मगन झूठ कौं ही दोरै= इसीप्रकार मूर्ख भी झूठ में मगन रहता है, झूठ के लिए ही दौड़ता है, झूठी बात मानै पै न जानै कहा साच है= झूठी बात ही मानते हैं, परन्तु यह नहीं जानते हैं कि सच क्या है? मनिकौं परखि जानै जौहरी जगत माँहि= जगत् में मणि की परख जौहरी ही जानता है, साँच की समुझि ग्यान-लोचन की जाँच है= सच की समझ जगत् में ज्ञानरूपी नेत्रों का काम है, जहाँ को जु वासी सो तौ तहाँ को मरम जानै= जहाँ का जो रहनेवाला है, वह वहाँ के मर्म को जानता है, जाकौ जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है= जिसका जैसा स्वांग उसका उसीरूप नृत्य है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव की अनादि से चली आ रही प्रवृत्ति को बहुत ही सरलता से वर्णित किया है।

जैसे कोई विवेकहीन-पुरुष काँच को सिर पर और सुमणि अर्थात् हीरे जैसे कीमती-रत्न को पैर में धारण करता है; क्योंकि वह काँच और हीरा दोनों की ही कीमत को नहीं पहिचानता। ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव सत् और असत् के स्वरूप को नहीं जानता, इसलिए असत् को सत् मानकर सारा पुरुषार्थ असत् को प्राप्त करने में लगाता है। इतना ही नहीं, असत् को प्राप्त करने में इतना पुरुषार्थी होता है कि सत् को जानना भी नहीं चाहता।

जैसे जगत् में हीरे की परख केवल जौहरी को ही होती है, ठीक उसीप्रकार सत् और असत् की परख भी केवल ज्ञान-नेत्रों से ही होती है; क्योंकि जो जिस कला का पारखी होता है, वही उसके पूरे मर्म या भेद को जानता है। इसीप्रकार जो जैसा स्वांग धारण करता है, वह उसीरूप प्रवर्तन भी करता है, जैसे आम-आदमी भी जब नट-नटी का स्वांग धारण करता है, तब वह उसी अनुरूप क्रिया भी करता है। ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव संसार में मिथ्या-स्वांग धारण करता है, सो मिथ्यात्वरूप प्रवर्तन करता है। और सम्यग्दृष्टि-जीव अपने सम्यक्-स्वरूप का अवलोकन करता है, सो उसी अनुरूप सम्यक्त्वरूप-प्रवर्तन करता है।

(दोहा)

बंध बढावै अंध ह्वै, ते आलसी-अजान।
मुक्ति-हेतु करनी करै, ते नर उद्दिमवान॥ 11॥

शब्दार्थ :— बंध बढावै अंध ह्वै= जो विवेकहीन होकर बंध को बढ़ाते हैं ते आलसी-अजान= वे आलसी अज्ञानी हैं, मुक्ति-हेतु करनी करै= जो मुक्ति के लिये पुरुषार्थ करते हैं, ते नर उद्दिमवान= वे मनुष्य पुरुषार्थी हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में जैसी करनी वैसा फल— इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए कविवर कहते हैं कि जो जीव विवेकहीन होकर प्रमाद व अज्ञानता के कारण बंध की परम्परा को बढ़ाता है, वह मिथ्यात्वी

होकर संसार में परिभ्रमण करता है। और जो मनुष्य पुरुषार्थी होकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, वे ही जीव सच्चे-पुरुषार्थी और सम्यक्त्वी हैं।

(सवैया इकतीसा)

जब लग जीव सुद्ध-वस्तुकों विचार ध्यावै, तब लग भोगसौं उदासी सरवंग है।
भोग में मगन तब ग्यान की जगन नाँहि, भोग-अभिलाष की दसा मिथ्यात-अंग है॥
तातैं विषैभोगमैं मगन सो मिथ्याती-जीव, भोगसौं उदास सो समकिती अभंग है।
ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुक्ति साधै, यहै मन-चंग तौ कठौती-माँहि गंग है॥ 12॥

शब्दार्थ :- जब लग जीव सुद्धवस्तुकों विचार ध्यावै= जबतक जीव शुद्ध-वस्तु/आत्मा का चिंतनपूर्वक ध्यान करता है, तब लग भोग सौं उदासी सरवंग है= तबतक भोगों से उदासी सर्वांग में है, भोग में मगन तब ग्यान की जगन नाँहि= जब भोगों में मगन है, तब ज्ञान की जागृति नहीं है, भोग-अभिलाष की दसा मिथ्यात-अंग है= भोग-अभिलाषा की स्थिति मिथ्यात्व का ही अंग है, तातैं विषैभोगमैं मगन सो मिथ्याती-जीव= इसलिए विषय-भोगों में तल्लीन वह जीव मिथ्यादृष्टि है, भोगसौं उदास सो समकिती अभंग है= जो भोगों से उदास वह सम्यग्दृष्टि अभंग है, ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुक्ति साधै= ऐसा जानकर भोगों से उदास होकर मोक्षमार्ग साधता है, यहै मन चंग तौ कठौती-माँहि गंग है= यदि मन चंगा है, तो कठौती में गंगा है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मिथ्यात्व और सम्यक्त्वरूप-परिणति का स्वरूप बताते हुये सम्यक्त्व की महिमा का प्रतिपादन किया है।

जबतक जीव अपने शुद्ध-स्वरूप का विचार करता है, तबतक उसे भोगों के प्रति उदासीनता रहती है, वही दशा सम्यक् है। इसके विपरीत जबतक जीव पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के प्रति आसक्त है, तबतक ज्ञानरूप प्रवर्तन न होने से अज्ञानतारूप-स्थिति है, जो मिथ्यात्व की दशा है, क्योंकि भोगों की इच्छा और आसक्ति अज्ञानता का ही रूप है। इसलिये विषयभोगों में तल्लीन जीव मिथ्यादृष्टि हैं, और जो भोगों से उदास है, वह जीव सम्यग्दृष्टि है। हे आत्मन्! ऐसा जानकर भोगों से विरक्त होकर मुक्ति की साधना करो अर्थात् मोक्षमार्ग पर अग्रसर होओ, क्योंकि यदि मन चंगा अर्थात् अच्छा या पवित्र है, तो कठौती (लकड़ी की छोटी कटोरी के आकार का बर्तन) में भी गंगा है। जगत् में कहावत है गंगास्नान से पापों से निवृत्ति मिलती है, उसी कहावत के माध्यम से कवि ने यहाँ सिद्धांत को प्रस्तुत किया है। यद्यपि जिनशासन के हिसाब से ऐसा कुछ नहीं है कि गंगास्नान से पाप धुल जायेंगे, लेकिन लोक में उससमय बहुप्रचलित कहावत होने से कवि ने यहाँ मात्र सिद्धांत को समझाने के लिये प्रयुक्त किया है।

कहने का अभिप्राय यही है कि यदि हमारा मन पवित्र है, तो कठौती के बहुत थोड़े से पानी से नहाने पर भी गंगास्नान का फल यानि पापों से छुटकारा मिल सकता है, और यदि मन मिथ्यात्व, विषय-कषाय, पाप आदि से मलिन है, तो गंगा के अथाह जल से स्नान करने पर भी गंगा स्नान का फल अर्थात् दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता।

दूसरा दृष्टिकोण— यदि दृष्टि सम्यक् हो, परन्तु ज्ञान भले ही कठौती के जल के समान अति-अल्प हो, फिर भी वह जीव मोक्षमार्गी है, और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। लेकिन यदि दृष्टि मिथ्या है, तब ज्ञान गंगाजल के समान अथाह होने पर भी जीव मोक्षमार्गी नहीं है अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु, जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।

रागं त्वबोधमयमध्वसायमाहु-र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः॥ 5॥

धरम-अरथ अरु काम-सिव, पुरुषारथ-चतुरंग।

कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग॥ 13॥

शब्दार्थ :- धरम-अरथ अरु काम-सिव= धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, पुरुषारथ चतुरंग= चारप्रकार के पुरुषार्थ हैं, कुधी कलपना गहि रहै= मूर्ख-व्यक्ति कल्पना के अनुसार ग्रहण करता है, सुधी गहै सरवंग= बुद्धिमान/विवेकी सर्वांग ग्रहण करता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में चार-प्रकार के पुरुषार्थों का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— ये चारप्रकार के पुरुषार्थ हैं। मूर्ख/अज्ञानी-जीव इनका स्वरूप अपनी कल्पना के अनुसार या अपनी इच्छाओं के अनुसार ग्रहण करता है; जबकि बुद्धिमान/ज्ञानी-जीव सर्वांग अर्थात् आगमसम्मत-रीति से सभी को ग्रहण करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

कुलकौ-आचार ताहि मूरख धरम कहै, पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौ।

खेहकौ-खजानौ ताहि अग्यानी अरथ कहै, ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौ॥

दंपतिकौ-भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै, सुधी काम कहै अभिलाष चित-चाउ कौ।

इंद्रलोक-थानकौ अजानलोग कहै मोख, सुधी मोख कहै एक बंध के अभाउ कौ॥ 14॥

शब्दार्थ :- कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै= कुल-परम्परागत आचरण को मूर्ख 'धर्म' कहता है, पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौ= पंडित 'धर्म' कहते हैं वस्तु के स्वभाव को, खेहकौ खजानौ ताहि अग्यानी अरथ कहै= मिट्टी का खजाना उसे अज्ञानी-जीव अर्थ/धन कहते हैं, ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौ= ज्ञानी 'अर्थ' कहते हैं द्रव्य के अवलोकन को, दंपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै= पति-पत्नी के भोग को मूर्ख पुरुष 'काम' कहता है, सुधी काम कहै अभिलाष चित-चाउ कौ= विवेकी-जीव 'काम' कहते हैं चित् स्वरूप की अभिलाषा को, इंद्रलोक थानकौ अजान लोग कहै मोख= इंद्रों के निवास-स्थान को अज्ञानी-जीव 'मोक्ष' कहता है, सुधी मोख कहै एक बंध के अभाउ कौ= विवेकी-जीव 'मोक्ष' कहते हैं एकमात्र बंधन के अभाव को।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— इन चारों पुरुषार्थ के विषय में ज्ञानी और अज्ञानी की विचारधारा का सुंदर वर्णन किया है।

जगत् में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— ये चार पुरुषार्थ यानि करने योग्य कार्य माने गये हैं। लेकिन अज्ञानी-जीव इनका स्वरूप आगम के अनुसार न मानकर अपनी कल्पना या कहीं इच्छानुसार मानता है, जबकि ज्ञानी-जीव इनका सम्यक्-स्वरूप ही अंगीकार करते हैं।

पहला पुरुषार्थ 'धर्म'— आगम के अनुसार 'वस्तु के स्वभाव को धर्म' कहते हैं, जैसे नीबू का स्वभाव खट्टापन, चीनी का स्वभाव मीठापन, वैसे ही आत्मा का धर्म या स्वभाव जानना-देखना। लेकिन अज्ञानी-जीव के लिए तो कुछ करने का नाम धर्म है, सो वह पूजा-पाठ, व्रत-संयम, चौका की शुद्धि, नित्य-स्नानपूर्वक कोई भी काम करना, शुद्ध-वस्त्रों में खाना पकाना और खाना— ऐसी अनेक आचार-परक-क्रियाओं के करने मात्र को धर्म मानता है। यद्यपि यहाँ इन क्रियाओं के निषेध की चर्चा नहीं है, बल्कि इन क्रियाओं को धर्म मानने का निषेध है; क्योंकि ये तो जड़ का परिणामन है, धर्म नहीं, विवेकी या ज्ञानी-जीव तो अपने स्वभावस्वरूप-प्रवर्तन को ही धर्म मानते हैं।

दूसरा पुरुषार्थ 'अर्थ'— 'जीवन की उपलब्धि' अर्थात् अपने आत्मद्रव्य का अवलोकन करना ही वास्तव में इस जीवन की सर्वोत्तम-उपलब्धि है, इसीलिये ज्ञानी-जीव इसी को सच्चा 'अर्थ' मानकर निरन्तर इसी का पुरुषार्थ करते हैं। जबकि अज्ञानी-जीव सोना-चाँदी, धन-दौलतरूप मिट्टी के खजाने को 'अर्थ' मानता है, सो उसी का पुरुषार्थ करता है।

तीसरा पुरुषार्थ 'काम'— ज्ञानी-जीव आत्मस्वरूप में आसक्ति को 'काम' कहते हैं, इसीलिये निरन्तर आत्मानुरागपूर्वक प्रवर्तन करते हैं। वहीं अज्ञानी-जीव पति-पत्नी के वासनापरक-भोगासक्ति को 'काम' कहता है, सो उसीरूप प्रवर्तन करता है।

चौथा पुरुषार्थ 'मोक्ष'— मोक्ष यानि हरप्रकार के बंधन से मुक्ति। लेकिन अज्ञानी-जीव इंद्रलोक अर्थात् बैकुण्ठ या कहें स्वर्ग की प्राप्ति को ही मुक्ति मानता है, जबकि ज्ञानी-जीव एकमात्र कर्मों के बंधन से छूटने को ही मुक्ति मानते हैं, क्योंकि बैकुण्ठ या स्वर्ग तो चार-गतिरूप संसार यानि बंधन-स्वरूप ही है, मोक्ष नहीं। इसीलिए अज्ञानी-जीव बाल-तपस्वरूप क्रिया करके स्वर्ग की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, और ज्ञानी-जीव समस्त कर्मबंधन से रहित मुक्ति या वीतरागता की प्राप्ति के लिए स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

धरम कौ साधन जु वस्तुकौ-सुभाउ साधै, अरथ कौ साधन विलेछ दर्व-षट मै।

यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद, सहज-सरूप मोख सुद्धता प्रगटमै॥

अंतर की द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध, धरम-अरथ-काम-मोख निज-घटमै।

साधन-आराधन की सौज रहे जाके संग, भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यात की अटलमै॥ 15 ॥

शब्दार्थ :— धरम कौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै= धर्म प्राप्ति का मुख्य साधन तो वस्तु के स्वभाव को साधना है, अरथ कौ साधन विलेछ दर्व-षट मै= अर्थ का साधन छहों द्रव्यों के स्वरूप को भिन्न-भिन्न ग्रहण करना है, यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद= काम-साधन यह है, जो निस्पृहता को बढ़ाता है, सहज-सरूप मोख सुद्धता प्रगटमै= (और) मोक्ष सहज-स्वरूप की शुद्धता को पर्याय में प्रगट करना, अंतर की द्रिष्टि सौं निरंतर विलोकै बुध= (इन चारों पुरुषार्थों को) ज्ञानी-जीव अंतरंग-दृष्टि से प्रतिसमय अवलोकन करते हैं, धरम अरथ काम मोख निज घट मै= धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ अंतरंग में हैं, साधन-आराधन की सौज रहे जाके संग= साधन और आराधन दोनों जिसके साथ हैं, भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यात की अटलमै= (फिर भी) मूर्ख-मिथ्यात्व के भ्रम में भूला रहता है

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि वास्तव में चारों पुरुषार्थ आत्मा में ही होते हैं।

पुरुषार्थ यानि करने योग्य कार्य, इस दृष्टि से मैं आत्मा हूँ, और पर से मेरा किंचित् भी संबंध नहीं है, तो मेरे करने योग्य कार्य अर्थात् पुरुषार्थ मेरे ऊपर ही घटित होंगे, न तो ये परद्रव्य पर घटित होंगे, और न ही परद्रव्य के संयोग से, क्योंकि दोनों द्रव्यों में अत्यन्ताभाव है। इसीलिए ज्ञानी-जीव चारों-पुरुषार्थों को स्वयं पर ही सिद्ध करते हैं, 'धर्म' पुरुषार्थ के साधन के लिये वस्तु के स्वभाव को साधते हैं, अर्थात् आत्मवस्तु के स्वभावरूप-प्रवर्तन करते हैं। 'अर्थ' पुरुषार्थ के साधन के लिये ज्ञानी-जीव, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों-द्रव्यों को भिन्न-भिन्न उनके स्वभावरूप ही ग्रहण करते हैं। 'काम' पुरुषार्थ को साधने के लिये पर से निष्पृहता और आत्मस्वरूप से स्पृह्यतरूप प्रवर्तन करते हैं। 'मोक्ष' पुरुषार्थ को साधने के लिये सहज-स्वरूप की आराधना करते हुए पर्याय में पूर्ण-वीतरागता प्रकट करने

रूप प्रवर्तन करते हैं।

इसप्रकार ज्ञानी-जीव या कहें सम्यग्दृष्टि-जीव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— इन चारों पुरुषार्थों को अपनी अंतरंग-दृष्टि से निजस्वरूप में ही अवलोकन करते हैं, जबकि अज्ञानी-जीव या कहें मिथ्यादृष्टि-जीव साधन और आराधन दोनों की सामग्री स्वयं के पास होने पर भी चारों-पुरुषार्थों को न केवल पर में खोजता है, अपितु पर से ही उनकी सिद्धि भी करना चाहता है, यही तो मिथ्यात्व है, जिसके कारण मूर्ख अज्ञानी-जीव प्रतिसमय भ्रमित होता रहता है।

(सवैया इकतीसा)

तिहूँ-लोकमाँहि तिहूँकाल सब जीवनि कों, पूरब-करम उदै आइ रस देतु हैं।

कोउ दीरघाऊ धरै कोउ अलपाउ मरै, कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है॥

याही में जिवायौ याही मारौ याही सुखी करौ, याही दुखी करौ ऐसौ मूढ मान लेतु है।

याही अहंबुद्धि से न विनसै भ्रम-भूल, यहै मिथ्या-धरम करम-बंध हेतु है॥ 16॥

शब्दार्थ :— तिहूँ-लोकमाँहि तिहूँकाल सब जीवनि कों= तीनों लोकों में तीनों काल में समस्त जीवों को, पूरब-करम उदै आइ रस देतु हैं= पूर्वकर्म उदय में आकर रस/फल देते हैं, कोउ दीरघाऊ धरै= कोई लंबी-आयु धारण करता है, कोउ अलपाउ मरै= कोई कम-आयु में ही मरण को प्राप्त होता है, कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है= कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई सामान्य रहता है, याही मैं जिवायौ याही मारौ= इसे मैं ने जिलाया, इसे मारा, याही सुखी करौ याही दुखी करौ= इसे सुखी किया, इसे दुःखी किया, ऐसौ मूढ मान लेत है= ऐसा मूर्ख अज्ञानी-जीव मानता है, याही अहंबुद्धि से न विनसै भ्रम-भूल= इसी अहंभाव के कारण ये भ्रम-बुद्धि विनष्ट नहीं होती, यहै मिथ्या-धरम करम-बंध हेतु है= यही मिथ्या-बुद्धि कर्मबंध का कारण है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जगत् की स्वचालित वस्तु-व्यवस्था और मिथ्यादृष्टि-जीव की परिणति का बहुत ही सरलता से चित्रण किया है।

अनादिकाल से जीव और आठ-कर्माँ का घनिष्ट-संबंध है अर्थात् मिथ्यादृष्टि-जीव हमेशा आठ-कर्माँ के साथ ही जन्म लेता है। साथ ही ये भी सुनिश्चित है कि तीनों-लोकों यानि ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक, तीनों-कालों यानि भूतकाल, वर्तमानकाल, और भविष्यकाल में पूर्वोपार्जित अर्थात् जीव के द्वारा पूर्व में बाँधे गये कर्म ही वर्तमान में उदय में आकर फल देते हैं। जिससे किसी जीव को बहुत लम्बी-आयु मिलती है, कोई जीव बहुत कम-आयु में ही मरण को प्राप्त होता है। पूर्व-कर्म के उदय में किसी जीव को अनुकूल-सामग्री मिलती है, सो संसार की दृष्टि से वह जीव अपने को सुखी मानता है, और किसी जीव को प्रतिकूल-सामग्री मिलती है, सो वह जीव अपने को दुःखी मानता है। और कितने ही जीव ऐसे हैं, जिन्हें न अति-अनुकूलता मिलती है और न अति-प्रतिकूलता, सो वे जीव सामान्य रहते हैं न बहुत-सुखी और न बहुत-दुःखी।

यद्यपि जीव को सांसारिक सुख-दुःख में निमित्त समस्त-सामग्री, संयोग और आयु अर्थात् जन्म-मरण की स्थिति पूर्व-कर्म के उदय से सहज प्राप्त होती है, जिसे घटाने-बढ़ाने या नष्ट करने में सामान्य संसारी-जीव तो क्या, जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं है। लेकिन फिर भी अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि संसारी-जीव को ये भ्रम हमेशा रहता है कि "मैंने उसको जिलाया या जीवन दिया, मैंने उसको मार दिया, मैंने उसको सुखी

सर्व सदैव नियत भवति स्वकीय-कर्मोदयान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।

अज्ञानमेतदिह यतु परः परस्य, कुर्यात्पुमान् मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्॥ 6॥

किया और मैंने उसको दुःखी किया अर्थात् संसार में जो भी परिवर्तन हो रहा है, उसका कर्ता मैं ही हूँ, मेरी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता-इत्यादि।"

इसी 'अहंबुद्धि' या 'मैं ही जगत् का कर्ता हूँ'- के कारण इसका अज्ञानरूपी-अंधकार अथवा मिथ्या-भ्रम कभी दूर ही नहीं होता। जैसे अंधकार के रहते जीव को कुछ दिखाई नहीं देता ठीक उसीप्रकार भ्रम और अज्ञानरूपी-अंधकार में न तो इसे स्वयं का स्वरूप भासित होता है, और न ही संसार, शरीर और भोगों की वास्तविकता ख्याल में आती है। फलस्वरूप निरन्तर नवीन-कर्मों का बंध होता रहता है। कहने का अभिप्राय यही है कि जीव की ये मिथ्या या भ्रम-बुद्धि ही कर्म-बंध का मूल-कारण है।

(सवैया इकतीसा)

जहाँलौ जगत के निवासी जीव जगत में, सबै असहाइ कोऊ काहूकौ न धनी है।

जैसी-जैसी पूरब-करम-सत्ता बांधी जिन, तैसी उदै में अवस्था आइ बनी है॥

एते परि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊँ मारूँ, इत्यादि अनेक-विकल्प बात-घनी है।

सो तौ अहंबुद्धिसौ विकल भयौ तिहूँ-काल, डोलै निज आतम-सकति तिन हनी है॥ 17॥

शब्दार्थ :- जहाँलौ जगत के निवासी जीव जगत में= जहाँ तक संसार में रहनेवाले जीव हैं, (वे) संसार में, सबै असहाइ कोऊ काहूकौ न धनी है= सभी असहाय/निराधार हैं, कोई किसी का स्वामी नहीं है, जैसी जैसी पूरब-करम-सत्ता बांधी जिन= जिसने जैसा-जैसा पूर्व कर्म का स्थिति-अनुभाग आदि बाँधा है, तैसी उदै में अवस्था आइ बनी है= वैसी ही अवस्था उदय-अनुसार बनती है, एते परि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊँ मारूँ= इतने पर भी जो कोई ये कहता है कि "मैं जिलाता हूँ, मैं मारता हूँ", इत्यादि अनेक विकल्प बात घनी है= इत्यादि बहुत सारे विकल्प करता है, सो तौ अहंबुद्धिसौ विकल भयौ तिहूँ-काल= वह ऐसी अहंबुद्धि से ही तीनों-काल व्याकुल होता है, डोलै निज आतम-सकति तिन हनी है= संसार में भ्रमता है, और अपनी आत्मशक्ति का घात करता रहता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने पुनः मिथ्यादृष्टि-जीव को ही संकेतित किया है।

छह-द्रव्यों के समूह से निर्मित इस विश्व में सभी द्रव्य अपने-अपने आधार से हैं, न तो कोई किसी का सहायक है, न रक्षक और न विरोधी। इसीप्रकार निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तक संसार के समस्त प्राणी असहाय हैं अर्थात् अपने-अपने आधार से हैं, और स्वतंत्र हैं। न तो कोई किसी का रक्षक और न कोई किसी का भक्षक, न कोई किसी का स्वामी है और न कोई किसी का चाकर, अर्थात् न कोई किसी को कुछ देता है, न लेता है।

सच तो ये है कि जिस जीव ने जैसे परिणाम किये, उस जीव ने उसी अनुरूप कर्मों की सत्ता बाँधी है, अर्थात् जीव के परिणामों के अनुसार ही कर्मों की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप बंध होता है, और वही कर्म अपने-अपने समय पर उदय में आकर फल देते हैं; जिनके परिणामस्वरूप वैसी ही क्षणिक-सुख या दुःखरूप-अवस्था जीव को प्राप्त होती है।

इतनी स्वतंत्र और स्वचालित वस्तु-व्यवस्था के होने पर भी यदि कोई जीव ये कहे कि मैंने उसको जीवन दिया, मैंने उसका भरण-पोषण किया, मैं सहायक, मैं रक्षक, मैं विरोधी- ऐसे अनेकप्रकार के विकल्प करे, तो यह उस जीव का भ्रम-मात्र ही है, सत्य नहीं।

वास्तव में देखा जाये, तो पर में कर्तृत्वपने, एकत्वपने, ममत्वपने आदि के अनगिनत-विकल्प

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य, पश्यन्ति ये मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।

कर्माण्यहंकृति-रसेन चिकीर्षवस्ते, मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति॥ 7॥

का नाम ही 'अहंबुद्धि' है, और इसी अहंबुद्धि से जीव निरन्तर-व्याकुल होता रहता है; क्योंकि जगत् की वस्तु व्यवस्था तो पूर्ण-स्वतंत्र और स्वचालित होने से जीव उसमें किसी भी प्रकार की फेरबदल कर ही नहीं सकता। लेकिन अज्ञानी-जीव फेरबदल करने का प्रयास अवश्य करता है, इसीलिए प्रतिसमय मात्र आकुलित होता है। और इसी आकुलता के फल में अनादि से आज तक चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ न केवल दुःखी होता आ रहा है, बल्कि अपनी अनन्त-आत्मशक्ति की भी उपेक्षा करता आ रहा है।

(सवैया इकतीसा)

उत्तम-पुरुष की दसा ज्यों किसमिस-दाख, बाहिज-अभितर विरागी मृदु-अंग है।

मध्यम-पुरुष नारियर-कीसी भाँति लिये, बाहिज-कठिन होय कोमल-तरंग है॥

अधम-पुरुष बदरीफल-समान जाकैं, बाहर से दीखैं नरमाई दिल-संग है।

अधम सैं अधम-पुरुष पूंगीफल-सम, अंतरंग-बाहिर कठोर सरवंग है॥18॥

शब्दार्थ :— उत्तम-पुरुष की दसा ज्यों किसमिस-दाख= श्रेष्ठ-पुरुष की स्थिति किसमिस/दाख के समान, बाहिज-अभितर विरागी मृदु-अंग है= बाहर और अंदर से बैरागी, कोमल/मधुर-अंग है, मध्यम-पुरुष नारियर-कीसी भाँति= मध्यम-पुरुष नारियल के समान, लिये बाहिज-कठिन होय कोमल-तरंग है= बाहर से कठोरता लिये अंतरंग में कोमल होता है, अधम-पुरुष बदरीफल-समान= जघन्य-पुरुष बेर के समान, जाकैं बाहर से दीखैं नरमाई दिल-संग है= जिसके बाहर से कोमलता दिखती है, दिल पत्थर की तरह कठोर है, अधम सैं अधम-पुरुष पूंगीफल-सम= जघन्य से भी जघन्य-पुरुष सुपारी के समान, अंतरंग-बाहिर कठोर सरवंग है= अंतरंग और बाहर से एकसमान कठोर होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने बहुत ही सुन्दरता से चार-दृष्टान्तों के माध्यम से संसारी-जीव के स्वभाव का वर्णन किया है। अपने इस कथन को स्पष्ट करने के लिए कवि ने जगत् में प्रचलित-वस्तुओं को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।

इस संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, और कर्मोदय भिन्न होने से मोही-जीवों की प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न होती है, उनके आचार-विचार, व्यवहार, प्रवर्तन सभी में भिन्नता होती है। फलस्वरूप कर्म का बंधन भी सभी का भिन्न-भिन्न ही होता है। जब बंध का कारण भिन्न-भिन्न है, तो उदय की अवस्था भी भिन्न-भिन्न ही होती है। कवि ने संसारी-जीवों के उनके परिणामों के आधार पर चार-भेद किये हैं— उत्तम-पुरुष, मध्यम-पुरुष, जघन्य-पुरुष और अतिजघन्य-पुरुष।

सर्वप्रथम उत्तम-पुरुष का स्वभाव किसमिस/द्राक्षा के समान होता है, जैसे किसमिस अंदर और बाहर दोनों ही तरफ से मुलायम होती है, उसीप्रकार उत्तम-पुरुष का स्वभाव अंतरंग और बहिरंग दोनों से अत्यंत-कोमल होता है, इन जीवों के कषाय की मंदता होने से न मन में छल होता है, और न बाहरी आचरण छल-सहित होता है, इसीलिए ऐसे उत्तम-पुरुष 'देव-गति' या 'श्रेष्ठ-मनुष्य-गति' के पात्र हैं।

दूसरे नंबर पर मध्यम-पुरुष आते हैं, जिनका स्वभाव नारियल के समान होता है, अर्थात् जैसे नारियल बाहर से कठोर और अंदर से मुलायम होता है। ठीक उसीप्रकार मध्यम-पुरुष का स्वभाव भी बाहर से भले ही नारियल जैसा कठोर दिखे या कषाय की तीव्रता दिखे, पर अंतरंग से कषाय में मंदता वर्तती है, ऐसे मध्यम-पुरुष 'मनुष्य-गति' के पात्र हैं।

तीसरे नंबर पर जघन्य-पुरुष आते हैं, जिनका स्वभाव बदरीफल या बेर के समान होता है, जैसे

बेर-फल ऊपर से मुलायम परन्तु अंदर कठोर होता है, ठीक उसीप्रकार जघन्य-पुरुष ऊपर से भले ही नरम-स्वभाव का दिखे, लेकिन अंतरंग से उसके परिणाम छल-कपट और मायाचारी-सहित ही होते हैं। ऐसे जघन्य-पुरुष 'तिर्यच-गति' के पात्र हैं।

चौथे नंबर पर वे पुरुष आते हैं जो अति-अधम अर्थात् बिल्कुल ही निकृष्ट हैं। इन जीवों का स्वभाव सुपारी के समान होता है, जैसे सुपारी अंदर से भी कठोर और बाहर से भी कठोर ही होती है, ठीक उसीप्रकार निकृष्ट-जीवों के परिणाम भी अंतरंग और बहिरंग दोनों ओर से समानरूप से कठोर होते हैं। इन जीवों के कषाय की तीव्रता होने से न केवल विचारों में मलिनता, छल-कपट होता है, बल्कि आचरण भी उतना ही निकृष्ट होता है, ऐसे जीव 'नरक-गति' के पात्र हैं।

अंततः जिन जीवों के परिणामों में न राग होता है न द्वेष; बल्कि सहज आत्मस्वभाव रूप परिणामन होता है, वे ही 'पंचमगति' अर्थात् 'मोक्ष' के पात्र होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

कीचसौ-कनक जाकै नीचसौ-नरेस-पद, मीचसी-मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहर-सी जोग-जाति कहर-सी करामाति, हहर-सी हौस पुदगल-छवि छार-सी॥
जाल-सौ जग-विलास भाल-सौ भुवन-वास, काल-सौ कुटुंब-काज लोक-लाज लार-सी।
सीठ-सौ सुजसु जानै बीठ-सौ बखत मानै, ऐसी जाकी रीति, ताहि वंदत बनारसी॥ 19॥

शब्दार्थ :— कीच-सौ कनक जाकै नीच-सौ नरेस-पद= जिसको सोना कीचड़ के समान, राजा का पद नीच के समान अर्थात् अत्यंत-तुच्छ, मीच-सी मिताई गरुवाई जाकै गार-सी= मित्रता मृत्यु के समान, बड़प्पन/प्रसन्नता जिसके गाली के समान, जहर-सी जोग जाति कहर-सी करामाति= दैहिक-योग की क्रियायें जहर के समान, मंत्रादि से होनेवाली क्रियायें वज्रपात के समान, हहर-सी हौस पुदगल-छवि छार-सी= इच्छा या महत्वाकांक्षा अनर्थ के समान पुदगल की/तन की सुंदरता रख के समान, जाल-सौ जग-विलास भाल-सौ भुवन-वास= संसार का वैभव जाल के समान, भवनों का निवास भाले की नोंक के समान, काल-सौ कुटुंब-काज लोक-लाज लार-सी= कुटुंबादि के कार्य काल के समान, लोक-लाज लार के समान, सीठ-सौ सुजसु जानै बीठ-सौ बखत मानै= सुयश को नाक के मैल के समान जानता है, भाग्योदय को बिष्टा के समान मानता है, ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी= ऐसी जिनकी रीति या परम्परा है, उनको बनारसी वंदन करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'उत्तम-पुरुष' की विचारधारा का बहुत ही सुंदर और मार्मिक-वर्णन किया है। उत्तम-पुरुष यानि श्रेष्ठ-पुरुष या कहें सम्यग्दृष्टि-जीव, जो निरन्तर मोक्षमार्ग में अग्रसर है। संसार, शरीर और भोगों के प्रति उनका चिंतन या कहें विरक्ति का भाव कैसा रहता है, उसका मार्मिक-वर्णन कवि ने यहाँ किया है।

जिस सोना-चाँदी हीरे-जवाहरात को मिथ्यादृष्टि-जीव बहुमूल्य मानकर सहेजकर रखता है, उत्तम-पुरुष उसे 'कीचड़' के समान अस्पृश्य मानते हैं। जिस राजसी-पद को श्रेष्ठ-पद मानकर मिथ्यादृष्टि-जीव उसे पाने के लिये हरसंभव-प्रयास करता है, उसे उत्तम-पुरुष सबसे 'निकृष्ट-पद' मानते हैं। जहाँ जगत् के अज्ञानी-जीव मित्र को सहोदर की तरह 'मान' देते हैं, वहीं उत्तम-पुरुष मित्र को 'यमराज' और मित्रता को 'मृत्यु' के समान मानते हैं। जहाँ अज्ञानी-जीव को अपनी प्रशंसा सुनने में अति-आनंद आता है, वहीं उत्तम-पुरुष को ये प्रशंसा के वचन गाली के समान अप्रिय प्रतीत होते हैं।

जोग-जाति यानि दैहिय यौगिक क्रियायें अज्ञानी-जीव को अमृत के समान प्रिय लगती हैं, जबकि

उत्तम-पुरुष को ये क्रियायें 'जहर' के समान लगती हैं। जैसे जहर का आंशिक-सेवन भी मरण का ही कारण है, वैसे ही सांसारिक कार्यों में आंशिक-प्रवृत्ति भी चार-गति में भटकाव का ही कारण है। मंत्र-तंत्रादि के द्वारा जगत् में मिलनेवाली उपलब्धियों को अज्ञानी-जीव अपनी उपलब्धि मानकर खुश होते हैं, वही उत्तम-पुरुष इन उपलब्धियों को वज्रपात के समान आपत्तिजनक जानकर उन्हें दुःख का कारण मानते हैं।

जहाँ अज्ञानी-जीव महत्वाकांक्षी होने में स्वयं को अच्छा और उन इच्छाओं को पूरा करने योग्य मानते हैं, वहीं उत्तम-पुरुष इच्छाओं को अनर्थ-योग्य अर्थात् नहीं करने योग्य कार्य और अपशकुन के समान मानते हैं। जिस तन की सुंदरता पर अज्ञानी-जीव प्रतिसमय रीझता है, उसे पाने के लिये न जाने क्या-क्या प्रयत्न करता है, उस तन की सुंदरता को श्रेष्ठ-पुरुष जले हुये कोयलों की राख के समान त्याग करने योग्य मानते हैं। जिन भौतिक-संसाधनों, भोग-विलास के पीछे दुनिया पागल है, उसे उत्तम-पुरुष 'जी का जंजाल' मानते हैं; क्योंकि जैसे मकड़ी अपना जाला स्वयं ही बनाती है और फिर उसमें फँसकर खुद ही मरण को प्राप्त होती है; ठीक उसीप्रकार इस भोग-विलासिता की सामग्री को जीव स्वयं ही जोड़ता है और फिर उसमें फँसकर स्वयं ही नीच-गति का पात्र बनता है।

सुंदर-भवनों को बनाना और उसमें अति-अनुरागपूर्वक रहना अज्ञानी-जीवों को अतिप्रिय लगता है, वहीं इन भवनों में रहना उत्तम-पुरुष को भाले की नोंक पर रहने के समान कष्टप्रद लगता है। जैसे भाले की नोंक पर स्थिर रहना महा-दुःखदायी है, उसीप्रकार उत्तम-पुरुष के लिये इन 'जड़-भवनों' में रहना महा-दुःखदायी लगता है। जिस परिवार और कुटुंबी-जनों को अज्ञानी-जीव अपना सहारा मानता है, और उसकी साज-संभाल में अपना सारा जीवन बर्बाद करता है, उन्हीं कुटुंबी-जनों को उत्तम-पुरुष 'काल' के समान मानते हैं; क्योंकि इनका मोह ही तो 'भाव-मरण' कराकर संसार में परिभ्रमण कराता है। जिन लोक-लाज, दुनिया के रीति-रिवाजों को ओढ़कर अज्ञानी-जीव फूला नहीं समाता है; उन्हीं उत्तम-पुरुष मुँह से निकली हुई 'लार' के समान त्यागने-योग्य मानते हैं। 'सुयश' यानि यश की प्राप्ति हो ऐसे कार्यों को करने की चाह अज्ञानी-जीव को प्रतिसमय रहती है, जबकि उत्तम-पुरुष उसे नाक से निकले हुये मैल के समान तुरंत फेंकने-योग्य मानते हैं। जिस 'भाग्योदय' की आशा अज्ञानी-जीव को एक क्षण भी विस्मृत नहीं होती, उत्तम-पुरुष उसे विष्टा के समान मानते हैं। जैसे विष्टा को कोई भी व्यक्ति छूने योग्य तो दूर, याद भी नहीं करना चाहता, वैसे ही उत्तम-पुरुष भाग्योदय को ही नहीं, इस संबंधी विकल्प को भी छोड़ना चाहते हैं।

कविवर कहते हैं कि जिन पुरुषों की संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति-पूर्ण ऐसी विचारधारा होती है, उनको मैं बनारसीदास सविनय-वंदन करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

जैसे कोउ सुभट-सुभाइ ठग-मूर खाइ, चेरा भयौ ठगनी के घेरा में रहतु है।

ठगौरी उतरि गई तबै ताहि सुधि भई, परयौ परवस नाना-संकट सहतु है॥

तैसे ही अनादिकौ मिथ्याती-जीव जगत में, डोलै आठों-जाम विसराम न गहतु है।

ग्यानकला भासी, भयौ अंतर उदासी पै, तथापि उदै व्याधिसौ समाधि न लहतु है॥ 20॥

शब्दार्थ :- जैसे कोउ सुभट-सुभाइ ठग-मूर खाइ= जैसे कोई स्वभाव से बलवान योद्धा 'ठगमूर' नामक जड़ी खाकर, चेरा भयौ ठगनी के घेरा में रहतु है= ठगनी का दास होकर उसके चंगुल में रहता है, ठगौरी उतरि गई तबै ताहि सुधि भई= जड़ी का नशा उतर जाता है, तब उसे होश आता है, परयौ परवस नाना संकट सहतु है=

दूसरे के आधीन विभिन्न-प्रकार के कष्ट सहन करता है, तैसे ही अनादिकौ मिथ्याती-जीव जगत मैं= वैसे ही, अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि-जीव संसार में, डोलै आठों जाम विसराम न गहतु है= आठों-पहर परिभ्रमण करता है, चैन नहीं पाता है, ग्यानकला भासी भयौ अंतर-उदासी= सम्यग्ज्ञान-कला भासित होने पर अंतरंग से उदास होता है, पै तथापि उदै व्याधिसौ समाधि न लहतु है= परन्तु फिर भी उदय की प्रबलता से स्थिरता या शांति को प्राप्त नहीं होता।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'मध्यम-पुरुष' की स्थिति का एक उदाहरण के माध्यम से बहुत ही सुंदर-चित्रण किया है।

जैसे कोई योद्धा, जो स्वभाव से बलवान् है, पर यदि वह 'ठगमूर' नामक जड़ी (एक ऐसी जड़ी-बूटी जिसका भक्षण करने पर उसके नशे में व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो देता है) का भक्षण कर ले, तो वह उसके नशे में अपना स्वभाविक-बल भी भूल जाता है, और ठगनी के वशीभूत होकर उसके आधीन प्रवर्तन करने लगता है अर्थात् उसका दास बन जाता है। लेकिन जैसे ही उसकी ठगौरी या नशा उतरता है, उसकी याददाश्त, बल आदि स्मरण तो हो जाता है, परन्तु उसके चंगुल फँसा होने के कारण तुरंत छूट नहीं पाता, और विवश होकर नानाप्रकार के कष्टों को सहन करता रहता है। ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव अनादिकाल से मोहरूपी 'ठगमूर जड़ी' का भक्षण करता आ रहा है, उसके नशे में अपने अनंत-चतुष्टयरूपी अतीव-बल को भूलकर मोह के वशीभूत हो जाता है, और फिर आठों-याम यानि प्रतिक्षण उसके आधीन रहकर उसके अनुसार ही प्रवर्तन करता रहता है।

लेकिन जब मोहरूपी ठगमूर-जड़ी का नशा उतरता है, अर्थात् आत्मानुभूति होती है, तब विरक्ति का भाव तो रहता है; परन्तु संसार शरीर और संयोगों के चंगुल में फँसा होने के कारण तुरंत उनसे छूट नहीं पाता है। इसलिये विविधप्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ परिभ्रमण करता रहता है, चैन नहीं पाता है। यद्यपि उसके हृदय में अब भेदविज्ञान की सम्यक्-कला जागृत है, सो संसार, शरीर और भोगों के प्रति उदासीन तो रहता है, परन्तु पूर्वोपार्जित-कर्माँ की प्रबलता इतनी अधिक होती है कि चित्त स्थिरता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् न चाहते हुए भी उस रूप प्रवर्तन करता रहता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे रंक-पुरुषकैं भायें कानी-कौड़ी धन, उलुवा के भायें जैसे संझा ही विहान है।

कुकरु के भायें ज्यों पिडोर जिरवानी मठा, सूकरु कैं भायें ज्यों पुरीष पकवान हैं॥

बायसके भायें जैसे नीब की निंबोरी दाख, बालक कैं भायें दंतकथा ज्यों पुरान है।

हिंसक के भायें जैसे हिंसा में धरम तैसे, मूरख के भायें सुभबंध निरवान है॥ 21॥

शब्दार्थ :— जैसे रंकपुरुषकैं भायें कानी-कौड़ी धन= जैसे गरीब-व्यक्ति को कानी-कौड़ी भी धन लगता है, उलुवा के भायें जैसे संझा ही विहान है= उल्लू को जैसे शाम भी प्रभात के समान प्रिय है, कुकरु के भायें ज्यों पिडोर जिरवानी मठा= कुत्ते को जैसे वमन/उल्टी भी जीरे से छुँकी-छाछ के समान प्रिय है, सूकरु कैं भायें ज्यों पुरीष पकवान है= सुअर को जैसे विष्टा भी पकवान के समान लगती है, बायसके भायें जैसे नीब की निंबोरी दाख= कौए को नीम की निबोली किशमिश जैसी लगती है, बालककैं भायें दंतकथा ज्यों पुरान है= बालक को कल्पित-कथायें भी पुराण जैसी लगती हैं, हिंसक के भायें जैसे हिंसा में धरम= हिंसा करनेवाले को जैसे हिंसा में धर्म लगता है, तैसे= उसीप्रकार, मूरख के भायें सुभबंध निरवान है= मूरख को शुभबंध/पुण्यकर्म ही निर्वाण/मोक्षरूप लगता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जगत् में प्रचलित-उदाहरणों के माध्यम से 'अधम/जघन्य-पुरुष' के स्वभाव का वर्णन किया है।

'अधम-जीव' अर्थात् वे जीव जो देह में ही अनुरक्त हैं, संसार के दुःखों से पीड़ित हैं और इन दुःखों से छूटना भी चाहते हैं, पर सच्चे-सुख से अनभिज्ञ होने के कारण सुख/मुक्ति का कारण शुभ-भाव अर्थात् पूजा-पाठ, दया-दान व्रतादिक को ही मानते हैं।

जैसे गरीब-पुरुष, जिसके पास धन के नाम पर कुछ भी न हो, तो उसे फूटी-कौड़ी भी धन के समान प्रिय होती है, क्योंकि वास्तविक-धन से तो उसका परिचय ही नहीं है। जैसे उल्लू के लिये शाम का धुंधलका भी सुबह के समान प्रिय होता है, क्योंकि वह दिन के उजाले से तो परिचित ही नहीं है। वह तो रात को ही दिन समझता है; क्योंकि उसे तो रात को ही दिखाई देता है। जैसे कुत्ता वमन/उल्टी को ही छाछ के समान प्रिय मानकर स्वाद लेकर चाँटता है। जैसे सुअर पकवान के वास्तविक-स्वरूप से तो अपरिचित है, उसने पकवान खाना तो दूर कभी देखे ही नहीं, इसीलिए उसके लिये विष्टा ही पकवान के समान प्रिय होती है।

जैसे कौआ किशमिश की मिठास से परिचित नहीं है, सो नीम की निबोली को ही किशमिश के समान समझता है और उसी में आनंदित होता है। जैसे बच्चों ने कभी पुराण तो पढ़े नहीं, बस सुना है कि पुराणों में बहुत सुंदर-कथायें होती हैं, इसलिए गप्पा समान कल्पित किस्से-कहानियाँ भी उनको पुराण के समान ही प्रिय होती हैं अर्थात् वे उन्हें ही पुराण के समान समझते हैं। जैसे हिंसक-व्यक्ति भी धर्म के वास्तविक-स्वरूप से अपरिचित होने के कारण पशुबलि आदिरूप हिंसा करके उसमें ही धर्म मानता है। ठीक उसीप्रकार मूर्ख/अधम या जघन्य-पुरुष मुक्ति के सत्य-स्वरूप को तो जानता नहीं है; क्योंकि जो स्वयं को नहीं जानता, वह स्वानुभव से होनेवाली मुक्ति को कैसे जानेगा? वह तो शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है, सो शरीर से होने वाली शुभ-क्रियायें/पुण्यभावरूप पूजा-पाठ, दया-दान, व्रत-नियम आदि को ही 'धर्म' मानता है और उन्हीं को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानता है।

(सवेया इकतीसा)

कुंजर कौं देखि जैसैं रोस करि भूसै स्वान, रोस करै निर्धन विलोकि धनवंत कौं।

रैन के जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करै, मिथ्यामति रोस करै सुनत सिद्धंतकौं॥

हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै, अभिमानी रोसकरै देखत महंतकौं।

सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै, त्यों ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं॥ 22॥

शब्दार्थ :— कुंजर कौं देखि जैसैं रोसकरि भूसै स्वान= हाथी को देखकर जैसे कुत्ता गुस्से में भौंकता है, रोस करै निर्धन विलोकि धनवंत कौं= जैसे निर्धन-व्यक्ति धनवान को देखकर ईर्ष्या करता है, रैन के जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करै= जैसे रात में जागनेवालों को देखकर चोर गुस्सा करता है, मिथ्यामति रोस करै सुनत सिद्धंतकौं= (वैसे ही) मिथ्यादृष्टि-जीव सिद्धांत/आत्महित के उपदेश को सुनकर चिढ़ता है, हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै= हंस को देखकर जैसे कौआ मन ही मन ईर्ष्या करता है, अभिमानी रोसकरै देखत महंतकौं= जैसे घमंडी-व्यक्ति महापुरुष को देखकर चिढ़ता है, सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै= जैसे बुद्धिमान्-कवि को देखकर दुर्बुद्धि-कवि मन में क्रोध करता है, त्यों ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं= उसीप्रकार दुर्जन-व्यक्ति संत या सत्पुरुष को देखकर गुस्सा करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'अधमाधम' यानि अतिजघन्य-जीवों के स्वभाव का वर्णन किया है।

अधमाधम-पुरुष का व्यवहार ऐसा होता है, जैसे हाथी को देखकर कुत्ता गुस्से से भौंकता है, धनवान-व्यक्ति को देखकर धनहीन निर्बल-व्यक्ति दुःखी होता है, जैसे रात में जागनेवाले-पुरुषों को देखकर चोर को गुस्सा आता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि-जीव पहले तो शास्त्र सुनना ही नहीं चाहता, लेकिन यदि कभी किसी कारणवश सुनने को मिल जाये तो उसे क्रोध आता है, सुनानेवाले से बहस करता है, झगड़ा करता है, परन्तु तत्त्व की बात सुनने को तैयार नहीं होता, क्योंकि 'विनाशकाले विपरीत-बुद्धि' अर्थात् जिसकी होनहार ही खोटी है, उसे आत्मा की बात रुचिकर कैसे लग सकती है?

तभी तो कहा गया है—

मिथ्यादृष्टि-जीव को, आत्महित न सुहाय।

कै ऊँघै कै लड़ मरै, कै उठि घर कों जाय॥

जैसे हंस के उजले-रंग व लोक में उसके सम्मान को देखकर कौआ मन ही मन बहुत दुःखी होता है। जैसे महापुरुषों को देखकर अभिमानी को गुस्सा आता है, क्योंकि उसके सामने उसका सारा दिखावा फीका पड़ जाता है। जैसे किसी सभा में बुद्धिमान्-कवि बैठा हो, तो उसको देखकर कुकवि/ बुद्धिहीन-कवि अपनी हैसियत को जानकर दुःखी होता है। ठीक उसीप्रकार संत या गुणीजनों को देखकर दुर्जन-व्यक्ति गुस्सा करता है, क्योंकि उसे उनकी बात रुचिकर नहीं लगती है। कहने का अभिप्राय यही है कि मूढमति अधमाधम-जीव को न केवल आत्महित, बल्कि कोई शिक्षाप्रद-बात भी अच्छी नहीं लगती। वे इस अमूल्य मनुष्य-भवं को रत्नों से काग उड़ाने की तरह बर्बाद करते हैं, अर्थात् रत्नसमान बहुमूल्य इस मनुष्य-पर्याय को पाप, कषाय, व्यसन आदि में व्यर्थ गँवाते हैं, ऐसे जीव न केवल निन्द्य-गति के पात्र होते हैं, वरन् उन्हें ये मनुष्य-पर्याय, उत्तमकुल पुनः मिलना अतिदुर्लभ होता है।

(सवैया इकतीसा)

सरलकौ सठ कहैं वकताकौ धीठ कहैं, विनै करै तासों कहै धनकौ अधीन है।

छमी कौ निबल कहै दमी कौ अदत्ति कहै, मधुर-वचन बोले तासों कहै दीन है॥

धरमीकौ दंभी निसप्रेहीकौ गुमानी कहै, तिसना घटावै तासों कहै भागहीन है।

जहाँ साधुगुन देखै तिन्हकौ लगावै दोष, ऐसौ कछु दुर्जन कौ हिरदौ मलीन है॥ 23॥

शब्दार्थ :— सरलकौ सठ कहैं= सरल व्यक्ति को 'मूर्ख' कहता है, वकता कौ धीठ कहैं= वक्ता/बोलनेवाले को 'बेशर्म' कहता है, विनै करै तासों कहै= (जो) विनय करता है उससे कहता है, धनकौ अधीन है= धन का गुलाम है, छमी कौ निबल कहै= क्षमावान् को कमजोर कहता है, दमी कौ अदत्ति कहै= संयमी को कंजूस कहता है, मधुर-वचन बोले तासों कहै दीन है= जो मधुर-वचन बोलता है, उसे दीन/दरिद्री कहता है, धरमी कौ दंभी= धर्मात्मा को अभिमानी, निसप्रेहीकौ गुमानी कहै= निःस्पृही/लोभरहित को घमंडी कहता है, तिसना घटावै तासों कहै भागहीन है= जो आसक्ति घटाये, उसको भाग्यहीन कहता है, जहाँ साधुगुन देखै, तिन्हकौ लगावै दोष= जहाँ साधुओं को देखता है उन्हें दोष लगाता है, ऐसौ कछु दुर्जन कौ हिरदौ मलीन है= इसप्रकार कुछ दुर्जन-व्यक्तियों का हृदय मलिन रहता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पुनः अधमाधम-जीवों की मनोदशा का सटीक-वर्णन किया है। ऐसे जीव न केवल सत्य से दूर रहते हैं; बल्कि सत्य को लांछित भी करते हैं, दुष्टता की पराकाष्ठा का परिचय देते हैं।

आगम में छल-कपट से रहित, स्वभाव की सरलता को 'धर्म' कहा गया है; जबकि जो जीव

सरल-स्वभावी होते हैं, उन्हें 'अधमाधम-जीव' 'शठ' या 'मूर्ख' कहता है। वक्ता अर्थात् सत्य बोलनेवाले को 'धीठ' या वाचाल/बेशर्म कहता है। 'विनयवान्' को 'स्वार्थी' कहता है, अर्थात् इस व्यक्ति को धन का लालच होगा, इसलिए ये पूज्य या महापुरुषों की विनय कर रहा है। 'क्षमा-स्वभावी' को आगम जहाँ धर्म कहता है, वहीं 'अधमाधम-पुरुष' उसे 'निर्बल' या कमजोर कहता है। 'दमी' यानि इन्द्रियों का दमन/वश में करनेवाले 'त्यागी-संयमी-पुरुष' को 'कंजूस' कहता है, अर्थात् 'इसके घर में खाने को नहीं होगा, या ये खाने पर खर्च नहीं करना चाहता इसलिए इसने त्याग किया है'— ऐसा आरोप लगाता है। मीठे-वचन बोलना या 'हित-मित-प्रिय' वचन बोलने को आगम में 'धर्म' कहा गया है, वहाँ 'अधमाधम-पुरुष' ऐसे वचन बोलने वाले को 'गरीब' या 'चापलूसी करनेवाला' कहता है।

पूजा-पाठ, दया-दान आदि शुभभाव करनेवाले 'धर्मात्मा-जीवों' को 'दुर्भिमानी', 'भेषधारी' कहता है। 'निःस्पृही-वृत्ति', इच्छारहित 'सादा-जीवन उच्च-विचार' रखनेवाले जीवों को 'घमंडी' कहता है। 'तृष्णा को घटानेवाले', परिग्रह को मर्यादित करनेवाले जीवों को 'भाग्यहीन' या 'पुण्यहीन' कहता है, "धन-वैभव आदि तो इसके भाग्य में ही नहीं है"— ऐसा कहता है। जहाँ दिगम्बर, गुणी और सच्चे-साधु देखता है, वहाँ उनसे गुण-ग्रहण करने के बजाय उनमें दोष लगाता है; उनकी 'निर्दोष-चर्या' को दोष लगाकर कलंकित करता है— इसप्रकार से दुर्जन का हृदय प्रतिसमय मलिन ही रहता है, कहने का तात्पर्य है कि जगत् में जितनी अच्छे संयोग और वस्तुयें हैं, उनको कलंकित करना ही 'अधमाधम-जीवों' का स्वभाव और प्रवृत्ति होती है।

(चौपाई)

मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौ कहौ जो ऐसी।

ए विपरीतभाव है जामैं, सो बरतै मिथ्यात-दसामैं॥ 24॥

शब्दार्थ :— मैं करता मैं कीन्ही कैसी= मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है, अब यौं करौ कहौ जो ऐसी= अब ऐसे करो, ऐसा जो कहता है, ए विपरीतभाव है जामैं= ये उल्टी-मान्यता/भाव जिसमें हैं, सो बरतै मिथ्यात-दसामैं= वह जीव मिथ्यात्व की दशा में विद्यमान है।

विशेषार्थ :— इस छंदों में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव की मनःस्थिति का वर्णन किया है।

इस संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, उनमें से अधिकांश जीव ऐसा कहते हैं कि 'मैं जगत् के कार्यों का कर्ता हूँ। यदि मैं न करूँ, तो ये कार्य होंगे ही नहीं, मेरे बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता'— इत्यादि अनेकप्रकार के विकल्प करते हैं, अर्थात् पर में कर्तृत्वबुद्धि का और अहंबुद्धि का भरपूर जोर चलाते हैं, और बहुत खुश होते हैं। 'यह मैंने ऐसा कर दिया, अब क्या होगा' अर्थात् यदि अपने मन के मुताबिक कार्य न हो, तो 'ये मैंने क्या कर दिया?' कहकर बहुत पछताते हैं, दुःखी होते हैं। और उस कार्य को अपने अनुकूल करने के लिये हरसंभव और असंभव-प्रयास करते हैं और आकुलित होते हैं।

"तुम ऐसा करो, तुम वैसा करो, तुम वही करो, जैसा मैंने कहा है"— अर्थात् हर व्यक्ति और पदार्थ को अपने हिसाब से परिणामाना चाहते हैं, और जो उसके अनुरूप-परिणामन करते हैं, उनसे राग, और जो प्रतिकूल-परिणामन करते हैं, उनसे द्वेष करते हैं, और आकुलित होते हैं।

कविवर कहते हैं कि ये सब भाव विपरीतभाव हैं, क्योंकि 'तू तो चेतन-आत्मा है और तेरा कार्य तो जानना-देखना है; ये सारा परिणामन तो जड़ का है और जड़ में ही हो रहा है; तू तो इस परिणामन का मात्र

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्। य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ 8॥

ज्ञाता-दृष्टा है'— ऐसा मानना सम्यक्-श्रद्धान है, लेकिन 'तू तो उसे जड़ का नहीं, बल्कि अपना परिणामन मानकर सुखी-दुःखी होता है'— यही उल्टी-मान्यता तो मिथ्यात्व है। अतत्त्व-श्रद्धान या विपरीत-श्रद्धान को ही 'मिथ्यात्व' या 'मिथ्यादर्शन' कहते हैं।

(दोहा)

अहंबुद्धि मिथ्यातदसा, धरै सो मिथ्यावंत।

विकल भयौ संसार में, करै विलाप अनंत॥ 25॥

शब्दार्थ :— अहंबुद्धि मिथ्यातदसा= परपदार्थों में अहंबुद्धिरूप मिथ्यात्व-दशा, धरै सो मिथ्यावंत= जो धारण करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, विकल भयौ संसार में= (वह) संसार में व्याकुल होता है, करै विलाप अनंत= और अत्यधिक-दुःखी होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में मिथ्यात्व का फलवर्णित करते हुए कविवर कहते हैं परपदार्थों में अहंबुद्धि अर्थात् अहंकार, ममकार, कर्तृत्वपना, भोक्तृत्वपने का जो भाव है वही मिथ्यात्व है। और जो इसे धारण करता है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। ऐसा जीव-संसार में अनंत प्रकार से रुदन करता हुआ व्याकुल होता है और चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ दुःखी होता है।

(सवेया इकतीसा)

रवि के उदोत-अस्त होत दिन-दिन प्रति, अंजुलिकै पीवन ज्यों जीवन घटतु है।

कालकै ग्रसत छिन-छिन होत छीन-तन, आरे के चलत मानौ काठ-सौ कटतु है॥

एते पर मूरख न खोजै परमारथ कौ, स्वारथकै हेतु भ्रम-भारत ठटतु है।

लगौ फिरै लोगनिसौं, पग्यौ परै जोगनिसौं, विषैरस-भोगनिसौं नेकु न हटतु है॥ 26॥

शब्दार्थ :— रवि के उदोत-अस्त होत दिन-दिन प्रति= सूर्य के उदित होने और छिपने से प्रतिदिन, अंजुलिकै पीवन ज्यों जीवन घटतु है= अंजुलि के पानी के जैसे जीवन घटता है, कालकै ग्रसत छिन-छिन होत छीन तन= मृत्यु के सन्मुख होने पर क्षण-क्षण शरीर क्षीण होता है, आरे के चलत मानौ काठ-सौ कटतु है= आरे/आरी के चलने से मानों लकड़ी की तरह कटता है, एते पर मूरख न खोजै परमारथ कौ= इतने पर भी मिथ्यादृष्टि परमार्थ/मोक्षमार्ग को नहीं खोजता, स्वारथकै हेतु भ्रम-भारत ठटतु है= स्वार्थ के कारण भ्रमरूपी-भार को उठाता है, लगौ फिरै लोगनिसौं, पग्यौ परै जोगनिसौं= लोगों से प्रीति करता है, मन-वचन-काय तीनों-योगों में लीन है, विषैरस-भोगनिसौं नेकु न हटतु है= पंचेन्द्रिय के विषयों-भोगों के रस से जरा भी विरक्त नहीं होता।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कविवर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ये बहुमूल्य मनुष्य-आयु पल-पल बीती जा रही है; फिर भी ये जीव नहीं चेतता है, सब कुछ जानते हुए भी पंचेन्द्रिय के विषयों में तल्लीन है, जरा भी विचार नहीं करता है।

जैसे प्रतिदिन सूर्य का उदित होना, फिर देखते-देखते अस्त हो जाना; कब दिन पूरा हो जाता है पता ही नहीं चलता। इसीप्रकार दिन, महीने और साल, इस बीच कब आयु पूरी हो जाती है? हम सोच भी नहीं पाते। भाई! ये आयु के क्षण अंजुलि में जल की तरह है, जैसे कितना भी हाथों को भींचकर अंजुलि बनाई जाये, फिर भी पानी बूँद-बूँद करके कब निकल जाता है? पता ही नहीं चलता, अर्थात् जैसे हम अंजुलि के जल को नहीं रोक सकते, वैसे ही आयु के क्षणों को भी हम एकसमय के लिये भी रोक नहीं सकते।

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः। तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ 9॥

हम अज्ञानी-प्राणी मोहवश इस शरीर की कितनी फिक्र करते हैं, इसको स्वस्थ और सुंदर बने रहने के लिए क्या-क्या यत्न करते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों जरा/बुढ़ापा के नजदीक आते हैं, त्यों-त्यों ये नश्वर-काया स्वयं ही क्षीण होने लगती है। और ये सब हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं, आश्चर्य है हम फिर भी नहीं चेतते। जैसे आरा-मशीन के चलने पर उसके सामने कितनी भी मोटी लकड़ी क्यों न हो? कट ही जाती है; उसीप्रकार आयु भले ही अधिक मिले, पर यदि समय पर न चेते, तो कब बीत जायेगी पता नहीं चलेगा।

कविवर कहते हैं कि इतने पर भी ये मूढ़, अज्ञानी-जीव परमार्थ यानि मोक्षमार्ग को नहीं खोजता है। मोक्षमार्ग तो दूर, आत्महित की बात सुनने के लिये भी इसके पास समय नहीं है। प्रतिसमय स्वार्थ के सगे-संबंधी और कुटुम्बीजनों के क्षणिक-सुख के लिए भ्रमरूपी-भार (यानि मैं इनको सुखी कर सकता हूँ) को ढोता रहता है। पर-संयोगों और पर-वस्तुओं से कभी राग तो कभी द्वेष करता है। मन, वचन और कायरूप तीनों योगों की प्रवृत्ति में तल्लीन है, कष्ट पाकर भी उसमें आनंदित होता है। सुख की चाहत में क्षणभर के लिये भी पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों को नहीं छोड़ता है अर्थात् कभी तो स्वयं विषयों को पकड़ता है और कभी विषयों का आकर्षण इसे अपनी ओर खींचता है, और इसी खींचातानी में कब आयु पूरी हो जाती है? पता नहीं चलता। इन्हीं भावों को व्यक्त करती हुई एक भजन की कुछ पंक्तियाँ—

“चेतो चेतन निज में आओ, अंतरात्मा बुला रही है।

मोह-राग अरु द्वेष को छोड़ो, निज-स्वभाव से नाता जोड़ो॥

‘ब्रह्मानंद’ जल्दी तुम चेतो, मृत्यु पंखा डुला रही है।

चेतो चेतन निज में आओ, अंतरात्मा बुला रही है॥”

(सवैया इकतीसा)

जैसे मृग-मत्त वृषभादित्य की तपन-माँहि, तृषावंत मृषाजल-कारन अटतु है।

तैसेँ भववासी मायाहीसौँ हित मानि-मानि, ठानि-ठानि भ्रम श्रम-नाटक नटतु है॥

आगेकौँ धुकत धाड़, पीछे बकरा चवाड़, जैसेँ नैनहीन-नर जेवरी बटतु है।

तैसेँ मूढ़-चेतन सुकृत-करतूति करै, रोवत-हसत फल-खोवतु खटतु है॥ 27॥

शब्दार्थ :— जैसे मृग-मत्त वृषभादित्य की तपन माँहि= जैसे हिरन उन्मत्त होकर दोपहरी के प्रचंड सूर्य की ताप में, तृषावंत मृषाजल कारन अटतु है= प्यास से आकुलित मिथ्या/झूठे जल के कारण भटकता है, तैसेँ भववासी मायाहीसौँ हित मानि मानि= उसीप्रकार संसार में रहने/रमनेवाला छल-कपटरूप माया से ही बारम्बार भला मानकर, ठानि-ठानि भ्रम श्रम-नाटक नटतु है= जगह-जगह भ्रमजनित-पुरुषार्थ करने का दिखावा करता है, आगे कौँ धुकत धाड़ पीछे बकरा चवाड़= आगे-आगे बनाता जाता है, पीछे बकरा चबाता जाता है, जैसेँ नैनहीन-नर जेवरी बटतु है= जैसे अंधा व्यक्ति रस्सी बटता/भाँजता जाता है, तैसेँ मूढ़-चेतन सुकृत करतूति करै= उसीप्रकार अज्ञानी-जीव स्थूल-पुण्यरूप कार्य करता है, रोवत-हसत फल-खोवतु खटतु है= रोने और हँसनेरूप फल को भोगता हुआ (नरभव को) खोता रहता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने अज्ञानी-जीव की मूढ़ता को एक सटीक-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है।

दोपहर के समय जब सूरज आसमान पर चढ़ता है, तब उसकी चमक से रेत दूर से देखने पर पानी की तरह चमकती है। ये तो सहज वस्तु-स्थिति है, लेकिन बहुत तेज-प्यास से आकुलित-हिरण उसे सच

में पानी समझकर उसके पीछे दौड़ लगाता है; लेकिन जब वह उसके नजदीक पहुँचता है, तब वही चमक आगे दिखने लगती है, फिर आगे की ओर दौड़ता है, लेकिन पानी नहीं मिलता और तड़प-तड़पकर जान दे देता है। ठीक वही स्थिति संसार में रमनेवाले इस मूढ़-चेतन की है, जो सुख की खोज में पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के प्रति इतना आसक्त है कि दिन-रात प्यासे हिरण की तरह दौड़ लगाता है, सुख न मिलने पर विषयों को बदलता रहता है और इसी दौड़-धूप में न तो अपनी खबर लेता है, और न पंच-परमेष्ठी की विनय करता है; इस बीच कब आयु पूरी हो जाती है, इसे पता नहीं चलता।

संसारी जीव देह और देह से जुड़े संयोगों में और छल-कपटरूप मायाचारी से ही अपना हित मानता है, सो पूरे जीवन इन्हीं की सेवा में लगा रहता है। जैसे रंगमंच पर नाटक के पात्र वेष बदल-बदलकर अपने अभिनय से जनता को आकर्षित करते हैं, ठीक उसीप्रकार ये जीव संसाररूपी रंगमंच पर चार-गति चौरासी-लाख योनियों में प्राप्त-पर्याय को ही अपना रूप मानकर वैसे ही क्रियाकलाप करता हुआ परिभ्रमण पूरा करता है।

अज्ञानी-जीव का सारा परिश्रम किसप्रकार व्यर्थ होता है?— इसका वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जैसे कोई नेत्रहीन-पुरुष रस्सी को बँटता है या भाँजता है, तो दिखाई न देने से जैसे-जैसे वह आगे की ओर बटता जाता है पीछे बकरा चबाता जाता है, इसप्रकार उसका सारा परिश्रम बेकार चला जाता है, और रस्सी नहीं बन पाती है, ठीक उसीप्रकार अज्ञानी-जीव ज्ञानरूपी नेत्रों से स्वयं को न देखते हुये जितने भी सुकृत अथवा शुभभाव करता है, वे सब व्यर्थ होते हैं। इसप्रकार उसका सारा जीवन व्यर्थ परिश्रम, हर्ष और विषादरूपी फलों को भोगने में ही बीत जाता है।

(सवैया इकतीसा)

लियैं द्रिढ़-पेंच फिरै लोटन-कबूतरसौ, उलटौ अनादिकौ न कहूँ सुलटतु है।

जाकौ फल दुःख ताहि सातासौ कहत सुख, सहत-लपेटी असिधारा-सी चटतु है॥

ऐसे मूढ़जन निज-संपदा न लखै क्योंही, यौहिं मेरी-मेरी निसि-वासर रटतु है।

याही ममतासौ परमारथ विनसि जाइ, कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यौं फटतु है॥ 28॥

शब्दार्थ :— लियैं द्रिढ़-पेंच फिरै लोटन-कबूतरसौ= लोटन-कबूतर की तरह मजबूत पेंच लिये फिरता है, उलटौ अनादिकौ न कहूँ सुलटतु है= अनादि से उल्टा ही है, कभी सुलटता ही नहीं है, जाकौ फल दुःख ताहि सातासौ कहत सुख= जिसका फल दुःख है, उस साता को सुखरूप मानता है, सहत-लपेटी असिधारासी चटतु है= मानो वह शहद में लिपटी हुई तलवार की धार को चाटता है, ऐसे मूढ़जन निज-संपदा न लखै क्योंही= ऐसे मूर्ख-व्यक्ति अपनी संपत्ति को कभी नहीं देखते, यौहिं मेरी-मेरी निसिवासर रटतु है= दिन-रात 'ये मेरी-ये मेरी' रटता है, याही ममतासौ परमारथ विनसि जाइ= इसी ममत्व से मोक्षमार्ग नष्ट हो जाता है, कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यौं फटतु है= जैसे काँजी के खट्टेपन का स्पर्श पाकर दूध फट जाता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने अज्ञानी-जीव सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का संयोग पाकर भी आज तक क्यों नहीं सुलटा?— इस तथ्य को सटीक-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है।

पतंगबाजी में पतंग उड़ाने के लिये जिस धागे का प्रयोग किया जाता है, उसे 'पेंच' या 'मंजा' कहते हैं। पतंग उड़ते वक्त यदि उस मंजे में कबूतर फँस जाये, तो वह जितना उससे निकलने की कोशिश करता है, उतना ही उसमें उलझता जाता है; पर उसके बंधन से मुक्त नहीं हो पाता और मरण को प्राप्त हो जाता है। ठीक उसीप्रकार अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि जीव कर्म-बंधन के मजबूत-पेंच में उलझा हुआ है;

सम्यक्-मार्ग का अनुसरण न करने से जितना उस कर्म-बंधन के पेंच से निकलने की कोशिश करता है, उतना ही अधिक उलझता जाता है, और कब मरण को प्राप्त हो जाता है? पता नहीं चलता।

जिन पंचेन्द्रिय के विषयों के सेवन का फल दुःख है, उनसे क्षणभर के लिये मिलनेवाली साता को सच्चा-सुख मानता है। जबकि वह सुख तो है ही नहीं, और साता भी ऐसी है, जैसे कोई शहद से लिपटी हुई तलवार को चाटता है, अर्थात् जैसे शहद लिपटी हुई तलवार को कोई मुँह से चाटे, तो पहले तो शहद का स्वाद आने से उसे मिठास का वेदन होता है; परन्तु वह पूरी तरह से उस मिठास का स्वाद ले, उससे पहले ही जीभ के दो टुकड़े हो जाते हैं, और घोर कष्ट होता है। ठीक उसीप्रकार जिन पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति जीव आकृष्ट होता है, उनका भोग करके आनंदित होना चाहता है; परन्तु पूरा आनंद लेने से पहले ही दुःख का वेदन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि किसी भी विषय के सेवन से यदि सच में सुख मिल रहा है, तो लगातार उसी विषय को सेवन करते रहना चाहिए; परन्तु सेवन करने के बाद अल्प-समय में ही वह विषय अरुचिकर लगने लगता है, फिर हम नये विषय का सेवन करते हैं, फिर वही अरुचि होती है। और अंत में इस विषय सेवन का फल नरक-निगोदादि के रूप में प्राप्त होने से तलवार से जीभ कटने जैसा महादुःखदायी है।

इसप्रकार मूढ़/अज्ञानी-जीव अपने अनंत आत्मिक-गुणों की अक्षुण्ण-संपत्ति को तो देखता नहीं, और पर-पदार्थों और संयोगों के लिए रात-दिन मेरी-मेरी की रट लगाये रहता है। इस ममत्वपने से मोक्षमार्ग ठीक उसीप्रकार विनष्ट हो जाता है, जैसे कांजी के स्पर्श से दूध फट जाता है, अर्थात् जिसप्रकार कांजी की खटास की एक बूँद के स्पर्श से दूध तुरंत फट जाता है, ठीक उसीप्रकार पर-पदार्थों के प्रति रंचमात्र ममत्व भी मोक्षमार्ग को नष्ट कर देता है, अर्थात् मोह का किंचित्-परिणाम भी जीव के लिये मुक्ति में बाधक है।

(सवैया इकतीसा)

रूप की न झाँक हीयँ करमकौ डांक पियै, ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घन में।

लोचन की ढांकसौ न मानै सदगुरु हांक, डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूँ पन मैं॥

टांक एक मांस की डली-सी तामैं तीन फाँक, तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहूँ तन में,

तासौँ कहै नांक ताके राखिवैकौ करै कांक, लांकसौँ खडग बांधि बांक धरै मनमैं॥ 29॥

शब्दार्थ :— रूप की न झाँक हीयँ करमकौ डांक पियै= रूप की तो खबर नहीं है, कर्म का ढक्कन लगा है, ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घन में= ज्ञान दब/छिप रहा है, जैसे चंद्रमा बादलों में, लोचन की ढांकसौ न मानै सदगुरु-हांक= ज्ञान-नेत्र ढँके होने से सदगुरु की सीख भी नहीं मानता, डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूँ पन में= अज्ञानी-जीव तीनों-काल दरिद्र की तरह निःशंक होकर डोलता रहता है, एक टांक मांस की डली-सी तामैं तीन फाँक= एक छटाँकभर की माँस की डली उसके तीन खंड हैं, तीन-कौसौ आंक लिखि राख्यौ काहूँ तन में= जैसे किसी ने तीन का अंक लिख दिया हो, तासौँ कहै नांक= उसे ये नाक कहता है, ताके राखिवैकौ करै कांक= उसे रखने के लिए झगड़ा करता है, लांकसौँ खडग बांधि बांक धरै मनमैं= कमर से तलवार बाँधकर मन में वक्रता धारण करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने अज्ञानी-जीव की अहंकारपूर्ण-मनोवृत्ति का उदाहरण के माध्यम से मार्मिक-वर्णन किया है।

अनादिकाल से जीव के ऊपर कर्म का ढक्कन लगा हुआ है अर्थात् जीव और कर्म का अनादि से संयोग है, जैसे किसी पतीले में कोई वस्तु रखकर उसे ढक्कन से ढँक दें, तो हमें उसके अंदर रखी हुई

वस्तु दिखाई नहीं देती है; ठीक उसीप्रकार अनादि से जीव के ऊपर आठ-कर्मों का ढक्कन लगा होने से इसे अपना वास्तविक-रूप दिखाई नहीं देता, अर्थात् अनंत-गुणों का स्वामी होने पर भी उनका वेदन इसे नहीं होता।

जैसे बादलों के आ जाने से चंद्रमा छिप जाता है अर्थात् दिखाई नहीं देता, ठीक उसीप्रकार अनंतज्ञानरूपी-चंद्रमा ज्ञानावरणी-कर्मरूपी बादलों के बीच छिपा होने से प्रकटरूप में प्रवर्तन नहीं करता। यही कारण है कि ज्ञान-दर्शनरूपी नेत्र बंद होने से सदगुरु की सीख भी नहीं मानता अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिलने पर भी, तनिक भी विचार नहीं करता, आचरण में नहीं लाता। और रंक की तरह निःशंक होकर डोलता रहता है अर्थात् जैसे गरीब-व्यक्ति के पास पूँजी के नाम पर फूटी-कौड़ी भी नहीं होती, सो उसे कुछ खोने का डर भी नहीं होता; इसलिए निःशंक होकर डोलता रहता है, ठीक उसीप्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव को भी किसी दुर्दशा का भय न होने से निःशंक होकर कर्मोदय-जनित सामग्री को भोगने में मगन रहता है।

कविवर आगे कहते हैं कि इस देह में छटाँकभर की (बहुत छोटी-सी) एक माँस की डली लगी है, जिसके तीन भाग हैं। देखने में ऐसा लगता है कि जैसे किसी ने तीन का अंक ही लिख रखा हो, जिसे हम 'नाक' (घ्राणेन्द्रिय) कहते हैं। यहाँ कवि ने इस 'नाक' को 'मान-सम्मान' के रूप में प्रयुक्त किया है। अक्सर हम अपनी झूठी-शान रखने के लिये अन्याय-अनीति और अनाचाररूप वे सब कार्य भी करते हैं, जो हमें नहीं करना चाहिए। जिसके लिये हम अक्सर कहते हैं, 'क्या करें नाक का सवाल है।' यहाँ तक कि हम अपनी 'नाक या इज्जत' बचाने के लिये झगड़ा करते हैं अर्थात् सच-झूठ की परवाह किये बिना शब्द-अपशब्द कुछ भी बोलते हैं, कमर से तलवार बाँधते हैं अर्थात् अकड़ते भी हैं और लड़ने-मरने को भी तैयार रहते हैं। मन में वक्रता रखते हैं अर्थात् मन-वचन और काया तीनों का विपरीत-परिणामन इतनी सहजता से चलता है कि सत्य की ओर तो दृष्टि भी नहीं जाती। और ये सब विपरीतता किसके लिए? — इस नाक के लिये, जो इस जड़-देह का अंग है, और देखा जाये, तो उसका प्रवर्तन भी जड़ में ही है, और मैं व्यर्थ में ही मेरी इज्जत, मेरा मान, मेरा अपमान, मानकर पाप की गठरी तैयार कर रहा हूँ।

(सवैया इकतीसा)

जैसे कोउ कूकर-छुदित सूके-हाड़ चाबै, हाड़नि की कोर चहुँओर चुभै मुखमैं।

गाल-तालु-रसना-मसूढ़नि कौ मांस फाटै, चाटै निज-रुधिर मगन स्वाद-मुखमैं॥

तैंसें मूढ़ विषयी-पुरुष रति-रीति ठानै, तामैं चित्त-सानै हित मानै खेद-दुखमैं।

देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत खानि, गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं॥ 30॥

शब्दार्थ :- जैसे कोउ कूकर-छुदित सूके-हाड़ चाबै= जैसे कोई भूखा-कुत्ता सूखी-हड्डियों को चबाता है, हाड़नि की कोर चहुँओर चुभै मुखमैं= हड्डियों की नोकें (नुकीले भाग) चारों ओर मुँह में चुभती हैं, गाल-तालु रसना-मसूढ़नि कौ मांस फाटै= गाल, तालू, जीभ, मसूड़ों का माँस फट जाता है, चाटै निज-रुधिर मगन स्वाद मुखमैं= मुख में निकलते हुए अपने ही खून को स्वादमग्न होकर चाटता है, तैंसें मूढ़ विषयी-पुरुष रति-रीति ठानै= वैसे ही विषयों में अनुरक्त-पुरुष भोगों में आसक्त होता है, तामैं चित्त-सानै हित मानै खेद-दुखमैं= उसी में मन/उपयोग को लगाता है, उसी खेद और दुःख में हित मानता है, देखै परतच्छ बल-हानि= ताकत को क्षीण होते हुए प्रत्यक्ष देखता है, मल-मूत खानि= मल-मूत्र की खान है, गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं= ऐसा जानते हुये भी इसे घृणा भी नहीं आती और रागभाव में मगन रहता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने हम अज्ञानी-जीवों की वास्तविक-स्थिति का बहुत ही मार्मिक-वर्णन किया है। सब कुछ जानते, सुनते, सुनाते हुए भी हमारी विषयासक्ति एक पल के लिये भी छूटना तो दूर कम भी नहीं होती। क्या सच में हमारी स्थिति उस कुत्ते के समान नहीं है?

कुत्ता एक मांसाहारी-पशु है, इसलिये रुधिर-मांस आदि उसका सहज भोजन है। अतः जैसे भूख से आकुलित किसी कुत्ते को कोई सूखी-हड्डी मिल जाये, तो वह उसको चबाने लगता है; लेकिन हड्डी के किनारे सख्त व नुकीले होने से उसका पूरा मुँह, तालू, जीभ आदि सब छिल जाते हैं, उनसे खून बहने लगता है, उसी खून का स्वाद जब कुत्ते को आता है, तो वह समझता है कि ये खून का स्वाद उस हड्डी के टुकड़े में से आ रहा है, सो वह बहुत आनंदित होता है। उसके स्वाद में इतना मगन हो जाता है कि उसे पता ही नहीं चलता कि ये खून का स्वाद हड्डी में से नहीं, स्वयं उसके मुख से निकलनेवाले खून से आ रहा है।

ठीक वही स्थिति हम अज्ञानी-जीवों की है, जो ऐसा मानते हैं कि सुख का स्वाद इन पंचेन्द्रिय के विषयों में से आ रहा है, सो उनको भोगने में इतने मगन हो जाते हैं कि हम ये भी भूल जाते हैं कि सुख तो मेरा स्वभाव है, इन जड़-विषयों का नहीं, तो इनमें से सुख आयेगा कैसे? कैसी बिडम्बना है कि भोग के काल में भी जीव अपने ज्ञान का ही वेदन करता है, पर मानता यही है कि ये स्वाद इन विषयों में से आ रहा है, इसलिये उनके भोगने में ही सारा पुरुषार्थ, बुद्धि, समय और ये अमूल्य मनुष्य-भव व्यर्थ गँवा देता है।

आगे की पंक्ति में कवि ने पंचेन्द्रिय के विषयों और स्त्री और पुरुष के रति-संबंधों की विवेचना की है। मोहासक्त-जीव निरन्तर इन विषयों के सेवन में ही अपने उपयोग को लगाता है, इन विषयों को जुटाने में भले ही कितना भी कष्ट क्यों न हो, पर फिर भी उसमें अपना हित ही मानता है। वासनापरक-कामासक्ति में इसे प्रत्यक्ष अपने बल की हानि होते हुये भी दिखाई देती है, परन्तु फिर भी उसमें आनंदित होता है। देहासक्ति की ये प्रवृत्ति साक्षात् मल-मूत्र की खान अर्थात् अत्यंत घिनावनी-प्रवृत्ति होने पर भी इसे घृणा नहीं आती, बल्कि आनंदित होता है, बुद्धिपूर्वक इन भोगों व देह के प्रति रागरूप प्रवर्तन करता है, एक क्षण के लिये भी विरक्ति का भाव नहीं आता। हे आत्मन्! ये कैसी प्रबलता है विषयासक्ति की।

(अडिल्ल)

सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ। मोह-विकलता मानि, मिथ्याती ह्वै रह्यौ॥

करै विकल्प-अनंत, अहंमति धारिकै। सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त- निवारिकै॥ 31॥

शब्दार्थ :— सदा करमसौं भिन्न सहज चेतन कह्यौ= चेतन आत्मा सहज ही समस्त कर्मों से भिन्न कहा गया है, मोह-विकलता मानि मिथ्याती ह्वै रह्यौ= मोहजनित-परिणामों के कारण मिथ्यात्वी हो रहा है, करै विकल्प अनंत अहंमति धारिकै= अहंबुद्धि धारण करके अनंत-विकल्प करता है, सो मुनि जो थिर होइ ममत्त निवारिकै= जो ममत्वपना त्यागकर (स्वरूप में) स्थिर रहता है, वही (सच्चा) मुनि है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने वास्तव में आत्मा का स्वरूप कैसा है? और वर्तमान में कैसा प्रवर्तन कर रहा है? और साधक क्या करते हैं, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है?— इन सब प्रश्नों का सटीक-समाधान किया है।

सर्वप्रथम आत्मा कैसा है? आत्मा स्वभाव से त्रिकाल समस्त-कर्मों से रहित पूर्ण-शुद्ध-तत्त्व है, 'चेतना' का धनी होने से इसका 'चेतन' नाम सार्थक है। आत्मा पर कर्मों का आवरण ठीक वैसे ही है, जैसे

विश्वाद्धि विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।

मोहैक-कन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषां यतयस्त एव॥ 10॥

चंदन के वृक्ष पर साँपों का लिपटना। चंदन के अंदर विद्यमान सुगंधि की तरह आत्मा में कर्मों का अस्तित्व नहीं है। इसीलिये कर्मों को आत्मा से जुदा किया जा सकता है, ठीक उसीप्रकार जैसे साँप को चंदन के वृक्ष से जुदा किया जा सकता है। लेकिन आत्मिक-गुण चंदन के सर्वांग में व्याप्त सुगंधि की तरह है, जो कभी आत्मा से अलग नहीं होते; ठीक उसीप्रकार जैसे चंदन की सुगंधि चंदन से कभी भी, किसी भी स्थिति में अलग नहीं होती।

दूसरी बात, वर्तमान में आत्मा कैसा प्रवर्तन कर रहा है? आठ-कर्मों में से राजा के समान सबसे बलशाली मोहनीयकर्म, जिसके कारण परपदार्थों में अहंबुद्धि/ममत्वपना और इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करते हुये यह जीव अनंत-विकल्प करता है और मोह-जनित इन विकल्पों के कारण मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि नाम पाता है। जो वस्तु इससे न केवल स्वभाव से भिन्न है, बल्कि पर्याय में भी सर्वथा-भिन्न है, उसको भी ये मूढ़-जीव अपनी मानकर व्याकुल होता है, दुःखी होता है। जिन रागादि-विकारों से यह जीव आकुलित होता है, वे भी पर के लक्ष्य से उत्पन्न होने के कारण 'पर' ही हैं, परन्तु उन्हें भी यह जीव अपना ही मानता है— यह मोह की पराकाष्ठा ही तो है, जो इसे अपने स्वरूप की, अनंत-गुणों की प्रतीति और अनुभूति नहीं होने देती।

तीसरा-पक्ष, साधक-जीव ऐसा क्या करते हैं, कि उनको अतिशीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है? इस प्रश्न के समाधान में कवि ने नास्ति से कथन करते हुए कहा है कि जो जीव मोह का त्याग करते हैं अर्थात् स्वरूप में स्थिर होते हैं, वे ही सच्चे-मुनि या साधक या कहें मोक्षमार्ग के पथिक हैं; वे ही अतिशीघ्र अपने लक्ष्य अर्थात् संसार से मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

यही कथन जब हम 'अस्ति' से करते हैं, तो ज्ञात होता है कि साधक-जीव केवल स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं, अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ, और मेरा स्वभाव जानना देखना है, तदनु रूप परिणामन करना ही स्वरूप में स्थिरता है।' जब साधक-जीव ऐसा करते हैं, तो उपयोग की आत्मस्वरूप में एकाग्रता होने से परपदार्थों के प्रति ममत्व का सहज-त्याग हो जाता है। और जैसे-जैसे ये स्थिरता बढ़ती जाती है, मोक्ष की प्राप्ति भी उतनी ही सहज और सुगम हो जाती है।

(सवैया इकतीसा)

असंख्यात-लोक-परवांन जे मिथ्यात-भाव, तेई विवहार-भाव केवली-उकत हैं।

जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक-दरस भयौ, ते नियत-लीन विवहारसौं मुक्त हैं॥

निरविकल्प निरुपाधि आतम-समाधि, साधि जे सुगुन मोख-पंथ कौं दुक्त हैं।

तेई जीव परमदसा में थिररूप ह्वैंकैं, धरम में धुके न करमसौं रुक्त हैं॥ 32॥

शब्दार्थ :— असंख्यात-लोक-परवांन जे मिथ्यात-भाव= असंख्यात लोकप्रमाण जो मिथ्यात्व के परिणाम हैं, तेई विवहार-भाव केवली-उकत हैं= वे ही व्यवहारभाव हैं— ऐसा केवली के द्वारा कहा गया है, जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यकदरस भयौ= जिनका मिथ्यात्व चला गया है, (और) सम्यग्दर्शन हो गया है, ते नियत-लीन विवहारसौं मुक्त हैं= वे निश्चय में लीन हैं, व्यवहार से मुक्त/छूटे हुए हैं, निरविकल्प निरुपाधि आतम-समाधि= विकल्प-रहित, उपाधि-रहित, आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप समाधि को, साधि जे सुगुन मोखपंथ कौं

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।

सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं, शुद्ध-ज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥ 11॥

ढुकत हैं= साधकर जो जीव सम्यक् मोक्षमार्ग को ग्रहण करते हैं, तेई जीव परमदसा में थिररूप हैंकैं= वे ही जीव श्रेष्ठदशा में स्थिर होकर, धरम में धुके न करमसौं रुकत हैं= धरम को साधते हैं, कर्मों के रोके नहीं रुकते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मिथ्यात्व के प्रकार और मिथ्यात्व के नष्ट होने पर सम्यक्त्व के स्वरूप और फल का सुंदर-विवेचन किया है।

अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व के साथ ही जन्म लेता आया है। यद्यपि मिथ्यात्व तो अभेद है, परन्तु व्यवहार या भेद की दृष्टि से देखा जाये, तो इसके भेद असंख्यात-लोकप्रमाण हैं, और मिथ्यात्व के ये भेद केवली के द्वारा कथित हैं। जिन जीवों का ये मिथ्यात्व-भाव नष्ट हो जाता है, उनको सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। अर्थात् जब देहादिक समस्त-परपदार्थों से ममत्वपना छूट जाता है, और आत्मस्वरूप की सच्ची-प्रतीति होती है, उसे 'मिथ्यात्व का नष्ट होना और सम्यक्त्व का प्रकट होना' कहते हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अर्थात् मोक्षमार्ग का सच्चा-पथिक। ऐसे पथिक-जीव विकल्परहित अर्थात् पर-संबंधी समस्त विकल्पों का त्यागकर, मोह-राग-द्वेषादि समस्त औपाधिक-भावों का भी त्यागकर आत्म-समाधि करते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप को साधते हैं या कहें स्वरूप की आराधना करते हैं, वे ही जीव सही-अर्थों में मोक्षमार्ग पर अग्रसर होते हैं।

मोक्षमार्ग के ऐसे सम्यक्-पथिक जब स्वरूप की आराधना करते हुए ध्यान की उत्कृष्ट-दशा को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पूर्णरूप से स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं; तो वे अतिशीघ्र धर्म अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करते हैं। और सिद्धों की समश्रेणी में विराजमान होते हैं, फिर कर्मों का तीव्र से तीव्र-उदय भी उनको रोक नहीं पाता। कहने का अभिप्राय यही है कि जब साधक-जीव स्वरूप में स्थिरता का तीव्र-पुरुषार्थ करते हैं, तो कर्मोदय की तीव्र-प्रबलता या कहें प्रतिकूलता भी उन्हें रोक नहीं पाती।

(कवित्त)

जे-जे मोह-कर्म की परनति, बंध-निदान कही तुम सब्ब।
संतत-भिन्न सुद्ध-चेतनसौं, तिन्हकौ मूल-हेतु कहु अब्ब॥
कै यह सहज जीवकौ कौतुक, कै निमित्त है पुद्गल-दब्ब।
सीस नवाइ शिष्य इम पूछत, कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब॥ 33॥

शब्दार्थ :- जे-जे मोह कर्म की परनति= जो-जो मोहकर्म की परिणति/भाव हैं, बंध निदान कही तुम सब्ब= उन सबको आपने कर्मबंध का कारण कहा, संतत-भिन्न सुद्ध-चेतनसौं= (वह तो) शुद्धात्मा से सदाकाल ही भिन्न हैं, तिन्हकौ मूल-हेतु कहु अब्ब= अब उनका अर्थात् बंध का मूल-कारण कहो, कै यह सहज जीवकौ कौतुक= क्या यह जीव का सहज खेल है, कै निमित्त है पुद्गल-दब्ब= या इसमें पुद्गल-द्रव्य निमित्त है, सीस नवाइ शिष्य इम पूछत= सिर झुकाकर शिष्य यह पूछता है, कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब= गुरु जी कहते हैं, हे भव्य! तुम इसका उत्तर सुनो।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने शिष्य की शंका को वर्णित किया है। वास्तव में देखा जाये, तो ये शंका न केवल शिष्य की है, बल्कि हम सभी की है, जिसका समाधान कविवर आगामी-छंदों में करेंगे।

शिष्य ने बहुत ही सटीक-सा प्रश्न किया है कि "अभी तक जितने भी मोहजनित-परिणाम थे,

रागादयो बन्ध-निदानमुक्तास्ते शुद्ध-चिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः,
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः॥ 12॥

उन सभी को आपने बंध का कारण कहा, और साथ में ये भी कहा कि ये सब परिणाम चेतन-आत्मा से सदाकाल भिन्न हैं; जड़ हैं, अचेतन हैं। अभिप्राय यह है कि एक चेतन और दूसरा अचेतन, यानि दो भिन्न-द्रव्य, तो फिर ये आपस में बंधे कैसे? अर्थात् बंध का मूल-कारण क्या है?

शिष्य कहता है "क्या यह जीव का आश्चर्य-चकित करनेवाला खेल है? या फिर इसमें पुद्गल-द्रव्य निमित्त है या पुद्गल-द्रव्य की मिलीभगत है। वास्तव में सच क्या है? मैं विनयपूर्वक सिर झुकाकर आपसे अपनी इस शंका का समाधान चाहता हूँ।" तब गुरु जी ने कहा "यदि ऐसा है तो, हे भव्य! तुम सुनो।"

(सवैया इकतीसा)

जैसे नाना-बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ, उज्जल विमल मनि सूरज-करांति है।

उज्जलता भासै जब वस्तु कौ विचार कीजै, पुरी की झलकसौं वरन भाँति-भाँति है॥

तैसे जीव-दरब कौ पुगल-निमित्तरूप, ताकी ममतासौं मोह-मदिरा की मांति है।

भेदग्यान-दृष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहाँ, साँची शुद्ध-चेतना अवाची सुख-सांति है॥ 34॥

शब्दार्थ :- जैसे नाना-बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ= जैसे विभिन्न-रंगों की पुड़िया/पुट/डांक/रंगीन-वस्तु बनायी जाये, उज्जल-मनि विमल सूरज-करांति है= उज्जवल-मणि, मल/गंदगी-रहित सूर्य की चमक के सामने, उज्जलता भासै जब वस्तु कौ विचार कीजै= जब वस्तु के मूलस्वरूप का विचार करते हैं, तो उज्ज्वलता दिखाई देती है, पुरी की झलकसौं वरन भाँति-भाँति है= (लेकिन) पुट/डांट के रंग की झलक से विभिन्न-रंगों रूप (दिखाई देती) है, तैसे जीव दरब कौ पुगल-निमित्तरूप= वैसे ही जीवद्रव्य को पुद्गल निमित्तरूप है, ताकी ममतासौं मोह-मदिरा की मांति है= उसकी ममता से मोहरूपी शराब की उन्मत्तता है, भेदग्यान-दृष्टिसौं सुभाव साधि लीजै= भेदविज्ञान की दृष्टि से स्वभाव को ग्रहण करो, तहाँ साँची शुद्धचेतना अवाची सुख-सांति है= वहाँ वचन से अगोचर सुख-शांतिमय सच्ची-शुद्धचेतना है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने शिष्य की शंका समाधान स्वरूप स्पष्ट किया है कि जीव की वास्तविक स्थिति क्या है, और जीव भ्रमित क्यों हैं? इस तथ्य को बहुत ही सरल उदाहरण के माध्यम से सिद्ध किया है।

स्फटिक-मणि रंग-रहित पारदर्शी, धवल, उज्जवल एक पत्थर होता है। जिसका अपना कोई रंग नहीं होता, लेकिन यदि उसके पीछे या नीचे किसी भी रंग की कोई वस्तु रखें, तो वह मणि स्वयं पूरी तरह रंगरहित होते हुये भी सर्वांग उसी रंग की दिखाई देने लगती है। यद्यपि उस समय भी वह मणि उज्जवल, धवल ही है, किसी भी रंग ने उसमें प्रवेश नहीं किया है, परन्तु फिर भी वह उसरूप दिखाई देती है।

ठीक उसीप्रकार चेतन-पदार्थ-आत्मा स्वभाव से त्रिकाल पूर्ण-शुद्ध, ज्ञान-स्वभावी, और स्व-पर-प्रकाशी है। लेकिन अनादिकाल से पुद्गल-द्रव्य के निमित्त से अर्थात् आठ-कर्माँ, और नोकर्मोरूप रंगीन-डाट का संयोग होने से मोहरूपी शराब की उन्मत्तता दिखाई देती है, अर्थात् स्वरूप से पूर्ण-शुद्ध होते हुये भी आत्मा कर्माँ के उन रंगों-रूप दिखाई देता है। जैसे रंगों ने कभी स्फटिक के अंदर प्रवेश नहीं किया, ठीक उसीप्रकार कर्माँ ने भी आज तक आत्मा के शुद्ध-स्वरूप में प्रवेश नहीं किया है। इसीलिए

न जातु रागादि-निमित्तभाव-मात्मात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।

तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तु-स्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ 13॥

कविवर कहते हैं कि भेदविज्ञान की दृष्टि से स्वभाव को ग्रहण करो, क्योंकि वहीं वचनातीत सुख-शांति-स्वरूप शुद्ध-चेतना का निवास है।

लोक में भी हम देखते हैं कि जो व्यक्ति स्फटिक के वास्तविकरूप को जानते हैं, वे तुरंत समझ जाते हैं कि यह रंग स्फटिक का नहीं, संयोगी-पदार्थ का है; ठीक उसीप्रकार जिनकी दृष्टि भेदविज्ञान से पैनी है अर्थात् जिनके पास भेदविज्ञान की कला है, कर्मरूपी रंगों की डाट के बावजूद भी वे स्फटिक-समान आत्मा के शुद्ध-स्वरूप को ग्रहण कर लेते हैं, और मधुर, आत्मिक, वचनातीत-आनंद का रसास्वादन करते हैं।

अज्ञानी और ज्ञानी की दृष्टि में यही अंतर होता है, अज्ञानी-जीव हमेशा मोह के चश्मे से वस्तु-स्वरूप को देखता है, और ज्ञानी-जीव उसी वस्तु-स्वरूप को भेदविज्ञान की पैनी-नजर से देखते हैं।

(सवेया इकतीसा)

जैसे महि-मंडल मैं नदी कौ प्रवाह एक, ताहीमैं अनेक-भाँति नीर की ढरनि है।

पाथर कौ जोर तहाँ धार की मरोर होति, कांकर की खांनि तहाँ झाग की झरनि है॥

पौन कौ झकोर तहाँ चंचल-तरंग ऊठै, भूमिकी निचांनि तहाँ भौरकी परनि है।

तैंसैं एक आतमा अनंत-रस पुदगल, दुहूँके संजोग मैं विभाव की भरनि है॥ 35॥

शब्दार्थ :- जैसे महिमंडल मैं नदी कौ प्रवाह एक= जैसे पृथ्वीतल पर नदी का बहाव एक है, ताहीमैं अनेक भाँति नीर की ढरनि है= लेकिन उसमें भी पानी की ढाल अनेकप्रकार की है, पाथर कौ जोर तहाँ धार की मरोर होति= जहाँ पत्थर से टकराता है, वहाँ पानी की धार मुड़ जाती है, कांकर की खांनि तहाँ झाग की झरनि है= कंकड़ की बहुलता हो, वहाँ पानी में झाग बन जाता है, पौन कौ झकोर तहाँ चंचल-तरंग ऊठै = जहाँ हवा का झोंका हो, वहाँ चंचल-तरंगें उठती हैं, भूमिकी निचांनि तहाँ भौरकी परनि है= जहाँ पृथ्वी की निचाई यानि गहराई हो वहाँ पानी में भँवर पड़ती है, तैंसैं एक आतमा अनंत-रस पुदगल= वैसे ही एक आत्मा और अनंत-प्रकार के पुदगल का रस, दुहूँके संजोग मैं विभाव की भरनि है= दोनों के मिलने पर विभावरूप परिणति होती है।

विशेषार्थ :- जब सभी आत्मायें समान है, तो फिर जीव की अवस्था और परिणामों में विविधता क्यों दिखाई देती है?— जल के उदाहरण से इस कथन का स्पष्टीकरण कवि ने इस-छंद में किया है।

पिछले-छंद में कवि ने स्फटिक के उदाहरण से सिद्ध किया था कि चेतन-आत्मा स्वभाव से तो पूर्ण-शुद्ध, सिद्धसमान है, परन्तु कर्मों की डांक के कारण मलिनतारूप दिखाई देता है। तब प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है, तो स्फटिक के समान सर्व-जीवों की परिणति भी एकसमान होनी चाहिए थी, पर ऐसा तो नहीं होता क्यों?

इस-छंद में इसी शंका का समाधान कवि ने बहुत ही सरलता से किया है। सामान्यतः तो नदी में पानी का बहाव एकसमान रहता है, परन्तु फिर भी हमें उसके विविधरूप दिखाई देते हैं। जैसे नदी में बहता हुआ पानी जब किसी पत्थर या चट्टान से टकराता है, तो उसकी धारा सहज मुड़ जाती है अथवा बिना किसी पुरुषार्थ के अपना रास्ता सहज बदल लेती है। जब वही पानी की धारा कंकड़ों या छोटे-छोटे टुकड़ों के ऊपर बहती है, तो उसमें झाग बनने लगता है। जल की उसी धारा में जब तेज-हवाओं के झोंकों का संयोग होता है, तब उसमें चंचल-लहरें उठने लगती हैं; जिसे हम समुद्र में उठनेवाली लहरों के रूप में देख सकते हैं। जल की वही धारा जब ढलान या खाई में गिरती है, तब उसमें गोल-गोल

भँवरें उठने लगती है, अर्थात् जल की एक ही धारा बाहरी-संयोग मिलने पर विविधरूपों में परिवर्तित होती हुई दिखाई देती है।

ठीक उसीप्रकार जब शुद्ध-आत्मा और बाहर में पुद्गल-परमाणुओं के अनंत-प्रकार के रस का संयोग होता है, तो वह अपने स्वभाव के विपरीत विभावरूप, विविध-अवस्थाओं में परिणमित होती हुई दिखाई देती है। जैसे बाहर में क्रोध, मान, माया, लोभ किसी भी कषाय के उदय का रस या प्रसंग बनने पर मिथ्यादृष्टि-जीव तत्संबंधी-कषायरूप परिणमित होता हुआ दिखाई देता है। यद्यपि किसी भी कषाय ने आज तक आत्मस्वभाव को स्पर्श नहीं किया है, फिर भी जैसे डांक के संयोग से स्फटिक, वैसे ही कर्म के संयोग से आत्मा उस रूप परिणमित होती हुई दिखाई देती है। जैसे जल की धारा समान और शांत होते हुए भी बाहरी संयोग से विभिन्न-अवस्थाओं व रूपों में देखने को मिलती है, उसीप्रकार सभी आत्मायें स्वभाव से समान होते हुये भी अपने-अपने परिणाम, कर्मोदय और कर्मफल के कारण विविध-अवस्थाओं में दिखाई देती है।

(देहा)

चेतन-लच्छन आतमा, जड़-लच्छन तन-जाल।

तन की ममता त्यागिकै, लीजै चेतन-चाल॥ 36॥

शब्दार्थ :- चेतन-लच्छन आतमा= आत्मा का लक्षण चेतनता, जड़-लच्छन तन-जाल= शरीरादि का लक्षण जड़ता है, तन की ममता त्यागिकै= शरीर की ममता त्यागकर, लीजै चेतन-चाल= आत्मा को ग्रहण करो।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मा और शरीर का लक्षण बताते हुए दोनों की पृथक्ता/भिन्नता सिद्ध कर स्वभाव को ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

आत्मा का लक्षण चेतनपना है अर्थात् जानने-देखने की शक्ति जिसमें विद्यमान है, एकमात्र वही चेतन-पदार्थ आत्मा है, इसके अलावा समस्त तन-जाल यानि देह और देह से जुड़े समस्त-पदार्थों में चेतनपना न होने से जड़ हैं, अचेतन हैं, तेरे स्वरूप से पूर्णतः भिन्न हैं। इसलिए हे आत्मन्! तन और तन-संबंधित समस्त-पदार्थों में ममत्व या अपनत्व-भाव को त्यागो, क्योंकि दुःख का कारण भी एकमात्र पर से अपनत्व-भाव ही है। और निज-आत्मा को ग्रहण करो अर्थात् जो तुम्हारा अपना है उसे ग्रहण करो, क्योंकि सुख का कारण या कहें सुखस्वरूप तुम स्वयं ही हो।

(सवैया तेईसा)

जो जग की करनी सब ठानत, जो जग जानत-जोवत जोई।

देह-प्रवांन पै देहसौं दूसरौ, देह-अचेतन चेतन सोई॥

देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न, रहै परछन्न लखै नहिं कोई।

लच्छन-वेदि विचच्छन बूझत, अच्छनसौं परतच्छ न होई॥ 37॥

शब्दार्थ :- जो जग की करनी सब ठानत= जो संसार की समस्त क्रियायें करता है, जो जग जानत-जोवत जोई= जो जगत् को जानता-देखता है, देह-प्रवांन पै देहसौं दूसरौ= जो देहप्रमाण/बराबर है, परन्तु देह नहीं है, देह-अचेतन चेतन सोई= देह अचेतन है, और वह चेतन है, देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न रहै= भगवान् आत्मा देह

इति वस्तु-स्वभावं स्वं, ज्ञानी जानाति तेन सः। रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ 14॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः। रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ 15॥

धारण करता है, परन्तु देह से भिन्न रहता है, **परछन्न लखै नहिं कोई**= (देह से) ढँका हुआ है, किसी को दिखाई नहीं देता, **लच्छन वेदि विचच्छन बूझत**= लक्षण जानकर ज्ञानी-जीव जानते/पहचानते हैं, **अच्छनसौ परतच्छ न होई**= इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि आत्मा देह में रहते हुये भी 'देहातीत' है। यद्यपि ज्ञान इन्द्रिय-द्वारों से प्रवर्तन करता है; फिर भी इन्द्रियों से जानने में नहीं आता, यही तो महिमा है स्व-पर-प्रकाशी ज्ञान की।

अनादिकाल से जीव और पुद्गल दोनों साथ है, और एक दूसरे से भिन्न होते हुये भी एकदूसरे के पूरक हैं। दोनों में निमित्त-नैमित्तिक-संबंध होने के कारण जीव संसार की सभी क्रियायें करता हुआ दिखाई देता है। जबकि वास्तविकता यही है कि दोनों द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। समस्त जगत् को जानने-देखने वाला भी एकमात्र जीव ही है, क्योंकि शेष सभी-द्रव्य तो जड़ हैं, अचेतन हैं। यद्यपि आत्मा देहप्रमाण रहता है, अर्थात् देह के परिमाण में रहता है, पर देह नहीं है। हालांकि जिस देह में भी जाता है, उसी अनुरूप इसका आकार हो जाता है, फिर भी देह से तलवार और म्यान की तरह पूर्णतः भिन्न ही रहता है, क्योंकि देह तो जड़ है और आत्मा चेतन है।

अनादिकाल से इतने नजदीक रहने पर भी आज तक न तो आत्मा का कोई प्रदेश देहरूप हुआ और न ही देह का एक भी परमाणु जीवरूप हुआ। इसका सबसे बड़ा सबूत मरण के समय दृष्टिगोचर होता है, जब आत्मा इस जड़-देह को यहीं छोड़कर दूसरी पर्याय के लिये गमन कर जाती है। और आश्चर्य की बात है कि ये सब हम प्रत्यक्ष अपनी आँखों से प्रतिदिन देखते हैं, परन्तु फिर भी इस देह से आसक्ति रंचमात्र भी कम नहीं होती, कैसी महिमा है मोह की। इसी प्रकार यह जीवात्मा भी इस देह में रहता है, और देह से ढँका होने के कारण प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, ठीक उसीप्रकार जैसे सोने से बने आभूषण में चाँदी या ताँबा मौजूद होने के बावजूद भी हमें दिखाई नहीं देता। जब सुनार सोने से आभूषण बनाता है तो वह उसमें चाँदी या ताँबा मिलाता है, जो कितने परसेंट मिलाया है इसकी जानकारी केवल उस सुनार को होती है, हमें तो सिर्फ सोना ही दिखाई देता है। लेकिन जब हम वही आभूषण किसी अन्य पारखी सुनार के पास बेचने के लिये जाते हैं, तो यद्यपि सोना और चाँदी /ताँबा उस आभूषण के सर्वांग में व्याप्त है, लेकिन फिर भी वह उसकी चमक और बाहरी रंग रूप को देखकर तुरंत पहचान लेता है कि इसमें सोना कितने परसेंट है और अन्य धातु कितनी। और वह उसी हिसाब से बिल बना देता है, कभी भ्रमित नहीं होता है।

ठीक उसीप्रकार आत्मा के प्रदेश देह के सर्वांग में व्याप्त है, और प्रत्यक्ष दिखाई न देने पर भी ज्ञानी-जीव कभी भ्रमित नहीं होते और ज्ञान, दर्शन, सुख आदि लक्षणों के माध्यम से पहचान लेते हैं, और उसका रसास्वादन करते हैं। यद्यपि छद्मस्थ-अवस्था में हमारा ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही प्रवर्तन करता प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी वह आत्मवस्तु कभी भी इन्द्रियों से दृष्टिगोचर नहीं होती। और हम अज्ञानी-जीव उस आत्मवस्तु को न केवल इन्द्रियों से पाना चाहते हैं, बल्कि इन्द्रियों को ही आत्मा मानकर संतुष्ट हो जाते हैं, इसीलिये सुख की कल्पना भी हम उसी से करते हैं, जबकि ज्ञानी-जीव की प्रवृत्ति इससे हमेशा विपरीत ही रहती है।

(सवैया तेईसा)

देह अचेतन प्रेत-दरी रज-रेत-भरी मल-खेत की क्यारी।
ब्याधिकी पोट अराधिकी ओट, उपाधिकी जोट समाधिसौ न्यारी॥

रे जिय! देह करै सुख-हानि, इते पर तो तोहि लागत प्यारी।
देह तौ तोहि तजेगी निदान पै, तूही तजै किन देह की यारी॥ 38॥

शब्दार्थ :— देह अचेतन प्रेत-दरी रज-रेत-भरी= शरीर जड़ है, मुर्दाखाना/मोर्चुरी है, रज और वीर्य से बनी है, मल-खेत की क्यारी= मल-मूत्र से भरी खेत की क्यारी के समान, ब्याधिकी पोट= रोगों की गठरी, अराधि की ओट= आराध्य को ढँकनेवाली, उपाधि की जोट= उपाधियों का समूह, समाधिसौ न्यारी= समाधि से भिन्न है, रे जिय! देह करै सुख हानि= हे जीवराज! शरीर तो सुख को नष्ट करनेवाला है, इते पर तौ तोहि लागत प्यारी= इतने पर भी तुझे प्रिय लगती है, देह तौ तोहि तजेगी निदान पै= किसी न किसी कारण से देह तो तुझे एक दिन छोड़ेगी ही, तूही तजै किन देह की यारी= (उससे पहिले) तू ही देह की दोस्ती/अपनापन को क्यों नहीं छोड़ देता?

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने इस नश्वर, घिनावनी, मल की थैली देह का बहुत ही मार्मिक-वर्णन किया है। यदि कवि के द्वारा वर्णित देह का ऐसा स्वरूप चित्त में उतर जाये, तो इस देह से आसक्ति खत्म हुये बिना न रहे।

पिछले-छंद में कवि ने देह को सिर्फ 'अचेतन' कहा था, पर इस छंद में तो कवि ने देह को 'मुर्दाखाना' कहा अर्थात् वह जगह जहाँ सिर्फ मृत-शरीरों को रखा जाता है। सत्य भी यही है कि इस देह में रहनेवाले लाखों-जीव प्रतिदिन इसी देह में मरण को प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम वैज्ञानिकों की भाषा में 'जर्म्स' कहते हैं। इस देह का निर्माण भी अत्यंत घृणित-पदार्थ माता-पिता के रज और वीर्य के संयोग से होता है, अर्थात् जिसका निर्माण ही घृणित चीजों से हुआ है वह अच्छी कैसे हो सकती है? जैसे खेत की क्यारियों में मिट्टी और खाद अर्थात् विष्टारूप-गंदगी के अलावा कुछ नहीं होता, ठीक उसीप्रकार यह देह भी केवल मल-मूत्र की क्यारी है। जैसे खेत की उस गंदगी में ही बीज पनपता है, ठीक उसीप्रकार मल-मूत्र की इस थैली में जीवरूपी बीज पनपता है।

यह शरीर रोगों की पोटली या कहें घर है, आगम में कथन आता है कि उँगली की एक पोर में 96 रोगों का निवास है, तो विचार करें संपूर्ण शरीर में कितने रोग होंगें? कहना क्या इन रोगों को तो हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं, यहाँ तक कि जगत् में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो कि देह-जनित रोग से पीड़ित न हो। आराधि की ओट— जिसकी आराधना की जाती है अर्थात् भगवान् आत्मा, जिसे इस मल की थैली ने ढँक रखा है, जो कि प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। यह देह उपाधियों/कष्टों का समूह या मकड़जाल है। जितने भी दुःख-दर्द, रिश्ते-नाते, सगे-संबंधी, मान-सन्मान, वैभव-प्रतिष्ठा आदि हैं; वे सब दुःखरूप औपाधिकभाव मोह, राग, द्वेष का ही तो प्रत्यक्षरूप हैं, जिनमें ये जीवात्मा दुःखी होते हुये भी सदा मोहित रहता है। ये देहासक्ति ही तो जीव को समाधि यानि आत्मस्वरूप की स्थिरता से न केवल दूर रखती है, बल्कि आत्मस्वरूप का परिचय भी नहीं होने देती।

कविवर कहते हैं "हे जीवराज! ये देहासक्ति सच्चे आत्मिक-सुख को नष्ट करनेवाली है, क्योंकि जबतक उपयोग में देह के प्रति आकर्षण रहेगा, तबतक सच्चे सुख का स्वाद भी तुझे नहीं आयेगा।" आश्चर्य है कि इतने पर भी ये देह तुझे सबसे ज्यादा प्रिय लगती है, तू रात-दिन इसी की सेवा में लगा रहता है, अन्याय, अनीति, अभक्ष्य-भक्षण, सप्तव्यसन, पाप, कषाय न जाने क्या-क्या नहीं करता इस देह को हृष्ट-पुष्ट और सुरक्षित रखने के लिये। भाई! कितना भी प्रयत्न कर ले, समय आने पर किसी न किसी कारण से ये देह तो एक न एक दिन तुझे छोड़ ही देगी।" हे आत्मन्! देह तुझे छोड़े उससे पहले समय रहते ही क्यों न तू ही इस देहासक्ति को छोड़ दे अर्थात् इस देह से ममत्व-बुद्धि को छोड़ दे।"

(दोहा)

सुन प्रानी! सदगुरु कहै, देह खेह की खांनि।

धरै सहज दुख-दोषकौं, करै मोख की हांनि॥ 39॥

शब्दार्थ :— सुन प्रानी! सदगुरु कहै देह खेह की खांनि= सदगुरु कहते हैं हे जीव ! सुनो, देह खेह की खांनि= शरीर राख/मिट्टी की खान है, धरै सहज दुख-दोषकौं= ये स्वभाव से ही दुःख और दोषमय है, करै मोख की हांनि= मोक्ष में बाधक है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में गुरु ने पुनः कहा हे आत्मन्! ये देह 'राख या मिट्टी की खदान' है। अर्थात् जैसे कोयले की खदान में केवल कोयला, और पत्थर की खदान में केवल पत्थर मिलता है, ठीक उसीप्रकार इस देहरूपी खदान में मिट्टी के अलावा कुछ नहीं है। जगत् में हर वस्तु का अपना स्वभाव होता है, जैसे नीबू का खटास, चीनी का मिठास, ठीक उसीप्रकार इस देह का स्वभाव भी दुःख और दोषमय ही है, तब इससे सुख की कल्पना करना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे सूर्य से शीतलता की कामना करना व्यर्थ है। इसीलिए यह मोक्षमार्ग में भी बाधक है, क्योंकि मोक्ष सुखरूप है और ये दुःखरूप।

(सवैया इकतीसा)

रेत-कीसी गढ़ी किंधौं मढ़ी है मसान-कीसी, अंदर-अंधेरी जैसी कंदरा है सैल की।

ऊपर की चमक-दमक पट-भूषन की, धोखै लागै भली जैसी कली है कनेल की॥

औगुन की औंडी महाभौंडी मोह की कनौडी, माया की मसूरति है मूरत है मैल की।

ऐसी देह याही के सनेह याकी संगतिसौं, ह्वै रही हमारी मति कोल्हू-कैसे बैल की॥ 40॥

शब्दार्थ :— रेत-कीसी गढ़ी किंधौं मढ़ी है मसान-कीसी= रेत का गढ़ या किला, श्मशान में बने मंदिर/मढ़िया के जैसी है, अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैल की= अंदर अंधेरा है, जैसे पत्थर की गुफा हो, ऊपर की चमक-दमक पट-भूषन की= बाहरी चमक-दमक वस्त्र-आभूषणों की है, धोखे लागै भली जैसी कली की कनेल की= धोने पर अच्छी लगती है, जैसे कनेर की कली हो, औगुन की औंडी महाभौंडी मोह की कनौडी= औगुन से भरी, महा-भदी, मोह की कानी आँख, माया की मसूरति मूरत है मैल की= माया पर आधारित है, मैल की मूर्ति है, ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं= ऐसा शरीर, इसी के प्रेम, इसी की संगति से, ह्वै रही हमारी मति कोल्हू-कैसे बैल की= हमारी बुद्धि हो रही है कोल्हू के बैल जैसी।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने देह की बनावट का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। हे आत्मन्! ये देह रेत के गढ़ यानि छोटे-से किले के समान है, अर्थात् जैसे रेत का किला कभी भी ढह सकता है, ठीक उसीप्रकार देहरूपी किला भी कभी भी ढह सकता है। ये देह श्मशानघाट में बनी मढ़िया या मंदिर के समान है; ऐसा मंदिर जहाँ कोई भी एक क्षण के लिए भी जाना नहीं चाहता। जैसे पर्वतों पर बनी गुफा में प्रतिसमय अंधेरा ही रहता है, ठीक उसीप्रकार देह के अंदर भी घनघोर-अंधेरा रहता है। लेकिन फिर भी मोह-ग्रसित अज्ञानी-जीव को देह बहुत सुन्दर लगती है। तब कविवर कहते हैं कि ये बाहरी चमक-दमक तो वस्त्राभूषण की है। ये देह बाहरी मलिनता को धोने पर ऐसी भली लगती है, जैसे कनेर का फूल हो, जैसे कनेर का फूल बाहर से अच्छा दिखने पर भी कभी शुभ-कार्यो पूजा आदि में प्रयुक्त नहीं होता, उसे अशुभ ही माना जाता है, ठीक उसीप्रकार बाहर से यह देह कितनी भी सुंदर क्यों न हो, पर पूज्य नहीं हो सकती।

कविवर कहते हैं ये देह मात्र अवगुणों से भरी हुई है, यानि इसके अंदर एक भी सुगंधित-पदार्थ नहीं

है, यहाँ तक कि जगत् के सुगंधित- पदार्थ भी इसके स्पर्श से दुर्गंधित हो जाते हैं, ये अत्यधिक बदसूरत हैं, कानी-आँख के समान अशुभ हैं, अर्थात् जैसे कानी आँख/रोशनी रहित आँख की कोई कीमत नहीं होती, ठीक उसीप्रकार ये देह भी कुछ काम की नहीं हैं। माया यानि छल-कपट आदि से बनी मैल की मूर्ति है, अर्थात् स्पर्श करने लायक भी नहीं है।

ऐसी इस देह के प्रति प्रेम, आसक्ति और संगति से अर्थात् इसके साथ रहकर मेरी बुद्धि भी कोल्हू के बैल के जैसी हो गई है। जैसे कोल्हू का बैल एक निश्चित दायरे में ही घूमता रहता है, ठीक उसीप्रकार मेरी बुद्धि भी केवल देह व इसके संबंधियों के चारों ओर ही घूमती रहती है, यानि देह के अलावा वह कुछ और सोचना भी नहीं चाहती।

(सवैया इकतीसा)

ठौर-ठौर रक्त के कुंड केसनि के झुंड, हाड़निसौं भरी जैसें थरी है चुरैल की।

नैकु-से धक्का-के लगै ऐसे फटि जाय मानौ, कागदकी-पूरी किधौं चादरि है चैल की॥

सूचै भ्रम-वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचानि, करै सुख-हानि अरु खांनि बदफैल की।

ऐसी देह याही के सनेह याकी संगतिसौं, ह्वै रही हमरी मति कोल्हू केसे बैल की॥ 41॥

शब्दार्थ :— ठौर-ठौर रक्त के कुंड केसनि के झुंड= जगह जगह खून के कुंड, बालों के झुंड, हाड़निसौं भरी जैसें थरी है चुरैल की= हड्डियों से भरी हुई है, जैसे चुड़ैल का अड्डा हो, नैकुसे धक्काके लगै ऐसे फटि जाय= जरा-सा धक्का लगते ही ऐसे फट जाती है, मानौ कागदकी पूरी किधौं चादरि है चैल की= मानों कागज की पुड़िया हो, या कपड़े की पुरानी चादर हो, सूचै भ्रम-वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचानि= भ्रमपूर्ण-वचनों को सूचित करती है और मूढ़-जीवों से पहिचान करके करै सुख हानि अरु खांनि बदफैल की= अपने सुख की हानि करती है, और बुराइयों की खान है, ऐसी देह याही के सनेह याकी संगतिसौं= ऐसे इस शरीर के साथ स्नेह करके इसकी संगति से, ह्वै रही हमरी मति कोल्हू केसे बैल की= हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल जैसी जड़ हो रही है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पुनः देह की सुंदरता पर कटाक्ष करते हुए जीवों को सचेत किया है, कि जिस देह की बाहरी-सुंदरता पर ये जीव रीझा है, वास्तव में उसकी क्या स्थिति है। हम अज्ञानी-जीवों की देह से आसक्ति टूटे— इसका हरसंभव प्रयास कवि ने इस छंद में किया है।

कविवर कहते हैं कि इस देह में जगह-जगह रक्त के कुंड बने हुए हैं, अर्थात् सारे शरीर में खून की नलियाँ विद्यमान हैं, कहीं साफ खून की तो कहीं गंदे खून की; लेकिन हैं तो खून की ही, इसके अलावा कुछ नहीं है। बालों के झुंड बने हैं अर्थात् सारे शरीर पर रोम के रूप में, और अन्य अंगों (सिर आदि) पर गुच्छों के रूप में बाल हैं, कहीं ज्यादा तो कहीं कम। हड्डियों की ढेर होने से वास्तव में ये देह चुड़ैल के घर से कम नहीं है, क्योंकि वहाँ भी ये सब चीजें ही होती हैं।

कितना आश्चर्य होता है जब ये अज्ञानी जीव इस नाजुक-काया के बल पर इतराता है, जबकि वास्तविकता तो ये है कि जरा-सा धक्का लगे, तो यह ऐसे फट जाती है, जैसे कागज की पुड़िया हो, या कपड़े की जीर्ण/पुरानी चादर हो, जो कि जरा सी खींचने पर ही फट जाती है। ठीक उसी प्रकार जरा सा गिरते ही इस देह के अंदर का भयावह रूप सामने आ जाता है। कहने को तो इस छोटी सी मनुष्य देह में 206 हड्डियाँ होती हैं, परन्तु जरा-सा गिरने से चकनाचूर हो जाती है।

शरीर की नश्वरता का ऐसा कड़वा-सच जानकर-पहचानकर, प्रत्यक्ष अनुभव करने पर भी अज्ञानी-जीव हमेशा भ्रमित रहता है, और उसकी क्षणिक-सुंदरता का ही दीवाना बना रहता है। जबकि

कोयले की खदान की तरह ये देह भी बुराइयों की खान है, क्योंकि देहरूपी इस खान में बुराई की हर जड़ मौजूद है। और अज्ञानी-जीव निरन्तर बुराइयों की खान इस देह में आसक्त होकर अपने आत्मिक-सुख की हानि करता रहता है।

कविवर कहते हैं कि ऐसी इस देह के प्रति प्रेम, आसक्ति और संगति से अर्थात् इसके साथ रहकर मेरी बुद्धि भी कोल्हू के बैल के जैसी हो गई है। जैसे कोल्हू का बैल एक निश्चित दायरे में ही घूमता रहता है, ठीक उसीप्रकार मेरी बुद्धि भी केवल देह व इसके संबंधियों के चारों ओर ही घूमती रहती है, यानि देह के अलावा वह कुछ और सोचना भी नहीं चाहती।

(सवैया इकतीसा)

पाटी बाँधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं, कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
 धायबो ही धंधा अरु कंधामाहि लग्यौ जोत, बार-बार आर सहै कायर है मनकौ॥
 भूख सहै प्यास सहै दुर्जन को त्रास सहै, थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
 पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल, तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ॥ 42॥

शब्दार्थ :— पाटी बाँधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं= आँखों पर पट्टी बँधी है, सिकुड़ा और दबा हुआ-सा रहता है, कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ= चाबुकों की मार की सोच से/डर से शरीर के दुःख का वेदन नहीं करता, धायबो ही धंधा अरु कंधामाहि लग्यौ जोत= चलना ही जिसका काम है, कंधे पर जोत लगी है, बार-बार आर सहै कायर है मनकौ= बार-बार चोट सहता है, मन से साहसहीन है, भूख सहै प्यास सहै दुर्जन को त्रास सहै= भूख-प्यास सहन करता है, दुर्जन के द्वारा दिये दुःखों को सहन करता है, थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ= चैन नहीं लेता, न ही एक क्षण को भी विश्राम करता है, पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल= दूसरे के आधीन होकर घूमता है, जैसे कोल्हू का कमाउ/मेहनती-बैल हो, तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ= वैसा ही स्वभाव ये संसार में रहनेवाले जीवों का है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने संसारी-जीव की तुलना कोल्हू के बैल से करते हुए हमें हमारी वास्तविक-स्थिति से परिचित कराया है। जैसी दयनीय-हालत कोल्हू के बैल की होती है, उससे भी दयनीय-स्थिति आज हमारी है, और फिर भी हम खुश हैं, अपने को सुखी कहते हैं, यह मोह की ही तो महिमा है।

कोल्हू के बैल की आँख पर पट्टी बँधी होती है, ताकि उसे बाहर का कुछ भी न दिखाई दे, जिससे वह इधर-उधर देखकर अपना ध्यान न बटाये। ठीक उसीप्रकार हम अज्ञानी-जीवों की आँख पर भी 'अज्ञानता' की पट्टी बंधी हुई है, सो हमें भी हित-अहित कुछ दिखाई नहीं देता। बैल इधर-उधर न भागे और काम अच्छे से होता रहे, सो उसे एक छोटी-रस्सी से एक निश्चित-दायरे में बाँध दिया जाता है, ठीक उसीप्रकार हम अज्ञानी-जीव भी अपने परिवारीजनों से बंधे हुए हैं, एक निश्चित-दायरे से बाहर न हम जाते हैं और न ही बाहर जाने की सोचते हैं, सुबह से शाम तक वही दिनचर्या। उस बैल को नियंत्रित रखने के लिये उसे चाबुक से डराया जाता है, मार के डर से वह अपने शरीर में होनेवाले कष्ट की भी परवाह नहीं करता, ठीक उसीप्रकार घर-परिवार, स्त्री आदि के कटु-वचन चाबुक का ही काम करते हैं, शरीर को कितना भी कष्ट हो, उसकी परवाह किये बिना भी ये जी-हजुरी में लगा रहता है।

जैसे बैल का एकमात्र काम निश्चित दायरे में निरन्तर चलते रहना है, ठीक उसीप्रकार यह जीव पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों की सामग्री जुटाने के लिये निरन्तर दौड़ता रहता है। जैसे बैल के कंधे पर जोत

लगा होता है, जिससे वह कहीं भाग नहीं सकता; ठीक उसीप्रकार इस जीव के कंधों पर भी गृहस्थी-संबंधी जिम्मेदारी का जोत लगा हुआ है, जिसे छोड़कर ये कभी भाग नहीं सकता, और न ही भागना चाहता है। यद्यपि बैल अपना काम निरन्तर करता रहता है, फिर भी उसका मालिक उसकी पीठ पर निरन्तर चोट करता रहता है; ठीक उसीप्रकार ये जीव पहले ही अपनी जिम्मेदारी समझकर निरन्तर जुता रहता है, लेकिन फिर भी कर्मोदय की चोट से हर समय आहत रहता है। मन से हताश अथवा विषयों में मगन होने के कारण कभी प्रतिकार के बारे में सोचता भी नहीं।

जैसे बैल भूख-प्यास सहन करता है, क्योंकि उसका मालिक उसे भरपेट दाना-पानी नहीं देता, कि कहीं ये आलसी होकर काम में लापरवाही न करे; ठीक उसीप्रकार ये संसारी-जीव परिग्रह के संग्रह के लिये या कहें पैसा कमाने और जोड़ने के लिये दिन-रात भूखा-प्यासा रहता है; यहाँ तक कि अच्छा-खासा कमाने पर भी, उसका ठीक से भोग भी नहीं कर पाता। जैसे बैल निर्दयी-मालिक के द्वारा दिया गया दुःख सहन करता है, ठीक उसीप्रकार ये जीव पैसा कमाने के चक्कर में राजा, मालिक, सेठ, साहूकार या आज की भाषा में कहें बॉस के अत्याचारों को सहन करता है। जैसे बैल एक क्षण के लिये भी विश्राम नहीं करता, ठीक उसीप्रकार ये जीव 24 घंटे परिश्रम करता है, एक क्षण के लिये भी चैन नहीं लेता।

जैसे कोल्हू का बैल कमाऊ/मेहनती होने पर भी पराधीन है, अपनी स्वेच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता, ठीक उसीप्रकार ये संसारी-जीव भी आठ-कर्मों के आधीन है, कर्म का जैसा उदय आता है हित-अहित, सुख-दुःख की परवाह किये बिना ही ये उसी रूप प्रवर्तन करने लगता है। जैसे कोल्हू का बैल निरन्तर चक्कर लगाता रहता है ठीक उसीप्रकार यह जीव भी अनादिकाल से उस कोल्हू के बैल की तरह ही चार-गति चौरासी-लाख योनियों में भटक रहा है, एक क्षण के लिये भी सुखी नहीं हुआ है।

(सवैया इकतीसा)

जगतमें डोलै जगवासी नररूप धरै, प्रेत-केसे दीप किंधौ रेत-केसे थूहे हैं।

दीसै पट-भूषन आडंबरसौं नीके फिरि, फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यों सूहे हैं॥

मोह के अनल दगे माया की मनीसौं पगे, डाभ की अनीसौं लगे ओस केसे फूहे हैं।

धरम की बूझ नाहि उरझे भरम-माँहि, नाचि-नाचि मरि जाँहि मरी-केसे चूहे हैं॥ 43॥

शब्दार्थ :- जगतमें डोलै जगवासी नररूप धरै= संसारी-प्राणी मनुष्यरूप धारणकर संसार में भ्रमण करते रहते हैं, प्रेत-केसे दीप किंधौ रेत-केसे थूहे हैं= जैसे श्मशान-घाट पर जलनेवाले दिया अथवा रेत का टीला (नाशवान), दीसै पट-भूषन आडंबरसौं नीके= वस्त्राभूषण और बाह्य-आडंबर से अच्छे दिखाई देते हैं, फिरि फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यों सूहे हैं= लेकिन क्षण में ही मलिन, शाम के आसमान के जैसे चमक-विहीन हो जाते हैं, मोह के अनल दगे मायाकी मनीसौं पगे= मोह की अग्नि में जलते हैं, मणि की तरह माया की ममता में डूबे हुए हैं, डाभ की अनीसौं लगे ओस केसे फूहे हैं= घास पर पड़ी ओस की बूंद के समान क्षणभंगुर है, धरम की बूझ नाहि, उरझे भरममाँहि= धर्म की समझ नहीं है, भ्रम में ही उलझे हुए हैं, नाचि-नाचि मरि जाँहि मरी-केसे चूहे हैं= नाच-नाचकर मरते हैं, जैसे प्लेग के चूहे हों।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मनुष्य-पर्याय की स्थिति और क्षणभंगुरता का बहुत ही मार्मिक-चित्रण किया है। चारों गतियों के जीवों में से मनुष्य अपने आप को सर्वश्रेष्ठ मानता है, और इतराता है, लेकिन सच्चाई तो ये है कि मनुष्य-देह की वास्तविक-स्थिति भी श्मशान-घाट के दीपक और रेत के टीले के समान क्षणिक है।

जैसे श्मशानघाट पर जलनेवाला दिया कितनी देर तक जलेगा?— ये कोई नहीं कह सकता, क्योंकि वहाँ तेज-हवा और कोई आड़ न होने से दीपक कभी भी बुझ जाता है। जैसे रेगिस्तानी-क्षेत्र में तेज-हवा के निमित्त से रेत के टीले बन जाते हैं, लेकिन वही हवा जब दूसरी ओर से चलती है, तो वे टीले बिखर जाते हैं। ठीक वही स्थिति इस मनुष्य-देह की है, ये कब नष्ट हो जाये— कुछ नहीं कहा जा सकता। सुंदर-सुंदर वस्त्र और आभूषण पहनने से जो देह तुझे सुंदर लगती है, वे सुंदर-वस्त्राभूषण भी इस देह के संयोग से कुछ ही क्षणों में संध्या के आकाश की तरह फीके पड़ जाते हैं। अर्थात् जैसे दिन में सूर्य की रोशनी से जो आसमान स्वच्छ और चमकता हुआ दिखाई देता है, वही आकाश सांझ के समय जब दिन और रात के मिलन का समय होता है, तब चमक-विहीन फीका-सा पड़ जाता है। ठीक उसी प्रकार इस देह के संयोग में आनेवाली हर वस्तु कुछ ही समय में मलिनता को प्राप्त होती है।

हे आत्मन्! ये मनुष्य निन्तर मोह की अग्नि में जल रहा है, क्योंकि इस मनुष्य-पर्याय में मोह बढ़ानेवाले रुपया-पैसा, मान-प्रतिष्ठा, पत्नी-पुत्र आदि सगे-संबंधी अर्थात् चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के सर्वाधिक-पदार्थ मौजूद हैं, और ये जीव प्रतिसमय इनके मोह में फँसकर अत्यधिक-दुःखी है। मणि की तरह माया की ममता में डूबा हुआ है, अर्थात् जैसे सुनार गहने बनाते समय मणि को चारों ओर से जकड़ देता है, जिससे वह उसमें से निकल न पाये; ठीक उसीप्रकार ये मनुष्य भी प्रतिसमय मन-वचन-काय की अस्थिरता यानि छल-कपटरूप मायाचारी में पूरी तरह से जकड़ा हुआ है, एक क्षण के लिये भी उससे बाहर नहीं निकलता है। जैसे हरी-घास पर पड़नेवाली ओस की बूँद मोती के समान देखने में बहुत सुंदर लगती है, लेकिन अगले ही क्षण सूर्य की किरण पड़ते ही वह विलय को प्राप्त होती है, ठीक उसीप्रकार ये मनुष्य-देह ओस की बूँद के समान देखने में भले ही सुंदर लगे, लेकिन कषाय की गर्म-किरण का संयोग पाते ही इसकी सुंदरता अगले ही क्षण विलय को प्राप्त होती है।

मन/बुद्धि या कहें क्षयोपशम की प्राप्ति होने पर भी आत्मानुभूतिरूप-धर्म तो दूर व्यवहार-धर्म के स्वरूप को भी नहीं समझता, देहादिक पर-पदार्थों के प्रति ममत्वरूपी भ्रम में ही उलझा रहता है। और इसी भ्रम में नाच-नाचकर ठीक उसीप्रकार मरण को प्राप्त होता है, जैसे प्लेग की बीमारी से ग्रसित चूहा, अर्थात् जब चूहे को प्लेग की बीमारी होती है, तब वह अपने बिल आदि से निकलकर जमीन पर गिरता है और चक्कर खा-खाकर मरण को प्राप्त होता है; ठीक उसीप्रकार यह मोह-ग्रसित अज्ञानी-जीव चार गति चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाता हुआ निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

(सवैया इकतीसा)

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ, साधनि अडारी ऐसैं जैसे नाक सिनकी।

ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ, नरक की साई है बढ़ाई डेढ़ दिन की॥

घेरा-माँहि परयौ तू विचारै सुख आँखनिकौ, माखनि के चूटत मिठाई जैसे भिनकी।

एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव, जगमें असाता है, न साता एकछिन की॥ 44॥

शब्दार्थ :— जासौं तू कहत यह संपदा हमारी= (जिस संपदा को) तू कहता है ये हमारी संपत्ति है, सो तौ साधनि अडारी ऐसैं= वह तो साधुजन ऐसे छोड़ देते हैं, जैसे नाक सिनकी= जैसे नाक छिनक दी हो, ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई= जिसे तू कहता है यह पुण्ययोग से प्राप्त की, सो तौ नरक की साई है= वह तो नरक का बयाना है, बढ़ाई डेढ़ दिन की= डेढ़ दिन का/क्षणिक बडप्पन है, घेरा-माँहि परयौ तू विचारै सुख आँखनिकौ= (संपत्ति के) घेरे में पड़ा तू सोचता है कि आँखों का सुख है, माखनि के चूटत मिठाई जैसे भिनकी= मक्खियों के नोचने से

मिठाई जैसे भिनक रही हो, एते परि होहि न उदासी= इतने पर भी उदासी नहीं होती, जगवासी जीव जग मैं असाता है= हे जगत् में रहनेवाले जीव ! संसार में दुःख ही है, न साता एक छिन की= एक क्षण के लिए भी सुख नहीं है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने धन-संपत्ति से मोह रखनेवाले अज्ञानी-जीव को इस जड़-संपत्ति की वास्तविक-स्थिति से परिचय कराते हुए उससे विरक्ति का उपदेश दिया है।

कविवर कहते हैं कि जिस धन-संपत्ति को तू अपना कहता है, दिन-रात तू जिसकी साज-संभाल करता है, और सुरक्षा के चक्कर में जिसकी चौकीदारी करता है; उसे साधुजन/ज्ञानी-पुरुष ठीक उसीप्रकार त्याग देते हैं, जैसे हम नाक छिनकते हैं। वास्तव में देखा जाये, तो हम उस गंदगी को हम मात्र फेंकते ही नहीं है, बल्कि उसकी ओर पलटकर भी नहीं देखते हैं। इसीप्रकार ज्ञानी-पुरुष भी इस धन-संपदा को गंदगी मानकर इसकी तरफ पलटकर भी नहीं देखते हैं।

जिस संपदा के प्राप्त होने पर तू खुश होता है, और कहता है ये तो मुझे पुण्य के उदय से मिली है, ज्ञानी-पुरुष कहते हैं कि "ये तो डेढ़ दिन का बड़प्पन है अर्थात् बहुत ही अल्प-समय की मेहमान है अर्थात् पुण्य क्षीण होते ही विलय को प्राप्त हो जायेगी।" और नरक की साई/बयाना है, अर्थात् जैसे हम ये मानते हैं कि बयाना देकर हमने संपत्ति को अपने आधीन कर लिया, ठीक उसीप्रकार इस धन-संपदा में आसक्ति करके हमने भी नरक निगोद में अपनी बुकिंग कर ली है। क्योंकि जितनी ज्यादा धन-संपत्ति में आसक्ति होती है, उतना ही पापरूप प्रवर्तन भी अधिक होता है, और नरक-निगोद के दरवाजे उतने ही ज्यादा खुल जाते हैं। वे जीव विरले ही होते हैं, जो धन-संपत्ति पाकर पुण्य-कार्यों में प्रवर्तन करते हैं, या अनासक्ति का भाव रखते हैं। 'आचार्य उमास्वामी जी' ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'अधिक-आरंभ और अधिक-परिग्रह को नरकायु का आस्रव' माना है।

कैसी बिडम्बना है ये धन-संपत्ति का बना रहना तुझे आँखों का सुख लगता है अर्थात् बहुत अच्छा लगता है, जिसकी वजह से तू परिवारीजनों से भी घिरा रहता है, कविवर कहते हैं यह तो ठीक उसीप्रकार है, जैसे मिठाई के ऊपर मक्खियाँ न केवल भिनभिनाती हैं, बल्कि उसे चोंटती भी रहती हैं। संसार में भी सब स्वार्थ के सगे हैं, जबतक धन-संपत्ति है तबतक सब चोंटते रहते हैं अर्थात् पास रहते हैं और इसके जाते ही सब दूर हो जाते हैं।

भाई! इतने पर भी तुझे संसार से विरक्ति नहीं आती, यहाँ तक कि इस संपत्ति की प्राप्ति में सुख और इसके वियोग में तुझे दुःख लगता है, तो तेरे अभाग्य की महिमा कौन कहे। हे आत्मन्! इस संसार में, इस जड़-संपत्ति में एक क्षण के लिये भी साता या चैन नहीं है, चारों ओर दुःख ही दुःख है। इसलिये भाई इस जड़-संपत्ति का मोह त्यागो, और अपने अनंतगुणोंरूपी चैतन्य-संपदा की ओर निहारो।

(दोहा)

ए जगवासी! यह जगत्, इन्हसौ तोहि न काज।

तेरे घट में जग बसै, तामै तेरौ राज॥ 45॥

शब्दार्थ :— ए जगवासी यह जगत्= हे जगत् में रहनेवाले-जीव ! यह जगत्, इन्हसौ तोहि न काज= इससे तुझे कोई प्रयोजन नहीं है, तेरे घट में जग बसै= जगत् तो तेरे अन्तरंग में बसा है, तामै तेरौ राज= उसमें तेरा ही राज है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मोही-जीव को संसार से विरक्ति का उपदेश दिया है। हे आत्मन्! इस संसार में तेरा कुछ भी नहीं है; जो कुछ है, वह तेरे भावों का ही खेल है, और न ही संसार में रहनेवालों से

तेरा कोई संबंध है; क्योंकि इस संसार में तूने अकेले ही जन्म लिया था और मरण-समय भी तू अकेला ही जायेगा। ये सारे संयोग और पदार्थ तो बस इसी पर्याय में या कहें केवल वर्तमान में प्राप्त इस देह के ही सगे हैं, देह छूटते ही सब यहीं छूट जायेंगे।

तेरा जगत् तो तेरे ज्ञान-घट में है, जिस पर तेरा एकछत्र-राज्य है। जो तेरा साथ तू किसी भी पर्याय में रहे, किसी भी स्थिति में रहे, एक समय के लिये भी नहीं छोड़ता। इसलिए भाई! बाह्य-संसार से मुख मोड़कर अपने अनंत-गुणों की ओर निहारो।

(सवैया इकतीसा)

याही नरपिंडमें विराजै त्रिभुवन-थिति, याहीमैं त्रिविध-परिणामरूप सृष्टि है।

याहीमैं करम की उपाधि दुःख-दावानल, याही में समाधि-सुख-वारिद की वृष्टि है॥

याहीमैं करतार करतूति हीमैं विभूति, यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है।

याहीमैं बिलास सब गर्भित गुप्तरूप, ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है॥ 46॥

शब्दार्थ :— याही नरपिंडमें विराजै त्रिभुवन-थिति= इसी मनुष्य-देह में तीनों लोक विराजते हैं, याहीमैं त्रिविध-परिणामरूप सृष्टि है= इसी में तीनोंप्रकार के परिणामों की उत्पत्ति होती है, याहीमैं करम की उपाधि दुःख दावानल= इसी में कर्मजनित-औपाधिकभाव, दुःखरूपी-दावाग्नि, याही में समाधि-सुख-वारिद की वृष्टि है= इसी में समाधि-सुखरूप बादलों की बरसात है, याहीमैं करतार करतूति ही मैं विभूति= इसी में करनेवाला यानि कर्ता, इसी में करतूत यानि कर्म, इसी में संपदा, यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है= इसी में भोग, इसी में वियोग, इसी में घर्षण है, याहीमैं बिलास सब गर्भित गुप्तरूप= इसी में सारे विलास गुप्तरूप से समाहित हैं, ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है= उसी को प्रकट हैं, जिसकी अंतरोन्मुखी-सुदृष्टि है।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने कहा था कि "इस बाह्य-जगत् में तेरा कुछ भी नहीं है", उसी की सिद्धि इस छंद में की है, कि जो कुछ है वह सब तेरे स्वयं के पास ही है, पर में तेरा कुछ भी नहीं है, यहाँ तक कि न तो पर का कुछ भी तेरे पास है और न ही तेरा कुछ भी पर के आधीन है।

जिस जगत् यानि तीनों लोकों को तू अपना मानता है वह तेरी इस नर-देह में ही है। कमर से नीचे का भाग अधोलोक, कमर का हिस्सा मध्यलोक, और कमर के ऊपर का हिस्सा ऊर्ध्वलोक है। शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनोंप्रकार के परिणामों की उत्पत्ति भी यहीं होती है। अपने आत्मस्वभाव-परिणाम ही शुद्ध-परिणाम है, और अपने स्वभाव के विपरीत पंचपरमेष्ठी के स्मरण और अनुसरण-रूप (उनके बताये मार्ग पर चलना) परिणाम शुभ-परिणाम, और अपने स्वभाव के विपरीत पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में आसक्तिरूप-परिणाम अशुद्ध-परिणाम है।

इसी में कर्मों के उदयजनित औपाधिक-भावों की दुःखरूपी-दावाग्नि जल रही है अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों और पूर्वोपार्जित-कर्मों के उदयरूप फल भी इसी में ही प्राप्त होते हैं, और दुःखों से छूटने का उपाय अर्थात् समाधि भी इसी में है या कहें कि दावाग्नि को बुझाने के लिये आत्मध्यानरूपी-मेघवृष्टि भी इसी में हो रही है।

इसी देह में कार्य करनेवाला कर्ता अर्थात् आत्मा है, और इसी में उसकी क्रिया भी है, इसी देह में आत्मज्ञान-रूपी संपदा भी है। इसी देह में कर्म का भोग अर्थात् फल मिलता है, और कर्म का वियोग/छूटते भी इसी से हैं, इसी में अच्छे और बुरे कर्मों का घर्षण अर्थात् उत्कर्षण और अपकर्षण है। इसी देह में विलासिता की सारी सामग्री गुप्तरूप से गर्भित हैं; परन्तु वह उसी को प्रगट होती है जिसकी दृष्टि

अंतरोन्मुखी अर्थात् अपने स्वभाव पर केन्द्रित होती है। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दृष्टि होता है, उसे ही सच्चे-सुख की अनुभूति होती है।

(सवैया तेईसा)

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु, तू अपना पद बूझत नांही।
खोजु हिये निज-चेतन-लच्छन, है निजमैं निज गूझत नांही॥
सुद्ध-सुछंद सदा अति-उज्जवल, माया के फंद अरूझत नांही।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं, तोहीमैं है तोहि सूझत नांही॥ 47॥

शब्दार्थ :— रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु= गुरुजी बुलाकर कहते हैं, हे आत्मा की रुचि रखनेवाले ! तू अपना पद बूझत नांही= तू अपना स्वरूप पहिचानता नहीं है, खोजु हिये निज चेतन-लच्छन है= अपने हृदय में खोजो, चेतना-लक्षण है, निजमैं निज गूझत नांही= निज में ही है, निज से कभी ओझल नहीं होता है, सुद्ध सुछंद सदा अति-उज्जवल= शुद्ध, स्वाधीन हमेशा अत्यधिक-निर्मल, माया के फंद अरूझत नांही= विकारों के फंदों का प्रवेश नहीं है, तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं= तेरे स्वरूप में न द्वंद्व/भ्रम है, (न) दुविधा है, तोहीमैं है तोहि सूझत नांही= तेरे अंदर ही है तुझे दिखाई नहीं देता।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने गुरु-शिष्य के संवाद के रूप में रुचिवान-जीव को आत्मज्ञान की प्रेरणा दी है। प्रश्न उठता है कि रुचिवान-जीव को ही उपदेश क्यों ? क्योंकि जिसे स्वयं को जानने की रुचि होगी, उसी को ये उपदेश कार्यकारी और सार्थक होगा। अरुचिवान-जीव के लिये तो सम्यक्-उपदेश भी कषाय का ही निमित्त बनता है।

गुरु शिष्य को बुलाकर कहते हैं कि हे "रुचिवंत/भव्यजीव ! सुनो, तू अपने स्वरूप को पहिचानता नहीं है, तू स्वयं के अस्तित्व को स्वयं में ही खोज। चेतना यानि जो जानता-देखता है, जो सुख-दुःख का वेदन करता है, वह तेरा ही लक्षण है, ज्ञानादि अनंत-गुणों का धनी तू स्वयं ही है, क्योंकि जीव के अलावा ये लक्षण अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता है। और ये चेतन-लक्षण कभी स्वयं से ओझल नहीं होता है अर्थात् एकसमय के लिये भी ये जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। प्रतिसमय जो जाननेरूप-क्रिया हो रही है, उस जाननक्रिया का स्वामी तू स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।"

हे आत्मन् ! तू स्वभाव से सदाकाल विकारों की मलिनता से रहित पूर्ण-शुद्ध-तत्त्व है, किसी भी प्रकार की पराधीनता से रहित स्वाधीन-तत्त्व है। विकारों ने तेरे स्वरूप में कभी प्रवेश ही नहीं किया इसलिये तू अतिनिर्मल है; माया यानि मन-वचन-काय के विपरीतता रूप छल-प्रपंच आदि भावों का तो तेरे स्वरूप में प्रवेश भी नहीं है। तेरे आत्मस्वरूप में किसी भी प्रकार का कोई भ्रम नहीं है, दर्पण की तरह बिल्कुल स्वच्छ और पारदर्शी है। किसी भी प्रकार की विकल्पात्मक-दुविधा भी नहीं है, स्वभाव-भावरूप सब कुछ तेरे अंदर ही विद्यमान है, फिर भी तुझे दिखाई नहीं देता; क्योंकि तेरी आँखों पर मोह की पट्टी जो बंधी है, जिसके कारण अनंत-गुणों का धनी होते हुए भी तुझे उनकी प्रतीति और अनुभूति नहीं हो रही है।

(सवैया तेईसा)

केई उदास रहैं प्रभु-कारन, केई कहैं उठि जाहि कहींकै।
केई प्रनाम करैं गढ़-मूरति, केई पहार चढ़ैं चढ़ि-छीकैं॥
केई कहैं असमान के ऊपरि, केई कहैं प्रभु हेठि-जमीकैं।
मेरो धनी नहि दूर-दिसन्तर, मोहीमैं ही मोहि सूझत नीकै॥ 48॥

शब्दार्थ :— केई उदास रहैं प्रभु-कारन= कोई विरक्त रहते हैं प्रभु के कारण, केई कहैं उठि जांहि कहींकै= कोई कहते हैं उठकर कहीं दूर चले जायें, केई प्रनाम करैं गढ़ मूरति= कोई प्रणाम करते हैं मूर्ति बनाकर, केई पहार चढ़ैं चढ़ि छीकैं= कोई छीकें (डोली) पर चढ़कर पहाड़ चढ़ते हैं, केई कहैं असमान के ऊपर= कोई कहते हैं (प्रभु) आसमान के ऊपर, केई कहैं प्रभु हेठि जमीकैं= कोई कहते हैं प्रभु जमीन के नीचे हैं, मेरो धनी नहिं दूर दिसन्तर= मेरा स्वामी दूर-देशान्तर/अन्य-क्षेत्र में नहीं है, मोहीमैं ही मोहि सूझत नीकैं= मेरे अंदर ही है मुझे अच्छे से दिखाई देता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जीव की उस स्थिति का वर्णन किया है, जब जीव दुःखों से व्याकुल होकर सच्चे-सुख की चाहत में भगवान् की शरण में आता है, और ये मानता है कि "भगवान् मुझे सुखी कर देंगे", इतना ही नहीं इस झूठी-आशा में यह जीव न जाने कितने प्रयास करता है, और सुख न मिलने पर बहुत-आकुलित होता है, जबकि ज्ञानीजीव उस सुख को अपने अंतरंग में ही अनुभव करते हैं।

संसार में नानाप्रकार के जीव हैं, और सभी भगवान् को पाना चाहते हैं, पर वास्तव में सच्चा देव/भगवान् कौन है— इसकी पहचान न होने से भटकते ही रहते हैं। कई जीव तो प्रभु को पाने के लिये संसार से विरक्त हो जाते हैं, साधु/बाबा आदि का वेश धारणकर उदासीन-जीवन बिताते हैं, और कई जीव अपने निवास-क्षेत्र को छोड़कर कहीं दूर जंगलों में जाकर रहने लगते हैं, और कईतरह की कठिन से कठिन-तपस्या करते हुए जीवन बिताते हैं।

कई जीव पत्थर, मिट्टी, या लकड़ी आदि की मूर्ति बनाकर उसमें प्रभु की कल्पना कर बड़ी ही भक्ति-भाव से पूजा-अर्चना, नमन-वंदन आदि करते हैं, तो कई जीव छीकें यानि डोली में बैठकर या सामर्थ्य के अनुसार पैदल पहाड़-पर्वत आदि चढ़ते हैं, अर्थात् तीर्थयात्रा आदि करते हैं, सिर्फ इस इच्छा से कि भगवान् हमें सुखी कर देंगे। कई जीव मानते हैं कि भगवान् (ब्रह्मा, शिव आदि) तो आसमान के ऊपर हैं, और कुछ मानते हैं कि सिद्धशिला पर विराजमान हैं, तो कई ये मानते हैं कि भगवान् तो जमीन के नीचे विराजमान हैं।

लेकिन ज्ञानी-जीव कहते हैं कि मेरा भगवान् तो कहीं दूर देश में नहीं, मृग की नाभि में बसी कस्तूरी की तरह मेरे घट में ही विराजमान है, अर्थात् जैसे कस्तूरी को मृग दुनिया के किसी भी कोने में ढूँढ़े उसे नहीं मिलेगी; क्योंकि वह तो उसकी अपनी नाभि में है। इसीप्रकार सुख का निधान भगवान् आत्मा भी अन्यत्र कहीं नहीं, इसी देह-देवालय में विराजमान है। और मुझे प्रतिसमय बहुत अच्छे से जानने में भी आ रहा है। हे आत्मन्! जिस सुख की तलाश में, तू भगवान् को खोज रहा हूँ, वह सुख तुझे केवल तेरे देह देवालय में विराजमान भगवान् आत्मा के आश्रय से ही अर्थात् निज-आत्मा की प्रतीति अनुभूति और लीनता से ही प्राप्त हो सकता है, अन्यत्र किसी भी चेतन या अचेतन-पदार्थ के आश्रय से उस सुख की प्राप्ति तीन-काल में भी संभव नहीं है।

तब एक प्रश्न उठता है कि क्या देह-देवालय में विराजमान देव यानि भगवान् आत्मा मात्र ज्ञानियों को ही जानने में आता है, अज्ञानी अर्थात् मुझे जानने में नहीं आता? तब आगम से उत्तर मिलता है कि जगत् के प्रत्येक जीव को केवल ज्ञान-स्वरूप भगवान् आत्मा ही जानने में आता है, और कुछ नहीं आता है। लेकिन जहाँ ज्ञानियों को आगम के इस कथन पर न केवल विश्वास है, बल्कि स्वीकृति भी है, और तदनु रूप-आचरण भी है, वहीं अज्ञानी-जीव को इस अकाट्य-सत्य पर न विश्वास है, न स्वीकृति है और आचरण तो पूर्णतः विपरीत है, इसीलिए ज्ञानी-जीव सुखी है और अज्ञानी-जीव महादुःखी रहता है।

(दोहा)

कहैं सुगुरु "जो समकिती, परम उदासी होइ।

सुथिर-चित्त अनुभौ करै, प्रभु-पद परसै सोइ" ॥ 49 ॥

शब्दार्थ :- कहैं सुगुरु जो समकिती= सच्चे-गुरु कहते हैं "जो सम्यक-दृष्टि जीव है, परम उदासी होइ= अति-विरक्त होता है, सुथिर-चित्त अनुभौ करै= स्थिर-चित्त होकर अनुभव करता है, प्रभुपद परसै सोइ= वही प्रभु के पद/पैर को स्पर्श करता है। "

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मानुभूति की प्रक्रिया का वर्णन किया है। गुरु जी कहते हैं कि जो समकिती अर्थात् जिस जीव की बुद्धि सम्यक् होती है, श्रद्धान सम्यक् होता है, वह जीव संसार से अति-विरक्त होकर अर्थात् पाँचों-इन्द्रियों के समस्त विषय-भोगों से मन, वचन और काया से, व कृत, कारित व अनुमोदना से समस्त अशुभ-भावों का त्याग करके, स्थिर-चित्त होता है अर्थात् समस्त शुभ और शुद्ध-विकल्पों से भी रहित निर्विकल्प होकर स्वयं को मात्र ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है; तभी वह प्रभु के पद अर्थात् देह-देवालय में विराजमान आत्मप्रभु को स्पर्श करता है अर्थात् आत्मानुभूति करता है।

(सवैया इकतीसा)

छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन, छिनकमैं दीन छिनमाँहि जैसौ सक्र है।

लियैं दौर-धूप छिन-छिनमैं अनंतरूप, कोलाहल ठानत मथान-कौसौ तक्र है॥

नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ, धार-कौसौ भौर कि कुंभार-कौसौ चक्र है।

ऐसौ मन-भ्रामक सुथिरु आजु कैसै होई, ओरहीकौ चंचल अनादि-हीकौ वक्र है॥ 50 ॥

शब्दार्थ :- छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन= क्षण में चतुर/बुद्धिमान, क्षण में ही छल से मलिन, छिनकमैं दीन छिनमाँहि जैसौ सक्र है= क्षण में ही दया का पात्र, क्षण में ही जैसे इन्द्र है, लियैं दौरधूप छिन-छिनमैं अनंतरूप= दौर-धूप में व्यस्त क्षण-क्षण में विविधरूप धारण करता है, कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है= शोर मचाता है, जैसे छाछ को मथने पर शोर होता है, नट-कौसौ थार किधौं हार है रहट-कौसौ= नट के थाल के समान अथवा रहट के हार के समान, धार-कौसौ भौर= जल की धारा में पड़नेवाले भँवर के समान, कि कुंभार-कौसौ चक्र है= या कुम्हार के चाक के समान ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसै होई= ऐसा भ्रामक-मन आज स्थिर कैसे हो, ओरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है= जो शुरू से ही चंचल, अनादि से ही टेढ़ा है।

विशेषार्थ :- कवि ने पिछले छंद में कहा कि "जब जीव मन को हर तरह से शांत और स्थिर करता है, तभी आत्मानुभूति होती है।" तब शिष्य विचार करता है कि इस चंचल-मन को स्थिर कैसे किया जाये? क्योंकि स्थिर तो दूर ये चंचल-मन तो एक विषय पर भी पूरी तरह से नहीं ठहरता अर्थात् प्रतिक्षण विषय को ही बदलता रहता है, मन की उसी चंचलता का वर्णन कवि ने इस छंद में किया है।

कविवर कहते हैं कि ये चंचल-मन क्षण में ही चतुराई बुद्धिमत्ता अथवा विचारों की उज्ज्वलता का परिचय देता है, लेकिन दूसरे ही क्षण वह मोह-राग-द्वेष रूप छल आदि विकारी-भावों की उत्पत्ति होने से मलिनता को प्राप्त होता है। क्षण में ही भिखारी की तरह दीन-हीन सा हो जाता है अर्थात् पाँचों इन्द्रियों का गुलाम या कहें विषयों का मोहताज हो जाता है, वहीं दूसरी ओर इन्द्रियों का राजा यानि इन्द्र के समान हो जाता है। इन्द्रिय-विषयों को जुटाने के लिए क्षण में इधर दौड़ता है, क्षण में उधर दौड़ता है अर्थात् दिन-रात

उसी में व्यस्त रहता है, एक क्षण भी चैन नहीं पाता। यहाँ तक कि उन विषयों को पाने की लालसा में कभी मजदूर तो कभी मालिक जैसे विविधरूप भी धारण करता है। दिन-रात ऐसे शोर मचाता है, जैसे दही या छाछ को बिलोने पर उसमें से गुड़-गुड़ की आवाज आती है, उसीप्रकार ये मन भी नित-नये विकल्पों में रमने की इच्छा करता हुआ शोर मचाता है।

कवि ने मन की चंचलता को कई सटीक-उपमायें देकर सिद्ध किया है, जैसे नट का थाल हमेशा घूमता ही रहता है, रहट की माला या घेरा चलता ही रहता है और किसान उसी में अपना काम करता रहता है। जल की धारा में जब भँवर उठती है, तो पानी भी घूमने लगता है। जैसे कुम्हार जब मिट्टी से बर्तन बनाता है, तब कुम्हार का चाक भी घूमता ही रहता है, ठीक उसीप्रकार ये चंचल-मन भी एक क्षण के लिये शांत नहीं होता; अपितु घूमता ही रहता है।

शिष्य विचार करता है ऐसा भ्रामक-मन अर्थात् इतना ज्यादा भटकनेवाला चंचल-मन शांत और स्थिरता को कैसे प्राप्त हो? वैसे भी मन की ये चंचलता कुछ समय से नहीं है, बल्कि अनादिकाल से ही ये तो इतना चंचल और वक्र अर्थात् टेढ़ा है कि हमेशा विपरीत ही परिणामन करता है।

(सवैया इकतीसा)

धायौ सदाकाल पै न पायौ कहूँ साँचौ-सुख, रूपसौं-विमुख दुःखकूप-वास बसा है।

धरमकौ धाती अधरमकौ संघाती महा-, कुरापाती जाकी सन्निपात-कीसी दसा है॥

मायाकौ झपटि गहै कायसौं लपटि रहै, भूल्यौ भ्रम-भीर मैं बहीर-कौसौ ससा है।

ऐसौ मन-चंचल पताकासौ अंचल सु, ग्यानके जगेसौं निवारण-पथ धसा है॥ 51॥

शब्दार्थ :— धायौ सदाकाल पै न पायौ कहूँ साँचौ-सुख= हमेशा दौड़ता रहा, फिर भी सच्चा-सुख कहीं नहीं मिलता, रूपसौं विमुख दुःख-कूपवास बसा है= अपने स्वरूप से विमुख होकर दुःखरूपी कुँये में पड़ा है, धरमकौ धाती अधरमकौ संघाती= धर्म को नष्ट करनेवाला, अधर्म का संगती/साथी, महा-कुरापाती जाकी सन्निपात-कीसी दसा है= अत्यधिक-खुरापाती जिसकी स्थिति सन्निपात के रोगी जैसी है, मायाकौ झपटि गहै= रूपया-पैसा को झपटकर ग्रहण करता है, कायसौं लपटि रहै= शरीर से अनुराग रखता है, भूल्यौ भ्रम-भीर मैं= भ्रम की भीड़ में भूला/भटका हुआ है, बहीर-कौसौ ससा है= जैसे बहेलिया के चंगुल में फँसा खरगोश, ऐसौ मन चंचल= मन ऐसा चंचल है, पताकासौ अंचल= जैसे झंडे का कपड़ा, सुग्यानके जगेसौं = सम्यग्ज्ञान के, जगने से/उत्पन्न होने से, निरवाण-पथ धसा है= मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उस स्थिति का वर्णन किया है, जो मन की चंचलता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। ये जीव सुबह से शाम तक सुख-प्राप्ति के लिये हरतरह के संभव और असंभव-कार्य करता है; लेकिन फिर भी आज तक इसे सुख तो दूर सच्चे-सुख की झलक तक भी नहीं मिली। मिलती भी कैसे? क्योंकि इसका सारा पुरुषार्थ तो विपरीत-दिशा में चल रहा है। सुख का निधान तो ये स्वयं है, लेकिन स्वयं से तो ये प्रतिसमय विमुख ही रहता है, और पर के सन्मुख अति-प्रीति से रहता है। इसके प्रतिफल-स्वरूप निरन्तर दुःख के कुँये में ही पड़ा रहता है। जैसे कुँये में पानी अत्यधिक-गहराई में होता है, वैसे ही ये जीव भी दुःख के गर्त में गहराई तक डूबा रहता है।

स्वरूप से विमुख होने से प्रतिसमय धर्म का विरोधी रहता है, अर्थात् जो चर्चा या रास्ते आत्मसन्मुख होने में सहायक हो, उन सबका तो विरोध करता है, और पर-सन्मुख होने से अधर्म का संगी/ साथी बनता है, अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषय-भोग, जो स्वरूप के विरोधी हैं, उनमें अति-रुचिपूर्वक प्रवर्तन करता है।

महा-खुरापाती है अर्थात् हमेशा उपद्रव के बारे में ही सोचता है, समतारूप-परिणाम तो इसे सुहाते ही नहीं है। इसकी हालत सन्निपात के रोगी जैसी है अर्थात् जैसे सन्निपात का रोगी एक-क्षण के लिये भी स्थिर नहीं होता, निरन्तर काँपता ही रहता है; ठीक उसीप्रकार ये मन भी निरन्तर भटकता ही रहता है, एक-क्षण के लिए भी स्थिर नहीं होता।

माया अर्थात् रुपया-पैसा, धन-संपत्ति को झपटकर ग्रहण करता है अर्थात् अन्याय, अनीति, झूठ और छल आदि जिस भी रास्ते से माया आये, वह हर रास्ता बिना बिचारे अपनाता है। प्रतिसमय देह की सुरक्षा, साज-सँवार में ही लगा रहता है, एक-क्षण के लिये भी देह से ममत्व नहीं छूटता। देह के प्रति अपनत्व के भ्रम में स्वयं को भूलकर ऐसा भ्रमता है; जैसे बहेलिये के चंगुल में फसने के बाद खरगोश छटपटाता रहता है। कविवर कहते हैं कि मन का स्वभाव इतना चंचल होता है, जैसे पताका या ध्वजा फहराने के बाद उसका कपड़ा एक समय के लिए भी स्थिर नहीं रहता है, बल्कि हिलता ही रहता है। उसीप्रकार ये मन भी भ्रमता ही रहता है। लेकिन इस चंचल-मन पर भी सम्यग्ज्ञान के द्वारा अंकुश लगाया जा सकता है, अर्थात् जब दृष्टि स्वसन्मुख होती है, तो यही मन चंचलता छोड़कर स्थिर होकर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है।

(दोहा)

जो मन विषै-कषायमैं, वरतै चंचल सोइ।

जो मन ध्यान-विचारसौं, रुकै सु अविचल होइ॥ 52॥

तातैं विषै-कषायसौं, फेरि सु मन को बांनि।

सुद्धातम अनुभौ-विषैं, कीजै अविचल आनि॥ 53॥

शब्दार्थ :- जो मन विषै-कषायमैं वरतै चंचल सोइ= जो मन विषय-भोगों और कषायों में प्रवर्तन करता है, वह चंचल होता है, जो मन ध्यान-विचारसौं रुकै सु अविचल होइ= जो मन आत्मध्यान एवं चिन्तन-मनन में रुकता है, वही अविचल/स्थिर होता है, तातैं विषै-कषायसौं फेरि सु मन को बांनि= इसलिए विषय-भोगों और कषाय से मन को फेरकर, सुद्धातम अनुभौ-विषैं कीजै अविचल आनि= शुद्धात्मा के अनुभव के विषय में स्थिर करो।

विशेषार्थ :- इन दोनों छंदों में कवि ने पूर्वकथित चंचल-मन कब और कैसे स्थिर होता है? इसका बहुत ही मार्मिक और सटीक-वर्णन किया है। मानव-मन की सबसे बड़ी दुविधा यही है कि इस अति-चंचल-मन को वश में कैसे करें? वास्तव में देखा जाये, तो मन की चंचलता का प्रमुख-कारण पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति आकर्षण और कषाय-भावों की उत्पत्ति ही है। कैसे?

जब हम अपने स्वरूप को भूलकर मोहवश इन पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति आकर्षित होते हैं, तो इष्ट-अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप क्रोध, मान, माया, और लोभादि कषाय-भावों में प्रवर्तन होता है। और फिर शुरू होता है उन विषयों में फेरबदल करने के पुरुषार्थ का सिलसिला, अर्थात् जो विषय हमें अच्छे और अनुकूल लगते हैं, हम उन्हें प्राप्त करने का बेजोड़-पुरुषार्थ करते हैं। और जो विषय हमें बुरे और प्रतिकूल लगते हैं, फिर हम उन्हें हटाने के लिए भी अथक-पुरुषार्थ करते हैं। देखा जाये, तो यही मन की चंचलता है, क्योंकि न तो पंचेन्द्रिय के विषयों की कोई सीमा है और न ही हमारी इच्छाओं की। इसीलिए प्रयास भी अनादिकाल से अनवरत चले आ रहे हैं; परन्तु सफलता न आज तक मिली है और न ही कभी मिलेगी; क्योंकि परद्रव्य में स्वद्रव्य/जीव का पुरुषार्थ चले ऐसी तो वस्तु-

व्यवस्था ही नहीं है। इसीलिए कविवर कहते हैं कि जब तक मन विषय-कषाय में वर्तता है, तब तक वह चंचल ही रहता है।

इसीलिए यदि मन की चंचलता को रोकना है, तो जिन कारणों से वह चंचलता को प्राप्त होता है, उन कारणों को खत्म करने का पुरुषार्थ करो। जो उपयोग विषय-भोगों और कषायों में प्रवर्तन से चंचलता का नाम पाता है, उसे आत्मचिंतन, ध्यान और आत्मानुभूति में लगाओ, तो ये चंचल-मन स्वयं ही स्थिर हो जायेगा। कहने का अभिप्राय यही है कि जबतक मन पर-सन्मुख रहेगा, तबतक चंचल ही रहेगा और ज्योंही ये मन आत्म-सन्मुख होगा, त्योंही शांत और स्थिर हो जायेगा।

इसीलिए कविवर कहते हैं कि इस चंचल-मन को पुरुषार्थ-पूर्वक विषय-भोगों और कषायों से हटाकर शुद्धात्मा के चिंतन, मनन, ध्यान और अनुभूति में लगाओ और स्थिर करो।

(सवेया इकतीसा)

अलख-अमूरति-अरूपी-अविनासी-अज, निराधार-निगम-निरंजन-निरंध है।

नानारूप भेस धरै भेसकौ न लेस धरै, चेतन-प्रदेस धरै चेतन को खंध है॥

मोह धरै मोहीसौं विराजै तोमैं तोहीसौं, न तोहीसौं न मोहीसौं न रागी निरबंध है।

ऐसौ चिदानंद याही घटमैं निकट तेरे, ताहि तू विचारु मन और सब धंध है॥ 54॥

शब्दार्थ :- अलख-अमूरति-अरूपी-अविनासी अज= इन्द्रियों से रहित, आकार-रहित, रूप-रहित, विनाश-रहित, अजन्मा/जन्म-रहित, निराधार-निगम-निरंजन-निरंध है= (पर) आधार-रहित/स्वयं के आधार से, ज्ञानी, अंजन/कालिमा-रहित, खंड-रहित है, नानारूप भेस धरै भेसकौ न लेस धरै= विविधप्रकार के भेष धारण करता है, परन्तु रंचमात्र भी (उस) भेषरूप नहीं होता, चेतन-प्रदेस धरै चेतन को खंध है= चैतन्य-प्रदेशों को धारण करता है, चैतन्य का पिण्ड है, मोह धरै मोहीसौं विराजै तोमैं तोहीसौं= मोही से मोह करता है, शरीर में ही विराजता है, न तोहीसौं न मोहीसौं न रागी निरबंध है= न तेरे से, न मेरे से, न मोही से, न रागी से, बंधरहित है, ऐसौ चिदानंद याही घटमैं निकट तेरे= ऐसा चैतन्य-स्वरूप तेरे इसी शरीर में है, निकट तेरे ताहि तू विचारु मन= तेरे नजदीक, हे मन तू उसका ही विचार कर, और सब धंध है= और बाकी सब द्वंद/जंजाल है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने अनादिकाल से आत्मा स्वभाव से कैसा है? इसका सुन्दर और सटीक-वर्णन किया है।

आत्मा 'अलख' यानि इन्द्रियों से रहित 'अतीन्द्रिय-तत्त्व' है, इसीलिए कभी इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आता, 'अमूर्तिक' यानि पुद्गल की तरह उसका कोई आकार नहीं है अर्थात् 'निराकार' है। 'अरूपी' यानि रूपरहित अर्थात् चक्षु से देखा जा सके— ऐसा कोई वर्ण/रूप नहीं है। 'अविनासी' अर्थात् आज तक आत्मा का न कभी मरण हुआ है और न हो सकता है; क्योंकि वह भी अन्य द्रव्यों की तरह 'शाश्वत' द्रव्य है, 'अज' यानि 'अजन्मा' है अर्थात् आत्मा का कभी जन्म नहीं होता, वह जन्म-मरण से रहित त्रिकाल शाश्वत-तत्त्व है। 'निराधार' अर्थात् किसी अन्य द्रव्य के आधार से नहीं, स्वयं अपने ही आधार से है, 'निगम' अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड है, 'निरंजन' अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों की कालिमा से रहित 'निर्मल-तत्त्व' है, 'निरंध' अर्थात् खंडरहित एक 'अखंड-तत्त्व' है।

यद्यपि आत्मा निराकार, अरूपी होते हुये भी विभिन्नप्रकार के भेष धारण करता है। चार गति, चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ अनेक-पर्यायों को धारण करता है, उनमें एकमेक होकर रहता बंध-द्वार



है; लेकिन फिर भी आज तक आत्मा ने उस पर्याय के एक भी प्रदेश को धारण करना तो दूर, स्पर्श भी नहीं किया। चैतन्य का पिण्ड होने से हमेशा अपने चैतन्य-प्रदेशों को धारण करते हुये चैतन्यरूप ही रहा।

यद्यपि यह जिस पर्याय में भी जाता है, वहाँ उस रूप ही तन्मय हो जाता है, शरीरादि पर-पदार्थों से मोह करता हुआ दिखाई देता है, राग-द्वेष-मोह के परिणामों से लिप्त दिखाई देता है; लेकिन फिर भी स्वभाव से हमेशा राग-रहित वीतरागी और कर्मबंध से रहित निर्बंध ही रहता है। क्योंकि जो भी विकार या बंधनरूप-अवस्था है, वह न तो जीव के स्वभाव में है और न ही पुद्गल के स्वभाव में, अपितु जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न पर्यायरूप है।

हे आत्मन्! ऐसा वीतरागी, निर्बंध, आनंद का घनपिण्ड अजर-अमर अविनाशी-तत्त्व कहीं दूर नहीं; बल्कि तेरे नजदीक इस घट में ही विराजमान है, तू मात्र उसी का चिंतन-मनन और विचार कर; क्योंकि शेष चेतन या अचेतन सभी पदार्थ तो जंजाल यानि मोह-जाल के समान है। जिसमें एकबार फँसे, तो छूटना बहुत मुश्किल है।

(सवैया इकतीसा)

प्रथम सुदृष्टि में शरीर-रूप कीजै भिन्न, तामैं और सूक्ष्म-शरीर भिन्न मानिये।

अष्टकर्म-भाव की उपाधि सोऊ कीजै भिन्न, ताहूमैं सुबुद्धिकौ विलास भिन्न जानिये॥

तामैं प्रभु-चेतन विराजत अखंडरूप, वहै श्रुतग्यान के प्रवांन उर-आनिये।

वाही कौ विचार करि, वाहीमैं मगन हूजै, वाकौ पद साधिवेकौ ऐसी विधि ठानिये॥ 55॥

शब्दार्थ :— प्रथम सुदृष्टि में शरीररूप कीजै भिन्न= पहले सम्यक्-दृष्टि से शरीर यानि स्थूल-शरीर से (स्वयं को) भिन्न करो, तामैं और सूक्ष्म-शरीर भिन्न मानिये= उसमें और सूक्ष्म-शरीरों को भी भिन्न मानो, अष्टकर्म भाव की उपाधि सोऊ कीजै भिन्न= आठों-कर्मों के उपाधिरूप-भाव उनको भी भिन्न करो, ताहूमैं सुबुद्धिकौ विलास भिन्न जानिये= उसमें भी भेदविज्ञान से भी स्वयं को भिन्न जानो, तामैं प्रभु-चेतन विराजत अखंडरूप= उसमें भगवान् आत्मा अखंडरूप से विराजमान है, वहै श्रुतग्यान के प्रवांन उर आनिये= उसे श्रुतज्ञान से प्रमाणित करके अंतरंग में धारण करो, वाही कौ विचार करि वाहीमैं मगन हूजै= उसी का विचार करो, उसी में लीन होओ, वाकौ पद साधिवेकौ ऐसी विधि ठानिये= उसका/उस पद को प्राप्त करने के लिए यह विधि अपनानी चाहिए।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने भेदविज्ञान की कला का बहुत ही सुंदर-विवेचन किया है, क्योंकि हम सभी जीव सुखी होना चाहते हैं, और आगम के अनुसार सच्चे-सुख को प्राप्त करने का सर्वप्रथम-उपाय यही है कि स्व-पर में अथवा देह और आत्मा में भिन्नता भासित हो। कैसे?

आगम में शरीर के पाँच भेद माने गये हैं— औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें से प्रथम तीन-शरीरों को स्थूल माना गया है, क्योंकि ये इन्द्रियों से दिखाई देते हैं। और अंतिम दोनों शरीरों को सूक्ष्म-शरीर माना गया है, क्योंकि वे इन्द्रियों से दिखाई नहीं देते, इनमें से औदारिक के साथ तैजस और कार्मण— ये तीन शरीर मनुष्यों और तिर्यचों को और वैक्रियक के साथ तैजस और कार्मण-शरीर देव और नारकी को प्राप्त होता है। और आहारक-शरीर विशेषरूप से ऋद्धिधारी-मुनिराजों के औदारिक, तैजस और कार्मण के साथ प्राप्त होता है।

अब सर्वप्रथम सम्यक्-दृष्टि से स्थूल-शरीर यानि औदारिक, वैक्रियक और आहारक (जो जिसको प्राप्त है) से स्वयं को भिन्न जानो, यानि मैं इस प्राप्त देह से सर्वथा-भिन्न चेतन भगवान्-आत्मा हूँ,— ऐसा दृढ़-निश्चय करो। फिर दूसरे नंबर पर सूक्ष्म-शरीर तैजस, कार्मण जो सभी के होता है, उससे

भी स्वयं को भिन्न मानो, अर्थात् पुद्गल के पिण्ड-स्वरूप आठों कर्मों से रहित निष्कर्म और देहादिक के तेज से पूर्णतः रहित अनंत आत्मिक-तेज का धारी चैतन्य-रत्नाकर हूँ।

फिर आठों-कर्मों के उपाधिजनित-भावों अर्थात् इनके निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि औपाधिक-भावों से भी स्वयं को भिन्न करो, भले ही ये भाव मेरी ही भूल से उत्पन्न होते हैं; परन्तु ये गुलाब के साथ उगनेवाले काँटों के समान सदैव त्याज्य हैं; क्योंकि ये मेरा स्वभाव नहीं है, संयोगी और विकारी-भाव हैं। और फिर उस सुबुद्धि के विलास अर्थात् क्षयोपशम-ज्ञान के वे विकल्प, जिनसे हम अभी तक स्वयं को पर से भिन्न अनुभव कर रहे थे, उन विकल्पों को भी स्वयं से भिन्न जानो और मानो, क्योंकि किसी भी प्रकार का विकल्प हो, वह आत्मानुभूति में बाधक ही है।।

हे आत्मन्! प्राप्त देह-देवालय में चेतन-पदार्थ भगवान्-आत्मा अखंडरूप से विराजमान है, उसे श्रुतज्ञान, नय, निक्षेप आदि से प्रमाणित करके अर्थात् निर्णय करके हृदय में धारण करो। और फिर उसी स्वात्मा का चिंतन करो, मनन करो, ध्यान करो और उसी में लीन हो जाओ। यदि सच में तुम सुखी होना चाहते हो, अर्थात् मोक्ष-स्वरूप आत्मपद प्राप्त करना चाहते हो, तो भेदविज्ञान की यह विधि अपनानी ही चाहिए।

(चौपाई)

इहविधि वस्तु-व्यवस्था जानै, रागादिक निज-रूप न मानै।

तातैं ग्यानवंत जगमाँही, करम-बंध को करता नाहीं॥ 56॥

शब्दार्थ :- इहविधि वस्तु-व्यवस्था जानै= इसप्रकार वस्तु-व्यवस्था को जानते हैं, रागादिक निज-रूप न मानै= राग-द्वेष आदि विकारों को अपना स्वरूप नहीं मानते, तातैं ग्यानवंत जगमाँही= इसीलिए ज्ञानी-जीव जगत् में, करम-बंध को करता नाहीं= कर्म-बंधन के कर्ता नहीं बनते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने बहुत ही संक्षेप में स्पष्ट किया कि स्वतंत्र वस्तु-व्यवस्था में प्रवर्तन करते हुए भी ज्ञानी-जीव निर्बंध क्यों रहते हैं? यहाँ वस्तु-व्यवस्था से तात्पर्य है— छह-द्रव्यों के समूह इस विश्व में सभी द्रव्य पूर्ण-स्वतंत्र हैं, स्वभाव से भी सभी पूर्णतः भिन्न-भिन्न हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है; इसीलिए सभी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार सहज और स्वतंत्र-परिणामन भी करते हैं— यही जगत् की स्वतंत्र और स्व-संचालित वस्तु-व्यवस्था है।

ज्ञानी-जीव इसी सहज, स्व-संचालित वस्तु-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं और तदनुरूप ही आचरण करते हैं, इसीलिये निर्बंध रहते हैं, कर्मबंधन का दण्ड उनको प्राप्त नहीं होता है। वहीं अज्ञानी-जीव इस स्वतंत्रता को न मानकर सभी द्रव्यों को आपस मिलाकर अपनी मन-मर्जी से कार्य करने का अपराध करता है, फलस्वरूप कर्मबंधनरूप दण्ड को प्राप्त होता है। इसीप्रकार मोह, राग, द्वेष आदि विकारी-भाव भी तेरा स्वभाव-भाव नहीं हैं, पर के संयोग से होनेवाले विकार हैं; उन्हें भी स्वयं से भिन्न मानो, जैसा कि ज्ञानी-जीव मानते हैं और निर्बंध रहते हैं; क्योंकि दुःख और कर्मबंध का कारण एकमात्र मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भाव ही हैं, अन्य कुछ भी नहीं।

(सवैया इकतीसा)

‘ग्यानी भेदज्ञानसौ विलेछि पुद्गल-कर्म, आतमीक-धर्मसौ निरालौ करि मानतौ।
ताकौ मूल-कारन असुद्ध-रागभाव ताके, नासिबैकौ सुद्ध-अनुभौ-अभ्यास ठानतौ॥

याही अनुक्रम पररूप-सनबंध त्यागि, आपमाँहि अपनौ-सुभाव गहि आनतौ।

साधि-सिवचाल निरबंध होत तिहूँ-काल, केवल-विलोक पाइ लोकालोक जानतौ॥ 57॥

शब्दार्थ :- ग्यानी भेदज्ञानसौं विलेछि पुद्गल-कर्म= ज्ञानी-जीव भेदज्ञान से पुद्गल-कर्म को भिन्न करके, आतमीक-धर्मसौं निरालौ करि मानतौ= आत्मस्वभाव को निराला/भिन्न मानते हैं, ताकौ मूल-कारन असुद्ध-रागभाव= उसका मूल-कारण अशुद्ध रागादि-भाव, ताके नासिबैकौ= उनको नष्ट करने के लिए, सुद्ध-अनुभौ-अभ्यास ठानतौ= शुद्ध-अनुभव का अभ्यास करते हैं, याही अनुक्रम पररूप-सनबंध त्यागि= इसी प्रक्रिया से पर-पदार्थों से संबंध त्यागकर आपमाँहि अपनौ-सुभाव गहि आनतौ= स्वयं में अन्य को हटाकर अपना स्वभाव ग्रहण करते हैं, साधि-सिवचाल निरबंध होत तिहूँ काल= मोक्षमार्ग को साधते हुए तीनों-काल बंधन-रहित होते हैं, केवल-विलोक पाइ लोकालोक जानतौ= केवलज्ञान प्राप्त कर लोक और अलोक को जानते हैं।

विशेषार्थ :- सहज, स्व-संचालित वस्तु-व्यवस्था और भेदविज्ञान की सम्यक्-प्रक्रिया का वर्णन करते हुये इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि ज्ञानी-जीव कैसे इस क्रिया को अपनाते है? और उनको इस क्रिया का क्या प्रतिफल मिलता है?

भेदज्ञान की सम्यक्-प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए ज्ञानी-जीव सर्वप्रथम पुद्गल-कर्म या ज्ञानावरणादि पुद्गल-परमाणुओं का पिण्ड जो आत्मा के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह-रूप से विद्यमान है, जिसे हम द्रव्य-कर्म कहते हैं; उनको आतमीक-धर्म अर्थात् आत्म-स्वभाव से पूर्णतः भिन्न मानते हैं। और इन द्रव्य-कर्मों के मूलभूत-कारण अशुद्ध-भाव अर्थात् मोह, राग, द्वेषादि विकारी-भावरूप भावकर्म को नष्ट करने के लिये शुद्ध-स्वभावी आत्मा के अनुभव का अभ्यास करते हैं। यहाँ कवि ने परिणामों के दो भेद किये हैं— शुद्ध और अशुद्ध, क्योंकि यहाँ लक्ष्य आत्मानुभूति का है, और आत्मानुभूति की दृष्टि से शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम बाधक होने से अशुद्ध है।

इसी अनुक्रम से कवि का तात्पर्य पूर्वोक्त 54 नं छंद में वर्णित भेदविज्ञान की क्रिया से है। उस प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए ज्ञानी-जीव देहादिक पर-पदार्थों से संबंध अर्थात् ममत्व-बुद्धि त्यागकर, कर्म-बंध के कारण अर्थात् मोह, राग, द्वेष आदि विकारी-भावों को समूल-नष्ट करते हुए अपने आत्म-स्वभाव को ग्रहणकर स्वरूप में पूर्णरूप से लीनता का पुरुषार्थ करते हैं। इसप्रकार मोक्षमार्ग को साधते हुये हमेशा के लिए घातिया-कर्मों से रहित होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और लोकालोक को जानते हैं, अर्थात् ज्ञान की पूर्ण-निर्मलता होने से लोकालोक सहज जानने में आता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान, खोदि मूल-वृच्छकौं उखारै गहि बाहूसौं।

तैंसैं मतिमान दर्वकर्म-भावकर्म त्यागि, ह्वै रहै अतीत मति ग्यानकी दशाहूसौं॥

याही क्रिया अनुसार मिटै मोह-अंधकार, जगै जोति-केवल प्रधान सविताहूसौं।

चुकै न सकतीसौं, लुकै न पुद्गलमाँहि, धुकै मोख-थलकौं, रुकै न फिर काहूसौं॥ 58॥

इतालोक्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्, तन्मूलां बहुभाव-सन्ततिमिमा मुद्धर्तुकामः समम्।

आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्यूनैकसंविद्युतम्, येनोन्मूलित-बन्ध एष भगवानात्मानि स्फूर्जति॥ 16॥

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां, कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।

ज्ञानज्योतिः क्षपित-तिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्, तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति॥ 17॥

शब्दार्थ :- जैसे कोऊ मनुष्य अज्ञान महाबलवान= जैसे कोई मनुष्य, अज्ञानी व महाबलशाली, खोदि मूल-वृच्छकौ उखारै गहि बाहूसौं= वृक्ष की जड़ को खोदकर बाँहों से पकड़कर उखाड़ता है, तैसें मतिमान दर्बकर्म-भावकर्म त्यागि= वैसे बुद्धिमान द्रव्यकर्म, भावकर्म को त्यागकर, ह्वै रहै अतीत मतिग्यानकी दशाहूसौं= मतिज्ञान की दशा से अतीत हो रहे हैं, याही क्रिया-अनुसार= इसी प्रक्रिया से, मिटै मोह-अंधकार= मोह का अंधकार मिटता है, जगै जोति-केवल= केवलज्ञान-ज्योति जागृत होती है, प्रधान सविताहूसौं= सूर्य से भी श्रेष्ठ, चुकै न सकतीसौं= किसी भी शक्ति से चूकता नहीं है, लुकै न पुद्गलमाँहि= पुद्गल से छिपता नहीं है, धुकै मोख-थलकौं= मोक्ष-स्थल पर गमन करता है, रुकै न फिर काहूसौं= फिर किसी के रोके नहीं रुकता।

विशेषार्थ :- बंध-द्वार की पूर्णता, और कर्मबंधन से छूटने का सर्वश्रेष्ठ उपाय भेदज्ञान की सामर्थ्य और फल का सटीक-वर्णन कवि ने उपर्युक्त-छंद में किया है।

दुःख का मूलकारण मोह, राग, द्वेष आदि भावकर्म और उसके निमित्त से बँधनेवाले ज्ञानावरणादि आठों द्रव्यकर्म हैं। और इन कर्मों से छूटने का एकमात्र-उपाय भेदविज्ञान ही है, जिसका बहुत ही सुन्दर-वर्णन कवि ने पिछले छंदों में किया। अब इस-छंद में विश्वास दिलाया कि जीव यदि भेदविज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है, तो वह अनंतकाल के लिए सुखी हो सकता है, भेदज्ञान की ऐसी सामर्थ्य या फल है।

जैसे कोई अज्ञानी हो, परन्तु शारीरिक-दृष्टि से महाबलशाली हो, वह विशाल-वृक्ष को जड़सहित खोदकर अपने बाहुबल से उखाड़कर फेंक देता है; ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव क्षयोपशम की दृष्टि से भले ही अल्पज्ञानी हो पर भेदज्ञान के महानबल से द्रव्यकर्म और भावकर्म को नष्टकर रीते यानि कर्मों के भार से मुक्त होते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि शास्त्रज्ञान भले ही अल्प हो, पर स्वयं का अर्थात् निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान सम्यक् हो, तो वह जीव भेदज्ञान के बल से ही समस्त कर्मों का क्षय कर सकता है।

स्व-पर के भेदविज्ञान की इसी प्रक्रिया से मोहरूपी-अंधकार नष्ट हो जाता है अर्थात् गहन-अंधकारवत् मोहनीय-कर्म का पूर्ण-क्षय हो जाता है। और सूर्य के प्रकाश से भी श्रेष्ठ-ज्योति का पुंज केवलज्ञान प्रगट होता है। यद्यपि सूर्य के प्रकाश और केवलज्ञान के प्रकाश में जातिगत-समानता नहीं है; क्योंकि सूर्य का प्रकाश पुद्गल का परिणामन है और केवलज्ञान जीव के ज्ञान-गुण का परिणामन है, अर्थात् एक अचेतन और दूसरा चेतन, परन्तु जगत् में सूर्य के प्रकाश को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, सो कवि ने यहाँ सूर्य के प्रकाश की तुलना केवलज्ञान से की है, लेकिन यह मात्र उदाहरण से सिद्धांत का प्रतिपादन है।

केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद फिर वह प्रगट-ज्ञानशक्ति कभी चूकती नहीं है अर्थात् समाप्त नहीं होती, केवलज्ञान सादि-अनंतकाल तक प्रगट रहता है। उसके बाद वह ज्ञानशक्ति द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी किसी भी आवरण से छिपती या ढँकती भी नहीं है, सदाकाल प्रकाशित रहती है और वह जीव सीधा मोक्षमहल की ओर गमन करता है, किसी के रोकने पर भी नहीं रुकता अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।



(नवम-अधिकार)

मोक्ष-द्वार

(दोहा)

बंध-द्वार पूरौ भयौ, जो दुःख-दोष निदान।

अब वरनौ संक्षेपसौ, मोख-द्वार सुखथान॥ 1॥

शब्दार्थ :— बंध-द्वार पूरौ भयौ= बंध-द्वार पूरा हुआ, जो दुःख-दोष निदान= जो दुःख और दोष का कारणभूत है। अब वरनौ संक्षेपसौ= अब संक्षेप में वर्णन करता हूँ, मोख-द्वार सुखथान= सुख के स्थान मोक्ष-द्वार का।

विशेषार्थ :— इसके पहले बंध-द्वार में कवि ने दुःख के मूल-कारण कर्म-बंधन के स्वरूप का तथा कर्मों से छूटने का विस्तार से बहुत ही सुंदर-वर्णन किया। अब आगे के अधिकार में सुख का कारणभूत मोक्ष-पदार्थ का सुंदर-वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं; क्योंकि कर्मबंधन से छूटने के बाद ही जीव अविनाशी, त्रिकाल, शाश्वत मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

(सवैया इकतीसा)

भेदग्यान-आरासौ दुफारा करै ग्यानी-जीव, आतम-करम-धारा भिन्न-भिन्न चरचै।

अनुभौ-अभ्यास लहै परम-धरम गहै, करम-भरमकौ खजानो खोलि चरचै॥

यौही मोख-मुख धावै केवल निकट आवै, पूरन-समाधि लहै परमकौ परचै।

भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और, ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै॥ 2॥

शब्दार्थ :— भेदग्यान-आरासौ दुफारा करै ग्यानी-जीव= ज्ञानी-जीव भेदज्ञानरूपी करोंत से दो टुकड़े करते हैं, आतम-करम-धारा भिन्न-भिन्न चरचै= आतम-धारा और करम-धारा दोनों को अलग-अलग जानते हैं, अनुभौ-अभ्यास लहै परम-धरम गहै= अनुभव का अभ्यास प्राप्त करते हैं, सर्वश्रेष्ठ-धर्म को ग्रहण करते हैं, करम-भरमकौ खजानो खोलि खरचै= कर्म (द्रव्यकर्म) और भावकर्म का खजाना खोलकर खर्च/निर्जरा करते हैं, यौही मोख-मुख धावै केवल निकट आवै= इसीप्रकार मोक्ष के सन्मुख दौड़ते हैं, केवलज्ञान पास आता है, पूरन-समाधि लहै परमकौ परचै= पूर्ण-समाधि को प्राप्त करते हैं, फिर परमात्म-पद को प्राप्त करते हैं, भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और= (स्वरूप में) स्थिर होते हैं, जैसे कुछ और करना शेष नहीं रहा, ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै= ऐसे विश्वनाथ अर्थात् तीनों-लोकों के स्वामी, उनको बनारसीदास अर्चन/वंदन करते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उन जीवों को वंदन किया है, जो भेदविज्ञान के बल पर आत्मा और कर्मों को भिन्न करते हैं। जैसे करोंत (आरा मशीन) के सामने कितनी भी मोटी-लकड़ी रखी जाये, वह उसके दुफारा यानि उसे फाड़कर दो टुकड़े कर देती है; ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव भेदज्ञानरूपी करोंत से आत्मधारा और कर्मधारा दोनों को भिन्न कर देते हैं अर्थात् स्व और पर या आत्मा को कर्मादि-विकार से भिन्न-भिन्न अनुभव करते हैं। स्व और पर में भिन्नता भासित होने पर स्व अर्थात् आत्मानुभवरूप

द्विधाकृत्य प्रज्ञा-क्रकच-दलनाद्-बन्धपुरुषौ, नयनमोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलभ्यैक-नियतम्।

इदानीमुन्मज्जत्सहज-परमानन्द-सरसं, परं पूर्णं ज्ञानं कृत-सकलकृत्यं विजयते॥ 1॥

स्वरूप में स्थिरता का अभ्यास करते हैं, और परमधर्म या रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करते हैं। और ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेष आदि भावकर्म को खजाना खोलकर खर्च करते हैं अर्थात् कर्मों का तीव्रता से क्षय करते हैं।

ज्यों-ज्यों कर्मों का क्षय होता जाता है, त्यों-त्यों जीव मोक्ष के सन्मुख दौड़ता है, तब केवलज्ञान निकट आने लगता है, और साधक-जीव पूर्ण-समाधि अर्थात् स्वरूप में पूर्ण-स्थिरता करते हुये परमपद अर्थात् परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। संसार का परिभ्रमण समाप्त होने से कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिए कृतकृत्य होता है। 'निरदौर' अर्थात् अनंतकाल के लिये स्थिरता को प्राप्त होते हैं; क्योंकि अब पुनः जन्म-मरण का अभाव होने से अनंतकाल तक सिद्धालय में विराजमान रहेंगे। ऐसे विश्व के नाथ यानि ऊर्ध्व, मध्य और अधो तीनों-लोकों के स्वामी त्रिलोकपूज्य वीतरागी परमात्मा तीर्थंकर देव को मैं बनारसीदास वंदन या अर्चन करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

काहू एक जैनी सावधान हूँ परम-पैनी, ऐसी बुद्धि-छैनी घटमाँहि डार दीनी है।
पैठी नोकरम भेदि दरव-करम छेदि, सुभाउ-विभाउताकी संधि सोधि लीनी है॥
तहाँ मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय, एक मुधामई एक सुधारस भीनी है।
मुधासौँ विरचि सुधा-सिंधुमै मगन भई, ऐती सब क्रिया एक-समै-बीचि कीनी है॥ 3॥

शब्दार्थ :- काहू एक जैनी सावधान हूँ परम-पैनी= कोई एक जैनी ने सावधान होकर अत्यधिक-पैनी, ऐसी बुद्धि-छैनी घटमाँहि डार दीनी है= ऐसी बुद्धिरूपी/प्रज्ञारूपी छैनी अपने हृदय/अंतरंग में डाल दी है, पैठी नोकरम भेदि दरव-करम छेदि= नोकरम को भेदकर, द्रव्य-कर्म को छेदकर (अंतरंग में) घुसी है, सुभाउ-विभाउताकी संधि सोधि लीनी है= स्वभाव और विभाव के भेद को पहचान लिया, तहाँ मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय= वहाँ मध्यस्थ होकर उसने दो धारा देखी, एक मुधामई सुधारस भीनी है= अज्ञानमयी, एक अमृतरस में भीगी हुई, मुधासौँ विरचि सुधासिंधुमै मगन भई= अज्ञान को छोड़कर, अमृत-समुद्र में लीन हुआ, ऐती सब क्रिया एक समै बीचि कीनी है= इतनी सब क्रिया एक समय में ही की गयीं हैं।

विशेषार्थ :- एक सम्यग्ज्ञानी-जीव कैसे नोकरम, द्रव्यकर्म और भावकर्म से भिन्न निजात्मा का साक्षात्कार करता है?— इसका बहुत ही सुंदर और सटीक-चित्रण कवि ने इस छंद में किया है। साथ ही यह मूक-संदेश भी दिया कि हम भी जब चाहें, तब इस प्रक्रिया को अपनाकर स्वानुभूति कर सकते हैं।

जैसे एक लुहार लोहे की बहुत पैनी-छैनी को लकड़ी की संधि पर रखकर जैसे ही चोट करता है, उस लकड़ी के दो टुकड़े हो जाते हैं, वैसे ही एक जैनी स्व-पर का भेदविज्ञान करता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कवि ने 'जैनी' यह संबोधन क्यों किया? क्योंकि जो जीव मोक्षमार्ग के दिग्दर्शक जिनेन्द्रदेव का अनुयायी है, वही सच्चा-जैन है, और वही उनका अनुयायी होने से उपर्युक्त मुक्ति के मार्ग का अनुसरण करता है।

उपर्युक्त विवेचित ऐसा कोई जैनी सावधान होकर अर्थात् विवेकपूर्वक अति-पैनी बुद्धि अर्थात् प्रज्ञारूपी-छैनी को अंतस्/अंतरंग में डालता है, जैसे ही वह प्रज्ञा-छैनी अंतस् में प्रवेश करती है, तो सर्वप्रथम नोकरम को भेदती है। नोकरम अर्थात् सबसे पहले देहादिक बाह्य-पदार्थों से ममत्वबुद्धि छूटती

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः, सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्म-कर्मोभयस्य।

आत्मानं मग्नमन्तःस्थिर-विशद-लसद्ब्रह्मि चैतन्यपूरे, बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ॥ 2॥

है, पश्चात् ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म को छेदकर अर्थात् कर्मों का वह आवरण जो अनादिकाल से चेतन-आत्मा को ढँके हुये हैं, ऐसी पौद्गलिक कार्माण-वर्गणाओं से स्वयं को भिन्न अनुभव करता है।

पश्चात् मोह, राग, द्वेष आदि विकारी-भावरूप विभाव-परिणति और ज्ञान-दर्शन चेतनतारूप स्वभाव-परिणति की संधि से साक्षात्कार होता है, और स्वभाव और विभावरूप दो धारायें दिखती हैं। जिनमें से एक धारा अज्ञान की, जो अनादिकाल से जीव को मोहित या भ्रमित किये हुये हैं, और दूसरी धारा ज्ञानामृतरूपी अमृत-सिंधु की, जो अतीन्द्रिय-सुख का वेदन कराती है। तब वह जीव अज्ञानधारा को छोड़कर ज्ञानमयी-धारा को ग्रहणकर स्वरूप के रसास्वादन में मग्न हो जाता है। कविवर कहते हैं कि इस सारी प्रक्रिया में जीव को मात्र एक-समय ही लगता है और उस एक-समय में वह जीव लकड़ी के दो टुकड़ों की तरह जड़ और चेतन की भिन्नता की दृष्टि को प्राप्त होता है अर्थात् अज्ञान की निर्वृत्ति एवं अनुभूति/ज्ञान की प्राप्ति में कालभेद नहीं है।

(दोहा)

जैसे छैनी-लोह की, करै एकसौं दोड़।
जड़-चेतन की भिन्नता, त्यों सुबुद्धिसौं होड़॥ 4॥

शब्दार्थ :- जैसे छैनी लोह की= जैसे लोहे की छैनी, करै एकसौं दोड़= एक जैसे दो टुकड़े करती है, जड़-चेतन की भिन्नता त्यों= उसीप्रकार जड़ और चेतन का पृथक्करण, सुबुद्धिसौं होड़= सम्यग्ज्ञान से होता है।

विशेषार्थ :- इस छंद में सुबुद्धि/सम्यग्ज्ञान की महिमा को वर्णित किया गया है। जैसे एक लोहे की छैनी लकड़ी के दो समान टुकड़े कर देती है, ठीक उसी प्रकार सुबुद्धिरूपी पैनी-छैनी से जीव जड़ और चेतन को भिन्न करता है, अर्थात् देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करता है।

(घनाक्षरी)

धरति धरम-फल, हरति करम-मल, मन-वच-तन-बल करति समरपन।
भखति-असन सित चखति रसन-रित, लखति-अमित वित करि चित-दरपन॥
कहति मरम-धुर, दहति भरम-पुर, गहति परम-गुर उर-उपसरपन।
रहति जगति-हित, लहति भगति-रति, चहति अगति-गति यह मति-परपन॥ 5॥

शब्दार्थ :- धरति धरम-फल= धर्म-फल को धारण करती है, हरति करम-मल= कर्मों की गंदगी का हरण करती है, मन-वच-तन-बल करति समरपन= मन, वचन, काया तीनों बलों का समर्पण करती है, भखति-असन सित चखति रसन-रित= रसना-इन्द्रिय से स्वाद लिये बिना एकबार भोजन करती है, लखति अमित वित-करि चित-दरपन= अनंत-संपत्ति को चित्तरूपी-दर्पण में देखती है, कहति मरम-धुर= मर्म की बात कहती है, दहति भरम-पुर= भ्रम के नगर का विनाश करती है, गहति परम-गुर उर-उपसरपन= परमगुरु (की देशना) ग्रहण करती है, चित में (उस देशना के प्रतिपाद्य से) निकटता लाती है, रहति जगति-हित लहति भगति-रति= जगत् की हितकारी रहती है, भक्ति में अनुराग रखती है, चहति अगति-गति यह मति-परपन= अगति अर्थात् गतिरहित पंचमगति (मुक्ति) को चाहती है, — यह उस बुद्धि/प्रज्ञा का प्रताप है।

विशेषार्थ :- जहाँ कवि ने पिछले-छंद में 'सुबुद्धि' को एक तीक्ष्ण-छैनी कहा था, और स्पष्ट किया था कि इस छैनी से जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न किया जाता है, वहीं इस छंद में उस सुबुद्धि का और क्या प्रताप है? उसको बहुत ही सरल-शब्दों में स्पष्ट किया है।

'सुबुद्धि' अर्थात् सम्यग्ज्ञान धर्म-फल को धारण करता है अर्थात् सुबुद्धि से ही आत्मधर्म का ग्रहण होता है, जिससे कर्मरूपी-मल का हरण होता है अर्थात् समस्त-कर्मों का क्षय होता है। जबतक जीव को सुबुद्धि की प्राप्ति नहीं होती, तबतक तीनों बलों की चंचलता बनी रहती है, जैसे ही सुबुद्धि की प्राप्ति होती है, वैसे ही जीव मन, वचन और काया तीनों को मोक्षमार्ग में समर्पित करता है, या कहें कि तीनों की एकाग्रता सुबुद्धि से ही संभव है।

सुबुद्धि/सम्यग्ज्ञान होने पर जीव रसना-इन्द्रिय का उपयोग किये बिना ही निरन्तर-ज्ञानामृत का स्वादिष्ट-भोजन करता है; क्योंकि रसना-इन्द्रिय तो जड़-पदार्थों के स्वाद को ग्रहण करती है, चैतन्य के रस का स्वाद-ग्रहण करने की सामर्थ्य रसना-इन्द्रिय में नहीं है। साथ ही सुबुद्धि अपने चैतन्य-गुणों की अनंत-संपत्ति को अपने चित्तरूपी-दर्पण में देखती है अर्थात् अपने सम्यग्ज्ञान से निजात्मा के अनंत-गुणों का वेदन करते है।

सम्यग्ज्ञान होने पर जीव को केवल स्वात्मा की ही चर्चा सुहाती है, इसलिए वह जीव स्वयं के लिये भी और भव्यजीवों के लिये भी आत्महित की ही चर्चा करते हैं। जैसे अग्नि की एक चिंगारी भी सब कुछ जलाकर राख कर देती है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान/ सुबुद्धिरूपी-चिंगारी के द्वारा मिथ्यात्वरूपी-भ्रम के संपूर्ण-नगर का दहन हो जाता है। भ्रम दूर होने से वह जीव गुरु की देशना को ग्रहणकर हृदय में धारण करता है और चित्त को स्थिर करता है। वह सुबुद्धि सदैव जगत् के जीवों के हित की बात करने से जगत् के लिये हितकारी रहती है। निरन्तर बाह्य में पंच-प्रभु की भक्ति एवं अंतरंग में चैतन्य-प्रभु की भक्ति में अनुराग रखती है। तथा अगति अर्थात् चारों गतियों से परे सिद्धगति/मोक्षपुरी की चाह रखती हैं इसलिये ज्ञानी जीव निरन्तर मोक्ष की ओर अग्रसर होते हैं— ये सुबुद्धि का ही प्रताप या विलास है।

(सवैया इकतीसा)

राणाकौसौ बाना-लीनै आपा-साधै थाना चीनै, दाना-अंगी नाना-रंगी खाना-जंगी जोधा है।

मायाबेली जेती तेती रेतैमैं धारेती सेती, फंदाहीकौ कंदा खोदै खेतीकौसौ लोधा है॥

बाधा-सेती हांता लोरै राधा-सेती ताँता जोरै, बाँदी-सेती नाता तोरै चाँदी-कौसौ सोधा है।

जानै जाही ताही नीकै मानै राही पाही पीकै, ठानै बातैं डाही ऐसौ धारावाही-बोधा है॥ 6॥

शब्दार्थ :- राणा-कौसौ बाना लीनै= राणा के जैसा वेश धारण किया, आपा-साधै थाना-चीनै= अपने को साधता है, अपने स्थान/देश/स्वरूप को पहिचानता है, दाना-अंगी नाना-रंगी= प्रतापी, विविध-रंगों से सहित, खाना-जंगी जोधा है= भयंकर-युद्ध का योद्धा है, माया-बेली जेती तेती= मायारूपी जितना लोहा है, उतना, रेतैमैं धारेती सेती = रेती से घिसने में, फंदा हीकौ कंदा खोदै= फंदेरूप कांस की जड़ को खोदने में, खेती-कौसौ लोधा है= खेती करनेवाले किसान के समान है, बाधा-सेती हांता लोरै= दुःख/क्लेश आदि से अलग करता है, राधा-सेती ताँता जोरै= राधिकारूपी सुमति से प्रेम करता है, बाँदी-सेती नाता तोरै= कुमतिरूपी दासी से संबंध तोड़ता है, चाँदी-कौसौ सोधा है= चाँदी को सोधनेवाले के समान, जानै जाही ताही नीकै मानै= जिसे जानता है, उसे अच्छा मानता है, राही पाही पीकै= प्यासा-राहगीर पानी पीकर, ठानै बातैं डाही= होशियारी की बातें करता है, ऐसौ धारावाही-बोधा है= ऐसा ही अनवरत-ज्ञानी है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने बहुत ही सुंदरता से सम्यग्ज्ञानी-जीव और एक राजा में साम्य वर्णित किया है।

सम्यग्ज्ञानी-जीव ने राणा अर्थात् युद्धवीर-राजा का वेश धारण किया है, जैसे राजा अपने राज्य और लोगों की सुरक्षा के लिये प्रतिसमय अपने परिणामों की संभाल करता है कि कहीं कुछ गलत न हो जाये, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव यद्यपि स्वात्मा का श्रद्धान तो अडिग है; लेकिन फिर भी चारित्र-संबंधी-विकारों की मलिनता कहीं उपयोग को मलिन न कर दे, सो निरन्तर अपने परिणामों की संभाल करते हैं। जैसे राजा अपने राज्य के हर-क्षेत्र व पदार्थ को भलीभाँति पहचानता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव अपनी आत्मसत्तारूप-भूमि को भलीभाँति पहचानते हैं। युद्धवीर-राजा अपनी चतुरंगिणी-सेना, अंगरक्षकों को संभालने में पूरीतरह सजग रहता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव भी प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य आदि गुणोंरूपी सेना और अंगरक्षकों की संभाल में हमेशा सजग रहते हैं; क्योंकि ये चारों सम्यक्त्व की सुरक्षा के घेरे माने गये हैं। जैसे राजा अपनी प्रजा को परिपक्व या कहें आत्मनिर्भर करने के लिये अनेक-रंगों को या रूपों को धारण करके उनकी परीक्षा लेता है; ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव अपने चारित्र को दृढ़ करने के लिए तप, समिति, गुप्ति, परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा इत्यादि अनेक-रंगों को धारणकर स्वयं की परीक्षा लेते हैं। कर्मरूपी-शत्रुओं को हराने के लिये सम्यग्ज्ञानी-जीव महाशूरवीर-राजा के समान बलशाली है।

जिसप्रकार लोहे को घिसने के लिये रेती का प्रयोग किया जाता है, ठीक उसीप्रकार मायारूपी लोहे को रेतने यानि खत्म करने के लिये सम्यग्ज्ञानी-जीव रेती के समान है। जिसप्रकार किसान फसल को सुरक्षित रखने के लिए कांस की जड़ों को उखाड़कर फेंक देता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव अपने आत्मस्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए कर्मरूपी कटीले-फंदों को उखाड़कर फेंक देते हैं।

सम्यग्ज्ञान दुःख/क्लेशरूप कर्मजनित-बाधाओं से बचानेवाला है अर्थात् सम्यग्ज्ञानी-जीव कभी दुःखी नहीं होते। सुमतिरूपी-राधिका अर्थात् स्वभाव के अनुरूप सत्कार्यों से प्रीति करते हैं, और कुमतिरूपी-दासी से संबंध तोड़ देते हैं, अर्थात् स्वभाव से विपरीत मिथ्याभावों रूपी कार्यों में प्रवर्तन नहीं करते। सम्यग्ज्ञानी-जीव रजत-सोधा (चाँदी को साफ करनेवाले) के समान है, अर्थात् जैसे चाँदी सोधनेवाला धूल-मिट्टी आदि समस्त गंदगी को अलगकर चाँदी को सोधता/साफ करता है; ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी-जीव पर-भावोंरूप धूल-मिट्टी को अलगकर निज-स्वरूप को सोधते हैं। और फिर जिस सत्य से परिचित होते हैं, उसे न केवल जानते हैं, वरन् मानते भी हैं, ठीक उसीप्रकार जैसे प्यासा-राहगीर पानी पीने पर तृप्त होकर बातें करता है। जैसे उड़द की दाल को लेते समय ही हम ये मान लेते हैं कि इसका छिलका 'हेय' और अंदर का बीज 'उपादेय' है, उसीप्रकार ज्ञानी-जीव मानते हैं कि शरीरादि पर-पदार्थ हेय हैं, और भगवान् आत्मा उपादेय है, अर्थात् हेय-ज्ञेय-उपादेय के ज्ञान से तृप्त होकर वैसा ही प्रतिपादन भी करते हैं। ऐसी उत्तम-बातों के आराधक सम्यग्ज्ञानी होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकै दरब-मिति साधन छखंड-थिति, बिनसै विभाव-अरि-पंकति-पतन है।

जिन्हकै भगतिको विधान एई नौ-निधान, त्रिगुन के भेद मानौ चौदह-रतन हैं॥

जिन्हकौ सुबुद्धिरानी चूरै महा-मोह-वज्र, पूरै मंगलीक जे-जे मोख के जतन हैं।

जिन्हकै प्रमान-अंग सोहै चमू-चतुरंग, तेई चक्रवर्ती-तनु धरै पै अतन हैं॥ 7॥

शब्दार्थ :- जिन्हकै दरब-मिति साधन छखंड-थिति= जो छह-द्रव्य साधते हैं (जैसे चक्रवर्ती) छह-खंड की स्थिति (को साधते हैं), बिनसै विभाव-अरि-पंकति पतन है= (जैसे चक्रवर्ती) शत्रु के समूह का विनाश

करता है, वैसे ही ये विभाव-भाव नष्ट करते हैं, जिन्हकै भगतिको विधान एई नौ-निधान= जिनके नवधा-भक्ति का विधान है, जैसे (चक्रवर्ती की) नौ निधियाँ, त्रिगुण के भेद मानौ चौदह रतन हैं= तीन गुण (रत्नत्रय) के भेद, जैसे (चक्रवर्ती के) चौदह रत्न हों, जिन्हकौ सुबुद्धिरानी चूरे महामोह-वज्र= जिनको सुबुद्धि-रानी महामोह-रूपी वज्र/हरी को चूरकर, पूरे मंगलीक जे-जे मोख के जतन हैं= मांगलीक/चौक पूरती हैं, जो-जो मोक्ष के उपाय हैं (वे सभी करती है), जिन्हकै प्रमाण-अंग सोहै चमू-चतुरंग= जिनके प्रमाण आदि अंग वैसे ही शोभायमान हैं, जैसे चक्रवर्ती की चतुरंगिणी-सेना सोहती है, तेई चक्रवर्ती तनु धरै पै अतन= वैसे ही ये चक्रवर्ती शरीर धारण करते हैं, पर अशरीरी हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने ज्ञानी-जीव को सच्चा-चक्रवर्ती सिद्ध किया है। चक्रवर्ती की जो संपदा या वैभव होता है, ठीक वैसा ही वैभव ज्ञानी-जीव को भी होता है।

चक्रवर्ती का सर्वप्रथम-वैभव कि वे छह-खंड को साधते हैं या जीतते है, वैसे ही ज्ञानी-जीव छहों-द्रव्यों को साधते हैं अर्थात् छहों-द्रव्यों के स्वरूप को जानकर अपने निज-स्वरूप को साधते हैं। जैसे चक्रवर्ती मात्र शत्रु का नहीं, बल्कि शत्रुओं के कुल का भी विनाश करते हैं, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव स्वभाव से विपरीत हर विभाव-परिणति का समूल-विनाश करते हैं। जिसप्रकार चक्रवर्ती को नव-निधियाँ प्रकट होती हैं, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव श्रवण, कीर्तन आदि नवधा-भक्ति को धारण करते हैं। जैसे चक्रवर्ती को सात-सजीव/सचेतन और सात-अजीव/अचेतन— ऐसे चौदह रत्नों की प्राप्ति होती है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव को तीन गुण यानि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद अर्थात् सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन भेद, सम्यग्ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच भेद, और सम्यक्चारित्र के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात और संयमासंयम— ये छह-भेद, इसप्रकार रत्नत्रय के कुल चौदह-रत्न प्राप्त होते हैं।

जब चक्रवर्ती दिग्विजय के लिये जाते हैं, तब उसकी पटरानी अपनी चुटकी से वज्र-रत्नों को चूरकर उससे मांगलिक-चौक पूरती है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव जब मोक्ष-गमन का पुरुषार्थ करते हैं, तब सुबुद्धिरूपी पटरानी महा-मोहरूपी वज्र को चूरकर चौकरूपी-शगुन करती है, अर्थात् मोह वज्र के समान कठोर है, और उसको चूरे बिना अर्थात् नष्ट किये बिना मोक्ष का शगुन यानि शुरूआत भी नहीं होती। जैसे चक्रवर्ती के हाथी, घोड़े, रथ और पैदल— इन चार समूहों से सुसज्जित चतुरंगिणी-सेना सोहती है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव के प्रत्यक्ष और परोक्ष-प्रमाण, नय-निक्षेप आदि शोभायमान होते हैं। यद्यपि दोनों ही चक्रवर्ती हैं, परन्तु एक 'तन-चक्रवर्ती' है और दूसरे 'अतन-चक्रवर्ती' हैं, अर्थात् देह में रहते हुए भी देह से भिन्न निजात्मा के चिंतन मनन और लीनता में रत रहते हैं, जिससे आत्मवैभव प्रगट होता है, इसीलिये ये धर्म के सच्चे और 'अतन-चक्रवर्ती' हैं।

(दोहा)

श्रवन-कीरतन-चिंतवन, सेवन-वंदन-ध्यान।

लघुता-समता-एकता, नौधा-भक्ति प्रवान॥४॥

शब्दार्थ :- श्रवन= सुनना, कीरतन= गुणगान करना, चिंतवन= विचार करना, सेवन= ग्रहण/आचरण करना, वंदन= वंदन/आदर करना, ध्यान= एकाग्रतापूर्वक स्मरण करना, लघुता= विनम्रता, समता= समभाव, एकता= एकत्व करना, नौधा-भक्ति प्रवान= ये नवधा-भक्ति जाननी चाहिये।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने पिछले-छंद में कथित नवधा-भक्ति का उल्लेख किया है। ये नवधा-भक्ति ज्ञानियों के जीवन में अवश्य होती है। सबसे पहले 'श्रवण' अर्थात् अपने आत्महित की बातों को सुनना, दूसरी 'कीर्तन' अर्थात् स्वहितकारी-गुणों का व्याख्यान या गुणगान करना, तीसरी 'चिंतन' अर्थात् आत्महितकारी-गुणों का विचार करना, चौथी 'सेवन' अर्थात् जीवन में अपना, पाँचवी 'वंदन' अर्थात् गुण और गुणियों की वंदना करना, छठवीं 'ध्यान' अर्थात् मन, वचन, काय की एकाग्रतापूर्वक आत्मध्यान करना, सातवी 'लघुता' अर्थात् मन-वचन-काय से विनय करना गर्व नहीं करना, आठवीं 'समता' अर्थात् जीवमात्र के प्रति समभाव रखना, और नौवी 'एकता' अर्थात् देहादिक से भिन्न एक आत्मतत्त्व को ही अपना मानना या कहें एकत्व करना— ये 'नवधा-भक्ति' ज्ञानी-जीव हमेशा करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ अनुभवी-जीव कहै मेरे अनुभौ में, लक्षण-विभेद भिन्न करमकौ जाल है।
जानै आपा आपुकौं जु आपु-करि आपु-विषै, उतपति-नास-ध्रुव-धारा असराल है॥
सारे विकल्प मोंसौं न्यारे सरवथा मेरौ, निहचै-सुभाव यह विवहार-चाल है।
मैं तो सुद्ध-चेतन अनंत-चिनमुद्राधारी, प्रभुता हमारी एकरूप तिहूंकाल है॥ १॥

शब्दार्थ :- कोऊ अनुभवी-जीव कहै मेरे अनुभौ में= कोई आत्मानुभवी-जीव कहता है कि "मेरे अनुभव में, लक्षण-विभेद भिन्न करमकौ जाल है= लक्षणभेद से भी कर्म का जाल आत्मा से पूर्णतः भिन्न है, जानै आपा आपुकौं जु आपु-करि आपुविषै= वे अपने आपको, अपने ही द्वारा, अपने में ही जानते हैं, उतपति-नास-ध्रुव-धारा असराल है= उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की धारा निरन्तर बहती है, सारे विकल्प मोंसौं न्यारे सरवथा= समस्त विकल्प मेरे से पूर्णतः भिन्न हैं, मेरौ निहचै- सुभाव यह विवहार-चाल है= मेरा निश्चयरूप स्वभाव है, और यह व्यवहार का कथन है, मैं तो सुद्ध-चेतन= मैं पूर्ण-शुद्ध चेतन-आत्मा हूँ, अनंत- चिनमुद्राधारी= अनंत-चैतन्यमुद्रा को धारण करनेवाला हूँ, प्रभुता हमारी एकरूप तिहूंकाल है= हमारा वैभव तीनों काल एक समान है।"

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मस्वरूप की महिमा और ज्ञानी-जीव के चिंतन को प्रस्तुत किया है। आत्मानुभूति के समय साधक को समस्त-कर्माँ से, विकल्पों से रहित, पूर्ण शुद्ध-आत्मा ही अनुभव में आता है। कर्माँ का जाल न केवल आत्मा से पृथक् है; बल्कि लक्षण-भेद आदि से भी सर्वथा-भिन्न है। क्योंकि कार्माण-वर्गणा पुद्गलरूप होने से जड़ हैं; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त हैं; जबकि आत्मा चेतन, अरूपी, ज्ञान-दर्शन आदि अनंत-गुणों से युक्त है।

ज्ञानी-जीव प्रतिसमय बिना किसी की अपेक्षा या सहायता के स्वयं अपने आप को, अपने द्वारा, अपने में ही जानते हैं। वे जानते हैं कि पर्यायों का उत्पाद और व्ययरूप समस्त विकल्प मेरे आत्मस्वरूप से सर्वथा-भिन्न हैं। उन विकल्पों को मेरा कहना— यह व्यवहार-कथन है। निश्चय से तो मैं त्रिकाल विकारों से पूर्ण-रहित शुद्ध-चैतन्य सुख, वीर्य आदि अनंत-गुणों का धारी परिपूर्ण भगवान् आत्मा हूँ, और मेरा ये वैभव, प्रभुता, स्वामित्व सदाकाल एक-जैसा ही रहता है, किसी भी पर्याय में, किसी भी परिस्थिति में घटता बढ़ता नहीं है; क्योंकि मैं क्षय और उत्पाद से रहित ध्रौव्य-तत्त्व हूँ।

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षण-बलाद्धेतुं हि यच्छक्यते, चिन्मुद्राङ्कित-निर्विभाग-महिमा शुद्धश्चिदेवास्यहम्।

भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि, भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति॥ ३॥

निराकार-चेतना कहावै दरसन-गुन, साकार-चेतना सुद्ध-ज्ञान-गुनसार है।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन-दरब-माँहि, सामान-विशेष-सत्ताहीकौ विसतार है॥
कोऊ कहै चेतना-चिह्न नांही आतमा मै, चेतना के नास होत त्रिविध-विकार है।
लक्षणकौ नास सत्ता-नास मूल-वस्तु-नास, तातैं जीव-दरबकौ चेतना आधार है॥ 10॥

शब्दार्थ :- निराकार-चेतना कहावै दरसन-गुन= दर्शन-गुण निराकार/सामान्य-चेतनारूप कहलाता है, साकार-चेतना सुद्ध-ज्ञान-गुनसार है= साकार/विशेष-चेतना शुद्ध-ज्ञान-गुण का सार है, चेतना अद्वैत दोऊ चेतन-दरब-माँहि= चेतना एक है, दोनों चेतन-द्रव्यों के बीच, सामान-विशेष सत्ताहीकौ विसतार= सामान्य और विशेष-सत्ता का ही विस्तार है, कोऊ कहै चेतना-चिह्न नांही आतमा मै= कोई कहै आत्मा में चेतना का कोई चिह्न नहीं है, चेतना के नास होत त्रिविध-विकार है= चेतना के नष्ट होने पर ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं= लक्षणकौ नास सत्ता-नास मूल-वस्तु-नास= लक्षण का विनाश, सत्ता का नाश, मूल-वस्तु का विनाश, तातैं जीव दरबकौ चेतना आधार है= इसलिए जीवद्रव्य के लिये चेतना ही आधार है।"

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने चेतना का स्वरूप और भेद बताते हुये ये भी स्पष्ट किया कि चेतना तो अभेद ही है।

कवि ने यहाँ चेतना के दो भेद कहे— दर्शन-चेतना और ज्ञान-चेतना। सर्वप्रथम आकार-रहित चेतना या सामान्य-प्रतिभास को दर्शन-गुण या दर्शन-चेतना कहते हैं, और आकार-सहित चेतना या विशेष-प्रतिभास को ज्ञान-गुण या ज्ञान-चेतना कहते हैं। यद्यपि दर्शन और ज्ञान दो भेद होते हुये भी चेतना दोनों में एक ही है, एक ही द्रव्य में रहती हैं। सामान्य-प्रतिभास और विशेष-प्रतिभास उस चेतन-सत्ता का ही विस्तार है।

यहाँ कवि ने अन्यमत का उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि कोई ये कहे कि ये चेतना-लक्षण आत्मा का नहीं है; क्योंकि वैशेषिक आदि अन्य-मत-वाले आत्मा में चैतन्य-गुण को नहीं मानते हैं। वैशेषिक-मत मूलतः गुण और गुणी की भिन्न-वस्तु के रूप में कल्पना करता है। तब जिनेन्द्र-प्रज्ञप्त जैन-दर्शन यह कहता है कि यदि मूलतः आत्मवस्तु से चेतनागुण को भिन्न मानोगे, अर्थात् चैतन्य को आत्मा का स्वरूप नहीं मानोगे, तो तीन दोष उत्पन्न होते हैं—

पहला 'लक्षण का विनाश' अर्थात् द्रव्य के आधार बिना चेतनत्व की स्थिति ही संभव नहीं होने से उसका विनाश हो जायेगा।

दूसरा लक्षण 'चैतन्य का नाश' होने से 'द्रव्यरूप-सत्ता का विनाश' का प्रसंग, क्योंकि चैतन्य के बिना जीव का स्वरूप ही नहीं रहेगा, तो उसकी सत्ता कैसे सिद्ध हो सकेगी ?

तीसरा जीवद्रव्यरूप-सत्ता का विनाश होने से मूलवस्तु का ही विनाश हो जायेगा, अर्थात् जीव-द्रव्य का अस्तित्व ही चेतना पर आधारित है, अर्थात् चेतना नहीं तो जीव भी नहीं है, दूसरे शब्दों में कहें कि आत्मवस्तु को समझने के लिए चेतनत्व ही मूल है।

(दोहा)

चेतन-लक्षण आतमा, आतम-सत्ता-माँहि।
सत्ता-परिमित वस्तु है, भेद तिहूँमै नांहि॥ 11॥

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्, तत्सामान्य-विशेष-रूप-विरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्ति-रूपास्तु चित्॥ 4॥

शब्दार्थ :- चेतन-लक्षण आत्मा= आत्मा चेतना-लक्षणवाला है, आत्म-सत्ता माँहि= आत्म-सत्ता में है, सत्ता-परिमित वस्तु है= सत्ता-प्रमाण वस्तु है, भेद तिहूँमें नाँहि= तीनों में कोई भेद नहीं है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने लक्षण, सत्ता और वस्तु तीनों अभेदपने को वर्णित किया है। चेतनत्व लक्षण आत्मा का है, और आत्म-सत्ता भी उसी में है, और सत्ता-प्रमाण ही वस्तु है, इसप्रकार तीनों में कोई भेद नहीं है, अर्थात् तीनों अभेद हैं।

चेतना का स्वरूप — स्वसंवेदनगम्य अंतरंग-चैतन्य-प्रकाशस्वरूप भाव-विशेष को 'चेतना' कहते हैं। जो जीव का लक्षण है। चेतना को जीव का लक्षण बताते हुए आचार्य पूज्यपाद देव सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं — "चेतनालक्षणो जीवः" अर्थात् चेतना जीव का लक्षण है। (1/4/14/3)

'द्रव्यसंग्रह' में 'आचार्य नेमिचंद्र जी' कहते हैं— "णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स" अर्थात् निश्चयनय से जिसके चेतना है, वही जीव है। (द्र.सं. गाथा नं.-3)

'राजवार्तिक जी' में 'आचार्य अकलंकदेव' कहते हैं — "जीवस्वभावश्चेतना.....यत्संनिधा-नादात्मा ज्ञाता दृष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः"— (रा.वा.1/4/14/26/11) अर्थात् जिस शक्ति के सान्निध्य में आत्मा ज्ञाता-दृष्टा अथवा कर्ता-भोक्ता होता है, वह चेतना है, और वही जीव का स्वभाव होने से जीव का लक्षण है।

'नयचक्रवृत्ति' में तो 'अनुभव' को चेतना कहा— "अणुहवभावो चयणमं" अर्थात् अनुभवरूप भाव का नाम चेतना है। (नयचक्रवृत्ति-64)

कहने का तात्पर्य यही है कि चेतना ही वह लक्षण है; जिससे जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है, और कवि ने भी यही सिद्ध किया है।

(सवैया तेईसा)

ज्यौं कलधौत सुनार की संगति, 'भूषण' नाम कहै सब कोई।
कंचनता न मिटी तिहि-हेतु, वहै फिरि औटिकै कंचन होई॥
त्यौं यह जीव अजीव-संजोग, भयौ बहुरूप भयौ नहिं दोई।
चेतनता न गई कबहुँ, तिहि-कारन 'ब्रह्म' कहावत सोई॥ 12॥

शब्दार्थ :- ज्यौं कलधौत सुनार की संगति= जैसे सोने को सुनार की संगति से, भूषण नाम कहै सब कोई= सभी आभूषण कहते हैं, कंचनता न मिटी तिहि हेतु= लेकिन इस से उसका स्वर्णपना नहीं मिटता, वहै फिरि औटिकै कंचन होई= वही फिर गलाने पर/गर्म करने पर सोना बन जाता है, त्यौं यह जीव अजीव-संजोग भयौ= उसीप्रकार यह जीव अजीव का संयोग होने पर, बहुरूप भयौ नहिं दोई= विभिन्न-रूपवाला होता है, परन्तु, चेतनता न गई कबहुँ= इसका चेतनत्व कभी नहीं जाता/नष्ट नहीं होता है, तिहि-कारन 'ब्रह्म' कहावत सोई= इसीकारण वह 'ब्रह्म' कहलाता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मतत्त्व की नित्यता का वर्णन करते हुये स्पष्ट किया है कि आत्मा कहीं भी किसी भी रूप में रहे पर अपने चेतनत्व-गुण को कभी नहीं छोड़ता।

जैसे सोना स्वभाव से एकरूप और पूर्णशुद्ध अपने स्वर्णत्वपने के साथ रहता है। लेकिन जब वही सोना सुनार की संगति पाता है अर्थात् सुनार के द्वारा गढ़ा जाता है, तब वह विभिन्नरूप होकर विभिन्न-आभूषणों के नाम पाता है; लेकिन फिर भी हर-रूप में उसका स्वर्णपना कायम रहता है, अर्थात् अपना

स्वभाव कभी नहीं छोड़ता। क्योंकि जब सुनार उस आभूषण को गलाता है, तो वह फिर अपने उसी शुद्धरूप को प्राप्त करता है।

ठीक उसीप्रकार जीवात्मा स्वभाव से पूर्ण-शुद्ध और एकरूप होने पर भी जब अजीव या कहें कर्मों के संयोग में आता है, तो नरक, तिर्यच, देव और मनुष्यगति आदि में विविधरूपों को धारण करता है, लेकिन उन रूपों को धारण करते हुये भी वह न तो कभी उनरूप होता है और न ही अपने चेतनत्व-स्वभाव को एकसमय के लिए भी छोड़ता है, इसीकारण आत्मा को 'ब्रह्म' कहा जाता है।

(सवैया तेईसा)

देखु सखी! यह ब्रह्म विराजित, याकी दसा सब याही को सोहै।

एकमैं एक अनेक अनेकमैं, दुंद लियै दुविधामैं दो है॥

आपु संभारि लखै अपनौ पद, आपु विसारिकैं आपुहि मोहै।

व्यापकरूप यहै घट-अंतर, ग्यानमैं कौन अग्यानमैं को है॥ 13॥

शब्दार्थ :— देखु सखी यह ब्रह्म विराजित= देखो सखी ! यह ब्रह्म शोभायमान है, याकी दसा सब याही को सोहै= इसकी दशा सब इसी को सोहती है, एकमैं एक अनेक अनेकमैं= एक में एक अनेक में अनेक, दुंद लियै दुविधामैं दो है= भ्रमपूर्ण दोप्रकार की दुविधा लिए हुये है, आपु संभारि लखै अपनौ पद= अपने को संभालकर अपने आपको देखता है, आपु विसारिकैं आपुहि मोहै= (कभी) अपने को भूलकर स्वयं ही मोहित होता है, व्यापकरूप यहै घट-अंतर= (परन्तु) यह व्यापकरूप निज-घट में है, ग्यानमैं कौन अग्यानमैं को है= (तब) ज्ञान में कौन है, अज्ञान में कौन है?

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने जीव को 'ब्रह्म' नाम से संबोधित किया था, वहीं इस छंद में ब्रह्म के स्वरूप और अवस्था का वर्णन सखी-वार्तालाप के माध्यम से किया है।

सुबुद्धिरूपी सखी दूसरी सखी से कहती हैं कि 'देखो सखी! यह ब्रह्म-स्वरूप आत्मा विराजमान है, इसकी सारी अवस्थायें अर्थात् परिणति इसी को सोहती (शोभित होतीं) हैं। जैसी विचित्रता या परिणति इस ब्रह्म की है, वैसी किसी अन्य-द्रव्य की नहीं है। यह एकरूप भी रहता है और अनेकरूप भी अर्थात् जब आत्मसत्ता में देखते हैं, तो सर्वांग एकरूप ही दिखाई देता है, और जब परसत्ता में देखते हैं, तो विविधरूपों में दिखाई देता है। ज्ञान-दशा में देखो, तो ज्ञानरूप और अज्ञान-दशा में अज्ञानरूप परिणत होता दिखाई देता है, इसका स्वरूप ऐसी भ्रम-जनित दुविधा लिये हुये है।'

कभी तो यह ब्रह्मस्वरूप आत्मा सावधान होकर अपने परिणामों की संभाल करता है और परमपद को प्राप्त करता है, और वहीं दूसरी ओर प्रमादवश मोहजाल में फँसकर स्वयं को ही भूल जाता है और पर में मोहित हो जाता है। लेकिन फिर भी ये ब्रह्म निज-घट में ही व्याप्त रहता है, अर्थात् अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है, चाहे वह ज्ञान की दशा हो या अज्ञान की, अर्थात् दोनों ही स्थितियों में वह ब्रह्म अपने संपूर्ण-वैभव के साथ विराजमान रहता है।

(सवैया तेईसा)

ज्यौं नट एक धरै बहु-भेख, कला प्रगटै बहु-कौतुक देखै।

आपु लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न-विलोकत भेखै॥

त्यौं घट में नट चेतन-राव, विभाउ-दसा धरि रूप विसेखै।

खोलि-सुदृष्टि लखैं अपनौ पद, दुंद-विचारि दसा नहिं लेखै॥ 14॥

शब्दार्थ :— ज्यों नट एक धरै बहु-भेख= जैसे एक नट बहुत से भेष धारणकर, कला प्रगटै बहु कौतुक देखै= कलायें प्रगट करता है, बहुत लोग उसे कौतुक समझकर देखते हैं, आपु लखै अपनी करतूति= (जब) अपनी कला खुद देखता है, वहै नट भिन्न-विलोकत भेखै= (तब) वही नट उस कृत्रिम-वेश को स्वयं से भिन्न देखता है, त्यों घट में नट चेतन-राव= उसीप्रकार इस शरीर में नटरूपी चेतन-राजा, विभाउ-दसा धरि रूप-विसेखै= विभाव-दशा को धारण कर अनेकरूपों को प्राप्त होता है, खोलि-सुदृष्टि लखै अपनों पद= लेकिन दृष्टि सम्यक् होने पर अपने स्वरूप को देखता है, दुंद-विचारि दसा नहिं लेखै= दुविधा को समझकर फिर उस अवस्थारूप स्वयं को नहीं देखता।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन होने पर जीव का प्रवर्तन कैसा होता है?— उस स्थिति का नट के माध्यम से सुंदर-चित्रण किया है।

जैसे एक नट (अपने शरीर पर विभिन्न-वेश धारणकर कलाबाजियाँ दिखानेवाला व्यक्ति) जब कलाबाजियाँ दिखाता है, तो अनेक वेश धारण करता है, लोग उसे न केवल आश्चर्य से देखते हैं; बल्कि उसके कृत्रिम-वेश को देखकर उसे उसरूप ही मानकर भ्रमित हो जाते हैं। लेकिन वहीं दूसरी ओर जो ये कलाबाजियाँ दिखा रहा है, वह नट जब अपने को उन वेशों में देखता है, तब एक पल के लिये भी स्वयं को उस वेशरूप अनुभव नहीं करता; बल्कि स्वयं को उन वेशों से भिन्न ही अनुभवता है।

उसीप्रकार इस देह में विराजमान नटरूपी चेतन-राजा परद्रव्य के निमित्त से या पर के लक्ष्य से, कर्म के उदय से मोह-राग-द्वेषरूप अनेक विभावरूप होकर अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होता है, कभी क्रोधी, कभी मानी, कभी पापरूप और कभी पुण्यरूप इत्यादि, अर्थात् उन विविधरूपों को देखकर मिथ्यादृष्टि-जीव नट का खेल देखनेवाले दर्शकों की तरह भ्रमित हो जाता है। लेकिन जब दृष्टि सम्यक् होती है, अर्थात् जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, तब कर्म के उदय से यद्यपि बाहर में स्थिति पूर्ववत् होने पर भी वह जीव नट की तरह स्वयं को उन विकारों से भिन्न ही अनुभव करता है; एक समय के लिए भी अपने को उसरूप अनुभव नहीं करता।

(अडिल्ल)

जाके चेतन-भाव, चिदानंद सोइ है। और भाव जो धरै, सो औरौ कोइ है॥

जो चिनमंडित-भाउ, उपादे जाननै। त्याग-जोग परभाव, पराये माननै॥ 15॥

शब्दार्थ :— जाके चेतन-भाव चिदानंद सोइ है= जिसके चैतन्य-भाव है, वही चिदात्मा है, और भाव जो धरै सो औरौ कोइ है= जो अन्यभाव रखता है, वह चेतन नहीं कोई और ही है, जो चिनमंडित-भाउ उपादे जाननै= जो चैतन्य-भाव है, सो उपादेय जानना, त्याग-जोग परभाव पराये माननै= पर-भाव पराये मानकर त्यागने योग्य मानना।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने बहुत ही संक्षेप में स्पष्ट कर दिया कि हमें क्या उपादेय अर्थात् ग्रहण करना है और क्या हेय अर्थात् त्यागना है?

जिसके चैतन्यभाव है, वही चिदात्मा है। जो चैतन्यरूप अर्थात् अपने ज्ञान-दर्शनरूप परिणामन कर रहा है, वास्तव में वही चेतनस्वरूप-आत्मा है। और जो परभाव अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि भावों

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषाम्।

ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥ 5॥

को धारण करता है या स्वयं को उन परभावरूप मानता है, वह आत्मा ही, नहीं अनात्मा है। इसलिए भाई! चैतन्यस्वरूप-आत्मा ही उपादेय है, परभाव तो हेय ही है; क्योंकि परभाव तो पर के लक्ष्य से होने अर्थात् स्व के लक्ष्य से नहीं होने से पराये हैं, और जो अपना नहीं उसे ग्रहण क्यों करें, इसीलिए हेय अर्थात् छोड़ने योग्य ही है।

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकैं सुमति जागी भोगसौं भये विरागी, परसंग-त्यागी जे पुरुष त्रिभुवनमें।
रागादिक-भावनिसौं जिनिकी रहनि न्यारी, कबहूँ मगन हूँ न रहैं धाम-धनमें॥
जे सदैव आपको विचारैं सरवांग-सुद्ध, जिन्हकैं विकलता न व्यापैं कहूँ मनमें।
तेई मोख-मारग के साधक कहावैं जीव, भावैं रहौ मंदिरमें भावैं रहौ वनमें॥ 16॥

शब्दार्थ :- जिन्हकैं सुमति जागी भोगसौं भये विरागी= जिनके सम्यक्-बुद्धि जागृत हुई है, वे भोगों से विरक्त होते हैं, परसंग-त्यागी जे पुरुष त्रिभुवनमें= पर-पदार्थों की संगति को त्याग दिया है, वे पुरुष तीनों लोक में, रागादिक-भावनिसौं जिनिकी रहनि न्यारी= राग-द्वेष आदि भावों से जो भिन्न रहते हैं, कबहूँ मगन हूँ न रहैं धाम-धनमें= कभी मगन होकर नहीं रहते घर-संपत्ति में, जे सदैव आपको विचारैं सरवांग-सुद्ध= जो हमेशा स्वयं को सर्वांग-शुद्ध विचारते हैं, जिन्हकैं विकलता न व्यापैं कहूँ मनमें= जिनको कभी भी मन में आकुलता नहीं व्यापती, तेई मोख-मारग के साधक कहावैं= वे ही मोक्षमार्ग के साधक कहलाते हैं, जीव भावैं रहौ मंदिरमें भावैं रहौ वनमें= फिर वे जीव चाहे मंदिर/घर में रहें, चाहे वन में रहे।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मोक्षमार्ग पर चलनेवाले उन ज्ञानी-जीवों का वर्णन किया है, जो निरन्तर स्वरूप की साधना में रत हैं। अधिकांश जीवों का मानना है कि जो घर-परिवार, संपत्ति आदि को त्यागकर मुनि-दीक्षा धारणकर संसार की बाधाओं से दूर वन में रहते हैं, वही सच्चे-साधक हैं। लेकिन कवि का मानना है कि जिन जीवों का चित्त वास्तव में संसार से विरक्त है, वे ही सच्चे ज्ञानी-ध्यानी हैं। जिनकी बुद्धि-सम्यक् है, जो पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों से पूरी तरह विरक्त हैं, जो तीनों-लोकों के परसंग-त्यागी हैं अर्थात् जिन्हें न नरक का भय है, न स्वर्ग के वैभव की वांक्षा है, और न अनुकूलता-प्रतिकूलता की परवाह है, अर्थात् पूरी तरह से विरक्त हैं।

जिनकी परिणति मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों से भिन्न ही रहती है, जो घर-परिवार, धन-संपत्ति में मगन होकर नहीं रहते हैं, जो स्वयं को प्रतिसमय सर्वांग-शुद्ध ही अनुभव करते हैं। जिनके मन में रंचमात्र भी आकुलता उत्पन्न नहीं होती, वे ही जीव वास्तव में मोक्षमार्ग के साधक कहलाते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग को साधते हैं। फिर चाहे वे जीव घर में रहे या वन-जंगल आदि में रहे, स्वरूप की आराधना में ही रत रहते हैं। इस संदर्भ में आगम-प्रसिद्ध 'भरत जी' का उदाहरण सभी को विदित है— "भरत जी घर में ही वैरागी।"

(सवैया तेईसा)

चेतन-मंडित अंग-अखंडित, सुद्ध पवित्र-पदारथ मेरौ।
राग-विरोध-विमोह-दसा, समुझै भ्रम-नाटक पुद्गल-केरौ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्त-चित्त-चरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां, शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥ 6॥

भोग संयोग-वियोग-बिथा, अवलोकि कहै यह कर्मज घेरौ।

है जिन्हकौ अनुभौ इह-भाँति, सदा तिनकौ परमारथ नेरौ॥ 17॥

शब्दार्थ :- चेतन-मंडित अंग-अखंडित= चेतना से शोभायमान अखंड-अभेद-स्वरूपी, सुद्ध पवित्र-पदारथ मेरौ= शुद्ध, पवित्र-पदार्थ मैं हूँ, राग-विरोध-विमोह दसा= राग-द्वेष-मोह की स्थिति, समुझै भ्रम-नाटक पुद्गल-केरौ= पुद्गल के द्वारा रचाया भ्रमपूर्ण-नाटक है, भोग संयोग-वियोग बिथा= विषय-भोग के संयोग-वियोग का दुःख, अवलोकि कहै यह कर्मज घेरौ है= देखकर कहते हैं, यह कर्मजनित है, जिन्हकौ अनुभौ इह-भाँति सदा= जिनका अनुभव हमेशा ऐसा रहता है, तिनकौ परमारथ नेरौ= उनके लिये मोक्ष हमेशा समीप है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने उन जीवों की परिणति का चित्रण किया है, जो मोक्ष के मार्ग पर निरन्तर पुरुषार्थरत हैं।

मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर ज्ञानी-जीव निरन्तर यही विचार करते हैं, कि मैं चैतन्य-गुण से सुशोभित भगवान् आत्मा अपने में परिपूर्ण, अखंड, अभेद, रागादि-विकारों से रहित पूर्ण-शुद्ध, बाह्य और आंतरिक-मल से रहित निर्मल-तत्त्व हूँ। ये मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों की स्थिति तो पुद्गल के द्वारा रचित भ्रमजनित-नाटक है, जिसे मिथ्यादृष्टि-जीव सत्य मानकर भ्रमित हो जाता है, जबकि मोक्षमार्गी इसे परदे पर खेले जाने वाले नाटक की तरह कर्मों का खेल मानते हैं, और भ्रमित नहीं होते।

पंचेन्द्रिय के विषय-भोग, जिन्हें अज्ञानी-जीव अमृत-तुल्य मानकर उनके पीछे दौड़ता ही रहता है, इष्ट-वस्तु या संयोगों के मिलने पर अज्ञानी-जीव फूला नहीं समाता, और उनका वियोग होने पर पागलवत् हो जाता है, इसीप्रकार अनिष्ट-पदार्थ और संयोगों के मिलने पर उनको हटाने के लिए दिन-रात एक कर देता है। लेकिन मोक्षमार्गी ज्ञानी-जीव इन्हें देखकर सहज रहते हैं, और कहते हैं कि "ये तो कर्मोदय-जनित खेल है, पुण्य-पाप की माया है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है तो फिर कैसा हर्ष और कैसा विषाद"। जिन जीवों का ऐसा श्रद्धान् प्रतिसमय रहता है, आचार्य भगवन् कहते हैं कि उनकी मंजिल दूर नहीं अर्थात् उनका मोक्षमार्ग अत्यंत-नजदीक है, वे जीव शीघ्रतिशीघ्र मोक्षमहल में विराजमान होंगे।

(दोहा)

जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी-अग्य।

जो अपनौ धन व्यौहरै, सो धनपति सरवग्य॥ 18॥

शब्दार्थ :- जो पुमान परधन हरै= जो मनुष्य दूसरे के धन को चुराये, सो अपराधी-अग्य= वह चोर है, मूर्ख है, जो अपनौ धन व्यौहरै= जो अपना धन वर्ते यानि उपयोग करे, सो धनपति-सरवग्य= सो धन का स्वामी है, सर्वज्ञ/समझदार है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव को 'चोर' (अज्ञानी) और सम्यग्दृष्टि-जीव को 'साहूकार' (ज्ञानी) के रूप में परिभाषित किया है।

लोक में भी हम देखते हैं कि जो परायी-संपत्ति का हरण करता है उसे चोर, डाकू, मूर्ख और अज्ञानी कहा जाता है, गुनहगार मानकर सजा भी दी जाती है। मिथ्यादृष्टि-जीव भी तो स्वयं एक परिपूर्ण-द्रव्य होते हुये भी, परद्रव्य (अर्थात् देहादिक समस्त पदार्थ भिन्न-द्रव्य होने से पर हैं) को अपना मानता है, उसे

परद्रव्य-ग्रहं कुर्वन् बध्यतैवापराधवान्। बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ 7॥

अपनी वस्तु समझकर प्रीति करता है, प्राप्त होने पर हर्ष और खो जाने पर विषाद करता है, यहाँ तक कि स्वप्न में भी उसे नहीं भूलता है— परवस्तु के प्रति ये अपनापन चोरी ही तो है, जिसकी सजा हमें चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण के रूप में अवश्य मिलती है, लेकिन फिर भी हम ये जघन्य-अपराध चोरी करना नहीं छोड़ते।

वहीं दूसरी ओर लोक में जो अपनी संपत्ति का सदुपयोग करता है, उसे साहूकार, बुद्धिमान् कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि-जीव भी तो साहूकार ही है, क्योंकि वह स्वयं की संपत्ति यानि आत्मिक-वैभव से ही प्रीति करता है, मिलने पर हर्षित होता है, कहीं खो न जाये, सो सदैव चौकन्ना रहता है, स्वप्न में भी उसे नहीं भूलता— यह साहूकारी (समझदारी) ही तो है। और इसके सुफल में उसे चार-गतियों के दुःखों से निवृत्ति और धनपति अर्थात् मोक्षलक्ष्मी का स्वामी होता है।

(दोहा)

पर की संगति जौ रचै, बंध बढावै सोइ।

जो निज-सत्तामैं मगन, सहज-मुक्त सो होइ॥ 19॥

शब्दार्थ :— पर की संगति जौ रचै= जो पर की संगति में मग्न रहता है, बंध बढावै सोइ= वह बंध को बढ़ाता है, जो निज-सत्तामैं मगन= जो अपनी सत्ता में मग्न रहता है, सहज-मुक्त सो होइ= वह सहज ही मुक्त होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पर-संगति और स्व-संगति के फल में क्या अंतर है, इसका सीमित-शब्दों में सुंदर-वर्णन किया है।

जो पर की संगति अर्थात् परवस्तु व संयोग, चाहे वे चेतन हों या अचेतन, उनमें जितना अधिक रुचता है, अर्थात् जितनी प्रीति करता है, उनमें लीन होता है, वह मिथ्यादृष्टि है, इसके फल में वह संसार की उतनी ही अधिक बंध-परम्परा को बढ़ाता है, साथ ही अति-दुःख भी पाता है।

वहीं दूसरी ओर जो अपनी-सत्ता में मग्न होता है अर्थात् अधिक से अधिक अपने आत्मस्वरूप में लीनता का पुरुषार्थ करता है, पर-वस्तु और संयोगों से विरक्त रहता है, वह उतनी ही शीघ्रता और सहजता से मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

(दोहा)

उपजै-विनसै-थिर रहै, यह तो वस्तु बखान।

जो मरजादा-वस्तु की, सो सत्ता-परवान॥ 20॥

शब्दार्थ :— उपजै-विनसै-थिर रहै= उत्पत्ति/उत्पाद, व्यय/विनाश, स्थिर रहे/ध्रौव्य, यह तो वस्तु बखान= यह वस्तु का स्वरूप कहा गया है, वस्तु की जो मरजादा= वस्तु की जो मर्यादा है, सो सत्ता-परवान= वह सत्ता-प्रमाण है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि जो 'उत्पाद' अर्थात् जिसमें नवीन-पर्याय की उत्पत्ति होती है, और 'व्यय' अर्थात् पूर्व-पर्याय का विनाश होता है, लेकिन फिर भी वह वस्तु 'ध्रौव्य-रूप' अर्थात् स्थिर रहती है, वही द्रव्य है। और उस द्रव्य की जो मर्यादा है अर्थात् उसका जो स्व-चतुष्टय है, वह उसकी सत्ता जानना।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः, स्मृति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो, भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी॥ 8॥

लोकालोक-मान एक-सत्ता है आकाश-दर्व, धर्म-दर्व एक सत्ता लोक-परमिति है।
लोक-परवान एक-सत्ता है अधर्म-दर्व, काल के अनू-असंख सत्ता-अगनिति है॥
पुद्गल सुद्ध-परवानु की अनंत-सत्ता, जीवकी अनंत-सत्ता न्यारी-न्यारी छिति है।
कोऊ सत्ता काहूसौं न मिलि एकमेक होइ, सबै असहाय यौं अनादिहीकी थिति है॥ 21॥

शब्दार्थ :- आकाश-दर्व एक-सत्ता लोकालोक-मान= आकाश-द्रव्य की एक-सत्ता लोकालोक-प्रमाण है, धर्म-दर्व एक-सत्ता लोक-परमिति है= धर्म-द्रव्य की एक-सत्ता लोक-प्रमाण है, अधर्म-दर्व एक-सत्ता लोक-परवान है= अधर्म-द्रव्य की भी एक-सत्ता लोक-प्रमाण है, काल के अनू-असंख सत्ता-अगनिति है= कालाणु-असंख्यात हैं, और उनकी सत्ता भी असंख्यात है, सुद्ध पुद्गल-परवानु की अनंत-सत्ता= शुद्ध पुद्गल-परमाणु की अनंत-सत्ता है, जीव की अनंत-सत्ता छिति न्यारी-न्यारी है= जीव की सत्ता-अनंत, सभी की स्थिति जुदी-जुदी है, कोऊ सत्ता काहूसौं न मिलि एकमेक होइ= किसी द्रव्य की सत्ता किसी से न मिलती है, न एकमेक होती है, सबै असहाय यौं थिति अनादिही की है= सभी बिना सहारे के हैं, ऐसी स्थिति अनादिकाल से है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने छहों द्रव्यों की सत्ता, संख्या और स्थिति का वर्णन किया है। आकाश-द्रव्य, धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य तीनों संख्या में एक-एक हैं, कालाणु लोक-प्रमाण असंख्यात हैं, जीव-द्रव्य अनंत हैं, और शुद्ध पुद्गल-परमाणु जीव-द्रव्य से अनंतगुणे अधिक अर्थात् अनंतानंत है। इसीप्रकार सत्ता की दृष्टि से आकाश-द्रव्य की सत्ता लोकालोक-प्रमाण, धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य की लोक-प्रमाण, कालाणु लोक-प्रमाण असंख्यात, जीव और अजीव की सत्ता अनंत है।

लेकिन फिर भी आज तक कोई भी द्रव्य न तो किसी से मिला है, न एकमेक हुआ है, न किसी के सहारे या आधार से है, सभी द्रव्य स्वतंत्र अपने-अपने आधार से है, यहाँ तक कि हर द्रव्य के गुण और पर्याय भी भिन्न-भिन्न हैं और अपनी-अपनी मर्यादा में ही परिणमित होते हैं, कोई किसी के आधीन नहीं। और ये वस्तु-व्यवस्था आज से नहीं, अनादिकाल से इसीप्रकार व्यवस्थित चली आ रही है,— यही जैनदर्शन का प्राण है।

एई छहौं-दर्व इनहीकौ है जगत-जाल, तामैं पाँच-जड़ एक-चेतन सुजान है।
काहूकी अनंत-सत्ता काहूसौं न मिलै कोइ, एक-एक सत्ता मैं अनंत-गुनगान है॥
एक-एक सत्ता में अनंत-परजाइ फिरै, एक मैं अनेक इहि-भाँति परवान है।
यहै स्यादवाद यहै संतनि की मरजाद, यहै सुख-पोख यह मोख कौ निदान है॥ 22॥

शब्दार्थ :- एई छहौं-दर्व इनहीकौ है जगतजाल= ये छह-द्रव्य हैं, इनसे ही जगत का प्रपंच बना है, तामैं पाँच-जड़ एक-चेतन सुजान है= जिसमें पाँच-द्रव्य जड़, और एक चेतन ज्ञानमय है, काहूकी अनंत-सत्ता कोइ काहूसौं न मिल= प्रत्येक-द्रव्य की अनंतसत्ता, कोई किसी से नहीं मिलती है, एक-एक सत्ता मैं अनंत-गुनगान है= एक-एक सत्ता में अनंत-गुणों का समूह है, एक-एक सत्ता में अनंत-परजाइ फिरै= एक-एक सत्ता में अनंत-अनंत पर्यायें हैं, एकमैं अनेक इहि-भाँति परवान है= एक में अनेक इसीप्रकार प्रमाणित है, यहै स्यादवाद यहै संतनि की मरजाद= यही स्याद्वाद है, यही साधु-संतों की मर्यादा अर्थात् कथन है, यहै सुख-पोख यह मोख कौ निदान है= यही सुख को पुष्ट करता है, यही मोक्ष का कारण है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने विश्व के स्वरूप का वर्णन किया है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म,

आकाश और काल— इन छह-द्रव्यों के समूह को 'विश्व' कहते हैं। इन छह-द्रव्यों में एक जीव-द्रव्य 'चेतन' और शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य 'अचेतन/जड़' हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनंत-गुण और उनकी अनंत-पर्यायें हैं, और सब स्वतंत्ररूप से परिणामन करते हैं। आज तक किसी द्रव्य की सत्ता किसी अन्य-द्रव्य से नहीं मिली, यहाँ तक कि उनके गुण और पर्यायें भी एकदूसरे से नहीं मिलते, सभी भिन्न और स्वतंत्र-परिणामन करते हैं। न कोई द्रव्य किसी के आधीन है और न ही किसी द्रव्य को अपने स्वभावरूप-परिणामन करने के लिये किसी अन्य-द्रव्य की अपेक्षा है। एक में अनेक अर्थात् एक आकाश-द्रव्य में ही सभी द्रव्यों का निवास है, पर फिर भी पूर्ण-स्वतंत्रता है, आकाश की भी पराधीनता या किसीतरह का हस्तक्षेप उनमें नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वतंत्र-परिणामन— यही तो 'जैन-दर्शन' है, यही तो 'स्याद्वाद' है, यही जिनेन्द्र की वाणी का सार है, आचार्यों का कथन है, सुख का आधार है और मुक्ति का सोपान है।

क्या सच में स्वतंत्र वस्तु-व्यवस्था को स्वीकार करना ही सुख और मोक्ष का आधार है? हाँ यह कथन शत-प्रतिशत सही है। क्योंकि दुःख और बंधन का कारण एकमात्र पर में अपनत्व और कर्ता-बुद्धि ही तो है। अनादि से हम एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वपना एकमात्र पर-वस्तु, पर-संयोगों में ही तो करते आये हैं, और चारों गतियों में दुःख उठाते आये हैं। यदि ये एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्वपना निजात्मा में किया होता, तो हम भी आज सिद्ध-भगवंतों के साथ सिद्धशिला पर विराजमान होते। यदि हम सच में सुखी होना चाहते हैं, तो आज नहीं तो कल, हमें इस स्वतंत्र वस्तु-व्यवस्था को स्वीकार करना ही होगा।

(सवैया इकतीसा)

साधी दधि-मंथ मैं अराधी रस-पंथनिमैं, जहाँ-तहाँ ग्रंथनिमैं सत्ताहीकौ सोर है।

ग्यान-भान सत्तामैं सुधा-निधान सत्ताहीमैं, सत्ता की दुरनि-सांझ सत्ता मुख-भोर है॥

सत्ता को सरूप मोख सत्ता-भूल यहै दोष, सत्ता के उलंघे धूमधाम चहुँ-ओर है।

सत्ता की समाधिमें विराजि रहै सोई साहू, सत्तातैं निकसि और-गहै सोई चोर है॥ 23॥

शब्दार्थ :— साधी दधि-मंथ मैं= दही को मथने में साधी जाती है, अराधी रस-पंथनिमैं= रस के उपाय में (औषधि) आराधी जाती है, जहाँ-तहाँ ग्रंथनिमैं= जहाँ-तहाँ ग्रंथों में, सत्ताहीकौ सोर है= सत्ता की ही चर्चा है, ग्यान-भान सत्तामैं= ज्ञान का सूर्य सत्ता में है, सुधा-निधान सत्ताहीमैं= अमृत का खजाना सत्ता में है, सत्ता की दुरनि सांझ= सत्ता को छिपाना शाम के समान, सत्ता-मुख भोर है= सत्ता का मुख अर्थात् कथन सुबह के समान है, सत्ता को सरूप मोख= सत्ता का स्वरूप पहचानना ही मोक्ष, सत्ता-भूल यहै दोष= सत्ता को भूलना ही दोष है, सत्ता के उलंघे= सत्ता का उलंघन या स्वीकार न करना, धूमधाम चहुँ-ओर है= चारों गतियों में भटकना है, सत्ता की समाधिमें विराजि रहै सोई साहू= जो अपनी सत्ता में विराजमान है, वही साहूकार है, सत्तातैं निकसि और गहै सोई चोर है= अपनी सत्ता से निकलकर किसी अन्य-सत्ता का ग्रहण करे, वही चोर है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'सत्ता' का महत्त्व वर्णित करते हुये 'आत्मसत्ता' की महिमा का वर्णन किया है।

'सत्ता' अर्थात् 'वस्तु का अस्तित्व' या कहें 'उपस्थिति', यदि सत्ता नहीं, तो वस्तु का अस्तित्व भी नहीं है। यद्यपि छह-द्रव्यों में से केवल पुद्गल-द्रव्य की सत्ता ही इंद्रियों के निमित्त से संसारी-जीवों को परिलक्षित होती है, अन्य पाँच-द्रव्यों को तो अनुमान-ज्ञान से ही प्रमाणित किया जाता है; ठीक उसीप्रकार जैसे दही बिलोते समय घी यद्यपि दिखाई नहीं देता, लेकिन फिर भी उसकी सत्ता या मौजूदगी को स्वीकार

किया जाता है, तभी तो दही को बिलोते हैं। जैसे जड़ी-बूटी के रस के उपाय में औषधि आँखों से स्पष्ट दिखाई नहीं देते हुये भी उसका अस्तित्व स्वीकार होता है, तभी तो उससे औषधि बनाने की प्रक्रिया की जाती है। ठीक उसीप्रकार आत्मवस्तु आँखों से दिखाई न देने पर भी उसकी सत्ता स्वीकार्य है।

शास्त्रों में भी हरजगह द्रव्य की सत्ता अर्थात् आत्मसत्ता का ही कथन किया जाता है। ज्ञानरूपी सूर्य का उदय भी आत्मसत्ता में ही है, अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड केवल आत्मा ही है। अमृत का निधान अर्थात् सुख का खजाना भी आत्मसत्ता में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। आत्मसत्ता को छिपाना अर्थात् स्वीकार न करना अंधकार के समान है। जैसे अंधकार में कुछ दिखाई नहीं देता, ठीक उसीप्रकार आत्मज्ञान के बिना सर्वत्र अंधकार ही है। और आत्मसत्ता को स्वीकार करना अर्थात् आत्मज्ञान होना उगे हुये सूरज के समान है, अर्थात् सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश है।

आत्मसत्ता को स्वीकार कर उसी में लीन होना ही तो मोक्ष है, और उसको भूलना ही सबसे बड़ा दोष है, क्योंकि समस्त दुःखों का एकमात्र कारण भी यही है। आत्मसत्ता की सीमा को लाँघना, अर्थात् अपने स्व-चतुष्टय से बाहर प्रवर्तन करना ही चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करना है। जो जीव आत्मसत्ता में विराजमान है अर्थात् अपने स्वरूप की ओर उन्मुख है अथवा अपनी स्वभाव सीमा में सीमित है, वे ही जीव साहूकार अर्थात् भले हैं। और जो जीव अपनी सत्ता को भूलकर परद्रव्य की सत्ता को ग्रहण करते हैं अर्थात् पर में अपनापन, प्रवर्तन करते हैं, वे जीव चोर हैं, निंदनीय हैं।

(सवैया इकतीसा)

जामैं लोकवेद नांहि, थापना-उछेद नांहि, पाप-पुन्न-खेद नांहि, क्रिया नांहि करनी।

जामैं राग-दोष नांहि, जामैं बंध-मोख नांहि, जामैं प्रभु-दास न अकास नांहि धरनी॥

जामैं कुल-रीत नांहि, जामैं हारि-जीत नांहि, जामैं गुरु-सीष नांहि, वीष नांहि भरनी।

आश्रम-बरन नांहि, काहू की सरन नांहि, ऐसी सुद्ध-सत्ता की, समाधि-भूमि बरनी॥ 24॥

शब्दार्थ :— जामैं लोकवेद नांहि= जिसमें लौकिक-रीति नहीं है, थापना-उछेद नांहि= लौकिक-बातों की स्थापना और खंडन नहीं है, पाप-पुन्न खेद नांहि= पाप-पुण्य का दुःख नहीं है, क्रिया नांहि करनी= क्रिया भी नहीं करनी, जामैं राग-दोष नांहि= जिसमें राग-द्वेष नहीं है, जामैं बंध-मोख नांहि= जिसमें बंध-मोक्ष भी नहीं है, जामैं, प्रभु-दास न= जिसमें स्वामी और नौकर का भेद नहीं है, अकास नांहि धरनी= न आकाश है न धरती है, जामैं कुल-रीत नांहि= जिसमें कुलाचार नहीं है, जामैं हारि-जीत नांहि= जिसमें हार-जीत नहीं है, जामैं गुरु-सीष नांहि= जिसमें गुरु और शिष्य का भेद नहीं है, वीष नांहि भरनी= कोई मंजिल/लक्ष्य-पूर्ति नहीं है, आश्रम-बरन नांहि= वर्णाश्रम-भेद नहीं है, काहू की सरन नांहि= किसी की शरण लेना नहीं है, समाधि-भूमि की ऐसी सुद्ध-सत्ता बरनी= समाधि-भूमि की ऐसी शुद्ध-सत्ता वर्णित है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उस स्थिति का चित्रण किया है, जब साधक को स्व-आत्मसत्ता की अनुभूति होती है, उस समय कोई विकल्प नहीं होता; क्योंकि जबतक विकल्प रहता है, तबतक रसास्वादन नहीं होता।

कवि ने उन सब सांसारिक-गतिविधियों का उल्लेख किया है, जिन्हें हम मिथ्यादृष्टि-जीव बहुत रुचिपूर्वक करते हैं, जबकि इन सब गतिविधियों का तो हमारी सत्ता में अस्तित्व भी नहीं है, फिर करने

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां, प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्।

आत्मन्येवालानितं च चित्तमा-संपूर्ण-विज्ञान-घनोपलब्धेः॥१९॥

का तो औचित्य ही कहाँ? जिन लौकिक-रीतियों को हम पूरी लगन से निभाते हैं, उन लौकिक क्रिया-कलापों का तो आत्मसत्ता में अस्तित्व ही नहीं, न तो उसमें विधि है, न स्थापना है, और न खंडन है। जिन पाप-भाव और क्रियाओं को करते हुये हम भयभीत रहते हैं, और जिन पुण्य-भाव और क्रियाओं को करने के लिये अथक-पुरुषार्थ करते हैं; कवि कहते हैं, "उस आत्मसत्ता में न तो पाप है न पुण्य है, ये दोनों भाव और क्रियायें तो दुःखरूप हैं, और मेरी आत्मसत्ता में दुःख का अस्तित्व ही नहीं, मैं अनंत-सुख का धनी हूँ। आत्मसत्ता में न तो किसी भी क्रिया को करने का उपदेश है, और न ही किसी क्रिया को करने की मनाही है; क्योंकि आत्मसत्ता तो इस कर्तृत्वबुद्धि से रहित केवल ज्ञाता-दृष्टा और अकर्ता-स्वभावी है।"

जिसमें राग-द्वेष नहीं है अर्थात् जब पर का लक्ष्य, इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि ही नहीं, तो रागादि-विकारों की उत्पत्ति कैसे होगी? और जब रागादि की उत्पत्ति नहीं, तो बंध-मोक्ष का तो अस्तित्व ही नहीं ठहरता। वहीं दूसरी ओर कर्मों की अपेक्षा से कहें, तो जिस कर्म-बंध से हम डरते हैं और मोक्ष पाने की चाहत रखते हैं, आत्मसत्ता में बंध और मोक्ष दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि ये दोनों ही स्थितियाँ कर्म-सापेक्ष हैं अर्थात् कर्म का योग हो तो बंध और कर्म का अभाव हो तो मोक्ष। और आत्मसत्ता में तो कर्म का अस्तित्व ही नहीं। जिसमें न कोई स्वामी है, न दास है; क्योंकि मैं स्वयं ही स्वयं का स्वामी हूँ, अन्य विकल्पों और संयोगों का अभाव होने से दासपने का तो सवाल ही नहीं। न कोई आकाश है न धरती है, अर्थात् मेरी आत्मसत्ता को किसी के आधार की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मैं स्वयं ही स्वयं का आधार हूँ।

जिसमें कुलाचार नहीं है; क्योंकि कुल तो देह का होता है, उच्च हो या नीच-कुल, आत्मा का तो कोई कुल ही नहीं; जब कुल नहीं, तो कुलाचार भी नहीं। जहाँ हार-जीत भी नहीं है; क्योंकि हार-जीत का प्रसंग तो तब आता है, जहाँ परिपूर्णता न हो; पर आत्मसत्ता की दृष्टि से तो सभी जीव समान हैं, तो हार-जीत का प्रश्न ही नहीं। जिसमें गुरु-शिष्य का भेद भी नहीं है, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का गुरु होता है, शिष्य-वाला कोई संबंध ही नहीं। कोई शुल्क (फीस) भी नहीं भरना है अर्थात् कोई चाहत या लक्ष्य ही नहीं तो दौड़-भाग भी नहीं। जहाँ कोई वर्णाश्रम नहीं है अर्थात् जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का कोई भेद नहीं है। न किसी की शरण की आवश्यकता है; क्योंकि शरण उसे दी या ली जाती है, जो कमजोर हो। मैं तो अनंतबल का धनी हूँ, इसलिए मेरी सत्ता में शरण का अभाव है। ऐसी समस्त-विकल्पों एवं ऊहापोह से रहित पूर्ण-शुद्ध आत्मसत्ता अनुभव की भूमि पर पाई जाती है, अर्थात् अनुभूति निर्विकल्प होती है।

(दोहा)

जाकै घट समता नहीं, ममता-मगन सदीव।
रमता-राम न जानई, सो अपराधी-जीव॥ 25॥
अपराधी-मिथ्यामती, निरदै हिरदै-अंध।
परकौ मानै आत्मा, करै करमकौ बंध॥ 26॥
झूठी-करनी आचरै, झूठे-सुख की आस।
झूठी-भगति हिए धरै, झूठे प्रभुकौ दास॥ 27॥

शब्दार्थ :— जाकै घट समता नहीं= जिसके हृदय में समताभाव नहीं है, ममता-मगन सदीव= सदैव ममता में ही मगन रहता है, रमता-राम न जानई= रमने का प्रयास करते हुए भी आत्मराम को नहीं जानता; सो अपराधी-जीव= वह अपराधी-जीव है॥ 25॥

अपराधी-मिथ्यामती= अपराधी-जीव मिथ्याबुद्धि-वाला है, निरदै हिरदै-अंध= निर्दयी, हृदय का अंधा

है, परकों मानै आत्मा= पर को आत्मा मानता है, करै करमकौ बंध= कर्म का बंध करता है॥ 26॥

झूठी-करनी आचरै झूठे-सुख की आस= झूठे-सुख की उम्मीद में झूठे-कार्य करता है, झूठी-भगति हिए धरै झूठे प्रभुकौ दास= हृदय में ईश्वर की झूठी-भक्ति धारण करता है, ईश्वर का झूठा-सेवक है॥ 27॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त तीनों-छंदों में कवि ने अपराधी-जीव कौन है, कैसा प्रवर्तन करता है?— इसका संक्षिप्त और सटीक-वर्णन किया है।

सर्वप्रथम सच्चा-अपराधी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कविवर कहते हैं कि जिसके हृदय में साम्य-भाव नहीं है अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में, प्रसंगों में, कर्मोदय-जनित परिस्थितियों में जबतक समता-भाव नहीं वर्तता, तबतक वह जीव अपराधी है। साथ ही जो रमता-राम अर्थात् रमण करने का प्रयास करते हुए भी जो रमणीय आत्मस्वरूप को तो जानता नहीं, और पर की ममता में ही मगन रहता है अर्थात् देह में, पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में, देहजनित-संयोगों में ममत्व-बुद्धि करता है, अर्थात् उनको ही अपना सर्वस्व मानता है; वह जीव अपराधी है।

ऐसा अपराधी-जीव अर्थात् पर में आसक्त-जीव मिथ्यादृष्टि है। जब जीव आत्मस्वरूप से विमुख होता है, तो रागादि-भावों की उत्पत्ति होती है, और आत्मस्वरूप का घात होता है, जिसे आगम में भावहिंसा कहा गया है, और इसी हिंसक-परिणाम की अपेक्षा कवि ने अपराधी-जीव को 'निर्दयी' कहा है। हृदय से 'अंधा' कहा है, जैसे अंधे व्यक्ति को कुछ दिखाई नहीं देता, ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव को भी कोई विवेक न होने से उसे कवि ने अंधे की उपमा दी है। ऐसा अपराधी-जीव प्रतिसमय पर को ही आत्मा या अपना मानता है और निरन्तर कर्मों का बंध करता है।

जिस जीव का श्रद्धान ही विपरीत है, तो उसका आचरण सम्यक् कैसे हो सकता है? अर्थात् आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान न होने से उसके द्वारा की जानेवाली व्रतादिकरूप समस्त-क्रियायें भी मिथ्या ही नाम पाती हैं। और जब क्रिया ही मिथ्या है, तो मोक्ष-सुख की आशा भी झूठी ही है। वह मिथ्यादृष्टि-जीव न तो अपने स्वरूप को जानता है, और न ही भगवान् के स्वरूप को जानता है; इसीलिए उसके द्वारा की जानेवाली प्रभु-भक्ति व दासत्व भी झूठा है। साथ ही कहीं न कहीं उसमें पुण्य की चाहत भी छिपी होती है, सो उसका हर प्रवर्तन 'मिथ्या' ही नाम पाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जैसे उल्टे घड़े पर रखे जानेवाले सभी घड़े उल्टे ही रखे जाते हैं, उसीप्रकार जिसका श्रद्धान मिथ्या होता है, उसका ज्ञान और आचरण भी मिथ्या ही होता है, और जिसका श्रद्धान सम्यक् होता है, उसका ज्ञान और आचरण भी सम्यक् होता है।

(सवैया इकतीसा)

माटी भूमि-सैलकी सो संपदा बखानै निज, कर्ममैं अमृत जानै ग्यानमैं जहर है।

अपनौ न रूप गहै औरहीसौं आपौ कहै, साता तो समाधि जाकै असाता कहर है॥

कोपकौ कृपान लिए मान-मद पान किए, माया की मरौर हियै लोभ की लहर है।

याही भाँति चेतन, अचेतनकी संगतिसौं, साँचसौं विमुख भयौ झूठमैं बहर है॥ 28॥

शब्दार्थ :- माटी भूमि सैलकी= मिट्टी जो जमीन की हो या पर्वत की, सो संपदा बखानै निज= उसे अपनी संपत्ति कहता है, कर्ममैं अमृत जानै= क्रिया/कर्मकांड को अमृत जानता है, ग्यानमैं जहर है= ज्ञान को जहर मानता है, अपनौ न रूप गहै= अपना स्वभाव ग्रहण नहीं करता, औरहीसौं आपौ कहै= अन्य को ही अपना कहता है, जाकै साता तो समाधि= जिसके अनुकूलता ही समाधि/आनंद, असाता कहर है= प्रतिकूलता आफत/परेशानी है, कोपकौ कृपान लिए= क्रोध की तलवार लिए, मान-मदपान किए= मान की शराब पिये, माया की मरौर=

माया की वक्रता, हियै लोभ की लहर है= हृदय में लोभ का ज्वार है, याही भाँति चेतन-अचेतनकी संगतिसौं= इसी प्रकार चेतन-आत्मा अचेतन की संगति से, साँचसौं विमुख भयौ= सत्य से पराङ्मुख है, झूठमैं बहर है= झूठ में फँसा हुआ है।

विशेषार्थ :- अनादिकाल से चेतन आत्मा पर अर्थात् कर्म और कर्मफल रूप— देहादिक-संयोगों के साथ होने से किसप्रकार भ्रमित होता आया है?— इसका सटीक-वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

स्वभाव से चेतन और अनंत-आत्मिक गुणोंरूपी-रत्नों का स्वामी होने पर भी उसे तो देखता नहीं, और खेत-पहाड़, स्वर्ण-पाषाण आदि अचल-सम्पत्तियों को अपनी संपत्ति मानता है। कर्मकांड अर्थात् व्रत, पूजा, तप, दानादिक शुभ-क्रियाओं को अमृत के समान हितकारी मानता है; सो कितनी भी आकुलता हो पर उन क्रियाओं को करने का अथक-प्रयास करता है। और यदि कोई यह कहे कि "तुम तो ज्ञाता-दृष्टा हो, तुम इन क्रियाओं के कर्ता नहीं मात्र ज्ञाता हो; आकुलतापूर्वक होने वाली इन क्रियाओं का तुम्हें कोई फल नहीं मिलेगा"— तो ऐसी ज्ञान की बातें इसे विष के समान कड़वी प्रतीत होती है।

अपने दिव्यरूप को तो यह अपराधी-जीव निहारता नहीं है, और एकमात्र स्वात्मा को छोड़कर अन्य को अर्थात् देहादिक को ही आत्मा मानता है, और देह से संबंध रखनेवाली हर परवस्तु और संयोगों को अपना मानता है। इसीलिए साता-वेदनीय के उदय में देह को प्राप्त होनेवाली अनुकूलताओं को समाधि अर्थात् सबसे-बड़ी हितकारी-उपलब्धि मानता है, और असाता-वेदनीय के उदय में देह को प्राप्त होनेवाली प्रतिकूलतायें इसे कहर/वज्रपात जैसी अर्थात् जैसे किसी ने इस पर बिजली ही गिरा दी हो और सब कुछ विनष्ट हो गया हो— ऐसी प्रतीत होती है।

स्वरूप से विमुख होने और पर की ओर उन्मुख होने से मोह-राग-द्वेष और क्रोधादि-कषायों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें आगम में 'भावकर्म' कहते हैं, और इन्हीं भावकर्मों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्मों का बंध होता है। अनादिकाल से कर्मबंध की ये परम्परा अनवरत चली आ रही है। जब भी कोई परिस्थिति प्रतिकूल होती है, तो इसके हाथ में क्रोध की तलवार आ जाती है। जैसे तलवार से कभी किसी का भला नहीं होता, उसीप्रकार क्रोध से भी जीव का कभी भला नहीं हुआ; बल्कि हमेशा बुरा ही होता है। इसीप्रकार पुण्य के उदय में जब जीव को अनुकूलतायें मिलती हैं, तो मान की मदिरा पीकर होश गँवा देता है। जैसे मदिरा पीने के बाद व्यक्ति को कुछ होश नहीं रहता, ठीक उसीप्रकार मान की मदिरा पीने के बाद जीव भी विवेकशून्य और निर्दयी हो जाता है। जगत् के प्रपंचों में इतना उलझता है कि मन-वचन-काय तीनों में वक्रता आ जाती है, अर्थात् तीनों ही एक दूसरे के विपरीत प्रवर्तन करते हैं। जैसे समुद्र में लहरों का उछाल प्रतिसमय बना ही रहता है, उसीप्रकार अपराधी-जीव के हृदय में लोभ की लहरें उठती ही रहती हैं, एक-क्षण के लिये भी लोभ की लहर शांत नहीं होती है, हो भी कैसे? क्योंकि लोभ ही तो इन समस्त क्रुद्ध-परिणामों की जड़ है, इसीलिए लोभ को 'पाप का बाप' कहा जाता है।

कविवर कहते हैं इसीकारण ये चेतन-आत्मा इन पर-पदार्थों की संगति अर्थात् साथ रहने से आज तक सत्य अर्थात् आत्मस्वरूप से विमुख है, और झूठ अर्थात् पर-पदार्थों में रचा-बसा है।

(सवैया इकतीसा)

तीन-काल अतीत-अनागत-वर्तमान, जगमैं अखंडित-प्रवाहकौ डहर है।

तासौं कहै यह मेरौ-दिन यह मेरी-राति, यह मेरी-घरी यह मेरौ ही पहर है॥

खेहकौ खजानौ जोरै तासौं कहै मेरौ-गेह, जहाँ बसे तासौं कहै मेरौ ही सहर है।

याहि भाँति चेतन, अचेतन की संगतिसौं, साँचसौं विमुख भयौ झूठमैं बहर है॥ 29॥

शब्दार्थ :— तीन-काल अतीत अनागत वरतमान= तीन-काल भूतकाल, भविष्यकाल, वर्तमानकाल, जगमें अखंडित-प्रवाहकौ डहर है= संसार में अनवरत ये कालचक्र चला आ रहा है, तासौं कहै यह मेरौ-दिन यह मेरी-राति= उससे कहता है ये मेरा-दिन है मेरी-रात है, यह मेरी-घरी यह मेरौ ही पहर है= यह मेरी-घड़ी, मेरा-पहर है, खेहकौ खजानौ जोरै= राख या मिट्टी के ढेर को जोड़ता है, तासौं कहै मेरौ-गेह= उससे कहता है ये मेरा-घर है, जहाँ बसै तासौं कहै= जहाँ रहता है उसी को कहता है, मेरौ ही सहर है= मेरा ही शहर है, याहि भाँति चेतन, अचेतन की संगतिसौं= इसप्रकार चेतन-आत्मा, अचेतन-पदार्थों के साथ रहकर, साँचसौं विमुख भयौ झूठमें बहर है= सत्य से विमुख और झूठ में रचा-पचा है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव किसतरह पर-पदार्थों को अपना मानता है, इसका सटीक-चित्रण किया है।

अनादिकाल से आज तक समय का प्रवाह अर्थात् काल का चक्र या कहें समय का पहिया अनवरत अर्थात् बिना थमे इसी प्रकार चला आ रहा है; न किसी के आने से कभी बदलता है, और न किसी के जाने से रुकता है। जो समय बीत गया, हमने उसे भूतकाल का नाम दिया और जो चल रहा है, उसे वर्तमान तथा जो समय आनेवाला है, उसे भविष्यकाल कहा। वास्तव में देखा जाये, तो यह तो वस्तु-व्यवस्था के सहज-परिणामन का सूचक मात्र है; लेकिन मिथ्यादृष्टि-जीव तो इसे भी अपना मानता है। यहाँ तक कि दिन, रात, घड़ी, घंटा, पहर को भी अपना कहता है। तभी तो प्रतिसमय उसे अपने अनुकूल अर्थात् अपनी सुविधा-अनुसार बदलने का पुरुषार्थ करता है; लेकिन कालचक्र को बदलना तो तीन काल में भी संभव नहीं है, फलस्वरूप दुःखी होता है।

इसके अलावा मिट्टी के ढेर को भी अपना मानता है, अर्थात् गारा-मिट्टी से बने इस नश्वर-मकान को अपना मानता है। वैसे तो मिट्टी का एक-कण भी रखना इसे पसंद नहीं, पर उसी मिट्टी के ढेर को जी-जान से सजाता-संवारता है, हर पल उसकी देखभाल करता है; यहाँ तक कि अपने से भी ज्यादा उस मिट्टी के ढेर का ख्याल रखता है। एक से तसल्ली नहीं होती, तो दो-चार जगह ढेर करता है अर्थात् कई-कई मकान बनवाता है। जिस शहर में, जिस गली-मोहल्ले में रहता है, उसी को अपना कहता है। यहाँ तक कि गहरी-नींद में भी कोई पूछे, तो तुरंत जबाब देता है "यह मेरा घर मेरा शहर है," उसी को अपना पता बताता है।

भाई! जिस मिट्टी के ढेर का एक क्षण का भी भरोसा नहीं; कभी भी बाढ़, भूकम्प, सुनामी आदि आकर उसका नामोनिशान भी मिटा सकती है, तू उसका ख्याल रखता है। विचार तो कर! यह मिट्टी का ढेर भी कबतक तेरा है, जबतक तू इस नरदेह-रूपी किराये के मकान में है। जिस दिन मकान की अवधि पूरी हुई, उस दिन ये मिट्टी का ढेर यहीं पड़ा रह जायेगा, तेरे साथ नहीं जायेगा। यह सब जानते हुये भी इससे इतना अपनापन क्यों? हे आत्मन्! तू तो ज्ञायक भगवान् आत्मा है। जिस चैतन्य-महल का तू स्वामी है, उसे न तो कोई नष्ट कर सकता है, न ही उसे कोई छीन सकता है; वह त्रिकाल तेरे साथ रहनेवाला है। यह कैसी बिडम्बना है कि फिर भी तुझे उससे प्रीति नहीं होती।

कविवर कहते हैं कि इसप्रकार ये चेतन-आत्मा अचेतन-संपत्ति के साथ रहकर सत्य अर्थात् अपने स्वरूप से विमुख, और झूठ अर्थात् पर-पदार्थों में रचा-पचा रहता है।

(दोहा)

जिन्हके मिथ्यामति नहीं, ग्यान-कला घट-माँहि।

परचै आतमरामसौं, ते अपराधी नाँहि॥ 30॥

शब्दार्थ :- जिन्हके मिथ्यामति नहीं= जिनके मिथ्या-बुद्धि नहीं है, ग्यान-कला घट-माँहि= हृदय में भेदविज्ञान की कला प्रकट हुई है, परचै आतमरामसौं= आत्माराम से परिचय है, ते अपराधी नांहि= वे अपराधी नहीं हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में भले-पुरुष अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव अपराधी क्यों नहीं है— इस का वर्णन किया है। जिन जीवों के हृदय में स्व-पर का भेद करने की कला जागृत है, और उस भेदविज्ञान के द्वारा जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप का परिचय प्राप्त किया है, वे सम्यग्दृष्टि-जीव अपराधी नहीं हैं।

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकै धरम-ध्यान पावक प्रगट भयौ, संसै-मोह-विभ्रम बिरख तीनों डढ़े हैं।

जिन्हकी चित्तौनि-आगै उदै-स्वान भूसि भागै, लागै न करम-रज ग्यान-गज चढ़े हैं॥

जिन्हकी समुझिकी तरंग अंग-आगममैं, आगममैं निपुन अध्यातम में कढ़े हैं।

तेई परमारथी पुनीत-नर आठौं-जाम, राम-रस गाढ़ करै यहै पाठ पढ़े हैं॥ 31॥

शब्दार्थ :- जिन्हकै धरम-ध्यान पावक प्रगट भयौ= जिनके धर्मध्यान-रूपी अग्नि प्रकट हुई है, संसै-मोह-विभ्रम बिरख तीनों डढ़े हैं= (जिससे) संशय, मोह, विभ्रमरूपी तीनों-वृक्ष जल गये हैं, जिन्हकी चित्तौनि आगै= जिनकी चितवन के आगे, उदै-स्वान भूसि भागै= कर्मोदय-रूपी कुत्ते भौंककर भाग जाते हैं, लागै न करम-रज= कर्मरूपी-धूल उनको नहीं लगती है, ग्यान-गज चढ़े हैं= ज्ञानरूपी-हाथी पर सवार हैं, जिन्हकी समुझिकी तरंग अंग-आगममैं= जिनकी समझ में आगम के ज्ञान की तरंग उठती है, आगममैं निपुन= आगम के ज्ञान में प्रवीण हैं, अध्यातम में कढ़े हैं= अध्यात्म-विद्या के पारगामी हैं, तेई परमारथी पुनीत-नर आठौं-जाम= वे ही पवित्र-मोक्षार्थी-मनुष्य आठों पहर/प्रतिसमय, राम-रस गाढ़ करै यहै पाठ पढ़े हैं= आत्मानुभव का रसपान करते हैं, यही पाठ पढ़ते हैं अर्थात् इतना ही सीखे हैं।

विशेषार्थ :- जहाँ पिछले-छंदों में कवि ने 'अपराधी-जीव' की मनोवृत्ति का वर्णन किया था, वहीं इस-छंद में सम्यग्दृष्टि-जीव के चिंतन और प्रवर्तन का वर्णन किया है।

जब जीव आत्मस्वरूप का अनुभव करता है, तब चैतन्य के प्रकाश में वस्तु का स्पष्ट-स्वरूप प्रतिभासित होता है। ज्यों ही आत्मध्यान की पवित्र-अग्नि जलती है, त्यों ही संशय (जिन-वचनों में शंका) मोह (देहादिक में ममत्व का परिणाम) और विभ्रम (भ्रमित करने वाले रागादि के परिणाम) के वृक्ष जो अनादिकाल से पुष्पित और पल्लवित हो रहे थे, उस ध्यानाग्नि में जलकर नष्ट हो जाते हैं। जिनकी चितवन के आगे अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव के दृढ़-श्रद्धान के आगे कर्मोदय के कुत्ते भौंक-भौंककर थक-हारकर भाग जाते हैं, अर्थात् कर्म के उदयजनित अनुकूलतायें और प्रतिकूलतायें कभी भी किसी भी जीव के साथ आ सकती हैं, लेकिन उन परिस्थितियों में जहाँ मिथ्यादृष्टि-जीव संशय, मोह, और विभ्रम के कारण भयभीत और भ्रमित हो जाता है, वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव का श्रद्धान अडिग रहता है, एक क्षण के लिए भी चलायमान नहीं होता; क्योंकि ये तीनों वृक्ष तो जलकर राख हो चुके हैं, इसीलिए उदय के कुत्ते भौंक-भौंक कर यानि उदय में आकर चले जाते हैं। जैसे कुत्ते के भौंकने पर सज्जन व्यक्ति कभी परवाह नहीं करते और सहज रहते हैं, ठीक उसीप्रकार उदयजन्य-परिस्थितियों में कोई प्रतिक्रिया न देकर ज्ञानी-जीव सहज, निःशंक, निर्मोही, अभ्रम यानि भ्रमरहित रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि-जीव ज्ञानरूपी हाथी पर सवार रहते हैं, जिससे अष्टकर्माँ की रज उनको स्पर्श भी नहीं

करती है। जैसे लोक में हाथी की सवारी को 'राजसी-सवारी' का दर्जा दिया जाता है, और उस पर सवारी करनेवाले तक छोटे-मोटे लोगों की पहुँच नहीं होती है; ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव भी ज्ञानरूपी हाथी पर सवारी करते हैं, अतः कर्मों की धूल उनको स्पर्श भी नहीं करती। जिन जीवों के विचारों में, चिंतन में केवल आगम की तरंगें उठती हैं अर्थात् केवल आचार्यों की बातों का ही मनन चलता है, जो आगमज्ञान में प्रवीण हैं जिनकी चर्चा में भी स्वरूप का ही कथन चलता है; जो अध्यात्म-विद्या यानि आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन करानेवाली विद्या के भी पारगामी अर्थात् जानकार हैं, वे ही जीव सच में परमार्थी अर्थात् मोक्षमार्गी हैं, पवित्र हैं। वे आठों-पहर अर्थात् हरसमय एकमात्र आत्मस्वरूप का ही रसपान करते हैं, और ये ही पाठ पढ़े हैं अर्थात् इसी के विशेषज्ञ हैं; वे जीव निश्चित ही मोक्षगामी हैं।

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकी चिहुँटि चिमटा-सी गुन-चूनिबै कौ, कुकथाके सुनिबै कौं दोऊ-कान मढ़े हैं।

जिन्हकौ सरल-चित्त कोमल-वचन बोलै, सोमदृष्टि लियै डोलै मोम-कैसे गढ़े हैं॥

जिन्हकी सकति जगी अलख-अराधिबैकौं, परम-समाधि साधिबैकौं मन बढ़े हैं।

तेई परमारथी पुनीत-नर आठों-जाम, राम-रस गाढ़ करै यहै पाठ पढ़े हैं॥ 32॥

शब्दार्थ :- जिन्हकी चिहुँटि गुन चूनिबैकौ चिमटा सी= जिनकी बुद्धि गुण-ग्रहण करने के लिये चिमटा के समान है, कुकथाके सुनिबैकौं दोऊ कान मढ़े हैं= विकथा को सुनने के लिए दोनों कान बंद किये हुए हैं, जिन्हकौ सरल-चित्त कोमल-वचन बोलै= जिनका मन कपट-रहित है, मधुर-वचन बोलते हैं, सोमदृष्टि लियै डोलै मोमकैसे गढ़े हैं= जिनकी सौम्य या विकार-रहित दृष्टि है, जैसे मोम से बने हों, जिन्हकी सकति अलख-आराधिवै कौं जगी= जिनकी शक्ति आत्मस्वरूप की आराधना के लिये जागृत है, परम-समाधि साधिबैकौं मन बढ़े हैं= परम-समाधि या मोक्ष की साधना के लिए मन उत्साहित रहता है, तेई परमारथी पुनीत-नर आठों जाम= वे ही परमार्थी पवित्र-मनुष्य आठों पहर, राम-रस गाढ़ करै यहै पाठ पढ़े हैं= आत्मस्वरूप का रसपान करते हैं, उसी के जानकार हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने सम्यग्दृष्टि-जीव की निश्छल-वृत्ति और मोक्ष के लिए उनके सतत-पुरुषार्थ का वर्णन किया है।

सम्यग्दृष्टि-जीव की बुद्धि सद्गुणों को ग्रहण करने के लिये चिमटे के समान है। अर्थात् जैसे चिमटा/चिमटी के द्वारा हम सूक्ष्म से सूक्ष्म-वस्तु को भी पकड़ लेते हैं, यहाँ तक कि जिस वस्तु को हम हाथ से नहीं पकड़ पाते, उसे भी हम चिमटी/चिमटे से पकड़ लेते हैं; ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव आचार्यों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिप्राय को भी आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। राजकथा, भोजनकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा— इनको 'कुकथा' या 'विकथा' कहते हैं। हम मिथ्यादृष्टि-जीव जहाँ इन विकथाओं को कान लगाकर सुनते हैं, जिन्हें सुनने में हमें बहुत रस आता है; वहीं सम्यग्दृष्टि-जीव इन विकथाओं को सुनने के लिए कान से बहरे हो जाते हैं, अर्थात् विकथायें करना तो दूर सुनते भी नहीं हैं।

जिनका चित्त सरल है अर्थात् मन, वचन और काय में वक्रता या छल नहीं है, निष्कपट है; जो मुदुभाषी हैं अर्थात् हित-मित-प्रिय वचन बोलते हैं; जिनकी दृष्टि सौम्य है अर्थात् क्रोधादि कषाय के उत्पन्न होने पर दृष्टि और चेहरा विकृत हो जाता है; लेकिन जहाँ कषाय की उत्पत्ति ही नहीं होती, वहाँ

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतम्, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहिति निष्प्रमादः॥ 10॥

विकृति का सवाल ही नहीं रहता अर्थात् इतनी सौम्यता रहती है, जैसे मोम से बने हो। अर्थात् जैसे मोम अंदर से बाहर से एक जैसा रहता है, वैसे ही जिनकी परिणति अंतरंग और बहिरंग दोनों से सहज और सौम्य रहती है। एकमात्र अलख यानि इन्द्रियों से जो ग्रहण नहीं होता, ऐसे आत्मा की आराधना के लिये ही जिनकी शक्ति जागृत है, अर्थात् चिंतन-मनन, ध्यान और स्वाध्याय आदि सभी क्रियायें एकमात्र आत्मा आराधना के लक्ष्य से ही होती है। और निज-स्वरूप में लीनता के पुरुषार्थ के लिये जिनका मन निरन्तर-उत्साहित रहता है। वास्तव में वे ही जीव सच्चे-मोक्षार्थी हैं, पवित्र हैं, जो आठों पहर अर्थात् हरसमय स्वरूप का ही रसपान करते हैं, और उसी का पाठ या कथन करते हैं।

(दोहा)

राम-रसिक अर राम-रस, कहन-सुनन कौं दोई।

जब समाधि परगट भई, तब दुविधा नहिं कोइ॥ 33॥

शब्दार्थ :— राम-रसिक अर राम-रस= आत्मरस का पान करनेवाला और आत्मरस, कहन-सुनन कौं दोई= कहने सुनने के लिये दो हैं, जब समाधि परगट भई= जब आत्मानुभूति प्रगट होती है, तब दुविधा नहिं कोइ= तब ये दुविधा (द्वैतभाव) नहीं रहती।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'आत्मा और आत्मानुभव दोनों अभेद हैं'— इसका स्पष्टीकरण किया है।

आत्मस्वरूप का अनुभव करने से पहले आत्मा और आत्म-अनुभव दोनों भिन्न दिखते हैं; क्योंकि मैं आत्मा तो हूँ, परन्तु अनुभूति का आनंद तो अभी आया नहीं, इसलिये भिन्नता प्रत्यक्ष दिखती है। लेकिन अनुभूति होने के बाद दोनों में कोई भेद नहीं है; क्योंकि उस समय आत्मा स्वयं के ही आनंद का तो अनुभव करता है। दोनों को भिन्न कहना— यह तो कथनमात्र है; वास्तव में तो समाधि प्रकट होने पर अर्थात् अनुभूति के काल में ऐसे द्वैत-भाव की दुविधा नहीं रहती क्योंकि दोनों अभेद हैं, उनमें कोई भेद नहीं है।

(दोहा)

नंदन, वंदन, थुतिकरन, श्रवन, चिंतवन, जाप।

पढ़न, पढ़ावन, उपदिसन, बहुविधि-क्रिया-कलाप॥ 34॥

शब्दार्थ :— नंदन= आनंद मानना, वंदन= नमस्कार करना, थुति करन= स्तवन करना, श्रवन= सुनना, चिंतवन= चिंतन करना, जाप= जाप्य करना, पढ़न= पढ़ना, पढ़ावन= पढ़ाना, उपदिसन= उपदेश देना, बहुविधि-क्रियाकलाप= ये बहुतप्रकार की क्रियायें हैं।

विशेषार्थ :— आनंदित होना, नमस्कार करना, स्तवन करना, सुनना, चिंतन करना, ध्यान या जाप्य करना, पढ़ना, पढ़ाना— ये बहुतप्रकार की (शुभ) क्रियायें हैं।

(दोहा)

सुद्धातम-अनुभव जहाँ, सुभाचार तहाँ नांहि।

करम, करम-मारग विषै, सिवमारग सिवमाँहि॥ 35॥

शब्दार्थ :— सुद्धातम अनुभव जहाँ= जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव होता है, सुभाचार तहाँ नांहि= वहाँ शुभाचरण नहीं होता, करम करममारग= कर्म या क्रिया करना कर्ममार्ग अथवा संसार है, सिवमारग सिवमाँहि विषै= मोक्षमार्ग, मोक्ष में ही है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने शुद्धोपयोग में शुभाचार/शुभोपयोग का निषेध किया है। शुद्धोपयोग यानि मात्र शुद्धस्वरूप का वेदन, और शुभोपयोग अर्थात् पूजा-पाठ, व्रत-तप, दया-दानादिक रूप विकल्पात्मक-प्रवर्तन।

जब शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है, तब वहाँ ये शुभाचार नहीं होता है। क्योंकि 'कर्म' अर्थात् शुभाचार, 'कर्म-मार्ग' अर्थात् संसार-मार्ग है, और 'सिव' अर्थात् आत्मानुभव, 'शिवमार्ग' अर्थात् मोक्षमार्ग हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि विकल्प कैसा भी हो बंध का ही कारण है अर्थात् संसार-मार्ग ही है, और निर्विकल्प-आत्मानुभव अर्थात् शुद्धस्वरूप में पूर्ण-लीनता ही मोक्षमार्ग है।

(चौपाई)

इहि-विधि वस्तु-व्यवस्था जैसी, कही जिनंद, कही मैं तैसी॥

जे प्रमाद-संजुत मुनिराजा, तिनके सुभाचारसौ काजा॥ 36॥

शब्दार्थ :- इहि-विधि जैसी जिनंद कही= इसप्रकार जैसी जिनेन्द्रदेव ने कही, वस्तु-व्यवस्था मैं तैसी कही= वस्तु-व्यवस्था मैंने वैसी ही कही, जे प्रमाद-संजुत मुनिराजा= जो प्रमाद से संयुक्त मुनिराज हैं, तिनके सुभाचारसौ काजा= उनके शुभाचार से कार्य होता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि वस्तु-व्यवस्था का जैसा स्वरूप केवली के ज्ञान में झलका है, और उनकी वाणी में आया है, वैसा ही स्वरूप मैंने यहाँ कहा है। छठवाँ-गुणस्थान 'प्रमत्तविरत' है, अर्थात् प्रमाद-सहित विरक्ति। इस गुणस्थानवर्ती जो मुनिराज होते हैं, उनके प्रमाद का सद्भाव होने से ये शुभाचार होते ही हैं।

प्रमाद से यहाँ तात्पर्य 'स्वरूप में असावधानी' से है, अर्थात् उपयोग का स्वरूप में स्थिर न रह पाना। जब मुनिराज का उपयोग स्वरूप में स्थिर नहीं रह पाता, तो वे मुनिराज सातवें गुणस्थान (शुद्धोपयोग) से गिरकर छठवें गुणस्थान (शुभोपयोग) में आते हैं। तब मुनिचर्या में जो विकल्पात्मक-प्रवर्तन यानि जप, तप, सामायिक, शास्त्र-लेखन, आहार आदि के भाव होते हैं; वे ही शुभाचार हैं, और ये विकल्प प्रमाद अर्थात् स्वरूप की अस्थिरता से ही होते हैं।

(चौपाई)

जहाँ प्रमाद-दसा नहि व्यापै, तहाँ अवलंब आपनौ-आपै॥

ता कारन प्रमाद उतपाती, प्रगट मोख-मारग कौ घाती॥ 37॥

शब्दार्थ :- जहाँ प्रमाद-दसा नहि व्यापै= जहाँ प्रमाद की स्थिति नहीं होती है, तहाँ अवलंब आपनौ-आपै= वहाँ निरन्तर स्वयं का ही अवलंबन होता है, ता कारन प्रमाद उतपाती= इसीकारण प्रमाद की उत्पत्ति, प्रगट मोख-मारग कौ घाती= प्रत्यक्ष मोक्षमार्ग का घात करनेवाली है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने प्रमाद की उत्पत्ति को मोक्षमार्ग में बाधक कहा है, क्योंकि प्रमाद अर्थात् स्वरूप में अस्थिरता, और जबतक यह रहेगी तबतक मोक्ष कैसे संभव है? क्योंकि मोक्ष तो स्वरूप में पूर्ण-स्थिरता का नाम है। और जब प्रमाद की स्थिति नहीं होती, तब निश्चित ही साधक को स्वरूप का अवलंबन होता है। अर्थात् एक काल में उपयोग एक को ही विषय बनाता है; या तो स्वरूप में लीनता अथवा स्वरूप से बाहर प्रवर्तन/प्रमाद। इसीलिए कवि ने प्रमाद की उत्पत्ति को मोक्षमार्ग में बाधक कहा है।

(चौपाई)

जे प्रमाद-संजुगत गुसाई, उठहिं गिरहिं गिंदुक की नाहि।
जे प्रमाद तजि उद्धत हौंहीं, तिनको मोख निकट द्रिग सौंहीं ॥ 38 ॥
घट मैं है प्रमाद जब ताई, पराधीन प्राणी तब ताई।
जब प्रमाद की प्रभुता नासै, तब प्रधान अनुभौ परगासै ॥ 39 ॥

शब्दार्थ :— जे प्रमाद-संजुगत गुसाई= जो प्रमाद-सहित साधु हैं, गिंदुक की नाहि उठहिं गिरहिं= गेंद की तरह उठते हैं, गिरते हैं, जे प्रमाद तजि उद्धत हौंहीं= जो प्रमाद छोड़कर पुरुषार्थी होते हैं, तिनको मोख निकट द्रिग सौंहीं= उनकी दृष्टि में मोक्ष निकट दिखता है ॥ 38 ॥

जब ताई घट में है प्रमाद= जबतक अंतरंग में प्रमाद है, तब ताई पराधीन प्राणी= तबतक जीव पराधीन है, जब प्रमाद की प्रभुता नासै= जब प्रमाद की शक्ति नष्ट होती है, तब प्रधान अनुभौ परगासै= तब श्रेष्ठ-अनुभव प्रकट होता है ॥ 39 ॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने प्रमाद को हेय और पराधीनता का कारण माना है।

आगम के अनुसार कहा जाता है कि जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मुनिराज छठवें और सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। वैसे तो मुनिराज प्रतिसमय स्वरूप में स्थिरता का ही पुरुषार्थ करते हैं, पर जब उपयोग स्वरूप में नहीं टिकता तब बाहर में जप, तप, ध्यानरूप इसतरह प्रवर्तन करते हैं कि उपयोग पुनः स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त हो। सातवें से छठवें, और फिर छठवें से सातवें में— इस प्रक्रिया को कवि ने एक सटीक-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। जैसे गेंद को पुरुषार्थपूर्वक ऊपर की ओर उछाला जाता है, लेकिन जैसे ही गति भंग होती है, वह नीचे गिर जाती है, तथा पुनः उछालने का पुरुषार्थ तथा पुनः उसका वापस नीचे आना होता है। ठीक उसीप्रकार मुनिराज स्वरूप में स्थिरता अर्थात् श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ करना चाहते हैं; परंतु जैसे ही उपयोग की एकाग्रता भंग होती है, वे वापस नीचे, अर्थात् छठवें गुणस्थान में गिर जाते हैं। इसप्रकार मुनिराज छठवें से सातवें में और सातवें से छठवें-गुणस्थान में झूलते हैं। इसीलिए कविवर कहते हैं कि जो जीव प्रमाद को छोड़कर स्वरूप में स्थिरता के लिये पुरुषार्थरत होते हैं, उनके लिए मोक्षमार्ग अतिनिकट और सहज होता है।

इसी सत्य को अगले छंद में कवि पुनः स्पष्ट करते हैं कि जब तक प्रमाद की स्थिति रहती है, तब तक जीव पराधीन रहता है, और जैसे ही प्रमाद की शक्ति नष्ट होती है, तब श्रेष्ठ-आत्मानुभव यानि मोक्ष प्रकट होता है।

(दोहा)

ता-कारन जगपंथ इत, उत सिवमारग-जोर।
परमादी जगकौं धुकै, अपरमादि सिव-ओर ॥ 40 ॥
जे परमादी आलसी, जिन्हकै विकलप भूरि।
होइ सिथल अनुभौविषै, तिन्हकौ सिवपथ दूरि ॥ 41 ॥

शब्दार्थ :— ता-कारन जगपंथ इत= इसकारण इधर जगत् का पंथ है, उत सिवमारग जोर= उधर मोक्षमार्ग का

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः, कषायभर-गौरवादलसत्ता प्रमादो यतः।

अतः स्वरस-निर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्, मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाऽचिरात् ॥ 11 ॥

जोर है, परमादी जगकौं धुकै= प्रमादी-जीव जगत् की ओर झुकता है, अपरमादि सिव-ओर= अप्रमादी-जीव मोक्ष की ओर (गतिशील होते हैं) ॥ 40 ॥

जे परमादी-आलसी= जो प्रमादी और आलसी हैं, जिन्हकै विकल्प भूरि= उनको बहुत विकल्प होते हैं, होइ सिथल अनुभौविषै= अनुभव में शिथिल होते हैं, तिन्हकौ सिवपथ दूरि= उनको मोक्षमार्ग दूर होता है ॥ 41 ॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त-दोनों छंदों में कवि ने प्रमादी और अप्रमादी-जीव की स्थिति वर्णन किया है। प्रमाद की स्थिति विकल्प और स्वरूप की अस्थिरतारूप होने से संसार का कारण है, और अप्रमाद की स्थिति निर्विकल्प और स्वरूप में लीनतारूप होने से मोक्ष का कारण है। इसीलिए प्रमादी-जीव संसार को देखता है, और अप्रमादी-जीव मोक्ष की ओर प्रयाण करता है।

ऐसा क्यों होता है?— इसका वर्णन कवि ने अगले छंद में किया है। जो जीव प्रमादी और आलसी होते हैं, उन्हें बहुत विकल्प होते हैं। विकल्पों की अधिकता के कारण आत्मस्वरूप में शिथिलता आती है, जिससे मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों ही दूर हो जाते हैं।

(दोहा)

जे परमादी-आलसी, ते अभिमानी-जीव।

जे अविकलपी-अनुभवी, ते समरसी सदीव ॥ 42 ॥

जे अविकलपी-अनुभवी, सुद्ध-चेतना-युक्त।

ते मुनिवर लघुकालमैं, हौहि करमसौं मुक्त ॥ 43 ॥

शब्दार्थ :- जे परमादी-आलसी= जो प्रमादी और आलसी हैं, ते अभिमानी-जीव= वे अभिमानी हैं, जे अविकलपी-अनुभवी= जो विकल्परहित और आत्मानुभवी हैं, ते समरसी सदीव= वे हमेशा समतारस के धनी होते हैं ॥ 42 ॥

जे अविकलपी-अनुभवी= जो विकल्परहित और आत्मानुभवी हैं, सुद्धचेतना-युक्त= वे शुद्ध-चेतना से युक्त हैं, ते मुनिवर लघुकालमैं= वे मुनिराज अल्पकाल में ही, हौहि करमसौं मुक्त= कर्मों से मुक्त होते हैं ॥ 43 ॥

विशेषार्थ :- पुनः प्रमादी और अप्रमादी-जीव की मनोदशा का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं कि जो प्रमादी और आलसी-जीव हैं, वे सदैव अभिमानी होते हैं। अभिमान से यहाँ तात्पर्य 'स्वरूप की अविनय' से है; क्योंकि जब मोक्षार्थी का उपयोग स्वरूप से बाहर भ्रमण करता है, तो स्वरूप की अविनय होती ही है। और जब उपयोग स्वरूप में एकाग्र होता है, तो स्वरूप की विनय होती है। इसी अपेक्षा से कवि ने प्रमादी-जीव को 'अभिमानी' कहा है। और जो विकल्परहित अर्थात् निर्विकल्प होते हैं, वे सदैव साम्यरस का रसास्वादन करते हैं।

इसीलिए जो विकल्परहित अर्थात् निर्विकल्प और आत्मानुभवी होते हैं, वे चेतना-संयुक्त अर्थात् शुद्ध ज्ञान-दर्शन से युक्त होते हैं, और अल्पकाल में ही कर्मों के बंधन से छूटकर अजर-अमर-अविनाशी सिद्ध-पद को प्राप्त करते हैं।

(कवित्त)

जैसैं पुरुष लखै परवत चढ़ि, भूचर-पुरुष ताहि लघु लगौ।

भूचर-पुरुष लखै ताकौं लघु, उतरि मिलैं दुहुकौ भ्रम भगौ ॥

तैसैं अभिमानी उन्नत लग, और जीवकौ लघुपद दगै।

अभिमानीकौ कहैं तुच्छ सब, ग्यान जागै समता-रस जगै॥ 44॥

शब्दार्थ :— जैसैं परवत चढ़ि पुरुष लखै= जैसे पर्वत पर चढ़कर पुरुष देखता है, ताहि भूचर-पुरुष लघु लगे= उसे भूमि के पुरुष छोटे लगते हैं, भूचर-पुरुष लखै ताकौ लघु= (और) भूमि के पुरुष को वह छोटा दिखता है, उतरि मिलैं दुहुकौ भ्रम भगै= उतरकर मिलने पर दोनों का भ्रम दूर हो जाता है, तैसैं उन्नत लग अभिमानी= उसीप्रकार ऊँचा सिर रखनेवाला अभिमानी-पुरुष, और जीवकौ लघुपद दगै= अन्य जीवों को तुच्छ देखता है, अभिमानीकौ कहैं तुच्छ सब= सब अभिमानी को तुच्छ कहते हैं, ग्यान जागै समता-रस जगै= ज्ञान जागृत होने पर समता-रस जागृत होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में ज्ञानी-जीव को सभी जीव समान क्यों दिखते हैं, इस तथ्य का दृष्टांत के माध्यम से सुंदर स्पष्टीकरण किया है।

जैसे जब कोई पुरुष पर्वत के शिखर से नीचे की ओर देखता है, तो उसे भूमिगोचर-प्राणी या भूमिपर चलनेवाले प्राणी बहुत छोटे दिखाई देते हैं, और भूमि पर चलनेवाले जीव जब पर्वत की ओर देखते हैं, तो उनको पर्वत पर रहनेवाले मनुष्य छोटे-छोटे दिखाई देते हैं। लेकिन जब वे दोनों जीव पर्वत से उतरकर अर्थात् समान धरातल पर मिलते हैं, तब एकदूसरे को तुच्छ या छोटा दिखनेवाला भ्रम सहज ही दूर हो जाता है।

ठीक उसीप्रकार अभिमानी-जीव अपने आपको सबसे ऊँचा या श्रेष्ठ समझता है, और अन्य-जीवों को तुच्छ या छोटा समझता है। दूसरी ओर सामान्य-प्राणी उस मानी-जीव को घमंडी और तुच्छ समझता है। लेकिन जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है; तब अनंतानुबंधी कषाय-चौकड़ी का अभाव होने से मानकषाय भी नष्ट हो जाती है। मानकषाय के नष्ट होने से अभी तक जिन जीवों में मानकषाय के कारण छोटे-बड़े या ऊँच-नीच का भेद दिख रहा था, अब वह भेद सहज ही दूर हो जाता है, और प्राणीमात्र के प्रति समता का भाव जागृत होता है, जिससे ज्ञानी-जीवों को सभी जीव समान भासित होते हैं।

(सवेया इकतीसा)

करम के भारी समुझैं न गुनकौ मरम, परम-अनीति अधरम-रीति गहे हैं।

हौहि न नरम-चित्त गरम-घामहूतैं, चरमकी द्रिष्टिसौं भरम भूलि रहे हैं॥

आसन न खोलैं मुख-वचन न बोलैं, सिर नाये हू न डोलैं मानौं पाथरके चहे हैं।

देखनके हाऊ, भव-पंथ के बढ़ाऊ ऐसे, माया के खटाऊ अभिमानी-जीव कहे हैं॥ 45॥

शब्दार्थ :— करम के भारी समुझैं न गुनकौ मरम= अनंत-कर्मों से बंधे हुये हैं, गुणों के मर्म को नहीं समझते हैं, परम अनीति-अधरम-रीति गहे हैं= अत्यधिक-अनीति और अधर्म के रास्ते को ग्रहण करते हैं, हौहि न नरम-चित्त= कोमल-चित्त नहीं होते हैं, गरम-घामहूतैं= धूप से भी गरम हैं, चरमकी द्रिष्टिसौं भरम भूलि रहे हैं= चमड़े की दृष्टि होने से भ्रम में भूले हुए हैं, आसन न खोलैं= जो आसन भंग नहीं करते, मुख वचन न बोलैं= मुँह से वचन नहीं बोलते, सिर नाये हू न डोलैं= सिर झुकाने पर भी नहीं हिलते हैं, मानौं पाथरके चहे हैं= मानो पत्थर से चिने/बने हों, देखनके हाऊ= देखने में भयंकर, भव-पंथ के बढ़ाऊ ऐसे= संसार-मार्ग को बढ़ानेवाले हैं ऐसे, माया के खटाऊ= माया के टिकाऊ, अभिमानी-जीव कहे हैं= अभिमानी-जीव कहे गए हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने संसारी मिथ्यादृष्टि अभिमानी-जीवों की मनोदशा का चित्रण किया है।

जिनका चित्त कषायों से कलुषित है, जिससे वे अत्यधिक कर्मों के भार से लदे हुये हैं अर्थात् कर्मों के तीव्र-बंध से बंधे हुए हैं। आठों-कर्मों ने स्वज्ञान पर ऐसा परदा डाला है कि जीव अपने ज्ञान-स्वभाव को तो पहिचानता नहीं है, और कर्मों के उदय की चाल को ही अपनी चाल समझता है। गुणों के मर्म को नहीं जानता, अर्थात् गुणों के वास्तविक-स्वरूप को तो समझता नहीं, और दोषों को ही गुण मानकर उनके अनुरूप ही आचरण करता है। जो अन्याय, अनीति, अधर्म, अनाचार अर्थात् जितने भी विपरीत-मार्ग हैं, उन सभी को बड़े चाव से अपनाता है, यद्यपि कई बार समझता भी है कि ये गलत है, लेकिन फिर भी मानता नहीं है।

जो कभी नरम-स्वभावी नहीं होता, अर्थात् मानकषाय से अति-तीव्रता से बंधा होने से स्वात्मा का मार्दव-स्वभाव तो कभी प्रगट ही नहीं होता। घाम या धूप से भी गर्म होता है अर्थात् हमेशा कषाय की अग्नि से तप्त रहता है, जिसकी गरमाहट धूप से कई गुना अधिक घातक होती है। चर्म यानि चमड़ा, आगम में इस नश्वर-देह को चर्ममढित कहा गया है। चर्म की दृष्टि या देह की दृष्टि से भ्रम में स्वयं को ही भूला है। दूसरे शब्दों में कहें, तो देह को ही आत्मा, और इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान को ही आत्मज्ञान समझकर भ्रमित है।

आसन नहीं खोलता अर्थात् कोई भी आये-जाये, पूजा-प्रशंसा भी करे, तब भी अपने आसन को भंग नहीं करता है। वह किसी के स्वागत-सत्कार के लिये भी उठकर खड़ा नहीं होता, न ही वचन से कुछ भी बोलता है। यहाँ तक कि कोई सिर भी झुकाये अर्थात् साष्टांग-प्रणाम भी करे, तब भी वह अपने आसन को भंग नहीं करता। उसे देखकर ऐसा लगता है कि मानों वह पत्थर से ही चिना गया हो अर्थात् पत्थर की मूर्ति हो। जो देखने में या हाव-भाव से भी भयंकर लगता है, अर्थात् जिसका मन-मैला होता है उसका बाह्य-शरीर उज्ज्वल कैसे हो सकता है? अपने इन दुर्विचारों के कारण वह निरन्तर संसार-मार्ग को ही बढ़ाता है, अर्थात् अति तीव्र-संसार का बंध करता है। माया के धनी अर्थात् मायाचारी में पक्के अभिमानी-जीवों का ऐसा स्वरूप कहा गया है।

(सवैया इकतीसा)

धीरके धरैया भव-नीरके तरैया भय, भीरके हरैया वर-वीर ज्यों उमहे हैं।

मारके मरैया सुविचारके करैया सुख, ढारके ढरैया गुन-लौसौ लहलहे हैं॥

रूपके रिझैया सब नैके समझैया सब, हीके लघु-भैया सबके कुबोल सहे हैं।

बामके बमैया दुख-दामके दमैया ऐसे, रामके रमैया नर ग्यानी-जीव कहे हैं॥ 46॥

शब्दार्थ :— धीरके धरैया= धैर्य को धारण करनेवाले, भव-नीरके तरैया= संसार-समुद्र को पार करनेवाले, भय-भीरके हरैया= सप्त-भयों के भय को हरनेवाले, वर-वीर ज्यों उमहे हैं= महा-योद्धा के समान (धर्म में) उत्साहित हैं, मारके मरैया= काम (विषय-वासना) को मारनेवाले, सुविचारके करैया= आत्मस्वरूप के चिंतन में रत हैं, सुख ढारके ढरैया= सुख-शांति में ढलनेवाले, गुन लौसौ लहलहे हैं= गुणों की लौ से जगमगाते हैं, रूपके रिझैया= अपने आत्मस्वरूप पर रिझनेवाले, सब नैके समझैया= सब नयों के जानकार, सब हीके लघु-भैया= सभी के छोटे भैया, सबके कुबोल सहे हैं= सभी के वचनों को सुननेवाले, बामके बमैया= वक्रता को वमन करनेवाले, दुख-दामके दमैया= दुःख/संताप का दमन करनेवाले, ऐसे रामके रमैया नर= ऐसे आतमराम में रमनेवाले पुरुष, ग्यानी-जीव कहे हैं= ज्ञानी-जीव कहलाते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने ज्ञानी-जीवों की स्थिति, और उनकी मनोदशा का सुंदर-वर्णन किया है।

जिनका चित्त कषायों की कलुषता से रहित है, जिन्हें निरन्तर अपने स्वभाव का संबल है, ऐसे जीवों को कितनी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ क्यों न आये, निरन्तर धैर्य धारण करते हैं। जिस संसाररूपी अथाह और गहरे-समुद्र में अज्ञानी-जीव गोते लगाता रहता है, कभी पार नहीं पाता; वहीं ज्ञानी-जीव निज-स्वभाव के अवलंबन से उस अथाह-समुद्र से भी सहज पार हो जाते हैं। इहलोक-भय, परलोक-भय, वेदनाभय, मरण-भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति-भय, अकस्मात्-भय, इत्यादि सप्तभयों से ज्ञानी-जीव स्वयं तो रहित होते ही है। उनके निकट आने पर, उनके उपदेशों को सुनकर भयभीत अज्ञानी-जीव भी कुछ समय के लिये ही सही भयरहित हो जाता है।

धर्म-कार्यों में एक योद्धा के समान हमेशा उत्साहित रहते हैं, जैसे एक योद्धा अपने राज्य की रक्षा के लिए प्रतिसमय सजग रहता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव अंतरंग में स्वधर्म और बाह्य में धर्म की प्रभावना के लिये हमेशा उत्साहित रहते हैं, जबकि अज्ञानी-जीव इन कार्यों को स्वार्थवश या कहें पुण्य की वांछा से करता है। दुनिया के जीवों को जिसने अपने वश में कर रखा है, ऐसे कामदेवरूपी शत्रु को मारनेवाले अर्थात् अपने वश में करनेवाले हैं, अथवा विषयों की वासना से रहित हैं। निरन्तर सुविचार अर्थात् अच्छे विचारों में रत हैं, आत्मरस के रसिक को एकमात्र शुद्धात्मा ही उपादेय है; इसलिये उसी का चिंतन-मनन ही उनके लिये सुविचार है। सुख-शांति में ढलनेवाले अर्थात् आत्मसुख का वेदन करनेवाले हैं। जैसे दीपक की लौ से जगत् के पदार्थ जगमगाते हैं, ठीक उसीप्रकार वे सद्गुणों-रूपी लौ से जगमगाते हैं।

जो आत्मा के अनुपम-रूप पर रीझनेवाले हैं अर्थात् जिनको आत्मरूप ही प्रिय है, जो नयों के रहस्य को जाननेवाले हैं अर्थात् जिनेन्द्र की वाणी और आचार्यों के कथन का मर्म समझनेवाले हैं। सभी के छोटे भाई के समान हैं, अर्थात् इतने क्षमावान हैं कि सभी के अच्छे और बुरे वचनों को सुनकर भी कभी अपने क्षमा-स्वभाव को नहीं छोड़ते। मन, वचन और काया तीनों योगों की वक्रता में जहाँ अज्ञानी-जीव बड़े-चाव से रचा पचा रहता है, वहीं ज्ञानी-जीव इसका वमन करते हैं अर्थात् त्याग करते हैं, और सरल या नम्र-स्वभावी होते हैं। दुःख/संताप का दमन करनेवाले हैं, स्वाभाविक रूप से जिसे अपने सुख-स्वरूपी आत्मा का अवलंबन होता है, उसके लिए दुःख-दर्द का अस्तित्व स्वतः ही समाप्त हो जाता है; क्योंकि अपने सुख-स्वरूपी आत्मा का वेदन न करने का नाम ही तो दुःख है। और ज्ञानी-जीव तो प्रतिसमय अपने स्वरूप की मस्ती में मगन हैं, तो दुःख की उत्पत्ति कैसे होगी? ऐसे आतमराम में रमनेवाले, उसी में विश्राम करनेवाले पुरुषों को ही ज्ञानी-जीव कहा गया है।

(चौपाई)

जे समकिती-जीव समचेती, तिनकी कथा कहौं तुमसेती।

जहाँ प्रमाद क्रिया नहिं कोई, निरविकलप-अनुभौ पद सोई॥ 47॥

परिग्रह-त्याग जोग थिर तीनों, करम-बंध नहिं होय नवीनों।

जहाँ न राग-दोष-रस मोहै, प्रगट मोख-मारग मुख सोहै॥ 48॥

शब्दार्थ :— जे समकिती-जीव समचेती= जो साम्यभाव को धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि-जीव हैं, तिनकी

त्यक्त्वाऽशुद्धि-विधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं, स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।

बन्ध-ध्वंसमुपेत्य-नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते॥ 12॥

कथा कहौं तुमसेती= उनकी कथा कहता हूँ, तुम सुनो, जहाँ प्रमाद-क्रिया नहीं कोई= जहाँ प्रमादरूप-आचरण नहीं होता, निरविकल्प-अनुभौ-पद सोई= वही निर्विकल्प-अनुभव का पद है॥ 47॥

परिग्रह-त्याग जोग स्थिर तीनों= परिग्रह को त्यागकर तीनों योगों से स्थिर हैं, करम-बंध नहीं होय नवीनौ= नवीन-कर्मबंध नहीं होता, जहाँ न राग-दोष-रस मोहै= जहाँ राग-द्वेष-मोह का रस नहीं है, प्रगट मोख-मारग-मुख सोहै= वही साक्षात् मोक्षमार्ग के सन्मुख है॥ 48॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने सम्यग्दृष्टि-जीव की महिमा का गुणगान किया है, साथ ही क्रम से मोक्ष-प्राप्ति का सुंदर-चित्रण किया है।

जो जीव-साम्यभाव को धारण करते हैं वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। अब मैं उनकी कथा कहता हूँ, तुम सुनो! सर्वप्रथम वे जीव साम्य-भाव को धारण करते हैं, अर्थात् जीव-मात्र के प्रति समभाव, न हर्ष न विषाद, न राग न द्वेष, सहज-साम्यभाव रखते हैं। सम्यग्दृष्टि-जीव को आत्मानुभूति होती है, पर जितने समय प्रमादरूप अर्थात् शुभाचाररूप-प्रवर्तन नहीं होता, उपयोग एकमात्र स्वरूप में ही स्थिर होता है, वही वास्तव में निर्विकल्प-आत्मानुभूति है। शेष विकल्परूप-प्रवर्तन तो शुभाचार ही है।

जब सम्यग्दृष्टि-जीव अंतरंग-बहिरंग समस्त-परिग्रह का त्याग करके अर्थात् मुनिव्रत अंगीकार करके, मन-वचन-कायरूप तीनों योगों की चंचलता को छोड़कर, उपयोग को स्वरूप में एकाग्र करते हैं, तब सहज ही नवीन-कर्म का बंध नहीं होता और साथ ही पूर्वबद्ध-कर्मों की निर्जरा भी होती है। जब मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों का रस नहीं होता, तभी जीव निर्बंध होता है; क्योंकि मोह-राग-द्वेष ही तो कर्म-बंध के मूल-कारण है। जब बंध का कारण ही नहीं, तो कर्म-बंधनरूप-कार्य कैसे होगा? इसीलिए जब कर्मबंधन नहीं होता, तभी जीव मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है, अर्थात् तभी मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

(चौपाई)

पूरब-बंध-उदय नहिं व्यापै, जहाँ न भेद पुन अरु पापै।

दरब-भाव गुन निरमल-धारा, बोध-विधान विविध-विस्तारा॥ 49॥

जिन्हकी सहज-अवस्था ऐसी, तिन्हकै हिरदै दुविधा कैसी।

जे मुनि क्षपक-श्रेणि चढ़ि जाये, ते केवलि-भगवान कहाये॥ 50॥

(दोहा)

इहि-विधि जे पूरन भये, अष्टकरम-वन दाहि।

तिन्हकी महिमा जो लखै, नमै बनारसि ताहि॥ 51॥

शब्दार्थ :— पूरब-बंध-उदय नहिं व्यापै= पूर्व में बंधे हुए कर्मों के उदय में ममत्व नहीं होता, जहाँ न भेद पुन अरु पापै= जहाँ पुण्य और पाप में भेद नहीं है, दरब-भाव गुन निरमल-धारा= द्रव्य और भाव से गुणों की निर्मल-धारा बह रही है, बोध-विधान विविध-विस्तारा= बोध यानि रत्नत्रय का विधान विविधरूप विस्तार ले रहा है॥ 49॥

जिन्हकी सहज-अवस्था ऐसी= जिनके सहज ऐसी स्वतंत्र-अवस्था है, तिन्हकै हिरदै दुविधा कैसी= उनके हृदय में दुविधा कैसे हो सकती है? जे मुनि क्षपक-श्रेणि चढ़ि जाये= यदि ये मुनि क्षपक-श्रेणी चढ़े, ते केवलि-भगवान कहाये= तो केवली-भगवान कहलाते हैं॥ 50॥

इहि-विधि जे पूरन भये= इस विधि से जो पूर्ण हुये हैं, अष्टकरम-वन दाहि= अष्ट-कर्मरूपी वन को

जलाकर, तिन्हकी महिमा जो लखै= उनकी महिमा को जो देखते/जानते हैं, नमै बनारसि ताहि= बनारसीदास उनको नमस्कार करते हैं॥ 51॥

विशेषार्थ :— उपर्युक्त सभी छंदों में कवि ने सम्यग्दृष्टि-जीव की महिमा का गुणगान किया है।

सम्यग्दृष्टि-जीव पूर्व में बंधे हुए कर्मों के उदय में आने पर मिलने वाली अनुकूलता-प्रतिकूलताओं पर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करते, अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप प्रवर्तन नहीं करते। पुण्य और पाप में भी कोई भेद नहीं वर्तता, अर्थात् दोनों समान भासित होते हैं। अंतरंग में तो आत्मिक-गुणों का रसास्वादन करते ही हैं, बाह्य में भी उन गुणों की छवि प्रत्यक्ष दिखाई देती है, जिन्हें हम सम्यक्त्व के आठ-अंगों के रूप में जानते हैं। जिनके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निरन्तर उन्नति पर हैं, अर्थात् स्वरूप में स्थिरता निरन्तर बढ़ने से विशुद्धि भी बढ़ती है।

जिन जीवों की उपरोक्त-वर्णित सम्यक्त्व की ऐसी अवस्था होती है, उनके हृदय में स्वरूप के विषय में कोई दुविधा, कोई शंका कैसे उत्पन्न हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं होती। इतना ही नहीं यदि ये मुनि क्षपक-श्रेणी आरोहण कर लें अर्थात् उनका उपयोग अंतर्मुहूर्त अपने स्वरूप में टिक जाये, तो समस्त घातिया-कर्मों का क्षय करके केवली-परमात्मा बन जायें।

कविवर कहते हैं कि इस विधि से अर्थात् जैसी विधि आगम में वर्णित है, उस विधि को अपनाते हुये जो जीव आठों-कर्मरूपी वन को अपने ध्यानरूपी अग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं, और अपने स्वभाव की परिपूर्णता को प्राप्त करते हैं; उन जीवों की महिमा को जो जानते, देखते या अनुभव करते हैं, उन जीवों को बनारसीदास जी सिर झुकाकर वंदन करते हैं।

(छप्पय)

भयौ सुद्ध-अंकुर, गयौ मिथ्यात-मूर नसि।

क्रम-क्रम होत उदोत, सहज जिम सुकल-पक्ष ससि॥

केवलरूप प्रकासि, भासि सुख-रासि धरम-धुव।

करि पूरन-थिति-आउ, त्यागि गत-लाभ परम हुव॥

इह विधि अनन्य-प्रभुता धरत, प्रगटि बूदि सागर थयौ।

अविचल-अखंड-अनभय-अखय, जीव-दरब जग-मँहि जयौ॥ 52॥

शब्दार्थ :— भयौ सुद्ध-अंकुर= शुद्ध अंकुर/सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ, गयौ मिथ्यात-मूर नसि= मिथ्यात्व जड़ से नष्ट हो गया, क्रम-क्रम होत उदोत= क्रम-क्रम से बढ़ता गया, सहज जिम सुकल-पक्ष ससि= सहज शुक्ल-पक्ष के चंद्रमा की तरह, केवलरूप प्रकासि= केवलज्ञान का प्रकाश हुआ, भासि सुखरासि धरम-धुव= आत्मा का ध्रुव स्वभाव और सुख भासित हुआ, करि पूरन थिति-आउ= आयुर्कर्म की स्थिति पूर्ण की, त्यागि-गत लाभ परम हुव= गति का त्याग हुआ, परमात्मा-पद का लाभ हुआ, इह-विधि अनन्य-प्रभुता धरत= इसप्रकार अनुपम-प्रभुता धारणकर, प्रगटि बूदि सागर थयौ= बूँद प्रकट होकर सागर हो गई, अविचल अखंड अनभय अखय= स्थिर, खंडरहित, भयरहित, शाश्वत, जीव-दरब जग-मँहि जयौ= जीवद्रव्य जगत् में जयवंत हुआ।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक की यात्रा का अर्थात् एक अज्ञानी

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-न्मित्योद्योत-स्फुटित-सहजावस्थमेकान्त-शुद्धम्।

एकाकार-स्वरस-भरतोऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं, पूर्ण-ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥ 13॥

मिथ्यादृष्टि-जीव सम्यग्दर्शन प्राप्तकर कैसे मोक्षगामी हुआ?— इसका सुंदर और सटीक-वर्णन किया है।

लोक में भी हम देखते हैं कि जबतक हम बीजारोपण न करें, तबतक फलदार-वृक्ष की उपलब्धि नहीं होती है। अर्थात् बीज के बिना वृक्ष का अस्तित्व ही नहीं, ठीक उसीप्रकार यदि मोक्षरूपी फल की प्राप्ति करना है, तो सम्यग्दर्शनरूपी बीज का होना अति-आवश्यक है। यहाँ भी कविवर यही कहते हैं कि बीज अंकुरित हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ। सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर मिथ्यात्व का जड़ से विनाश हो जाता है; क्योंकि मिथ्यात्व और सम्यक्त्व जीव के श्रद्धा-गुण का ही विपरीत और सम्यक्-परिणामन है। जब श्रद्धान सम्यक् होता है, तो विपरीतता स्वयं ही विनाश को प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर जो आशिक-शुद्धि प्रकट होती है, वही विशुद्धि-तप के द्वारा धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होती है; ठीक उसीप्रकार, जैसे शुक्ल-पक्ष का चन्द्रमा दूज से पूर्णिमा की ओर बढ़ता है।

जब निरन्तर स्वरूप की स्थिरतारूप-तप के द्वारा यही विशुद्धि पूर्णिमा के चाँद की तरह पूर्णता को प्राप्त होती है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है, और आत्मा के नित्य-स्वभाव और अनंत-सुख की सहज-अनुभूति होती है, अर्थात् अरिहंतपना प्रगट होता है। फिर शेष अघातिया-कर्माँ की स्थिति पूर्ण अर्थात् कर्म-प्रकृतियों का क्षय और आयु पूर्णकर, मनुष्य-गति को त्यागकर वह जीव परम-पद को प्राप्त होता है।

इसप्रकार अनन्य-प्रभुता अर्थात् अनंत-वैभव को धारण करता है, सम्यग्दर्शन होने पर विशुद्धि की जो बूँद प्रगट हुई थी, वह अब अथाह-सागर बन गई अर्थात् सम्यग्दर्शन होने पर जो विशुद्धि बूँद के बराबर थी, अब वही सागर के जल के समान अथाह हो गई। और अविचल/स्थिर अर्थात् पुनः जन्म-मरण से रहित, अखंड अर्थात् भेदरहित, समस्त-भयों से रहित निर्भय, अक्षय अर्थात् शाश्वत पद को प्राप्तकर वह शुद्धात्मा जगत् में जयवंत हुआ।

(सवैया इकतीसा)

ग्यानावरनीकै गयै जानियै जु है सु सब, दर्सनावरनकै गयेतैं सब देखिये।

वेदनी-कर्मके गयेतैं निराबाध-सुख, मोहनीके गयै सुद्ध-चारित विसेखियै॥

आउकर्म गयै अवगाहना अटल होइ, नामकर्म गयेतैं अमूरतीक पेखियै।

अगुरु-अलघुरूप होत गोत्रकर्म गयै, अंतराय गयेतैं अनंत-बल लेखियै॥ 53॥

शब्दार्थ :— ग्यानावरनीकै गयै जानियै जु है सु सब= ज्ञानावरणी के क्षय से (जगत् में) जो है, वह सब जानते हैं, दर्सनावरनकै गयै तैं सब देखिये= दर्शनावरणी के क्षय से सब देखते हैं, वेदनी-कर्मके गयै तैं निराबाध-सुख= वेदनीय-कर्म के क्षय से बाधारहित-सुख, मोहनीके गयै सुद्ध-चारित विसेखियै= मोहनीय के क्षय से शुद्ध-चारित्र होता है, आउकर्म गयै अवगाहना अटल होइ= आयुर्कर्म के क्षय से अवगाहना अटल अर्थात् अपरिवर्तनशील होती है, नामकर्म गयेतैं अमूरतीक पेखियै= नामकर्म के क्षय से अमूर्तिका, अगुरुलघुरूप होत गोत्रकर्म गयै= गोत्रकर्म के क्षय से अगुरुलघुपना, अंतराय गयेतैं अनंतबल लेखियै= अंतराय के क्षय से अनंतबल प्रगट होता है।

विशेषार्थ :— यह-छंद मोक्ष-अधिकार का अंतिम-छंद है, और इसमें स्वयं मोक्ष-स्वरूप या कहें मोक्ष की प्राप्ति करनेवाले सिद्ध-भगवंतों का गुणानुवाद किया है। जीव अनादिकाल से आठ-कर्माँ के साथ है, जब साधक-जीव स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं, तो इन आठों-कर्माँ का क्रम से क्षय होता है। और जब इन कर्माँ का पूर्णक्षय होता है, तब सिद्ध-अवस्था प्रगट होती है। आठ-कर्माँ के अभाव में जो आठ-गुण प्रगट होते हैं, उन्हीं का वर्णन कवि ने इस छंद में किया है।

ज्ञानावरणी-कर्म के क्षय होने से 'केवलज्ञान' प्रकट होता है, और दर्शनावरणी-कर्म के क्षय होने से 'केवलदर्शन' प्रकट होता है, जिससे भगवान् के ज्ञान में तीनों-लोक और तीनों-कालों के समस्त पदार्थ, अपने गुण और पर्यायों-सहित, युगपत् एकसाथ जानने में आते हैं या झलकते हैं। वेदनीय-कर्म का क्षय होने से 'बाधारहित', 'स्वाधीन' अतीन्द्रिय, सच्चे-सुख की प्राप्ति होती है। बाधा से तात्पर्य उस सुख से है, जो पराधीन है, क्षणिक है, सुख नहीं सुखाभास है, और सिद्ध-परमात्मा तो वेदनीय-कर्म से रहित होने से पूर्ण-स्वाधीन, त्रिकाल शाश्वत-सुख का वेदन करते हैं। मोहनीय के क्षय से शुद्ध-चारित्र अर्थात् आत्मस्वरूप में लीनतारूप स्वरूपाचरण-चारित्र प्रकट होता है। यद्यपि दर्शन-मोहनीय का क्षय तो पहले ही हो जाता है, परन्तु चारित्र-मोहनीय का क्षय क्रम से होता है, और पूर्ण-क्षय होने पर स्वरूप में लीनतारूप चारित्र स्वतः प्रकट होता है।

आयु-कर्म का क्षय होने पर एक 'निश्चित-अवगाहना' होती है, जो अनंतकाल तक स्थिर रहती है। नाम-कर्म का क्षय होने से 'अमूर्तिकता' प्रकट होती है, क्योंकि नाम-कर्म शरीर की रचना करता है, और नाम-कर्म का क्षय होने से चक्षु-इन्द्रियगम्य मूर्तिक-शरीर की रचना नहीं होती, इसलिए आत्मा का 'अमूर्तिकपना' प्रकट होता है। गोत्र-कर्म का क्षय होने से ऊँच और नीच-गोत्र का अस्तित्व ही नहीं रहता, अर्थात् न बड़ा, न छोटा, इसलिए 'अगुरुलघुत्व'-गुण प्रकट होता है। और अंतराय-कर्म के नाश होने से 'अनंत-बल' प्रकट होता है। इसप्रकार आठ-कर्मों के क्षय होने पर 'सिद्ध भगवान्' को आठ-गुण प्रकट होते हैं।



संसार की वास्तविकता

चेतन! तू तिहूँकाल अकेला।

नदी नाव-संजोग मिले ज्यों, त्यों कुटुंब का मेला।

चेतन तू तिहूँकाल अकेला।

यह संसार असाररूप सब, ज्यों पटपेखन-खेला।

सुख-संपत्ति-शरीर जल-बुदबुद, विनसत नाहीं बेला।

चेतन! तू तिहूँकाल अकेला। 1।

मोह-मगन आतम-गुन भूलत, परि तोहि गल जेला।

'मैं मैं' करत चहूँ-गति डोलत, बोलत जैसे छेला।

चेतन तू तिहूँकाल अकेला। 2।

कहत 'बनारसि' मिथ्यामत तज, होइ सुगुरु का चेला।

तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला॥

चेतन तू तिहूँकाल अकेला। 3।



(दशम-अधिकार)

सर्व-विशुद्धि-द्वार

(दोहा)

इति श्री नाटक-ग्रंथमै, कहौ मोख-अधिकार।

अब वरनौ संक्षेपसौ, सर्व-विसुद्धि-द्वार॥ 1॥

शब्दार्थ :- इति श्री नाटक-ग्रंथमै= इसप्रकार नाटक-समयसार नामक इस ग्रंथ में, कहौ मोख-अधिकार= मोक्ष-अधिकार का वर्णन किया। अब वरनौ संक्षेपसौ= अब संक्षेप में वर्णन करता हूँ, सर्व-विसुद्धि-द्वार= सर्व-विशुद्धि-द्वार का।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि अभी इस 'नाटक-समयसार' ग्रंथ में 'मोक्ष-अधिकार' का वर्णन किया, अब संक्षेप में 'सर्व-विशुद्धि-द्वार' अर्थात् आत्मा त्रिकाल समस्त-दोषों से रहित परम-पवित्र है— ऐसा वर्णन करूँगा।

(सवैया इकतीसा)

कर्मनिकौ करता है भोगनिकौ भौगता है, जाकी प्रभुतामै ऐसौ कथन अहित है।

जामै एक-इंद्री आदि पंचधा कथन नाँहि, सदा-निरदोष बंध-मोखसौ रहित है॥

ग्यानकौ समूह ग्यान-गम्य है सुभाव जाकौ, लोकव्यापी लोकातीत लोकमै महित है।

सुद्ध-बंस सुद्ध-चेतनाकै रस अंस भरयौ, ऐसौ हंस परम-पुनीतता-सहित है॥ 2॥

शब्दार्थ :- कर्मनिकौ करता है= कर्मों का कर्ता है, भोगनिकौ भौगता है= भोगों का भोक्ता है, जाकी प्रभुतामै ऐसौ कथन अहित है= जिसकी गरिमा में ऐसा कथन हितकारी नहीं है, जामै एक-इंद्री आदि पंचधा कथन नाँहि= जिसमें एक-इंद्रिय से पाँच-इन्द्रिय आदि का कथन नहीं है, सदा निरदोष बंध-मोखसौ रहित है= हमेशा निर्दोष है और बंध-मोक्ष से रहित है, ग्यानकौ समूह= ज्ञान का पिण्ड है, जाकौ सुभाव ग्यान-गम्य है= जिसका स्वभाव ज्ञान से जाना जाता है, लोकव्यापी= लोकव्यापी है, लोकातीत= लोक से परे है, लोकमै महित है= लोक में पूज्य है, सुद्ध-बंस= जाति शुद्ध है, सुद्ध-चेतनाकै रस अंस भरयौ= शुद्ध-चेतना के रस से पूरीतरह भरा हुआ है, ऐसौ हंस परम-पुनीतता-सहित है= ऐसा वह शुद्धात्मा परम-पवित्रता से युक्त है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मस्वरूप की निर्दोषता अथवा आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का सुंदर वर्णन किया है।

अनादिकाल से जीव यही मानता आया है कि 'मैं कर्मों का कर्ता हूँ, और कर्मफल का यानि भोगों का भोक्ता हूँ', जबकि कविवर यहाँ कहते हैं कि 'कर्म करना' और 'कर्मफल को भोगना' तो आत्मा की सामर्थ्य से भी परे है, अर्थात् ये दोनों कार्य आत्मा करे— ऐसी तो आत्मा की सामर्थ्य ही नहीं है। भाई! करना तो दूर, ऐसा कहना भी आत्मा के हित में नहीं है; क्योंकि 'करना' और 'भोगना' आत्मा का स्वभाव ही नहीं है, और फिर भी उसे 'कर्ता' या 'भोक्ता' कहा जाये, तब यह तो आत्म-स्वरूप का निरादर है, अविनय है, कलंक है।

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृ-भोक्त्रादि-भावान्, दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः।

शुद्धः शुद्धः स्वरस-विसरापूर्ण-पुण्याचलार्चि-ष्टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः॥ 1॥

सभी आत्मायें समान-प्रभुता की धारी हैं, उनमें एक, दो, तीन, चार, या पाँच-इन्द्रिय-जीव का भेदरूप-कथन भी लागू नहीं पड़ता है; क्योंकि आत्मा तो इन इन्द्रियों के भेद से रहित 'अतीन्द्रिय-तत्त्व' है। इसीप्रकार स्वयं को कर्मों से 'बंधा' और 'मुक्त' मानना भी दोषरूप है, क्योंकि आत्मा आज तक न तो कर्मों से बंधा है, न मुक्त है; जब भी स्वरूप से बाहर प्रवर्तन करता है, तो कर्म के परमाणु स्वयं ही आकर आत्मा के प्रदेशों पर चिपक जाते हैं, और जब स्वरूप में ही प्रवर्तन करता है, तो वे कर्म-परमाणु स्वयं ही आत्मप्रदेशों से झड़ जाते हैं। आत्मस्वरूप के बाहर होनेवाली कर्म की इसी प्रक्रिया का नाम 'बंध' और 'मोक्ष' है। अनादिकाल से साथ रहते हुये भी आज तक कर्म के एक भी परमाणु ने आत्मा के स्वरूप में प्रवेश नहीं किया है, क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही त्रिकाल बंध और मोक्ष के दोष से रहित 'निर्दोष' है।

आत्मा ज्ञान का घनपिण्ड है, और उसका स्वभाव भी ज्ञानगोचर है अर्थात् अरूपी/अमूर्तिक होने से एकमात्र ज्ञान के द्वारा ही जानने में आता है। वैसे तो संपूर्ण-लोक में व्याप्त है, क्योंकि ज्ञान की निर्मलता में संपूर्ण-लोक झलकता है; लेकिन अपने स्व-चतुष्टय में ही स्थित रहने से लोकातीत भी है। छहों-द्रव्यों में अकेला यही ज्ञानवान्, जाननहार-स्वभावी, सुख और आनंद का पिण्ड होने से उपादेय-तत्त्व है, इसलिये लोक में पूज्य भी है। जिसकी जाति भी शुद्ध है अर्थात् जो स्वभाव से ही शुद्ध है, अशुद्धता ने आज तक उसके स्वरूप में प्रवेश ही नहीं किया, शुद्ध-चैतन्य के रस से लबालब भरा हुआ है— ऐसा 'हंस' अर्थात् 'शुद्धात्मा' परम-पवित्र है।

(दोहा)

जो निहचै निरमल सदा, आदि-मध्य अरु अंत।

सो चिद्रूप बनारसी, जगत-माँहि जयवंत॥ 3॥

शब्दार्थ :— जो निहचै निरमल सदा= जो निश्चय से सदा मलरहित निर्मल है, आदि-मध्य अरु अंत= आदि, मध्य और अंत में, सो चिद्रूप बनारसी= बनारसीदास जी कहते हैं कि वह चैतन्यरूप, जगत-माँहि जयवंत= लोक में जयवंत हो।

विशेषार्थ :— आत्मा त्रिकाल-निर्मल है— इसका वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि निश्चय से आत्मा भूत, भविष्य और वर्तमान— सदाकाल निर्मल ही रहता है। कहने का अभिप्राय यही है कि कीचड़ में कमल की तरह, आत्मा कर्मों के साथ रहता हुआ भी पहले भी शुद्ध था, आज भी शुद्ध है, और आगे भी शुद्ध ही रहेगा। अपने इसी शुद्ध-स्वभाव के कारण ही आत्मा जगत् में सदैव जयवंत रहता है।

(चौपाई)

जीव करम-करता नहि ऐसै, रस-भोगता सुभाव न तैसै।

मिथ्यामति सौ करता होई, गए अग्यान, अकरता सोइ॥ 4॥

शब्दार्थ :— जीव करम-करता नहि ऐसै= जैसे जीव कर्मों का कर्ता नहीं है, रस-भोगता सुभाव न तैसै= वैसे ही कर्मफल को भोगना भी जीव का स्वभाव नहीं है, मिथ्यामति सौ करता होई= मिथ्या-बुद्धि से जीव कर्म का कर्ता होता है, गए अग्यान, अकरता सोइ= अज्ञान के दूर हो जाने पर सहज ही वह अकर्ता होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में जीव पर-द्रव्य का कर्ता कब और कैसे होता है? इसका बहुत ही संक्षेप में सटीक-वर्णन किया है।

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्। अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ 2॥

यूँ तो जीव स्वभाव से न तो परद्रव्य का कर्ता है, न भोक्ता है, जैसा कि पिछले-छंद में स्पष्ट किया। परन्तु ये भी सच है कि अज्ञानी-जीव संसार में इस कर्तृत्व और भोक्तृत्व-बुद्धि के कारण ही दुःखी है,— ऐसा क्यों? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए कविवर कहते हैं कि जीव मिथ्याबुद्धि के कारण परद्रव्य का कर्ता होता है, जैसे ही इस मिथ्याबुद्धि का क्षय होता है, जीव पुनः अकर्ता होता है।

अब प्रश्न उठता है यहाँ मिथ्याबुद्धि का अभिप्राय क्या? हे आत्मन्! सारे दुःखों की जड़ एकमात्र स्वरूप का विस्मरण और पर में ममत्वपना है— वास्तव में यही मिथ्याबुद्धि है। अर्थात् देह और देह से जुड़े समस्त पदार्थों में अपनापन जहाँ होगा, वहाँ मिथ्याबुद्धि भी नियम से होगी। और जहाँ मिथ्याबुद्धि है, वहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बुद्धि भी नियम से होती है। लेकिन जैसे ही स्व के अवलंबन से देहादिक में अपनापन टूटता है, तत्क्षण अज्ञान का विनाश होता है, और बुद्धि भी सम्यक्-रूप से परिणामन करती है। फिर संयोग भले ही पूर्ववत् रहें पर कर्तृत्व और भोक्तृत्व-बुद्धि छूट जाती है, और जीव पुनः अपने अकर्ता-स्वभाव को प्राप्त करता है।

(सवैया इकतीसा)

निहचै निहारत सुभाव याहि आतमाकौ, आतमीक-धरम परम-परकासना।
 अतीत-अनागत-बरतमान-काल जाकौ, केवलस्वरूप गुन लोकालोक भासना॥
 सोई जीव संसार-अवस्था-माँहि करमकौ, करतासौ दीसै लीये भरम-उपासना।
 यहै महा-मोहकौ पसार यहै मिथ्याचार, यहै भौ-विकार यह विवहार-वासना॥ 5॥

शब्दार्थ :- निहचै निहारत सुभाव याहि आतमाकौ= निश्चय से देखो इस आत्मा का यही स्वभाव है, आतमीक-धरम परम-परकासना= निज-स्वभाव का परम-प्रकाशक है, अतीत-अनागत-बरतमान-काल= भूत, भविष्य और वर्तमानकाल, जाकौ केवल-स्वरूप गुन= जिसका केवलज्ञान-स्वरूप है और इसके फलस्वरूप, लोकालोक भासना= लोकालोक प्रतिभासित होते हैं, सोई जीव संसार-अवस्था-माँहि= वही जीव संसार अवस्था में, करमकौ करतासौ दीसै= कर्म का कर्ता प्रतीत होता है, लीये भरम-उपासना= भ्रमपूर्ण-उपासना को लिये हुये यहै महा-मोहकौ पसार= यह महामोह का विस्तार है, यहै मिथ्याचार= यही विपरीत-प्रवर्तन है, यहै भौ-विकार= यही भव यानि संसार/जन्म-मरण का विकार है, यह विवहार-वासना= यही व्यवहार का कथन है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मा त्रिकाल-शुद्ध अनंत-ज्ञान का धारी होने पर भी संसार-अवस्था में भ्रमित और पर का कर्ता क्यों होता है?— इसका सटीक-वर्णन किया है।

निश्चयनय की दृष्टि से देखें, तो आत्मा का स्वभाव या धर्म स्व-पर-प्रकाशक है, अर्थात् ज्ञान की निर्मलता में न केवल स्वयं के अनंतगुण, बल्कि तीन लोक और तीन काल के समस्त-पदार्थ, उनके समस्त-गुण और उनकी भूत-भविष्य और वर्तमान अर्थात् त्रिकालवर्ती समस्त-पर्यायें भी युगपत् प्रतिभासित होती है, अर्थात् आत्मा अनंतगुणों एवं अनंतशक्ति का धनी है।

लेकिन व्यवहार-नय से देखें, तो वही आत्मा संसार अर्थात् अज्ञान-अवस्था में कर्मों का कर्ता दिखाई देता है, अनंत-गुणों का स्वामी होते हुए भी भ्रमित होकर दूसरों की उपासना अर्थात् चाकरी करता है, यह और कुछ नहीं मोह का ही विस्तार अथवा माहात्म्य है। मोह अर्थात् परद्रव्य में अपनेपन के कारण

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः, स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरित-भुवनाभोग-भवनः।

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः, स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ 3 ॥

ही यह आत्मा पर का कर्ता बनता है, और फिर उसीरूप विपरीत-आचरण करता है, यही 'मिथ्याचार' है। यही भव-विकार है, पुनः जन्म-मरण का कारण है अर्थात् पर के ममत्व व संयोग से उत्पन्न मोह-राग-द्वेष के भाव ही तो संसार है, भव-वर्धक है अर्थात् संसार को बढ़ाने का मूल-कारण है। यही व्यवहार-वासना है अर्थात् व्यवहार का कथन है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा न कहकर संयोग से अन्यथा कहना ही तो 'व्यवहार' है, जिसे आगम में 'असत्यार्थ', या 'उपचरित-कथन' नाम दिया गया है।

(चौपाई)

यथा जीव करता न कहावै, तथा भोगता नाम न पावै।

है भोगी मिथ्यामति-माँहि, गयै मिथ्यात भोगता नाहीं॥ 6॥

शब्दार्थ :— यथा जीव करता न कहावै= जब जीव कर्म का कर्ता नहीं कहलाता, तथा भोगता नाम न पावै है= तब वह भोक्ता नाम भी नहीं पाता, भोगी मिथ्यामति-माँहि= मिथ्याबुद्धि में भोगी है, गयै मिथ्यात भोगता नाहीं= मिथ्याबुद्धि दूर हो जाने पर वह भोक्ता नहीं है।

विशेषार्थ :— जीव कर्मफल का भोक्ता कब होता है?— जो जीव ये मानता है कि "मैंने कर्म किया", वही कर्मफल का भोक्ता भी होता है, और— जो जीव स्वयं को कर्ता नहीं मानता वह भोक्ता नाम भी नहीं पाता, क्योंकि स्वयं को परद्रव्य का कर्ता मानना ही मिथ्यात्व या मिथ्याबुद्धि है। जब तक यह मिथ्याबुद्धि रहती है, तबतक जीव कर्मफल को भोगे या न भोगे, वह 'कर्मफल का भोक्ता' कहा जाता है, परन्तु मिथ्याबुद्धि के क्षय होते ही जीव पुनः 'अभोक्ता' नाम पाता है।

(सवैया इकतीसा)

जगवासी-अग्यानी त्रिकाल परजाइ-बुद्धी, सो तौ विषै-भोगनिकौ भोगता कहायौ है।

समकिती जीव जोग-भोगसौं उदासी तातैं, सहज-अभोगता गरंथनिमैं गायौ है॥

याही-भाँति वस्तु की व्यवस्था अवधारि बुध, परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है।

निरविकल्प-निरुपाधि आत्म अराधि, साधि जोग-जुगति समाधिमें समायौ है॥ 7॥

शब्दार्थ :— जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइ-बुद्धी= संसार में रहनेवाले अज्ञानी-जीव की हर समय पर्यायबुद्धि होने से, सो तौ विषै-भोगनिकौ भोगता कहायौ है= उसे विषय-भोगों का भोक्ता कहा जाता है, समकिती-जीव जोग-भोगसौं उदासी= सम्यग्दृष्टि-जीव विषय-भोगों से उदास रहते हैं, तातैं सहज-अभोगता गरंथनिमैं गायौ है= इसलिए सहज-अभोक्ता रहते हैं,— ऐसा ग्रंथों में कहा है। याही-भाँति वस्तु की व्यवस्था अवधारि बुध= इसीप्रकार वस्तु-व्यवस्था का निर्णय कर ज्ञानी-जीव, परभाउ-त्यागि= परभावों को त्यागकर, अपनौ सुभाउ आयौ है= अपने स्वरूप को ग्रहण करते हैं, निरविकल्प-निरुपाधि आत्म अराधि= विकल्परहित, उपाधिरहित आत्मतत्त्व की आराधना कर, साधि जोग-जुगति समाधिमें समायौ है= योग-निग्रह का उपाय कर आत्मसमाधि में समाते हैं।

विशेषार्थ :— अज्ञानी-जीव कर्मफल, विषय-भोग भोगते हुये 'भोक्ता' कहलाता और ज्ञानी-जीव उसी स्थिति में 'अभोक्ता' कहलाते हैं,— ऐसा क्यों है? प्रस्तुत-छंद में कवि ने इसी सत्य का स्पष्टीकरण किया है।

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः। अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः ॥ 4॥

अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतो नित्यं भवेद्वेदको, ज्ञानी तु प्रकृति-स्वभाव-विरतो नो जातुचिद् वेदकः।

इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां, शुद्धैकात्म्ये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता॥ 5॥

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव अनादि से पर्याय-बुद्धि में रमता आया है, अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जब जिस पर्याय में गया, उसी पर्याय को अपना स्वरूप माना, और उस पर्याय से जुड़े संयोगों और पदार्थों को भी अपना माना है। पुण्य के उदय से मिले पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख मानकर अतिचाव से उनको भोगा, और पाप के उदय में उन पदार्थों और संयोगों के बिछुड़ने पर अपने को दुःखी माना; फलस्वरूप वह जीव 'कर्मा का कर्ता' और 'कर्मफल का भोक्ता' कहलाया।

जबकि इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि-जीव ने प्राप्त-पर्याय और संयोगों से भिन्न स्वयं को ज्ञायक भगवान् आत्मा स्वीकार किया, जिसके फलस्वरूप प्राप्त-संयोगों और पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों से निरन्तर उदासीनता का भाव रहा। यद्यपि सम्यग्दृष्टि-जीव भी कर्म की क्रिया करते और कर्मफल को भोगते हुए दिखाई देते हैं, लेकिन उनको आसक्ति की जगह अनासक्ति या कहें विरक्ति का भाव वर्तता है; इसीलिए आगम में सम्यग्दृष्टि-जीव को 'अकर्ता' और 'अभोक्ता' कहा गया है।

इसप्रकार पूर्व-वर्णित वस्तु-व्यवस्था का सम्यक्-निर्णय कर ज्ञानी-जीव परभावों को त्यागकर अर्थात् पर में अपनापन या ममत्व का त्यागकर अपने ज्ञायक-स्वभाव को ग्रहण करते हैं। और फिर समस्त शुभ, अशुभ और शुद्ध-विकल्पों को त्यागकर, आत्मस्वभाव की आराधनापूर्वक मन, वचन और काय— तीनों योगों के निग्रहपूर्वक आत्मस्वरूप में रमने या समाने का पुरुषार्थ करते हैं।

(सवेया इकतीसा)

चिनमुद्रा-धारी ध्रुव-धर्म-अधिकारी, गुन-रतन-भंडारी अपहारी कर्म-रोगकौ।

प्यारौ-पंडितनकौ हुस्यारौ मोख-मारग में, न्यारौ पुद्गलसौ उज्यारौ-उपयोगकौ॥

जानै निज-पर-तत्त, रहै जगमै विरत्त, गहै न ममत्त मन-वच-काय जोगसौं।

ता-कारन ग्यानी ग्यानावरनादि -करमकौ, करता न होइ भोगता न होइ भोगकौ॥ ४॥

शब्दार्थ :— चिनमुद्रा-धारी ध्रुव-धर्म-अधिकारी= चैतन्य-मुद्रा को धारण करनेवाला, अपने नित्य-स्वभाव का स्वामी, गुन-रतन-भंडारी- गुणरूपी-रत्नों का भंडार, अपहारी कर्म-रोगकौ= कर्मरूपी-रोग को नष्ट करनेवाला, प्यारौ पंडितनकौ= ज्ञानियों का प्रिय, हुस्यारौ मोख-मारग में= मोक्षमार्ग में कुशल, न्यारौ-पुद्गलसौ= पुद्गल से भिन्न, उज्यारौ-उपयोगकौ= उपयोग यानि ज्ञान-दर्शन का प्रकाशरूप, जानै निज-पर-तत्त= निज और पर के तत्त्व का ज्ञाता, रहै जगमै विरत्त= संसार से विरक्त रहता है, गहै न ममत्त मन-वच-काय-जोगसौं= मन, वचन, काय तीनों योगों से ममत्वरहित, ता-कारन ग्यानी= इसकारण ज्ञानी-जीव, ग्यानावरनादि करमकौ= ज्ञानावरणी आदि कर्मों का, करता न होइ= कर्ता नहीं होता, भोगता न होइ भोगकौ= भोगों का भोक्ता भी नहीं होता।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने ज्ञानी-जीव कर्म करते हुये भी कर्म के कर्ता नहीं, और भोग भोगते हुए भी कर्मफल के भोक्ता क्यों नहीं है?— इसका सटीक-स्पष्टीकरण किया है।

सर्वप्रथम ज्ञानी-जीव चैतन्यमुद्रा के धारी अर्थात् सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, जो ध्रुव अर्थात् नित्य-स्वभाव के स्वामी हैं, जो अपने को प्रतिसमय स्वभावरूप ही अनुभव करते हैं। जैसे रत्नागार में विभिन्न-प्रकार के रत्न सुशोभित होते हैं, वैसे आत्मा भी अनंतगुणों-रूपी रत्नों का भण्डार है। कर्मरूपी-रोगों को नष्ट करनेवाला है, अर्थात् जब जीव स्वयं को मात्र ज्ञातारूप अनुभव करता है, तो कर्म के

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म, जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।

जानम्यं करण-वेदनयोरभावा-, च्छुद्ध-स्वभाव-नियतः स हि मुक्त एव॥ ६॥

परमाणु स्वतः ही क्षय को प्राप्त होते हैं।

जो ज्ञानियों के अतिप्रिय हैं, जो मोक्षमार्ग में निपुण हैं, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थरत हैं। जो स्वयं को प्रतिसमय देहादिक जड़-द्रव्यों से पूर्णतः भिन्न अनुभव करते हैं। ज्ञान-दर्शनमयी उपयोग के प्रकाशक हैं। जो निज और पर के ज्ञाता हैं, अर्थात् निज को निजरूप और पर को पररूप अनुभव करते हैं। संसार से विरक्त है, मन-वचन और काया तीनों योगों से रंचमात्र भी पर-वस्तु, पर-भावों के प्रति ममत्व ग्रहण नहीं करते— ऐसे साधक अर्थात् ज्ञानी-जीव कर्म करते हुए भी ज्ञानावरणादि आठ-कर्मों के कर्ता, और पंचेन्द्रिय के विषय-भोग करते हुए भी भोक्ता नहीं होते।

(देहा)

निरभिलाष करनी करै, भोग-अरुचि घट-माँहि।

तातैं साधक सिद्ध-सम, करता-भुगता नाहिं॥ 9॥

शब्दार्थ :— निरभिलाष करनी करै= इच्छारहित-कार्य करते हैं, भोग-अरुचि घट-माँहि= हृदय में भोगों के प्रति अरुचि या अनासक्ति है, तातैं साधक सिद्धसम= इसीलिये साधक-जीव सिद्ध के समान, करता भुगता नाहिं= कर्ता-भोक्ता नहीं है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कविवर पुनः कहते हैं कि जहाँ अज्ञानी-जीव कोई भी धर्म-कार्य बिना किसी इच्छा के नहीं करता, वहीं दूसरी ओर ज्ञानी-जीव हर कार्य बिना इच्छा या स्वार्थ के ही करते हैं, अंतरंग में पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के प्रति निरन्तर अरुचि या कहें अनासक्ति का भाव वर्तता है, इसीलिए ज्ञानी-जीव सिद्ध भगवान् के समान ज्ञाता दृष्टा रहते हैं, कर्ता भोक्ता नहीं होते हैं।

(कवित्त)

ज्यौं हिय-अंध विकल मिथ्यात-धर, मृषा सकल-विकलप उपजावत।

गहि एकंत-पक्ष आतमकौ, करता मानि अधोमुख धावत॥

त्यौं जिनमती दरब-चारित्री कर, कर करनी करतार कहावत।

वंचित-मुक्ति तथापि मूढमति, बिन-समकित भव-पार न पावत॥ 10॥

शब्दार्थ :— ज्यौं हिय-अंध विकल मिथ्यात धर= जैसे हृदय का अंधा व्याकुल मिथ्यादृष्टि, मृषा सकल-विकलप उपजावत= झूठे संकल्प-विकल्प उत्पन्न करता है, गहि एकंत-पक्ष= एकांत-पक्ष को ग्रहणकर, आतमकौ करता मानि= आत्मा को कर्ता मानकर, अधोमुख धावत= नीचे की ओर दौड़ लगाता है, त्यौं जिनमती दरब-चारित्री= उसीप्रकार जिनमत को माननेवाला द्रव्यचारित्र/देहाश्रित व्रतादि को धारणकर, कर-कर करनी करतार कहावत= क्रिया कर-करके कर्ता कहलाता है, वंचित-मुक्ति= मुक्ति को चाहता है, तथापि मूढमति= फिर भी मूर्ख-बुद्धि जीव, बिन समकित भव-पार न पावत= बिना सम्यग्दर्शन के संसार से पार नहीं होता।

विशेषार्थ :— यद्यपि आत्मिक-सामर्थ्य की दृष्टि से अज्ञानी-जीव भी कर्म का कर्ता और कर्मफल का भोक्ता नहीं होता, लेकिन फिर भी, प्रतिसमय कर्ता और भोक्ता कहलाता है क्यों?— इस तथ्य का वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः। सामान्य-जनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ 7॥

इस छंद में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव को हृदय का अंधा अर्थात् विवेक-रहित कहा; क्योंकि मिथ्यादृष्टि-जीव को सत्य का भान न होने से उसकी सभी क्रियायें विवेकरहित ही होती हैं। साथ ही मिथ्यात्व से आकुलित अर्थात् विपरीत-श्रद्धानी होने से व्यर्थ ही झूठे संकल्प-विकल्प अर्थात् परद्रव्य को अपना माननेरूप झूठे-विकल्प उत्पन्न करता है। झूठे इसलिये कहा, क्योंकि अज्ञानी-जीव के अनादि से आज तक परद्रव्य को अपना मानने पर भी परद्रव्य तो क्या, एक परमाणु भी इसका अपना नहीं हुआ।

वस्तु का स्वरूप 'अनेकांत' मय है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक है। एक ही वस्तु में परस्पर-विरोधी दो धर्मों या शक्तियों का प्रकाशित होना 'अनेकांत' है, अर्थात् जो वस्तु किसी अपेक्षा से एकरूप है, वही अन्य अपेक्षा से अनेकरूप भी है, इसीप्रकार अपेक्षा भेद से जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य भी है, जो सत् है, वही असत् भी है। लेकिन अज्ञानी-जीव आत्मा के एक-पक्ष को ही ग्रहण करता है, और स्वयं को पर का कर्ता मानकर अधोमुख या नीचे की ओर दुर्गति की ओर दौड़ लगाता है, अर्थात् कर्तृत्व बुद्धि के फलस्वरूप नरक-निगोद आदि गतियों को प्राप्त करता है।

इसीप्रकार जो जीव जिनमत का अनुयायी है, देव-गुरु-धर्म का सच्चा-उपासक है, द्रव्यचारित्र अर्थात् बाह्य में नग्न-अवस्था धारण कर स्वयं को तत्संबंधी क्रियाओं का कर्ता मानता है, अर्थात् 'मैं मुनि हूँ, मैं 28 मूलगुणों का पालन करता हूँ, और इसके बदले में मुक्ति पाने की चाहत रखता है। उस जीव से कविवर कहते हैं कि 'हे मूढमति! हे अज्ञानी! बिना सम्यग्दर्शन के कोई भी जीव संसार से पार नहीं होता। अर्थात् जबतक आत्मस्वरूप का सम्यक्-श्रद्धान नहीं है, तबतक मात्र शरीराश्रित बाह्य-चारित्र-संबंधी थोथी-क्रियाओं के फल में मोक्ष की प्राप्ति तीन काल में भी संभव नहीं है।'

(चोपाई)

चेतन-अंक जीव लिखि लीन्हा, पुद्गल-कर्म अचेतन चीन्हा।

बासी एक खेत के दोऊ, जदपि तथापि मिलैं नहिं कोऊ॥ 11॥

शब्दार्थ :— चेतन-अंक जीव लिखि लीन्हा= चेतन-चिह्न या लक्षण से जीव को पहिचान लिया, पुद्गल-कर्म अचेतन चीन्हा= पुद्गल-कर्म को अचेतन पहिचाना, जदपि बासी एक खेत के दोऊ= यद्यपि दोनों एक ही क्षेत्र के निवासी हैं, तथापि मिलैं नहिं कोऊ= फिर भी दोनों एकदूसरे से कभी नहीं मिलते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जीव और पुद्गल का लक्षण बताते हुये दोनों की भिन्नता को सिद्ध किया है।

जीव का लक्षण चैतन्य यानि ज्ञाता-दृष्टापना है, जबकि पुद्गल-कर्मों का लक्षण अचेतनपना है, अर्थात् दोनों का लक्षण पूर्णतया भिन्न है। यद्यपि दोनों के लक्षण भिन्न हैं, परन्तु फिर भी दोनों एक ही क्षेत्र में रहने से दोनों एकक्षेत्रावगाही हैं। जहाँ आत्मा के प्रदेश है, वहीं कर्मों की सत्ता भी है; लेकिन इतना नजदीक या एकक्षेत्रावगाही होने पर भी जीव और पुद्गल एकदूसरे में कभी नहीं मिलते, और न कभी मिलेंगे।

(दोहा)

निज-निज भाव-क्रिया-सहित, व्यापक-व्यापि न कोइ।

कर्ता पुद्गल-कर्मकौ, जीव कहाँसौ होइ॥ 12॥

शब्दार्थ :— निज-निज भाव-क्रिया-सहित= अपने अपने भाव और क्रियाओं के साथ, व्यापक-व्यापि

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्म-तत्त्वयोः। कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥ 8॥

न कोइ= कोई व्यापक-व्याप्य नहीं है, कर्ता पुद्गल-कर्मकौ= तब कर्ता पुद्गलकर्म का, जीव कहाँसौं होइ= जीव कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि व्याप्य-व्यापक-संबंध की दृष्टि से जीव पुद्गलकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है?

व्याप्य— वह पदार्थ जो व्यापक में पूरीतरह से समा जाये, व्यापक— जिसमें व्याप्य-पदार्थ समाहित हो जाये। जैसे— सोने के आभूषण, इसमें सोना व्यापक और आभूषण व्याप्य। जैसे— ज्ञान आत्मा के सर्वांग में व्याप्त है, इसलिये ज्ञान व्याप्य और आत्मा व्यापक।

यहाँ जीव और कर्मरूप पुद्गल-परमाणु दो वस्तु हैं, जो कि दो स्वतंत्र भिन्न-द्रव्य हैं। एक अमूर्तिक है, तो दूसरा मूर्तिक, दोनों के लक्षण, गुण, क्रिया, स्वभाव सब कुछ भिन्न है। इनमें तो व्याप्य और व्यापकपने का तो सवाल ही नहीं उठता है। और जब व्याप्य-व्यापक नहीं तो कर्ता-कर्म संबंध कैसे? क्योंकि कर्ता-कर्म-संबंध भी एक ही द्रव्य पर घटित होता है। यहाँ तो दोनों ही द्रव्य भिन्न, और अपने-अपने स्वभावरूप स्वतंत्र-कार्य करते हैं, कोई किसी के आधीन नहीं, तो एक-द्रव्य दूसरे द्रव्य का अर्थात् जीव-द्रव्य पुद्गल-द्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता है।

(सवैया इकतीसा)

जीव और पुद्गल-कर्म रहैं एक-खेत, जदपि तथापि सत्ता न्यारी-न्यारी कही है।

लक्षण-स्वरूप-गुण-परजै-प्रकृति भेद, दुहूँमैं अनादिहीकी दुविधा है रही है॥

एते पर भिन्नता न भासै जीव-कर्मकी, जौलौं मिथ्याभाव तौलौं ओंधि-बाऊ बही है।

ग्यानकैं उदोत होत ऐसी सूधी-द्रिष्टि भई, जीव कर्म-पिंडकौ अकरतार सही है॥ 13॥

शब्दार्थ :— जदपि जीव और पुद्गल-कर्म रहैं एक-खेत= यद्यपि जीव और पुद्गल-कर्म एक ही क्षेत्र में रहते हैं, तथापि सत्ता न्यारी-न्यारी कही है= फिर भी उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न कही गई है, लक्षण-स्वरूप-गुण-परजै-प्रकृति भेद= लक्षण, स्वरूप, गुण, पर्याय, स्वभाव सभी भिन्न हैं (लेकिन फिर भी) दुहूँमैं अनादिहीकी दुविधा है रही है= दोनों में अनादिकाल से ही भ्रम बना हुआ है, एते पर भिन्नता न भासै जीव-कर्मकी= इतने पर भी जीव और कर्म में भिन्नता भासित नहीं होती, जौलौं मिथ्याभाव तौलौं ओंधि बाऊ बही है= जबतक मिथ्यात्व-भाव है, तबतक हवा उल्टी ही बहती है, ग्यानकैं उदोत होत ऐसी सूधी-द्रिष्टि भई= सम्यग्ज्ञान के उदय होने पर दृष्टि ऐसी सम्यक् होती है कि, जीव कर्म-पिंडकौ अकरतार सही है= जीव कर्म-पिण्ड का अकर्ता ही सिद्ध होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जीव के अकर्तृत्व-पने को सिद्ध किया है। वास्तव में तो जीव कर्म की क्रिया का और कर्मफल का न कर्ता है, न भोक्ता है। जीव तो प्रतिसमय अपने स्वभाव के अनुसार उनका ज्ञाता ही है। लेकिन अज्ञानता के कारण संसार-अवस्था में मोही-जीव इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, और दुःखी होता है, परन्तु ज्ञान का प्रकाश होने पर जीव उसी सत्य को अर्थात् अकर्तापने को स्वीकार करता है।

यद्यपि अनादिकाल से जीव और कर्मरूप पुद्गल-परमाणु एक ही क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन फिर भी दोनों ने एक दूसरे को कभी स्पर्श नहीं किया; क्योंकि इन दोनों की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है। सिर्फ सत्ता ही नहीं, दोनों के लक्षण-स्वरूप-गुण, पर्याय-स्वभाव भी पूर्णतः भिन्न हैं। कैसे?

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।

तत्कर्तृ-कर्म-घटनास्ति न वस्तुभेदे, पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥ 9॥

जीव का लक्षण 'चेतनपना' या कहें जानना-देखना और कर्म परमाणु का लक्षण 'अचेतनपना'। जीव का स्वरूप 'अमूर्तिक' और कर्म-परमाणु 'मूर्तिक'। जीव के गुण 'ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य' आदि अनंत गुण जब कि कर्म-परमाणु के गुण 'स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि'। जीव की पर्यायें 'देव, नर, तिर्यच, नारकादि' रूप जब कि कर्म-परमाणु 'निषेक' और 'स्कंध' रूप या कहें ज्ञानावरणादि आठ-कर्मरूप। जीव की प्रकृति अर्थात् स्वभाव 'ज्ञानरूप, अखंड, शाश्वत', जबकि कर्म-परमाणु 'स्निग्ध-रूक्ष-स्वभावी' होने से परमाणुओं का मिलना-बिछुड़ना चलता रहता है।

इसप्रकार जीव और कर्म परमाणु पूरीतरह से भिन्न दो स्वतंत्र-द्रव्य हैं। जीव और कर्म-परमाणु में इतनी भिन्नता होने पर भी जीव अनादि से मोह के कारण भ्रमित है, और अज्ञानतावश पर-द्रव्य और पर-भावों का कर्ता बनकर दुःखी होता आया है। जब तक मिथ्यात्व हृदय में है, तब तक हवा उल्टी ही बहेगी अर्थात् जबतक आत्मविषयक अज्ञानता का सद्भाव है, तबतक श्रद्धान-ज्ञान और आचरण भी विपरीत ही रहेगा। लेकिन जैसे सूर्य का उदय होने पर न केवल रात का घना-अंधकार विलय को प्राप्त होता है, बल्कि जगत् के सभी पदार्थ भी सहज प्रकाशित होते हैं; ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर न केवल मिथ्यात्व का काला-अंधकार विलय को प्राप्त होता है, बल्कि वस्तु का सत्य-स्वरूप भी प्रकाशित होता है। सत्य-स्वरूप का अनुभव होने पर न केवल दृष्टि सम्यक् होती है, बल्कि जीव भी स्वयं कर्म-परमाणुओं का सहज-अकर्ता भासित होता है।

(दोहा)

एक-वस्तु जैसी जु है, तासौ मिलै न आन।

जीव अकरता करमकौ, यह अनुभौ-परवांन॥ 14॥

शब्दार्थ :- एक-वस्तु जैसी जु है= जो वस्तु जैसी है, तासौ मिलै न आन= उसमें अन्य वस्तु नहीं मिल सकती है, जीव अकरता करमकौ= जीव कर्म का अकर्ता है, यह अनुभौ-परवांन= यह अनुभव से प्रमाणित है।

विशेषार्थ :- लोक में चेतन और अचेतन जितने भी पदार्थ हैं, सब अपने-अपने स्व-चतुष्टय में ही रहते हैं, कोई पदार्थ किसी अन्य-पदार्थ में न आज तक मिला है और न कभी मिलेगा। उदाहरण के लिये जैसे हम शिकंजी बनाते हैं, उसमें चीनी, नमक, और नीबू सब मिलाते हैं, सभी को अच्छे से मिलाने पर भी वह कभी नहीं मिलते; क्योंकि यदि मिल जाते तो हमें हर चीज का अलग-अलग स्वाद नहीं आता, सभी का एक मिला-जुला स्वाद आता, परन्तु ऐसा नहीं होता।

विचार कीजिये जब एक ही पुद्गल-द्रव्य के दो परमाणु आपस में नहीं मिलते, अर्थात् जब जड़ ही, जड़ में नहीं मिलता, तब ये जीव और कर्म रूप पुद्गल-परमाणु तो दो भिन्न स्वतंत्र-द्रव्य हैं, एक चेतन है, तो दूसरा अचेतन, तब ये आपस में कैसे मिल सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं मिलते, और जब मैं चेतन-आत्मा किसी अन्य-पदार्थ में मिलता ही नहीं, तो उसका कर्ता कैसे हो सकता हूँ? कविवर कहते हैं कि "जीव कर्मों का अकर्ता ही है, ये तथ्य अनुभव से प्रमाणित है, अर्थात् अनंत तीर्थकर-परमात्माओं ने इसे अपने अनुभव से प्रमाणित किया है, और यही सत्य है।"

(चौपाई)

जो दुरमती-विकल-अग्यानी, जिन्हि सु-रीति पर-रीति न जानी।

माया-मगन भरम के भरता, ते जिय भाव-करम के करता॥ 15॥

ये तु स्वभाव-नियमं कलयन्ति नेम-मज्ञान-मग्न-महसो बत ते बराकाः।

कुर्वन्ति कर्म तत एव हि-भावकर्म-कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ 10॥

शब्दार्थ :— जो दुरमती-विकल-अज्ञानी= जो जीव दुर्बुद्धि, व्याकुल और अज्ञानी हैं, जिन्हि सु-रीति पर-रीति न जानी= जो स्व-परिणति और पर-परिणति को नहीं जानते, माया-मगन भ्रम के भरता= माया में मगन, भ्रम के पोषक/स्वामी हैं, ते जिय भाव-कर्म के करता= वे जीव भावकर्म के कर्ता हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने अज्ञानी-जीव की भूल का वर्णन किया है कि कैसे वह भाव-कर्म का कर्ता होता है?

जो जीव दुर्बुद्धि हैं, अर्थात् जिनकी बुद्धि उल्टी चलती है, जिन्हें हित-अहित का विवेक ही नहीं है; ऐसे जीव मोह के कारण व्याकुल हैं, ज्ञानस्वरूप आत्मा का भान न होने से अज्ञानी है। वे न तो स्व-परिणति अर्थात् अपने ज्ञाता-स्वभाव को जानते हैं, और न ही पर-परिणति अर्थात् पर के लक्ष्य से होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों के स्वरूप को जानते हैं। सिर्फ परद्रव्य के आकर्षण या भौतिक-चकाचौंध के कारण छल में ही मगन हैं और पर में ही सुख है— ऐसे भ्रम से भ्रमित हैं, फलस्वरूप पर में अपनापन और इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होने से मोह, राग, द्वेष आदि विकारी भाव-कर्मों के कर्ता बनते हैं।

(दोहा)

जे मिथ्यामति-तिमिरसौं, लखै न जीव-अजीव।

तेई भावित-कर्मके, करता होंहि सदीव॥ 16॥

जे असुद्ध-परनति धरै, करै अहं-परवांन।

ते असुद्ध-परिनामके, करता होंहि अजान॥ 17॥

शब्दार्थ :— जे मिथ्यामति-तिमिरसौं= जो मिथ्यात्वरूपी-अंधकार के कारण, लखै न जीव-अजीव= जीव और अजीव को नहीं पहचानते हैं, तेई भावित कर्मके= वे ही भाव-कर्म के, करता होंहि सदीव= हमेशा कर्ता होते हैं॥ 16॥

जे असुद्ध-परनति धरै= जो अशुद्ध-परिणामों को धारण करते हैं, करै अहं-परवांन= परपदार्थों में अहंबुद्धि करते हैं, ते असुद्ध परिनामके करता होंहि अजान= वे अज्ञानी-जीव अशुद्ध-परिणामों के कर्ता होते हैं॥ 17॥

विशेषार्थ :— उपर्युक्त दोनों छंदों में कवि ने उन जीवों की विवेचना की है, जो अपनी ही भूल से भाव-कर्म के कर्ता बनते हैं।

अनादिकाल से जीव मिथ्यात्वरूपी घोर-अंधकार में फँसा हुआ है। अंधकार इतना गहरा था कि इसे न जीव का स्वरूप दिखाई दिया, और न अजीव का। इसीलिए आज तक या तो जीव को अजीव या अजीव को जीव मानता आया है, या फिर दोनों को एक मानता है। कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मा जीव और पर-भाव अजीव है, लेकिन जीव और अजीव के स्वरूप का सच्चा-ज्ञान न होने से इस जीव ने रागादि-भावों को ही अपना अर्थात् जीव का स्वभाव माना है, इसलिए जीव हमेशा से इन रागादिरूप भाव-कर्म का कर्ता बनता आया है।

इसीप्रकार अगले-छंद में कविवर कहते हैं कि जो जीव स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर पर-पदार्थों में अहंबुद्धि अर्थात् अपनापन करता है, इष्ट-अनिष्ट या कहे अच्छे-बुरे की कल्पना करता है, तो मोह, राग, द्वेष आदि अशुद्ध-परिणामों की उत्पत्ति होती है, स्वभाव की शुद्धता का भान न होने से वह उन अशुद्ध-परिणामों को ही अपना स्वभाव मानकर तदनु रूप-आचरण करता है, फलस्वरूप अज्ञानता के कारण स्वयं ही इन अशुद्ध-परिणामों का कर्ता बनता है।

(दोहा)

शिष्य कहै "प्रभु! तुम कह्यौ, दुविध-करमकौ रूप।
दरब-कर्म पुदगल-मई, भावकर्म-चिद्रूप" ॥ 18 ॥
करता दरवित-करमकौ, जीव न होइ त्रिकाल।
अब यह भावित-करम तुम, कहौ कौन-की चाल ॥ 19 ॥
करता याको कौन है, कौन करै फल-भोग।
कै पुदगल कै आतमा, कै दुहूँकौ संजोग ? ॥ 20 ॥

शब्दार्थ :- शिष्य कहै "प्रभु! तुम कह्यौ= शिष्य कहता है गुरुजी! आपने ऐसा कहा कि, दुविध-करमकौ रूप= कर्म दो प्रकार का है, दरब-कर्म पुदगल-मई= द्रव्यकर्म पुदगलमय, भावकर्म चिद्रूप= भावकर्म चिद्रूप/चैतन्य का विकार है ॥ 18 ॥

करता दरवित-करमकौ= द्रव्य-कर्म का कर्ता, जीव न होइ त्रिकाल= जीव तीनों काल नहीं है, अब यह भावित-करम= अब यह भाव-कर्म, तुम कहौ कौनकी चाल= आप बताओ किसकी चाल है? ॥ 19 ॥

करता याको कौन है= इस भावकर्म का कर्ता कौन है, कौन करै फल-भोग= इसे कौन करता है, कौन इसका फल भोगता है, कै पुदगल कै आतमा= या तो पुदगल या आत्मा, कै दुहूँकौ संजोग= या दोनों मिलकर ॥ 20 ॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त-छंदों में कवि ने कर्म के विषय में शिष्य के हृदय की शंका को व्यक्त किया है।

इससे पहले के छंदों में कवि ने कर्म के दो भेद 'द्रव्यकर्म' और 'भावकर्म' का वर्णन किया, और दोनों में ही जीव के कर्तापने का निषेध किया। तब शिष्य ये प्रश्न करता है कि "गुरुजी! आपने कर्म के दो भेद कहे, एक तो ज्ञानावरणादिक-'द्रव्यकर्म' और दूसरे मोह, राग, द्वेषादि 'भावकर्म'। उनमें से द्रव्यकर्म तो पुदगलमय है अर्थात् पुदगल की रचना है, और भावकर्म चिद्रूप है या चैतन्य का विकार है।"

"ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्म पुदगल की रचना होने से जीव उसका कर्ता न कभी था, न है, और न कभी होगा, —यह तो सही है; परन्तु मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भाव जो चैतन्य का ही विकार है, ये भाव जीव में ही होते हैं, पुदगल में नहीं; तो फिर उनका कर्ता कौन है? कौन उन कर्मफलों को भोगता है? जीव है या पुदगल? अथवा दोनों का युगल-रूप?

(दोहा)

क्रिया एक कर्ता-जुगल, यौं न जिनागम-माँहि।
अथवा करनी और की, और करै यौं नाँहि ॥ 21 ॥
करै और फल भोगवै, और बनै नहि एम।
जो करता सो भोगता, यहै जथावत जेम ॥ 22 ॥

शब्दार्थ :- क्रिया एक कर्ता-जुगल= कार्य एक कर्ता दो, यौं न जिनागम-माँहि= ऐसा जिनागम में नहीं होता है, अथवा करनी और की= अथवा करनी किसी की, और करै यौं नाँहि= और करनेवाला कोई और हो— ऐसा भी नहीं होता ॥ 21 ॥

करै और फल भोगवै और= कार्य कोई करे और फल कोई और भोगे, बनै नहि एम= ऐसा भी नहीं होता, जो करता सो भोगता= जो कर्ता है, वही भोक्ता होता है, = यहै जथावत जेम= यही यथार्थ (जिनवचन) है ॥ 22 ॥

विशेषार्थ :- पिछले-छंदों में शिष्य ने शंका व्यक्त की थी कि भावकर्म का कर्त्ता जीव है, या पुद्गल है, या दोनों है? उसी शंका का समाधान करते हुए गुरुजी कहते हैं कि "न तो एक क्रिया के दो कर्त्ता होते हैं और न ही ऐसा होता है कि क्रिया कोई और करे और कर्त्ता किसी और को माना जाये। अर्थात् जो कार्य करता है, वही उस क्रिया का कर्त्ता कहा जाता है।"

"इसीप्रकार जो क्रिया करता है, वही उस क्रिया का फल भोगने का अधिकारी होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि कार्य कोई करे और फल किसी और को मिले।" – यही जिनवचनों का सार है।

नीति/न्याय भी यही है कि प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी करनी का ही फल मिलना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो मैंने जो अच्छे-कर्म किये, उनका फल किसी और को मिलता, और उसके द्वारा किये जाने वाले बुरे-कर्मों का फल मुझे मिलता, क्या ये न्यायसंगत होता? नहीं।

आदरणीय बाबूजी 'युगल' जी की लिखी पंक्तियाँ—

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।

करें आप, फल देय अन्य, तो स्वयं किये निष्फल होते॥

—(भावना-बत्तीसी का हिन्दी-पद्यानुवाद)

कहने का अभिप्राय यही है कि भावकर्म भी जो करता है, वही उसका कर्त्ता होता है, और उसका फल भी वही भोगता है। वास्तव में इन भावकर्मों का कर्त्ता कौन है? इसका समाधान कविवर आगामी-छंदों में करेंगे।

(दोहा)

भावकरम करतव्यता, स्वयंसिद्ध नहिं होइ।

जो जग की करनी करै, जगवासी-जिय सोइ॥ 23॥

जिय करता जिय भोगता, भावकरम जिय-चाल।

पुद्गल करै न भोगवै, दुविधा मिथ्याचाल॥ 24॥

तातैं भावित-करमकौं, करै मिथ्याती-जीव।

सुख-दुःख आपज-संपदा, भुंजै सहज सदीव॥ 25॥

शब्दार्थ :- भावकरम करतव्यता= भावकर्मों का कर्त्तापना, स्वयंसिद्ध नहिं होइ= अपने आप नहीं होता, जो जग की करनी करै= जो सांसारिक-क्रियायें करता है, जगवासी जिय सोइ= वही प्राणी संसार में निवास करता है॥ 23॥

जिय करता जिय भोगता= जीव कर्त्ता है, जीव ही भोक्ता है, भावकरम जिय-चाल= भावकर्म जीव की ही चाल है, पुद्गल करै न भोगवै= पुद्गल न करता है, न भोगता है, दुविधा मिथ्या-चाल= दुविधा अर्थात् दोनों को कर्त्ता मानना मिथ्या-चाल/मिथ्यात्व है॥ 24॥

तातैं भावित-करमकौं= इसलिये भावकर्म का, करै मिथ्याती जीव= कर्त्ता मिथ्यादृष्टि-जीव है, सुख-दुःख आपद-संपदा= सुख-दुःख, प्रतिकूलता-अनुकूलता, भुंजै सहज सदीव= सहज ही सदैव भोगता है॥ 25॥

विशेषार्थ :- पिछले-छंद से चल रही शिष्य की शंका कि भावकर्म का कर्त्ता कौन है? उसका सटीक-

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीव-प्रकृत्योर्द्वयो- रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्य-फलभुग्भावानुपंगात्कृतिः।

नैकस्याः प्रकृतेरचित्व-लसनाज्जीवोऽस्य कर्त्ता ततो, जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥ 11॥

समाधान उपर्युक्त-तीन छंदों में कवि ने किया है।

कविवर कहते हैं भावकर्म-रूपी कार्य स्वयंसिद्ध नहीं है अर्थात् अपने आप नहीं होता, कहने का अभिप्राय यही है कि जब भी कोई कार्य होता है, तो उसका कर्त्ता भी अवश्य होता है। यहाँ भी भावकर्म-रूपी कार्य हुआ है, इसलिये उसका कर्त्ता भी है, आगम के अनुसार भावकर्म का कर्त्ता वही जीव है, जो जगत् के स्वतंत्र-परिणामन का कर्त्ता स्वयं को मानता है, अर्थात् जो ये कहता है कि "जगत् का परिणामन मेरे आधीन है, मैं ही करनेवाला हूँ, यदि मैं न करूँ, तो कोई काम नहीं होगा"— जो जीव ऐसा मानता है, वही जीव भावकर्म का कर्त्ता होता है, ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है।

इसीप्रकार जो जीव जगत् के कार्यों का स्वयं को कर्त्ता मानता है, वही जीव उन कर्मफलों को भी भोगता है। ये भावकर्म मिथ्यादृष्टि-जीव की ही विभाव-परिणति है, पुद्गल की नहीं, क्योंकि पुद्गल-द्रव्य न तो किसी क्रिया का कर्त्ता होता है, न ही उसका फल भोगता है। उसको कर्त्ता-भोक्ता मानना, या दोनों को संयुक्तरूप से कर्त्ता-भोक्ता मानना मिथ्यात्व है।

इसप्रकार सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि-जीव ही भावकर्म का कर्त्ता है, और वही सुख-दुःख, आपत्ति-वैभव, अनुकूलता-प्रतिकूलता को भोगता है।

वहीं दूसरी ओर जो जीव जगत् के कार्यों का कर्त्ता स्वयं को नहीं मानते, मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, वे जीव भावकर्म के भी कर्त्ता नहीं होते, और न ही उन कर्मफलों के भोक्ता होते हैं, ऐसे जीव ही सम्यग्दृष्टि हैं।

(सवैया इकतीसा)

केई मूढ विकल एकंत-पच्छ गहैं कहैं, आतमा अकरतार पूरन-परम है।

तिन्हिसौं जु कोऊ कहै जीव करता है तासौं, फेरि कहैं करमकौ करता करम है॥

ऐसे मिथ्या-मगन मिथ्याती ब्रह्मघाती-जीव, जिन्हिकैं हिए अनादि-मोह कौ भरम है।

तिन्हिकौ मिथ्यात दूर करिबैकौं कहैं गुरु, स्यादवाद-परवान आतम-धरम है॥ 26 ॥

शब्दार्थ :— केई मूढ विकल एकंत-पच्छ गहैं= कितने ही अज्ञानी दुःखी-जीव एकांत-पक्ष को ग्रहण करते हैं, कहैं आतमा अकरतार पूरन-परम है= और कहते हैं आत्मा अकर्त्ता पूर्ण-परमात्मा है, तिन्हिसौं जु कोऊ कहै जीव करता है= उनसे यदि कोई जीव ये कहे कि "जीव कर्त्ता है", तासौं फेरि कहैं करमकौ करता करम है= उनसे वह कहते हैं "कर्म का कर्त्ता कर्म ही है", ऐसे मिथ्या-मगन मिथ्याती ब्रह्मघाती-जीव= ऐसे मिथ्यात्व में मगन मिथ्यादृष्टि आत्मस्वभाव का घात करनेवाले जीव, जिन्हिकैं हिए अनादि-मोह कौ भरम है= जिनके हृदय में अनादि-मिथ्यात्व का भ्रम है, तिन्हिकौ मिथ्यात दूर करिबैकौं= उनका मिथ्यात्व दूर करने के लिए, कहैं गुरु स्यादवाद-परवान आतम-धरम है= गुरु कहते हैं आत्म-धर्म स्याद्वाद-प्रमाण है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उन मिथ्यादृष्टि-जीवों की विवेचना की है, जो एकांतवादी हैं, निश्चयाभासी हैं, अर्थात् वस्तु के एक धर्म या पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। जो यह कहते हैं कि आत्मा भावकर्म का कर्त्ता नहीं है, कर्मों का संयोग होने पर भी वह आत्मा को कर्मों से रहित परिपूर्ण भगवान् मानते हैं। कहते हैं कि कर्मों का कर्त्ता आत्मा नहीं कर्म है,— ऐसा मानना ही एकांतवाद है। जबकि वस्तु का स्वरूप अनेकांतात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक है, एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक-

कर्मव प्रवितर्क्य कर्तृहृत्कैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां, कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।

तेषामुद्धतमोह-मुद्वितधियां बोधस्य संशुद्धये, स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते॥ 12 ॥

धर्मयुगलों या शक्तियों का प्रकाशित होना 'अनेकांत' है। अनेकांत के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि जीव को सर्वथा कर्त्ता मानेंगे, तो जीव कभी निष्कर्म और सुखी नहीं होगा। क्योंकि कर्तृत्वबुद्धि के रहते जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। और यदि जीव को सर्वथा अकर्त्ता मानेंगे, तो अनादि से चले आ रहे कर्म के संयोग और मोहजनित-विकारों की सिद्धि कैसे होगी ? जब कि ये अकाट्य-सत्य है कि अनादिकाल से जीव आठ कर्मों के साथ है, और उनके निमित्त से परलक्ष्यी-भावों का कर्त्ता बनकर निरन्तर दुःखी होता आया है। तब हम वर्तमान में कर्म का संयोग होने पर भी आत्मा को सर्वथा-अकर्त्ता कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि भूल स्वीकार करना ही प्रायश्चित्त की निशानी है। जो जीव वस्तु के अनेकांत-स्वरूप को नहीं मानते, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि ही हैं, स्वरूप के घातक ही हैं। जिनके हृदय में अनादि से मिथ्यात्व का भ्रम है उन जीवों का मिथ्यात्व दूर करने के लिये ही आचार्यों ने वस्तु के स्याद्वाद-स्वरूप का वर्णन किया है।

स्याद्वाद यानि स्यात् + वाद = स्याद्वाद। 'स्यात्' यनि 'कथंचित्' / किसी अपेक्षा से और 'वाद' यानि कथन करना। अर्थात् अनेकांतमयी- वस्तु को कथन करने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा वस्तु का समग्र-कथन करना संभव नहीं है, प्रयोजन की मुख्यता से अन्य-धर्मों को गौण करते हुये एक धर्म का सापेक्ष-कथन करना स्याद्वाद है। वस्तु के अन्य-धर्मों का निषेध न हो जाये, इसलिये अनेकांतवादी 'स्यात्' यानि 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे वस्तु कथंचित् सत् और कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। जैसे द्रव्यरूप से वस्तु नित्य है और पर्यायरूप से अनित्य, उसीप्रकार आत्मा रागादि भावकर्म का द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा सर्वथा-अकर्त्ता है, लेकिन पर्याय-अपेक्षा कर्म का संयोग होने से आत्मा इन रागादि भावों का कर्त्ता है। यही अनेकांतात्मक-वस्तु का स्याद्वादपूर्ण कथन है, और जो जीव ऐसा नहीं मानते वे भी मिथ्यात्व में मग्न मिथ्यादृष्टि-जीव ही हैं, और जो जीव अनेकांत रूप वस्तु के यथार्थ-स्वरूप को स्वीकार करते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि-जीव हैं।

(देहा)

चेतन करता-भोगता, मिथ्या-मग्न अज्ञान।

नहिं करता नहिं भोगता, निहचै सम्यक्वान॥ 27॥

शब्दार्थ :- चेतन करता-भोगता= (जो) आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है, मिथ्या-मग्न अज्ञान= वह मिथ्यात्व में मग्न अज्ञानी है, नहिं करता नहिं भोगता= न कर्त्ता और न ही भोक्ता, निहचै सम्यक्वान= वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि-जीव है।

विशेषार्थ :- कौन-सा जीव कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है ? उसका वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जो जीव मिथ्यात्व में मग्न है, अज्ञानी है, वही जीव कर्म का कर्त्ता और भोक्ता है। और जो सम्यग्दृष्टि है, वह जीव निश्चय से न कर्त्ता है, न भोक्ता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मा तो स्वभाव से त्रिकाल अकर्त्ता है, अर्थात् न कर्त्ता है न भोक्ता है, मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं। जिनका उपयोग आत्मस्वरूप में स्थिर है, वे जीव अकर्त्ता हैं, और जो स्वरूप से बाहर देहादिक में मग्न हैं, वे अकर्त्ता-स्वभावी होने पर भी पुद्गल-कर्म के कर्त्ता कहे जाते हैं।

जैसैं सांख्यमती कहैं अलख-अकरता है, सर्वथा प्रकार करता न होइ कबहीं।
 तैसैं जिनमती गुरुमुख एक-पक्ष सुनि, याहि भाँति मानै सौ एकंत तजौ अबहीं॥
 जौलौं दुरमती तौलौं करमकौ करता है, सुमती सदा अकरतार कह्यौ सबहीं।
 जाकै घट ग्यायक-सुभाउ जग्यौ जबहीसौं, सो तौ जगजाल सौं निरालौ भयौ तबहीं॥ 28॥

शब्दार्थ :— जैसैं सांख्यमती कहैं= जैसे सांख्यमती कहते हैं, अलख अकरता है= अकर्ता अदृश्य है, सर्वथा प्रकार करता न होइ कबहीं= सर्व-प्रकार से कभी कोई कर्ता नहीं होता, तैसैं जिनमती= उसीप्रकार जिनमत का अनुयायी, गुरुमुख एकपक्ष सुनि= गुरु के मुख से एक-पक्ष सुनकर, याहि भाँति मानै= इसीप्रकार माने, सौ एकंत तजौ अबहीं= ऐसा एकांत अभी त्यागो, जौलौं दुरमती= जबतक दुर्बुद्धि है, तौलौं करमकौ करता है= तबतक कर्म का कर्ता है, सुमती सदा अकरतार कह्यौ सबहीं= सुमति/सम्यग्दृष्टि को सभी ने हमेशा अकर्ता ही कहा है। जाकै घट ग्यायक-सुभाउ जग्यौ जबहीसौं= जिसके हृदय में जब से ज्ञायक-स्वभाव जागृत है, सो तौ जगजाल सौं निरालौ भयौ तबहीं= वह जीव तभी से जगत् के जंजाल से निराला हो गया है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पुनः सांख्यमत का उदाहरण देते हुये एकांतवाद का खंडन किया है। क्योंकि जैसा अनेकांतात्मक-वस्तु का स्वरूप जैनदर्शन में वर्णित है, वैसा किसी भी अन्य-दर्शन में वर्णित नहीं है।

यहाँ कवि ने सांख्यमत की चर्चा की है, सांख्यमती भी एकांत-पक्ष को स्वीकार करते हुये आत्मा को त्रिकाल कूटस्थ-नित्य अपरिणामी होने से अकर्ता ही मानते हैं, उनके मतानुसार आत्मा कभी किसी रूप में कर्ता होता ही नहीं। उसीप्रकार कोई जिनदर्शन का अनुयायी आगम से, स्वाध्याय में या किसी गुरु के मुख से वस्तु का एक-पक्ष सुनकर उसी को सत्य मानकर तदनुरूप प्रवर्तन करे, तो यह एकांतवाद ही है, वह जीव विपरीत-श्रद्धानी ही है, कविवर कहते हैं कि ऐसा एकांत तो इसी क्षण त्यागो, वर्ना अनेकांतमयी-वस्तु का सत्य-स्वरूप समझ में नहीं आयेगा, और भ्रम की काली-कोठरी में जैसे अब तक दुःखी होकर समय बिताया है, वैसे ही आगे भी भ्रमित और दुःखी ही होते रहोगे।

आत्मा अकर्ता-स्वभावी होते हुये भी तबतक रागादि-भावकर्म का कर्ता कहा जाता है, जबतक जीव में दुर्बुद्धि या अज्ञानता का वास रहता है; लेकिन सुबुद्धि अर्थात् श्रद्धान-ज्ञान सम्यक् होने पर जीव अकर्ता ही कहा जाता है, अर्थात् स्वयं ही अकर्तापने को प्रगट करता है। जिस क्षण जीव के हृदय में ज्ञायक-स्वभाव प्रकट होता है, या कहें आत्मानुभूति-पूर्वक वस्तु का सत्य-स्वरूप भासित होता है, तत्क्षण जीव जगत् के जंजाल से सर्वथा भिन्न निराला होता है अर्थात् अपने अकर्तृत्व-स्वभाव का आश्रय लेकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

बौध-छिनकवादी कहै, छिनभंगुर तन-माँहि।
 प्रथम-समय जो जीव है, दुतिय-समय सो नाँहि॥ 29॥

तातैं मेरे मत-विषै, करै करम जो कोइ।
सो न भोगवै सरवथा, और भोगता होइ॥ 30॥

शब्दार्थ :- बौध-छिनकवादी कहै= क्षणिकवादी-बौद्ध कहते हैं कि, छिनभंगुर तन-माँहि= यह देहवासी/ आत्मा क्षणभंगुर है, प्रथम-समय जो जीव है= पहले समय में जो जीव है, दुतिय-समय सो नाहि= दूसरे समय में वही जीव नहीं है॥ 29॥

तातैं मेरे मत-विषै= इसलिये मेरे मत के अनुसार, करै करम जो कोइ= जो कोई कर्म करता है, सो न भोगवै सरवथा= वह कभी नहीं भोगता है, और भोगता होइ= भोगनेवाला कोई और ही होता है॥ 30॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त दोनों-छंदों में कवि ने बौद्धमत की विचारधारा का वर्णन किया है। 'गौतम बुद्ध' के द्वारा प्रवर्तित बौद्ध-मत की क्षणिकवादी-शाखा के अनुसार आत्मा क्षणिक है, नश्वर है। उनके मतानुसार प्रतिसमय देह के साथ-साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है, अर्थात् सब कुछ नया। सो पहले जो जीव था अब वह जीव नहीं है, जीव के बदल जाने से उस जीव ने जो पूर्व में कर्म किये थे, वह अब उसके कर्म नहीं रहे; जब कर्म उसके नहीं, तो वह जीव उन कर्मफलों का भोक्ता भी नहीं रहा; उन्हें तो अगले समय में कोई अन्य ही जीव भोगेगा।

इसप्रकार बौद्धधर्म के अनुसार अन्य जीव अपने कर्मों का कर्ता है, और अन्य ही जीव उन कर्मफलों का भोक्ता है।

(दोहा)

यह एकंत-मिथ्यात-पख, दूर करन कै काज।
चिद्विलास-अविचल-कथा, भाषै श्रीजिनराज॥ 31॥
बालापन काहू-पुरुष, देख्यौ पुर एक कोइ।
तरुन भए फिरिकै लख्यौ, कहै नगर यह सोइ॥ 32॥
जो दुहुपन में एक थौ, तौ तिनि सुमिरन कीय।
और पुरुषकौ अनुभव्यौ, और न जानैं जीय॥ 33॥
जब यह वचन प्रगट सुन्यौ, सुन्यौ जैनमत-सुद्ध।
तब इकंतवादी-पुरुष, जैन भयौ प्रतिबुद्ध॥ 34॥

शब्दार्थ :- यह एकंत-मिथ्यात-पख= इस एकांत-मिथ्यात्व के पक्ष को, दूर करन कै काज= दूर करने के लिए, चिद्विलास अविचल-कथा= चैतन्य-स्वरूप आत्मा के शाश्वत-स्वरूप की कथा, भाषै श्रीजिनराज= श्री जिनेन्द्र देव कहते हैं॥ 31॥

बालापन काहू पुरुष= बचपन में किसी पुरुष ने, देख्यौ पुर एक कोइ= किसी एक नगर को देखा, तरुन भए फिरिकै लख्यौ= युवा होने पर फिर से देखा, कहै नगर यह सोइ= कहता है "ये वही नगर है", ॥ 32॥

जो दुहुपन में एक थौ= जो दोनों अवस्थाओं में एक ही था, तौ तिनि सुमिरन कीय= तभी तो उसने स्मरण किया/याद रहा, और पुरुषकौ अनुभव्यौ= अन्य पुरुष का अनुभव किया हुआ, और न जानैं जीय= अन्य जीव/

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं, निजमनसि विधत्ते कर्तुं-भोक्तोर्विभेदम्।

अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः, स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव॥ 14॥

व्यक्ति नहीं जान सकता था ॥ 33 ॥

जब यह वचन प्रगट सुन्यौ= जब यह वचन स्पष्ट सुना, सुन्यौ जैनमत-सुद्ध= शुद्ध जैनमत को सुना, तब इकंतवादी-पुरुष जैन भयौ प्रतिबुद्ध= तब उस एकांतवादी पुरुष ने जैनधर्म को अंगीकार किया ॥ 34 ॥

विशेषार्थ :- पिछले-छंद में कवि ने बौद्ध-मत में आत्मा के संबंध में वर्णित क्षणिकवाद की विचारधारा को प्रस्तुत किया था। उसी एकांतवाद की विचारधारा का खंडन सटीक-उदाहरण के माध्यम से उपर्युक्त-छंदों में किया गया है।

बौद्ध- मत में वर्णित है कि देह के साथ आत्मा भी प्रतिसमय क्षणिक है, नश्वर है, आत्मा के संबंध में प्रचलित-एकांतवाद के इस मिथ्या-पक्ष को दूर करने के लिए जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि "आत्मा नश्वर नहीं शाश्वत है, चैतन्य के विलास से परिपूर्ण है, नित्य है, आत्मा को देह के समान नश्वर या क्षणिक मानना मिथ्यात्व है।" -इस कथन की सिद्धि के लिये कवि ने एक सटीक-उदाहरण प्रस्तुत किया है।

जैसे किसी व्यक्ति ने अपने बचपन में किसी नगर या तीर्थक्षेत्र को देखा; वही नगर या तीर्थक्षेत्र जब वह युवा होने पर पुनः देखता है, तो उसे तुरंत स्मरण होता है कि "यह तो वही नगर या तीर्थक्षेत्र है, जो मैं ने बचपन में देखा था।" जबकि बौद्ध-मत के अनुसार तो आत्मा प्रतिसमय क्षणिक है, नवीन-पर्याय के साथ आत्मा भी नवीन-जन्म लेती है, क्रिया करनेवाला कोई और है और भोगनेवाला कोई और है— वास्तव में यह मिथ्या-कल्पना है। यदि बौद्ध-मत का ये कथन सत्य होता, तो किसी जीव के द्वारा बचपन में देखे जानेवाले दृश्य युवा होने पर उसे कैसे याद रहते? दोनों ही अवस्थाओं में जाननेवाला जीव एक ही है, यदि दोनों जीव भिन्न होते, तो अन्य-जीव के स्मरण को अन्य जीव कैसे स्मरण रखता? स्वतः स्पष्ट है कि देह में परिवर्तन होने पर भी उसकी आत्मिक-शक्ति या स्मरण-शक्ति क्षीण नहीं हुई, वह ज्यों की त्यों बनी हुई है और आगे भी इसीतरह बनी रहेगी। इससे सिद्ध होता है कि देह क्षणिक है, परन्तु आत्मा क्षणिक या नश्वर नहीं है; वह त्रिकाल शाश्वत है। जैन-आचार्यों ने स्मृति-प्रमाण के द्वारा बौद्धों के क्षणिकवाद का निराकरण किया है।

जब जिनेन्द्र-प्रणीत जैनदर्शन में वर्णित आत्मा के नित्य-स्वरूप को सुना या कहीं प्रत्यक्ष देखा, तो वह 'अप्रतिबुद्ध-जीव' तत्क्षण 'प्रतिबुद्ध' अर्थात् सचेत हो गया और उसने जिनेन्द्रदेव-प्ररूपित जैनधर्म को अंगीकार किया।

(सवैया इकतीसा)

एक-परजाइ एक-समैमैं विनसि जाइ, दूजी-परजाइ दूजै-समै उपजति है।

ताकौ छल पकरिकैं बौध कहै समै-समै, नवौ-जीव उपजै पुरातन की छति है॥

तातैं मानै करमकौ करता है और जीव, भोगता है और वाकै हिए ऐसी मति है।

परजै-प्रवांनकौ सरवथा दरब जानै, ऐसे दुरबुद्धिकौ अवसि दुरगति है॥ 35 ॥

शब्दार्थ :- एक-परजाइ एक समैमैं विनसि जाइ= एक-पर्याय एक-समय में नष्ट हो जाती हैं, दूजी-परजाइ दूजै समै उपजति है= दूसरी-पर्याय दूसरे-समय उत्पन्न होती है, ताकौ छल पकरिकैं बौध कहै= उसका छल ग्रहणकर बौद्ध कहते हैं, समै-समै नवौ-जीव उपजै= समय-समय पर नया-जीव उत्पन्न होता है, पुरातन की छति है= और पुराना विनाश को प्राप्त होता है, तातैं मानै करमकौ करता है और जीव= इसलिये मानते हैं कि

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाश-कल्पनात्। अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्रवकास्तु मा ॥ 15 ॥

कर्म का कर्ता अन्य-जीव है, भोगता है और वाकै हिए ऐसी मति है= भोगनेवाला कोई और है, उसके हृदय में ऐसी बुद्धि है, परजै-प्रवांनकौ सरवथा-दरब जानै= पर्याय-प्रमाण को ही संपूर्ण-द्रव्य जानता है, ऐसे दुरबुद्धिकौ अवसि दुरगति है= ऐसे दुर्बुद्धि-जीव की अवश्य दुर्गति होती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने बौद्ध-धर्म के अनुयायी आत्मा को क्षणिक क्यों मानते हैं?— इसका वर्णन किया है।

सहज-परिणमित वस्तु-व्यवस्था के अनुसार पर्याय एकसमय की होती है, अर्थात् प्रतिसमय पूर्व-पर्याय का व्यय और नवीन-पर्याय का उत्पाद होता है, लेकिन फिर भी ध्रौव्य अर्थात् द्रव्य त्रिकाल-शाश्वत रहता है। पर्याय के साथ यदि द्रव्य का भी क्षय होता, तो सारी वस्तु-व्यवस्था ही भंग हो जाती।

लेकिन बौद्धदर्शन पर्याय को तो विनाशीक मानता ही है, साथ ही पर्याय के छल से द्रव्य को भी विनाशीक मानता है। उनके अनुसार नवीन-पर्याय के साथ नवीन-जीव की भी उत्पत्ति होती है। जिससे कर्म-करनेवाला-जीव अन्य है और भोगनेवाला-जीव भी अन्य ही होता है; उनके दर्शन में ऐसी मिथ्या-मान्यता प्रचलित है।

'छल-ग्रहण' करने से तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार का पापाचार करें, भक्ष्य-अभक्ष्य, अंडा, मांस आदि कुछ भी भक्षण करें, कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि मैं जो कर्म कर रहा हूँ, उसका फल तो मुझे भोगना ही नहीं है; क्योंकि वह जीव तो नष्ट हो जायेगा, इसलिये हम निश्चित होकर पापाचार में मगन रहें। कविवर कहते हैं ऐसे आचार-विचारवाले जीवों की अनिवार्यरूप से नीच-गति ही होती है।

(दोहा)

कहै अनातम की कथा, चहै न आतम-सुद्धि।

रहै अध्यातमसौ विमुख, दुराराधि-दुरबुद्धि॥ 36॥

दुरबुद्धि-मिथ्यामती, दुरगति-मिथ्याचाल।

गहि एकंत दुरबुद्धिसौ, मुक्त न होइ त्रिकाल॥ 37॥

शब्दार्थ :— कहै अनातम की कथा= आत्मा से भिन्न देहादिक की बातें कहता है, चहै न आतम-सुद्धि= आत्मशुद्धि नहीं चाहता, रहै अध्यातमसौ विमुख= अध्यात्म से विमुख रहता है, दुराराधि दुरबुद्धि= समझाने पर भी न समझनेवाला दुर्बुद्धि-जीव॥ 36॥

दुरबुद्धि-मिथ्यामती= दुर्बुद्धि-जीव की मति मिथ्या होती है, दुरगति-मिथ्याचाल= उसकी मिथ्या-चाल से उसे दुर्गति ही मिलती है, गहि एकंत दुरबुद्धिसौ= इसी दुर्बुद्धि से वह एकंत का ग्रहण करता है, मुक्त न होइ त्रिकाल= तीन-काल में भी मुक्त नहीं होता॥ 37॥

विशेषार्थ :— इन दोनों छंदों में कवि ने मिथ्या-बुद्धि जीव की विचारधारा, प्रवर्तन और फल का वर्णन किया है।

दुर्बुद्धि-जीव अर्थात् वह जीव जिसकी बुद्धि सदाचरण से तो कोसों दूर रहे और हित-अहित का विवेक न रखकर मात्र दुराचरण में ही प्रतिसमय प्रवर्तन करे। ऐसा जीव अनातम अर्थात् जो आत्मा से भिन्न— ऐसे देहादिक-पदार्थों की तो बहुत चर्चा करता है; परन्तु आत्मा की तो चर्चा से भी कोसों दूर रहता है। वह प्रतिसमय देह का ही गुणगान करता है, आत्मा को तो मानता ही नहीं, शरीर को ही सब कुछ मानता है; इसीलिये आत्मा की शुद्धि भी नहीं चाहता, देह की शुद्धि में ही तल्लीन रहता है।

सर्व विशुद्धि-द्वार

जब आत्मा को ही नहीं मानता, तो अध्यात्म को कैसे मानेगा? इसलिए अध्यात्म अर्थात् आत्मानुभूति, आत्मज्ञान से विमुख अर्थात् विरक्त रहता है। जिनवाणी माँ के लाख समझाने पर भी जिसकी समझ में नहीं आती, ऐसे ठीठ-बुद्धिवाले जीव को कवि ने 'दुर्बुद्धि-जीव' कहा है।

कविवर आगे कहते हैं कि ऐसे विपरीत-बुद्धिवाले जीवों की मति/बुद्धि हमेशा मिथ्या ही रहती है। और उनके इसी मिथ्या-प्रवर्तन/विपरीत-आचरण के कारण इन जीवों की हमेशा नरक-निगोदादि रूप दुर्गति ही होती है। साथ ही ऐसे जीव अपनी दुर्बुद्धि से वस्तु के एकांत-पक्ष को ग्रहण करते हैं, और अपनी इसी अज्ञानता से वे जीव तीन-काल में भी मुक्त नहीं होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

कायासौ विचारै प्रीति, मायाहीसौ हारि-जीति, लियै हठ-रीति जैसैं हारिल की लकरी।

चंगुलके जोर जैसैं गोह गहि रहै भूमि, त्योंही पाड़ गाड़ै पै न छाड़ै टेक पकरी॥

मोह की मरोरसौं भ्रमकौ न छोर पावै, धावै चहुँओर ज्यौं बढ़ावै जाल मकरी।

ऐसी दुरबुद्धि भूली झूठकै झरोखे झूली, फूली फिरै ममता-जंजीरनिसौं जकरी॥ 38॥

शब्दार्थ :— कायासौ विचारै प्रीति= शरीर से ही प्रीति करता है, मायाहीसौ हारि-जीति= माया यानि धन से ही हार-जीत मानता है, लियै हठ-रीति जैसैं हारिल की लकरी= जिद्दी इतना, जैसे हारिल लकड़ी को पकड़ता है, चंगुलके जोर जैसैं गोह गहि रहै भूमि= ममता की पकड़ इतनी मजबूत होती है, जैसे गोह नामक प्राणी जमीन को पकड़ता है, त्योंही पाड़ गाड़ै पै न छाड़ै टेक पकरी= उसीप्रकार पंजे गड़ा देता है, पर पकड़ी हुई जगह को नहीं छोड़ता, मोह की मरोरसौं= मोह के जोर से, भ्रमकौ न छोर पावै= भ्रम का किनारा/अंत नहीं पाता है, धावै चहुँ-ओर= चारों ओर दौड़ता है, ज्यौं बढ़ावै जाल मकरी= जैसे मकड़ी जाला बनाती है, ऐसी दुरबुद्धि भूली= ऐसे दुर्बुद्धि-जीव भ्रमित रहता है, झूठकै झरोखे झूली= झूठ के झरोखों में झूलता है, फूली फिरै ममता-जंजीरनिसौं जकरी= ममता की जंजीरों में जकड़ा फूला फिरता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने लोक में प्रचलित-उक्तियों के माध्यम से दुर्बुद्धि या कहें मिथ्यादृष्टि-जीव की भूलों का सटीक-वर्णन किया है।

दुर्बुद्धि-जीव आत्मा को तो जानता ही नहीं और शरीर से अत्यधिक-प्रेम करता है, प्रतिसमय उसी का ख्याल रखता है। धन-वैभव, रुपया-पैसा, मान-सम्मान के घटने से अपनी हार और बढ़ने से अपनी जीत मानता है। जैसे हारिल-पक्षी अपने पंजों से बाँस की लकड़ी, को गिरने के भय से बहुत मजबूती से पकड़ता है, वैसे ही अज्ञानी-जीव हठपूर्वक अपने भ्रम को ही सही मानता है। जैसे 'गोह' नामक जानवर जमीन या दीवार को अपने पंजे से बहुत मजबूती से पकड़ता है, उसीप्रकार दुर्बुद्धि-जीव भी कुटेवों को बहुत मजबूती से पकड़ता है; यहाँ तक कि उन पर ही अड़ा रहता है। 'गोह' एक ऐसा जानवर है, जिसे चोर सदैव अपने पास रखते हैं। जब चोरों को चोरी करने के लिए ऊँची-ऊँची दीवारें फाँदनी होती हैं, तब वे गोह की कमर में रस्सी बाँधकर मकान की ओर फेंकते हैं, और उस रस्सी के सहारे चोर बड़ी आसानी से उस दीवार पर चढ़ जाते हैं, क्योंकि गोह जमीन या दीवार को अपने पंजे गढ़ाकर बहुत मजबूती से पकड़े रहता है। ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव अपनी कुटेवों या खोटी-मान्यताओं को पकड़कर रखता है, चाहे कितना भी बुरा क्यों न हो जाए, परन्तु फिर भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, अड़ा ही रहता है।

मोह के जोर से भ्रम की थाह नहीं मिलती अर्थात् मोह के कारण सच्चाई सामने होने पर भी स्वीकार नहीं करता, भ्रमित ही रहता है, इसीलिये भ्रम का कभी अंत नहीं होता और निरन्तर उसी में रचा-पचा रहता है। जैसे मकड़ी अपना जाला चारों ओर गोल-गोल घूमकर स्वयं बनाती है, उसीप्रकार ये दुर्बुद्धि-जीव अपनी कुटेवों से ही चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करता रहता है, न मकड़ी के जाले से मकड़ी आज तक बाहर आई और न ही दुर्बुद्धि जीव अपने भ्रमजाल से एवं चारों-गतियों से कभी बाहर निकल सका। ऐसा मोह-भ्रमित दुर्बुद्धि-जीव झूठ के झूले में ही झूलता है, माया-मानादि कषायों की जंजीरों से जकड़ा होने पर भी फूला नहीं समाता। कहते हैं कि बंधन में जीव कभी सुखी नहीं होता, पर दुर्बुद्धि-जीव की विडम्बना तो देखो; यह बंधन में रहकर ही अपने को सुखी अनुभव करता है।

(सवैया इकतीसा)

बात सुनि चौंकि उठै, बातहीसौं भौंकि उठै, बातसौं नरम होइ, बातही सौं अकरी।

निंदा करै साधु की, प्रशंसा करै हिंसककी, साता मानै प्रभुता, असाता मानै फकरी॥

मोख न सुहाइ, दोष देखै तहाँ पैठि जाइ, कालसौं डराइ, जैसे नाहरसौं बकरी।

ऐसी दुर्बुद्धि भूली, झूठकै झरोखे झूली, फूली फिरै ममता-जंजीरनिसौं जकरी॥ 39॥

शब्दार्थ :- बात सुनि चौंकि उठै= बात सुनते ही चौंकने लगता है, बातहीसौं भौंकि उठै= बात-बात पर भौंकने/बहस करने लगता है, बातसौं नरम होइ= बात सुनकर ही नरम हो जाता है, बातहीसौं अकरी= बात से ही अकड़ने लगता है, निंदा करै साधु की= साधुओं की निंदा करता है, प्रशंसा करै हिंसक की= हिंसा करनेवाले की प्रशंसा करता है, साता मानै प्रभुता= धन-वैभव में सुख मानता है, असाता मानै फकरी= निर्धनता में दुःख मानता है, मोख न सुहाइ= मोक्ष अच्छा नहीं लगता, दोष देखै तहाँ पैठि जाइ= जहाँ दोष/अवगुण देखता है, वहीं बैठ जाता है/ग्रहण कर लेता है, कालसौं डराइ= मौत से डरता है, जैसे नाहरसौं बकरी= जैसे सिंह से बकरी डरती है, ऐसी दुर्बुद्धि भूली झूठकै झरोखे झूली= ऐसा भ्रमित दुर्बुद्धि-जीव झूठ के झूले में झूलता है, फूली फिरै ममता-जंजीरनिसौं जकरी= माया-ममता की जंजीरों में जकड़ा हुआ फूला/गौरवान्वित रहता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि-जीवों की अंतरंग-मनोवृत्ति का बहुत ही मार्मिक-वर्णन किया है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव अर्थात् कषाय की अति-बहुलतावाला जीव। कब किस बात पर कौन-सी कषाय भड़क जाये— कुछ नहीं कहा जा सकता। हित-अहित का विचार किये बिना कभी किसी साधारण-सी बात पर ही गर्म हो जाता है, कभी कुत्ते की तरह जोर-जोर से भौंकने/बहसबाजी करने लगता है। कभी कोई मनचाही-बात सुनने को मिले, तो एकदम नरम और मीठा-व्यवहार करता है, और कभी अनचाही-बात सुनने को मिले, तो ऐसा ऐंठ जाता है, कि फिर कहो वर्षों तक उससे बात भी न करे। जो अपने भले की बात कहते हैं— ऐसे साधुजन की तो निंदा करता है, उनके निकट तो बैठना भी नहीं चाहता, और जो स्वयं हिंसक-कार्यों में प्रवर्तन करे या करने की प्रेरणा दें, उनको अपना हितैषी मानकर उनकी तारीफ करता है, उनके इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है। पूर्व-पुण्य के उदय से कुछ धन-वैभव, मान-सम्मान आदि मिले तो अपने को प्रभु-समान मानने लगता है, जैसे इससे बड़ा इस दुनिया में कोई

और है ही नहीं। और कदाचित् पाप का उदय हो, और ये तुच्छ बाह्य-वैभव न मिले तो अपने को किसी दरिद्री से कम नहीं मानता और प्रतिसमय दुःखी होता है।

मोक्ष-सुख जो निराकुलता-रूप है, शाश्वत-सुखरूप है, वह तो इसे सुहाता नहीं है, और जहाँ दुःख के कारण मिले, पापाचरण में प्रवर्तन हो, सप्तव्यसन में प्रवर्तन हो, अहितकारी संगति हो या कहे चित्त को आकुलता हो, उन सब आदतों को, प्रसंगों को तुरन्त आत्मसात् करता है। ऐसे मनुष्यों को भी बड़े चाव से गले लगाता है। यद्यपि यह बात वह भलीभाँति जानता है कि जीवन-मरण तो इस प्राप्त-देह का होता है, आत्मा का मरण कभी नहीं होता, फिर भी इस देह के मरण की आशंका से ऐसे डरता है, जैसे शेर के आगे बकरी डरती है; क्योंकि इस देह में अहंबुद्धि अर्थात् ममत्वपना जो कूट-कूटकर भरा रहता है।

ऐसे दुर्बुद्धि-जीव प्रतिसमय मोह और अज्ञान के कारण भ्रमित रहते हैं। क्या अच्छा क्या बुरा, क्या हेय क्या उपादेय?— विचार ही नहीं करते। झूठ के झूले में ही झूलते रहते हैं, क्योंकि सत्य से हमेशा अनभिज्ञ रहते हैं। माया-मोह के बंधनों में जकड़े अर्थात् पराधीन होने पर भी गर्व से फूले रहते हैं, अपने को उसी में सुखी भी अनुभव करते हैं।

(कवित्त)

केई कहैं जीव-क्षनभंगुर, केई कहैं करम-करतार।
केई करम-रहित नित जंपहिं, नय-अनंत नाना-परकार॥
जे एकांत गहैं ते मूर्ख, पंडित अनेकांत-पख धार।
जैसैं भिन्न-भिन्न मुकताहल, गुनसौं गहत कहावै हार॥ 40॥

शब्दार्थ :— केई कहैं जीव-क्षनभंगुर= कुछ कहते हैं आत्मा क्षणिक है, केई कहैं करम-करतार= कुछ कहते हैं कर्म का कर्ता है, केई करम-रहित नित जंपहिं= कुछ कहते हैं आत्मा हमेशा कर्म-रहित है, नय-अनंत नाना-परकार= अनेक-मत अनेक-प्रकार से कथन करते हैं, जे एकांत गहैं ते मूर्ख= जो एकांत-पक्ष ग्रहण करते हैं, वे मूर्ख हैं, पंडित अनेकांत-पख धार= जो पंडित हैं, वे अनेकांत-पक्ष को धारण करते हैं, जैसैं भिन्न-भिन्न मुकताहल= जैसे बिखरे हुये मोती, गुन सौं गहत कहावै हार= सूत में पिरोने पर हार कहलाते हैं।

विशेषार्थ :— वस्तु का धर्म 'अनेकांतमय' है, अर्थात् वस्तु में परस्पर-विरोधी अनेक-धर्म एकसाथ प्रकाशित होते हैं— ऐसे अनेकांत-स्वरूप की महिमा का वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

जैनदर्शन को छोड़कर लोक में प्रचलित सभी-मत वस्तु के किसी एक-पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। जबकि जैनदर्शन वस्तु के अनेकांत-स्वरूप को स्वीकार करता है। जैसे 'बौद्ध-मत' वाले आत्मा को क्षणिक कहते हैं, 'मीमांसक-मत' वाले आत्मा को कर्म का कर्ता कहते हैं, 'सांख्यमती जीव' को कर्म-रहित ही कहते हैं, इसप्रकार अनेक-मतवाले अपनी-अपनी धारणा के अनुसार वस्तु के किसी एक-पक्ष को ही ग्रहण करते हैं।

कवि कहते हैं कि अनेकांतमयी-वस्तुस्वरूप के एक पक्ष को ग्रहण करनेवाले सभी अज्ञानी हैं,

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकै, कालोपाधि-बलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।

चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथकैः शुद्धजुसूत्रे रतैः, आत्मा व्युज्जित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥ 16॥

क्योंकि एक-पक्ष से किसी भी वस्तु की सिद्धि करना संभव ही नहीं है। इसीलिए जो वस्तु के अनेकांत-स्वरूप को ग्रहण कर वस्तु की सिद्धि करते हैं, वे ही ज्ञानी हैं; क्योंकि वे वस्तु के सत्य-स्वरूप को स्वीकार करते हैं। जैसे बिखरे हुये मोतियों को कभी हार या माला का नाम नहीं मिलता, लेकिन वही मोती जब एक सूत में पिरो दिये जाते हैं, तो तत्क्षण हार या माला नाम पाते हैं; ठीक उसीप्रकार वस्तु के अनेक-धर्मों में से किसी एक-पक्ष से वस्तु की सिद्धि नहीं होती है; लेकिन जब माला की तरह वस्तु के सभी धर्मों को एक साथ प्रकाशित किया जाता है, तो बिना किसी विरोध के वस्तु की सहज-सिद्धि होती है।

(दोहा)

यथा सूत-संग्रह बिना, मुक्त-माल नहिं होइ।

तथा स्यादवादी बिना, मोख न साधै कोइ॥ 41॥

पद-सुभाव पूरब-उदै, निहचै-उद्गम-काल।

पच्छपात मिथ्यात-पथ, सरवंगी सिव-चाल॥ 42॥

शब्दार्थ :— यथा सूत-संग्रह बिना= जैसे सूत में पिरोये बिना, मुक्त-माल नहिं होइ= मोतियों की माला नहीं होती, तथा स्यादवादी बिना= इसीप्रकार स्याद्वाद के बिना, मोख न साधै कोइ= कोई मोक्ष की साधना नहीं कर सकता॥ 41॥

पद-सुभाव पूरब-उदै= वस्तु का स्वभाव, पूर्व-कर्मों का उदय, निहचै-उद्गम-काल= निश्चय, पुरुषार्थ, भवितव्य, पच्छपात मिथ्यात-पथ= किसी एक का पक्ष लेना मिथ्यात्व का रास्ता है, सरवंगी सिव-चाल= सर्वांग को स्वीकार करना मोक्ष की चाल है॥ 42॥

विशेषार्थ :— जैन-दर्शन वस्तु के सभी-धर्मों को बिना विरोध के एक साथ कैसे स्वीकार करता है? इसके समाधान-स्वरूप पंचकरण-समवाय के माध्यम से 'स्याद्वाद' की महिमा का प्रतिपादन कवि ने इन दोनों छंदों में किया है।

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुये कविवर कहते हैं कि जैसे धागे में मोतियों का संग्रह किये बिना माला नहीं बनती, ठीक उसीप्रकार स्याद्वाद का प्रयोग किये बिना मुक्ति की साधना आरंभ भी नहीं होती। अभिप्राय यह है कि अनेकांत-स्वरूप वस्तु के समस्त अप्रयोजनभूत धर्मों का निषेध नहीं, मात्र गौण करके प्रयोजनभूत-तत्त्व का कथन करना— यही तो स्याद्वाद है। वस्तु के अनेक-धर्मों में से कुछ लोग "वस्तु के स्वभाव को ही स्वीकार करते हैं अर्थात् जो भी परिणामन होता है या हो रहा है, वह प्राकृतिक है अर्थात् स्वाभाविक है"। कुछ कहते हैं "जो भी होता है पूर्वकर्म के उदय से होता है या भाग्य अनुसार होता है"। कुछ कहते हैं "जो भी है ब्रह्मस्वरूप है न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है"। कुछ कहते हैं "पुरुषार्थ ही सब कुछ है, अर्थात् पुरुषार्थ करें, तो कुछ भी हो सकता है"। कुछ कहते हैं "जो कुछ है सब समय के आधीन है, अर्थात् समय अच्छा, तो सब अच्छा और समय खराब, तो सब खराब"। जबकि जैनदर्शन वस्तु के इन सभी धर्मों को स्वीकार करता है, जिनको पाँच-समवाय के नाम से वर्णित किया गया है, जो इसप्रकार हैं, क्रमशः स्वभाव, निमित्त, नियति, पुरुषार्थ और काललब्धि।

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा, कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।

प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेतुं न शक्या क्वचि- च्विच्चिन्तामणि-मालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः॥ 17॥

किसी भी कार्य के होने में कोई एक नहीं पाँचों समवायों का होना अनिवार्य है, जब ये पाँचों समवाय मिलते हैं, तो कार्य सहज ही होता है। इसीलिए इन पाँचों में से किसी एक को स्वीकार करना और शेष चार का निषेध/अभाव करना यही एकांत है, मिथ्यात्व है, और सभी पक्षों को स्याद्वाद के माध्यम से सहज स्वीकार करना ही सत्य-दर्शन है, यही मोक्ष की चाल है।

(सवैया इकतीसा)

एक जीव-वस्तु के अनेक-गुण-रूप-नाम, निजजोग-सुद्ध परजोगसौं असुद्ध है।

वेदपाठी ब्रह्म कहैं, मीमांसक कर्म कहैं, सिवमती सिव कहैं, बौद्ध कहैं बुद्ध है॥

जैनी कहैं जिन, न्यायवादी करतार कहैं, छहौं-दरसन में वचन कौ विरुद्ध है।

वस्तु कौ सरूप पहिचानै सोई परवीन, वचनकै भेद, भेद मानै सोई सुद्ध है॥ 43॥

शब्दार्थ :— एक जीववस्तु के अनेक गुण-रूप-नाम= एक जीव नामक पदार्थ के अनेक-गुण, अनेक-रूप, अनेक-नाम हैं, निजजोग-सुद्ध परजोगसौं-असुद्ध है= निजस्वरूप से शुद्ध है, पर के संयोग से अशुद्ध है, वेदपाठी ब्रह्म कहैं= वेदों को पढ़नेवाले ब्रह्म कहते हैं, मीमांसक कर्म कहैं= मीमांसक कर्म कहते हैं, सिवमती सिव कहैं= शैवमती शिव कहते हैं, बौद्ध कहैं बुद्ध है= बौद्धमती बुद्ध कहते हैं, जैनी कहैं जिन= जैनमती जिन कहते हैं न्यायवादी करतार कहैं= न्यायवादी कर्ता कहते हैं, छहौं-दरसन में वचन कौ विरुद्ध है= छहों मत में वचन की विरुद्धता है, वस्तु कौ सरूप पहिचानै सोई परवीन= जो वस्तु के स्वरूप को पहिचानते हैं, वही पंडित हैं, वचनकै भेद भेद-मानै सोई सुद्ध है= जो वचन के भेद से भेद मानते हैं, वही निपट-मूर्ख है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'जीव' के बारे में समस्त दर्शन क्या कहते हैं? इसका समीक्षात्मक-वर्णन किया है।

जगत् में षट्-दर्शन माने गए हैं— वेदांत-दर्शन, मीमांसा-दर्शन, शैव-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन और न्याय-दर्शन। सभी दर्शनों में जीव के विविध-गुण-रूप और नाम वर्णित हैं। यद्यपि स्वभाव से आत्मा पूर्ण-शुद्ध है, परन्तु पर के संयोग से या कहें पर की ओर लक्ष्य करने से अशुद्ध नाम पाती है।

कविवर कहते हैं छहों-दर्शनों में जीव के विविध-नाम स्वीकृत हैं। जैसे वेदों को माननेवाले वेदांत-दर्शन के अनुयायी-जीव को 'ब्रह्म' कहते हैं, मीमांसा-दर्शन को माननेवाले मीमांसक जीव को 'कर्म' कहते हैं, शैव-दर्शन को माननेवाले जीव को 'सदा-शिवरूप' कहते हैं, और बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध को माननेवाले जीव को 'बुद्ध' कहते हैं, जिनेन्द्र को माननेवाले या कहें जिनधर्म को माननेवाले जैनी जीव को 'जिन या भगवान्' कहते हैं, और न्याय-दर्शन को माननेवाले नैयायिक जीव को 'कर्त्ता' कहते हैं।

इसप्रकार छहों-दर्शन में जीव के बारे में आपस में वचन-विरोध है। लेकिन वचन में विरोध होने पर भी जो वस्तु के यथार्थ-स्वरूप को पहिचानते और मानते हैं, वास्तव में वही जीव प्रवीण अर्थात् चतुर हैं, पंडित हैं। और जो जीव वचन में भेद होने पर वस्तु में भी भेद मानते हैं, वे जीव सुद्ध हैं अर्थात् बिल्कुल ही मूर्ख हैं। कवि ने यहाँ 'सुद्ध' शब्द का प्रयोग व्यंगात्मक-रूप में किया है, अर्थात् वे जीव कुछ ज्यादा ही शुद्ध हैं, अर्थात् निपट-मूर्ख हैं।

वेदपाठी 'ब्रह्म' मानि निहचै-सुरूप गहै, मीमांसक 'कर्म' मानि उदैमैं रहत है।
बौद्धमती 'बुद्ध' मानि सूच्छम-सुभाव साधै, सिवमती 'सिव' रूप कालकौ कहत हैं॥
न्याय-ग्रंथ के पढ़ैया थापैं करताररूप, उद्दिम उदीरि उर-आनंद लहत हैं।
पांचौं-दरसनि तेतौं पोषैं एक-एक अंग, जैनी जिनपंथी सरवंगी नै गहत हैं॥ 44॥

शब्दार्थ :- वेदपाठी ब्रह्म मानि निहचै सुरूप गहै= वेदांती-जीव को ब्रह्म मानकर निश्चय-स्वरूप को ही ग्रहण करते हैं, मीमांसक कर्म मानि उदैमैं रहत है= मीमांसक कर्म मानकर उदय में ही मग्न रहते हैं, बौद्धमती बुद्ध मानि सूच्छम-सुभाव साधै= बौद्धमती बुद्ध मानकर सूक्ष्म-स्वभाव को सिद्ध करते हैं, सिवमती सिवरूप कालकौ कहत हैं= शिवमती सदाशिवरूप मानकर काल को ही जीव कहते हैं, न्याय-ग्रंथ के पढ़ैया थापैं करताररूप= न्याय-ग्रंथों को पढ़नेवाले अर्थात् नैयायिक जीव के कर्ता रूप को सिद्ध करते हैं, उद्दिम उदीरि उर आनंद लहत हैं= और पुरुषार्थ छोड़कर हृदय में आनंद प्राप्त करते हैं, पांचौं-दरसनि तेतौं पोषैं एक-एक अंग= पाँचो दर्शनों से तो एक-एक अंग का ही पोषण होता है, जैनी जिनपंथी सरवंगी नै गहत हैं= जिनधर्म को माननेवाले जैनी जीव सभी नयों के द्वारा प्ररूपित सर्गारूप को ग्रहण करते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि के द्वारा अन्य-दर्शन को माननेवाले एकांती और जैनदर्शन को माननेवाले स्याद्वादी कैसे होते हैं? इसका कारण-सहित समाधान किया गया है।

सर्वप्रथम वैदिक ब्रह्मवादी अर्थात् 'वेदांती', जीव को एकमात्र निश्चय-नय की दृष्टि से ही देखते हैं, इसलिये उसे ब्रह्म ही मानते हैं अर्थात् व्यवहार से कोई लेना-देना नहीं है। 'मीमांसा-दर्शन' के अनुयायी जीव को कर्मोदय की दृष्टि से ही देखते हैं, इसलिये केवल कर्म को ही जीव मानते हैं अर्थात् आत्मा से कोई लेना-देना नहीं। 'बौद्धधर्म' के अनुयायी जीव को क्षणिक मानते हैं, इसलिये आत्मा के अस्तित्व को मात्र एकसमय का ही स्वीकार करते हैं। 'शैव-मत' के अनुयायी, जीव को सदाशिवरूप मानते हैं। और न्याय-शास्त्र के जानकर 'नैयायिक' जीव को हर क्रिया का कर्ता मानकर हर्षित होते हैं, और उसे मात्र कर्ता मानते हैं।

इसप्रकार पाँचों-दर्शनों से जीव के मात्र एक-एक धर्म का ही पोषण अर्थात् सिद्धि होती है, जबकि जिनशासन के अनुयायी जैनी, आत्मा/जीव के सभी धर्मों को स्वीकार करते हैं। अर्थात् जैनदर्शन आत्मा को निश्चय-नय की अपेक्षा वेदांतियों की तरह ब्रह्म भी मानता है, मीमांसकों की तरह कर्म के उदय और बंध को भी स्वीकार करता है, तभी तो कर्मों के अभाव की बात करता है। बौद्ध-मतियों की तरह वर्तमान-पर्याय का पूर्व और आगामी-पर्यायों में अभाव होने से पर्याय-दृष्टि से क्षणिक भी मानता है। शैवमत की तरह शिवस्वरूप यानि मोक्षस्वरूप भी मानता है, नैयायिकों की तरह कर्म का कर्ता भी मानता है और कर्म का अकर्ता भी मानता है, कर्मसहित भी मानता है, तो कर्मरहित भी; परन्तु अन्य-दर्शनों की तरह एकांतरूप से नहीं मानता/कहता है। बल्कि 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करके जीव के सभी धर्मों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से स्वीकार करता है, अन्यमतियों की तरह जीव के शेष सभी धर्मों को नकारता नहीं, मात्र गौण करता है, यही 'स्याद्वाद' है। अनेकांतमयी वस्तु-स्वरूप के सभी धर्मों को स्याद्वाद की शैली में कथन करने या स्वीकार करने से जैनी 'स्याद्वादवादी' और मात्र किसी एक धर्म को ही ग्रहण करने से अन्यमती 'एकांती' कहलाते हैं।

निहचै अभेद-अंग, उदै गुनकी तरंग, उद्दिमकी रीति लिए उद्धता-सकति है।
 परजाइ रूपकौ प्रवान सूच्छम-सुभाव, काल की-सी ढाल परिनाम-चक्र गति है॥
 याही भाँति आतम-दरब के अनेक-अंग, एक मानै एककौं, न मानै सो कुमति है।
 टेक डारि एकमै, अनेक खोजै सो सुबुद्धि, "खोजी जीवै, वादी मरै", साँची-कहवति है॥ 45 ॥

शब्दार्थ :- निहचै अभेद-अंग= निश्चय से आत्मा भेदरहित, उदै गुनकी तरंग= उदय में गुणों की तरंग है, उद्दिमकी रीति लिए= स्वभावरूप परिणमन होने से, उद्धता-सकति है= कर्तापने की शक्ति है, परजाइ-रूपकौ प्रवान= पर्यायरूप को प्रमाणित करता, सूच्छम-सुभाव= सूक्ष्म-स्वभाव भी सत्य है, काल की-सी ढाल= काल-चक्र की तरह, परिनाम-चक्र गति है= परिणामों के समूह की गति है, याही-भाँति आतम-दरब के अनेक अंग= इसीप्रकार आत्मद्रव्य के अनेक-धर्म हैं, एक मानै एककौं न मानै सो कुमति है= एक को मानें, दूसरे को न मानें, सो मिथ्याज्ञान है, टेक डारि एकमै, अनेक खोजै सो सुबुद्धि है= हठ या दुराग्रह छोड़कर एक आत्मद्रव्य में अनेक-धर्मों को खोजना, वही सम्यग्ज्ञान है, "खोजी जीवै वादी मरै" साँची-कहवति है= खोजनेवाला जीतता है, विवाद करनेवाला मरता है, — यह कथन सत्य है।

विशेषार्थ :- पिछले-छंदों में कवि ने जीव-पदार्थ के बारे में अन्य-दर्शन क्या कहते हैं। और जैनदर्शन क्या कहता है— इसका वर्णन किया। यद्यपि अन्य-दर्शन जीव-पदार्थ के बारे में जो कहते हैं, जिनशासन के अनुयायी उसका समर्थन करते हैं; पर कैसे?— इसका वर्णन इस-छंद में कवि ने किया है।

सर्वप्रथम वेदांत-दर्शन कहता है कि जीव अभेद है अर्थात् उसमें कोई भेद नहीं है, जैनदर्शन इस तथ्य का समर्थन करता है, और कहता है कि सभी आत्मायें स्वभाव की सामर्थ्य से समान हैं, कोई छोटी-बड़ी नहीं, फिर चाहे वह किसी भी गति में हो या किसी भी पर्याय में। जीवमात्र के प्रति समभाव रखना तो जैनदर्शन का मुख्य-सिद्धांत है। मीमांसा-दर्शन के अनुसार कर्म के उदय को भी जैनदर्शन स्वीकार करता है। इसीलिए तो पुण्य-पाप के परिणाम और उनके फल की विवेचना जैनदर्शन में की गई है।

'नैयायिक' जीव को कर्म का कर्ता मानकर हर्षित होते हैं, इसे भी जैनदर्शन स्वीकार करता है; क्योंकि प्रत्येक जीव अपने स्वभाविक-गुणों ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि रूप परिणमन का कर्ता है, और मिथ्यात्व की अवस्था में मोह-राग-द्वेष आदि विभाव-भावों का भी व्यवहार से कर्ता कहलाता है। 'बौद्धधर्म' के अनुयायी जीव को एक-समय की पर्याय के रूप में क्षणिक मानते हैं, जैन-दर्शन भी पर्याय को एकसमय की और क्षणिक ही मानता है। 'शैव-मती' जीव को काल के रूप में मानते हैं, जैनदर्शन के अनुसार भी जीव के परिणाम काल-चक्र की भाँति निरन्तर बदलते या कहें परिणमनशील रहते हैं।

इसप्रकार देखा जाये, तो आत्मद्रव्य में अनेक-धर्म हैं, उनमें से किसी एक को मानना और अन्य का निषेध करना— ये तो विपरीत-बुद्धि है, कुमति है, और अन्य-दर्शन यही करते हैं कि किसी एक को मानते हैं और शेष का निषेध करते हैं। जबकि जैन-दर्शन सभी धर्मों को सहजता से बिना किसी विरोध के स्वीकार करता है। इसलिए कविवर कहते हैं हठ या दुराग्रह छोड़कर एक आत्मद्रव्य में सभी धर्मों को खोजना ही 'सम्यक् बुद्धि' या 'सम्यग्ज्ञान' है। जगत् में प्रचलित कहावत कि "जिन खोजा तिन पाइयाँ" या कहें "खोजी जीवै, वादी मरै" अर्थात् जो खोजते हैं, वे प्राप्त करते हैं और जो विवाद करते हैं, वे विनाश को प्राप्त होते हैं— पूर्णतः सत्य सिद्ध होती है।

एकमैं अनेक हैं, अनेकहीमैं एक है सो, एक न अनेक कुछ कह्यौ न परतु है।
करता-अकरता है भोगता-अभोगता है, उपजै न उपजत मूएं न मरतु है॥
बोलत-विचारत न बोलै न विचारै कछु, भेखकौ न भाजन पै भेखसौ धरतु है।
ऐसौ प्रभु चेतन, अचेतनकी संगतिसौं, उलट-पलट नटबाजी-सी करतु है॥ 46॥

शब्दार्थ :— एकमैं अनेक हैं= एक में अनेक हैं, अनेकहीमैं एक है= अनेक में एक ही है, सो एक न अनेक= सो एक न अनेक, कुछ कह्यौ न परतु है= कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, करता अकरता है= करते हुये भी अकर्ता है, भोगता अभोगता है= भोगते हुये भी अभोक्ता है, उपजै न उपजत= उत्पन्न होते हुये भी, नहीं उपजता है, मूएं न मरतु है= मरते हुये भी, नहीं मरता है, बोलत-विचारत= बोलता है विचार करता है, न बोलै न विचारै कछु= न बोलता है न विचारता है, भेखकौ न भाजन= कोई भेष का पात्र नहीं है, पै भेखसौ धरतु है= परन्तु फिर भी भेष रखता है, ऐसौ प्रभु-चेतन= ऐसा चेतन भगवान् आत्मा, अचेतनकी संगतिसौं= अचेतन-पदार्थों की संगति से, उलट-पलट नटबाजी-सी करतु है= नट की तरह उलट-पुलट कलाबाजी-सी करता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्याद्वाद की विवक्षा से जीव के अनेक-धर्मों को स्पष्ट किया है।

आत्मा एक अखंड-द्रव्य है, जो निरन्तर अपने जानन-स्वभावरूप परिणामन कर रहा है, जिसे हम जीव के ज्ञान-गुण का परिणामन कहते हैं। ऐसी अनंत-पर्यायें जीव-द्रव्य में होती हैं, और उन अनंत-पर्यायों में भी एक जीव-द्रव्य ही है, क्योंकि ऐसा जाननरूप-परिणामन किसी अन्य-द्रव्य का नहीं है। इसप्रकार जीव एक होते हुये भी पर्याय-दृष्टि से अनेक है। इसलिए एक या अनेक कुछ नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् सर्वथा एक-रूप नहीं कह सकते, कथंचित् (अपेक्षा से) एक, और कथंचित् अनेक।

व्यवहारनय से देखें, तो जीव मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों का कर्ता है; क्योंकि ये भाव जीव की ही भूल है, जीव की ही पर्याय में उत्पन्न होते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं। और निश्चयनय से देखें, तो जीव इन विकारी-भावों का अकर्ता है, क्योंकि ये विकार जीव का स्वभाव नहीं है, स्वभाव से तो वह मात्र अपने जाननरूप-कार्य का कर्ता है, यदि जीव को सर्वथा इन विकारों का कर्ता मान लिया, तो इन विकारों से छूटेंगे कैसे? इसलिए जीव कथंचित्-कर्ता भी है, और कथंचित्-अकर्ता भी।

इसीप्रकार व्यवहारनय से देखें, तो जीव अपनी भूल से बाँधे गये कर्म और कर्मफलों का भोक्ता भी है; क्योंकि इन कर्मों के फल में ही तो जीव चारों गतियों में परिभ्रमण कर रहा है, और निश्चयनय से देखें, तो जीव अभोक्ता भी है; क्योंकि आज तक जीव ने पौद्गलिक-कर्मों को छुआ ही नहीं, तो भोगेगा कैसे? इसलिये जीव कथंचित् भोक्ता भी है और कथंचित् अभोक्ता भी।

व्यवहारनय की अपेक्षा, जब जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है, तो उसे जन्म या उत्पत्ति कहते हैं। जबकि निश्चयनय की अपेक्षा जीव तो अनादि-अनंत एक शाश्वत-द्रव्य है, तो जन्म या उत्पत्ति कैसे संभव है? इसलिए कथंचित्-जन्मा, और कथंचित्-अजन्मा।

इसीप्रकार देह के छूटने को लोक में 'मरण' कहते हैं, इसीलिये व्यवहारनय से कहने में आता है कि "जीव का मरण हुआ"; परन्तु निश्चयनय से देखें, तो आत्मा तो कभी मरती ही नहीं, वह तो जन्म-मरण से रहित अविनाशी-तत्त्व है; इसलिए कथंचित्-मरणधर्मा और कथंचित्-अमरणशील।

इसीप्रकार व्यवहारनय से देखें, तो जीव में बोलने, विचार करने रूप जप-तप ध्यान-चिंतन आदि रूप प्रवृत्ति देखी जाती है; जबकि निश्चयनय से देखें, तो आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, वचन-विचाररूप

व्यवहार की सामर्थ्य तो आत्मा में है ही नहीं; इसलिए कथंचित्-विचारशील और कथंचित्-अविचारशील।

इसीप्रकार व्यवहारनय से चार-गति चौरासी-लाख योनियों में भ्रमण करते हुए जीव अनंत-भेष धारण करता है, परन्तु निश्चयनय से तो आत्मा अमूर्तिक है, सो किसी भी भेष को धारण करने की सामर्थ्य आत्मा में है ही नहीं। इसलिये कथंचित्-भेषी और कथंचित्-अभेषी है।

इसप्रकार अनंत-गुणों का धनी चेतन-स्वरूप भगवान् आत्मा पौदगलिक-कर्मों के संयोग से नट की भाँति उलट-पुलट हो रहा है। अर्थात् जिसप्रकार नट अनेक-प्रकार के भेष धारणकर कलाबाजियाँ दिखाता है, ठीक उसीप्रकार चेतन-आत्मा इन कर्मों के संयोग और फल में चार-गति चौरासी-लाख योनियों में कभी नरक, तो कभी स्वर्ग, कभी मनुष्य, तो कभी तिर्यच-गति में नानाप्रकार की पर्यायों को धारण करता हुआ परिभ्रमण कर रहा है।

(दोहा)

नटबाजी विकलप-दसा, नांही अनुभौ-जोग।

केवल अनुभौ-करनकौ, निरविकलप-उपजोग ॥ 47 ॥

शब्दार्थ :- नटबाजी विकलप-दसा= नटबाजी विकल्पात्मक-दशा है, नांही अनुभौ-जोग= अनुभव के योग्य नहीं है, केवल अनुभौ-करनकौ= अनुभव करने के लिए केवल, निरविकलप-उपजोग= निर्विकल्प-उपयोग ही कार्यकारी है।

विशेषार्थ :- पिछले-छंद में वर्णित विकल्पात्मक-दशा को कवि ने नटबाजी कहा, फिर चाहे वह शुभ-विकल्प ही क्यों न हो, क्योंकि कि विकल्प के रहते वस्तु का आनंद नहीं आता। जैसे हम किसी वाटिका में भ्रमण करने जायें, और उसमें लगे सुंदर-वृक्षों को देखकर विचार करें कि 'यह किसका वृक्ष है? कब लगाया होगा? किसने लगाया था?'— इत्यादि, तो क्या इन विकल्पों के चलते हम उस वाटिका की सुंदरता का आनंद ले पायेंगे? नहीं। ठीक उसीप्रकार आत्मानुभूति से पूर्व आत्मा के स्वरूप के विषय में किये गये समस्त-विकल्प नटबाजी/नाटक/अभिनय की तरह हैं, जो अनुभव के योग्य नहीं हैं। अनुभव का आनंद तो तब है, जब हम इन समस्त-विकल्पों को त्यागकर निर्विकल्प-आत्मानुभूति का आनंद लें; इसलिए निर्विकल्प-उपयोग ही अनुभव के योग्य है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू चतुर संवारी है मुक्त-माल, मालाकी क्रियामैं नानाभाँतिकौ विग्यान है।

क्रियाकौ विकलप न देखै पहिरनवारौ, मोतिन की सोभामैं, मगन सुखवान है॥

तैसें न करै, न भुंजै, अथवा करै सो भुंजै, और करै और भुंजै, सब नय-प्रवांन है।

जदपि तथापि विकलप-विधि त्याग-जोग, निरविकलप-अनुभौ अमृतपान है॥ 48 ॥

शब्दार्थ :- जैसे काहू चतुर संवारी है मुक्तमाल= जैसे किसी होशियार व्यक्ति ने मोतियों की माला बनाई है, माला की क्रियामैं नाना-भाँतिकौ विग्यान है= माला बनाने में भिन्न-भिन्न प्रकार का विज्ञान है, क्रियाकौ विकलप न देखै पहिरनवारौ= पहननेवाला बनाने की क्रिया के बारे में विचार तक नहीं करता, मोतिन की सोभामैं मगन सुखवान है= वह तो उसकी सुन्दरता में ही मगन और संतुष्ट है, तैसें न करै न भुंजै= उसीप्रकार न कर्ता, न भोक्ता, अथवा करै सो भुंजै= अथवा जो करे, वही भोगे, और करै और भुंजै= कोई और करे, कोई और भोगे, जदपि सब नय-प्रवांन है= यद्यपि ये सब नय के कथन हैं, तथापि विकलप-विधि त्याग-जोग= फिर

भी विकल्पजाल होने से त्यागने-योग्य है, निरविकल्प-अनुभौ अमृतपान है= निर्विकल्प-अनुभव का अमृतपान करना ही योग्य है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने निर्विकल्प-अनुभव की श्रेष्ठता को एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है।

जैसे कोई माला बनाने की कला में निपुण-पुरुष बिखरे हुए मोतियों से भाँति-भाँति की सुंदर माला बनाये, यद्यपि माला बनाते समय उस संबंधी विशेष-ज्ञान की आवश्यकता होती है, तभी वह माला बनकर तैयार होती है। लेकिन उस माला को पहननेवाला उसको बनानेवाले व्यक्ति या बनाने संबंधी क्रिया के विकल्पों को नहीं देखता, वह तो मगन होकर मात्र उसकी सुंदरता का आनंद लेता है। ठीक उसीप्रकार आत्मा कर्ता है या अकर्ता है, भोक्ता है या अभोक्ता है, जो कर्ता है वही भोक्ता है, या करनेवाला कोई और था और भोगनेवाला कोई और है— इत्यादि समस्त-विकल्प नयात्मक हैं अर्थात् ये विभिन्न-नयों के कथन हैं। ये आत्मवस्तु के स्वरूप को समझने के लिये तो आवश्यक हैं; परन्तु एकबार आत्मस्वरूप समझने पर ये सभी विकल्प त्यागने-योग्य ही हैं; क्योंकि इन विकल्पों के चलते आत्मिक-अनुभूति से होनेवाले आनंद का वेदन नहीं होगा। या कहें कि जब तक विकल्पों में उलझे रहेंगे, तब तक आनंद या आत्मिक-सुख की अनुभूति नहीं होगी। इसीलिए कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि 'निर्विकल्प-अनुभव' ही अमृतपान करने जैसा या कहें अपनाने योग्य है।

(दोहा)

दरब-करम करता अलख, यह विवहार कहाउ।

निहचै जो जैसौ दरब, तैसौ ताकौ भाउ॥ 49॥

शब्दार्थ :- दरब-करम करता अलख= द्रव्यकर्म का कर्ता आत्मा है, यह विवहार कहाउ = यह व्यवहार-नय कहता है, निहचै जो जैसौ दरब= निश्चय-नय से जो द्रव्य जैसा है, तैसौ ताकौ भाउ= उसका वैसा ही स्वभाव है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया कि जो द्रव्य जैसा है, वैसा ही उसका स्वभाव होता है। इसलिए जीव-द्रव्य चेतन है और अपने चैतन्य-भाव का कर्ता है। इसीप्रकार द्रव्य-कर्म अचेतन है, पुद्गल है, और अपने स्वभाव यानि स्पर्श-रस-गंध-वर्णादिरूप कार्यों का कर्ता है। अर्थात् दोनों द्रव्य-स्वभाव से ही पूर्णतया-भिन्न है। और आगम का कथन है कि "एक-द्रव्य दूसरे-द्रव्य का कर्ता नहीं होता है।" तब एक चेतन-द्रव्य, एक अचेतन-द्रव्य के कार्यों का कर्ता कैसे हो सकता है? जीव-द्रव्य को द्रव्य-कर्मों का कर्ता कहना— यह व्यवहार-नय का कथन है, जो असत्यार्थ है।

निश्चयनय और व्यवहारनय का स्वरूप—

वक्ता के अभिप्राय को 'नय' कहते हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों ही वस्तु-स्वरूप को कहने की शैली है। दोनों ही श्रुतज्ञान के अंश हैं। किसी भी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ-कथन करनेवाला नय 'निश्चयनय' है। उसी वस्तु का संयोगों से, निमित्त से, या किसी को किसी में मिलाकर कथन करनेवाला नय 'व्यवहारनय' है।

जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना 'निश्चयनय' और उसी घड़े को घी का संयोग होने पर घी का

व्यावहारिक-दृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।

निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥ 18 ॥

घड़ा, या पानी का संयोग होने पर पानी का घड़ा कहना 'व्यवहारनय' है। इसीलिये निश्चयनय 'सत्यार्थ' है, 'भूतार्थ' है, क्योंकि ज्यों का त्यों कथन करता है। जबकि व्यवहारनय असत्यार्थ है; अभूतार्थ है, क्योंकि संयोगाधीन कथन करता है।

इस विवक्षा से जीव को द्रव्यकर्म का कर्ता कहना अन्यद्रव्य के संयोगरूप-कथन है। कैसे? द्रव्यकर्म अर्थात् पुद्गल-परमाणुओं का पिण्ड, और इनके बंध का कारण मोह, राग, द्वेष आदि विकारी-भाव, जोकि पहले तो जीव का स्वभाव नहीं है, इसलिये पर हैं। और दूसरी बात, इनकी उत्पत्ति परद्रव्य के लक्ष्य से होती है, अतः वह भी एक भिन्न-द्रव्य हुआ। इसप्रकार जिनकी उत्पत्ति ही परद्रव्य के लक्ष्य या संयोग से होती है, वह नियम से संयोगीभाव है, और व्यवहारनय संयोग से ही कथन करता है; इसीलिए व्यवहारनय द्रव्यकर्म का कर्ता जीव को कहता है। चूँकि व्यवहारनय असत्यार्थ होने से यह कथन भी असत्यार्थ है कि 'जीव द्रव्यकर्म का कर्ता है।'

(सवैया इकतीसा)

ग्यानकौ सहज ज्ञेयाकार-रूप परिणवै, यद्यपि तथापि ग्यान ग्यानरूप कह्यौ है।

ज्ञेय ज्ञेयरूप यौ अनादिहीकी मरजाद, काहू-वस्तु काहू-कौ सुभाव नहिं गह्यौ है॥

एते पर कोऊ-मिथ्यामती कहै ज्ञेयाकार, प्रतिभासनसौं ग्यान असुद्ध ह्वै रह्यौ है।

याही दुरबुद्धिसौं विकल भयौ डोलत है, समुझै न धरम यौ भ्रम-माँहि बह्यौ है॥ 50॥

शब्दार्थ :— ग्यानकौ सहज ज्ञेयाकाररूप परिणवै= ज्ञान का सहज-स्वभाव है ज्ञेयाकाररूप परिणमन करना, यद्यपि तथापि ग्यान ग्यानरूप कह्यौ है= लेकिन फिर भी ज्ञान ज्ञानरूप ही कहा गया है, ज्ञेय ज्ञेयरूप यौ अनादिहीकी मरजाद= और ज्ञेय का, ज्ञेयरूप (रहना) अनादिकाल से यही मर्यादा/रीति है, काहू-वस्तु काहूकौ सुभाव नहिं गह्यौ है= किसी वस्तु ने अन्य किसी वस्तु का स्वभाव ग्रहण नहीं किया है, एते पर कोऊ मिथ्यामती कहै= इतने पर कोई मिथ्यादृष्टि-जीव कहे, ज्ञेयाकार प्रतिभासनसौं ग्यान असुद्ध ह्वै रह्यौ है= ज्ञेयाकाररूप प्रतिभास होने से ज्ञान अशुद्ध हो रहा है, याही दुरबुद्धिसौं विकल भयौ डोलत है= इसी विपरीत-बुद्धि से व्याकुल होकर घूमा है, समुझै न धरम यौ भ्रम-माँहि बह्यौ है= धर्म को समझता नहीं है, इसीप्रकार भ्रम में बहता रहता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने ज्ञान ज्ञेयाकार होने पर भी त्रिकाल-शुद्ध ही रहता है— इसका सटीक-वर्णन किया है।

ज्ञान सहज ही ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है, लेकिन फिर भी ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और ज्ञेय, ज्ञेयरूप ही रहते हैं— ऐसी प्रक्रिया अनादिकाल से इसीप्रकार चली आ रही है। इस सहज-प्रक्रिया में आज तक किसी भी वस्तु ने किसी भी अन्य-वस्तु के स्वभाव को ग्रहण नहीं किया है, सभी स्वतंत्र और सहज-परिणमन करते हैं।

ज्ञान अर्थात् आत्मा का जाननरूप-स्वभाव, और ज्ञेय अर्थात् जानने में आनेवाले पदार्थ या कहे ज्ञान में झलकनेवाले पदार्थ। ज्ञेयाकार से अभिप्राय ज्ञान की निर्मलता में किसी भी वस्तु का आकार

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः, स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।

न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया, स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तुं तदेव ततः॥*

बहिरुलूठति यद्यपि स्फुटदनन्त-शक्तिः स्वयं, तथाऽप्यपर-वस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।

स्वभाव-नियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते, स्वभाव-चलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिशयते ॥ 19॥

बनना या प्रतिबिम्बित होना/ज्ञेय बनना। जैसे आँख के परदे पर बाह्य-वस्तुओं के चित्र बनना। जब भी रेटिना पर किसी वस्तु का चित्र बनता है, तब न तो वह वस्तु आँख में समाती है और न आँख उस वस्तु का स्पर्श करती है, लेकिन फिर भी देखने-जाननेरूप क्रिया होती है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान की निर्मलता में पौद्गलिक-वस्तुओं अर्थात् ज्ञेय का आकार बनता है, उस समय न तो वह वस्तु ज्ञान में समाती है, और न ज्ञान उस वस्तु को स्पर्श करता है। लेकिन फिर भी ज्ञान की निर्मलता में वह वस्तु झलकती है और जानने की क्रिया होती है, इसी को ज्ञान का ज्ञेयाकार होना कहते हैं, और अनादिकाल से ज्ञान का यह परिणामन इसीप्रकार चला आ रहा है।

इतने पर भी यदि कोई मिथ्यादृष्टि-जीव यह कहे कि ज्ञान के ज्ञेयाकाररूप परिणामन होने पर ज्ञान अशुद्ध होता है, तो ये उसकी दुर्बुद्धि ही है; क्योंकि ज्ञान का स्वरूप ऐसा नहीं है कि वह अशुद्ध हो सके। लोक में प्रचलित-मतों में वैशेषिक-मत ये मानता है कि जब ज्ञान में जगत् के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, तब ज्ञान अशुद्ध हो जाता है, इसलिए जबतक ज्ञान की अशुद्धता नहीं मिटेगी, तबतक जीव मुक्त नहीं होगा।

परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, ज्ञान प्रतिसमय दर्पण के समान स्वच्छ और निर्मल रहता है। जैसे दर्पण में अच्छा या बुरा, गंदा या साफ कोई भी पदार्थ झलकने पर न तो दर्पण कभी उसरूप होता है, और न ही दर्पण की निर्मलता पर कोई फर्क पड़ता है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान में कोई भी पदार्थ झलकने पर न तो ज्ञान कभी उसरूप होता है और न ही उसकी निर्मलता पर कोई फर्क पड़ता है, अर्थात् ज्ञान कभी अशुद्ध नहीं होता है।

जैसे सूर्य और पृथ्वी की दूरी सर्वविदित है, यद्यपि सूर्य कभी जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करने नहीं आता, वह तो स्वयं प्रकाशित होता है, और उसके प्रकाश में जगत् के पदार्थ सहज स्वयं प्रकाशित होते हैं, फिर चाहे वह पदार्थ मलिन हो या निर्मल, सूर्य की प्रकाशकत्व शक्ति पर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता, वह तो ज्यों की त्यों ही रहती है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी स्व-पर-प्रकाशी है, सो ज्ञान की निर्मलता में स्वयं का आत्मा भी प्रकाशित होता है, और जगत् के पदार्थ भी स्वयं प्रकाशित होते हैं; उससे ज्ञान की निर्मलता पर कोई फर्क नहीं पड़ता, वह तो ज्यों का त्यों निर्मल रहता है। इस विवक्षा से वैशेषिकों की यह मान्यता पूर्णतः गलत सिद्ध होती है।

अपनी इसी विपरीत-मान्यता के कारण मिथ्यादृष्टि-जीव आकुलित होकर चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ दुःखी होता है, धर्म के वास्तविक-स्वरूप को भी नहीं समझता, और अपनी दुर्बुद्धि से मिथ्यात्व के भ्रम में ही भूला रहता है।

(चौपाई)

सकल-वस्तु जगमैं असहाई, वस्तु वस्तुसौ मिले न काई।

जीव-वस्तु जानै जग जेती, सोऊ भिन्न रहै सब-सेती॥ 51॥

शब्दार्थ :- सकल-वस्तु जगमैं असहाई= जगत् के समस्त-पदार्थ बिना सहारे अर्थात् स्वाधीन हैं, वस्तु वस्तुसौ मिले न काई= कोई वस्तु किसी वस्तु से कभी नहीं मिलती है। जीव-वस्तु जानै जग जेती= जगत् के जितने पदार्थ हैं, उन सभी को जीव ही जानता है, सोऊ भिन्न रहै सब-सेती= लेकिन फिर भी वह उन सभी से भिन्न रहता है।

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो, येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।

निश्चयोऽयमपरो परस्य कः, किं करोति हि बहिर्लुठन्पि॥ 20॥

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने वस्तु-स्वरूप की स्वतंत्रता का सुंदर-वर्णन किया है। जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, वे जड़ हों या चेतन, सभी अपने-अपने आधार से हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष देखने पर अज्ञानी-जीव को ऐसा भासित होता है कि सब आपस में मिलकर एक हो गए हैं, एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को रहने का स्थान देते हैं। यद्यपि व्यवहार से कहने में भी यही आता है, परंतु वास्तविकता यही है कि नीर-क्षीरवत् मिलती हुई दिखाई देने पर भी आज तक कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु से नहीं मिली है और न कभी मिलेगी, और न ही कोई किसी के आधार से है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने स्व-चतुष्टय में निवास करती है, न वह स्वयं किसी अन्य वस्तु की सीमा में प्रवेश करती है, और न अन्य वस्तु उसकी सीमा में प्रवेश करती है, — ऐसा अस्ति-नास्ति-धर्म प्रत्येक-वस्तु में विद्यमान है।

जगत् में जितने भी द्रव्य और पदार्थ हैं, उन सबको जाननेवाला एकमात्र जीवद्रव्य ही है। हाँ, यह भी सत्य है कि ज्ञान की पूर्णता या केवलज्ञान में सम्पूर्ण-जगत् का प्रत्येक-परमाणु प्रतिभासित होता है, और अपूर्णता यानि क्षयोपशम-ज्ञान में यथासंभव। लेकिन फिर भी ज्ञान इन सभी से पूर्णतः भिन्न ही रहता है, न वह पदार्थ ज्ञान को स्पर्श करते हैं और न ज्ञान उन पदार्थों को स्पर्श करता है। लेकिन फिर भी जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, ठीक उसीप्रकार जैसे सूर्य अपने स्थान से कहीं नहीं जाता है, लेकिन फिर भी सभी को प्रकाशित करता है। ऐसा अनंत-ज्ञान का धारी तीनों लोकों में एकमात्र मैं जीवात्मा ही हूँ, बस एक बार स्वीकार करने की देर है।

(दोहा)

कर्म-करै फल-भोगवै, जीव-अग्यानी कोइ।

यह कथनी विवहार की, वस्तु-स्वरूप न होइ॥ 52॥

शब्दार्थ :- कर्म-करै फल-भोगवै जीव-अग्यानी कोइ= कोई अज्ञानी जीव कहे (जीव) कर्म करता है फल भोगता है, यह कथनी विवहार की वस्तु-स्वरूप न होइ= यह व्यवहार का कथन है, किन्तु वस्तु-स्वरूप ऐसा नहीं है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में भी कवि ने जीव की स्वतंत्रता का ही वर्णन किया है। अज्ञानी-जीव की ये मान्यता कि "मैं कर्म करता हूँ और कर्मफल को भोगता हूँ"— दोनों ही मान्यतायें सिद्धांततः गलत हैं। क्योंकि पहली-बात, कर्म करने के लिये भी और कर्मफल को भोगने के लिये भी अन्य-द्रव्य की आवश्यकता होगी, अर्थात् पराधीनता होगी, जबकि वस्तु-स्वरूप की दृष्टि से तो अणु-अणु पूर्ण-स्वाधीन है, और दूसरी-बात, कि जीव का स्वभाव मात्र जानना-देखना है, कर्म करने और कर्मफल को भोगने का स्वभाव ही जीव में नहीं है, और जब शक्ति ही नहीं, तो कार्य कैसे संभव है?

जीव को कर्म करनेवाला और कर्म फल भोगनेवाला मानना— यह अज्ञानी-जीव की ही विपरीत-विचारधारा है; क्योंकि वस्तु-स्वरूप ऐसा नहीं है। वस्तु-व्यवस्था तो ऐसी है कि सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप सहज-परिणामन कर रहे हैं। उस स्वतंत्र-परिणामन को देखकर मोहवश यदि अज्ञानी-जीव यह मानता है कि "मैंने किया या मैं नहीं कर पाया, मैंने भोगा या मैं नहीं भोग पाया"— तो यह तो अज्ञानी-जीव का ही भ्रम है; वस्तु-स्वरूप ऐसा नहीं है। जीव के दुःख का कारण ही पर में कर्तृत्व और

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम्।

व्यावहारिक-दृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥ 21॥

भोक्तृत्व-बुद्धि है, अन्यथा तो जीव त्रिकाल-सुखी ही है।

(कवित्त)

ज्ञेयाकार ग्यान की परणति, पै वह ग्यान ज्ञेय नहिं होइ।
ज्ञेयरूप षट्-दरब भिन्न-पद, ग्यानरूप-आतमपद सोइ॥
जानै भेद-भाउ सु विचच्छन, गुन-लच्छन सम्यकद्रिग जोइ।
मूरख कहै ग्यानमय-आकृति, प्रगट-कलंक लखै नहिं कोइ॥ 53॥

शब्दार्थ :- ज्ञेयाकार ग्यान की परणति= ज्ञेयाकार होना ज्ञान का परिणमन है, पै वह ग्यान ज्ञेय नहिं होइ= परन्तु वह ज्ञान कभी ज्ञेयरूप नहीं होता, ज्ञेयरूप षट्-दरब भिन्न-पद= ज्ञेयरूप छहों द्रव्य भिन्न-पदरूप हैं और ग्यानरूप आतमपद सोइ= जो ज्ञानरूप है, वही आत्मपद है, जानै भेदभाउ गुन-लच्छन= जो ज्ञान और ज्ञेय के भेद को गुण और लक्षण से जानता है, सो विचच्छन सम्यकद्रिग जोइ= वह विचक्षण/ज्ञानी-पुरुष सम्यग्दृष्टि होता है, मूरख कहै ग्यानमय-आकृति= मूर्ख कहते हैं ज्ञान में बननेवाला आकार, प्रगट कलंक लखै नहिं कोइ= प्रत्यक्ष कलंक/अशुद्धता है- यह कोई देखता ही नहीं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने ज्ञेय और ज्ञान या कहें ज्ञेय और ज्ञायक की भिन्नता का वर्णन किया है। ज्ञेयाकार होना ज्ञान की परिणति है, अर्थात् ज्ञान का सहज परिणमन है। सम्पूर्ण-विश्व में एक जीव-पदार्थ ही ज्ञायक है, ज्ञान उसका गुण है, जैसे अन्य-पदार्थ चीनी मिठासरूप, नीबू खटासरूप अर्थात् अपने गुणों के अनुरूप परिणमन करते हैं, वैसे ही ज्ञायक अपने ज्ञान-गुण के अनुरूप जानन-स्वभावरूप परिणमन करता है, और जगत् के छहों-द्रव्यों को जानता है, या कहें जानने में आते हैं। ज्ञान स्व-पर-प्रकाशी होने से स्वयं को भी जानता है और जगत् के समस्त चेतन और जड़-पदार्थों को भी जानता है। अर्थात् स्वयं आत्मा भी अपने ज्ञान का ज्ञेय है और जगत् के समस्त-पदार्थ भी उसके ज्ञान के ज्ञेय हैं। जब भी कोई पदार्थ ज्ञान में झलकता है, तब स्वयं ही ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकाररूप होता है। लेकिन फिर भी ज्ञान कभी ज्ञेयरूप नहीं होता, और न ही ज्ञेय ज्ञानरूप। छहों द्रव्य को जानते हुये भी जो सदैव भिन्न रहता है, वह ज्ञान ही तो आत्मा है।

जैसे स्फटिक-मणि स्वयं में पूर्ण-निर्मल है, अब यदि उसके सामने लाल-रंग का कपड़ा आये, तो वह लाल-रंग की, नीला आये नीले-रंग की, अर्थात् जो रंग सामने आये वह उसी रंग की दिखने लगती है; लेकिन न तो उस कपड़े ने स्फटिक में प्रवेश किया है, और न ही स्फटिक ने कपड़े में। फिर भी उस रूप परिणमन हुआ। और जब उसके सामने कोई कपड़ा नहीं रहता, तब वह अपने निर्मलरूप में ज्यों की त्यों विद्यमान रही। उसीप्रकार ज्ञान, स्वभाव से पूर्ण-निर्मल है, जब भी कोई ज्ञेय प्रतिभासित हुआ, ज्ञान भी ज्ञेयाकार हुआ, वर्ना अपने निर्मलरूप में ज्यों का त्यों विद्यमान रहा।

जो जीव ज्ञान और ज्ञेय की इस भिन्नता को गुण और लक्षण से जानते हैं, अर्थात् ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशी सत्य-स्वरूप को पहिचानते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि-जीव हैं। लेकिन विवेकशून्य-वैशेषिक आदि मिथ्यादृष्टि-जीव कहते हैं कि ज्ञान में बननेवाली ज्ञेय की आकृति प्रत्यक्ष-कलंक है, अर्थात् प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि ज्ञान अशुद्ध हो गया, पर कोई नहीं मानता।

शुद्धद्रव्य-निरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो, नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।

ज्ञानं ज्ञेयमवैति यतु तदयं शुद्ध-स्वभावोदयः, किं द्रव्यान्तर-चुम्बनाकुल-धियस्तत्त्वाच्यवन्ते जनाः॥ 22॥

(चौपाई)

निराकार जो ब्रह्म कहावै, सो साकार नाम क्यों पावै।

ज्ञेयाकार ज्ञान तब ताई, पूरन-ब्रह्म नाहि तब ताई॥ 54॥

ज्ञेयाकार ब्रह्म-मल मानै, नास-करनकौ उद्दिम ठानै।

वस्तु-सुभाव मिटै नहिं क्योंही, तातैं खेद करै सठ यौही॥ 55॥

शब्दार्थ :— निराकार जो ब्रह्म कहावै= आकार-रहित जो ब्रह्म है, सो साकार नाम क्यों पावै= वह आकार-सहित नाम कैसे प्राप्त कर सकता है, ज्ञेयाकार ज्ञान तब ताई= जबतक ज्ञान ज्ञेयाकार है, पूरन-ब्रह्म नाहि तब ताई= तबतक वह पूर्ण-ब्रह्म नहीं हो सकता॥ 54॥

ज्ञेयाकार ब्रह्म-मल मानै= ज्ञेयाकार को ब्रह्म/आत्मा का मल यानि अशुद्धि मानता है, नास करनकौ उद्दिम ठानै= (इसलिए) उसे नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ करता है, वस्तु-सुभाव मिटै नहिं क्योंही= लेकिन वस्तु का स्वभाव कभी मिटता नहीं, तातैं खेद करै सठ यौही= इसलिए मूर्ख व्यर्थ ही दुःखी होता है॥ 55॥

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने ज्ञान के ज्ञेयाकार होने को ज्ञान का सहज-परिणामन कहा था। लेकिन मिथ्यादृष्टि-जीव ने उसे कलंक या ज्ञान की अशुद्धता कहा। अपनी उसी बात को सही सिद्ध करने के लिए मिथ्यादृष्टि-जीव जो तर्क देता है, उसी का वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

वैशेषिक आदि मतों को माननेवाले ब्रह्म या ईश्वर को निराकार मानते हैं, ज्ञान के ज्ञेयाकार होने पर उनका तर्क है कि जो ब्रह्म/आत्मा निराकार है, वह साकार कैसे हो सकता है? इसलिये जबतक ज्ञान ज्ञेयाकार रहेगा, तबतक वह अशुद्ध है; और जबतक अशुद्धि है, तबतक वह पूर्ण-ब्रह्मरूप नहीं है। इतना ही नहीं ज्ञान के ज्ञेयाकार होने को ये दुर्बुद्धि-जीव ब्रह्म का मल अर्थात् अशुद्धि मानते हैं, सो उसको नष्ट करने का पुरुषार्थ करते हैं। लेकिन ये नहीं जानते कि वस्तु का स्वभाव तो कभी नष्ट ही नहीं होता, मूर्ख व्यर्थ ही दुःखी होते हैं।

लौकिक में भी विचार करें, तो किसी भी वस्तु का स्वभाव कभी नहीं मिटता है। जैसे क्या हम नमक का खारापन मिटा सकते हैं? चीनी की मिठास को मिटा सकते हैं? नहीं। क्योंकि खारापन ही तो नमक की पहिचान है, मिठास ही तो चीनी का स्वरूप है; इसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ही है, ज्ञेयाकाररूप परिणामन करना अथवा ज्ञेयों की सिद्धि करना है; क्योंकि ज्ञान ही तो है, जो सम्पूर्ण-विश्व को जानने की सामर्थ्य रखता है, फिर हम इसे ज्ञान की मलिनता या अशुद्धता कैसे कह सकते हैं? यदि किसी वस्तु का स्वभाव ही मिटा दिया, तो उस वस्तु का अस्तित्व सिद्ध कैसे होगा, वह तो तत्क्षण विनाश को प्राप्त हो जायेगी, जो कि संभव नहीं है, स्वभाव तो त्रिकाल एक जैसा ही रहता है। मिटाना तो दूर, वह कभी बदलता भी नहीं है। इसीलिए वैशेषिक आदि मिथ्यादृष्टि-जीवों का ये तर्क स्वतः ही गलत सिद्ध होता है।

(दोहा)

मूढ मरम जानै नहीं, गहै एकंत-कुपक्ष।

स्याद्वाद सरवंगनै, मानै दक्ष प्रतक्ष॥ 56॥

सुद्ध-दरब अनुभौ करै, सुद्धिदृष्टि-घटमाँहि।

तातैं समकितवंत-नर, सहज उछेदक नाहि॥ 57॥

शब्दार्थ :— मूढ मरम जानै नहीं= मूर्ख सत्य को तो जानते नहीं, गहै एकंत कुपक्ष= एकांतवाद के पूर्वाग्रह

को ग्रहण करते हैं, स्याद्वाद सरवंग नै= स्यादवादी सर्वांग को जानते हैं, मानै दक्ष प्रतक्ष= इसलिये सभी धर्मों को प्रत्यक्ष मानते हैं॥ 56॥

सुद्ध-द्रव्य अनुभौ करै= शुद्ध-द्रव्य का अनुभव करते हैं, सुद्धद्रिष्टि-घटमाँहि= सम्यग्दृष्टि-जीव अंतरंग में, तातैं समकितवंत नर= इसलिये सम्यग्दृष्टि-जीव, सहज उछेदक नाँहि= सहज-स्वभाव का लोप नहीं करते॥ 57॥

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने पुनः मिथ्यादृष्टि-जीव की विचारधारा का खंडन और सम्यक्-मत को तर्क-सहित प्रस्तुत किया।

यद्यपि ब्रह्म/आत्मा 'साकार' भी है और 'निराकार' भी, लेकिन दोनों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है। परन्तु मिथ्यादृष्टि-जीव तो स्याद्वाद को मानता ही नहीं, वह तो वस्तु के एक-पक्ष को ही मानता है, जिसे कवि ने 'कुपक्ष' या 'कुटेव' नाम दिया। जैसे किसी व्यक्ति में कोई कुटेव या गंदी-आदत हो, तो लाख समझाने पर भी वह व्यक्ति अपनी उस कुटेव को नहीं छोड़ पाता; ठीक उसीप्रकार यहाँ मिथ्यादृष्टि-जीव भी एकांतवाद की अपनी कुटेव को छोड़ने की जगह और मजबूती से पकड़ता है। जबकि स्यादवादी ब्रह्म के साकार और निराकार सभी धर्मों को सहज-स्वीकार करते हैं। कैसे?

ज्ञान में ज्ञेय का आकार बनता है, यह तो प्रत्यक्ष है; क्योंकि तभी तो ज्ञेय जानने में आते हैं, सो साकार-पक्ष को स्वीकार किया। लेकिन उन ज्ञेयों से ज्ञान में कभी कोई विकार नहीं होता, जैसे ज्ञान में कोई मलिन-पदार्थ झलके तो ज्ञान मलिन नहीं होता, और कोई स्वच्छ-पदार्थ झलके तो स्वच्छ नहीं होता, वह तो त्रिकाल एक जैसा रहता है, अर्थात् निराकार। इसप्रकार स्यादवादी बिना किसी विरोध के सभी धर्मों को साक्षात् स्वीकार करते हैं। ज्ञान के ऐसे शुद्ध-स्वरूप को ही सम्यग्दृष्टि-जीव अपने अंतरंग में अनुभव करते हैं। ज्ञान के स्वभाव का लोप किये बिना या उसको मिटाये बिना उसके सहज ज्ञेयाकार-परिणमन को भी स्वीकार करते हैं, और ज्ञेयों से अप्रभावित रहने से निराकार-रूप को भी स्वीकार करते हैं। तथा स्वभाव को मिटानेरूप कर्तृत्वबुद्धि का त्यागकर सहज-सुखी रहते हैं।

(सवेया इकतीसा)

जैसैं चंद-किरनि प्रगटि भूमि सेत करै, भूमी-सी न दीसै सदा जोति-सी रहति है।

तैसैं ज्ञान-सकति प्रकासै हेय-उपादेय, ज्ञेयाकार दीसै पै न ज्ञेयकौं गहति है॥

सुद्ध-वस्तु सुद्ध-परजाइरूप परिनवै, सत्ता-परवांन माहें ढाहें न ढहति है।

सो तौ औररूप कबहूँ न होइ सरवथा, निहचै अनादि जिनवानी यौ कहति है॥ 58॥

शब्दार्थ :- जैसैं चंद-किरनि प्रगटि भूमि-सेत करै= जैसे चंद्रमा की किरणें प्रगट होकर भूमि को सफेद/उजला कर देती हैं, भूमीसी न दीसै सदा जोतिसी रहति है= वे भूमि जैसी मलिन नहीं दिखती हैं, हमेशा ज्योतिरूप में ही रहती हैं, तैसैं ज्ञान-सकति प्रकासै हेय-उपादेय= वैसे ही ज्ञान-शक्ति हेय और उपादेय-पदार्थों को प्रकाशित करती है, ज्ञेयाकार दीसै पै न ज्ञेयकौं गहति है= ज्ञेयाकार दिखती हैं, परन्तु ज्ञेयाकार को ग्रहण नहीं करती हैं, सुद्ध-वस्तु सुद्ध-परजाइरूप परिनवै= शुद्ध-वस्तु शुद्ध-पर्यायरूप परिणमन करती है, सत्ता-परवांन माहें ढाहें न ढहति है= सत्ता-प्रमाण रहती है, विचलित करने से विचलित नहीं होती है; सो तौ औररूप कबहूँ न होइ सरवथा= वह कभी भी किसी भी स्थिति में अन्यरूप भी नहीं होती, निहचै अनादि जिनवानी यौ कहति है= निश्चय से अनादि से— जिनवाणी ऐसा कहती है।

शुद्धद्रव्य-स्वरस-भवनात्किं स्वभावस्य शेष-मन्यद्रव्य भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।

ज्योत्स्ना-रूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥ 23॥

विशेषार्थ :— इस-छंद में ज्ञेय और ज्ञायक की भिन्नता को कवि ने एक सटीक-उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है। लोक में हम देखते हैं कि पूर्णमासी का चाँद तो आकाश में होता है, लेकिन उसकी चाँदनी जब जमीन पर बिखरती है, तो सम्पूर्ण पृथ्वी सफेद/उजली हो जाती है; लेकिन फिर भी वह चाँदनी, एक ज्योति के रूप में उजली ही रहती है, पृथ्वी के वर्णरूप नहीं होती है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी जगत् के हेय और उपादेय या हितकारी और अहितकारी सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, यद्यपि उस समय ज्ञान ज्ञेयाकार प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी ज्ञेयरूप परिणामन नहीं करता, मात्र उनको प्रकाशित करता है, उनसे प्रभावित नहीं होता है और न ही कभी उन पदार्थोंरूप होता है।

वस्तु जैसी होती है, उसका परिणामन भी वैसा ही होता है; क्योंकि वह अपनी सत्ता-प्रमाण यानि अपने स्व-चतुष्टय में ही रहती है। आत्मा स्वभाव से त्रिकाल-शुद्ध है, और शुद्धरूप ही परिणामन करता है, क्योंकि वह भी अपनी सत्ता में रहकर ही परिणामन करता है, विचलित करने पर भी विचलित नहीं होता है अर्थात् किसी भी प्रकार की बाह्य-अशुद्धि का संयोग होने पर भी अशुद्धरूप नहीं होता; क्योंकि अशुद्धि कभी ज्ञान-स्वभाव में प्रवेश नहीं करती— ऐसी सामर्थ्य ज्ञान की है। इसीलिए कोई भी वस्तु कभी भी किसी भी स्थिति में अन्य वस्तुरूप नहीं होती, यही वस्तु का सत्य-स्वरूप है, और अनादिकाल से जिनवाणी भी यही कह रही है, लेकिन अज्ञानी-जीव मोह-वश जिनवाणी की बात सुनना व समझना ही नहीं चाहता है।

(सवैया तईसा)

राग-विरोध-उदै जबलौं तबलौं, यह जीव मृषा-मग धावै।
 ग्यान जग्यौ जब चेतनकौ तब, कर्म-दसा पररूप कहावै॥
 कर्म-विलेछि करै अनुभौ तहाँ, मोह-मिथ्यात प्रवेश न पावै।
 मोह गयै उपजै सुख केवल, सिद्ध भयौ जगमाँहि न आवै॥ 59॥

शब्दार्थ :— राग-विरोध-उदै जबलौं= जबतक राग-द्वेष का उदय रहता है, तबलौं यह जीव मृषा-मग धावै= तबतक यह जीव विपरीत-रास्ते पर ही दौड़ता है, ग्यान जग्यौ जब चेतनकौ= जब चेतन-आत्मा का ज्ञान जागृत होता है, तब कर्म-दसा पररूप कहावै= तब कर्मों की स्थिति को पररूप कहता/अनुभवता है, कर्म विलेछि करै अनुभौ तहाँ= कर्मों से भिन्न जब आत्मानुभव करता है, मोह-मिथ्यात प्रवेश न पावै= तब मोह और मिथ्यात्व का प्रवेश नहीं होता, मोह गयै उपजै सुख केवल= मोह के (समूल) नाश होते ही अनंतसुख और अनंतज्ञान/केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, सिद्ध भयौ जगमाँहि न आवै= तब (कैवल्य प्रकट होने पर) सिद्ध-पद प्रकट होता है, फिर वह जीव लौटकर संसार में नहीं आता।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने कर्म का संयोग होने पर जीव की प्रवृत्ति कैसी होती है और कर्म का नाश होने पर जीव की प्रवृत्ति कैसी होती है,— इसका सटीक-वर्णन किया है।

कर्म का संयोग (अर्थात् उदय और बंध) जीव के साथ अनादिकाल से चला आ रहा है। इसलिये जबतक राग-द्वेष रूप कर्मोदय-जनित परिणाम का संयोग रहता है, तबतक जीव की बुद्धि भ्रमित रहती है, हित-अहित की परख न होने से उसकी बुद्धि हमेशा विपरीत-मार्ग का ही अनुसरण करती है। परन्तु जिस क्षण सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिलने पर आत्मिक-ज्ञान जागृत होता है, तब आत्म-

राग-द्वेष-द्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्, ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।

ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं, भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः॥ 24॥

स्वरूप की सही-जानकारी होने से ये कर्मोदय-जनित-दशा पररूप अर्थात् अपने से भिन्न अनुभव में आती है।

जब जीव द्रव्यकर्म और भावकर्म— दोनों से अपने को भिन्न अनुभव करता है, तब फिर वहाँ मोह और मिथ्यात्व का प्रवेश नहीं होता, अर्थात् पर में एकत्व-ममत्व-बुद्धिरूप जो दर्शन-मोहनीय का प्रभाव अनादिकाल से अपनी सत्ता जमाये हुये था, वह आत्मानुभव से विनाश को प्राप्त होता है, और पुनः आत्मा में प्रवेश नहीं करता है। फिर पुरुषार्थपूर्वक धीरे-धीरे चारित्रमोहनीय और शेष तीनों घातिया-कर्मों का भी विनाश होने पर उस जीव को पूर्ण-सुख एवं केवलज्ञान प्रकट होता है।

मोहनीय-कर्म अर्थात् कर्मों का राजा, जब राजा ही अपने वैभव के साथ विनाश को प्राप्त होता है, तो अघातिया-कर्म रूपी अनुचर भी स्वतः ही समयानुसार विनाश को प्राप्त होते हैं, और जीव अविनाशी सिद्ध-दशा को प्राप्त करता है। सिद्ध-अवस्था प्राप्त करने के बाद वह जीव पुनः संसार में नहीं आता है अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाता है।

(छप्पय)

जीव करम-संजोग, सहज मिथ्यातरूप धर।
राग-दोष परनति-प्रभाव जानै न आप-पर॥
तम-मिथ्यात मिटि गयौ, हुवो समकित उदोत-ससि।
राग-दोष कछु वस्तु नाहि, छिन-माँहि गये नसि॥
अनुभौ-अभ्यास सुखरासि रमि, भयौ निपुन तारन-तरन।
पूरन-प्रकास निहचल निरखि, बानारसि वंदत चरण॥ 60॥

शब्दार्थ :— जीव करम-संजोग मिथ्यातरूप धर= कर्म का संयोग होने पर जीव की मिथ्यात्वरूप-अवस्था होती है, राग-दोष परनति-प्रभाव जानै न आप-पर= राग-द्वेषरूप परिणमन के प्रभाव से स्व और पर को नहीं जानता, तम मिथ्यात मिटि गयौ हुवो समकित उदोत शशि= मिथ्यात्वरूपी-अंधकार मिट गया और सम्यक्त्वरूपी-चंद्रमा का उदय हुआ, राग-दोष कछु वस्तु नाहि छिन-माँहि गये नसि= राग-द्वेष कोई वस्तु नहीं है, क्षण में ही विनाश को प्राप्त होते हैं, अनुभौ-अभ्यास सुखरासि रमि= अनुभव के अभ्यासरूप सुख की राशि में लीन होकर, भयौ निपुन तारन-तरन= संसार से तारनेवाले और स्वयं तिरनेवाले पूर्ण-ज्ञाता हुए, पूरन-प्रकास निहचल निरखि= ऐसे पूर्ण-परमात्मा के निश्चल-स्वरूप अवलोकन करके, बानारसि वंदत चरण= बनारसीदास उनकी चरण-वंदना करते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पहले मिथ्यात्व की अवस्था, और फिर सम्यक्त्व-पूर्वक परम-पद को प्राप्त करने तक की अवस्था का वर्णन किया है।

अनादिकाल से कर्म का संयोग होने से जीव की मिथ्यात्वरूप-अवस्था का होना स्वाभाविक है। और मिथ्यात्वरूप-अवस्था में राग-द्वेषरूप विकार, इष्ट-अनिष्टरूप बुद्धि का होना भी सहज है। इसके परिणामस्वरूप जीव को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, यही वास्तविक-स्थिति है।

लेकिन जब सुसंयोग मिलने पर आत्मिक-अनुभूतिरूप चंद्रमा का उदय होता है, तब मिथ्यात्वरूपी-अंधकार स्वतः ही विनाश को प्राप्त होता है। यहाँ कवि ने प्रतीक के रूप में सूर्य की जगह चंद्रमा को

राग-द्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञान-भावात्, तौ वस्तुत्व-प्रणिहित-दृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।

सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्व-दृष्ट्या स्फुटन्तौ, ज्ञान-ज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥25॥

लिया; क्योंकि चंद्रमा को शीतलता का प्रतीक माना गया है, और आत्मानुभूति होने के बाद न केवल मिथ्यात्वरूपी-अंधकार का विनाश होता है; बल्कि संसार की तपन से संतप्त-जीव को आत्मिक-सुखरूपी-शीतलता का वेदन भी होता है।

जब आत्मिक-अनुभूतिरूपी शीतलता और परिणामों में साम्यभाव होता है, तब राग-द्वेष का तो अस्तित्व ही नहीं रहता; क्योंकि राग-द्वेष की उत्पत्ति की मूल-जड़ तो मिथ्यात्व है। जैसे जड़ के नष्ट होने पर वृक्ष जीवित नहीं रहता है, ठीक उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी जड़ के विनाश होने पर राग-द्वेषरूपी वृक्ष भी शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होते हैं।

उसके पश्चात् निरन्तर आत्मानुभूति के अभ्यासरूप-सुख में लीन होकर जीव पूर्ण-ज्ञानस्वरूप तारण-तरण परमात्म-पद को प्राप्त करते हैं। तारण यानि जो संसाररूपी समुद्र से भव्यों को तारनेवाले, और तरण यानि जो संसार-समुद्र से स्वयं तिरनेवाले हैं। ऐसे आत्मस्वरूप को बतानेवाले जिनेन्द्र-परमात्मा को बनारसीदास सादर चरण-वंदन करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ सिष्य कहै "स्वामी! राग-दोष परिणाम, ताको मूल-प्रेरक कहहु तुम कौन है?

पुगल-करम-जोग किधौं इंद्रिनिकौ भोग, किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है"॥

गुरु कहै "छहो-दर्व अपने-अपने रूप, सबनिकौ सदा असहाई-परिनौन है।

कोऊ दरब काहूकौ न प्रेरक कदापि तातैं, राग-दोष मोह-मृषा-मदिरा-अचौन है"॥ 61॥

शब्दार्थ :- कोऊ सिष्य कहै "स्वामी= कोई शिष्य कहता है कि "हे गुरुजी!, राग-दोष-परिणाम ताको= राग-द्वेष-परिणामों का, मूल-प्रेरक कहहु तुम कौन है= मूल-प्रेरक-तत्त्व कौन है? आप बताओ, पुगल-करम-जोग= वह पौद्गलिक-कर्मों का संयोग है, किधौं इंद्रिनिकौ भोग= अथवा इंद्रियों के भोग है, किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है= अथवा धन है अथवा परिवार के लोग हैं अथवा भवन है?" गुरु कहै "छहों-दर्व= गुरुजी कहते हैं छहों-द्रव्य, अपने-अपने रूप= अपने-अपने स्वरूप में (मर्यादित रहते हैं और), सबनिकौ सदा असहाई-परिनौन है= सभी का हमेशा स्वतंत्र-परिणमन है, कोऊ दरब काहूकौ न प्रेरक कदापि= कोई भी द्रव्य कभी भी किसी भी द्रव्य का प्रेरक नहीं है, तातैं राग-दोष-मोह-मृषा-मदिरा-अचौन है= इसलिए राग-द्वेष (का मूल-कारण) मिथ्या मोहरूपी-मदिरा का आचमन करना/पीना है।

विशेषार्थ :- पिछले-छंद में कवि ने सिद्ध किया था कि यह जीव कर्म का संयोग होने से अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि है, और राग-द्वेष के कारण जीव स्व-पर में भेदज्ञान नहीं कर पाता है; इसलिए हमेशा दुःखी रहता है। गुरुजी की इस बात को सुनकर शिष्य के मन में जिज्ञासा होती है कि इस राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल-कारण क्या है?

और वह गुरुजी से पूछता है, "हे स्वामी! इस राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल-कारण क्या है? क्या अनादि से चले आ रहे पौद्गलिक-कर्म-परमाणुओं का संयोग है? या पाँचों इंद्रियों के विषय-भोग है? धन-वैभव, मान-सम्मान, या परिवार और कुटुम्बीजन हैं? या आलीशान-महल, मकान, जमीन-जायदाद आदि हैं? आखिर क्या वास्तविक-कारण है राग-द्वेष की उत्पत्ति का? आप ही बताइये।"

तब गुरु जी कहते हैं कि "भाई! छहों-द्रव्य भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी सीमा में अर्थात् अपने-अपने

राग-द्वेषोत्पादकं तत्त्व-दृष्ट्या नान्यद्-द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।

सर्व-द्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्व-स्वभावेन यस्मात्॥ 26॥

स्व-चतुष्टय में स्वयं के ही आधार से सहज, स्वतंत्र-परिणामन करते हैं, न कोई किसी का सहयोगी है, और न बाधक। तुम स्वयं जीवद्रव्य हो, और ये कर्मादि, इन्द्रियों की भोग-सामग्री, धन-वैभव, परिवारीजन, और भवनादि— ये तो सब तुमसे पूर्णतः भिन्न पुद्गल-द्रव्य हैं। जब कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ नहीं करता, तब ये समस्त पौद्गलिक-सामग्री तुझ जीव द्रव्य को राग-द्वेष कैसे उत्पन्न करा सकती है" ?

हे आत्मन्! राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल-कारण मोह/ मिथ्यात्वरूपी-मदिरा का पान करना है। अर्थात् पर-पदार्थों में एकत्व-ममत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व ही राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल-कारण है। कहने का अभिप्राय यही है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण— ये पौद्गलिक-कर्म नहीं, बल्कि ये कर्म मेरा भला-बुरा करते हैं— ऐसी भ्रमजनित विपरीत-मान्यता है। पंचेन्द्रिय के विषय-भोग की सामग्री नहीं, उनमें सुख मानकर भोगने की अभिलाषारूप विपरीत-मान्यता है, धन-वैभवरूप जड़-सामग्री नहीं, बल्कि इनमें सुख-बुद्धिरूप विपरीत-मान्यता है। परिवारी-जन नहीं, बल्कि परिवारी-जनों के प्रति ममत्वरूप मोहबुद्धि है। घर-मकान-जमीन-जायदाद नहीं, बल्कि इनमें अपनत्व-बुद्धिरूप विपरीत-मान्यता है, अर्थात् इनमें होनेवाली इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल-कारण है।

(दोहा)

कोऊ मूरख यौ कहै, राग-दोष-परिणाम।

पुगल की जोरावरी, वरतैं आतमराम॥ 62॥

ज्यों-ज्यों पुगल बल करै, धरि धर कर्मज-भेष।

राग-दोषकौ परिणमन, त्यों-त्यों होइ विशेष॥ 63॥

शब्दार्थ :— कोऊ मूरख यौ कहै= कोई मूर्ख-जीव ऐसा कहे कि, राग-दोष परिणाम= राग-द्वेष के परिणाम, पुगल की जोरावरी= पुद्गल की जबरदस्ती से, वरतैं आतमराम= आत्मा में होते हैं॥ 62॥

ज्यों-ज्यों पुगल बल करै= जैसे जैसे पुद्गल जोर करता है, धरि धर कर्मज-भेष= कर्म के उदय के अनुरूप भेष रखकर, राग-दोषकौ परिणमन= राग-द्वेष का परिणमन, त्यों-त्यों होइ विशेष= वैसे-वैसे और अधिक होता है॥ 63॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने अज्ञानी-जीव की मान्यता को बहुत ही सरलता से चित्रित किया है। अज्ञानी-जीव की सबसे प्रमुख-विशेषता है कि वह अपनी गलती कभी स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपनी गलती का दोष हमेशा दूसरों को देता है। यहाँ कवि ने अज्ञानी-जीव की इसी आदत का वर्णन किया गया है।

अज्ञानी-जीव कहता है कि राग-द्वेष के परिणाम पुद्गल की जबरदस्ती से होते हैं, अर्थात् जैसा कर्म का उदय आता है, मेरे परिणाम वैसे ही हो जाते हैं। कर्मोदय की अनुकूलता में रागरूप, और कर्मोदय की प्रतिकूलता में द्वेषरूप। उसीप्रकार कर्मोदय की तीव्रता में तीव्र-कषायरूप, और कर्मोदय की मंदता में मंद-कषायरूप। अर्थात् अज्ञानी-जीव ये मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, जो कुछ भी होता है, वह इन कर्मों की वजह से ही होता है।

जब दुःख का कारण कर्मों को मानता है, तो दुःख दूर करने का पुरुषार्थ भी प्रतिकूल-कर्मों को

यदिह भवति राग-द्वेष-दोष-प्रसूतिः, कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।

स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो, भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः॥ 27॥

हटाने और अनुकूल-कर्मों को जुटाने में करता है। लेकिन भिन्न-द्रव्य होने से उसमें इसका पुरुषार्थ नहीं चलता, और पर में हस्तक्षेप करने की अपनी इस कर्तृत्व-बुद्धि के कारण ही अज्ञानी-जीव निरन्तर-दुःखी होता रहता है।

(दोहा)

इहविधि जो विपरीत-पख, गहै-सहै कोइ।
 सो नर राग-विरोधसौं, कबहूँ भिन्न न होइ॥ 64॥
 सुगुरु कहै जग में रहै, पुगल-संग सदीव।
 सहज-सुद्ध-परिनामनिकौ, औसर लहै न जीव॥ 65॥
 तातैं चिदभावनि-विषै, समरथ चेतन-राउ।
 राग-विरोध मिथ्यातमैं, समकितमैं शिव-भाउ॥ 66॥

शब्दार्थ :— इहविधि= इसप्रकार, जो विपरीत-पख गहै सहै नर= जो जीव मिथ्या-पक्ष को ग्रहण करता है, और उसका श्रद्धान करता है, सो नर= वह मनुष्य, राग-विरोधसौं= राग-द्वेष से, कबहूँ भिन्न न होइ= कभी भिन्न/रहित नहीं होगा॥ 64॥

सुगुरु कहै= सच्चे गुरु कहते हैं, जग में रहै पुगल-संग सदीव= (यदि) संसार में पुद्गल हमेशा साथ रहता है (तो), सहज-सुद्ध-परिनामनिकौ= सहज-शुद्ध-परिणामों की प्राप्ति का, औसर लहै न जीव= अवसर जीव को कभी प्राप्त नहीं होगा॥ 65॥

तातैं चिदभावनि-विषै= इसलिये चैतन्य-भावों की उत्पत्ति में, समरथ चेतन-राउ= चेतन-राजा ही समर्थ है, राग-विरोध मिथ्यातमैं= राग-द्वेष मिथ्यात्व की दशा में (होते हैं और), समकितमैं शिव-भाउ= सम्यक्त्व की दशा में मोक्षरूप परिणाम (होते हैं)॥ 66॥

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में अज्ञानी-जीव ने कहा था कि राग-द्वेष के परिणाम पुद्गल-कर्मों के बल या जोर से होते हैं, अर्थात् जैसा कर्म का उदय होता है, वैसे ही मेरे परिणाम हो जाते हैं, अज्ञानी-जीव की इसी मान्यता को खंडित करने के लिये गुरुजी जो सम्यक्-उपदेश देते हैं, उसी का वर्णन कवि ने उपर्युक्त तीन-छंदों में किया है।

श्रीगुरु कहते हैं कि जो जीव ऐसा मानते हैं कि— "कर्म मुझे दुःख देते हैं, कर्म मेरा भला करते हैं, मैं अच्छे-कर्म करूँगा, तो सुखी हो जाऊँगा इत्यादि"— इस विपरीत-पक्ष को ग्रहणकर ऐसा श्रद्धान करते हैं, वे जीव वर्तमान में तो क्या, भविष्य में भी कभी राग-द्वेष या कर्म के बंधन के दुःख से मुक्त नहीं हो सकते हैं।

यदि कुछ समय के लिये मान भी लें कि पुद्गल-कर्म का संयोग जीव के साथ हमेशा रहे, तो क्या परेशानी है? लेकिन भाई! यदि ऐसा हुआ तो फिर तो जीव कभी सुखी हो ही नहीं सकता; क्योंकि कर्म का संयोग, फिर इष्ट-अनिष्टबुद्धि, फिर राग-द्वेष, फिर कर्म-बंधन और फिर कर्मोदय अर्थात् यदि यह सिलसिला ऐसे ही चलता रहेगा, तो जीव सुखी कब होगा? कब उसे अपने स्वरूप की महिमा आयेगी? कब वह अपने अनंत-गुणों से परिचित होगा? कभी नहीं। सुख का खजाना तो जीव स्वयं है, इसलिये यदि जीव सच्चे सुख की अनुभूति करना चाहता है, तो जीव को जड़-कर्मों से भेदज्ञान वर्तना ही चाहिए।

यदि जीव सच में संसार के दुःखों से छूटना चाहता है, तो इसमें उसकी स्वयं की सामर्थ्य ही

रागजन्मनि निमित्तां पर-द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।

उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोध-विधुरान्ध-बुद्धयः॥ 28॥

कार्यकारी है। क्योंकि अपने चैतन्य-भावों का कर्ता जीव स्वयं है, और स्वयं ही पुरुषार्थ करके अपने अनंत-गुणों को प्रगट कर सकता है। जबतक जीव अपने स्वरूप के ज्ञान से च्युत है और मोह-मिथ्यात्व में भ्रमित रहता है, तबतक जीव के अपने ही दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों की परिणतियाँ 'मिथ्या' नाम पाती हैं, और जिस क्षण जीव मोह-मिथ्यात्व को नष्टकर स्वरूप के सन्मुख होता है, तब जीव के वही दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुण की परिणतियाँ 'सम्यक्' नाम पाती हैं, और मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

(दोहा)

ज्यों दीपक रजनी-समै, चहुँ-दिसि करै उद्योत।
प्रगट घट-पट-रूप में, घट-पट-रूप न होत॥ 67॥
त्यों सुज्ञान जानै सकल, ज्ञेय-वस्तु को मर्म।
ज्ञेयाकृति-परिनवै पै, तजै न आतम-धर्म॥ 68॥

शब्दार्थ :- ज्यों दीपक रजनी-समै चहुँ-दिसि करै उद्योत= जैसे दीपक रात्रि के समय चारों तरफ उजाला करता है, प्रगट घट-पट-रूप में घट-पट-रूप न होत= घड़ा, वस्त्र आदि को प्रकाशित करता है, परन्तु घट-पटादिरूप नहीं होता, त्यों सुज्ञान जानै सकल ज्ञेय-वस्तु को मर्म= उसीप्रकार ज्ञान समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानता है, ज्ञेयाकृति परिनवै पै तजै न आतम-धर्म= ज्ञेयाकाररूप परिणमन भी करता है, लेकिन फिर भी अपने आत्मिक-स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

विशेषार्थ :- कवि ने इन दोनों छंदों में एक सटीक-उदाहरण के माध्यम से ज्ञान की महिमा को वर्णित किया है। जिसप्रकार रात्रि के घने-अंधकार में एक दीपक का प्रकाश भी घट-पट अर्थात् अपने चारों ओर के पदार्थों को प्रकाशित तो करता है; परन्तु वह स्वयं कभी घट-पट रूप परिणमित नहीं होता है, उसीप्रकार ज्ञान भी मिथ्यात्व के घोर-अंधकार में भी अपने स्वभाव अनुसार अपने चारों ओर के पदार्थों को, उनके मर्म को सहज प्रकाशित करता, ज्ञेयाकाररूप परिणमन भी करता है, पर कभी उन पदार्थोंरूप नहीं होता।

क्योंकि वास्तव में देखा जाये, तो दीपक तो अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं प्रकाशित होता है, और उसके प्रकाश में जगत् के पदार्थ भी स्वयं सहज-प्रकाशित होते हैं, इसलिए दीपक का उन पदार्थोंरूप होने का सवाल ही नहीं, ठीक उसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव भी जानना है, और उसके जानन-स्वभावरूप प्रवर्तन करने में जगत् के पदार्थ भी स्वयं सहज-प्रकाशित होते हैं, तो ज्ञान का उन पदार्थोंरूप होने का सवाल ही नहीं है। कहने का अभिप्राय यही है कि जाननरूप-प्रवर्तन करते समय न तो ज्ञान कभी अपने स्वभाव को छोड़ता है, और न कभी वह उन पदार्थों-रूप होता है।

(दोहा)

ग्यानधर्म अविचल सदा, गहै विकार न कोइ।
राग-विरोध-विमोहमय, कबहुँ भूलि न होइ॥ 69॥
ऐसी महिमा ज्ञान की, निहचै है घट-माँहि।
मूरख मिथ्याद्रिष्टिसौ, सहज विलोकै नाँहि॥ 70॥

पूर्णैकाच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा बोधा न बोध्यादयं, यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।

तद्वस्तु-स्थिति-बोध-वञ्च्यधिषणा एते किमज्ञानिनो, राग-द्वेषमयी भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥ 29॥

शब्दार्थ :— ग्यानधर्म अविचल सदा गहै विकार न कोइ= ज्ञान स्वभाव से सदा अचल/शुद्ध होता है, कभी किसी विकार को ग्रहण नहीं करता है, राग-विरोध-विमोहमय कबहूँ भूलि न होइ= राग-द्वेष-मोहादि से युक्त होने पर भी कभी भूल से भी (विकार-युक्त) नहीं होता है, ऐसी महिमा ज्ञान की निहचै है घटमाँहि= निश्चय से अंतरंग में ज्ञान की ऐसी महिमा है, मूरख मिथ्याद्रिष्टिसौँ सहज विलोकै नांहि= मूर्ख-जीव विपरीत-श्रद्धान होने के कारण सहज ही यह देख ही नहीं पाता है।

विशेषार्थ :— ज्ञान का जानन-स्वभाव अचल है अर्थात् हमेशा एकसमान रहता है; किसी भी पर्याय में, किसी भी परिस्थिति में एकसमय के लिये भी नहीं छूटता, और न ही कभी विकार-युक्त होता है। यहाँ तक कि भूल से भी कभी मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित नहीं होता है, अर्थात् विकार ज्ञान-स्वभाव में कभी प्रवेश ही नहीं करते हैं। मेरे आत्मिकज्ञान की ऐसी अचिंत्य-महिमा है, ऐसा परिपूर्ण-शुद्ध अनंतज्ञान का धारी भगवान् आत्मा अंतरंग में विराजमान है; लेकिन मूर्ख-जीव/मिथ्या-दृष्टि जीव मोह और अज्ञानवश उसे देखता ही नहीं, अर्थात् अनुभव में आते हुये भी उसे स्वीकार नहीं करता।

(दोहा)

पर-सुभावमैं मगन ह्वै, ठानै राग-विरोध।
धरै परिग्रह-धारना, करै न आतम-शोध॥ 71॥

शब्दार्थ :— पर-सुभावमैं मगन ह्वै= पर-स्वभाव में लीन होकर, ठानै राग-विरोध= राग-द्वेष करते हैं, धरै परिग्रह-धारना= परिग्रह की इच्छा रखते हैं, करै न आतम-शोध= आत्मा की खोज नहीं करते।

विशेषार्थ :— अज्ञानी-जीव क्या सोचता है? क्या करता है?— इस-छंद में कवि ने इसी का वर्णन किया है। अज्ञानी-जीव ने अनादिकाल से कर्मों का संयोग होने से निज-स्वरूप को तो कभी देखा ही नहीं, पर-पदार्थों में ही रचा-पचा रहा। आज भी वह पर-पदार्थों और संयोगों को जुटाने-हटाने में व्यस्त ही नहीं, त्रस्त भी है और अभ्यस्त भी है; अर्थात् इन सबके जुटाने में दुःखी होने पर भी वह उस दुःख को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं है; बल्कि उसी में सुख मानकर संतुष्ट है।

उनमें राग-द्वेष, बैर-विरोध कर नित नवीन-कर्म बाँधता रहता है। दिन-रात परिग्रह की वांक्षा अर्थात् भोगों की लालसा रखता है। कैसी विडम्बना है कि जिनके पास परिग्रह नहीं है, वे जुटाने में व्यस्त हैं, और जिनके पास है, वे उड़ाने में व्यस्त हैं। इतने व्यस्त हैं कि एक क्षण के लिये भी ये विचार नहीं आता कि 'मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाना है?' यहाँ तक कि आचार्यों के समझाने पर भी मानने को तैयार नहीं है। यह अज्ञान की पराकाष्ठा ही तो है।

(चौपाई)

मूरख के घर दुरमति भासी, पंडित हियें सुमति परगासी।
दुरमति-कुबिजा करम कमावे, सुमति-राधिका राम रमावै॥ 72॥

(दोहा)

कुबिजा कारी-कूबरी, करै जगत में खेद।
अलख-अराधै राधिका, जानै निज-पर भेद॥ 73॥

शब्दार्थ :— मूरख के घर दुरमति भासी= मूर्ख के घर में दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है, पंडित हियें सुमति परगासी=

पंडित के हृदय में सुबुद्धि प्रकाशित होती है। **दुरमति-कुबिजा करम कमावे**= दुर्बुद्धि कुब्जा के समान मात्र कर्म कमाती है, **सुमति-राधिका राम रमावे**= सुबुद्धिरूपी-राधा आत्मराम में रमण कराती हैं॥ 72॥

कुबिजा कारी-कूबरी= कुबुद्धि काली और कूबड़ी के समान है, **करै जगत में खेद**= संसार में खेद उत्पन्न कराती है, **अलख-अराधै राधिका**= जबकि सुबुद्धी राधिका के समान, **जानै निज-पर भेद**= स्व और पर के भेद को जानती है॥ 73॥

विशेषार्थ :- कुबुद्धि/कुमति और सुबुद्धि/सुमति का स्वामी कौन है? और उनका क्या स्वरूप है? इसका वर्णन कवि ने इन-छंदों में किया है।

कविवर कहते हैं कि कुबुद्धि/कुमति का स्वामी मूर्ख अर्थात् मिथ्यादृष्टि-जीव है, और सुबुद्धि/सुमति का स्वामी पंडित अर्थात् सम्यग्दृष्टि-जीव है। दुर्बुद्धि कुब्जा के समान है, जो निरन्तर नवीन-कर्म का बंध कराती है, अर्थात् जैसे कुब्जा यानि चरित्रहीन दासी/नारी जो निरन्तर पर-पुरुष के साथ प्यार का नाटक कर जीवों को अपने वश में करती है और पापरूप प्रवर्तन करती है। उसीप्रकार 'कुबुद्धि' अर्थात् जो बुद्धि पर में रमें, वह कुब्जा के समान है, जो भोले-जीवों को विपरीत-प्रवर्तन कराके संसार में भटकाती है।

जबकि सुमति/सम्यग्ज्ञान राधा शीलवन्ती-नारी के समान आत्मा में रमण कराती है। जैसे शीलवन्ती-नारी पर-पुरुष से सदा विरक्त मात्र स्व-पुरुष अर्थात् स्वविवाहित-पुरुष से ही प्यार करती है; उसीप्रकार जो बुद्धि पर से भिन्न अपने स्वरूप के सन्मुख होती है, वह शीलवन्ती-नारी के समान है और अपने आत्मस्वरूप में रमती है।

कुमति/कुबुद्धिरूपी कुब्जा काली-कूबड़ी अर्थात् बदसूरत कही गयी है। जैसे कुब्जा को काला बदसूरत माना गया है, उसीप्रकार कुबुद्धि मिथ्यात्व के घोर-अंधकार में पली होने से काली और बदसूरत अर्थात् शिष्टजनों से तिरस्करणीय होती है। इसीलिए जगत् में खेद उपजाती है अर्थात् स्वयं भी दुःखी रहती है और जगत् के जीवों को भी संतप्त करती है।

जबकि सुमतिरूपी राधा अपने स्वरूप की आराधना करती है, स्व-पर में भेदज्ञान करती है, जिससे स्वयं भी सुख का अनुभव करती है, और जगत् के जीवों को भी सुख-प्राप्ति में निमित्त बनती है।

(सवैया इकतीसा)

कुटिल-कुरूप-अंग लगी है पराये-संग, अपुनो प्रवांन करि आपुही बिकाई है।

गहै गति-अंधकीसी सकति कबंध-कीसी, बंध कौ बढ़ाऊ करै धंध हीमैं धाई है॥

रांड की-सी रीत लिये मांड की-सी मतवारी, सांड ज्यों सुछंद डोलै भांड की-सी जाई है।

घर कौ न जानै भेद करै पराधीन खेद, यातैं दुरबुद्धि-दासी-कुबजा कहाई है॥ 74॥

शब्दार्थ :- कुटिल कुरूप-अंग लगी है पराये-संग= कपटी, बदसूरत, पर-पुरुष के साथ रहती है, अपुनो प्रवांन करि आपुही बिकाई है= अपना मोल स्वयं लगाकर स्वयं ही बिकती हैं, गहै गति अंध-कीसी= अंधों के समान स्थिति ग्रहण करती है, सकति कबंध-कीसी= शक्ति कबंध के समान है, बंध कौ बढ़ाऊ= बंध को बढ़ानेवाली है, करै धंध ही मैं धाई है= सांसारिक-कार्य/उपद्रव करने के लिये ही दौड़ती/सक्रिय रहती है, रांड-कीसी रीत लिये= विधवा/चरित्रहीन-नारी की तरह चालचलन करती है, मांड-कीसी मतवारी= शराबी की तरह मतवाली, सांड-ज्यों सुछंद डोलै= साँड की तरह स्वच्छंद डोलती है, भांड-कीसी जाई है= भांड की संतान की तरह उत्पन्न हुई है, घर कौ न जानै भेद= घर का मर्म नहीं जानती, करै पराधीन खेद= पराधीन रहकर दुःखी रहती है, यातैं दुरबुद्धि= इसीलिए दुर्बुद्धि को, दासी-कुबजा कहाई है= कुब्जा-दासी कहा गया है।

विशेषार्थ :- पिछले-छंद में कवि ने दुर्बुद्धि या कुबुद्धि को 'कुब्जा' नाम दिया था, इस-छंद में कवि ने सिद्ध किया है कि दुर्बुद्धि को कुब्जा-दासी क्यों कहा ?

('कुब्जा' कंस की दासी थी, उसका शरीर बदसूरत और स्वभाव कपटी था। श्रीकृष्ण राधा से अलग होकर एक बार उसके चंगुल में फँस गये थे। फिर बाद में राधा के प्रयास से सन्मार्ग पर आये।) कवि ने लोक में प्रचलित इस कथानक को यहाँ उदाहरण के रूप में प्रयोग किया है, और दुर्बुद्धि को कुब्जा-दासी के समान सिद्ध किया।

जिसप्रकार कुब्जा कुटिल अर्थात् छल-कपट स्वभाववाली थी, उसीप्रकार कुबुद्धि भी छल-कपट का ही दूसरा नाम है; क्योंकि जो बुद्धि अपने निज-स्वभाव को छोड़कर पर में रमे, उससे बड़ा छली कोई और नहीं। जैसे कुब्जा कुरूप अर्थात् रूपहीन थी, ठीक उसीप्रकार कुबुद्धि भी विकृत-परिणाम होने से रूपहीन है; क्योंकि सबसे सुंदर-रूप तो निज-आत्मा का ही है। जैसे कुब्जा पर-पुरुष से स्नेह रखती है, ठीक उसीप्रकार कुबुद्धि भी स्व-आत्मा को छोड़कर पर-पदार्थों में ही रमण करती है, इसलिए व्यभिचारिणी/वेश्या के समान है। जैसे कुब्जा या चरित्रहीन-नारी अपनी कीमत स्वयं लगाकर स्वयं ही पर-पुरुष के हाथों बिक जाती है, ठीक उसीप्रकार कुबुद्धि भी स्वयं अपनी स्वेच्छा से ही पर-पदार्थों या कहें विषय-भोगों में रमती है; क्योंकि विषय-भोग तो जड़ है, वे नहीं कहते कि "हमें भोगो"; हम स्वयं ही उनकी ओर आकर्षित होते हैं, और फिर उनमें रमते ही चले जाते हैं।

कुब्जा और कुबुद्धि दोनों की दशा अंधे-व्यक्ति के समान है, जैसे अंधे-व्यक्ति को कुरूप-सुरूप, भला-बुरा कुछ दिखाई नहीं देता; ठीक उसीप्रकार कुब्जा और कुबुद्धि को भी अपना हित-अहित, भला-बुरा कुछ दिखाई नहीं देता है। अर्थात् ये विषय-भोग बाद में तो क्या, भोग के काल में भी दुःखदायी है, नीच-गति में ले जानेवाले हैं— सब जानकर भी हम उन्हीं में रमे रहते हैं। कुब्जा और कुबुद्धि — दोनों की ही शक्ति 'कबंध' के समान है। कबंध भी एक पौराणिक कथानक का राक्षस-पात्र था, जो बहुत बलशाली था; उसको बल के प्रतीक-रूप में कवि ने यहाँ प्रयोग किया है। जैसे कुब्जा पर-पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करने में अत्यधिक-प्रबल है, अर्थात् एकबार उसके जाल में फँसने के बाद वह पुरुष बाहर नहीं निकल पाता। ठीक उसीप्रकार कुबुद्धि पर-पदार्थों में अहंबुद्धि करने में अत्यधिक-बलशाली है, क्योंकि पर में आसक्त पुरुष भवों-भवों तक उसके चंगुल से बाहर नहीं निकल पाता। कुब्जा पापरूप-आचरण करने और कुबुद्धि मिथ्यामार्ग का अनुसरण करने से, दोनों ही संसार अर्थात् कर्म-बंधन को बढ़ानेवाली है। दोनों की ही प्रवृत्ति उपद्रवों अर्थात् तीव्र-कषाय की ओर ही दौड़ती है, क्योंकि मंदकषायी-जीव तो आसानी से इनकी ओर आकृष्ट नहीं होता।

कुब्जा और कुबुद्धि दोनों के लिए कवि ने यहाँ लोकभाषा में प्रचलित 'रांड' शब्द का प्रयोग किया है। 'रांड' यानि वह स्त्री जो पति से विरक्त और पर-पुरुष से अति-आसक्त रहती है। कुब्जा भी अपने पति की ओर कभी नहीं देखती, ठीक उसीप्रकार कुबुद्धि भी निजात्मारूपी-पति की ओर कभी नहीं देखती, पर सन्मुख ही रहती है, इसलिये दोनों के लिये प्रयुक्त 'रांड' शब्द सार्थक है। दोनों ही 'मांड' यानि शराब की तरह मतवाली हैं; जैसे शराब के नशे में व्यक्ति पागलवत् हो जाता है, ठीक उसीप्रकार पर-पुरुष और दौलत के नशे में कुब्जा, तथा मोहवश भोगों में अति-आसक्ति के नशे में कुबुद्धि भी शराबी की तरह भ्रमित रहती है। जैसे लोक में गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली सभी जानवरों को वश में या कहें बाँधकर रखा जाता है, परन्तु साँड स्वच्छंदी होता है; उसे कोई बाँधकर नहीं रखता वो खुला घूमता है। वैसे ही कुब्जा के तो घर-परिवार आदि का ठिकाना ही नहीं होता, तो अंकुश लगने का तो सवाल ही नहीं, और कुबुद्धि के

रहते अज्ञानी-जीव भी भक्ष्य-अभक्ष्य, व्रत-नियम-संयम, पूजा-पाठ आदि किसी भी प्रकार के बंधन में नहीं रहता, स्वच्छंदी की तरह ही प्रवर्तन करता है; इसलिए कवि ने दोनों को साँड की तरह 'स्वच्छंदी' कहा है। दोनों ही भांड (विभिन्नप्रकार के स्वाँग रखकर लोगों को लुभानेवाले) की संतान के समान निर्लज्ज यानि लज्जा-विहीन हैं।

दोनों ही घर के भेद अर्थात् स्थिति से अनभिज्ञ रहती है, कुब्जा के तो घर का ही ठिकाना नहीं रहता, तो भेद कैसे जानेगी, उसीप्रकार कुबुद्धि भी आत्मा के मर्म/स्वरूप को नहीं जानती, क्योंकि जब तक कुबुद्धि का जोर रहता है, तब तक जीव स्वरूप की ओर उन्मुख भी नहीं होता। दोनों ही पराधीन और दुःखी हैं, कुब्जा पर-पुरुष के कब्जे में रहती है, और कुबुद्धि आठ-कर्मों के आधीन रहती है, सो दोनों ही निरन्तर दुःखी रहती है। कुब्जा और कुबुद्धि में उपर्युक्त वर्णित इतनी समानता होने से ही कुबुद्धि को कवि ने कुब्जा-दासी का नाम दिया है।

(सवैया इकतीसा)

रूपकी रसीली भ्रम-कुलफ की कीली सील, सुधा के समुद्र झीली, सीली सुखदाई है।

प्राची ग्यान-भान की, अजाची है निदान की, सुराची-निरवाची, ठौर साची ठकुराई है॥

धाम की खबरदारि, राम की रमनहारि, राधा रस-पंथनि के, ग्रंथनि में गाई है।

संतन की मानी निरबानी नूर की निशानी, यातैं सद्बुद्धि रानी-राधिका कहाई है॥ 75॥

शब्दार्थ :- रूपकी रसीली= सरस-रूपवती, भ्रम-कुलफ की कीली सील= भ्रमरूपी-ताले को खोलने की चाबी है, सुधा के समुद्र झीली= अमृत के समुद्र में स्नान की हुई, सीली सुखदाई है= शीतल और सुख देनेवाली है, प्राची ग्यान-भान की= ज्ञानरूपी-सूर्य को उदय करने में पूर्व-दिशा के समान है, अजाची है निदान की= आगामी-काल में भोगों की याचक अर्थात् माँगनेवाली नहीं है, सुराची निरवाची= महिमा वचन-अगोचर है, ठौर साँची-ठकुराई है= अपने स्थान का सच्चा-स्वामित्वपना है, धाम की खबरदारि= घर की खबर रखनेवाली, राम की रमनहारि= राम में रमण करानेवाली, राधा रस-पंथनि के ग्रंथि में गाई है= राधा का सुयश रस-शास्त्रों में बखाना गया है, संतन की मानी= साधुओं के द्वारा आदरणीय, निरबानी नूर की निशानी= अनिर्वचनीय-सौंदर्य की प्रतीक, यातैं सद्बुद्धि रानी= इसलिए सुबुद्धिरानी को, राधिका कहाई है= राधिका कहा गया है।

विशेषार्थ :- छंद नं 72-73 में कवि ने 'सुबुद्धि' को 'राधिका' नाम दिया था। लेकिन 'सुबुद्धि' को 'राधिका' क्यों कहा?— इसका स्पष्टीकरण इस-छंद में किया गया है।

(राधिका यानि श्रीकृष्ण की प्रिया, जिसने जीवनभर एकमात्र श्रीकृष्ण को ही पति के रूप में स्वीकार किया, स्वप्न में भी अन्य-पुरुष की ओर नहीं देखा। ऐसी शीलवंती-नारी को कवि ने यहाँ उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया है।)

जैसे राधिका रूप की धनी थी, उसीप्रकार सुबुद्धि जीव का स्वाभाविक-परिणमन होने से सर्वांग-सुन्दर है अथवा चैतन्य के अनुपम-रूप की धनी हैं। जैसे राधिका व्यवहार में सरस थी, उसीप्रकार छल-कपट से रहित होने के कारण सुबुद्धि भी सरस है। लोक में कहावत है 'जिसके घर कुलीन-नारी का वास होता है, उसके घर पुण्य स्वतः ही फलीभूत होता है, घर में ताले लगाने की आवश्यकता ही नहीं रहती'। राधिका भी कुलीन होने से श्रीकृष्ण के लिये सर्व-संपन्नता की चाबी थी अर्थात् हरप्रकार से शुभ थी, इसीप्रकार सुबुद्धि भी अनादि के भ्रमजनित मोह-मिथ्यात्व का ताला खोलने की चाबी है, अर्थात् सुबुद्धि के आते ही मिथ्यात्व स्वतः ही भाग जाता है। सुबुद्धि और राधिका दोनों ही शील के समुद्र में सर्व विशुद्धि-द्वार

स्नान की हुई है, अर्थात् राधिका एकमात्र श्रीकृष्ण के साथ, और सुबुद्धि एकमात्र अपने ज्ञायक-स्वभाव के साथ रहने से दोनों ही शील की धनी हैं। इसीलिए दोनों ही शीतलता/शांत-स्वभावी और सुख को देनेवाली हैं।

जैसे पूर्व-दिशा से सूर्य का उदय होता है, जो संपूर्ण-लोक को प्रकाशित करता है; ठीक उसीप्रकार सुबुद्धि और राधिका दोनों ही ज्ञानरूपी-सूर्य का उदय करने में पूर्व-दिशा के समान है, अर्थात् सुबुद्धि के उदय होते ही सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। जैसे राधिका सर्व-समृद्धि से संपन्न होने के कारण उसे आगामी-काल में विषय-भोगों की चाह नहीं थी, ठीक उसीप्रकार सुबुद्धि के कारण ज्ञान का प्रकाश होने से पहले ही वर्तमान में भोगों की लालसा पर विराम लग जाता है, सो आगामी-काल में स्वतः ही भोगों की वांक्षा-संबंधी याचना से रहित होती है। दोनों की महानता अनिर्वचनीय है अर्थात् उनकी श्रेष्ठता का वर्णन करना संभव नहीं है। जैसे राधिका अपने घर की स्वामी है, ठीक उसीप्रकार सुबुद्धि का भी निजात्मारूपी-गृह पर सच्चा-स्वामित्व है।

दोनों ही कुलीन होने से अपने-अपने घर की खबर रखती है, अर्थात् सुबुद्धि निजात्मा का ही ध्यान करती है। राधिका अपने पति श्रीकृष्ण में और सुबुद्धि अपने आतमराम में रमण करती है। इसीलिए रस-शास्त्रों या शृंगारपरक-साहित्य में राधा की कुलीनता, शील, और सरस व्यवहार की महिमा वर्णित है, उसीप्रकार अध्यात्म-ग्रंथों में सुबुद्धि का प्रताप अर्थात् आत्मिक-वैभव और अनंत-गुणों की महिमा वर्णित है। जैसे राधिका संतों के द्वारा आदरणीय है, उसीप्रकार सुबुद्धि ज्ञानियों के द्वारा चिंतनीय और मननीय है। दोनों ही किसी भी प्रकार के क्षोभ से रहित गंभीर हैं, दोनों ही कांतिवती हैं, सौंदर्य की मूरत हैं।

उपर्युक्त-वर्णित इतनी समानता होने के कारण ही कवि ने 'सुबुद्धि' को 'राधिका-रानी' कहा है।

(दोहा)

वह कुब्जिजा, वह राधिका, दोऊ गति-मतिवानि।

वह अधिकारिन करम की, यह विवेक की खानि॥ 76॥

शब्दार्थ :- वह कुब्जिजा, वह राधिका= एक कुब्जा है, एक राधिका है, दोऊ गति मतिवानि= दोनों में एक घुमानेवाली, दूसरी विवेकवती है, वह अधिकारिन करम की= वह कर्मबंधन के योग्य है, यह विवेक की खानि= यह (स्व-पर के) विवेक की खान है।

विशेषार्थ :- पिछले-छंदों में कवि ने 'कुबुद्धि' और 'सुबुद्धि' का स्वरूप और क्रमशः कुब्जा और राधिका से समानता का विस्तार से वर्णन किया, अब इन दोनों में क्या अंतर है? और इनका क्या फल है? = इसका वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

'कुबुद्धि' विपरीत-अभिप्रायवाली होने से कुब्जा के समान है, और 'सुबुद्धि' सम्यक्-अभिप्रायवाली होने से राधिका के समान है। इसीलिए कुबुद्धि का फल चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण है, जब कि सुबुद्धि बुद्धिमती और विवेकिनी है, हित-अहित, सही-गलत का सम्यक्-निर्णय करती है; इसलिए संसार-परिभ्रमण से छुटकारा दिलाती है। कुबुद्धि पर में अहंबुद्धि के कारण कर्म-बंधन की अधिकारिणी है, जब कि सुबुद्धि स्व-पर में भेदज्ञान करने और तद्रूप आचरण करने से कर्म-बंधन से छूटकर मोक्ष की अधिकारिणी है। कुबुद्धि अविवेक की और सुबुद्धि विवेक की खान है।

(दोहा)

दरब-करमपुगल-दसा, भाव-करममति-वक्र।

जो सुग्यानकौ परिनमन, सो विवेक गुरु-चक्र॥ 77॥

शब्दार्थ :— दरब-करम पुगल-दसा= द्रव्यकर्म पुद्गल की परिणति है, भाव-करम मति-वक्र= भावकर्म आत्मा का विभाव है, जो सुग्यानकौ परिनमन= जो सुज्ञान का परिणमन है, सो विवेक गुरु-चक्र= वह विवेक या ज्ञान का बड़ा-पुंज/समूह है।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में 'सुबुद्धि' को 'विवेक की खान' कहा था, तो प्रश्न उठता है कि ये 'विवेक' क्या है?— इसका वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

हे आत्मन्! द्रव्यकर्म अर्थात् ज्ञानावरणादि आठों-कर्म तो पुद्गल की स्थिति है, अर्थात् पुद्गल के परमाणु हैं, जो कर्मरूप परिणमित हुये हैं। और मोह-राग-द्वेष आदि परिणाम हैं, वे भावकर्म हैं; वे भी आत्मा के गुणों का स्वभावरूप-परिणमन नहीं, विभावरूप-परिणमन है। और इन दोनों से सर्वथा-भिन्न, मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ, ऐसी स्वयं की सिद्धि करनेवाला, और इन विकारों की भी सिद्धि करनेवाला जो सुज्ञान का जाननरूप-परिणमन है, वही 'विवेक' है, ज्ञान का पुंज या समूह है।

(कवित्त)

जैसे नर खिलार चौपरि कौ, लाभ विचारि करै चित-चाउ।

धरै संवारि सारि बुधि-बलसौं, पासा जो कछु परै सु दाउ॥

तैंसैं जगत्-जीव स्वारथकौ, करि उद्दिम चिंतवै उपाउ।

लिख्यौ ललाट होई सोई फल, करम-चक्रकौ यही सुभाऊ॥ 78॥

शब्दार्थ :— जैसे नर खिलार चौपरि कौ= जैसे कोई चौपड़ खेलनेवाला/खिलाड़ी मनुष्य, लाभ विचारि करै= लाभ/धनार्जन का विचार करके, चितचाउ धरै संवारि सारि= बड़ी लगन से/मनोयोग से गोटी को संभालकर जमाता है, बुधिबलसौं= बुद्धि के जोर से, पासा जो कछु परै सु दाउ= लेकिन दाव तो पाँसे के आधीन है, तैंसैं जगत्-जीव= वैसे ही जगत् के जीव, स्वारथकौ करि उद्दिम चिंतवै उपाय= अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उपाय सोचते हैं, लिख्यौ ललाट होई सोई फल= भाग्य में जो लिखा है, फल वही होगा, करम-चक्रकौ यही सुभाऊ= कर्म-चक्र का यही स्वभाव है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उस समय का बहुप्रचलित खेल 'चौपड़' के माध्यम से 'कर्म के उदय में जीव का पुरुषार्थ नहीं चलता' इसका सुंदर-स्पष्टीकरण किया है।

चौपड़ का खेल (जिसकी वजह से महाभारत का युद्ध हुआ) खेलने-वाले खिलाड़ी धन-प्राप्ति की इच्छा से बड़े चाव से बहुत सोच-समझकर गोटियाँ जमाते हैं, साथ ही खेलनेवाले खिलाड़ियों के दाव-पेंच को भी ध्यान में रखते हैं, और जीतने के लिये हरसंभव प्रयत्न करते हैं; लेकिन इतना पुरुषार्थ करने पर भी खेल का रुख तो पासे पड़ने पर ही निर्भर करता है, अर्थात् पासा फेंकने पर जिसका जो नं. आता है, उसी के आधार पर हार-जीत का निर्णय होता है।

उसीप्रकार जगत् के जीव अपना स्वार्थ अर्थात् प्रयोजन साधने के लिए दिन-रात पुरुषार्थ करते हैं। प्रत्येक जीव ये चाहता है कि हर कार्य या परिणमन मेरी सुविधा के अनुसार हो; मैं जो भी चाहूँ, वह मुझे प्राप्त हो; मुझे और मेरे परिवार को कोई कष्ट न हो, मेरा हर उद्देश्य पूरा हो, इसके लिये वह हरसंभव

प्रयास करता है, तरह-तरह के उपाय सोचता है; लेकिन होता वही है, जो उसके ललाट या भाग्य में लिखा होता है।

भाग्य यानि क्या ? 'भाग्य' से तात्पर्य 'वर्तमान में स्वयं के द्वारा किये जानेवाले परिणामों का फल आगामीकाल में प्राप्त होना'— ऐसा कर्मफल-सिद्धांत यहाँ 'भाग्य' शब्द से लक्षित है। अर्थात् हम जैसे भाव करते हैं, फल भी उसी अनुसार प्राप्त होता है। एकबार उदय में आने के बाद हम उसमें फेरबदल नहीं कर सकते, अर्थात् उदय में आनेवाला कर्म फल देकर ही जाता है। इसीलिए 'हे आत्मन्! वर्तमान के परिणाम को संभालो, क्योंकि आगामी-काल में यही बीजरूप-परिणाम वृक्ष बनकर फलीभूत होंगे। जैसा बोयेंगे, वैसा ही फल हम पायेंगे; क्योंकि कर्मचक्र का यही स्वभाव है।

(कवित्त)

जैसे नर खिलार-सतरंज कौ, समुझै सब सतरंजकी घात।
चलै चाल निरखै दोऊ-दल, मौहरा गिनै विचार मात॥
तैसें साधु निपुन-सिवपथ मैं, लच्छन-लखै तजै-उतपात।
साधै-गुण चिंतवै-अभयपद, यह सुविवेक-चक्रकी बात॥ 79॥

शब्दार्थ :— जैसे नर खिलार-सतरंज कौ= जैसे कोई शतरंज का खिलाड़ी मनुष्य, समुझै सब सतरंजकी घात= शतरंज के सभी दाँव-पेंच को समझता हो, चलै चाल निरखै दोऊ-दल= दोनों दलों पर नजर रखता हुआ चाल चलता है मौहरा गिनै विचार मात= हाथी, घोड़ा आदि मोहरों को गिनता हुआ, मात/हराने की सोचकर। तैसें साधु निपुन-सिवपथ मैं= उसीप्रकार मोक्षमार्ग में निपुण साधु, लच्छन-लखै तजै-उतपात= लक्षणों को देखकर, उपद्रव/बाधक-कारणों को छोड़कर, साधै-गुण चिंतवै-अभयपद= गुणों को ग्रहणकर, भयरहित-आत्मपद का चिंतन करता है, यह सुविवेक-चक्रकी बात= यह विवेक-चक्र यानि सुज्ञान-परिणति की बात है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में शतरंज अर्थात् एक ऐसा खेल जो आज भी बहुप्रचलित है, उसके माध्यम से कवि ने विवेक-चक्र/ज्ञान-चक्र अर्थात् ज्ञानी-जीव की परिणति का सुंदरता से चित्रण किया है। ऐसा नहीं है कि कर्म का उदय ज्ञानी-जीवों को नहीं आता, उनको भी आता है; लेकिन फिर भी वे इतने सहज और शांत कैसे रहते हैं? —यह शिक्षा भी हमें इस-छंद से मिलती है।

(शतरंज का खेल दो खिलाड़ियों के बीच होता है। इस खेल में पासा नहीं होता, ये दिमाग का खेल है, सामनेवाले के मोहरे हमारे सामने होते हैं, यदि हम खेल के अच्छे अनुभवी हैं, तो सामनेवाले की चाल का अंदाजा लगाना बहुत आसान होता है। फिर हम उसी हिसाब से अपनी चाल चलते हैं, और अपने राजा को बचा लेते हैं अर्थात् जीत हमारे हाथ में होती है।)

जैसे कोई शतरंज का निपुण-खिलाड़ी, शतरंज के सभी दाँव-पेंच समझकर अर्थात् किस चाल से मुझे शह देना अर्थात् घेरना है, और किस चाल से मुझे मात अर्थात् हार मिल सकती है?— ऐसा विचार करके, दोनों दलों अर्थात् अपनी व सामनेवाले की चाल को ध्यान में रखकर ही अपनी चाल चलता है। बीच-बीच में मोहरों को भी गिनता रहता है अर्थात् कौन-सा मोहरा हाथी, घोड़ा, प्यादा आदि कौन कितने घर चलेगा?— यह भी ध्यान रखता है। कहने का अभिप्राय यही है कि अपनी शह बचाना और सामनेवाले को मात कैसे देनी है?— ऐसा विचार करके ही खेल खेलता है।

ठीक उसीप्रकार जो मोक्षमार्ग में निपुण हैं, अर्थात् जो सम्यग्दर्शन प्राप्तकर मोक्ष की राह पर अग्रसर हैं, कर्मादय का संयोग तो उन जीवों के साथ भी विद्यमान रहता है, लेकिन जैसे शतरंज का खिलाड़ी

प्रतिसमय सजग रहता है, उसीप्रकार ज्ञानी-जीव भी अपने स्वरूप की साधना करते हुये हमेशा सजग रहते हैं। जैसे शतरंज का खिलाड़ी सामनेवाले की चाल की मार से स्वयं को बचाता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव साधना में बाधक-कारणों से स्वयं को बचाते हैं। जैसे खिलाड़ी मोहरों को गिनता है, वैसे ही ज्ञानी-जीव तप के द्वारा अपने गुणों को साधते हैं। जैसे खिलाड़ी को प्रतिसमय अपने राजा का ध्यान रहता है; ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव निरन्तर अपने अभयपद अर्थात् भयरहित आत्मपद का चिंतन करते हैं। जैसे शतरंज का खिलाड़ी सामनेवाले की चाल में फेरबदल नहीं कर सकता, वह तो उसकी चाल को समझकर अपनी चाल चलता है। उसीप्रकार ज्ञानी-जीव, अज्ञानी की तरह कर्म के उदय में फेरबदल नहीं करते हैं, बल्कि उस विपरीतता में भी अपने परिणामों की संभाल कैसे करें? ऐसा पुरुषार्थ करते हैं, अर्थात् स्वरूप की साधना में मग्न हो जाते हैं। और इस बीच कर्म का उदय स्वयं ही सहजता से ज्ञानी-जीव को प्रभावित किये बिना निर्जरा को प्राप्त होता है- यही विवेक-अर्थात् ज्ञानी की सहज परिणति है।

(दोहा)

सतरंज खेले राधिका, कुब्जा खेले सारि।
याकै निस-दिन जीतकौ, बाकै निस-दिन हारि॥ 80॥
जाकै उर कुबिजा बसै, सोई अलख-अजान।
जाकै हृदय राधिका, सो बुध-सम्यग्ज्ञान॥ 81॥

शब्दार्थ :- सतरंज खेले राधिका= राधिका शतरंज खेलती है, कुब्जा खेले सारि= कुब्जा चौपड़ खेलती है, याकै निस-दिन जीतकौ= इसका रात-दिन जीत का, बाकै निस-दिन हारि= उसकी रात-दिन हार॥ 80॥

जाकै उर कुबिजा बसै= जिसके हृदय में कुब्जा रहती है, सोई अलख-अजान= वह अलक्ष्यी, अज्ञानी है, जाकै हृदय राधिका= जिसके हृदय में राधिका रहती है, सो बुध सम्यग्ज्ञान= वह ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी हैं॥ 81॥

विशेषार्थ :- पिछले-छंद में कवि ने 'सुबुद्धि' या 'विवेक' को 'राधिका' और 'कुबुद्धि' को 'कुब्जा' नाम दिया था। फिर राधिका की परिणति को शतरंज के माध्यम से और कुब्जा की परिणति को चौपड़ के माध्यम से स्पष्ट किया। जगत् में किसकी जीत और किसकी हार होती है?— इसका वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

कविवर आगे कहते हैं कि राधिका/सुबुद्धि हमेशा शतरंज का खेल खेलती है, अर्थात् भाग्य/कर्म के अनुसार नहीं स्वयं के आत्मबल से स्वभावरूप परिणामन करती है और हमेशा जीतती है। जबकि कुब्जा/कुबुद्धि चौपड़ का खेल खेलती है, अर्थात् पासा या भाग्य के अनुसार प्रवर्तन करती है, इसलिये प्रतिसमय हारती है।

इसीलिये जिसके हृदय में कुब्जा अर्थात् कुबुद्धि वास करती है, उसकी बुद्धि कर्म के अनुसार चलती है, अर्थात् जैसा उदय वैसा परिणामन, वे जीव अज्ञानी हैं; जगत् में उनकी हमेशा हार होती है, दुःखी रहते हैं, संसार में भटकते हैं। जबकि जिनके हृदय में राधिका अर्थात् सुबुद्धि का वास रहता है अर्थात् वे जीव कर्म के अनुसार नहीं, बल्कि स्वभाव के संबल से साम्यभावरूप-परिणामन करते हैं, इसलिये वे जीव सम्यग्ज्ञानी हैं; जगत् में हमेशा उनकी जीत होती है, वे प्रतिसमय सुखी रहते हैं, और संसार से मुक्त होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जहाँ सुद्ध-ग्यान की कला उदोत दीसै तहाँ, सुद्धता-प्रवांन सुद्ध-चारितकौ अंस है।
ता कारन ग्यानी सब जानै ज्ञेय-वस्तु-मर्म, वैराग-विलास धर्म वाकौ सरवंस है॥

राग-दोष-मोह की दसासौं भिन्न रहै यातैं, सर्वथा त्रिकाल कर्म-जाल कौं विधुंस है।

निरुपाधि आतम-समाधि में विराजै तातैं, कहिए प्रगट पूरन परम-हंस है॥ 82॥

शब्दार्थ :— जहाँ सुद्ध-ग्यान की कला उदोत दीसै= जहाँ शुद्ध-ज्ञान की कला का प्रकाश दिखता है, तहाँ सुद्धता-प्रवांन सुद्ध-चारितकौ अंस है= वहाँ शुद्धता के प्रमाण/अनुपात में शुद्ध-चारित्र का अंश प्रकट है, ता-कारन ग्यानी ज्ञेयवस्तु-मर्म सब जानै= इसकारण ज्ञानी-जीव ज्ञेय-वस्तुओं का सर्व-मर्म जान लेते है, वैराग-विलास धर्म वाकौ सरवंस है= वैराग्य का वैभवरूप धर्म/संयम ही उनका सर्वस्व है, राग-दोष-मोह की दसासौं भिन्न रहै= राग-द्वेष-मोह की परिणति से हमेशा भिन्न रहते हैं, यातैं सर्वथा त्रिकाल कर्म-जाल कौं विधुंस है= इसलिये पूर्णरूप से हमेशा कर्मों की निर्जरा होती है, निरुपाधि आतम-समाधि में विराजै= उपाधि-रहित आत्म-स्वरूप में विराजमान रहते हैं, तातैं कहिए प्रगट पूरन परम-हंस है= इसलिये प्रगट पूर्ण-परमात्मा कहते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'ज्ञान और वैराग्य की महिमा का सटीक और सुंदर-वर्णन किया है।

शुद्ध-ज्ञान अर्थात् वह ज्ञान, जो मात्र ज्ञायक को ही लक्ष्य करता है। ऐसे शुद्ध-ज्ञान की कला का प्रकाश जहाँ होता है, जहाँ स्व और पर में निरन्तर भेदज्ञान वर्तता है; वहाँ उस शुद्धता के अनुपात में शुद्ध-चारित्र भी विद्यमान रहता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ साथ सम्यक्चारित्र भी प्रकट होता है। जिससे ज्ञानी-जीव जगत् की समस्त-वस्तुओं के मर्म को जानते हैं क्या हेय है और क्या उपादेय है? — यह भलीभाँति जानते हैं। इसलिये जो उपादेय है उसको ग्रहण करते हैं, और जो हेय है उससे विरक्त होते हैं, उनका संपूर्ण-जीवन वैराग्यमय ही होता है।

मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों को कर्म-बंधन का कारण माना गया है, और ज्ञानी-जीव इन विकारों से सर्वथा-भिन्न रहते हैं, जिससे सदाकाल कर्मों का विनाश होता रहता है, अर्थात् नवीन-कर्मों का तो बंध नहीं होता, और उपयोग ज्ञायक-भगवान्-आत्मा पर केन्द्रित होने से सत्ता में विद्यमान-कर्मों की स्वतः निर्जरा होती रहती है। मोह, राग, द्वेष आदि औपाधिक-भावों से रहित आत्म-स्वरूप में स्थिर होने से उनको साक्षात् 'पूर्ण-परमात्मा' कहा जाता है।

(दोहा)

ग्यायक-भाव जहाँ तहाँ, सुद्ध-चरन की चाल।

तातैं ग्यान-विराग मिलि, सिव-साधै समकाल॥ 83॥

शब्दार्थ :— ग्यायक-भाव जहाँ= जहाँ ज्ञायकभाव है, तहाँ सुद्ध-चरन की चाल= वहाँ शुद्ध-चारित्र रहता है, तातैं ग्यान-विराग मिलि= इसलिए ज्ञान और वैराग्य मिलकर, सिव-साधै समकाल= एक ही समय में मोक्ष को साधते हैं।

विशेषार्थ :— कविवर कहते हैं कि जहाँ ज्ञायक-भाव अर्थात् एकमात्र स्वभावरूप-प्रवर्तन विद्यमान है, वहाँ नियम से अंशतः शुद्ध-चारित्र भी विद्यमान रहता है। और ये ज्ञान और वैराग्य दोनों मिलकर एक ही समय में अर्थात् एकसाथ मोक्षमार्ग को साधते हैं। क्योंकि न तो अकेला ज्ञान मोक्ष का कारण है और

राग-द्वेष-विभाव-मुक्त-महसो नित्यं स्वभाव-स्पृशः, पूर्वागामि-समस्त-कर्म-विकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।

दूरारूढ-चरित्र-वैभव-बलाच्चञ्चिदचिर्दर्मयी, विन्दन्ति स्व-रसाभिषिक्त-भुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम्॥ 30॥

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।

अज्ञान-संचेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥ 31॥

न अकेला चारित्र; दोनों मिलकर ही मोक्षमार्ग को साधते हैं, इसीलिए तो कहा गया है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र— तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। जहाँ ज्ञान सम्यक् होता है, वहाँ व्रत-जप-तपस्वरूप सभी परिणामों से कर्मों की निर्जरा होती है, और कर्मों का संपूर्ण-क्षय होने पर मोक्ष की स्वतः प्राप्ति होती है।

(दोहा)

जथा अंध के कंध पर, चढ़ै पंगु-नर कोइ।
वाके दृग वाके चरन, होंहि पथिक मिलि-दोइ॥ 84॥
जहाँग्यान-किरिया मिलै, तहाँ मोख-मग सोइ।
वह जानै पदकौ मरम, वह पदमैं थिर होइ॥ 85॥

शब्दार्थ :— जथा अंध के कंध पर= जैसे अंधे व्यक्ति के कंधे पर, चढ़ै पंगु नर कोइ= कोई लंगड़ा मनुष्य चढ़ा हो, वाके दृग वाके चरन= उस लंगड़े के नेत्र, और उस अंधे के पैर, होंहि पथिक मिलि दोइ= दोनों मिलकर राहगीर/राह पर चल सकते हैं॥ 84॥

जहाँ ग्यान-किरिया मिलै= जहाँ ज्ञान और क्रिया मिलते हैं, तहाँ मोख-मग सोइ= वहीं मोक्षमार्ग होता है, वह जानै पदकौ मरम= वह/ज्ञान आत्मपद के मर्म को जानता है, वह पदमैं थिर होइ= वह/चारित्र आत्मपद में स्थिर होता है॥ 85॥

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने स्पष्ट किया था कि ज्ञान और वैराग्य दोनों मिलकर ही मोक्षमार्ग को साधते हैं। अब इस-छंद में कवि ने उसी सिद्धांत को उदाहरण के माध्यम से सिद्ध किया है।

जैसे एक अंधा-व्यक्ति अकेला अपने आप रास्ता पार नहीं कर सकता, उसीप्रकार एक लंगड़ा-व्यक्ति भी अकेला अपने आप रास्ता पार नहीं कर सकता। लेकिन यदि वे दोनों मिल जायें, तो एकदूसरे के साथ मिलकर आसानी से रास्ता पार कर सकते हैं। अर्थात् लंगड़ा-व्यक्ति अंधे-व्यक्ति के कंधे पर बैठ जाये, तो उसके नेत्र यानि लंगड़ा-व्यक्ति रास्ता बताता जाये और उसके चरन यानि अंधा-व्यक्ति चलता जाये, तो रास्ता भी पार हो जायेगा और आसानी से भी पार होगा।

ठीक उसीप्रकार, न तो अकेले ज्ञान से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, और न अकेले क्रिया/चारित्र से। लेकिन यदि ये दोनों मिल जायें, अर्थात् ज्ञान-चारित्र परस्पर-पूरक हो जायें, तो ज्ञान मार्गदर्शन करता जाये और वैराग्य/चारित्र मोक्षमार्ग पर आगे चलता जाये; तब मोक्षमार्ग की डगर भी पार होगी और आसानी से भी पार होगी।

इसीलिए कवि ने कहा कि जहाँ ज्ञान और क्रिया/चारित्र दोनों मिलते हैं, वहीं से मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरा अधूरा है या कहें पंगु के समान है; क्योंकि ज्ञान आत्मा के मर्म को अर्थात् वास्तविक-स्वरूप को जानता है, और चारित्र से आत्मस्वरूप में स्थिरता होती है, अर्थात् इसप्रकार दोनों के मिलने से ही मोक्षमार्ग तय होता है। और जबतक दोनों का ऐसा सुयोग न मिले, तबतक मोक्षमार्ग की पूर्णता तीन-काल में भी संभव नहीं है।

(दोहा)

ग्यान जीव की सजगता, करम जीव की भूल।
ग्यान मोख-अंकुर है, करम जगत कौ मूल॥ 86॥
ग्यान-चेतना के जगे, प्रगटै केवलराम।
कर्म-चेतना में बसै, कर्मबंध परिनाम॥ 87॥

शब्दार्थ :— ग्यान जीव की सजगता= ज्ञान जीव की जागरुकता है, **कर्म जीव की भूल**= कर्म जीव की भूल है, **ग्यान मोक्ष अंकुर** है= ज्ञान मोक्ष का अंकुर/बीज है, **कर्म जगत कौ मूल**= कर्म जगत् का मूलकारण/जड़ है॥ 86॥

ग्यान-चेतना के जगे= ज्ञान-चेतना के जागृत होने पर, **प्रगटै केवलराम**= केवलज्ञान/शुद्धात्म-स्वरूप प्रगट होता है, **कर्म-चेतना में बसै**= कर्म-चेतना में गर्भित है, **कर्मबंध-परिणाम**= कर्मबंधन-योग्य परिणाम। ॥ 87॥

विशेषार्थ :— इन-छंदों में कवि ने 'ज्ञान-चेतना' और 'कर्म-चेतना' में अंतर को वर्णित किया है।

'ज्ञान-चेतना' जीव की जागरुकता है, अर्थात् स्वाभाविक- परिणामन है, जबकि 'कर्म-चेतना' अर्थात् पर में इष्ट-अनिष्टबुद्धि, जो जीव की भूल है। इसीलिए ज्ञान-चेतना मोक्षरूपी-वृक्ष का अंकुर अर्थात् बीज है, जो एकबार अंकुरित होने पर फलित अवश्य होगा। जबकि कर्म-चेतना जगत् में परिभ्रमण का मूल-कारण है, अर्थात् जड़ है, जबतक ये जड़ मौजूद रहेगी, तबतक संसाररूपी वृक्ष भी फलित होता रहेगा। इसलिए ज्ञान-चेतना उपादेय है, और कर्म-चेतना हेय है। ज्ञान-चेतना के जागृत होने पर जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जब कि कर्म-चेतना के रहने पर जीव को पुनः कर्म-बंधन के योग्य परिणामों की उत्पत्ति होती है।

चेतना का स्वरूप— स्वसंवेदन-गम्य अंतरंग- प्रकाश-स्वरूप भाव-विशेष को 'चेतना' कहते हैं। जो जीव का लक्षण है। चेतना के 2 भेद हैं— 1. शुद्धचेतना, 2. अशुद्धचेतना

शुद्ध चेतना— केवल जाननेरूप-भाव शुद्धचेतना है, अर्थात् पदार्थों को मात्र जानना, उनमें इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि न करना शुद्ध-चेतना है। जो ज्ञानी वीतरागी-जीवों को ही होती है। इसे ज्ञान-चेतना भी कहते हैं।

अशुद्ध-चेतना— जिसमें जाननक्रिया के साथ पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना और कर्ता-भोक्ता का भाव होता है, वो अशुद्ध-चेतना है। पर का संयोग होने से ये अशुद्ध है।

अशुद्ध-चेतना के भी 2 भेद हैं— 1. कर्म-चेतना, 2. कर्म-फलचेतना

कर्म-चेतना— पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक कर्ताबुद्धि से अहंकार-सहित प्रवर्तना, वह 'कर्म-चेतना' है। अर्थात् ज्ञान से भिन्न (भावों में) ऐसा अनुभव करना कि "इसे मैं करता हूँ", वह 'कर्म-चेतना' है।

'कर्मफल-चेतना'— जब इन्द्रियजन्य सुख-दुःख में तन्मय होकर "मैं सुखी-दुःखी"— ऐसा अनुभव करना सो कर्मफल-चेतना है। अर्थात् ज्ञान से भिन्न (भावों में) ऐसा अनुभव करना कि "इसे मैं भोगता हूँ", वह कर्मफल-चेतना है।

शुद्धचेतना जीव का सहज-स्वभाव होने से शुद्ध है और मुक्ति का कारण है। जबकि अशुद्ध-चेतना पर-लक्ष्यी-वृत्ति होने और आठ-कर्माँ के बंध की जनक होने से संसार का कारण है।

(चौपाई)

जब लग ग्यान-चेतना न्यारी, तब लग जीव विकल-संसारी।

जब घट ग्यान-चेतना जागी, तब समकिती सहज-वैरागी॥ 88॥

सिद्ध-समान रूप-निज जानै, पर संजोग-भाव परमानै।

सुद्धातम-अनुभौ अभ्यासै, त्रिविध-कर्मकी ममता नासै॥ 89॥

शब्दार्थ :- जब लग ग्यान-चेतना न्यारी= जबतक ज्ञान-चेतना भिन्न रहती है, तब लग जीव विकल-संसारी= तबतक जीव व्याकुल/दुःखी और संसारी रहता है, जब घट ग्यान-चेतना जागी= जब हृदय/अंतरंग में ज्ञान-चेतना जागृत होती है, तब समकित्ती सहज-वैरागी तब सम्यग्दृष्टि-जीव सहज-वैरागी होता है॥ 88॥

सिद्ध-समान रूप-निज जाने= अपना स्वरूप सिद्धों के समान जानते हैं, पर संजोग-भाव परमानै= संयोगी-भावों को पर/भिन्न मानते हैं, सुद्धातम-अनुभौ अभ्यासै= शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करते हैं, त्रिविध-कर्मकी ममता नासै= तीनों प्रकार के कर्मों की ममता को नष्ट करते हैं॥ 89॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने 'ज्ञान-चेतना' के प्रभाव और फल का बहुत सुन्दर-वर्णन किया है।

यद्यपि ज्ञान-चेतना प्रत्येक जीव को प्रतिसमय-अनुभूत है; क्योंकि इसी से तो जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है अर्थात् यही तो जीव की पहचान है; परन्तु जब इसके साथ परलक्ष्यी-विकार अर्थात् इष्ट-अनिष्टपना और कर्त्ता-भोक्ताबुद्धि जुड़ जाती है, तब यही चेतना 'अशुद्ध' नाम पाती है। कहने का अभिप्राय यही है कि इससे चेतना अपने शुद्धरूप को खो देती है। और जबतक चेतना अपने शुद्धरूप से भिन्न रहती है, तबतक जीव आकुलित होता है, दुःखी रहता है; चारों-गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। लेकिन जिस क्षण अंतरंग में चेतना का शुद्ध-रूप जागृत होता है, उसी क्षण जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, अर्थात् अतीन्द्रिय आत्मिक-सुख, जो अमृत के समान है, उसका वेदन करता है, तब विष-मय इन पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों और जगत् से स्वतः ही विरक्त हो जाता है; क्योंकि अमृतपान करने के बाद विष कौन पीना चाहेगा? सम्यग्दृष्टि-जीव की परिणति सहज बदल जाती है, अब वह अपने को सिद्ध के समान अनुभव करता है, उसे अपने अनंत स्वाभाविक आत्मिक-गुणों का बहुमान आता है। पहले जिन मोह, राग, द्वेष आदि विकारी-भावों को अपना सबकुछ मानता था, अब वही विकारी-भाव जो पर के लक्ष्य से होते हैं, अपने से भिन्न भासित होते हैं।

ज्ञान-चेतना के जागृत होने से अब निरन्तर एकमात्र शुद्धात्मा के अनुभव का ही अभ्यास चलता है, जिससे नवीन-कर्मों का बंध तो स्वतः ही रुक जाता है और पूर्व-बद्ध-कर्म भी निर्जरा को प्राप्त होते हैं, अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इन तीनों की उत्पत्ति का मूल-कारण मोह/ममता नष्ट होने से ये सब भी स्वयं ही विनाश को प्राप्त होते हैं।

(दोहा)

ग्यानवंत अपनी कथा, कहैं आपसौं आप।

मैं मिथ्यात-दसाविषैं, कीने बहुविधि-पाप॥ 90॥

शब्दार्थ :- ग्यानवंत अपनी कथा= ज्ञानीजन अपनी कहानी, कहैं आपसौं आप= स्वयं अपने आप से कहते हैं, मैं मिथ्यात-दसाविषैं= मैंने मिथ्यात्व की अवस्था में, कीने बहुविधि-पाप= बहुत-प्रकार के पाप किये हैं।

विशेषार्थ :- ज्ञानी-जीव कैसे स्वयं अपनी आलोचना करते हैं— इसी का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि ज्ञानी-जीव स्वयं अपनी कहानी कहते हैं कि मिथ्यात्व की अवस्था में मैंने बहुत-प्रकार के पाप किये थे।

कृत-कारितानुमननैस्त्रिकाल-विषयं मनो-वचन-कायैः। परिहृत्य कर्म सर्व परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे

यदहमकार्षं यदहमचौकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति॥ 32॥

सर्व विशुद्धि-द्वार



हिरदै-हमारे महा-मोह की विकलताई, तातैं हम करुना न कीनी जीव-घातकी।

आप पाप कीनैं औरनिकौं उपदेस दीनैं, हुती अनुमोदना हमारे याही बात की॥

मन-वच-काया मैं मगन हूँ कमाये कर्म, धाये भ्रमजालमैं कहाये हम पातकी।

ग्यान के उदय भए हमारी दसा ऐसी भई, जैसें भानु भासत अवस्था होत प्रातकी॥ 91॥

शब्दार्थ :— हिरदै-हमारे महा-मोह की विकलताई= हमारे हृदय में महामोह-जनित व्याकुलता थी, तातैं हम करुना न कीनी जीव-घातकी= इसलिए हमने कभी जीवों के प्रति करुणाभाव नहीं किया, बल्कि उनका घात किया, आप पाप कीनैं औरनिकौं उपदेस दीनैं स्वयं भी पाप किये, और दूसरों को भी पाप का ही उपदेश दिया, हुती अनुमोदना हमारे याही बात की= अनुमोदना भी की, तो इन्हीं पापों की, मन-वच-काया मैं मगन हूँ कमाये कर्म= मन-वचन और काया में मगन होकर कर्मबंधन किया, धाये भ्रमजालमैं कहाये हम पातकी= मोह के भ्रमजाल में दौड़ते रहे और पापी कहलाये, ग्यान के उदय भए हमारी दसा ऐसी भई= ज्ञान का उदय होने पर हमारी स्थिति ऐसी हुई, जैसें भानु भासत अवस्था होत प्रातकी= जैसी अवस्था सूर्य के उदय होने पर प्रातःकाल की होती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने न केवल ज्ञानी-जीव की मिथ्यात्व-अवस्था का वर्णन किया है, बल्कि हम मिथ्यादृष्टि-जीवों की वर्तमान-अवस्था का भी सटीक-चित्रण किया है। हम भी तो इसीतरह महामोह के भ्रमजाल में फँसे हुये हैं; तभी तो अतिदुर्लभ मनुष्य-पर्याय, देव-शास्त्र-गुरु का समागम, जिनवाणी सुनने की रुचि पाकर भी अपना कल्याण नहीं कर पा रहे हैं, और न ही उस मोह के जाल से अपने को बाहर निकालने की कोशिश कर रहे हैं; बल्कि देखा जाए, तो हम तो उसी मोहजाल में आनंदित भी हैं।

मोह के कारण पाँचों इन्द्रियों की लोलुपतावश कभी भक्ष्य-अभक्ष्य, हित-अहित, प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत का भी विचार नहीं किया और अनंत-जीवों की हिंसा की, यहाँ तक कि धर्म-कार्यों में भी हम हिंसा से अछूते नहीं रहे, जीव-दया या करुणा का तो ख्याल भी नहीं आया। स्वयं भी मनमाने-कुकृत्य करके पाप किये, और दूसरों को भी पाप-कार्यों का ही उपदेश दिया, कभी अनुमोदना भी की, तो पापकार्यों की ही की। धर्म-क्षेत्र से बाहर अर्थात् संसार की समस्त-क्रियायें, चाहे वे अच्छी हों या बुरी, 'पाप' की श्रेणी में ही आती है। देखा जाये, तो धर्मक्षेत्र/मंदिरजी के घंटे दो घंटे के समय को छोड़कर हम भी तो सुबह से शाम तक केवल संसार की अर्थात् पाप-क्रियायें ही करते हैं, कृत-कारित और अनुमोदना— तीनों से मात्र पाप में ही प्रवर्तन और पाप का ही बंध करते हैं।

मन-वचन और काया तीनों से प्रतिसमय शुभ-अशुभ भावों का ही व्यापार करते हैं, और निरन्तर नवीन-कर्मों का बंध भी। कैसी बिडम्बना है कि हम स्वयं ही मोह के भ्रम से भटकते हैं, स्वयं ही विषय-कषाय में प्रवर्तन करते हैं, स्वयं ही दुःखी भी होते हैं, और स्वयं ही 'पापी' कहलाते हैं, एक क्षण को भी ये अहसास नहीं होता कि हम पापी नहीं, परम-पवित्र सुख का निधान भगवान् आत्मा हैं। मिथ्यात्व के उदय में हम सभी की भी ऐसी ही अवस्था हो रही है।

लेकिन ज्ञानी-जीव कहते हैं कि आज हमारे ज्ञान-सूर्य का उदय हुआ है, जैसे रात्रि के घने-अंधकार के बाद जब प्रातः सूर्य का उदय होता है, तो चारोंतरफ प्रकाश की स्वर्णिम-आभा छा जाती है, उसके प्रकाश में सब कुछ प्रत्यक्ष और स्पष्ट भासित होता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान-चेतना के उदय होने से मेरा स्वरूप मुझे स्पष्ट-भासित हो रहा है, अब मिथ्यात्व का काला घना-अंधकार भी हमेशा के लिए विलीन हो गया है।

ग्यान-भान भासत प्रवान ग्यानवान कहै, करुना-निधान अमलान मेरौ रूप है।
 कालसौं-अतीत कर्मजालसौं-अजीत जोग-जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है॥
 मोह कौ विलास यह जगत कौ वास मैं तो, जगतसौं सुन्न पाप-पुन्न अंधकूप है।
 पाप किनि कियौ, कौन करै, करिहै सु कौन, क्रियाकौ विचार सुपिने की दौर-धूप है॥ 92 ॥

शब्दार्थ :— ग्यान-भान भासत प्रवान ग्यानवान कहै= ज्ञान-सूर्य के उदित होते ही ज्ञानी कहते हैं, करुना-निधान अमलान मेरौ रूप है= करुणामय और निर्मलता मेरा-स्वरूप है, कालसौं-अतीत कर्मजालसौं-अजीत= कालचक्र से परे, कर्मजाल भी जिसको नहीं जीत सका, जोग-जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है= योग-समूह से भी भयभीत नहीं है, जिसकी महिमा अनुपम है, मोह कौ विलास यह जगत कौ वास= जगत् का वैभव/जंजाल मोहजनित है, मैं तो जगतसौं सुन्न= मैं तो जगत् से शून्य हूँ/भिन्न हूँ, पाप-पुन्न अंधकूप है= पाप और पुण्य दोनों अंधे-कुँये हैं, पाप किनि कियौ कौन करै करिहै सु कौन= पाप किसने किया, कौन कर रहा है, कौन करेगा, क्रियाकौ विचार सुपिने की दौर धूप है= ऐसा क्रिया का विचार ज्ञानियों के लिये दौड़-धूप/निरर्थक-श्रम है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर ज्ञानी-जीव आत्मस्वरूप का कैसा चिंतन करते हैं, इसका सटीक-वर्णन किया है।

ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर ज्ञानी-जीव विचार करते हैं 'मेरा आत्मा तो करुणा का निधान है', अर्थात् मेरी दृष्टि में सभी आत्मायें समान हैं, सो जीवमात्र के प्रति सहज करुणा का भाव रहता है। मोहजनित-मलिनता मेरे स्वरूप में नहीं है, न वह मेरा स्वभाव है। आत्मा कालचक्र से भी परे है, अर्थात् मृत्यु के आधीन नहीं है। अज्ञान-अवस्था में होनेवाले भाव कि 'मैंने जीवों का घात किया या मैंने जीवों की रक्षा की'— ये दोनों ही परिणाम मोह-जनित हैं, मेरा स्वभाव नहीं है। जहाँ अज्ञानी-जीव विचारता है कि 'मैं कर्मों के भार से लदा हुआ हूँ, इसीलिये दुःखी हूँ'। वहीं ज्ञानी-जीव विचार करते हैं 'कर्म तो जड़ है और मैं चेतन हूँ, अनंत-कर्मों का समूह मिलकर भी मुझे नहीं जीत सकता, न वे मुझे दुःखी कर सकते हैं, मैं इन जड़-कर्मों से पूर्णतः भिन्न निष्कर्म-तत्त्व हूँ। जहाँ अज्ञानी-जीव विचारता है कि 'मन, वचन और काया में मगन होकर अर्थात् इनके आधीन होकर मैं कर्म-बंधन करता हूँ', वहीं ज्ञानी-जीव विचार करते हैं कि 'आत्मा तो मन, वचन, काय— तीनों योगों के भय से भी रहित निर्भय-तत्त्व है, अर्थात् ये तीनों योग-समूह तो जड़ हैं, और मैं चेतन-आत्मा हूँ; फिर ये जड़ होकर चेतन को अर्थात् मुझे विकार-युक्त कैसे कर सकते हैं? मेरा आत्मा अनुपम है, जगत् में इसकी उपमा अर्थात् इसके समान कोई दूसरा नहीं'।

सारा जगत् मोहजनित-भ्रम का जंजाल है, और मैं चेतन-आत्मा इस जंजाल से पूर्णतः-मुक्त हूँ, अर्थात् न मैं जन्म लेता हूँ और न ही मरण को प्राप्त होता हूँ, फिर दुःख कैसा? पाप-पुण्य या शुभ-अशुभभाव दोनों ही अंधे-कुँयों के समान हैं, अर्थात् दोनों का ही फल संसार-परिभ्रमण है। जैसे अंधे-कुँये में गिरने के बाद बाहर निकलने का कोई रास्ता नजर नहीं आता, ठीक उसीप्रकार जो पुण्य-पाप के फल में मगन है, खुश है, उन्हें मुक्ति का मार्ग कभी नजर नहीं आता। जहाँ अज्ञानी-जीव मोह के भ्रम में फँसकर स्वयं को पापी कहता है, वहीं ज्ञानी-जीव विचार करते हैं 'पाप किसने किये? कौन करता है? कौन करेगा? ये क्रिया करना मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, पाप भाव तो पर-संबंधी एकसमय का विकार था, अब मुझे अपने अकर्तृत्व-स्वभाव की अनुभूति होने से ये विकार मुझे अपने से भिन्न

भासित होता है।' कर्तापने का भार ज्ञानी-जीव के लिए स्वप्न की दौड़-धूप के समान है, अर्थात् जैसे हम स्वप्न में होनी-अनहोनी कुछ भी करते/सोचते हैं, लेकिन आँख खुलने पर वह सब मिथ्या लगता है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान-सूर्य का प्रकाश होने पर ज्ञानी जीव को सब संसार स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होता है।

(दोहा)

मैं कीनौ, मैं यौं करौं, अब यह मेरौ काम।

मन-वच-काया मैं बसै, ए मिथ्या-परिनाम॥ 93॥

मन-वच-काया-करमफल, करमदसाजड़-अंग।

दरबित पुगल-पिंडमय, भावित भरम-तरंग॥ 94॥

तातैं आतम-धरमसौं, करम सुभाउ अपूठ।

कौन करावै, कौ करै? कोसल है सब झूठ॥ 95॥

शब्दार्थ :— मैं कीनौ मैं यौं करौं अब= मैंने किया, अब मैं ऐसा करता हूँ, यह मेरौ काम= यह मेरा काम है, मन-वच-काया मैं= मन, वचन, काया में, बसै ए मिथ्या-परिनाम= ये मिथ्या-परिणाम बसते हैं/रहते हैं॥ 93॥

मन-वच-काया करमफल= मन, वचन, काया कर्मफल है, करमदसा जड़-अंग= कर्मस्थिति/परिणति जड़ की अंग है, दरबित पुगल-पिंडमय= द्रव्यकर्म पुद्गल के पिण्डरूप है, भावित भर-तरंग= भावकर्म भ्रम/अज्ञान की लहर है॥ 94॥

तातैं आतम-धरमसौं= इसलिये आत्मधर्म से, करम सुभाउ अपूठ= कर्म का स्वभाव विपरीत है, कौन करावै कौ करै= कौन करवाता है, कौन करता है?, कोसल है सब झूठ= यह सब कौशल/दिखावा/अभिमान मिथ्या है॥ 95॥

विशेषार्थ :— इन तीनों-छंदों में कवि ने मिथ्यात्व की अवस्था में जीव कैसे-कैसे विकल्प करता है? इसका सटीक-वर्णन किया है।

यद्यपि जगत् का परिणामन पूर्ण-स्वतंत्र है, न कोई किसी के आधीन है, और न ही कोई किसी का कर्ता है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी सीमा में स्वतः परिणामित होते हैं। लेकिन फिर भी मोह से भ्रमित यह जीव ऐसा मानता है कि 'ये कार्य मैंने किया, अब मैं ऐसा करता हूँ, ये मेरा कर्तव्य/मेरी ड्यूटी/मेरा जॉब है' इत्यादि। हे आत्मन्! ये सारे विकल्पात्मक परिणाम मन, वचन और काया में रहते हैं, आत्मा में नहीं अर्थात् यह कर्तृत्वपने का विकल्प मन, वचन, काया में होता है, जो देह का अंग होने से जड़ ही है; आत्मस्वरूप में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। कैसी विडम्बना है कि फिर भी उन परिणामों को अपना अर्थात् जीव का मानता है, और स्वयं परिणामनशील-पदार्थ और कार्य/परिणामन का जबरन कर्ता बनता है, फिर स्वयं ही दुःखी होता है।

यह जीव पर का कर्ता क्यों नहीं बन सकता? —इसका समाधान करते हुये कविवर कहते हैं कि मन, वचन, और काया की रचना 'नामकर्म' का फल है, कर्मोदय-जनित परिस्थिति पुण्य-पाप के फलानुसार है, और वह भी पुद्गल-रूप होने से जड़ का ही अंग है। 'द्रव्यकर्म' पुद्गल के परमाणु हैं, और मोह-राग-द्वेष आदि परिणाम 'भावकर्म' हैं, वे भी मोह और अज्ञान की लहर हैं। अर्थात् सब जड़-कर्मों की रचना या फल है, जो एक भिन्न-द्रव्य है। और जीव इन सबसे न्यारा एक चेतन-द्रव्य है। जब दोनों ही द्रव्य पूर्णतः भिन्न हैं, तो एक-दूसरे के कर्ता कैसे हो सकते हैं? आत्मा का धर्म या स्वभाव और कर्म का स्वभाव— दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं या भिन्न हैं। जब दोनों का स्वभाव ही पूर्णतः भिन्न हैं, तो फिर

चेतन-आत्मा इन जड़-पदार्थों/परिणामन का कर्ता कैसे हो सकता है? इसलिये कौन करवाता है? और कौन करता है?— अज्ञानी-जीव का यह बुद्धि-चातुर्य/अभिमान मिथ्या है, अर्थात् कोरी-कल्पना मात्र है, वास्तविकता नहीं।

(दोहा)

करनी हित-हरनी सदा, मुक्ति-वितरनी नांहि।

गनी बंध-पद्धति विषै, सनी महादुख-माँहि॥ 96॥

शब्दार्थ :— करनी हित-हरनी सदा= कर्ताबुद्धि हित का हरण करनेवाली है, मुक्ति वितरना नांहि= मुक्ति को होने नहीं देती है, गनी बंध-पद्धति विषै= बंध-पद्धति में गिनी जाती है, सनी महादुख-माँहि= महादुःख से सनी/लिप्त है।

विशेषार्थ :—सर्वप्रथम करनी/कर्ताबुद्धि से तात्पर्य स्वयं को भूलकर पर के लक्ष्य से होनेवाले शुभ और अशुभ-भाव और तदनुरूप-आचरण करना। अनादिकाल से यह जीव स्वयं को तो भूला ही है, साथ ही इन क्रियात्मक-विकल्पों में ऐसा उलझा, कि अनंतबार सद्निमित्त मिलने पर भी आज तक इसे स्वयं की प्रतीति नहीं हुई।

श्रीगुरु कहते हैं कि 'हे आत्मन्! ये करनी/कर्ताबुद्धि आत्मा का अहित करनेवाली है, अर्थात् इसके रहते जीव का हित कभी नहीं हो सकता। क्योंकि ये कर्ताबुद्धि सुखस्वरूप मोक्षमार्ग को प्रकट ही नहीं होने देती, और दुःखस्वरूप संसार में ही परिभ्रमण कराती है। इसीलिए आज तक इसकी गणना बंध-पद्धति में की जाती है, अर्थात् आगम और आध्यात्मिक-ग्रंथों में इन शुभ-अशुभ भावों को, और उनके फल को आस्रव और बंध-तत्त्वों के अंतर्गत ही वर्णित किया गया है। आस्रव और बंध दोनों ही दुःखरूप हैं, इसीलिये कर्ता-बुद्धि भी महा-दुःखरूप है, क्योंकि इन विकल्पों के रहते जीव प्रतिसमय आकुलित ही रहता है।'

(सवैया इकतीसा)

करनी की धरनी मैं महामोह-राजा बसै, करनी अग्यान-भाव राकिस की पुरी है।

करनी-करम-काया पुगल की प्रतिछाया, करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है॥

करनी के जाल मैं उरझि रह्यौ चिदानंद, करनी की वोट ग्यान-भान-दुति दुरी है।

आचारज कहै करनीसौं विवहारी-जीव, करनी सदैव निहचै-सुरूप बुरी है॥ 97॥

शब्दार्थ :— करनी की धरनी मैं महामोह-राजा बसै= कर्ताबुद्धि की धरती पर महामोह राजा का निवास है, करनी अग्यान-भाव राकिस की पुरी है= कर्ताबुद्धि अज्ञानभाव-रूपी राक्षस की नगरी है, करनी करम काया पुगल की प्रतिछाया= कर्ताबुद्धि, कर्म, शरीर पुद्गल का ही प्रतिरूप है, करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है= कर्ताबुद्धि साक्षात् मायारूप है और मिश्री में लपेटी छुरी अर्थात् मीठी-छुरी है, करनी के जाल मैं उरझि रह्यौ चिदानंद= कर्ताबुद्धि के जाल में चैतन्यस्वरूप आत्मा उलझा हुआ है, करनी की वोट ग्यान-भान-दुति दुरी है= कर्ताबुद्धि की ओट/आड़ ज्ञानरूपी सूर्य की चमक को छिपा देती है, आचारज कहै करनीसौं विवहारी-जीव= व्यवहारी-जीव कर्ताबुद्धि को 'आचरण' कहते हैं, करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है= निश्चय से तो कर्ताबुद्धि का स्वरूप हमेशा बुरा ही है।

मोह-विलास-विजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य। आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ 34॥

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने कर्ताबुद्धि का स्वरूप बताते हुये मोक्षमार्ग में उसका निषेध किया है।

करनी/कर्ता-बुद्धि के स्वरूप का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि कर्ताबुद्धि की धरती पर महामोह-रूपी राजा का निवास है, अर्थात् इन विकल्पों का मूलकारण मोह है, जबतक मोह (पर में एकत्व-ममत्व बुद्धि) विद्यमान है, तब तक शुभ-अशुभ में प्रवृत्ति रहेगी। कर्ताबुद्धि का वास अज्ञानरूपी-राक्षस की नगरी में है, अर्थात् जब तक जीव अज्ञानरूप प्रवर्तन करता रहेगा, या कहें ज्ञान-स्वरूप आत्मा से विमुख रहेगा, तब तक वह इस जड़ करनी/कर्ताबुद्धि में भरमाता रहेगा। कर्ताबुद्धि, कर्म, काया— ये सब पुद्गल की ही प्रतिमूर्ति है, पुद्गल का ही अंश है। जिसप्रकार मिठाई के लोलुपी-प्राणी को मिसरी में लिपटी हुई छुरी अपनी ओर आकर्षित करती है, लेकिन मुँह में रखने पर जीभ के दो टुकड़े भी करती है; ठीक उसीप्रकार भोगों में आसक्त-जीवों को करनी/कर्ता-बुद्धि के विविध-मायामयी शुभ और अशुभरूप अपनी ओर आकर्षित करते हैं; लेकिन इन में उलझने पर जीभ के दो टुकड़े होने की तरह ये जीव को संसाररूपी दुःखों के सागर में ढकेल देती है।

इसी कर्तृत्व-बुद्धि के मोह या मिथ्याजाल में आनंद का घनपिण्ड भगवान् आत्मा अनादि से उलझा हुआ है। इस करनी की आड़ ज्ञान-सूर्य को भी छिपा देती है, ठीक उसीप्रकार जैसे बादलों की ओट में सूर्य छिप जाता है। कैसी विडम्बना है कि छहों द्रव्यों में से एकमात्र जीवद्रव्य ही ज्ञान-स्वरूप है। इतना ही नहीं उस शुभ-अशुभ-परिणाम को जाननेवाला आत्मा स्वयं को जानते हुये भी अनजान है। आचार्य भगवन् कहते हैं कि इस कर्ताबुद्धि के कारण ही जीव व्यवहार से इन शुभ-अशुभ-भावों का कर्ता कहा जाता है, वास्तव में तो जीव उस समय भी इनका मात्र ज्ञाता ही है। निश्चय से तो इस करनी का स्वरूप अनादि से बुरा ही है, क्योंकि इन विकल्पों के मोहजाल में फँसने से ही जीव आज तक आत्मिक-सुख का वेदन नहीं कर पाया।

(चौपाई)

मृषा-मोह की परनति फैली, तातें करम-चेतना मैली।
ग्यान होत हम समझी एती, जीव सदीव-भिन्न पर-सेती॥ 98॥

(दोहा)

जीव अनादि-सरूप मम, करम-रहित निरुपाधि।
अविनासी असरन सदा, सुखमय सिद्ध-समाधि॥ 99॥

(चौपाई)

मैं त्रिकाल करनीसौ न्यारा, चिदविलास-पद जग-उजयारा।
राग-विरोध-मोह मम नांहि, मेरौ अवलंबन मुझ-माँही॥ 100॥

शब्दार्थ :— मृषा-मोह की परनति फैली= मिथ्या-मोह का उदय फैला हुआ था, तातें करम-चेतना मैली= इसकारण से कर्म-चेतना-मलिन हो रही थी, ग्यान होत हम समझी एती= ज्ञान के प्रकट होने पर हम ये समझ गये, जीव सदीव-भिन्न पर-सेती= कि जीव हमेशा पर-परिणति से भिन्न है॥ 98॥

जीव अनादि-सरूप मम= जीवत्व मेरा अनादि-स्वरूप है, करम-रहित निरुपाधि= जो कर्म-रहित है,

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्त-सम्मोहः। आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्तते ॥ 35॥

समस्तमित्येवमपास्य कर्म, त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी। विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥ 36॥

विगलन्तु कर्मविष-तरु-फलानि मम भुक्ति मन्तरेणैव। संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥ 37॥

उपाधि-रहित है, अविनासी असरन= विनाश-रहित, शरण-रहित/स्वाधीन है, सदा-सुखमय सिद्ध-समाधि= हमेशा सुखरूप सिद्ध के समान है॥ 99॥

मैं त्रिकाल करनीसौ न्यारा= मैं त्रिकाल कर्ताबुद्धि से भिन्न हूँ चिदविलास-पद जग-उजयारा= मेरा स्वभाव चैतन्य में विलसित होने से जगत् को प्रकाशित करनेवाला है, राग-विरोध-मोह मम नाहि= राग-द्वेष-मोह मेरे स्वरूप में नहीं है, मेरौ अवलंबन मुझ-माँही= मेरा अस्तित्व मुझमें ही है॥ 100॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त-छंदों में कवि ने ज्ञानियों की विचारधारा और आत्मा का वास्तविक-स्वरूप वर्णित किया है।

सम्यक्त्व होने के बाद ज्ञानी-जीव स्वीकार करते हैं कि पहले मोह का उदयरूप जो झूठा-साम्राज्य फैला था, उसकी वजह से कर्म का आस्रव हो रहा था, और उससे मेरी चेतना मैली हो रही थी, अर्थात् प्रभावित हो रही थी। लेकिन आत्म-स्वरूप की सच्ची-प्रतीति होने से अब मैं ये समझ गया हूँ कि जीव अनादिकाल से 'पर' से ही नहीं, पर-परिणति' से भी भिन्न है।

आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि मेरा जीवत्वरूप अनादिकाल से है, और कर्मों से सदाकाल-भिन्न है, मोह-राग-द्वेष आदि औपाधिक-भावों से भी रहित निरुपाधि, जन्म-मरण के चक्र से रहित अविनाशी, पर की शरण से भी रहित अशरण, स्वाधीन, सिद्धों के समान हमेशा सुख-स्वरूप ही हैं।

आत्मा सदाकाल कर्तृत्व-बुद्धि से भिन्न ही है। मेरा आत्मवैभव ही संपूर्ण-जगत् को प्रकाशित करता है, क्योंकि एकमात्र जीवद्रव्य ही जगत् की प्रसिद्धि करता है, और वही जीवद्रव्य आत्म-वैभव की पूर्णता प्रकट होने पर या केवलज्ञान होने पर संपूर्ण जगत् के कण-कण को भी प्रकाशित करता है। 'पर-लक्ष्यी-विकार' मोह, राग, द्वेष आदि औपाधिक-भाव मेरे स्वरूप में नहीं है, और न ही इनकी वजह से मेरा अस्तित्व है। मेरा अस्तित्व एकमात्र मेरे ही ज्ञानादि-गुणों से सिद्ध होता है।

(सवैया तेईसा)

सम्यकवंत कहै अपने गुन, मैं नित राग-विरोधसौं रीतौ।

मैं करतूति करूँ निरवंचक, मोहि विषै-रस लागत तीतौ॥

सुद्ध-सुचेतनकौ अनुभौ करि, मैं जग मोह-महा-भट जीतौ।

मोख समीप भयौ अब मोकहुं, काल-अनंत इही-विधि बीतौ॥ 101॥

शब्दार्थ :- सम्यकवंत कहै अपने गुन= सम्यग्दृष्टि-जीव स्वयं अपने गुणों का बखान करते हैं, मैं नित राग-विरोधसौं रीतौ= मैं प्रतिसमय राग-द्वेष से रहित हूँ, मैं करतूति करूँ निरवंचक= मैं इच्छा-रहित होकर कार्य करता हूँ, मोहि विषै-रस लागत तीतौ= मुझे विषयों का रस तिक्त/तीखा/अरुचिकर लगता है, सुद्ध-सुचेतनकौ अनुभौ करि= शुद्धात्मा का अनुभव करके, मैं जग मोह-महाभट जीतौ= मैंने जगत् के मोहरूपी महायोद्धा को जीत लिया है, मोख-समीप भयौ अब मोकहुं= अब मोक्ष मेरे बहुत नजदीक है, काल-अनंत इही-विधि बीतौ= अब अनंतकाल इसीप्रकार व्यतीत होनेवाला है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद जीव की परिणति कैसी होती है, इसका सुंदर-वर्णन स्वयं सम्यग्दृष्टि-जीव के मुख से करवाया है।

सम्यक्त्वी या ज्ञानी-जीव स्वयं अपने बारे में कहते हैं कि मैं प्रतिसमय राग-द्वेष से रहित रहता

हूँ, अर्थात् मुझे जगत् के सभी जीव समान दिखते हैं, और समस्त अचेतन-पदार्थ जड़, सो इनमें सहज ही इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, और जब कोई जीव या पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं, तो राग-द्वेष किससे करूँ? इसलिए राग-द्वेष भी नहीं होता। आत्मानुभूति होने के बाद यद्यपि मैं जगत् का प्रत्येक कार्य करता हूँ, पर इच्छा/वांक्षा-रहित, अर्थात् जो परिणामन स्वतः हो रहा है, न तो मैं स्वयं को उसका कर्ता मानता हूँ, और न ही उसके बदले में कोई इच्छा, न उससे कोई अपेक्षा रखता हूँ। वास्तव में देखा जाये, तो दुःख का कारण पर-पदार्थ नहीं हैं, बल्कि उससे जुड़ी हमारी अपेक्षा, उपेक्षा और इच्छा/वांक्षा ही है। जिसे एकबार आत्मिक-आनंद के रस का वेदन हो जाये, उसे पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में रस नहीं आता, अरुचिकर लगते हैं, रस आये भी कैसे? क्योंकि ये पदार्थ तो जड़ हैं, और इन जड़-पदार्थों में चैतन्य का रस कैसे आ सकता है? दोनों की जाति ही भिन्न है।

ज्ञानीजन कहते हैं कि शुद्धात्मा की अनुभूति करके अर्थात् अपने ज्ञायक-स्वरूप को स्वीकार करके जगत् का सबसे बलशाली राजा मोह, जिसने अनादि से जगत् के जीवों को अपने वश में कर रखा था, उस मोहराजा को आज मैंने जीत लिया है। जब राजा को जीत लिया तो प्रजा तो स्वयं ही जीती हुई मानी जाती है। इसीलिए अब मेरे लिए मोक्ष अत्यंत-निकट है, मैं भावना भाता हूँ कि अब मेरा अनंतकाल बस इसीप्रकार आत्मिक-सुख का वेदन करते हुये व्यतीत हो।

(दोहा)

कहै विचच्छन "मैं रह्यौ, सदा ज्ञान-रस-राचि।

सुद्धातम-अनुभूतिसौं, खलित न होहुँ कदाचि" ॥ 102 ॥

पुव्व-करम विष-तरु भये, उदै भोग फल-फूल।

मैं इनको नहिं भोगता, सहज होहु निरमूल ॥ 103 ॥

शब्दार्थ :— कहै विचच्छन मैं रह्यौ= ज्ञानीजन कहते हैं "मैं रहता हूँ, सदा ज्ञान-रस राचि= हमेशा ज्ञान रस में रचा-पचा, सुद्धातम-अनुभूतिसौं= शुद्धात्मा की अनुभूति से, खलित न होहुँ कदाचि= कभी भी स्खलित नहीं होता हूँ" ॥ 102 ॥

पुव्वकरम विषतरु भये= पूर्वकृत-कर्म विषवृक्ष बन गये हैं, उदै भोग फलफूल= उदयकाल में प्राप्त भोग-सामग्री उनके फल-फूल के समान हैं, मैं इनको नहिं भोगता= मैं इनका भोग नहीं करता हूँ, सहज होहु निरमूल= सहज ही निर्मूल/समाप्त/नष्ट हो जाने वाले हैं ॥ 103 ॥

विशेषार्थ :— इन-छंदों में कवि ने ज्ञानी-जीवों के चिंतन-मनन का उदाहरण-सहित सुंदर-वर्णन किया है।

ज्ञानी-जीव स्वयं कहते हैं कि मैं हमेशा अपने ज्ञान-रस में ही रचा-पचा या कहें रमण करता हूँ, अर्थात् मैं हमेशा से ज्ञान का ही वेदन करता आया हूँ; जबकि अज्ञानी-जीव प्रतिसमय अपने रागादि-भावों का ही वेदन करता आया है, इसीलिये वह दुःखी रहता है, और ज्ञानी-जीव सदा सुखी रहते हैं। ज्ञानी-जीव शुद्धात्मा की अनुभूति से कभी स्खलित नहीं होते अर्थात् पहले तो उनका उपयोग स्वरूप में ही रहता है; लेकिन यदि कदाचित् न रह पाये, तो बाहर में तदनुरूप पुरुषार्थ करते हैं; जिससे पुनः उपयोग स्वरूप में स्थिर हो।

यद्यपि ज्ञानी-जीव भी मोक्ष-प्राप्ति से पूर्व संसार में ही रहते हैं, और संसार की क्रिया करते हुए दिखाई

निःशेष-कर्मफल-संन्यसनात्मनैवं, सर्व-क्रियान्तर-विहार-निवृत्तवृत्तेः।

चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं, कालावलीयमचलस्य बहत्वनन्ता ॥ 38 ॥

भी देते हैं, लेकिन विरक्ति-पूर्वक। कैसे?— इस तथ्य को समझाने के लिये कवि ने एक सटीक-उदाहरण दिया है। जैसे वृक्ष पर फल-फूल लगे हैं, यदि माली उनको तोड़कर उपयोग में लेना चाहे तो ले सकता है, वर्ना वे फल और फूल अपना समय पूरा होने पर स्वयं ही वृक्ष को छोड़कर जमीन पर गिरकर नष्ट हो जाते हैं। ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव पूर्वकृत-कर्मबंध को विषवृक्ष के समान मानते हैं और उनके उदयकाल में होनेवाले संयोगादिक को उस विषवृक्ष के फल-फूल के समान मानते हैं, अर्थात् पूर्वबद्ध-कर्मों के उदय में मिलने वाले पंचेन्द्रिय के विषय-भोग ज्ञानी-जीवों के लिये विषवृक्ष के विषैले फूल-फल के समान हैं; इसीलिये ज्ञानी-जीव इन फल-फूल को भोगते नहीं है अर्थात् इन उदयजनित-परिणामों में मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों से न जुड़कर इनके मात्र ज्ञाता रहते हैं। परिणाम-स्वरूप ये फल-फूल अर्थात् उदयजनित कर्म-परमाणु स्वयं ही अपना समय पूरा होने पर निर्मूल या निर्जरित हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि हे आत्मन्! जो कर्म उदय में आया है, वह निर्जरित होने के लिए ही आया है, पर हम अज्ञानी-जीव उन उदयरूप-परिणामों की स्थिति में मोह-राग-द्वेष करते हुये उनसे जुड़ते हैं, सो वही उदयरूप कर्म नवीन-कर्मबंध का बीज हमें भेंट में देकर स्वयं तो निर्जरित हो जाता है, और हम संसार की ओर बढ़ जाते हैं। जबकि ज्ञानी-जीव उन उदयरूप कर्मों के मात्र ज्ञाता रहते हैं, सो नवीन-कर्मबंध भी नहीं होता और पुराना तो निर्जरित होता ही है। इसप्रकार कर्म की वंशावलि क्रमशः निर्मूल होती जाती है और ज्ञानी-जीव निरन्तर मुक्ति की ओर अग्रसर होते जाते हैं।

(दोहा)

जो पूरबकृत-कर्म-फल, रुचिसौं भुंजै नांहि।
मगन रहै आठों-पहर, सुद्धातम-पद-माँहि॥ 104॥
सो बुध करमदसा-रहित, पावै मोख तुरंत।
भुंजै परम-समाधि-सुख, आगम-काल-अनंत॥ 105॥

शब्दार्थ :— जो पूरबकृत कर्म-फल= जो पूर्व में किये कर्मों के फल को, रुचिसौं भुंजै नांहि= रुचिपूर्वक नहीं भोगता, मगन रहै आठों-पहर= व आठों पहर/ सदाकाल मगन/लीन रहता है, सुद्धातम-पद-माँहि= शुद्धात्मा में॥ 104॥

सो बुध करमदसा-रहित= वह ज्ञानी कर्म-अवस्था से रहित, पावै मोख तुरंत= मोक्ष-पद को तुरंत प्राप्त करता है, भुंजै परम-समाधि-सुख= परम अतीन्द्रिय-सुख को भोगता है, आगम-काल-अनंत= आगामी-अनंतकाल तक॥ 105॥

विशेषार्थ :— इन-छंदों में कवि ने पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों से विरक्ति-अर्थात् वैराग्यमय परिणामों की महिमा और फल को वर्णित किया है।

जो जीव पूर्वबद्ध-कर्मों के उदय को, उनके फल में प्राप्त संयोगों, पदार्थों और परिस्थितियों को रुचिपूर्वक नहीं भोगते अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होते; जो भी है, जैसा भी है, उसमें सहज समताभाव धारण करते हैं। अभिप्राय यह है जो जीव अज्ञानी-जीव की तरह राग का प्रसंग बनने पर रागरूप, द्वेष का प्रसंग बनने पर द्वेषरूप नहीं होते, और मोह अर्थात् देह से एकत्व-ममत्वबुद्धि, जो कि अज्ञानी-जीव की परिणति में तो चीनी में मिठास की तरह समाई हुई है, उससे जो जीव प्रतिसमय अपने को भिन्न ही अनुभव

यः पूर्वभाव-कृत-कर्म-विष-द्रुमाणां, भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।

आपातकाल-रमणीयमुदर्क-रम्यं, निष्कर्म-शर्ममयमेति दशान्तरं सः॥ 39॥

करते हैं, और आठों पहर शुद्धात्मा की अनुभूति में मगन रहते हैं। वे ज्ञानी-जीव अतिशीघ्र समस्त-कर्मा से रहित मोक्ष-अवस्था को प्राप्त करते हैं, और आगामी अनंतकाल तक परम-अतीन्द्रिय आत्मिक-आनंद का रसास्वादन करते हैं, अर्थात् वे जीव पुनः संसार में जन्म-मरण नहीं करते।

(छप्पय)

जो पूरबकृत-करम, विरख-विष-फल नहिं भुंजै।
जोग-जुगति कारिज-करंति, ममता न प्रयुंजै॥
राग-विरोध-निरोधि, संग-विकलप सब छंडइ।
सुद्धातम-अनुभौ अभ्यासि, सिव-नाटक मंडइ॥
जो ग्यानवंत इहि मग चलत, पूरन ह्वै केवल लहै।
सो परम-अतींद्रिय-सुख-विषै, मगनरूप संतत रहै॥ 106॥

शब्दार्थ :— जो पूरबकृत-कर्म= जो पूर्वबद्ध-कर्मों के विरख-विष-फल नहीं भुंजै= विष-वृक्ष के फलों को नहीं भोगता है, जोग-जुगति कारिज-करंति= योगपूर्वक कार्य तो करता है, ममता न प्रयुंजै= किन्तु उसमें ममता नहीं करता, रोग-विरोध निरोधि= राग-द्वेष को त्यागकर, संग-विकल्प सब छंडइ= परिग्रह के सभी विकल्पों को छोड़कर, सुद्धातम-अनुभौ अभ्यासि= शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास कर, सिव-नाटक मंडइ= मोक्ष-नाटक का मंडन करता है, जो ग्यानवंत इहि मग चलत = जो ज्ञानी-जीव इस रास्ते पर चलते हैं, पूरन ह्वै केवल लहै= और पूर्ण होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, सो परम-अतींद्रिय-सुख-विषै= वह परम-अतीन्द्रिय-सुख में, मगनरूप संतत रहै= सदैव मगन रहते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मुक्ति के मार्ग का सुन्दर-विवेचन किया है। हम सभी जीव मोक्ष तो प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति के लिये क्या करें और क्या न करें?— यह बात हमें समझ में नहीं आती। इतना ही नहीं कईबार तो विपरीत-मार्ग का अनुसरण कर मुक्ति के समीप आने के बजाय कोसों दूर चले जाते हैं। अब कवि द्वारा निर्देशित-मार्ग का अनुसरण करते हुए हम अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेंगे।

हम सभी अनादिकाल से कर्मों के साथ हैं, और निरन्तर कर्म-फल को भोगते आ रहे हैं अर्थात् उनमें इष्ट-अनिष्टपना, राग-द्वेष, और आसक्तिरूप प्रवर्तन करते आ रहे हैं। जबकि ज्ञानी-जीव पूर्वकर्म के उदय को विषवृक्ष का विषैला-फल मानते हैं, और अनासक्ति-भाव अर्थात् न राग न द्वेष, न इष्ट न अनिष्ट, बल्कि सहज साम्य-भाव से प्रवर्तन करते हैं, कर्म के उदय और कर्मफल के कर्त्ता न बनकर, मात्र ज्ञाता रहते हैं। साथ ही मन, वचन और काया को भी वश में करते हैं, देहादिक-संयोगों में एकत्व-ममत्व नहीं करते हैं, संसार की प्रत्येक क्रिया में उदासीनभाव से प्रवर्तन करते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि समस्त-परिग्रह का त्याग करने से पहले संसार, शरीर और भोगों से अरुचि का होना अति-आवश्यक है, वर्ना जीव भ्रमित भी हो सकता है, या कहें विषय-भोगों के प्रति लालसा यथावत् बनी रही और मुनिव्रत अंगीकार किया, तो भ्रमित होना स्वाभाविक है।

फिर क्रमशः समस्त परिग्रह को ही नहीं परिग्रह-संबंधी विकल्प को भी त्यागकर मुनिव्रत अंगीकार करते हैं; राग-द्वेष का निरोध अर्थात् त्यागकर, एकमात्र शुद्धात्मा की अनुभूति का अभ्यास करते हैं। निरन्तर-अभ्यास और स्वरूप की स्थिरता से मोक्षरूपी-नाटक का मंडन करते हैं, अर्थात् श्रेणी माँड़ने का पुरुषार्थ करते हैं।

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च, प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञान-संचेतनायाः।

पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरस-परिगतं ज्ञान-संचेतनां स्वां, सानन्दं नाटयन्तः प्रशम-रसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥ 40 ॥

अंत में कवि कहते हैं कि जो ज्ञानी-जीव उपर्युक्त वर्णित-मार्ग का अनुसरण करते हैं, और अपने परिपूर्ण-स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त करते हैं, उनको केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। और परम-अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय-रहित अनंत आत्मिक-सुख का न केवल वेदन करते हैं, बल्कि अनंतकाल के लिये उसी आनंद में मग्न हो जाते हैं।

(सवैया इकतीसा)

निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद, जाकै परगासमैं जगत् माइयतु है।

रूप-रस-गंध-फास पुदगल कौ विलास, तासौं उदवास जाकौ जस गाइयतु है॥

विग्रहसौं-विरत परिग्रहसौं-न्यारौ सदा, जामैं जोग-निग्रह चिह्न पाइयतु है।

सो है ग्यान-परवांन चेतन-निधान ताहि, अविनासी ईस जानि सीस नाइयतु है॥ 107॥

शब्दार्थ :- निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद= भय-रहित, आकुलता-रहित, उत्कृष्ट-ज्ञान-स्वरूप, भेद-रहित, जाकै परगासमैं जगत् माइयतु है= जिसके प्रकाश में संपूर्ण जगत् समाया हुआ है, रूप-रस-गंध-फास पुदगल कौ विलास= रूप, रस, गंध और स्पर्श पुदगल का वैभव है, तासौं उदवास जाकौ जस गाइयतु है= उससे भिन्न जिसका (आत्मा का) यशोगान किया गया है, विग्रहसौं विरत परिग्रहसौं न्यारौ सदा= शरीर से भिन्न, परिग्रह से भिन्न, जोग-निग्रह जामैं चिह्न पाइयतु है= योग-निग्रह के लक्षण जिसमें पाये जाते हैं, सो है ग्यान-परवांन चेतन-निधान= वह ज्ञान-प्रमाण चैतन्य का निधान है, ताहि अविनासी ईस जानि सीस नाइयतु है= उसे विनाश-रहित, शाश्वत, ईश्वर जानकर शीश झुकाता हूँ।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने अविनाशी-आत्मस्वरूप, जिसकी महिमा जगत् में सर्वश्रेष्ठ है, उसका गुणगान करते हुए वंदन किया है।

आत्मा कैसा है?— जो 'निर्भय' है अर्थात् सातों प्रकार के भयों से रहित है, क्योंकि सातोंप्रकार के भय शरीर पर लागू होते हैं, आत्मा पर नहीं। आत्मा तो इन भयों से त्रिकाल-भिन्न है। आत्मा 'निराकुल' है, अर्थात् आकुलता से रहित। आकुलता यानि दुःख, और दुःख/आकुलता से आत्मा उसीप्रकार रहित है, जैसे सूर्य का प्रकाश अंधकार से। अर्थात् जैसे सूर्य के प्रकाश में अंधकार का अस्तित्व ही नहीं है, ठीक उसीप्रकार आत्मा में भी दुःख नाम का गुण ही नहीं है। 'निगम वेद' अर्थात् जगत् में छहों-द्रव्यों में एकमात्र उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप-वस्तु आत्मा ही है अन्य कोई नहीं। 'भेद रहित' अर्थात् अखंड, स्वयं में परिपूर्ण आत्मवस्तु, जिसके प्रकाश में संपूर्ण-लोक समाहित है, अर्थात् जिसने आत्मा को जान लिया, उसने संपूर्ण-लोक को जान लिया, और जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण तो मूर्तिक-पुदगल का वैभव है, सारा जगत् पुदगल के इसी वैभव पर भरमाया है। जबकि अमूर्तिक-आत्मा का वैभव तो इससे सर्वथा भिन्न-लक्षणवाला है। देह में रहते हुए भी आत्मा सदाकाल देह से भिन्न है, बाह्य-परिग्रह तो आत्मा से भिन्न है ही, परन्तु आत्मा तो अंतरंग-परिग्रह के विकल्प से भी रहित है, योगों से भी निराला अर्थात् भिन्न है; क्योंकि मन, वचन, और काया— तीनों तो देह के अंग हैं, जड़ हैं, और आत्मा तो इनसे भिन्न चेतन-स्वरूप लक्षणवाला है। ऐसा वह शाश्वत-परमात्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञानाकार है अर्थात् ज्ञानरूप ही जिसका अस्तित्व है। चैतन्य का निधान अर्थात् खजाना है, इसीलिये आत्मा को अविनाशी अर्थात् जन्म-मरण से रहित शाश्वत-भगवान् जानकर शीश

इतः पदार्थ-प्रथनावगुण्ठनाद्विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।

समस्त-वस्तु-व्यतिरेक-निश्चयाद्विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ 41॥

झुकाता हूँ, अर्थात् सविनय-वंदन करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ, तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्म-रहित, सहित सुख-समाधान, पायौ निज-स्थान फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूँ कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग-रस राचिकैं न पर-वस्तु गहैगौ।
अमलान-ग्यान विद्यमान परगट भयौ, याही-भाँति आगम-अनंतकाल रहैगौ॥ 108॥

शब्दार्थ :— जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ= निश्चय से जैसा भेदरहित आत्मा पहले था, तैसौ निरभेद= वैसा ही अभेदरूप अब प्रगट हो गया है, अब भेद कौन कहैगौ= अब उसे भेदरूप कौन कहेगा? दीसै कर्म-रहित= कर्मरहित दिखता है, सहित सुख-समाधान= सुख-शांति सहित, पायौ निज-स्थान= निज-स्थान को प्राप्त कर लिया है, फिर बाहरि न बहैगौ= अब बाहर नहीं आयेगा, कबहूँ कदाचि= कभी भी किसी भी स्थिति में, अपनौ सुभाव त्यागि करि= अपना स्वभाव छोड़कर, राग-रस राचिकैं= राग-रस में रच-पचकर, न पर-वस्तु गहैगौ= परवस्तु का ग्रहण नहीं करेगा, अमलान-ग्यान= मलिनता रहित शुद्ध-ज्ञान, विद्यमान परगट भयौ= वर्तमान में प्रगट हुआ है, याही भाँति= इसीप्रकार, आगम-अनंतकाल रहैगौ= आगामी-अनंतकाल तक रहेगा।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने आत्मा की शाश्वत-अवस्था और वर्तमान में प्रकट शुद्ध-अवस्था, जिसे हम परमात्मा के रूप में वंदन करते हैं, उसका सटीक और सुंदर-वर्णन किया है।

निश्चय से अर्थात् द्रव्य-स्वभाव से आत्मा अनादिकाल से शुद्ध और अखंड ही है; जो भी मलिनता है, वह पर्याय में है, द्रव्य-स्वभाव में नहीं। जैसे सूर्य के सामने बादलों के आ जाने पर कुछ समय के लिये सूर्य का प्रकाश आच्छादित/बाधित तो होता है, पर नष्ट नहीं होता; इसीलिए बादलों के सामने से हटते ही वह अपने स्वभावस्वरूप सहज प्रकट होता है। ठीक उसीप्रकार अनादि से कर्मों का संयोग होने से आत्मा का स्वाभाविक-शुद्ध और अखंड-स्वरूप प्रकट नहीं हो रहा था, अब कर्मों की मलिनता हटने से वह अपने स्वाभाविक-शुद्ध और अखंडरूप में प्रकट हो गया है। अब उसे भेदरूप यानि पर्यायरूप कौन कहेगा? अर्थात् कोई नहीं। अब वह परमात्म-स्वरूप आत्मा कर्म-रहित और अनंत-सुख और शांति-सहित दिखाई देता है। अब उस आत्मा ने अपने निज-स्थान अर्थात् मुक्तिरूपी-महल में प्रवेश कर लिया है, अब वह कभी बाहर नहीं आयेगा अर्थात् पर-घर में प्रवेश नहीं करेगा, पुनः संसार में जन्म-मरण करता हुआ दुःखी नहीं होगा।

यहाँ तक कि कभी भी किसी भी स्थिति में अपना ज्ञाता-स्वभाव छोड़कर मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों में रच-पचकर या लीन होकर पर-वस्तु अर्थात् देहादिक समस्त संयोग और परपदार्थों को ग्रहण नहीं करेगा। निरन्तर स्वरूप की स्थिरतापूर्वक जो वर्तमान में शुद्ध-ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रकट हुआ है, अब वह आगे भी इसीप्रकार अनंतकाल तक रहेगा, अर्थात् कभी भी क्षय को प्राप्त नहीं होगा।

(सवैया इकतीसा)

जबहीतैं चेतन विभावसौं उलटि आपु, समै पाइ अपनौ-सुभाउ गहि लीनौ है।
तबहीतैं जो-जो लेने-जोग सो-सो सब लीनौ, जो-जो त्याग-जोग सो-सो सब छाँड़ि दीनौ है॥

अन्येभ्यो व्यक्तिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता-मादानोज्ञान-शून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्त-विभाग-मुक्त-सहज-सफार-प्रभा-भासुरः, शुद्ध-ज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ 42 ॥

लैबे कौं न रही ठौर त्यागिवे कौं नांहि और, बाकी कहा उबरयौ जु कारजु नवीनौ है।

संग-त्यागि अंग-त्यागि वचन-तरंग-त्यागि, मन-त्यागि बुद्धि-त्यागि आपा-सुद्ध कीनौ है ॥ 109 ॥

शब्दार्थ :- जबहीतैं चेतन= जबसे आत्मा ने विभावसौं उलटि आपु= स्वयं ही विभाव-परिणति को छोड़कर, समै पाइ अपनौ सुभाउ गहि लीनौ= काललब्धि पाकर अपने निज-स्वभाव को ग्रहण किया है, तबहीतैं जो-जो लेने-जोग= तभी से जो-जो लेने-योग्य था, सो-सो सब लीनौ है= सो सब ग्रहण किया, जो-जो त्याग-जोग= जो जो त्यागने-योग्य था, सो-सो सब छाँड़ि दीनौ है= सो सब त्याग दिया है, लैबे की न रही ठौर= ग्रहण करने के लिए अब कोई स्थान नहीं, त्यागिवे कौं नांहि और= त्यागने के लिये भी अब कुछ नहीं, बाकी कहा उबरयौ= बाकी क्या शेष रहा, जु कारजु नवीनौ है= जो नया करना है, अर्थात् कुछ नहीं संग-त्यागि= परिग्रह त्यागकर, अंग-त्यागि= शरीर की चंचलता त्यागकर, वचन-तरंग त्यागि= वचन की क्रिया का त्यागकर, मन त्यागि= मन के विकल्पों का त्यागकर, बुद्धि त्यागि= विचारों की चंचलता को त्यागकर, आपा सुद्ध कीनौ है= अपनी आत्म-परिणति को शुद्ध किया है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने मिथ्यात्व की अवस्था को छोड़कर आत्मा के परमात्मा बनने तक की प्रक्रिया का सुंदर-वर्णन किया है।

आत्मा त्रिकाल-शुद्ध है, लेकिन विभाव-भावों के कारण उस शुद्धता की अनुभूति नहीं हो रही। सो जब से चेतन भगवान्-आत्मा ने सुयोग-अवसर पाकर अर्थात् वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का समागम पाकर स्वयं ही अपने विवेक से उस विभाव-परिणति का अवलम्बन छोड़कर निज-स्वभाव-परिणति को ग्रहण किया है। तभी से जो-जो बातें उपादेय यानि ग्रहण करने योग्य थीं, वे सब ग्रहण की, और जो-जो वस्तु हेय यानि त्यागने योग्य थीं, वे सब त्याग दीं। अर्थात् जबसे अपने परिपूर्ण-स्वभाव में विश्राम किया, तबसे अन्य किसी भी वस्तु-ग्रहण करने के लिए अवकाश ही नहीं बचा, और न ही स्वरूप में ऐसी कोई वस्तु दिखी जिसको त्याग करना हो, और न ही अब कुछ नया करने-योग्य कार्य शेष रहा, अर्थात् आत्मवस्तु हरप्रकार से स्वयं में परिपूर्ण है, न कुछ कम है और न ही कुछ ज्यादा, समस्त बाह्य-विकल्पों से मुक्ति मिल गई।

क्योंकि विकल्पों की उत्पत्ति का स्थान तो देहादिक-संयोग है, जबकि उस आत्मा ने संग अर्थात् अंतरंग-बहिरंग सभीप्रकार के परिग्रह का ही त्याग कर दिया, अंग अर्थात् जो प्रतिसमय साथ रहती है, अब उस देह का व्यापार भी बंद हो गया अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि 18 दोषों से रहित हो गये; इसलिए अब देह का भी कोई औचित्य शेष नहीं रहा। वचन की तरंग अर्थात् वचन का व्यापार भी अब बंद हो गया; क्योंकि अब परमात्मा अनंतकाल तक मौन रहेंगे। मन-संबंधी समस्त-विकल्पों का भी त्याग कर दिया। बुद्धि-त्याग यानि इन्द्रियाँ मौजूद होने पर भी अब इन्द्रियों से ज्ञान का व्यापार नहीं चलता, अर्थात् इंद्रियज्ञान-संबंधी समस्त व्यापार बंद हो गया। इसप्रकार हर-तरफ से निज-आत्मा को शुद्ध कर लिया अर्थात् अब निरन्तर एकमात्र शुद्ध-स्वभाव की ही अनुभूति होती है।

(देहा)

सुद्ध-ज्ञानकै देह नहिं, मुद्रा-भेष न कोइ।

तातैं कारन मोखकौं, दरबलिंग नहिं होइ ॥ 110 ॥

उन्मुक्तमुनोच्यमशेषतस्तथात्मादेयमशेषतस्तत्। यदात्मनः संहतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥ 43 ॥

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्। कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥ 44 ॥

दरबलिंग न्यारौ-प्रगट, कला-वचन-विग्यान।

अष्ट-महारिधि अष्ट-सिद्धि, एऊ होहि न ग्यान॥ 111॥

शब्दार्थ :- शुद्ध-ज्ञानकै देह नहिं= शुद्ध-ज्ञान के कोई शरीर नहीं है, मुद्रा-भेष न कोइ= न कोई आकृति या भेष है, तातैं कारन मोखकौं= इसलिये मोक्ष का कारण, दरबलिंग नहिं होइ= द्रव्यलिंग नहीं है॥ 110॥

दरबलिंग न्यारौ-प्रगट= द्रव्यलिंग तो स्पष्टतः भिन्न है, कला-वचन-विग्यान= कला-कौशल, वचन-चातुरी, अष्ट-महारिधि= आठ महाऋद्धियाँ, अष्ट सिद्धि= आठ सिद्धियाँ, एऊ होहि न ग्यान= ये सब भी सम्यग्ज्ञान नहीं है॥ 111॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने स्पष्ट किया है कि द्रव्यलिंग अर्थात् कोरा बाह्य-चारित्र मोक्ष का कारण नहीं है।

मुक्ति का सच्चा और मूल-कारण आत्मज्ञान है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप-आत्मा की सम्यक्-आराधना है। आत्मा अर्थात् ज्ञान का घनपिण्ड, जब आत्मा ही अमूर्तिक है, तो ज्ञान की देह, मुद्रा/रूप/भेष कैसे हो सकता है? अर्थात् शुद्ध-ज्ञान की न कोई देह है, और न कोई मुद्रा या भेष है, अर्थात् कोई भी रूप या आकार-प्रकार नहीं है; जबकि द्रव्यलिंग का तो बाह्य-चारित्ररूप दिगम्बर-मुद्रा या कहें देह की नग्नतारूप भेष है। कहने का अभिप्राय यही है कि अंतरंग-चारित्र या परिणामों की विशुद्धि के बिना कोरा बाह्य-चारित्र अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण नहीं है।

लोक में जो कोरे बाह्य-चारित्र को भलीभाँति पालते हैं, बहुत सारी कलाओं के ज्ञाता हैं, वचन-चातुरी के धनी हैं, कदाचित् बुद्धि-विक्रिया आदि आठ महाऋद्धियों के भी धनी हैं; आचार, श्रुत, शरीर आदि आठ सिद्धियों को भी प्राप्त हैं, वे भी अंतरंग-शुद्धि के बिना मुक्ति के सच्चे-साधक नहीं बन सकते हैं; क्योंकि ये सब बाह्य-उपलब्धियाँ शुद्धज्ञान का अंग नहीं हैं, इनका संबंध देह से होने के कारण ये भी मोक्ष की मूल-कारण नहीं हैं।

ऋद्धि—तपश्चरण के प्रभाव से कदाचित् किन्हीं योगीजनों को कुछ चामत्कारिक-शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उन्हें 'ऋद्धि' कहते हैं। इनके आठ मुख्य-भेद और अनेकों प्रभेद हैं। बुद्धि-ऋद्धि, विक्रिया-ऋद्धि, चारण-ऋद्धि, तप-ऋद्धि, बल-ऋद्धि, औषध-ऋद्धि, रस-ऋद्धि, क्षेत्र-ऋद्धि हैं।

सिद्धि—सिद्धिश्चेदुपलब्धिमात्रम् अर्थात् उपलब्धि-मात्र को सिद्धि कहते हैं। वे आठ प्रकार की हैं। आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचन, बुद्धि, उपयोग और संग्रह-संलीनता।—(सि. वि. मू. 1/2/6)

निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि ये ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ योगीजनों को तपस्या के फल में सहज प्राप्त होती हैं, लेकिन ये शुद्ध-ज्ञान/सम्यग्ज्ञान का अंश नहीं होने से मोक्ष की कारणरूप नहीं है। मुक्ति का एकमात्र और सम्यक्-कारण शुद्धात्म-तत्त्व की आराधना और स्थिरता ही है, द्रव्यलिंग नहीं।

(सवैया इकतीसा)

भेषमैं न ग्यान, नहिं ग्यान गुरु-वर्तन में, मंत्र-जंत्र-तंत्र में न ग्यानकी कहानी है।

ग्रंथमैं न ग्यान, नहिं ग्यान कवि-चातुरी में, बातनिमैं ग्यान, नहिं ग्यान कहा बानी है॥

तातैं भेष-गुरुता-कवित्त-ग्रंथ-मंत्र-बात, इतैं अतीत ग्यान-चेतना-निसानी है।

ग्यानही में ग्यान, नहिं ग्यान और ठौर कहूँ, जाकै घट ग्यान, सोई ग्यान का निदानी है॥ 112॥

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।

ततो देहमयं ज्ञातुं लिङ्गं मोक्ष-कारणम्॥ 45॥

शब्दार्थ :— भेषमैं न ग्यान= भेष में ज्ञान नहीं है, नहिं ग्यान गुरु-वर्तन मैं= गुरु बनकर घूमने में भी ज्ञान नहीं है, मंत्र-जंत्र-तंत्रमैं= मंत्र-तंत्र-जंत्र में, न ग्यानकी कहानी है= न ही ज्ञान की कोई कहानी/प्रवृत्ति है, ग्रंथमैं न ग्यान= ग्रंथ में ज्ञान नहीं है, नहिं ग्यान कवि-चातुरी में= और न ही ज्ञान कवि की चतुराई में है, बातनिमैं ग्यान नहिं= बातों में ज्ञान नहीं है, ग्यान कहा बानी है= ज्ञान वचनों में कहाँ है? तातैं भेष-गुरुता-कवित्त= इसलिए भेष, गुरुता, कवित्त, ग्रंथ-मंत्र-बात= ग्रंथ, मंत्र, बात, इनतैं अतीत ग्यान-चेतना निसानी है= इन सबसे ज्ञान-चेतना का लक्षण भिन्न है, ग्यानहीमैं ग्यान= ज्ञान में ही ज्ञान है, नहिं ग्यान और-ठौर कहू= ज्ञान (उत्पत्ति) का कोई अन्य स्थान नहीं है, जाकै घट ग्यान= जिसके अंतरंग में ज्ञान है, सोई ग्यान का निदानी है= वही ज्ञान का मूल स्वामी है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि ज्ञान ज्ञेयों से नहीं होता, ज्ञान का स्थान केवल आत्मा है।

लोक में बहुत से ज्ञान-परक-संसाधन प्रचलित है, जिनको देखकर अज्ञानी-जीव भ्रमित होता है कि ज्ञान इसी में से आ रहा है, और वह उनके पीछे दौड़ लगाता है। जबकि कविवर कहते हैं कि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार का भेष धारण कर ले, तब भी वह ज्ञानी नहीं हो सकता है। बहुत से लोग धनादि के लालच में गुरु या महात्मा बनकर घूमते हैं, पर उनसे भी ज्ञान नहीं होता। मंत्र, तंत्र, जंत्र की कहानी में भी ज्ञान नहीं है, अर्थात् कोई कितनी भी मंत्र-सिद्धि आदि कर ले, फिर भी ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रों में ज्ञान नहीं है, अधिकांश-जीव ये समझते हैं कि ये तो बहुत-शास्त्रों के ज्ञाता है, सो ये तो बहुत ज्ञानी हैं, और हम तो पढ़े-लिखे ही नहीं हैं, सो हम तो अज्ञानी हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि ग्यारह-अंग नौ-पूर्व का पाठी द्रव्यलिंगी-मुनि संसार में भटकता है, और जो पढ़ना भी नहीं जानते ऐसे तिर्यचादि भी मोक्षमार्ग प्रशस्त कर लेते हैं।

कवि की चतुराई अर्थात् कविता-कौशल में भी ज्ञान नहीं है, और न इसमें ज्ञान है कि कौन कितनी चतुराई और तर्क से अपनी बात को सिद्ध करने की क्षमता रखता है। और न ही जिनवचनों में ज्ञान है, अधिकांश-जीव यही मानते हैं कि यदि हमने जिनवचनों को सुनभर लिया, तो हमें ज्ञान हो जायेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। ये सब संसाधन ज्ञान-प्राप्ति के कारण तो हो सकते हैं, पर ज्ञान नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान तो चेतन-आत्मा का स्वभाव है, और उपर्युक्त सभी पदार्थ अचेतन हैं, जड़ हैं, भला एक जड़-पदार्थ से चैतन्य-स्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? दोनों ही भिन्न-द्रव्य हैं और दोनों में अत्यन्ताभाव है।

इसीलिए भेष, महंता/गुरुता/पंडिताई, कवित्त या काव्य-कौशल, शास्त्र/आगम, तंत्र-मंत्र, यहाँ तक कि जिनवचनों में भी ज्ञान नहीं है। ज्ञान-चेतना तो इन सबसे भिन्न चैतन्य-लक्षणवाली है। ज्ञान की उत्पत्ति सिर्फ ज्ञान से ही होती है, अर्थात् छहों द्रव्यों में से एकमात्र आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है, अन्य कोई नहीं। और सुखी होने के लिए या मोक्ष-प्राप्त करने में निज-आत्मस्वरूप का ज्ञान ही एक मात्र सम्यक्-कारण है। जगत् में भी हम देखते हैं कि जो वस्तु जिसकी है, वही उसका स्वामी होता है। ठीक उसीप्रकार जिसके हृदय में ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वही उसका असली-स्वामी होता है, अर्थात् मैं भगवान् आत्मा स्वयं ही अपने अनंतज्ञान का स्वामी हूँ, और स्वयं ही, स्वयं के आश्रय से ही ज्ञानी बन सकता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

भेष धरि लोकनिकौ बंचै सो धरम-ठग, गुरु सो कहावै गुरुवाई जाहि चहिये।

मंत्र-तंत्र-साधक कहावै गुनी-जादूगर, पंडित कहावै पंडिताई जामैं लहिये॥

कवित्त की कलामैं प्रवीन सो कहावै कवि, बात कहि जानै सो पवारगीर कहिये।

एतौ सब विषै के भिखारी मायाधारी-जीव, इन्हकौ विलोकिकै दयालरूप रहिये॥ 113॥

शब्दार्थ :— भेष धरि लोकनिकौ बंचै सो धरम-ठग = भेष धारणकर लोगों को ठगता है, वह धर्म का ठग है, गुरु सो कहावै गुरुवाई जाहि चहिये= गुरु वही कहलाता है, जिसमें गुरुता होती है, मंत्र-तंत्र साधक कहावै गुनी जादूगर= मंत्र-तंत्र को साधनेवाला, गुनिया/ओझा-जादूगर कहलाता है, पंडित कहावै, पंडिताई जा मैं लहिये= पंडित वही कहलाता है जिसमें पंडिताई होती है, कवित्त की कलामैं प्रवीन सो कहावै कवि= काव्य-कौशल की कला में निपुण, वह कवि कहलाता है, बात कहि जानै सो पवारगीर कहिये= जो अपनी बात कहना जानता है, उसे व्याख्याता कहते हैं, एते सब विषै के भिखारी मायाधारी-जीव= ये तो सब विषयों के भिखारी, मायाचारी-जीव हैं, इन्हकौ विलोकिकै दयालरूप रहिये= इनको देखकर, दया का पात्र/बेचारे ही मानकर व्यवहार करना चाहिए।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि आत्मज्ञान के बिना सारा पांडित्य-प्रदर्शन मात्र है।

जगत् में नाना-प्रकार के धर्म और उनके नाना-प्रकार के अनुयायी हैं, जो धर्म के नाम पर लोगों को गुमराह करते हैं, झूठे क्रियाकांडों में उलझाते हैं, और पैसा ऐंठते हैं, वास्तव में वो धर्मात्मा नहीं, धर्म के ठग हैं। लोक में भी गुरु वे कहलाते हैं, जिनमें गुरुता हो, न कि वो जिनमें गुरुता के नाम पर कोरा-अहंकार भरा हो, जिसके चलते वह अपने को सबसे बड़ा और सामनेवाले को सबसे छोटा समझते हैं। मंत्र-तंत्र, जादू-टोना आदि की सिद्धि करने वाले, जो अपने को तांत्रिक, जादूगर कहते हैं, वास्तव में तो वे सिर्फ पैसे के पुजारी होते हैं, और लोगों को भ्रमित करते हैं। पूजा-पाठ, हवन आदि करानेवाले आजकल पंडित कहलाते हैं, जिन्हें मात्र अपनी दान-दक्षिणा से मतलब होता है, धर्म-कर्म से उन्हें कोई लेना देना नहीं होता। काव्य-कौशल में निपुण अर्थात् जनता को प्रसन्न करने के लिये अच्छी-अच्छी कवितायें सुनाकर उनका दिल जीतने के पीछे कवि का एकमात्र-उद्देश्य पैसा कमाना होता है। अपनी बात को तर्कपूर्ण-ढंग से कहनेवाला व्याख्याता होता है, वह भी ये सब पैसे कमाने के लिए ही करता है।

वास्तव में देखा जाये, तो उपर्युक्त वर्णित सभी जीव मायाचारी में सिद्धहस्त होते हैं, क्योंकि उनकी वाणी कुछ कहती है, और उनके मन में कुछ और ही होता है। ये पंचेन्द्रिय-विषयों के भिखारी हैं, अर्थात् विषय-सेवन के लिये अपना प्रयोजन साधते हैं। जहाँ इनका प्रयोजन पूरा हुआ, वहीं ये रास्ता बदल लेते हैं। कविवर कहते हैं 'ऐसे जीवों को देखकर उन पर क्रोध नहीं करुणा आना चाहिए, ये जीव तिरस्कार के नहीं दया के पात्र हैं, क्योंकि ये सच्चाई से अनभिज्ञ हैं।'

(देहा)

जो दयालता-भाव सो, प्रगट ज्ञान कौ अंग।

पै तथापि अनुभौ-दसा, वरतै विगत-तरंग॥ 114॥

दरसन-ग्यान-चरन-दसा, करै एक जो कोइ।

थिर ह्वै साधै मोख-मग, सुधी-अनुभवी सोइ॥ 115॥

शब्दार्थ :— जो दयालता-भाव= जो दया/करुणा का भाव है, सो प्रगट ज्ञान कौ अंग= वह स्पष्ट रूप से ज्ञान का अंग है, पै तथापि अनुभौ-दसा= फिर भी अनुभव की स्थिति, वरतै विगत-तरंग= तो इन विकल्पों से रहित ही वर्तती है॥ 114॥

दरसन-ग्यान-चरन-दसा= दर्शन, ज्ञान, चारित्र की स्थिति, करै एक जो कोइ= जो भी एकरूप करते हैं,

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः। एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ 46॥

थिर है साधै मोख-मग= स्थिर होकर मोक्षमार्ग साधते हैं, सुधी-अनुभवी सोइ= वही अनुभवी-ज्ञानी है॥ 115॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने सच्चे-आत्मानुभवी का लक्षण वर्णित किया है। पिछले-छंद में कवि ने सभी जीवों पर करुणा की बात कही थी, फिर चाहे वो हमारे लिये अपकारी हों या उपकारी। करुणा के भी दो रूप देखने को मिलते हैं— करुणा का रागरूप और करुणा का वीतरागरूप। अज्ञानी-जीवों के द्वारा की जाने वाली करुणा रागरूप है, क्योंकि उसमें कहीं न कहीं लौकिक या पारलौकिक-स्वार्थ छिपा रहता है। और भावलिंगी-मुनियों के द्वारा की जानेवाली करुणा वीतराग-रूप है, जो निःस्वार्थ-भाव से की गई है। ज्ञानी-जीवों के द्वारा की जानेवाली शास्त्र-रचना हम भ्रमित-जीवों पर निस्वार्थरूप से की गई करुणा का भाव ही तो है, अन्यथा वे तो अपने स्वरूप की साधना में लीन थे, उन्हें शास्त्र-रचना करने की क्या जरूरत थी?

मुनि-भगवंतों के द्वारा की जानेवाली इसी करुणा को कवि ने यहाँ साक्षात् 'ज्ञान का अंग' माना है। लेकिन फिर भी ये करुणा है तो विकल्परूप ही, और स्वरूप की अनुभूति तो इन विकल्पों से भी परे है, अर्थात् आत्मानुभूति तो निर्विकल्प ही होती है। जो जीव इन समस्त विकल्पों से रहित दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता से ही मोक्षमार्ग को साधता है, अर्थात् मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है, वही सच्चा-भेदविज्ञानी अनुभवी ज्ञानी-जीव है।

(सवैया इकतीसा)

जोई द्रिग-ग्यान-चरनातम मैं बैठि ठौर, भयौ निरदौर पर-वस्तु कौ न परसै।

सुद्धता विचार, ध्यावै, सुद्धता में केलि करै, सुद्धता में थिर है अमृत-धारा बरसै॥

त्यागि तन-कष्ट है सपष्ट अष्ट-करमकौ, करि थान-भ्रष्ट-नष्ट करै और करसै।

सोतौ विकल्प-विजई अल्प-काल-माँहि, त्यागि भौ-विधान, निरवान-पद परसै॥ 116॥

शब्दार्थ :- जोई द्रिग-ग्यान-चरनातम मैं बैठि ठौर= जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा में स्थिर होकर, भयौ निरदौर= परिणामों की चंचलता से रहित होता है, पर-वस्तु कौ न परसै= पर-पदार्थों को स्पर्श नहीं करता, सुद्धता विचारै= शुद्धता का विचार करता है, ध्यावै सुद्धता में केलि करै= शुद्धता को ध्याता है, उसी में केलि करता है, सुद्धता में थिर है= शुद्धता में स्थिर होकर, अमृत-धारा बरसै= अमृतधारा को बरसाता है, त्यागि तन-कष्ट= शारीरिक-कष्ट को त्यागकर, है सपष्ट अष्ट-करमकौ= आठों कर्मों की स्पष्टरूप से, करि थान-भ्रष्ट-नष्ट= स्थान-भ्रष्ट व नष्ट करके, करै और करसै= करता है और अधिक करेगा, सोतौ विकल्प-विजई= उस विकल्प को भी जीतनेवाला, अल्प-काल-माँहि= अल्पकाल में ही, त्यागि भौ-विधान= भवभ्रमण का विधान त्यागकर, निरवान-पद परसै= मोक्ष-पद को स्पर्श करता है।

विशेषार्थ :- एक सच्चे आत्मानुभवी-जीव को अनुभव का क्या फल मिलता है?— इसी का वर्णन कवि ने इस-छंद में किया है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामन करना आत्मा का स्वभाव है; जब ये परिणामन स्व-स्वरूप/स्व के लक्ष्य से होता है, तब-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र नाम पाता है; जब वही परिणामन पर-स्वरूप/पर के लक्ष्य से होता है, तब मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र नाम पाता है।

यहाँ सच्चे आत्मानुभवी-जीव का प्रकरण है; अतः जब जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र-स्वरूप आत्मा में बैठकर अर्थात् स्थित होकर/दृढ़-श्रद्धानी होकर, पर-संबंधी समस्त विकल्पों से रहित हो जाता है।

यहाँ तक कि उसके भावों में भी पर-वस्तु का स्पर्श नहीं रहता। फिर वह आत्मानुभवी-जीव शुद्ध-स्वरूप आत्मा का ही विचार करता है, उसी का ध्यान करता है, और उसी में अर्थात् शुद्धात्मा में ही केलि करता है; रसास्वादन करता है। शुद्ध-स्वरूप आत्मा में स्थिर होकर आनंदरूपी-अमृत की बरसात करवाता है, अर्थात् आनंदित होता है।

शारीरिक-कष्ट का त्याग अर्थात् शरीर से ममत्व का त्यागकर, और स्पष्टरूप से आठों-कर्मों की स्थिति को और भी जीर्ण-शीर्ण कर देता है। फिर धीरे-धीरे उनकी निर्जरा और क्षय करता है। अंत में विकल्प-मात्र को भी त्यागकर अल्पकाल में ही संसार के विधि-विधान अर्थात् जन्म-मरण के दुःखों से छूटकर अविनाशी निर्वाण-पद को प्राप्त करता है।

(चौपाई)

गुण-परजै में द्रिष्टि न दीजै, निरविकल्प-अनुभौ-रस पीजै।

आप समाइ आपमैं लीजै, तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै॥ 117॥

(दोहा)

तजि-विभाउ हूजै मगन, सुद्धातम-पद-माँहि।

एक मोख-मारग यहै, और दूसरौ नाँहि॥ 118॥

शब्दार्थ :— गुण-परजै में द्रिष्टि न दीजै= गुण-पर्याय में उपयोग नहीं लगाओ, निरविकल्प-अनुभौ-रस पीजै= निर्विकल्प-आत्मानुभव का रस पियो, आप समाइ आपमैं लीजै= अपने को अपने में समा लो, तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै= तन में अपनापन मेटकर, अपने में अपनापन करो॥ 117॥

तजि-विभाउ= विभावों को छोड़कर, हूजै मगन सुद्धातम-पद माँहि= शुद्धात्म-स्वरूप में मगन होओ, एक मोख-मारग यहै= एक यही मोक्षमार्ग है, और दूसरौ नाँहि= और दूसरा नहीं है॥ 118॥

विशेषार्थ :— इन-छंदों में कवि ने भव्यजीवों को न केवल पर-संबन्धी बल्कि स्वात्मानुभूति-संबन्धी भी सभी विकल्पों का त्यागकर एक मात्र आत्मिक-रस का वेदन करने का उपदेश दिया है; क्योंकि विकल्प कैसा भी हो, आनंद के वेदन में बाधक ही है।

यह-छंद उपदेशात्मक-शैली में लिखा गया है, जो जीव आत्मस्वरूप की अनुभूति के लिये पुरुषार्थरत तो हैं, लेकिन आत्मा के गुणों अर्थात् आत्मस्वरूप में कौनसे गुण हैं, कौनसे नहीं हैं? क्या अस्ति है, क्या नास्ति है? पर्यायों में अर्थात् अभी तो अमुक-पर्याय में हूँ, अमुक-काल में हूँ, अभी तो मोक्ष हो ही नहीं सकता,—इत्यादि विकल्पों में उलझ जाते हैं, उन जीवों को संबोधित करते हुए कविवर कहते हैं कि इन विकल्पों से अपने उपयोग को हटाओ, अपने को मात्र ज्ञाता-दृष्टा अनुभव करो, और विकल्प-रहित आत्मिक-आनंद के रस का वेदन करो; क्योंकि जबतक विकल्पों में उलझे रहोगे, तबतक वास्तविक-आनंद की अनुभूति नहीं होगी।

अब तो अपने को अपने में समा लो अर्थात् अपने उपयोग को समस्त बाह्य-विकल्पों से हटाकर एकमात्र शुद्ध-स्वरूप में ही स्थित करो, और शरीरादि पर-संयोगों और संयोगी-भावों में जो अहंबुद्धि या अपनापन है, उसका त्यागकर अपने ज्ञायक भगवान् आत्मा में अपनापन करो। यहाँ तक कि विभाव अर्थात् स्वभाव के विपरीत, स्वरूप से बाहर मोह, राग, द्वेष, व्रत, तप, नियम, संयमादि के जो भी विकल्प

एको मोक्षपथो य नियतो दृग्ज्ञप्ति-वृत्त्यात्मक-स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।

तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्, सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्तिव्योदयं विन्दति॥ 47॥

है, वह सब विभाव ही है; उनको छोड़कर अपने उपयोग को शुद्धात्मा में ही स्थिर करो, क्योंकि केवल यही मुक्ति का मार्ग है, दूसरा कोई नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि इसके अलावा शेष सभी भेष या मार्ग संसार में ही परिभ्रमण करानेवाले हैं।

(सवैया इकतीसा)

केई मिथ्याद्रिष्टि-जीव धरैं जिनमुद्रा-भेष, क्रियामैं मगन रहैं कहैं हम जती हैं।

अतुल, अखंड, मल-रहित, सदा उदोत, ऐसे ग्यान-भावसौं विमुख मूढ़मती हैं॥

आगम संभालैं, दोस टालैं, विवहार भालैं, पालैं व्रत जदपि, तथापि अविरती हैं।

आपुको कहावैं मोख-मारग के अधिकारी, मोखसौं सदीव-रुष्ट दुष्ट-दुरमती हैं॥ 119॥

शब्दार्थ :- केई मिथ्याद्रिष्टि-जीव= कई मिथ्यादृष्टि-जीव, धरैं जिनमुद्रा-भेष= दिगम्बर-मुद्रा का वेश धारणकर, क्रियामैं मगन रहैं= बाहरी-क्रिया में मग्न रहते हैं, कहैं हम जती हैं= और स्वयं को 'मुनि' कहते हैं, अतुल अखंड मल-रहित = तुलना-रहित, भेद-रहित, विकार-रहित, सदा उदोत= सदा प्रकाशरूप, ऐसे ग्यान-भावसौं विमुख= ऐसे ज्ञान-भाव से विमुख, मूढ़मती हैं= बुद्धिहीन/अज्ञानी हैं, आगम संभालैं= शास्त्र का अध्ययन करते हैं, दोस टालैं= बाहरी-दोषों से बचते हुये, विवहार भालैं= व्यवहार में सावधान रहते हैं, जदपि पालैं व्रत= यद्यपि व्रतादिक का पालन करते हैं, तथापि अविरती हैं= फिर भी अव्रती हैं, आपुको कहावैं= स्वयं को कहलवाते हैं, मोख-मारग के अधिकारी= मोक्षमार्ग का अधिकारी, मोखसौं सदीव-रुष्ट= मोक्ष से सदैव रूठे हुये, दुष्ट दुरमती हैं= दुष्ट, दुर्बुद्धि-जीव हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने उन जीवों को संबोधित किया है, जो आत्मानुभूति को छोड़कर शरीराश्रित सभी बाह्य-क्रियायें यथायोग्य पालते हुये भी संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

जगत् में नाना-प्रकार के जीव हैं, और सभी धर्म के नाम पर कुछ न कुछ अवश्य करते हैं, फिर चाहे वह गलत हो या सही। जैन-आम्नाय में बाह्य में जिनमुद्रा अर्थात् समस्त अंतरंग-बहिरंग परिग्रह से रहित वीतरागी नग्न-दिगम्बर-मुद्रा को मोक्ष का कारण माना गया है; लेकिन उस जिनमुद्रा को धारण करने से पहले निज-शुद्धात्मा का चिंतन-मनन और अनुभवन होना अति-आवश्यक है, अन्यथा जैसे बिना बीज के खेती का कोई महत्त्व नहीं होता, उसीप्रकार बिना आत्मानुभूति के अर्थात् बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के निरतिचार-चारित्र का पालन भी 'सम्यक्' नाम नहीं पाता है।

बहुत से मिथ्यादृष्टि-जीव, अर्थात् वे जीव जिन्हें अभी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है, लेकिन भावावेश में या अन्य किसी भी कारणवश 'जिनमुद्रा' अर्थात् 'नग्नमुद्रा' को धारण करते हैं, और मुनिधर्म-संबंधी बाहरी-क्रियाओं में मग्न रहते हैं अर्थात् 28 मूलगुणों का निरतिचार-पालन करते हैं, और स्वयं को 'मुनि' कहकर या कहलवाकर अपनी पूजा-वंदना करवाते हैं। लेकिन जिसकी तुलना-योग्य जगत् में अन्य कोई पदार्थ नहीं है— ऐसा अतुलनीय, पर्यायगत भेद-रहित— अखंड, रागादि-विकारों के मल से रहित— अमल/निर्मल, किसी भी गति में, किसी भी स्थिति में अपना जीवत्व-स्वभाव नहीं छोड़ता— सदा उदोत ऐसे ज्ञान-स्वभावी आत्मा से पूर्णतः विमुख अर्थात् अनुभूति से रहित हैं, वे जीव मूर्ख हैं, बुद्धिहीन हैं।

ये त्वेनं परिहत्य संवृति-पथ-प्रस्थापितेनात्मना, लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोध-च्युताः।

नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते॥ 48॥

यद्यपि ये जीव आगम को संभालते हैं, अर्थात् आगम का अभ्यास करते हैं, चिंतन, मनन, पठन-पाठन भी करते हैं, निर्दोष-विधि से आहार-विहार आदि समस्त क्रियायें करते हैं। व्रत, नियम, संयमादि-क्रियायें भी करते हैं, लेकिन फिर भी आत्मानुभव न होने से 'अव्रती' ही कहलाते हैं।

कैसी बिडम्बना है कि ऐसे जीव स्वयं को मोक्ष का अधिकारी भी कहते हैं, जबकि वे मोक्ष का स्वरूप भी नहीं जानते। मात्र क्रियाकांडरूपी कर्तृत्वपने का बोझ सिर पर रखकर मोक्ष से कोसों दूर चले जाते हैं। इसलिए कविवर कहते हैं कि ऐसे जीव मोक्ष से सदैव रुष्ट/नाराज, दुष्ट और दुर्बुद्धि हैं।

(चौपाई)

जैसे मुगध धान पहिचानै, तुष-तंदुल कौ भेद न जानै।
तैसेँ मूढ़मती-विवहारी, लखै न बंध-मोख-गति न्यारी॥ 120॥

(दोहा)

जे विवहारी मूढ़-नर, परजै-बुद्धी जीव।
तिन्हकौ बाहिज-क्रियाविषै, है अवलंब सदीव॥ 121॥

शब्दार्थ :- जैसे मुगध धान पहिचानै= जैसे कोई भोला-पुरुष धान को तो पहिचाने, तुष-तंदुलकौ भेद न जानै= लेकिन छिलके और चावल के भेद को न जाने, तैसेँ मूढ़मती-विवहारी= उसीप्रकार अज्ञानी व्यवहारी-जीव, लखै न बंध-मोख-गति न्यारी= बंध और मोक्ष की भिन्नता को नहीं पहिचानता॥ 120॥

जे विवहारी मूढ़-नर= जो व्यवहार में लीन अज्ञानी-जीव, परजै-बुद्धी-जीव= पर्याय में अहंबुद्धि करनेवाले, तिन्हकौ बाहिज-क्रियाविषै= उनको बाह्य-क्रियाओं में ही, है अवलंब सदीव= सदैव अवलंबन रहता है॥ 121॥

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव की मनोवृत्ति का सटीक-चित्रण किया है।

जैसे कोई भोला-मनुष्य धान अर्थात् छिलका सहित चावल को तो जानता हो, लेकिन धान के अंदर के चावल और छिलके के भेद अर्थात् अंतर को न जानता हो, वह मूर्ख है, अर्थात् वह यह नहीं जानता है कि इस धान के अंदर का चावल प्रयोजनभूत है, अतः उसे उपयोग में लेना है, और छिलका अप्रयोजनभूत है, अतः उसे छोड़ना है। उसीप्रकार अज्ञानी-जीव देह को ही प्रयोजनभूत, और देहाश्रित-क्रियाओं को ही उपादेय मानकर ग्रहण करना चाहे, तो वह मूर्ख है, दुर्बुद्धि है, क्योंकि जैसे धान के अंदर प्रयोजनभूत चावल विद्यमान है, ठीक उसीप्रकार इस देह-देवालय के अंदर प्रयोजनभूत ज्ञायक-भगवान्-आत्मा विराजमान है। जैसे हम धान के ऊपर के छिलके को हटाकर चावल का उपयोग करते हैं, उसीप्रकार अप्रयोजनभूत-देहादिक से दृष्टि हटाकर प्रयोजनभूत-शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिए।

पूजा-पाठ, व्रतादिक, यहाँ तक कि 28 मूलगुणों का निरतिचार-पालन करना भी देहाश्रित-क्रिया है, जो कि एक भिन्न-द्रव्य है, और देहाश्रित समस्त-क्रियाओं का कर्ता अर्थात् पर का कर्ता स्वयं को मानना ही तो मिथ्यात्व है, धर्म कैसे हो सकता है? इसी झूठी-मान्यता से ही तो कर्म का बंध होता है, और जिन परिणामों से बंध होता है, उन परिणामों से मोक्ष कैसे हो सकता है? विचार तो करो।

व्यवहार-विमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।

तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ॥ 49॥

हे आत्मन्! बंध और मोक्ष का न केवल स्वरूप भिन्न है, बल्कि दोनों की चाल भी भिन्न है। दोनों के कारण और फल भी पूर्णतः भिन्न है, फिर दोनों एकरूप कैसे हो सकते हैं? इसीलिए जो जीव व्यवहार में अर्थात् पूजा-पाठ, व्रत-संयम आदि में ही मग्न हैं, जिनको पर्याय के प्रति अहंबुद्धि, देह के प्रति ममत्व-बुद्धि निरन्तर बनी रहती है; उन्हें हमेशा बाह्य-क्रियाओं का ही अवलंबन रहता है अर्थात् उन जीवों ने हमेशा देहाश्रित-क्रियाओं में ही धर्म माना है, कविवर कहते हैं कि वे जीव भी अज्ञानी हैं।

(दोहा)

कुमति बाहिज-दृष्टिसौ, बाहिज-क्रिया करंत।
मानै मोख-परंपरा, मन मैं हरष धरंत॥ 122॥
सुद्धातम-अनुभौ-कथा, कहै समकिती कोइ।
सो सुनिकैं तासौ कहै, यह सिवपंथ न होइ॥ 123॥

शब्दार्थ :- कुमति बाहिज दृष्टिसौ= कुबुद्धि बहिर्मुख-दृष्टि से, बाहिज-क्रिया करंत= बाह्य-क्रियायें करता है, मानै मोख-परंपरा= उसी से मोक्ष की परम्परा मानता है, मन मैं हरष धरंत= मन ही मन हर्षित होता है॥ 122॥

सुद्धातम-अनुभौ कथा= शुद्ध-स्वरूप के अनुभव की चर्चा, कहै समकिती कोइ= कोई सम्यग्दृष्टि-जीव कहता है, सो सुनिकैं तासौ कहै= उसे सुनकर उनसे कहता है, यह सिवपंथ न होइ= यह मोक्षमार्ग नहीं है॥ 123॥

विशेषार्थ :- मिथ्यादृष्टि-जीव अर्थात् वह जीव, जिसकी बुद्धि हमेशा आत्महित से विपरीत ही परिणामन करती है, सत्य-मार्ग की जानकारी हो जाने पर भी उसे स्वीकार नहीं करती— ऐसे जीवों की मानसिकता और प्रवृत्ति का वर्णन कवि ने उपर्युक्त-छंदों में किया है।

जिन जीवों की दृष्टि बहिर्मुख है, अर्थात् देहादिक पर-संयोगों और रागादि पर-भावों में आसक्त है, वे अपने सुख-दुःख का कारण भी दूसरों को ही मानते हैं; इसीलिए धर्म साधने के लिये भी वे बाह्य-क्रियाओं में ही अनुरक्त होते हैं या कहें रुचिपूर्वक प्रवर्तते हैं। इतना ही नहीं मुक्ति का कारण भी वे बाह्य-क्रियाओं पूजा-पाठ व्रत, नियम, संयम, दिगम्बरत्व आदि को ही मानते हैं, इसलिये स्वयं तो उन क्रियाओं में सहर्ष-प्रवर्तन करते ही हैं, दूसरों को भी उसकी ही प्रेरणा देते हैं।

यदि कोई सम्यक्-श्रद्धानी-जीव उन भ्रमित-जीवों को शुद्ध-स्वरूप की अनुभूति का मार्ग बताये, सत्य-धर्म की चर्चा करे; तो पहले तो वह सुनने को ही तैयार नहीं होते और कदाचित् सुन भी लें, तो मानते नहीं, बल्कि कुतर्क करते हैं। और कहते हैं कि "यह मुक्ति का मार्ग नहीं है, मुक्ति का मार्ग तो तपस्या करना है, जबतक 28 मूलगुणों का पालन अर्थात् देहाश्रित बाह्य-क्रियायें नहीं करेंगे, तबतक मुक्ति कैसे होगी?" सो उन क्रियाओं को पालने का अथक-पुरुषार्थ करते हैं।

(कवित्त)

जिन्हके देहबुद्धि घट-अंतर, मुनिमुद्रा-धरि क्रिया-प्रवांनाहि।
ते हिय-अंध बंध के करता, परम-तत्तकौ भैद न जानहि॥
जिन्हके हिए सुमति की कनिका, बाहिज-क्रिया भेष पर-मानहि।
ते समकिती मोख-मारग-मुख, करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि॥ 124॥

द्रव्यलिङ्ग-ममकार-मीलितै-दृश्यते समयसार एव न।

द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः॥ 50॥

शब्दार्थ :— जिन्हके देहबुद्धि घट-अंतर= जिनके अंतरंग में देह के प्रति ममत्वबुद्धि है, मुनिमुद्रा-धरि क्रिया-प्रवांनाहि= मुनिमुद्रा को धारणकर बाह्य-क्रिया को ही उपादेय मानते हैं, ते हिय-अंध बंध के करता= वे हृदय के अंधे हैं, बंध के कर्ता हैं, परम-तत्तकौ भैद न जानहि= आत्मतत्त्व का मर्म नहीं जानते, जिन्हके हिए सुमति की कनिका= जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञान की किरण प्रकाशित हुई है, बाहिज-किरिया-भेष पर मानहि= बाह्य-क्रिया और भेष को 'पर' मानते हैं, जे समकिती मोख-मार्ग मुख= वे सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्ग के सन्मुख होकर, करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि= गमन करते हैं, और संसार की स्थिति को क्षीण करते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मिथ्यादृष्टि-जीव और सम्यग्दृष्टि-जीव की विचारधारा के अंतर को स्पष्ट किया है।

जिन जीवों के हृदय में देह ओर संयोगों के प्रति अपनापन विद्यमान है, वे जीव मुनिव्रत अंगीकार करने के बाद भी बाह्य-क्रियाकांड को ही श्रेष्ठ मानते हैं। अर्थात् जब देह में ममत्वबुद्धि विद्यमान है, तो देहाश्रित पलनेवाली-क्रियाओं में भी रुचि और प्रवृत्ति वर्तती है। ऐसे जीव सच्चे-मोक्षमार्ग की कल्पना भी उन्हीं बाह्य-क्रियाओं से करते हैं। कविवर कहते हैं कि वे जीव हृदय के अंधे हैं, जैसे अंधे-व्यक्ति को जमीन और खाई का अंतर समझ में नहीं आता; ठीक उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि-जीव को भी सत्यधर्म और मिथ्याधर्म का अंतर समझ में नहीं आता। यद्यपि वे जीव उन समस्त तथाकथित धर्म-संबंधी बाह्य-क्रियाओं को मोक्षमार्ग समझकर करते हैं; लेकिन वे ये नहीं जानते कि इन क्रियाओं से मोक्ष नहीं, बंध की सिद्धि हो रही है।

बाह्य-क्रियाओं में अनुरक्त-जीव परम-तत्त्व अर्थात् आत्म-तत्त्व के मर्म को ना तो स्वयं समझते हैं, और न ही किसी से समझना चाहते हैं। जबकि इसके विपरीत जिन जीवों के हृदय में सम्यग्ज्ञान की किरण प्रकाशित है अर्थात् देह और आत्मा या स्व और पर के बीच भेदविज्ञान जागृत है, वे जीव बाह्य-क्रियाओं और बाह्य-मुनिभेष को 'पर' मानते हैं अर्थात् हेय मानते हैं। जैसे सूर्य की एक किरण भी अंधकार को दूर कर देती है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान की एक किरण भी अनादि के मिथ्यात्व-अंधकार को दूर कर देती है। ऐसे स्व की आराधना में अनुरक्त सम्यग्दृष्टि-जीव ही वास्तव में मोक्षमार्ग की ओर गमन करते हैं, और अपनी भवस्थिति अर्थात् अनंत-संसार को, जन्म-मरण के दुःखों को अतिशीघ्र नष्ट करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

आचारज कहैं "जिनवचन कौ विसतार, अगम-अपार है, कहैंगें हम कितनौ ।
बहुत बोलिबेसौं न मकसूद चुप्प भली, बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनौ"॥
नानारूप-जलपसौं नाना-विकलप उठै, तातैं जैतौ-कारज कथन-भलौ तितनौ।
सिद्ध-परमातमाकौ अनुभौ-अभ्यास कीजै, यहै मोखपंथ परमारथ है इतनौ॥ 125॥

शब्दार्थ :— आचारज कहैं= आचार्य कहते हैं, जिनवचन कौ विसतार अगम-अपार है= जिनवचनों का विस्तार अगम्य, अंतहीन है, कहैंगें हम कितनौ= हम कितना विस्तार करें, बहुत बोलिबेसौं न मकसूद चुप्प भली= बहुत बोलना इष्ट नहीं है, (इसलिए) मौन रहना अच्छा है, बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनौ= जितना प्रयोजन है, उतना ही बोलो वही सुवचन है, नानारूप-जलपसौं= नानाप्रकार की बकवास करने से, नाना-

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-रयमहि परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।

स्वरस-विसर-पूर्णज्ञान-विस्फूर्ति-मात्रा-न्न खलु समयसारादुतरं किञ्चिदस्ति ॥ 51॥

विकल्प उठै= अनेकप्रकार के विकल्प उठते हैं, **तातैं जैतौ-कारज**= इसलिये जितना काम हो, **कथन भलौ तितनौ**= उतना ही कथन करना अच्छा है, **सिद्ध परमात्माकौ**= सिद्धसमान शुद्ध-परमात्मा के, **अनुभौ-अभ्यास कीजै**= अनुभव का अभ्यास करना चाहिये, **यहै मोक्षपंथ**= यही मोक्षमार्ग है, **परमारथ है इतनौ**= इतना ही निश्चय है या प्रयोजन है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने जिनवाणी की अपार-महिमा और प्रयोजनभूत-सुवचनों की आवश्यकता और सार्थकता का सुंदर-वर्णन किया है।

जिनवाणी अर्थात् समवसरण के मध्य विराजमान तीन-लोक के नाथ जिनेन्द्र-देव के सर्वांग से निःसृत ओंकारमयी-ध्वनि को 'दिव्यध्वनि' या 'जिनवाणी' कहते हैं। जो इतनी विस्तृत है कि उसका वर्णन करना असंभव है, चार-ज्ञान के धारी गणधरदेव भी उसका वर्णन करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, क्योंकि जिनवचनों का न तो आदि है न अंत, आचार्यदेव कहते हैं कि हम कितना कहें? अर्थात् हम कितना भी वर्णन करें, तब भी हम उसका संपूर्ण-वर्णन नहीं कर सकते। इसलिए बहुत बोलना हमें इष्ट नहीं है, चुप रहना ही श्रेष्ठ है; क्योंकि प्रयोजनभूत वचन ही 'सुवचन' हैं, इसलिये उतना ही बोलना चाहिए।

नाना-प्रकार के जल्प/बकवास से अर्थात् अत्यधिक विस्तार-पूर्वक कथन करने से बहुत सारे व्यर्थ के विकल्प उठते हैं, और उन विकल्पों में उलझकर जीव भ्रमित हो जाता है। इसलिए कथन हमेशा उतना ही अच्छा होता है, जितने में अपनी बात या प्रयोजन पूरा होता हो। इसलिये एक मात्र सिद्ध समान निज शुद्धात्मा के अनुभव का ही अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि निश्चय से यहीं मोक्षमार्ग है।

(दोहा)

सुद्धात्म-अनुभौ क्रिया, सुद्ध-ग्यान-द्रिग दौर।

मुक्ति-पंथ साधन यहै, वागजाल सब और॥ 126॥

शब्दार्थ :- सुद्धात्म-अनुभौ क्रिया= शुद्धात्मा के अनुभव की क्रिया ही, सुद्ध-ग्यान-द्रिग-दौर= सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र है, मुक्ति-पंथ साधन यहै= मोक्षमार्ग का साधन यही है, वागजाल सब और= शेष सब वचनों का जाल है।

विशेषार्थ :- इसीलिए एकमात्र सिद्ध-समान निज-शुद्धात्मा के अनुभव का ही अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि निश्चय से यही मोक्षमार्ग है। अपने शुद्धस्वरूप का ऐसा दृढ़-श्रद्धान, ज्ञान और लीनता अर्थात् तदनुरूप प्रवर्तन ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। वास्तव में परमार्थ से/निश्चय से यही मोक्ष का कारण है, यही सत्य है; शेष सब मात्र वचनों का मायाजाल है।

(दोहा)

जगत-चक्षु आनंदमय, ग्यान-चेतनाभास।

निरविकल्प-सासुत-सुथिर, कीजै अनुभौ तास॥ 127॥

अचल-अखंडित-ग्यानमय, पूरन-बीत-ममत्व।

ग्यानगम्य बाधा-रहित, सो है आत्म-तत्त्व॥ 128॥

सर्वविशुद्धी-द्वार यह, कह्यौ प्रगट सिवपंथ।

कुन्दकुन्द-मुनिराज-कृत, पूरन भयौ गरंथ॥ 129॥

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्। विज्ञान-घनमानन्द-मयमध्यक्षतां नयत् ॥ 52॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञान-मात्रमवस्थितम्। अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्॥ 53॥

शब्दार्थ :- जगत्-चक्षु आनंदमय= विश्व-चक्षु (विश्व के समस्त-पदार्थों को देखने के लिए नेत्र के समान) आनंद-स्वरूप, ग्यानचेतना-भास= ज्ञानचेतना से प्रकाशित, निरविकल्प-सासुत-सुस्थिर= विकल्प-रहित, शाश्वत, सुस्थिर, कीजै अनुभौ तास= उसका अनुभव करो ॥ 127 ॥

अचल-अखंडित-ग्यानमय= अविचल, खंडरहित, ज्ञान का घनपिण्ड, पूरन-बीत-ममत्व= पूर्णतः मोह-रहित, ग्यानगम्य बाधा-रहित= ज्ञानगोचर, समस्त-बाधाओं (जन्म-मरण की) से रहित, सो है आत्म-तत्त्व= ऐसा आत्मतत्त्व है ॥ 128 ॥

सर्व-विशुद्धि-द्वार यह= यह सर्वविशुद्धि-द्वार, कहाँ प्रगट सिवपंथ= साक्षात् मोक्षमार्ग को प्रकट करनेवाला, कुन्दकुन्द-मुनिराज कृत= आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित, पूरन भयौ गरंथ= ग्रंथ पूरा हुआ ॥ 129 ॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने 'सर्वविशुद्धि-द्वार' नामक अधिकार के सार-स्वरूप शुद्धात्मा के स्वरूप का वर्णन और अनुभव की प्रेरणा दी है।

कविवर के अनुसार पिछले-छंद में भी आचार्य देव ने यही कहा कि अत्यधिक-विस्तार करना इष्ट नहीं है; इसलिये आत्महित के लिए जो उपयोगी है, वही कार्य करो। इस अधिकार का सार भी यही है कि आत्मतत्त्व सर्वप्रकार के मोह-रागादि मलों से रहित 'विशुद्ध' अर्थात् 'पूर्ण-शुद्ध' है; इसलिये अन्य-विकल्पों में न उलझकर एकमात्र आत्मस्वरूप के अनुभव का अभ्यास करो।

कैसा है वह 'आत्मतत्त्व'? विश्व के समस्त-पदार्थ एकमात्र ज्ञान से ही प्रकाशित है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही जानने में आते हैं, जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए आत्मा नेत्र के समान अर्थात् 'जगत्-चक्षु' है 'आनंदमय' अर्थात् आनंद से परिपूर्ण है। वह आत्मतत्त्व स्वयं ही स्वयं की 'ज्ञानचेतना से प्रकाशित' है, समस्त इष्ट-अनिष्ट संकल्प-विकल्पों से रहित 'निर्विकल्प' है, जन्म-मरण से रहित शाश्वत है, 'सुस्थिर' यानि किसी भी गति या पर्याय में रहे एकसमान रहता है। 'अचल' अर्थात् कभी विचलित नहीं होता, खंड-रहित 'अखंड' है, ज्ञान का 'घन-पिण्ड' है, 'पर' की किसी भी प्रकार की अपेक्षा से रहित स्वयं में ही 'परिपूर्ण' है, स्वभाव से मोहादि-विकारों से रहित 'वीतरागी' है, ज्ञान से ही जानने योग्य होने से 'ज्ञानगोचर' है, जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा आदि इन्द्रिय-जन्य समस्त बाधाओं से रहित 'निराबाध' है। हे आत्मन्! ऐसा आत्मतत्त्व है, सो उसी का अनुभव/श्रद्धान, ज्ञान और उसी में लीनता का अभ्यास करो।

'सर्वविशुद्धि-द्वार' नाम का यह अधिकार वर्णित करता है कि आत्मा सर्वप्रकार के मलों से रहित परिपूर्ण-शुद्ध है, ऐसा अनुभवन ही मोक्षमार्ग है। इसलिये कवि ने इसे साक्षात् मोक्षमार्ग को प्रकट करने का अधिकार कहा। कविवर कहते हैं कि 'आचार्य कुन्दकुन्द देव'-विरचित ये 'समयसार' ग्रंथ यहाँ पूर्ण हुआ।

(चौपाई)

कुन्दकुन्द-मुनिराज प्रवीना, तिन्ह यह ग्रंथ इहाँलौ कीना।

गाथा-बद्ध सुप्राकृत-वानी, गुरु-परम्परा रीति बखानी ॥ 130 ॥

भयौ गिरंथ जगत विख्याता, सुनत महासुख पावहि ग्याता।

जे नवरस जगमाँहि बखानै, ते सब समयसार-रस सानै ॥ 131 ॥

शब्दार्थ :- कुन्दकुन्द-मुनिराज प्रवीना= विद्याओं में निपुण कुन्दकुन्द मुनिराज, तिन्ह यह ग्रंथ इहाँलौ कीना= उनसे यह ग्रंथ यहाँ तक रचा, गाथा-बद्ध सुप्राकृत-वानी= गाथा-छंद में निबद्ध, श्रेष्ठ-प्राकृतभाषा में, गुरु-परम्परा-रीति बखानी= गुरु-परम्परा का निर्वहन किया ॥ 130 ॥

भयौ गिरंथ जगत-विख्याता= यह ग्रंथ लोक में प्रसिद्ध हुआ, सुनत महासुख पावहि ग्याता= सुनते ही

ज्ञानीजनों को महान्-सुख की प्राप्ति होती है, जे नवरस जगमाँहि बखानै= जो नव-रस जगत् में कहे गए हैं, ते सब समयसार-रस सानै= वे सब समयसार-रस में गर्भित हैं॥ 131॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने 'समयसार जी' ग्रंथ के मूल रचनाकार का उल्लेख और ग्रंथ की महिमा का सुंदर-वर्णन किया है।

कविवर कहते हैं "यहाँ तक 'समयसार जी' की रचना लोकप्रचलित जन-भाषा 'प्राकृत' के साथ-साथ आध्यात्मिक-रहस्य का मर्म खोलने में निपुण कलिकाल-सर्वज्ञ 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' ने की। इस 'समयसार जी' ग्रंथ की रचना आचार्यदेव ने पूर्व से चली आ रही परम्परा का निर्वाह करते हुए उस समय की जन-प्रचलित सरल, सुगम, स्वाभाविक प्राकृत-भाषा में की।"

आचार्यदेव-रचित यह महान् ग्रंथ लोक में अत्यधिक-प्रसिद्ध हुआ। जो जीव भावपूर्वक इस ग्रंथ को पढ़ते हैं, सुनते हैं, चिंतन-मनन करते हैं, वे महान् अतीन्द्रिय-सुख को प्राप्त करते हैं। साहित्य में नाट्यरचना के लिये शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, जुगुप्सा, भय, अद्भुत और शांत आदि नवरस प्रसिद्ध हैं अर्थात् इन रसों के माध्यम से काव्य-रचना की जाती है। ये सभी रस इस 'समयसार' के रस में गर्भित हैं।

(दोहा)

प्रगटरूप संसार मैं, नवरस-नाटक होइ।

नवरस-गर्भित ग्यानमय, विरला जानै कोई॥ 132॥

शब्दार्थ :- प्रगटरूप संसार मैं= लोक में प्रत्यक्ष देखते हैं, नवरस-नाटक होइ= नाटक में नवरस होते हैं, नवरस-गर्भित ग्यानमय= लेकिन नवरस ज्ञान में गर्भित हैं, विरला जानै कोई= यह बात कोई विरला ही जानता है।

विशेषार्थ :- साहित्य में नाट्य-रचना के लिये शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, जुगुप्सा, भय, अद्भुत और शांत आदि नव-रस प्रसिद्ध हैं, अर्थात् इन रसों के माध्यम से काव्य-रचना की जाती है। ये सभी रस इस 'समयसार' के रस में गर्भित हैं इसका विवेचन करते हुये कविवर कहते हैं कि संसाररूपी रंगमंच पर कर्मोदय-जन्य प्रसंगों में जीव-राजा के द्वारा अनादिकाल से जो नाटक खेला जा रहा है, उसमें ये सभी रस प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। कभी 'क्रोधादि'-विकार होने पर 'रौद्र' रूप, कभी जन्म-मरण के 'भय' रूप, कभी अनुकूलताओं के मिलने पर 'हर्ष' रूप, कभी प्रतिकूलताओं के मिलने पर 'विषाद' रूप, कभी धर्म और धर्मायतनों की रक्षा के लिये 'वीर' रूप, कभी जीवों पर दया-भाव रखते हुए 'करुणा' रूप, कभी जिनेन्द्र-भक्ति में मगन 'शांत-रस' रूप दिखाई देता है। इन सभी रसों में श्रेष्ठ 'शांतरस' को माना गया है, और यह शांतरस ज्ञान-रस में समाहित है, क्योंकि इन सभी रसों को जाननेवाला एक ज्ञान अर्थात् मैं शुद्धात्मा ही हूँ, ये कोई विरला ही अर्थात् ज्ञानी ही जानता है।

जहाँ अज्ञानी-जीव इस नाटक में दर्शित नवरसों में उलझकर कभी हर्षित और कभी दुःखी होता है, और नवीन-कर्मों का बंध करके संसार में भटकता है; वहीं ज्ञानी-जीव इन नवरसों के ज्ञाता बनकर इनसे भिन्न आत्मिक-रस का पानकर संसार-परिभ्रमण से छूटकर मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

(कवित्त)

प्रथम सिंगार, वीर दूजौ-रस, तीजौ-रस करुना सुखदायक।

हास्य चतुर्थ, रुद्ररस-पंचम, छट्टम-रस बीभच्छ विभायक॥

सप्तम-भय, अट्टम-रस अद्भुत, नवमो-शांत रसनिकौ नायक।

ए नव-रस ई नव-नाटक, जो जहँ मगन सोइ तिहि लायक॥ 133॥

शब्दार्थ :— प्रथम सिंगार= पहला शृंगार-रस, वीर दूजौ-रस= दूसरा वीर-रस, तीजौ-रस करुना सुखदायक= तीसरा सुखदायी करुणा-रस, हास्य-चतुर्थ= चौथा हास्य-रस, रुद्र रस-पंचम= पाँचवा रौद्र-रस, छट्टम-रस बीभच्छ विभायक= छटवाँ वीभत्स-रस घृणाजनक, सप्तम-भय= सातवाँ भय-रस, अट्टम-रस अद्भुत= आठवाँ अद्भुत-रस, नवमो-शांत= नवमाँ शांत-रस, रसनिकौ नायक= सभी रसों का नायक है, ए नव-रस= ये नौ-रस, एई नव नाटक= ये ही नौ नाटकवत्, जो जहँ मगन= जो जहाँ मगन, सोइ तिहि लायक= वह उसी के लायक है।

विशेषार्थ :—नवरसों का नामोल्लेख करते हुये कविवर कहते हैं पहला शृंगार रस, दूसरा वीररस, तीसरा करुणा रस जो सुखदायक है; चौथा हास्य रस, पांचवाँ रौद्ररस, छटवाँ घृणाजनक वीभत्स रस, सातवाँ भय रस और आठवाँ अद्भुतरस, नवमाँ शांत रस है। ये नवरस साहित्य में काव्य-रचना के लिए प्रसिद्ध हैं। इनमें से शांत-रस को सभी रसों का नायक यानि राजा माना गया है। लेकिन ये भी सच है कि जिस जीव को जो रस रुचिकर लगता है, वह उस रस-संबंधित विषयों की खोज करता है और उस रस का रसास्वादन करता है।

(सवैया इकतीसा)

सोभामैं सिंगार बसै, वीर पुरुषारथमैं, कोमल हिएमैं करुना-रस बखानिये।
आनंद में हास्य, रुंड-मुंडमैं विराजै रुद्र, वीभत्स तहाँ जहाँ ग्लानि मन आनिये॥
चिंतामैं भयानक, अथाहता में अद्भुत, माया की अरुचि तामैं सांत-रस मानिये।
एई नवरस भवरूप, एई भावरूप, इनिकौ विलेछिन सुद्रिष्टि जागैं जानिये॥ 134॥

शब्दार्थ :— सोभामैं सिंगार बसै= सुन्दरता में शृंगार-रस बसता है, वीर पुरुषारथमैं= वीर-रस पुरुषार्थ में, कोमल हिएमैं करुना-रस बखानिये= कोमल-हृदय में करुण-रस होता है, आनंद में हास्य= खुशी में हास्य-रस, रुंड-मुंडमैं विराजै रुद्र= रुंड-मुंड में रौद्र-रस रहता है, वीभत्स तहाँ जहाँ ग्लानि मन आनिये= वीभत्स-रस वहाँ होता है, जहाँ मन में घृणा का भाव होता है, चिंतामैं भयानक= चिंता में भयानक-रस, अथाहता में अद्भुत= आश्चर्य में अद्भुत-रस, माया की अरुचि तामैं सांत-रस मानिये= छल-कपट से विरक्ति का भाव उसमें शांत-रस होता है। एई नवरस भवरूप= ये ही नव-रस संसार/लौकिकरूप हैं, एई भावरूप= ये ही भाव/परमार्थरूप हैं। इनिकौ विलेछिन सुद्रिष्टि जागैं जानिये= इनका पृथक्करण दृष्टि के सम्यक् होने पर जागृत होता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने शृंगार आदि नव-रसों के लौकिक स्वरूप का सटीक-वर्णन किया है। जिस जीव को शारीरिक-सौंदर्य में रुचि होती है, वह शृंगार-परक-संसाधनों में तृप्त होता है। जिसके हृदय में देश-भक्ति और देश के आन-बान-शान की फिक्र होती है, वह वीर-रस में संतुष्ट होता है। जिसका हृदय कोमल होता है, जिसे जीव-दया, पर-हित, दूसरे जीवों के दुःख-दर्द को दूर करने की भावना होती है, वहाँ करुण-रस होता है। जीवन में अनुकूलताओं के मिलने पर, लौकिक में हार-जीत के प्रसंगों में जीत का अहसास होने पर जो खुशी मिलती है, वहाँ हास्य-रस होता है। युद्ध आदि के प्रसंगों, जीवन में मिलनेवाली प्रतिकूलताओं में क्रोध का आना, उससे चेहरे की भाव-भंगिमा बदल जाना आदि में रौद्र-रस होता है। और घृणाजनक-प्रसंगों पर मन में ग्लानि का भाव आने पर वीभत्स-रस होता है।

जन्म-मरण, वेदना, चोरी, भूत-प्रेतादि, रोगादि के होने पर जो डर लगता है, वहाँ भयानक-रस होता है। किसी भी चौकानेवाले प्रसंग को देखकर आश्चर्यचकित होना, दंग रह जाना आदि में अद्भुत-रस होता है। प्रभु-भक्ति में मग्नता, पाप, कषायादि से विरक्ति का भाव आना, वैराग्यमय-भावों के

होने पर शांत-रस होता है। ये सभी रस भवरूप भी हैं, अर्थात् लौकिकरूप में भी हैं; जिनमें आसक्त होने पर पुनः संसार का बंध होता है। और यही नव-रस भावरूप या परमार्थरूप भी है, अर्थात् इन रसों का आध्यात्मिकरूप भी है; जिनमें तल्लीन होने पर जीव संसार-बंधन से छुटकारा पा जाता है।

लेकिन इन नव-रसों का पृथक्करण या इनसे भिन्नता और सही रसों का चुनाव दृष्टि के सम्यक् होने पर ही होता है, अर्थात् जब जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; तब वह इन नव-रसों के लौकिक-रस से विरक्त होकर पारमार्थिक-रूप या अध्यात्म-रस की ओर अग्रसर होता है।

(छप्पय)

गुन-विचार 'सिंगार', 'वीर' उद्यम उदार-रुख।
 'करुना' समरस-रीति, 'हास' हिरदै उछाह-सुख॥
 अष्ट-करम-मल-दलन, 'रुद्र' वरतै तिहि थानक।
 तन विलेछ 'वीभच्छ', दुन्द-मुखदसा 'भयानक'॥
 'अद्भुत' अनंत-बल-चिंतवन, 'सांत' सहज वैराग-ध्रुव।
 नव-रस-विलास परगास तब, जब सुबोध घट-प्रगट हुव॥ 135॥

शब्दार्थ :— गुन-विचार सिंगार= गुणों का विचार 'शृंगार'-रस, वीर उद्यम उदार-रुख= उदार-मन से पुरुषार्थ करना 'वीर'-रस, करुना-समरस रीति= समस्त जीवों पर समभाव रखना 'करुण'-रस, हास हिरदै उछाह सुख= हृदय में सुख-प्राप्ति का उत्साह 'हास्य'-रस, अष्ट-करम-मल-दलन= अष्ट-कर्मों का विनाश करना, रुद्र वरतै तिहि थानक= उस स्थान पर 'रौद्र'-रस होता है, तन-विलेछ वीभच्छ= शरीर की अशुचिता को देखकर ग्लानि आना 'वीभत्स'-रस, दुन्द-मुख-दसा भयानक= जन्म-मरण की दुविधा में ग्रसित रहना 'भयानक'-रस है, 'अद्भुत' अनंत-बल-चिंतवन= आत्मा के अनंत-बल का चिंतन 'अद्भुत-रस' है, सांत-सहज वैराग ध्रुव= सहज-वैराग्य होना 'शांत-रस' है, नव-रस-विलास= नव-रसों का वैभव, परगास तब= तब प्रगट होता है, जब सुबोध घट प्रगट हुव= जब अंतरंग में सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने नवरसों का लौकिक-स्वरूप वर्णित किया था। लेकिन इन नवरसों का ज्ञानी-जीव भी रसास्वादन करते हैं, कैसे? ऐसे आध्यात्मिक स्वरूप एवं पात्रता का वर्णन इस-छंद में किया है।

जहाँ अज्ञानी-जीव इस नश्वर जड़-देह को बाह्य जड़-सामग्री से सजाकर खुश होते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव अपने को अपने ही चैतन्य-स्वरूप अनंत-आत्मिक-गुणों से सजाकर 'शृंगार-रस' का पान करते हैं। जहाँ अज्ञानी-जीव वीर-रस के तहत देश, समाज, परिवार आदि की रक्षा करने के लिये पुरुषार्थ करते हैं; वहीं ज्ञानी-जीव विशाल/उदार-मन से मोक्ष-प्राप्ति का पुरुषार्थ कर 'वीर-रस' को सार्थक करते हैं। जहाँ अज्ञानी-जीव केवल स्थूलकाय, दुःखी-जीवों पर करुणा करते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव निगोद से लेकर संज्ञी-पंचेन्द्रिय तक के समस्त-जीवों के प्रति समभाव रखकर 'करुण-रस' का रसास्वादन करते हैं। जहाँ अज्ञानी-जीव लौकिक-उपलब्धियों को प्राप्तकर हर्षित होते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव उत्साहपूर्वक आत्मिक सच्चे-सुख की अनुभूति करके 'हास्य-रस' रूप आनन्द का रसपान करते हैं।

जहाँ अज्ञानी-जीव रण-संग्राम आदि में विजय प्राप्त करने के लिए रौद्ररूप धारण करते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव अनादिकाल से साथ चले आ रहे अष्ट-कर्मों का विनाश करने के लिये जो तीव्र/उग्र-पुरुषार्थ करते हैं; उसी को यहाँ कवि ने 'रौद्र-रस' के रूप में संकेतित किया है। जहाँ अज्ञानी-जीव बाह्य-पदार्थों

को देखकर ग्लानि का अनुभव करते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव, अनादि से साथ चली आ रही इस जड़ देह की नव-द्वार से बहनेवाली अशुचिता को देखते हैं; उसी को यहाँ 'वीभत्स-रस' के रूप में चित्रित किया है।

जहाँ अज्ञानी-जीव बाह्य-जड़-पदार्थों और संयोगों के जुदा होने के डर से भयभीत रहते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव भव-भ्रमण और उसे बढ़ाने वाले भोगों से भयभीत रहते हैं; अतः वही 'भयानक रस' है। जहाँ अज्ञानी-जीव लोक में होने वाले अजूबों पर आश्चर्यचकित होते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव अपने अनंत-गुणों के वैभव को प्रत्यक्ष देखकर; अभी तक पर में उपयोग रमाने पर आश्चर्यचकित होते हैं— यही 'विस्मय/अद्भुत-रस' है। जहाँ अज्ञानी-जीव प्रभु-भक्ति में मगन, और कुछ नियम-संयम का पालनकर 'शांत-रस' का रसास्वादन करके तृप्त हो जाते हैं, वहीं ज्ञानी-जीव अंतरंग में स्वरूप-स्थिरता और बाह्य में क्रमशः कषायों का अभाव-पूर्वक मिलनेवाली आनंद की अनुभूति का पानकर वास्तविक 'शांत-रस' का अनुभव करते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि ज्ञानी-जीव भी प्रतिसमय नव-रसों का ही रसास्वादन करते हैं, परन्तु परमार्थरूप इन नव-रसों का वैभव उसी जीव को प्रगट होता है, जिसके हृदय में सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

(चोपाई)

जब सुबोध घटमैं परगासै, तब रस-विरस-विषमता नासै।

नव-रस लखै एक-रस-माँही, तातैं विरस-भाव मिटि जाँहि॥ 136॥

(दोहा)

सबरस-गर्भित मूल-रस, नाटक नाम गरंथ।

जाके सुनत प्रवांन जिय, समुझै पंथ-कुपंथ॥ 137॥

शब्दार्थ :- जब सुबोध घट मैं परगासै= जब सम्यग्ज्ञान हृदय में प्रगट होता है, तब रस-विरस विषमता नासै= तब रस और बेरस/नीरसता की विषमता/भेद नष्ट हो जाता है, नव-रस लखै एक-रस-माँही= नव-रस एक-रस में ही दिखते हैं, तातैं विरस-भाव मिटि जाँहि= जिससे बेरस अर्थात् रसरहित-भाव विनाश को प्राप्त होते हैं॥ 136॥

सबरस-गर्भित मूल-रस= सभी रस एक मूल-रस में गर्भित हैं, नाटक नाम गरंथ= नाटक नाम के ग्रंथ में, जाके सुनत प्रवांन जिय= जिसको सुनकर बुद्धिमान् जीव, समुझै पंथ-कुपंथ= सम्यक्-मार्ग और विपरीत-मार्ग का अंतर समझ जाते हैं॥ 137॥

समुच्चय-विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने 'रस' और 'बेरस' का अंतर बताते हुए सम्यक्-रस की उपादेयता प्रस्तुत की है।

'रस' अर्थात् एक अनुभूति, एक तृप्ति, एक संतुष्टि; सुख का एक ऐसा वेदन, जिसके सामने सभी रस फीके या बेस्वाद लगें। सम्यग्दर्शन से पूर्व जीव को इन रसों के लौकिक-स्वरूप में ही रस/आनंद/रुचि होती है। लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रकट होने के बाद जीव को आत्मानुभूति के समय जिस अतीन्द्रिय-आनंद के रस का वेदन होता है, तब रस और विरसता का भेद स्वतः ही खत्म हो जाता है; क्योंकि उस आत्मिक-रस के सामने ये सभी रस बेरस/नीरस/फीके और बेस्वाद लगते हैं। कारण यह है कि एक-रस इन्द्रिय-जनित है और दूसरा अतीन्द्रिय। एक-रस विकल्पात्मक है, तो दूसरा विकल्प-रहित निर्विकल्प। उस समय इन नवों-रसों के एकसाथ होने पर संभव आनंद से भी कई गुना अधिक आनंद इस नाटक के एक आत्मिक-रस में ही समाहित हो जाता है, जिससे नीरसता का विकल्प ही नहीं रह जाता है।

कविवर कहते हैं कि 'नाटक-समयसार' ग्रंथ, में जो सभी रसों का राजा है, ऐसे 'शांतरस' का वर्णन किया गया है जिसमें अन्य सभी रस समाहित हैं, जिसको भावपूर्वक सुनने, चिंतन, मनन करने से बुद्धिमान्-जीव को सम्यक् और विपरीत-मार्ग का भेद समझ में आता है। और वह जीव विपरीत-मार्ग को छोड़कर सम्यक्-मार्ग का अनुसरण करता है।

(चौपाई)

वरतै ग्रंथ जगत्-हित-काजा, प्रगटे अमृतचंद-मुनिराजा।
तब तिन्हि ग्रंथ जानि अति-नीका, रची बनाई संस्कृत-टीका॥ 138॥

(दोहा)

सरब-विसुद्धि-द्वारलौ, आए करत बखान।
तब आचारज भगति सौं, करै ग्रंथ-गुनगान॥ 139॥

शब्दार्थ :— वरतै ग्रंथ जगत्-हित-काजा= (समयसार) जगत् के जीवों के लिये हितकारी-ग्रंथ विद्यमान था, तब प्रगटे अमृतचंद-मुनिराजा= अमृतचंद्र मुनिराज हुये, तब तिन्हि ग्रंथ जानि अति-नीका= तब उन्होंने इस ग्रंथ को अत्यधिक-हितकारी जानकार, रची बनाई संस्कृत-टीका= इस पर संस्कृत-टीका की रचना की॥ 138॥

सरब-विसुद्धि-द्वारलौ= सर्वविशुद्धि-द्वार तक, आए करत बखान= वर्णन/टीका करते आये, तब आचारज-भगति सौं= अब (आगे) आचार्य (अमृतचंद्र) भक्तिपूर्वक, करै ग्रंथ-गुनगान= ग्रंथ का गुणगान अर्थात् महिमा को वर्णित करते हैं॥ 139॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने 'आचार्य कुन्दकुन्द' विरचित 'समयसार जी' ग्रंथ का और इस पर टीका लिखनेवाले 'आचार्य अमृतचंद्र' का बहुत ही आदर के साथ स्मरण किया है।

'आचार्य कुन्दकुन्द'-विरचित समयसार जी ग्रंथ, जो प्राकृतभाषा में निबद्ध है, वह 'नाटक समयसार जी' के 'सर्वविशुद्धि-द्वार' पर पूर्ण होता है। जिसकी महिमा का वर्णन अथवा गाथाओं पर कलश चढ़ाने का श्रेय 'आचार्य अमृतचंद्र' को जाता है, जो कि संस्कृतभाषा में निबद्ध 'समयसार कलश' के नाम से अध्यात्म-जगत् में अपना अप्रतिम-स्थान रखता है।

कविवर कहते हैं 'आचार्य कुन्दकुन्द' के पश्चात् उनकी परम्परा में एक 'आचार्य अमृतचंद्र' हुये, जब उन्होंने इस ग्रंथ को पढ़ा, तो भाव-विभोर हो गये, स्वयं के लिए भी और जगत् के संतप्त-जीवों के लिये अत्यधिक-हितकारी जानकर संस्कृत में 'आत्मख्याति' नाम से मूलतः गद्य-टीका की रचना की, जिसमें टीका के बीच-बीच में भावपूर्ण-पद्यों को भी अपनी ओर से संजोकर सजाया है। जिन्हें 'समयसार-कलश' नाम दिया गया है।

नाटक-समयसार में आगे अभी तीन द्वारों का वर्णन और है, जिसमें कविवर बनारसीदास जी ने 'आचार्य अमृतचंद्र' द्वारा हिन्दी भाषा में गद्य-शैली में रचित ग्रंथ की महिमा को, पद्य-शैली में वर्णित किया है। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा रचित मूलाधार-ग्रंथ 'समयसार' जी का विषय पूर्ण हो रहा है। अतः उसका उपसंहार करते हुये कविवर बनारसीदास जी लिखते हैं— आचार्य कुन्दकुन्द देव विरचित 'समयसार' जी ग्रंथ जगत् के जीवों के लिये महा-हितकारी है, क्योंकि इसमें संसार के दुःखों से पीड़ित जगत् के जीवों को उनके अपने ही अनंत-वैभव से, आत्मिक अनंत-गुणों से परिचय कराया है, सच्चे-सुख का परिचय और उसकी प्राप्ति का मार्ग बताया है।



(एकादश-अधिकार)

स्याद्वाद-द्वार

(चौपाई)

अदभुत-ग्रंथ अध्यातम-वानी, समुझै कोउ विरला-ग्यानी।

यामैं स्यादवाद-अधिकारा, ताकौ जो कीजै विसतारा॥ 1॥

तो गरंथ अति-सोभा पावै, वह मंदिर यह कलस कहावै।

तब चित अमृत-वचन गढ़ि खोले, अमृतचंद्र-आचारज बोले॥ 2॥

शब्दार्थ :— अदभुत-ग्रंथ अध्यातम-वानी= यह आध्यात्मिक-शैली का अद्भुत-ग्रंथ है, समुझै कोउ विरला-ग्यानी= जिसका मर्म कोई विशिष्ट ज्ञानी-जीव ही समझ सकता है, यामैं स्यादवाद-अधिकारा= इसमें स्याद्वाद-अधिकार है, ताकौ जो कीजै विसतारा= उसका जो विस्तार/स्पष्टीकरण करे तो गरंथ अति-सोभा पावै= तो ये ग्रंथ अत्यधिक-गरिमा को प्राप्त हो, वह मंदिर यह कलस कहावै= मूल समयसार-ग्रंथ मंदिर के समान और यह आगामी-वर्णन कलश के समान उपमित किया जाये, तब चित अमृत-वचन= यह मन में विचारकर अमृतमयी-वचनों की, गढ़ि खोले= रचना करके मर्म खोलनेवाले, अमृतचंद्र आचारज बोले= आचार्य अमृतचंद्र (इस स्याद्वाद-अधिकार को) कहते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'आचार्य अमृतचंद्र' के मनोभावों की अभिव्यक्ति का वर्णन करते हुए उनकी स्वयं से की गई प्रतिज्ञा का भी वर्णन किया है।

'आचार्य अमृतचंद्र' ने जब समयसार जी का अध्ययन किया तो भावविभोर हो गये, और कहने लगे "यह अद्भुत-ग्रंथ है, इसमें तो आत्मस्वरूप का सजीव-चित्रण है, जिसे कोई विशेष-ज्ञानी-जीव ही समझ सकता है।" इसमें जो 'स्याद्वाद' का वर्णन है, वह तो वस्तु-स्वरूप को समझने की अद्भुत-शैली है। उसका कोई स्पष्टीकरण करे, तो वह ठीक उसीप्रकार शोभा को प्राप्त होगा; जैसे मंदिर के ऊपर कलश शोभा को प्राप्त होता है। अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य के भावों को खोलनेवाला यह 'स्याद्वाद-अधिकार' उस अतिसुन्दर 'समयसार'-रूपी मंदिर के शिखर पर कलशारोहण करने के समान है।

(दोहा)

कुंदकुंद नाटक-विषैं, कह्यौ दरब-अधिकार।

स्यादवाद नै साधि मैं, कह्यौ अवस्था-द्वार॥ 3॥

कहाँ मुक्ति-पद की कथा, कहाँ मुक्ति का पंथ।

जैसे घृत 'कारज' जहाँ, तहाँ 'कारन' दधि-मंथ॥ 4॥

शब्दार्थ :— कुंदकुंद नाटक-विषैं= कुन्दकुन्द ने नाटक (ग्रंथ) में, कह्यौ दरब-अधिकार= नौ-पदार्थों के वर्णनरूप अधिकार कहे, स्यादवाद नै साधि मैं= अब स्याद्वाद को साधकर मैं अर्थात् अमृतचंद्र सूरि, कह्यौ अवस्था-द्वार= अवस्था-द्वार कहता हूँ॥ 3॥

कहाँ मुक्ति पद की कथा= मुक्ति-पद/मोक्ष का वर्णन करूँगा, कहाँ मुक्ति का पंथ= मुक्ति का मार्ग भी कहूँगा; जैसे घृत कारज जहाँ= जैसे जहाँ घी प्राप्तिरूप कार्य (का वर्णन करना लक्ष्य हो), तहाँ कारन दधि मंथ= वहाँ दही को मथनेरूप कारण (का वर्णन भी अनिवार्य हो जाता है)॥ 4॥

विशेषार्थ :— आचार्य अमृतचंद्र के भावों का मर्म खोलते हुये कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि 'आचार्य कुन्दकुन्द' ने इस 'समयसार' ग्रंथ में 'द्रव्य-अधिकार' के रूप में नवपदार्थों के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया। अब "आचार्य अमृतचंद्र ने जो 'स्याद्वाद-द्वार' लिखा है, उसके मर्म को मैं कहूँगा। मोक्षरूपी कार्य के वर्णन के साथ मोक्षमार्गरूपी-कारण का भी वर्णन करूँगा; क्योंकि जहाँ कार्य विवेच्य होता है, वहाँ उसका कारण भी विवेचनीय होता ही है। बिना कारण का वर्णन किये कभी कार्य का विवेचन सार्थक नहीं हो सकता है। जैसे लोक में यदि किसी को घी प्राप्त करना है, तो उसे दधि-मंथनरूप कारण का ज्ञान भी करना पड़ता है। ठीक उसीप्रकार यदि जीव मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, तो उसे मोक्षमार्ग का ज्ञान व अनुसरण करना ही होगा।"

(चौपाई)

अमृतचंद्र बोले मृदु-वानी, स्यादवाद की सुनौ कहानी।
कोऊ कहै "जीव जगमाँहि", कोऊ कहै "जीव है नांही"॥ 5॥

(चौपाई)

एकरूप कोऊ कहै, कोऊ अगनित-अंग।
छिनभंगुर कोऊ कहै, कोऊ कहै अभंग॥ 6॥
नै-अनंत इहिविधि कही, मिलै न काहू कोइ।
जो सब नै-साधन करै, स्यादवाद है सोई॥ 7॥
स्यादवाद-अधिकार अब, कहौं जैन को मूल।
जाके जानत जगत-जन, लहैं जगत-जल-कूल॥ 8॥

शब्दार्थ :— अमृतचंद्र बोले मृदु-वानी= अमृतचंद्र आचार्य मधुर-स्वर में बोले, स्यादवाद की सुनौ कहानी= स्याद्वाद की कहानी/वर्णन सुनो, कोऊ कहै जीव जगमाँहि= कोई कहता है "जगत् में जीव है", तो कोऊ कहै जीव है नांही= कोई कहता है "जीव है ही नहीं"॥ 5॥

एकरूप कोऊ कहै= कोई जीव को एकरूप कहते हैं, कोऊ अगनित अंग= कोई अनेकरूप, छिनभंगुर कोऊ कहै= कोई कहते हैं जीव अनित्य/नाशवान् है, कोऊ कहै अभंग= कोई कहता है जीव नित्य/अविनाशी है॥ 6॥

नै-अनंत इहिविधि कही= इसप्रकार अनंत-नय कहे गये हैं, मिलै न काहू कोइ= कोई किसी से नहीं मिलता, जो सब नै-साधन करै= जो सभी नयों को साधता है/स्वीकार करता है, स्यादवाद है सोई= वही स्याद्वाद है॥ 7॥

स्यादवाद-अधिकार अब= अब स्याद्वाद-अधिकार, कहौं जैन को मूल= जो जैनदर्शन का मूल है, उसे कहता हूँ, जाके जानत जगत-जन= जिसके जानने से जगत् के जीव, लहैं जगत-जल-कूल= संसाररूपी जलधि/समुद्र का किनारा पा लेते हैं॥ 8॥

विशेषार्थ :— उपर्युक्त-छंदों में कवि ने आचार्य भगवन् के इस अधिकार के वर्णन करने की सार्थकता बतलाते हुये स्याद्वाद की विचारधारा को वर्णित किया है।

आचार्य भगवन् अपनी प्रतिज्ञा को साकार करते हुये कहते हैं, "हे भव्यजीवो! स्याद्वाद की कहानी सुनो।" लोक में नानाप्रकार के मत या दर्शन हैं, जीव के बारे में सभी की धारणायें भी भिन्न-भिन्न हैं। कोई कहते हैं, "जगत् में जीव का अस्तित्व है", और कोई कहते हैं कि "जगत् में जीव नाम का कोई पदार्थ ही

नहीं है"। कोई कहते हैं "जीव एकरूप है" (अद्वैतवादी जीव को एक ब्रह्मरूप मानते हैं), तो कोई कहते हैं "जीव अनेकरूप है" (नैयायिक जीव को अनेकरूप मानते हैं)। "कोई जीव को अनित्य या विनाशीक मानते हैं" (बौद्ध-मतानुयायी जीव को अनित्य या क्षणिक मानते हैं), तो कोई जीव को नित्य/अविनाशी मानते हैं" (सांख्यमती जीव को नित्य या शाश्वत मानते हैं) इत्यादि।

इसप्रकार अनेक-नयों अर्थात् भिन्न-भिन्न कथनों का वर्णन मिलता है, सभी अपने-अपने हिसाब से जीव का स्वरूप मानते हैं, और किसी की भी विचारधारा एक दूसरे से नहीं मिलती है, परस्पर-विरुद्धता स्पष्ट भासित होती है। जबकि वास्तविकता तो यह है कि जो सभी नयों को अर्थात् अपेक्षाओं को स्वीकार करता है, वही स्याद्वाद इन सबमें अवरोध स्थापित कर वस्तु-स्वरूप के मर्म को समझाता है। और जैनदर्शन सभी नयों के प्रयोग से उन सब विवेक्षाओं को कैसे बिना किसी विरोध के स्वीकार करता है— यह इस अधिकार में समर्थ-ढंग से बताया गया है।

आचार्य भगवन् कहते हैं कि इसीलिए मैं अब 'स्याद्वाद' का सच्चा-स्वरूप कहता हूँ; क्योंकि यह जैनदर्शन का मूल है। जैसे विशाल से भी विशाल वृक्ष का आधार उसकी जड़ होती है, ठीक उसीप्रकार जैनदर्शनरूपी विशाल वृक्ष की जड़ 'स्याद्वाद' है। जगत् के जो जीव अनेकांतमयी-वस्तु के सभी धर्मों को स्याद्वाद के माध्यम से समझकर आत्मसात् करते हैं, वे निश्चित ही भवसमुद्र से पार हो जाते हैं।

(सवेया इकतीसा)

शिष्य कहै "स्वामी! जीव स्वाधीन कि पराधीन, जीव एक है किधौं अनेक मान लीजिए।

जीव है सदीव किधौं नांहि है जगत-माँहि, जीव अविनश्वर कि नश्वर कहीजिये"॥

सतगुरु कहैं "जीव है सदीव निजाधीन, एक अविनश्वर दरव-द्रिष्टि दीजिए।

जीव पराधीन छिनभंगुर अनेकरूप, नांही जहाँ तहाँ परजै-प्रवांन कीजिये"॥ 9॥

शब्दार्थ :— शिष्य कहै स्वामी= शिष्य कहता है गुरुजी ! जीव स्वाधीन कि पराधीन= जीव स्वाधीन है या पराधीन, जीव एक है किधौं अनेक मान लीजिए= जीव एक है अथवा अनेक मान लें, जीव है सदीव= जीव सदाकाल है, किधौं नांहि है जगत-माँहि= अथवा जगत् में जीव है ही नहीं, जीव अविनश्वर कि नश्वर मान लीजिए= जीव अविनाशी है कि विनाशीक मान लें। सतगुरु कहैं= सतगुरु कहते हैं, जीव है सदीव निजाधीन= जीव हमेशा निजाधीन ही रहता है, एक अविनश्वर= एक है, अविनाशी है, दरव-द्रिष्टि दीजिए= द्रव्य-दृष्टि से देखिये, जीव पराधीन छिनभंगुर= जीव पराधीन, विनाशी, अनेकरूप नांही= अनेकरूप नहीं है, जहाँ तहाँ परजै प्रवांन कीजिये= जहाँ (कहा गया हो), वहाँ पर पर्याय के अनुसार प्रमाणित करना।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पहले शिष्य की शंका को और पश्चात् गुरु के द्वारा दिये समाधान को वर्णित किया है।

सामान्य मिथ्यादृष्टि-जीव जब अपने चारों तरफ देखता है, तो उसे बहुत सारे दर्शन और उनके अनुयायी नजर आते हैं, जो अपने-अपने पक्ष से जीव की सिद्धि करते हैं। जब एक ही जीव की परस्पर-विरुद्ध सिद्धि होती है, तो यह शंका होना स्वाभाविक है कि आखिर सत्य क्या है? इसीलिए अपनी शंका को लेकर शिष्य गुरु के पास पहुँचता है, और गुरु से कहता है—

बाह्यार्थैः परिपीत-मुज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवद्, विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।

यत्तत्तदिह स्वरूप एव इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-दूरीन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥ 2॥

"हे स्वामी! मेरी शंका का समाधान कीजिये। जीव स्वाधीन है या पराधीन? एकरूप है या अनेकरूप? जीव जगत् में सदाकाल रहता है या कभी ऐसा भी होता है कि जीव का अस्तित्व न भी हो? जीव अविनाशी है या विनाशी?"

गुरुजी शिष्य की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि "प्रत्येक पदार्थ के दो पहलू हैं, एक शाश्वत-स्वभाव-अपेक्षा और दूसरा क्षणिक-परिणामन-अपेक्षा, या कहें द्रव्य-अपेक्षा और दूसरा पर्याय-अपेक्षा। जब हम द्रव्य-स्वभाव की अपेक्षा देखते हैं, तो जीव त्रिकाल-निजाधीन अर्थात् स्वयं के अधीन है, अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप स्वचतुष्टय में ही परिणामन करता है, कभी किसी के आधीन नहीं है। इसीप्रकार द्रव्य-अपेक्षा सभी आत्मायें समान हैं, एकरूप है, रंचमात्र भी अंतर नहीं है, न कभी विनाश को प्राप्त होती है, त्रिकाल शाश्वत है।"

"लेकिन जब हम पर्याय की अपेक्षा कथन करते हैं, तो जीव पराधीन दिखाई देता है। अनादिकाल से जीव आठ-कर्मों के आधीन है, और उन कर्मों के फल अनुसार चार-गति चौरासी-लाख-योनियों में परिभ्रमण भी करता है। इतना ही नहीं सुख-स्वभावी होते हुये भी दुःखी होता है। एकरूप होते हुये भी नाना स्थूल और सूक्ष्मरूपों में दिखाई देता है। अविनाशी होते हुये भी आयुर्कर्म की पराधीनता के कारण आयु पूरी होने पर मरण या कहें अन्य-देह को प्राप्त होता है। स्वभाव से पूर्ण-शुद्ध होते भी पर्याय में विकारगत-अशुद्धि को प्राप्त होता है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि जहाँ-जहाँ जीव पराधीन, विनाशी, अनेकरूप दिखे, वहाँ-वहाँ पर्याय-अपेक्षा प्रमाण जानना। और जहाँ-जहाँ जीव स्वाधीन, अविनाशी, एकरूप दिखे, वहाँ-वहाँ द्रव्य-अपेक्षा प्रमाण जानना। और जो दर्शन जीव के इन दोनों पहलुओं को निर्विरोधरूप से स्वीकार करता है, वही स्याद्वाद का पोषक होता है। लोक में वस्तु का ऐसा स्वरूप केवल जैनदर्शन ही स्वीकार करता है, अन्य कोई नहीं।

(सवैया इकतीसा)

दर्व-खेत-काल-भाव च्यारौं भेद वस्तु ही मैं, अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानियै।

पर के चतुष्क नासति नियत-अंग, ताकौ भेद दर्व-परजाइ-मध्य जानियै॥

दरव तौ वस्तु, खेत सत्ताभूमि, काल चाल, स्वभाव सहज मूल-सक्ति बखानियै।

याही भाँति पर-विकल्प-बुद्धि कल्पना, विवहार-द्रिष्टि अंस-भेद परवानियै॥ 10॥

शब्दार्थ :— दर्व-खेत-काल-भाव च्यारौं-भेद वस्तुही मैं= द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव= ये चारों भेद वस्तु में है, अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानियै= स्व-चतुष्टय से वस्तु अस्तिरूप है, पर के चतुष्क नासति= पर-चतुष्टय से नास्तिरूप है, नियत-अंग= यही निश्चय से वस्तु का स्वरूप है, ताकौ भेद दर्व-परजाइ मध्य जानियै= उसका भेद द्रव्य-पर्याय के बीच में घटित होता है, दरव तौ वस्तु, खेत सत्ताभूमि, काल चाल= द्रव्य-वस्तु है, क्षेत्र-क्षेत्रावगाहना (जितनी जगह में वस्तु रहती है) है, काल-परिणामन करना है, और स्वभाव सहज मूल-सक्ति बखानियै= वस्तु के मूल-स्वभाव को 'भाव' कहा जाता है, याही भाँति पर-विकल्प-बुद्धि कल्पना= इसीप्रकार पर के विकल्प की बुद्धिपूर्वक कल्पना करना, विवहार-द्रिष्टि अंस-भेद परवानियै= व्यवहारनय की दृष्टि से अंश-भेद प्रमाणित करना चाहिये।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने वस्तु-स्वरूप के 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों ही पहलुओं का वर्णन किया है।

छह-द्रव्यों के समूहरूप इस विश्व में अनंतानंत-द्रव्य हैं। जिसमें जीव-द्रव्य अनंत, पुद्गल-द्रव्य अनंतानंत, धर्म-अधर्म-आकाश द्रव्य एक-एक और कालाणु लोकप्रमाण-असंख्यात हैं। लेकिन प्रत्येक-द्रव्य सदाकाल अपने-अपने स्व-चतुष्टय या अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही निवास करते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से क्या अभिप्राय है ?

गुणों के समूह को 'द्रव्य' कहते हैं, जैसे जीव, पुद्गल आदि द्रव्य हैं। एक-द्रव्य आकाश के जितने हिस्से को घेरता है, उस सत्ताभूमि को 'क्षेत्र' कहते हैं। पदार्थ के परिणामन को या पर्याय से पर्यायान्तर होने के अन्तर को 'काल' कहते हैं। और उस वस्तु के मूल-स्वभाव को 'भाव' कहते हैं, -ये चतुष्क अर्थात् ये चारों ही प्रत्येक पदार्थ में सदाकाल विद्यमान रहते हैं। इस 'स्व-चतुष्टय' से ही पदार्थ की 'अस्तिरूप' में सिद्धि होती है। लेकिन एक-पदार्थ के चतुष्कों का अन्य-पदार्थ के चतुष्कों में प्रवेश नहीं है, अर्थात् परद्रव्य के चतुष्कों की स्व में नास्ति भी है। निश्चय से यही वस्तु का स्वरूप है, लेकिन इनका भेद द्रव्य और पर्यायों के बीच जाना जाता है, या घटित होता है।

एकसाथ मिले हुये दिखने पर भी कोई वस्तु कभी किसी के चतुष्क/चतुष्टय में प्रवेश नहीं करती। अर्थात् एक के स्व-चतुष्टय में पर के चतुष्टय की सदाकाल नास्ति है। इसप्रकार बुद्धिपूर्वक पर के विकल्प करना व्यवहारनय (वस्तु स्वरूप का असत्यार्थ प्रतिपादक) का भेद जानना, निश्चय से तो प्रत्येक वस्तु अपने स्व-चतुष्टय में ही सीमित है।

(दोहा)

है, नांही, नांही सु है, है, है नांही, नांही।

यह सरवंगी नय-धनी, सब मानै सब-माँहि॥ 11॥

शब्दार्थ :- है= स्याद्-अस्ति, नांही= स्याद्-नास्ति, नांही सु है= स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद्-अवक्तव्य, है नांही नांहि= स्याद्-अस्ति-अवक्तव्य, स्याद् नास्ति-अवक्तव्य, स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, यह सरवंगी नय-धनी= यह सभी नयों का स्वामी (स्याद्वाद), सब मानै= सभी को मानता है, सब-माँहि= सभी वस्तुओं में।

विशेषार्थ :- इन-छंद में कवि ने स्याद्वाद के सप्त-भंगों का वर्णन किया है। "प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरोद्ध विधि-प्रतिषेधरूप धर्मों की विवेचना सप्तभंगी है।" - (रा. वा. 1/6/5/33/15)

प्रश्नकर्ता के प्रश्नवश अनेकांत-स्वरूप वस्तु के प्रतिपादन के सप्त-भंग होते हैं। ये भंग सातप्रकार के हैं— स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, स्याद् नास्ति-अवक्तव्य, और स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य। वास्तव में देखा जाये, तो मूल-भंग तो तीन ही है— अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। शेष चार-भंग तो इन तीनों के संयोग से ही बनते हैं, इसलिए उनका इन्हीं में अंतर्भाव हो जाता है। जैसे—

1. जीव चेतन-स्वरूप ही है— 'अस्ति', 2. जीव अन्यरूप नहीं है— 'नास्ति', 3. जीव चैतन्य-स्वरूप है, अन्यरूप नहीं है— 'अस्ति-नास्ति', 4. जीव में अस्ति-नास्ति दोनों रूप होते हैं, परन्तु दोनों का युगपत् अर्थात् एकसाथ-कथन संभव नहीं है, अतः— 'अवक्तव्य'; 5. जीव चैतन्य-स्वरूप है, परन्तु उसके सभी धर्मों का युगपत्-कथन संभव न होने से — 'अस्ति-अवक्तव्य', 6. जीव जड़रूप नहीं है, परन्तु सभी धर्मों का युगपत्-कथन संभव न होने से— 'नास्ति-अवक्तव्य', 7. जीव चैतन्य-स्वरूप होने से अस्तिरूप है, जड़रूप नहीं होने से नास्तिरूप है, परन्तु दोनों का युगपत्-कथन संभव न होने से— 'अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य'।

इसप्रकार पिछले-छंद के अनुसार हम कह सकते हैं कि एक-द्रव्य अपने स्व-चतुष्टय अर्थात् स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल, स्व-भाव की अपेक्षा तो 'अस्ति'रूप है। पर-चतुष्टय अर्थात् पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, और पर-भाव रूप न होने की अपेक्षा 'नास्ति'रूप है। एक ही समय में स्व-चतुष्टय की अस्ति और पर-चतुष्टय की नास्ति होने से 'अस्ति-नास्ति'रूप है। जीव स्व-चतुष्टय-रूप है, और पर-चतुष्टय-रूप नहीं है, परन्तु एक ही समय में सभी धर्मों का युगपत्-कथन संभव न होने से अवक्तव्य है। स्व-चतुष्टय की अस्ति होते हुये भी सभी धर्मों का एक ही समय में युगपत्-कथन संभव न होने से 'अस्ति-अवक्तव्य' है। पर-चतुष्टय की नास्ति होते हुये भी सभी धर्मों का एक ही समय में युगपत्-कथन संभव न होने से 'नास्ति-अवक्तव्य' है। स्व-चतुष्टय की अस्ति और पर-चतुष्टय की नास्ति दोनों होते हुये भी एक ही समय में युगपत्-कथन न होने से 'अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' है।

कहने का अभिप्राय यही है कि वस्तु परस्पर-विरोधी अनंत-धर्मात्मक है। जैसे द्रव्य-अपेक्षा नित्य है, पर्याय-अपेक्षा अनित्य भी है; इसीप्रकार सत् भी है, असत् भी है; शुद्ध भी है, अशुद्ध भी है इत्यादि। और इन सभी परस्पर-विरोधी धर्मों का एकसाथ एक ही समय में कथन करना संभव नहीं है, इसलिये स्याद्वादी 'स्यात्' या 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिससे बिना किसी विरोध के सहज ही वस्तु स्वरूप की सिद्धि होती है। इसीलिए आगम में उपर्युक्त वर्णित इन सप्तभंगी-नयों के द्वारा वस्तु-स्वरूप का कथन किया जाता है।

(सवैया इकतीसा)

ग्यान कौ कारन ज्ञेय, आतमा त्रिलोकमय, ज्ञेयसौ अनेक-ग्यान, मेल ज्ञेय-छांही है।

जौलौं ज्ञेय तौलौं ग्यान, सर्व-दर्व में विग्यान, ज्ञेय-क्षेत्र मान ग्यान जीव-वस्तु नांही है॥

देह नसै जीव नसै, देह उपजत लसै, आतमा अचेतना है सत्ता अंस-माँही है।

जीव-छिनभंगुर अग्यायक सहजरूपी ग्यान, ऐसी-ऐसी एकांत-अवस्था मूढ-पांही है॥ 12॥

शब्दार्थ :- ग्यान कौ कारन ज्ञेय= ज्ञान का कारण ज्ञेय मानना, आतमा-त्रिलोकमय= आत्मा त्रिलोक-प्रमाण मानना, ज्ञेयसौ अनेक-ग्यान= (अनेक) ज्ञेय से अनेक ज्ञान मानना, मेल ज्ञेय छांही है= ज्ञान में ज्ञेय की छाया/प्रतिबिंब मानना, जौलौं ज्ञेय तौलौं ग्यान= जबतक ज्ञेय, तबतक ज्ञान है, सर्व-दर्व में विग्यान= सर्व-द्रव्य ज्ञानमय मानना, ज्ञेय-क्षेत्र मान ग्यान= ज्ञेय के क्षेत्रप्रमाण ज्ञान है, जीव-वस्तु नांही है= जीव स्वतंत्र-वस्तु नहीं है, देह नसै जीव नसै= देह के विनाश से जीव का विनाश होना मानना, देह उपजत लसै आतमा= देह की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति मानना, अचेतना है= आत्मा मूलतः अचेतन है— ऐसा मानना, सत्ता अंस-माँही है= सत्ता अंश में है= ऐसा मानना, जीव छिनभंगुर= आत्मा को क्षणभंगुर मानना, अग्यायक= उसे जानन-शक्ति से रहित मानना, सहजरूपी ग्यान= सहज/बिना-प्रयास-ज्ञान की ऐसी-ऐसी एकांत-अवस्था मूढ-पांही है= ऐसी-ऐसी एकांत-अवस्थाओं को प्राप्त करनेवाला/माननेवाला मूर्ख/अज्ञानी है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों या कहें मिथ्यादृष्टि-जीवों के द्वारा प्रवर्तित चौदह-मिथ्या नयों/मिथ्या-मान्यताओं की चर्चा की है। जो इनमें से किसी भी एक मिथ्या-नय/मान्यता को स्वीकार करता है, कविवर कहते हैं कि वह मूर्ख है। इनका वर्णन इसप्रकार है—

1. ज्ञेय रूप है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'ज्ञान का कारण एकमात्र ज्ञेय है'।

2. त्रिलोक-प्रमाण है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'आत्मा तीन-लोक प्रमाण अर्थात् तीन-लोक के बराबर सर्वव्यापी है'।
 3. अनेक-ज्ञान रूप है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'ज्ञेय अनेक होने से ज्ञान भी अनेक है'।
 4. ज्ञेय का प्रतिबिम्ब रूप है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'ज्ञान में ज्ञेय की छाया/प्रतिबिम्ब होता है'।
 5. ज्ञेय-काल प्रमाण है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'जबतक ज्ञेय रहते हैं, तबतक ज्ञान रहता है, ज्ञेय के विनाश होते ही ज्ञान का भी विनाश हो जाता है'।
 6. द्रव्यमय ज्ञान रूप है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'सभी द्रव्य ब्रह्म से अभिन्न हैं, इसलिए सभी पदार्थ ज्ञानरूप हैं'।
 7. क्षेत्रयुत ज्ञान रूप है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'जितना ज्ञेय-क्षेत्र है, उतना ही ज्ञान है, उसके बाहर नहीं है'।
 8. जीव की नास्ति— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'जीव नामक कोई पदार्थ है ही नहीं', अर्थात् वे जीव की स्वतंत्र-सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते।
 9. जीव का विनाश— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'देह का विनाश होने पर जीव का भी विनाश हो जाता है'।
 10. जीव का उत्पाद— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'जब-जब देह उत्पन्न होती है, तब-तब जीव भी उत्पन्न होता है'।
 11. आत्मा अचेतन है— इस पक्ष को माननेवाले 'ज्ञान को अचेतन मानते हैं, सो उनके लिये आत्मा भी अचेतन है'।
 12. सत्ता का-अंश है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'आत्मा परम-सत्ता या ब्रह्म सत्ता का अंश है'।
 13. क्षणभंगुर है— इस पक्ष को माननेवाले 'जीव को एकसमय की पर्याय-मात्र मानते हैं, अर्थात् पर्याय क्षणभंगुर, सो जीव भी क्षणभंगुर है'।
 14. अज्ञायक है— इस पक्ष को माननेवाले कहते हैं कि 'जीव जानन-शक्ति से रहित है, इसलिए अज्ञायक है'।
- इसप्रकार कवि ने एकांतवाद के पोषक चौदह-प्रकार के मिथ्या नयों/मिथ्या-मान्यताओं का वर्णन किया। जो जीव इन नयों में से किसी एक को ग्रहणकर शेष को छोड़ देता है, वह 'एकांती-मिथ्यादृष्टि' है। और जो इन सब नयों के सम्यक्-पक्ष को स्वीकार करता है, वही स्याद्वाद का पोषक होता है।

आगे के छंदों में कविवर क्रमशः इन सभी नयों के मिथ्या-स्वरूप का खण्डन, और सम्यक्-स्वरूप का मण्डन करेंगे।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ मूढ़ कहै "जैसेँ प्रथम सवाँरी-भीति, पाछैँ ताके ऊपर सुचित्र आछयौ लेखिए ।

तैसेँ मूल-कारन प्रगट घट-पट जैसौ, तैसौ तहाँ ग्यानरूप-कारज विसेखिए"॥

ग्यानी कहै "जैसी वस्तु तैसौ ही सुभाव ताकौ, तातैं ग्यान-ज्ञेय भिन्न-भिन्न-पद पेखिए।

कारन-कारज दोऊ एक हीमैं निहचै पै, तेरौ मत साँचौ विवहारदृष्टि देखिए"॥ 13॥

शब्दार्थ :- कोऊ मूढ़ कहै= कोई मूर्ख कहे= जैसे प्रथम सवाँरी भीति= जिसप्रकार पहले दीवाल को संवार यानि साफ करके, पाछैँ ताके ऊपर= बाद में उसके ऊपर, सुचित्र आछयौ लेखिए= उत्तम-चित्र अच्छी-तरह

लिखा/बनाया जाता है, तैसै मूल-कारन= वैसे ही मूल-कारण, प्रगट घट-पट जैसौ= साक्षात् घड़ा एवं वस्त्र आदि, तैसौ तहाँ ग्यानरूप कारज विसेखिए= वैसे ही वहाँ ज्ञानरूप कार्य-विशेष होता है। ग्यानी कहै= ज्ञानी-जीव कहते हैं, जैसी वस्तु= जैसी वस्तु होती है, तैसौ ही सुभाव ताकौ= उसका वैसा ही स्वभाव होता है, तातै ग्यान-ज्ञेय भिन्न-भिन्न-पद पेखिए= इसलिये ज्ञान और ज्ञेय को भिन्न-भिन्न देखना चाहिए, कारन-कारज= कारण और कार्य, दोऊ एकहीमै= दोनों एक में ही, निहचै पै= निश्चय से परंतु, तेरौ मत साँचौ= तेरा मत सही है, विवहार-दृष्टि देखिए= व्यवहार-दृष्टि से देखने पर।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवाद के पोषक पहले-पक्ष, कि 'ज्ञेय से ज्ञान होता है'— इस तथ्य का सतर्क-खंडन किया है।

मीमांसक-मत के प्रवर्तक ऐसा मानते हैं कि "ज्ञेयों से ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञेय की निर्मलता और प्रगटता पर ही ज्ञान की निर्मलता और प्रगटता आधारित है"। अपने इस कथन को सिद्ध करने के लिये वे अज्ञानी-जीव तर्क देते हैं कि "जैसे गंदी-दीवार पर अच्छा-चित्र नहीं बनाया जा सकता, उसके लिए पहले दीवार को साफ करें, पश्चात् चित्र बनायें, तो उत्तम-चित्र बनता है; उसीप्रकार ज्ञान के कारणभूत घट-पट आदि ज्ञेय-पदार्थ जैसे होंगें, ज्ञानरूप-कार्य भी वैसा ही होगा; क्योंकि ज्ञान की निर्मलता का कारण ज्ञेयों की प्रगटता और निर्मलता ही है।"

एकांतवादियों के इस तर्क का खंडन करते हुए स्याद्वादी ज्ञानी-जीव कहते हैं कि पहला-सिद्धांत 'जो पदार्थ जैसा होता है, उसका स्वभाव भी वैसा ही होता है'— इसके कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव होने से चैतन्य-स्वरूप और अरूपी है, जबकि प्रकट-ज्ञेय रूपी-पदार्थ पुद्गल-द्रव्य होने से जड़ हैं, मूर्तिक हैं; अतः मूल में स्वभाव से ही जो पूर्णतः भिन्न हैं ऐसे जड़ और चेतन या कहें ज्ञेय और ज्ञान—दोनों पदार्थों का स्वभाव एक कैसे हो सकता है? अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनों पूर्णतः भिन्न-भिन्न है।

दूसरा-सिद्धांत कि 'निश्चयनय से कारण और कार्यपना एक ही द्रव्य में घटित होता है, दो भिन्न-द्रव्यों में नहीं'। जबकि ज्ञान और ज्ञेय तो दोनों भिन्न-द्रव्य हैं। इस अपेक्षा से ज्ञान का कारण ज्ञेय कैसे हो सकते हैं?

हे आत्मन्! सत्य तो यही है कि ज्ञान हमेशा ज्ञान को ही जानता है, अथवा ज्ञान की निर्मलता में बननेवाले ज्ञेयाकाररूप को ही ज्ञान जानता है, ज्ञेय को नहीं। इसलिये ज्ञेय ज्ञान की उत्पत्ति का कारण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं। इसप्रकार एकांतवादी का यह तर्क कि 'ज्ञेय से ज्ञान होता है'— वह व्यवहारनय से तो सही हो सकता है; क्योंकि व्यवहारनय हमेशा मिला-जुला अर्थात् दो द्रव्यों या दो पदार्थों को मिलाकर ही कथन करता है; किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से वह कदापि सही नहीं है, क्योंकि निश्चयनय वस्तु स्वरूप का यथार्थ निरूपण करता है, मिला-जुला नहीं।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक-व्यापि ग्यान मानि, समुझै त्रिलोक-पिंड आतम-दरब है।

याहीतैं सुछंद भयौ डोलै मुखहू न बोलै, कहै "या जगत मैं हमारोई परब है"॥

तासौ ग्याता कहैं "जीव जगत-सौं भिन्न पै, जगतकौ विकासी तौही याहीतैं गरब है।

जो वस्तु सो वस्तु पररूपसौं निराली सदा, निहचै-प्रमान स्यादवाद मैं सरब है"॥ 14॥

शब्दार्थ :— कोऊ-मिथ्यामती लोकालोक-व्यापि ग्यान मानि= कोई मिथ्या-मतवाला ज्ञान को लोकालोक-

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया, भूत्वा विश्वमयः पशु पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।

यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-विश्वाद् भिन्नमविश्व-विश्व-घटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥ 3॥

व्यापी मानकर, समुझै त्रिलोक-पिंड आतम-दरब है= समझता है आत्म-द्रव्य त्रिलोक-प्रमाण है, याहीतैं सुछंद भयौ डोलै= इसीकारण स्वच्छंदी होकर घूमता है, मुखहू न बोलै= किसी से बोलता तक नहीं है, कहै या जगत में हमारोई परब है= और कहता है "इस जगत् में हमारा सिद्धांत ही सत्य है" तासौं ग्याता कहै= उन अज्ञानी-जीवों से ज्ञानी-जीव कहते हैं, जीव जगत-सौं भिन्न= जीव तो जगत् से भिन्न है, पै जगतकौ विकासी= परन्तु जगत् का प्रकाशक है, तौही याहीतैं गरब है= तुझे इसी से अभिमान है, जो वस्तु सो वस्तु पररूपसौं निराली सदा= एक-वस्तु दूसरी-वस्तु से अन्यरूप है और स्वयं में निराली है, निहचै प्रमान स्यादवाद मै सरब है= निश्चयनय के अनुसार स्याद्वाद में सब गर्भित है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के दूसरे पक्ष कि 'आत्मा त्रिलोक-प्रमाण है'— इसका सटीक-खंडन किया है।

नैयायिक-मत के प्रवर्तक 'ज्ञान को लोकालोक व्यापी' मानकर आत्मा को त्रिलोक-प्रमाण मानते हैं, अर्थात् ऐसा कहते हैं कि आत्मा तीन-लोक के बराबर है। इस अपेक्षा वे अपने को सर्वव्यापी मानकर स्वच्छंदी होकर घूमते हैं, अर्थात् स्वयं को ईश्वर और दूसरों को मूर्ख समझते हैं। अभिमान में डूबे होने से किसी से सीधे मुँह बात भी नहीं करते, और कहते हैं कि "संसार में केवल हमारा मत/विचारधारा ही सही है, अन्य सब झूठ है"।

ऐसे अज्ञानी-जीवों की मान्यता का खंडन करते हुए ज्ञानी-जीव उनसे कहते हैं कि "जीव तो जगत् से सदाकाल-भिन्न है। हाँ, उसके ज्ञान में तीनों लोक प्रकाशित होते हैं; इसीकारण तुझे अभिमान है। जैसे सूर्य के प्रकाश में जगत् के समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं, परन्तु न तो वह अपने स्थान कभी च्युत होता है, और न ही ज्ञान में प्रकाशित-पदार्थों के साथ एकमेक होता है। इसीप्रकार ज्ञान स्वपर-प्रकाशी है, सो ज्ञान की निर्मलता में संपूर्ण-लोक स्वयं प्रकाशित होता है, जैसे केवली का ज्ञान। लेकिन केवली-भगवान् न तो अपने स्वरूप से कभी च्युत होते हैं, और न ही उनका ज्ञान कभी उन प्रकाशित-पदार्थों यानि ज्ञेयों के साथ एकमेक होता है, फिर भी उसमें वे पदार्थ सहज और स्वयं प्रकाशित होते हैं।"

जगत् का प्रत्येक-पदार्थ अन्य-पदार्थों से पूर्णतः भिन्न और स्वयं में निराला है। निश्चय से देखें तो ये सब स्याद्वाद में गर्भित है। अर्थात् यदि हम अज्ञानी-जीव की धारणा को, कि 'मेरा ही सिद्धांत सत्य है'— ऐसा सर्वथा एकांतरूप मान लें, तो ये सिद्धांत मिथ्या होगा, और यदि स्यात् यानि अपेक्षा से मानेंगे, तो विरोध खड़ा नहीं होगा।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ पसु ग्यानकी अनंत-विचित्राई देखै, ज्ञेय कै अकार नानारूप विसतरयौ है।

ताहीको विचारि कहै ग्यान की अनेक-सत्ता, गहिकै एकंत-पच्छ लोकनिसौं लरयौ है॥

ताकौ भ्रम-भंजिवैकौ ग्यानवंत कहै "ग्यान, अगम-अगाध-निराबाध-रस भरयौ है।

ज्ञायक सुभाइ परजायसौं अनेक भयौ, जद्यपि तथापि एकतासौं नहिं टरयौ है"॥ 15॥

शब्दार्थ :— कोऊ पसु ग्यानकी अनंत-विचित्राई देखै= कोई पशुवत् अज्ञानी-जीव ज्ञान की अनंत-विचित्रता देखकर, ज्ञेयकै अकार नानारूप विसतरयौ है= विभिन्न-ज्ञेयाकार-रूप परिणमन जानकर, ताहीको विचारि कहै= उसको विचारकर कहे कि, ग्यान की अनेक सत्ता= ज्ञान की अनेक-सत्ता है, गहिकै एकंत-पच्छ= इसी एकांत-पक्ष को ग्रहणकर, लोकनिसौं लरयौ है= लोगों से लड़ता/बहस करता है। ताकौ भ्रम-भंजिवैकौ= उसका

बाह्यार्थ-ग्रहण-स्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसद्-ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिरभितस्त्रुट्यन्यशुर्नश्यति।

एकद्रव्यतया सदा व्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित्॥ 4॥

भ्रम नष्ट करने के लिए, ग्यानवंत कहै= ज्ञानी-जीव कहते हैं, ग्यान-अगम-अगाध-निराबाध-रस भरयौ है= ज्ञान, अपार, असीमित, बाधारहित, रस से भरा हुआ है, ज्ञायक-सुभाइ परजायसौं अनेक भयौ जद्यपि= ज्ञायक-स्वभाव यद्यपि पर्याय से अनेकरूप दिखता है, तथापि एकतासौं नहिं टरयौ है= फिर भी अपनी एकरूपता को नहीं छोड़ता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के तृतीय-पक्ष 'ज्ञेय अनेक होने से ज्ञान भी अनेक है'— का खंडन किया है।

ज्ञान स्वपर-प्रकाशी होने से संपूर्ण-लोकालोक को प्रकाशित करने की सामर्थ्य रखता है, अर्थात् ज्ञेयाकार-रूप परिणामन करता प्रतीत होता है। ज्ञान के इस परिणामन को देखकर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव कहता है कि "जैसे ज्ञेय अनंत है, सो ज्ञान भी अनंत है।" ऐसे अज्ञानी-जीव को कवि ने विवेकहीन-पशु की उपमा दी है, जो कि बिना विचारे ज्ञान में नाना-ज्ञेयाकार झलकते देखकर यह मानता है कि ज्ञान भी नानाप्रकार का हो गया है। इतना ही नहीं, अपने इसी एकांत-पक्ष को ग्रहणकर वह लोगों से वाद-विवाद/बहस करता है।

अज्ञानी-जीव के इस भ्रम को दूर करने के लिए ज्ञानी-जीव कहते हैं कि "ज्ञान तो 'अगम' है अर्थात् जैसे समुद्र के जल का कोई पार नहीं, ठीक उसीप्रकार ज्ञान के विस्तार का भी कोई माप नहीं है। 'अगाध' अर्थात् जैसे समुद्र के जल की गहराई का कोई माप नहीं है, ठीक उसीप्रकार ज्ञान की गहराई का कोई माप नहीं है। 'निराबाध' अर्थात् जैसे समुद्र का जल किसी से भी बाधित नहीं होता, ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी इन्द्रियजनित-बाधा से बाधित नहीं होता है अर्थात् ज्ञान इन्द्रियों का मोहताज नहीं है। ज्ञान तो ऐसे अतीन्द्रिय-रस से भरा हुआ है, जबकि अज्ञानी-जीव ज्ञान को ज्ञेयाकाररूप तक ही सीमित मानता है, इसलिए उसका ये एकांत-पक्ष मिथ्या है।"

हे आत्मन्! अनंतज्ञान का धनी ज्ञायक भगवान्-आत्मा यद्यपि पर्याय से अनेकरूप दिखाई देता है, लेकिन फिर भी अपनी स्वभावगत-एकरूपता को कभी नहीं छोड़ता है, अर्थात् पर्याय-दृष्टि से अनेकरूप होता हुआ भी स्वभाव-दृष्टि की अपेक्षा एकरूप ही रहता है। ठीक उसीप्रकार, जैसे फाउण्टेन की रंगबिरंगी-लाइट में पानी अनेक रंगों का दिखाई भले ही देता है, परन्तु वास्तव में पानी उसरूप नहीं होता है, वह अपने मूल रूप में ही विद्यमान रहता है, अर्थात् अनेकरूप नहीं होता, एकरूप ही रहता है।

इसप्रकार यदि हम एकांतवादियों के इस पक्ष को सर्वथा-एकांत-दृष्टि से मानेंगे, तो मिथ्या होगा, और स्याद्वाद के अनुसार स्वभाव-अपेक्षा एकरूप और पर्याय-अपेक्षा अनेकरूप स्वीकार करेंगे, तो कोई विवाद नहीं होगा।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ कुधी कहै "ग्यान-माँहि ज्ञेयकौ अकार, प्रतिभासि रह्यौ है कलंक ताहि धोड़्यै।
जब ध्यान-जलसौ परखारिकै धवल कीजै, तब निराकार सुद्ध-ग्यानमय होड़्यै"॥
तासौं स्यादवादी कहै "ग्यानकौ सुभाव यहै, ज्ञेयकौ अकार वस्तु-माँहि कहाँ खोड़्यै।
जैसे नानारूप-प्रतिबिंब की झलक दीखै, जद्यपि तथापि आरसी-विमल जोड़्यै"॥ 16॥

शब्दार्थ :— कोऊ कुधी कहै ग्यान-माँहि ज्ञेयकौ अकार= कोई दुर्बुद्धि/अज्ञानी कहता है कि ज्ञान में ज्ञेय का

ज्ञेयाकार-कलङ्क-मेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-न्नेकाकार-चिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।

वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं, पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन्पश्यत्यनेकान्तवित्॥ 5॥

आकार, प्रतिभासि रह्यौ है कलंक ताहि धोइयै= प्रतिबिंबित हो रहा है वह ज्ञान का कलंक/दोष है, उसे धोओ, जब ध्यान जलसौ-पखारिकै धवल कीजै= जब ध्यानरूपी-जल से स्वच्छ कर उज्ज्वल करें, तब निराकार सुद्ध-ग्यानमय होइयै= तब ज्ञान निराकार शुद्ध होता है। तासौं स्यादवादी कहै= उनसे स्याद्वादी कहते हैं, ग्यानकौ सुभाव यहै= यह तो ज्ञान का स्वभाव है, ज्ञेयकौ अकार वस्तु-माँहि कहाँ खोइयै= ज्ञेय का आकार जो वस्तुरूप है, उसे कहाँ भगायें, जैसे नानारूप-प्रतिबिंब की झलक दीखै जद्यपि= यद्यपि जैसे दर्पण में अनेकप्रकार के पदार्थ झलकते हैं, तथापि आरसी विमल जोइयै= फिर भी दर्पण निर्मल ही रहता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के चतुर्थ पक्ष— 'ज्ञान में ज्ञेय की छाया पड़ना ज्ञान का ही दोष है'— इस मान्यता का सतर्क-खंडन किया है।

ज्ञान स्वभाव से स्वपर-प्रकाशी है, इसीलिए ज्ञान की निर्मलता में संपूर्ण-लोकालोक झलक रहा है। ज्ञान में ज्ञेयों की इस झलकन को देखकर अज्ञानी-जीव मानता है कि ये ज्ञान का दोष है; क्योंकि ज्ञान तो निर्मल और निराकार है, ज्ञेयों के झलकने से वह साकार और मलिन हो जाता है। इसीलिए ज्ञान की इस मलिनता को दूर करने के लिए अज्ञानी-जीव तर्क देता है कि "पहले ध्यानरूपी जल से अच्छीतरह से धोकर उसे उज्ज्वल करो, तब ज्ञान निराकार और शुद्ध होगा।"

एकांतवादियों के इस तर्क का खंडन करते हुए ज्ञानी-जीव कहते हैं कि "ज्ञान कहो या आत्मा कहो, एक ही बात है, जानना ज्ञान का स्वभाव है। जैसे नीबू का स्वभाव है खट्टापन, चीनी का स्वभाव मीठापन, और जिस वस्तु का (फिर चाहे वह चेतन हो अचेतन) जो स्वभाव होता है, वह न तो कभी बदलता है, न ही कभी विनाश को प्राप्त होता है। भाई! जब पुद्गल-द्रव्य जड़ होकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, तो जीव-द्रव्य चेतन होकर अपना जानन-स्वभाव कैसे छोड़ सकता है? यदि कोई भी द्रव्य अपना स्वभाव छोड़ता है, तो उसका तो अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।"

"हे आत्मन्! ज्ञान में ज्ञेयों का झलकना ज्ञान का दोष नहीं, बल्कि ज्ञान की निर्मलता का प्रतीक है। यदि ये संपूर्ण-विश्व जानने में आ रहा है, तो ये ज्ञान की ही महिमा है। ज्ञेयों की इस झलकन को हम कहाँ भगायें अर्थात् हम उसे ज्ञान से अलग नहीं कर सकते। जैसे दर्पण में अनेकानेक-पदार्थ झलकते हैं, ये दर्पण का निर्मल-स्वभाव है, जैसे पदार्थों के झलकने से आज तक दर्पण की निर्मलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा; बल्कि दर्पण जितना अधिक-निर्मल होता है, पदार्थों का प्रतिबिम्ब भी उतना ही स्पष्ट होता है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान जितना अधिक-निर्मल होता है, ज्ञेय उतना ही स्पष्ट झलकते हैं; क्योंकि ये ज्ञान का स्वभाव है, दोष नहीं।"

'इसप्रकार ज्ञेयों के झलकने से ज्ञान दूषित होता है'— एकांतवादियों का यह पक्ष पूर्णतः मिथ्या है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ अज्ञ कहै "ज्ञेयाकार ग्यान-परिनाम, जौलौं विद्यमान तौलौं ग्यान परगट है।

ज्ञेय के विनाश होत ग्यानकौ विनाश होइ", ऐसी बाके हिरदै मिथ्यात्व की अलट है॥

तासौं समकितवंत कहैं "अनुभौ-कहानि, पर्जय-प्रवांन ग्यान नानाकार-नट है।

निरविकलप अविनस्वर दरबरूप, ग्यान ज्ञेय-वस्तुसौं अव्यापक अघट है"॥ 17॥

शब्दार्थ :— कोऊ अज्ञ कहै= कोई अज्ञानी कहे कि, ज्ञेयाकार ग्यान-परिनाम= ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकार होता है, जौलौं विद्यमान= जबतक ज्ञेय विद्यमान रहता है, तौलौं ग्यान परगट है= तबतक ज्ञान प्रगट है, ज्ञेय के

प्रत्यक्षालिखित-स्फुट-स्थिर-परद्रव्यास्तित्वा वञ्चितः, स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।

स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता, स्याद्वादी तु विशुद्ध-बोध-महसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ 6॥

विनाश होत= ज्ञेय के विनाश होने पर, ग्यानकौ विनाश होइ= ज्ञान का विनाश हो जाता है, ऐसी बाके हिरदै= ऐसी उसके हृदय में, मिथ्यात्व की अलट है= मिथ्यात्व का दुराग्रह है। तासौं समकितवंत कहै अनुभौ कहानि= उससे सम्यग्दृष्टि-जीव अनुभव की कहानी कहते हैं, पर्जय-प्रवांन ग्यान नानाकार-नट है= पर्याय से ज्ञान नट के समान विभिन्न-प्रकार का है, निरविकल्प अविनस्वर दरबरूप= विकल्प-रहित, अविनाशी, द्रव्यरूप, ग्यान ज्ञेय वस्तुसौं= ज्ञान ज्ञेय-वस्तु में, अव्यापक अघट है= न व्याप्त होता है और न घटता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के पाँचवे-पक्ष— 'जब तक ज्ञेय, तब तक ज्ञान'— इस विचारधारा का सतर्क-खंडन किया है।

इस विचारधारा को माननेवाले अज्ञानी-जीव कहते हैं कि "ज्ञान का परिणामन ज्ञेय के अनुसार होता है; इसलिये जबतक ज्ञेय विद्यमान रहते हैं, तबतक ज्ञान भी प्रगट रहता है। और ज्ञेयों के नष्ट होते ही ज्ञान भी विनाश को प्राप्त होता है"— ऐसा उसके हृदय में मिथ्यात्व का दुराग्रह या जोर है।

एकांतवादियों के इस पक्ष का खंडन करते हुये सम्यग्दृष्टि ज्ञानी-जीव उन अज्ञानी-जीवों को अनुभव की कहानी कहते हैं अर्थात् जनप्रचलित-उदाहरण के माध्यम से समझाते हैं। जैसे नट के खेल में नट स्वभाव से एक साधारण-पुरुष होते हुये भी लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कईप्रकार के भेष धारणकरता है, और आम-आदमी उसके उसी रूप को सच मानकर खुश होता है। ठीक उसीप्रकार ज्ञान भी अखंड होते हुए भी पर्याय से ज्ञेयाकाररूप प्रवर्तित प्रतीत होता है, और अज्ञानी-जीव ज्ञान के इस ज्ञेयरूप-प्रवर्तन को ही ज्ञान का स्वभाव मान लेता है। अथवा ज्ञान को ज्ञेयों की आधीन मानता है, जबकि ज्ञान पूर्णतः भिन्न एक स्वाधीन-द्रव्य है।

द्रव्य-स्वभाव से ज्ञान तो निर्विकल्प और अविनाशी है, अर्थात् ज्ञान अपने स्वभाव की अपेक्षा समस्त-विकल्पों से रहित है, वह कौन-सा ज्ञेय झलके कौन-सा नहीं?— ऐसा कोई विकल्प ज्ञान में नहीं है, पूरीतरह ज्ञेय के विकल्प से निर्विकल्प; इसीप्रकार कोई भी ज्ञेय कबतक झलके, कबतक नहीं? अर्थात् ज्ञेय के आकार बदलनेरूप विनाश से रहित अविनाशी है। ज्ञान 'अव्यापक' और 'अघट' भी है, अर्थात् ज्ञान की निर्मलता में ज्ञेय झलकते तो हैं; पर ज्ञान कभी उन ज्ञेयों में व्याप्त नहीं होता अर्थात् कभी उनमें प्रवेश नहीं करता है। ठीक उसीप्रकार, जैसे सूर्य के प्रकाश में पदार्थ प्रकाशित तो होते हैं; परन्तु सूर्य का प्रकाश उन पदार्थों के अंदर प्रवेश नहीं करता, ज्ञान भी कभी ज्ञेयों से एकमेक नहीं होता; इसलिए ज्ञान और ज्ञेय की एकता कभी नहीं घटती, अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयों का झलकना सहज और त्रिकाल होता है, क्षणिक नहीं।

इसप्रकार एकांतवादियों का यह पाँचवाँ पक्ष (कि ज्ञेय हैं, तब तक ज्ञान है) भी मिथ्या सिद्ध होता है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ मंद कहै "धर्म-अधर्म-आकास-काल, पुदगल-जीव सब मेरो रूप जगमें"।
जानै न मरम-निज मानै आपा-पर-वस्तु, बांधै द्रिढ़-करम धरम खोवै डगमै"॥
समकित्ती-जीव सुद्ध-अनुभौ-अभ्यास तातैं, परकौ-ममत्व त्याग करै पग-पगमै,
अपने-सुभाव में मगन रहैं आठों-जाम, धारावाही-पंथक कहावै मोख-मगमें॥ 18॥

शब्दार्थ :- कोऊ मंद कहै= कोई मंदबुद्धि कहता है कि, धर्म-अधर्म आकास-काल-पुदगल-जीव= धर्म,

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासना-वासितः, स्वद्रव्य-भ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।

स्याद्वादी तु समस्त-वस्तुषु पर-द्रव्यात्मना नास्तितां, जानन्निर्मल-शुद्धबोध-महिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥ 7॥

अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, सब मेरो रूप जगमें= जगत् में सब मेरा ही रूप है, जानै न मरम-निज= वे निजात्मा के मर्म को तो जानते नहीं है, मानै आपा-पर-वस्तु= पर-वस्तु को अपना स्वरूप मानते हैं, बांधै द्रिढ़-करम= कर्मों का दृढ़-बंध करते हैं, धरम खोवै डगमैं= और कदम-कदम पर अपने धर्म यानि स्वरूप को खोते हैं। समकिती जीव= सम्यग्दृष्टि-जीव (जिनको), सुद्ध-अनुभौ-अभ्यास= शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास है, तातैं परकौ ममत्व-त्याग करै पग-पगमैं= जिससे कदम-कदम पर-पदार्थों से ममत्व का त्याग करते हैं, अपने सुभाव में मगन रहैं आठों जाम= प्रतिसमय अपने स्वभाव में मगन रहते हैं, धारावाही-पंथक कहावै मोख-मगमें= और मोक्षमार्ग के धारावाही/अनवरत पथिक कहलाते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के छठवें-मत कि 'सभी द्रव्य ब्रह्म से अभिन्न हैं, इसलिए सभी ज्ञान स्वरूप हैं'— इसका सटीक-खंडन किया है।

ब्रह्म-अद्वैतवादी-मत के अनुयायी मानते हैं कि "जगत् के सभी द्रव्य अर्थात् जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल— मेरा ही स्वरूप है, अर्थात् ब्रह्म सब द्रव्यमय हैं, इसलिए सभी ज्ञानरूप हैं।" वे अपना निजस्वरूप तो जानते नहीं, और पर-पदार्थों को ही निज-आत्मा मानते हैं। इससे वे कदम-कदम पर कर्मों का दृढ़-बंध करते हैं और अपने स्वरूप को मलिन करते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि इन ब्रह्म-अद्वैत-मतावलंबियों ने तो छहों द्रव्यों की भिन्न-सत्ता और स्वतंत्रता को ही स्वीकार नहीं किया, सभी जड़-चेतन द्रव्यों को आपस में मिला दिया। केवल आत्मा को ही नहीं, पाँचों जड़-द्रव्यों को भी ब्रह्म-स्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप माना। साथ ही एक स्वात्मा के अलावा समस्त पर-द्रव्यों, पर-पदार्थों को भी निजात्मा मानते हैं। अर्थात् निरन्तर विपरीत-मान्यता, जिससे महापाप मिथ्यात्व अर्थात् अनंत-संसार का बंध करते हैं।

जिन्हें अपने आत्मस्वरूप का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और लीनता है,— ऐसे सुधी ज्ञानी-जीव इन मिथ्यादृष्टि-जीवों को समझाते हैं, कि 'हे आत्मन! ये जगत् छह-द्रव्यों का समूह है, और प्रत्येक द्रव्य पूर्ण-स्वतंत्र और भिन्न-भिन्न-स्वभाव और सत्ता का धारी है। इनमें से एकमात्र जीव ही ज्ञान गुण का धनी है। शेष सभी द्रव्य तो जड़ हैं, अचेतन हैं, और निजात्मा से पूर्णतः भिन्न हैं। इन सभी जड़-द्रव्यों और पदार्थों को अपना मानना ही तो मिथ्यात्व है, जो अपने स्वरूप की मलिनता और अनंत-संसार के बंध का कारण है। इसीलिए ज्ञानी-जीव स्वात्मा में अनुरक्त होकर पर-पदार्थों के प्रति ममत्व का क्षण-क्षण पर त्याग करते हैं, और आठों-याम प्रतिसमय अपने स्वभाव में ही मगन रहते हैं, इसीलिए मोक्षमार्ग के धारावाही अर्थात् मोक्षमार्ग पर निरन्तर अग्रसर पथिक या अनवरत-मोक्षमार्गी कहलाते हैं।"

इसप्रकार अद्वैतवादियों कि यह मान्यता कि 'सभी द्रव्य ब्रह्ममय है, और ज्ञान-स्वरूप हैं' सर्वथा-मिथ्या सिद्ध होती है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ-सठ कहै "जेतौ ज्ञेयरूप-परवान, तेतौ-ग्यान तातैं कहूँ अधिक न और है।

तिहूँकाल परक्षेत्र-व्यापी परनयौ मानै, आपा न पिछानै ऐसी मिथ्यादृग-दौर है"॥

जैनमती-कहै "जीव-सत्ता परवान ग्यान, ज्ञेयसौँ अव्यापक जगत-सिरमौर है।

ग्यान की प्रभा में प्रतिबिंबित विविध-ज्ञेय, जदपि तथापि थिति न्यारी-न्यारी ठौर है"॥ 19॥

भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्यनियत-व्यापारनिष्ठः सदा, सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्मुमांसं पशुः।

स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धर-भसः स्याद्वादवेदी पुन-स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियत-व्यापार-शक्तिर्भवन् ॥ 8॥

शब्दार्थ :- कोऊ-सठ कहै= कोई अज्ञानी कहता है, जेतौ ज्ञेयरूप-परवांन= जितना ज्ञेय का प्रमाण है, तेतौ ग्यान तातैं कहूँ अधिक न और है= उतना ही ज्ञान है, उससे न अधिक है न कम है, तिहूँकाल परक्षेत्र-व्यापी परनयौ मानै= त्रिकाल परक्षेत्र में व्याप्त और परिणत मानता है, आपा न पिछानै= स्वयं को नहीं पहचानता, ऐसी मिथ्यादृग दौर है= मिथ्यात्व का ऐसा प्रवाह है। जैनमती-कहै= जैनमत को माननेवाले कहते हैं, जीव-सत्ता-परवांन ग्यान= ज्ञान जीव-सत्ता के प्रमाण है, ज्ञेयसौँ अव्यापक= ज्ञेय से अव्याप्त/भिन्न है, जगत-सिरमौर है= जगत् का शिरोमणि है, ग्यान की प्रभा में= ज्ञान के प्रकाश/निर्मलता में, प्रतिबिंबित विविध-ज्ञेय जदपि= यद्यपि ज्ञान में विविधप्रकार के ज्ञेय प्रतिबिंबित होते हैं, तथापि थिति न्यारी-न्यारी ठौर है= फिर भी उनकी स्थिति/ सत्ता जुदी-जुदी है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के सातवें-पक्ष कि 'ज्ञान, ज्ञेय-क्षेत्र के बाहर नहीं होता'— इसका सटीक-खंडन किया है।

एकांतवादियों का मानना है कि ज्ञान, ज्ञेय-क्षेत्र से बाहर नहीं होता अर्थात् जितना ज्ञेय उतना ही ज्ञान, न तो ज्ञेय से ज्यादा और न ज्ञेय से कम। इसप्रकार वे ज्ञान को त्रिकाल परक्षेत्र-व्यापी अर्थात् परक्षेत्र के अधीन, और पर में परिणत या पर में तन्मय मानते हैं। मिथ्यात्व की ऐसी दौड़/जोर है कि वे अपने ही स्वरूप को नहीं पहचानते।

कहने का अभिप्राय यह है कि इस विचारधारा के जीवों ने अपरिमित, असीमित, पूर्ण-स्वाधीन ज्ञान-सत्ता को इन जड़-ज्ञेयों के अधीन मान लिया। आश्चर्य होता है कि प्रत्येक जीव तो स्वाधीनता चाहता है, और इस मत के अनुयायियों ने तो ज्ञान को अर्थात् स्वयं को पूर्णतः पराधीन ही मान लिया। अनादिकालीन-मिथ्यात्व की ऐसी अंधी-दौड़ है, कि अनंतज्ञान का धनी और पूर्ण-स्वाधीन होते हुये भी स्वयं को ज्ञेय-क्षेत्र के अधीन मानता है।

जिनेन्द्र-भगवान् द्वारा प्रवर्तित जैन-मत को माननेवाले सुधीजन उन अज्ञानी-जीवों से कहते हैं कि "भाई! ज्ञान, ज्ञेय-क्षेत्र के बराबर नहीं, बल्कि आत्मसत्ता के बराबर है। कभी ज्ञेयों के साथ तन्मय नहीं होता, न कभी परक्षेत्र अर्थात् ज्ञेयक्षेत्र में व्याप्त होता है; उनके अंदर प्रवेश नहीं करता है। ज्ञान तो जगत् का शिरोमणि है; क्योंकि ज्ञान ही संपूर्ण-जगत् को प्रकाशित करता है, न कि संपूर्ण जगत् ज्ञान को प्रकाशित करता है। यद्यपि ज्ञान की निर्मलता में संपूर्ण लोकालोक के समस्त ज्ञेय पदार्थ झलकते हैं, जो कि उसका स्वभाव है; परन्तु ज्ञान त्रिकाल दर्पणवत् निर्विकार ही रहता है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय दोनों की सत्ता पूर्णतः भिन्न-भिन्न है।

इसप्रकार 'ज्ञान को ज्ञेय-क्षेत्र के आधीन' माननेवालों की यह कल्पना मिथ्या सिद्ध होती है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ सुन्नवादी कहै "ज्ञेय के विनास होत, ज्ञान कौ विनास होइ कहौ कैसे जीजिये।

तातैं जीवतव्यता की थिरिता निमित्त सब, ज्ञेयाकार-परिनामनि कौ नास कीजिये"॥

सत्यवादी कहै "भैया! हूजे नाहि खेद-खिन्न, ज्ञेयसौँ विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिए।

ग्यान की सकति-साधि अनुभौ-दसा अराधि, करमकौ त्यागिकै परमरस पीजिये"॥ 20॥

शब्दार्थ :- कोऊ सुन्नवादी कहै= कोई शून्यवादी/माध्यमिक-बौद्ध कहते हैं, ज्ञेय के विनास होत= ज्ञेय के

स्वक्षेत्र-स्थितये पृथग्विधि-परक्षेत्र-स्थितार्थोज्झनात्, तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वसन्।

स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितान्, त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥ 9॥

नाटक-समयसार

शब्दार्थ :- कोऊ क्रूर कहै= कोई क्रूर/आत्मा का निषेध करनेवाला कहता है, काया-जीव दोऊ एक-पिंड= शरीर और आत्मा दोनों एक-पिंड हैं, जब देह नसेगी= जब शरीर का विनाश होता है, तबही जीव मरैगौ= तब जीव का भी मरण होता है, छाया-कौसौ छल= छाया के समान छल, किंधौ माया-कौसौ परपंच= अथवा माया के प्रपंच के समान, काया मैं समाइ= शरीर में समाने पर, फिर काया न धरैगौ= फिर देह धारण नहीं करेगा। सुधी कहै= ज्ञानी-जीव कहते हैं, देहसौ अव्यापक सदीव जीव= आत्मा शरीर से सदाकाल अव्याप्त ही रहता है, समै पाइ परकौ ममत्व परिहरैगौ= समय पाकर पर-पदार्थों से ममत्व त्याग देगा, अपने सुभाई आइ= अपने स्वभाव में आकर, धारना धरामैं धाड़= उसे धारणा में धारणकर, आपमैं मगन ह्वै कै= अपने में मगन होकर, आप सुद्ध करैगौ= अपने को शुद्ध करेगा॥ 21॥

ज्यौं तन-कंचुक-त्यागसौ= जैसे शरीर की केंचुली के त्यागने से, विनसै नाहि भुजंग= सर्प का विनाश नहीं होता है, त्यों सरीरके नासतैं= उसीप्रकार शरीर के नाश होने से, अलख अखंडित-अंग= अलक्षी-आत्मा का भी विनाश नहीं होता॥ 22॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने एकांतवादियों के नौवे-पक्ष- 'देह के साथ जीव का भी विनाश होता है'- इसका सतर्क-खंडन किया है।

चार्वाक-मत के अनुयायी कहते हैं कि "देह और जीव दोनों एक पिंड हैं, सो जब देह का विनाश होता है, तब जीव का भी विनाश हो जाता है। ठीक उसीप्रकार जैसे वृक्ष के विनाश होने पर उसकी छाया भी नष्ट हो जाती है। अथवा इन्द्रजाल की माया के समान कौतुक बन रहा है, सो जीवात्मा दीपक की लौ के प्रकाश के समान शरीर में ही समा जायेगा और फिर दुबारा शरीर-धारण नहीं करेगा।"

एकांतवादियों के इस मत का खंडन करते हुए सुधी ज्ञानी-जीव कहते हैं - "जीवात्मा देह में रहते हुए भी कभी देह में व्याप्त नहीं होती अर्थात् तद्रूप नहीं होती। यहाँ तक कि कभी देह को स्पर्श भी नहीं करती; क्योंकि दोनों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रदेश आदि सब भिन्न-भिन्न हैं। जैसे प्रतिसमय कीचड़ में रहकर भी कमल कभी कीचड़ को स्पर्श नहीं करता; ठीक उसीप्रकार प्रतिसमय देह में रहकर भी जीवात्मा ने कभी देह को स्पर्श नहीं किया। इसलिये देह के विनाश होने पर भी जीव का विनाश नहीं होता"।

जिसप्रकार सर्प के द्वारा अपनी केंचुली का त्याग करने पर भी सर्प का विनाश नहीं होता, ठीक उसीप्रकार देह के विनाश होने पर भी जीवात्मा अखंड और अविनाशी रहता है। बल्कि समय पाकर या काललब्धि आने पर जीवात्मा पर-पदार्थों से एकत्व-ममत्वबुद्धि का त्यागकर अपने स्वभाव का आश्रय लेकर उस पर ही उपयोग केन्द्रित करके, अपने स्व-चतुष्टय में मगन होकर अपने को शुद्ध करेगा और इस देह को छोड़कर निर्वाण प्राप्त करेगा।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ-दुरबुद्धी कहै "पहले न हुतौ जीव, देह-उपजत अब उपज्यौ है आइकै।

जौलौ-देह तौलौ-देहधारी फिर देह नसै, रहैगौ अलख-जोति जोतिमैं समाइकै"॥

सद्बुद्धी कहै "जीव अनादि को देहधारी, जब ग्यानी होइगौ कबहूँ काल पाइकै।

तबहीसौ पर-तजि अपनौ सरूप-भजि, पावैगौ-परमपद करम-नसाइकै"॥ 23॥

शब्दार्थ :- कोऊ-दुरबुद्धी कहै= कोई दुर्बुद्धि-जीव कहता है, पहले न हुतौ जीव= पहले जीव नहीं था,

अर्थालम्बन-काल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-ज्ञेयालम्बन-लालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-स्तिष्ठत्यात्मनिखात-नित्य-सहज-ज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥11॥

देह उपजत अब उपज्यौ है आइकै= देह का जन्म होने पर नया उत्पन्न हुआ है, जौलौं-देह तौलौं-देहधारी= जबतक शरीर रहता है, तबतक जीव भी रहता है, फिर देह नसै= फिर देह के नष्ट होने पर, रहैगौ अलख-जोति जोतिमै समाइकै= जीवात्मा की ज्योति अलक्ष्य-ज्योति में समा जाती है। सद्बुद्धी कहै= सद्बुद्धि जीव कहते हैं, जीव अनादि को देहधारी= जीव अनादिकाल से देह को धारण किये हुए है, जब ग्यानी होइगौ= जब ज्ञानी होगा, कबहुँ काल पाइकै= कभी समय पाकर, तबहीसौ पर-तजि= तब पर को छोड़कर, अपनौ सरूप-भजि= अपने स्वरूप का ग्रहणकर, पावैगौ-परमपद= परमपद को प्राप्त करेगा, करम-नसाइकै= कर्मों का विनाश करके।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के दसवें-पक्ष कि 'देह की उत्पत्ति होने पर जीव की उत्पत्ति होती है'— इस विचारधारा का स्पष्टीकरण करते हुये उसका खंडन किया है।

देह में अति-आसक्त दुर्बुद्धि-जीव 'चार्वाक' कहते हैं कि 'जीव तो पहले था ही नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश— इन पंच-तत्त्वों के मिलने पर जीव की उत्पत्ति हुई। अर्थात् जब देह का जन्म हुआ, तब जीव का भी जन्म हुआ; इसलिये जबतक देह रहेगी, तबतक जीव भी रहेगा। देह विनाशीक है, अतः देह का मरण होने पर जीव भी इन पंचतत्त्वों की ज्योति में ही विलीन हो जायेगा'।

कैसी विडम्बना है कि इस विचारधारा के जीवों ने तो आत्मा-परमात्मा की अनादि-अनंत 'त्रिकाल' शाश्वत ध्रुव-सत्ता को ही नकार दिया है, इतना ही नहीं 'कर्म-सिद्धांत' को भी स्वीकार नहीं किया; क्योंकि जब जीव का विनाश होगा, तो उसके अच्छे-बुरे कर्मों का भी विनाश हो जायेगा, अर्थात् अगला जन्म, पुण्य-पाप और उनके फल का भी कोई अस्तित्व नहीं रहा। परम-स्वाधीन स्व-चतुष्टय के धारी जीव की सत्ता को देह और पंच-तत्त्वों के आधीन मान लिया।

देखा जाये, तो एकांतवादियों का यह मत तो प्रत्यक्ष ही प्रमाणित नहीं होता; क्योंकि कर्म, कर्मफल, पुण्य-पापरूप अनुकूलता-प्रतिकूलता और उनमें इतनी विविधता तो प्रत्यक्ष देखने को मिलती है; फिर हम कैसे मानें कि जीव की नवीन-उत्पत्ति होती है। ऐसे मिथ्यादृष्टि-जीवों से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी-जीव कहते हैं कि "भाई! जीव तो अनादिकाल से देह को धारण किये हुये हैं, और निजात्मा के भान बिना कर्म और कर्मफलों को भोगता भी आ रहा है। जब कभी समय पाकर ज्ञानी होगा अर्थात् सद्-निमित्त मिलने पर जब निज-स्वरूप की पहचान और अनुभूति करेगा, तब अभी जो पर-पदार्थों और संयोगों में आसक्ति है, उसका त्यागकर अपने स्वरूप में ही रमण करेगा, और समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म को नष्टकर परमात्मा-पद को प्राप्त करेगा।

इसप्रकार एकांतवादियों का यह मत कि 'देह के साथ जीव की भी उत्पत्ति होती है'— मिथ्या सिद्ध होता है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ-पक्षपाती-जीव कहै "ज्ञेयकै अकार, परिनयौ-ग्यान तातैं चेतना असत है।

ज्ञेयके नसत चेतनाकौ नास ता-कारन, आतमा अचेतन त्रिकाल मेरे मत है"॥

पंडित कहत "ग्यान सहज अखंडित है, ज्ञेयकौ आकार धरै ज्ञेयसौ विरत है।

चेतनाकौ नास होत सत्ताकौ विनास होइ, यातैं ग्यान-चेतना-प्रवांन जीव-तत है"॥ 24॥

शब्दार्थ :- कोऊ पक्षपाती-जीव कहै= कई हठग्राही-जीव कहते हैं, ज्ञेयकै अकार परिनयौ ग्यान= ज्ञान ज्ञेय

विश्रान्तः परभाव-भाव-कलनान्तिन्यं बहिर्वस्तुषु, नश्यत्येव पशुः स्वभाव-महिमन्येकान्त-निश्चेतनः।

सर्वस्मान्नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानाद्-विभक्तो भवन्, स्याद्वादी तु न नाशमेति सहज-स्पष्टीकृत-प्रत्ययः॥ 12॥

के आकाररूप परिणमित होता है, तातैं चेतना असत् है= इससे चेतना असत् है, ज्ञेयके नसत्= ज्ञेय के नाश होने पर, चेतनाकौ नास= चेतना का भी विनाश हो जाता है, ता-कारन आत्मा अचेतन= इस कारण आत्मा अचेतन है, त्रिकाल मेरे मत है= सदाकाल मेरे मत में। पंडित कहत= पंडित कहते हैं, ग्यान सहज अखंडित है= ज्ञान सदाकाल सहज अखंडित है, ज्ञेयकौ आकार धरै= ज्ञेय का आकार धारण करता है, ज्ञेयसौं विरत है= परन्तु ज्ञेय से विरक्त रहता है, चेतनाकौ नास होत= चेतना के नाश होने पर, सत्ताकौ विनास होइ= सत्ता का भी विनाश हो जायेगा, यातैं ग्यान चेतना-प्रवांन जीव-तत है= इसलिए ज्ञान चेतना-प्रमाण जीव-तत्त्व है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के ग्यारहवें-पक्ष 'ज्ञान अचेतन है'— का निराकरण किया है।

कोई हठग्राही या अपनी जिद पर अड़े जीव कहते हैं कि "ज्ञान तो ज्ञेय के अनुसार ही परिणामन करता है, और आकार तो असत् है (क्योंकि अगले ज्ञेय का आकार बनने पर पुराना-ज्ञेयाकार विनाश को प्राप्त होता है), इसलिये चेतना भी असत् हुई। इसप्रकार ज्ञेय के विनाश होने से चेतना भी विनाश को प्राप्त होती है, इसलिए मेरे मत में चेतना त्रिकाल-असत् है।"

कहने का अभिप्राय यही है कि इस विचारधारा के जीवों ने चेतन-स्वरूप आत्मा की सत्ता को ही नकार दिया यानि ज्ञान को ही अचेतन कह दिया। इनका यह तर्क तो प्रत्यक्ष ही मिथ्या सिद्ध होता है; क्योंकि चेतना, जीव, ज्ञान सब मूल में एक ही है। सो यदि चेतना को ही अचेतन कहेंगे; तो फिर स्मरण-शक्ति तो होगी ही नहीं, जोकि मौजूद रहती है। दूसरा यदि चेतन को ही अचेतन कहेंगे, तो फिर चेतन किसे कहेंगे?

ऐसे मिथ्यादृष्टि-जीवों से पंडित या विशेष-ज्ञानी जीव कहते हैं कि "ज्ञान तो त्रिकाल अखंडित रहता है। जैसे सूर्य त्रिकाल प्रकाशित ही रहता है, उसके लिये प्रकाशित होनेवाले पदार्थ कम हों या ज्यादा हों, ऐसा कोई भेद नहीं है। उसीप्रकार ज्ञान तो त्रिकाल एक जैसा अखंडित ही है, ज्ञेयों के झलकने पर ज्ञेयाकाररूप प्रतीत जरूर होता है, पर फिर भी ज्ञेयों से विरत या भिन्न ही रहता है। जब ज्ञान ज्ञेयों से हमेशा भिन्न ही है, तो चेतना का विनाश कैसे संभव है"? यदि चेतना का विनाश हो गया, तो जीव की सत्ता का ही विनाश हो जायेगा, क्योंकि जीव तो चेतना का ही पिण्ड है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि 'जीव ज्ञान-चेतना प्रमाण और सत् है।'

इसप्रकार हम कह सकते हैं, ज्ञान को अचेतन मानना जीव का भ्रम है, उनका ये तर्क पूर्णतः मिथ्या है। ज्ञान तो त्रिकाल-शुद्ध और चेतन था, है और रहेगा।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ महामूरख कहत "एक पिंड-माँहि, जहाँलौं अचित-चित अंग लहलहै है।

जोगरूप-भोगरूप-नानाकार-ज्ञेयरूप, जेते-भेद करमके तेते-जीव कहै हैं"॥

मतिमान कहै "एक-पिंड-माँहि एक-जीव, ताहीके अनंत-भाव अंस फैलि रहै है।

पुगलसौं भिन्न कर्म-जोगसौं अखिन्न सदा, उपजै-विनसै-थिरता सुभाव गहै है"॥ 25॥

शब्दार्थ :- कोऊ महामूरख कहत= कोई महामूर्ख कहते हैं, एक पिंड-माँहि= एक ही पिंड/शरीर में, जहाँलौं अचित-चित अंग लहलहै है= जहाँ तक अचेतन-चेतनरूप विचार फैल रहे हैं, जोगरूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप= योगरूप, भोगरूप, नानाप्रकार के ज्ञेयरूप, जेते भेद करमके= जितने भेद कर्म के, तेते जीव कहै है=

अध्यास्यात्मनि सर्वभाव-भवनं शुद्ध-स्वभाव-च्युतः, सर्वप्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति।

स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-दारुढः परभाव-भाव-विरह-व्यालोक-निष्कम्पितः॥ 13॥

उतने ही जीव के कहे हैं। **मतिमान कहै**= बुद्धिमान्-जीव कहते हैं, **एक-पिंड-माँहि एक-जीव**= एक-पिंड में एक ही जीव, **ताहीके अनंत-भाव अंस फैलि रहै है**= उसी के अनंत-भाव अंशरूप में फैल रहे हैं, **पुगलसौं भिन्न**= पुद्गल से भिन्न, **कर्म-जोगसौं अखिन्न**= कर्म के योग से खेद-रहित/अप्रभावित, **सदा उपजै-विनसै-थिरता**= सदा उत्पाद-व्यय-धौव्य, **सुभाव गहै है**= स्वभाव से संपन्न है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के बारहवें-पक्ष कि 'आत्मा सत्ता का अंश है'— इसका सटीक-खंडन किया है।

इस विचारधारा के जीव ऐसा मानते हैं कि 'एक ही पिंड/शरीर में चेतन और अचेतन— दोनों प्रकार की तरंगें उठती हैं। कभी योगरूप तो कभी भोगरूप और कभी ज्ञेयरूप, सो जिससमय योगरूप-तरंगें उठें, उससमय योगी-जीव, और जिससमय भोगरूप-तरंगें उठें, उससमय भोगी-जीव। इसप्रकार ज्ञेय-रूप क्रिया के जितने भेद हैं, उतने ही भेद जीव के हैं, अतः आत्मा सत्ता का अंश है'।

ऐसे अज्ञानी-जीवों को समझाते हुए ज्ञानी-जीव कहते हैं कि 'एक पिंड/शरीर में एक ही जीव होता है, उसी के अनंतभाव अंशरूप में फैल रहे हैं। जो पुद्गल से पृथक्, कर्मयोग से रहित सदाकाल उत्पाद-व्यय-धौव्य स्वभाव से संपन्न है।' कहने का अभिप्राय यही है कि एक शरीर में आत्मा तो एक ही है, भोगरूप, योगरूप जो भी भाव है, वे सब पर्याय में हैं, और पर्याय द्रव्य-स्वभाव से भिन्न उत्पाद और व्यय-स्वभावी है, और आत्मा उस समय भी धौव्यरूप सदाकाल विद्यमान रहता है। अर्थात् शरीर से व संयोगों से भिन्न आत्म-स्वभाव ही परिपूर्णता का स्थान है, वही आश्रय के योग्य है। ज्ञेयों के आधार पर जब-जब हम स्वरूप-निर्धारण करना चाहेंगे, तब-तब आत्म-विभ्रम की स्थिति बनेगी, अर्थात् ज्ञेयों का ध्यान /विकल्प करना ही विकृति को जन्म देता है।

इसप्रकार एकांतवादियों का यह मत कि 'आत्मा सत्ता का अंश है' ये भी निराधार है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ एक-छिनवादी कहै 'एक पिंड-माँहि, एक-जीव उपजत एक विनसत है।

जाही-समै अंतर नवीन-उतपति होइ, ताही-समै प्रथम-पुरातन बसत है'॥

सरवांगवादी कहै 'जैसे जल-वस्तु एक, सोई जल विविध-तरंगनि लसत है।

तैसे एक आतम-दरब गुन-परजैसौं, अनेक भयौ पै एकरूप दरसत है'॥ 26 ॥

शब्दार्थ :— कोऊ एक-छिनवादी कहै= कोई-कोई क्षणिकवादी कहते हैं, **एक-पिंड माँहि एक-जीव उपजत**= एक पिंड/शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है, **एक विनसत है**= और एक नष्ट होता है, **जाही समै अंतर नवीन-उतपति होइ**= जिस समय अंतरंग में नवीन-जीव की उत्पत्ति होती है, **ताही समै-प्रथम पुरातन बसत है**= उसके पूर्व-समय तक प्राचीन-जीव था, **सरवांगवादी कहै**= स्याद्वादी कहते हैं, **जैसे जल-वस्तु एक**= जैसे पानी एक वस्तु है, **सोई जल विविध-तरंगनि लसत है**= वही जल अनेक-तरंगोंरूप होता है, **तैसे एक आतम-दरब**= वैसे ही एक आत्म-द्रव्य, **गुन-परजैसौं अनेक भयौ**= गुण-पर्याय से अनेकरूप होता है, **पै एकरूप दरसत है**= परन्तु एकरूप दिखाई देता/अनुभव में आता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के तेरहवें-पक्ष कि 'जीव क्षणभंगुर है'— इसका सतर्क-खंडन किया है।

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहज्जानांश-नानात्मना, निर्जानात्क्षण-भङ्ग-सङ्ग-पतितः प्रायः पशुर्नश्यति।

स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशश्चिद्वस्तु नित्योदितं, टङ्कोत्कीर्ण-घनस्वभाव-महिमज्ञानं भवन् जीवति ॥ 14 ॥

क्षणिकवादी बौद्ध-अनुयायी अपनी क्षणिकवादी-मान्यता का समर्थन करते हुए कहते हैं— "एक ही शरीर में एक जीव की उत्पत्ति होती है, और एक ही विनाश को प्राप्त होता है। जिससमय नवीन-जीव की उत्पत्ति होती है, उसीसमय पूर्व-जीव प्राचीन-समय में था, अर्थात् नवीन-जीव की उत्पत्ति होने पर पूर्व-जीव विनाश को प्राप्त होता है।"

आश्चर्य की बात है कि इस विचारधारा के जीवों ने अजर-अमर, त्रिकाली, शाश्वत-आत्मसत्ता को एकसमय की पर्यायमात्र ही मान लिया। अर्थात् पर्याय का काल एक-समय, सो जैसे अगले-समय में नवीन-पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व-पर्याय का व्यय होता है, ठीक उसीप्रकार प्रतिसमय नवीन-जीव की उत्पत्ति और पूर्व-जीव का व्यय होता है। अर्थात् वर्तमान समय में पुण्य या पापरूप परिणाम करनेवाले जीव को अपने परिणाम का फल प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि उस जीव का तो विनाश हो गया, इसलिए जीव अच्छा-बुरा कैसा भी परिणाम करे कोई हर्ष या विषाद नहीं; क्योंकि फल तो उसे भोगना ही नहीं है।

यदि इन जीवों की मान्यता सही है, तो फिर पिछले-जन्म की बात तो छोड़ो, इस जन्म में भी जीव को पूर्व में अपने द्वारा किये हुये कर्म का स्मरण नहीं होना चाहिए; क्योंकि उस जीव का तो विनाश हो गया। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि हम सभी को अपने द्वारा बिताया हुआ हर पल अच्छे से याद है, अर्थात् वही जीव आज भी मौजूद है; फिर इन क्षणिकवादियों का मत सत्य कैसे हो सकता है? दूसरी बात आज हमें जो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग या पदार्थ मिले हैं, वे किसके परिणामों का फल हैं? क्योंकि जिसने ये परिणाम किये थे, उस जीव का तो विनाश हो गया, अर्थात् संपूर्ण कर्म-सिद्धांत ही विपरीत सिद्ध होगा, जो कि प्रत्यक्ष प्रमाणित नहीं होता, इसलिये इनका ये तर्क निराधार है। क्षणिकवाद मानने पर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सभी असंभव और मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे, जबकि ये प्रमाणज्ञान हैं।

ऐसे अज्ञानी-जीवों को सभी अंगों को अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य माननेवाले स्यादवादी ज्ञानी-जीव समझाते हुए कहते हैं कि "भाई! आत्मद्रव्य तो सदाकाल एक ही है, न कभी उत्पन्न होता है, और न विनाश को प्राप्त होता है, जो भी उत्पाद और व्यय होता है, वह पर्याय में होता है द्रव्य-स्वभाव तो हमेशा ध्रौव्यरूप ही रहता है। जैसे समुद्र का पानी एक समान स्थिर रहता है; लेकिन हवा का संयोग मिलने पर उसमें हलचल होती है अर्थात् लहरें उठती हैं, कोई ऊँची तो कोई नीची, कोई तूफानी, तो कोई चक्रवाती। यद्यपि उन सभी अवस्थाओं में पानी के विविधरूप ही दिखाई देते हैं; लेकिन फिर भी पानी एकरूप ही है, ठीक उसीप्रकार आत्मद्रव्य सदाकाल एकसमान रहता है; परन्तु कर्म का संयोग मिलने पर उसमें हलचल होती है, और अपने गुण-पर्यायों से विविधरूपों में दिखाई देता है; परन्तु द्रव्य-स्वभाव की अपेक्षा एकरूप ही रहता है, न जन्म लेता है और न मरण को प्राप्त होता है"।

इसप्रकार क्षणिकवादियों की 'जीव को क्षणिक मानने' की विचारधारा मिथ्या सिद्ध होती है।

(सवेया इकतीसा)

कोऊ-बालबुद्धि "कहै ग्यायक-सकति जौलौं, तौलौं ग्यान-असुद्ध जगत-मध्य जानियै।

ज्ञायक-सकति काल पाइ मिटि जाइ जब, तब अविरोध-बोध-विमल बखानियै"॥

परम-प्रवीन कहै "ऐसी तौ न बनै बात, जैसैं बिन-परगास सूरज न मानियै।

तैसैं बिन ग्यायक-सकति न कहावै ग्यान, यह तौ न परोच्छ-परतच्छ परवानियै"॥ 27॥

टङ्कोक्कीर्ण-विशुद्धबोध-विसराकारात्म-तत्त्वाशया, वाञ्छत्युच्छलदच्छ-चित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।

ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं, स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तु-वृत्तिक्रमात् ॥ 15॥

शब्दार्थ :— कोऊ-बालबुद्धि कहै= कोई अज्ञानी कहे, ग्यायक-सकति जौलौं= जबतक ज्ञायक-शक्ति है, तौलौं ग्यान-असुद्ध= तबतक ज्ञान अशुद्ध है, जगत-मध्य जानियै= संसार में ऐसा जानना, ज्ञायक-सकति काल-पाइ मिटि जाइ जब= ज्ञायक-शक्ति समय पाकर जब मिट जाती है, तब अविरोध-बोध-विमल बखानियै= तब ज्ञान निर्विरोध/ निर्विकल्प और शुद्ध हो जाता है। " परम-प्रवीण कहै= श्रेष्ठ-बुद्धिमान् जीव कहते हैं, ऐसी तौ न बनै बात= " ऐसी तो बात नहीं है, जैसैं बिन-परगास सूरज न मानियै= जैसे बिना प्रकाश के सूरज को नहीं मानते, तैसैं बिन ग्यायक-सकति न कहावै ज्ञान= उसीप्रकार ज्ञायक-शक्ति के बिना ज्ञान नहीं कहलाता, यह तौ न परोच्छ-परतच्छ परवानियै= यह तो परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों से ही प्रमाणित नहीं है।"

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने एकांतवादियों के चौदहवें-पक्ष कि 'जीव ज्ञायक-शक्ति से रहित अज्ञायक है'— इसका सतर्क-खंडन किया है।

इस विचारधारा को माननेवाले लोग कहते हैं कि "सारा दोष ज्ञायक-शक्ति का है, सो जबतक जीव में ज्ञायक-शक्ति रहेगी तबतक जीव-अशुद्ध रहेगा, और जैसे ही ज्ञायक-शक्ति का अभाव होगा, जीव पूर्ण-शुद्ध और निर्विकार हो जायेगा; अतः हमारा मानना है कि जीव में ज्ञायक-शक्ति का अभाव मानना चाहिए"।

इस विचारधारा को माननेवालों ने तो जीव की पहचान ही खत्म कर दी है। जैसे एक मनुष्य है, उसे हम कबतक अपने से लगाकर रखते हैं/कबतक हम उसे जीवित मानते? जबतक उसमें जानन-शक्ति है, उसे सुख-दुःख का वेदन हो रहा है; अन्यथा जिस-क्षण उसमें से जीवत्व-शक्ति/ज्ञायक-शक्ति का विलय होता है, हम उसे 'मुर्दा' कहकर तत्क्षण अपने से दूर कर देते हैं। क्यों? क्योंकि हम जानते हैं कि जबतक इसमें जीवत्व/जाननशक्ति है, तभी तक ये हमारे लिये प्रिय है; अन्यथा तो अन्य अचेतन-पदार्थों के समान जड़ है। उसीप्रकार जबतक जीव में ज्ञायक-शक्ति विद्यमान है, तभीतक उसका अस्तित्व जीवरूप में कायम है, वर्ना तो अन्य-पदार्थों के समान जड़ हो जायेगा, इस अपेक्षा इनकी ये कल्पना निराधार है।

ऐसे अज्ञानी-जीवों को परम-प्रवीण अर्थात् विशिष्ट-ज्ञानी जीव कहते हैं, "जैसा तुम कह रहे हो ऐसा तो प्रत्यक्ष-अनुभव में नहीं आता।" लोक में भी जैसे हम बिना प्रकाश के सूरज को नहीं मानते, यहाँतक कि जिस दिन बादलों के कारण सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर नहीं पहुँच पाता, उस दिन हम यही कहते हैं कि "आज सूरज नहीं निकला", क्योंकि उस दिन सूर्य का वो प्रकाश वो गरमाहट हमें प्राप्त नहीं होती, जबकि सूरज तो उस समय भी उदित ही रहता है, हम फिर भी उसको नहीं मानते। और भी कई उदाहरण जैसे उष्णता के बिना अग्नि, शीतलता के बिना जल, खटास के बिना नीबू, खारेपन के बिना नमक इत्यादि को स्वीकार नहीं करते; क्योंकि इन गुणों के बिना इन पदार्थों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, ठीक उसीप्रकार जानन-शक्ति/ज्ञायक-शक्ति के बिना ज्ञायक/जीव/आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है। ज्ञानीजन कहते हैं कि इसलिये तुम्हारा यह तर्क 'ज्ञान के बिना ज्ञायक' प्रत्यक्ष और परोक्ष— दोनों ही प्रमाणों से बाधित है।

इसप्रकार ज्ञान बिना ज्ञायक की प्रसिद्धि करनेवाले इन जीवों का तर्क पूर्णतः मिथ्या और निराधार साबित होता है।

(दोहा)

इहविधि आतम-ग्यान-हित, स्याद्वाद-परवांन।

जाके-वचन-विचारसौं, मूरख होइ सुजान॥ 28॥

इत्यज्ञान-विमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्। आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥ 16॥

स्यादवाद आत्म-दसा, ता-कारन बलवान।

सिवसाधक बाधारहित, अखै-अखंडित आन॥ 29॥

शब्दार्थ :— इहविधि आत्म-ग्यान-हित= इसप्रकार आत्मा को जानने के लिए, स्याद्वाद-परवान= स्याद्वाद ही प्रामाणिक सर्वश्रेष्ठ है, जाके वचन-विचारसौ= इसके वचनों को विचारने से, मूरख होइ सुजान= मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जाता है॥ 28॥

स्यादवाद आत्म-दसा= स्याद्वाद (की विशिष्ट कथन-शैली) आत्मा की स्थिति है, ता-कारन बलवान= इसकारण ये बलवान है, सिवसाधक बाधारहित= मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला समस्त-बाधाओं से रहित, अखै अखंडित-आन= अक्षय अखंडित मर्यादा /स्वरूपवाला है॥ 29॥

विशेषार्थ :— इन-छंदों में कवि ने इस अधिकार का सार 'स्याद्वाद की महिमा' को वर्णित किया है, बल्कि यह कहें कि आत्मस्वरूप को समझने का एकमात्र-साधन स्याद्वाद ही है, इसकी प्रतीति भी कराई है।

इस अधिकार के लगभग सभी छंदों में कवि ने एकांतवादियों के थोथे-विचारों का प्रस्तुतीकरण और उनका आगम-सम्मत सटीक व सतर्क-खंडन भी किया। और स्पष्ट किया कि यदि हम वास्तव में न केवल आत्मस्वरूप को, बल्कि समूची वस्तु-व्यवस्था के स्वरूप को जानना चाहते हैं, तो उसमें एकमात्र स्याद्वाद ही समर्थ है। इसके वचनों के विचार से अर्थात् स्याद्वाद के मर्म को समझने से बड़े से बड़ा मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जाता है।

स्याद्वाद को आत्मस्वरूप का परिचय कराने, आत्मानुभूति, और मोक्षमार्ग की प्राप्ति में सहायक होने से बलशाली और सर्वश्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि यह अनुमान-प्रमाण की समस्त बाधाओं से रहित है, अक्षय है, और कोई भी वादी या प्रतिवादी इसके कथनों को खंडित नहीं कर सकता।

अनेकांतमयी वस्तु-व्यवस्था को समझने के लिये जैन-दर्शन के समस्त सिद्धांतों में से 'स्यादवाद' सर्वश्रेष्ठ है, यह जैनदर्शन का गौरव भी है और प्राण भी। हम कह सकते हैं कि एकांतवादियों के समस्त तर्कों को निर्मूल करने के लिये स्याद्वाद 'सुदर्शन-चक्र' के समान है। वस्तु अनंत-धर्मात्मक है, और सभी धर्मों का कथन एकसाथ करना संभव नहीं है, इसलिये स्याद्वाद के द्वारा किसी एक-धर्म को मुख्य और अन्य-धर्मों को गौण करके कथन किया जाता है। जबकि अन्य-मतों के लोग वस्तु के एक-धर्म का ही कथन करते हैं, और शेष-धर्मों का निषेध करते हैं; इसलिए वे एकांतवाद के पोषक कहे जाते हैं; जबकि स्याद्वादी वस्तु के समस्त धर्मों को अपेक्षा के साथ ग्रहण करते हैं इसलिये वे अनेकांतवादी कहे जाते हैं।

जैसे जीव नित्य भी है और अनित्य भी, दोनों ही धर्म परस्पर-विरोधी हैं। यदि हम जीव को केवल नित्य मानते हैं, तो फिर कभी देव, कभी नारकी, कभी तिर्यच और कभी मनुष्य इत्यादि-रूपों को कैसे स्वीकारेंगे? और यदि हम आत्मा के केवल अनित्यरूप को ही मानेंगे, तो आत्मा के अजर-अमर शाश्वतस्वरूप, जिनेन्द्र-परमात्मा, पुण्य-पाप, कर्म-सिद्धांत इत्यादि को कैसे स्वीकारेंगे?

कहने का अभिप्राय यही है कि इसीलिए हमें आत्मा के परस्पर-विरोधी नित्य और अनित्य— दोनों रूपों को स्वीकार करना पड़ेगा, अर्थात् आत्मा द्रव्य-स्वभाव की अपेक्षा नित्य, और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। जब जिसकी मुख्यता से अर्थात् जिस अपेक्षा से कथन किया जाये, तब अन्य सभी धर्मों को गौण करके उस मुख्य-अर्थ को समझना चाहिए।— इसी का नाम तो स्याद्वाद है।

एवं तत्त्व-व्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन्स्वयम्। अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ 17॥

इस 'स्याद्वाद-द्वार' अधिकार के सार-स्वरूप हम कह सकते हैं कि एकांतवादियों की तरह वस्तु के अनंत-धर्मों का निषेध न करके मुख्य और गौण या 'स्यात्/कथंचित्' शब्द का प्रयोग करते हुए वस्तु के सभी धर्मों को सहजता से स्वीकार करना चाहिए, यही स्याद्वाद है, और यही मुक्ति का मार्ग भी है।



कविवर बनारसीदास जी द्वारा गोस्वामी तुलसीदास जी को लिखकर दी गयी संक्षिप्त 'अध्यात्म-रामायण'

विराजै रामायण घट-माँहिं।

मरमी होय मरम सो जाने, मूरख मानै नाहिं।
विराजै रामायण घट-माँहिं॥

आतम-राम ज्ञानगुन-लछमन, सीता-सुमति-समेत।
शुभपयोग-वानरदल-मंडित, वर-विवेक रनखेत॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 1॥

ध्यान-धनुष-टंकार शोर सुनि, गई विषय-दिति भाग।
भई भस्म मिथ्यामत-लंका, उठी धारणा आग॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 2॥

जरे अज्ञान-भाव-राक्षसकुल, लरे निकांचित-सूर।
जूझे राग-द्वेष-सेनापति, संसै-गढ़ चकचूर॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 3॥

विलखत कुंभकरण भव-विभ्रम, पुलकित मन दरयाव।
थकित उदार-वीर महिरावण, सेतुबंध-समभाव॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 4॥

मूर्च्छित मंदोदरि-दुराशा, सजग-चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति-परणति सेना, छूटे छपक-गुण-बान॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 5॥

निरखि सकति-गुन चक्र-सुदर्शन, उदय-विभीषण दीन।
फिरै कबंध महीरावण की, प्राण-भाव शिर-हीन॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 6॥

इह-विधि सकल-साधु घट-अंतर, होय सहज-संग्राम।
यह विवहार-दृष्टि रामायण, केवल निश्चय-राम॥
विराजै रामायण घट-माँहिं॥ 7॥



(द्वादश-अधिकार)

साध्य-साधक-द्वार

(दोहा)

स्यादवाद-अधिकार यह, कह्यौ अल्प-विसतार।

'अमृतचंद-मुनिवर' कहैं, साधक-साध्य-दुवार ॥ 1 ॥

शब्दार्थ :- स्यादवाद-अधिकार यह= यह स्याद्वाद-अधिकार, कह्यौ अल्प-विसतार= संक्षेप में कहा, अमृतचंद-मुनिवर= अब आचार्य अमृतचंद्र, कहैं साध्य-साधक-दुवार= साध्य-साधक द्वार कहते हैं।

विशेषार्थ :- स्यादवाद-अधिकार को कुछ अल्प विस्तार के साथ पूर्ण किया है, अब आचार्य अमृतचंद्र साध्य-साधक-द्वार का वर्णन करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जोई जीव-वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरुलघु, अभोगी अमूरतीक परदेसवंत है।

उतपतिरूप नासरूप अविचलरूप, रतनत्रयादि-गुणभेदसौ अनंत है॥

सोई जीव दरब-प्रमान सदा एकरूप, ऐसौ सुद्ध-निहचै सुभाउ निरतंत है।

स्यादवाद-माँहि साध्य-पद अधिकार कह्यौ, अब आगे कहिवै कौ साधक-सिद्धंत है॥ 2 ॥

शब्दार्थ :- जोई जीव-वस्तु= वह जीव वस्तु, अस्ति-प्रमेय-अगुरुलघु-अभोगी-अमूरतीक, परदेसवंत है= अस्तित्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघु, अभोक्तृत्व, अमूर्तिकत्व, प्रदेशवत्त्व वाला है, उतपतिरूप-नासरूप-अविचलरूप= उत्पादरूप, व्ययरूप, ध्रौव्यरूप, रतनत्रयादि-गुणभेदसौ अनंत है= रत्नत्रय आदि गुण-भेदों से अनंत-गुण-संपन्न है, सोई जीव= वही जीव, दरब-प्रमान सदा एकरूप - द्रव्य-अपेक्षा सदा एकरूप, ऐसौ सुद्ध-निहचै सुभाउ निरतंत है= निश्चयनय से ऐसा शुद्ध-स्वभाव वर्तता है, स्यादवाद-माँहि= स्याद्वाद-अधिकार में, साध्यपद अधिकार कह्यौ= साध्यपद का वर्णन किया, अब आगे कहिवै कौ साधक-सिद्धंत है= अब आगे साधकरूप को कहता हूँ।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कविवर लक्ष्य की प्राप्ति में पुरुषार्थरत साधक जीवों का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

'साध्य' अर्थात् वह लक्ष्य जिसे हमें प्राप्त करना है, या कहें जीव का वह शुद्ध स्वरूप जिसकी अनुभूति और लीनता ही हमारा मुख्य प्रयोजन है। वह जीव-वस्तु अस्तित्व (जिसका कभी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता), प्रमेयत्व (ज्ञान का विषय बनने योग्य), अगुरुलघुत्व (त्रिकाल द्रव्यपना कायम रहना, गुण और पर्यायों का यथावत रहना), अभोक्तृत्व (भोक्तृत्वपने से रहित), अमूर्तिक (जड़ आकार से रहित), प्रदेशत्व (ज्ञानाकार से सहित) आदि गुणों से संपन्न है। उत्पत्तिरूप यानि नवीन-पर्याय का उत्पन्न होना, व्ययरूप यानि पूर्व-पर्याय का विनाश होना, फिर भी स्वभाव से ध्रौव्यरूप रहना, दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों रत्नों और अनंत-गुणों से संपन्न है।

ऐसा वह जीव-द्रव्य सदाकाल एकरूप रहता है, निश्चय से जीव का स्वभाव त्रिकाल-शुद्ध ही है। जो भी अशुद्धि है, वह पर्याय में है। स्याद्वाद-द्वार में पर्याय से भिन्न उसी शुद्ध-जीव की सिद्धि की, अब

इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि, यो ज्ञानमात्र-मयतां न जहाति भावः।

एवं क्रमाक्रम-विवर्ति-विवर्तचित्रं, तद्द्रव्य-पर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥ 1 ॥

उस शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त करने के लिये जो पुरुषार्थरत हैं, उन ज्ञानी-जीवों का वर्णन करता हूँ।

(दोहा)

साध्य सुद्ध-केवल-दसा, अथवा सिद्ध-महंत।

साधक अविरत आदि बुध, छीनमोह-परजंत॥ 3॥

शब्दार्थ :- साध्य सुद्ध-केवल-दसा अथवा सिद्ध-महंत= साध्यरूप दशा केवल दो अरिहंत अथवा सिद्ध-परमात्मा, साधक अविरत आदि बुध छीनमोह-परजंत= मोक्षमार्ग को साधनेवाले अविरति-सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणमोह-पर्यंत सभी ज्ञानी।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने स्पष्ट किया कि साध्य कौन हैं? और साधक कौन है? इस संसार में 'साध्य' केवल दो, एक तो केवलज्ञान से सुशोभित अरिहंत-परमात्मा, और दूसरे समस्त-कर्मों से रहित पूर्ण-शुद्ध सिद्ध-परमात्मा हैं; क्योंकि ये दोनों ही अपने साध्यपद को प्राप्त कर चुके हैं। और 'साधक' अर्थात् वे सभी ज्ञानी-जीव जो अपने साध्यपद को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थरत हैं। इस विवक्षा के अनुसार चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती 'अविरत- सम्यग्दृष्टि' से लेकर 'क्षीणमोह' नामक बारहवें-गुणस्थान तक के समस्त ज्ञानी-जीव 'साधक' हैं।

(सवैया इकतीसा)

जाकौ अधो-अपूरब-अनिवृति-करनकौ, भयौ लाभ भई गुरुवचन की बोहिनी।

जाकै अनंतानुबंधी-क्रोध-मान-माया-लोभ, अनादि-मिथ्यात मिश्र समकित-मोहिनी॥

सातौं परकिति खपां किंवा उपसमी जाके, जगी उर-माँहि समकित-कला सोहनी।

सोई मोख-साधक कहायौ ताकै सरवंग, प्रगटी सकति गुनथानक-अरोहनी॥ 4॥

शब्दार्थ :- जाकौ अधो-अपूरब-अनिवृत्तिकरनकौ भयौ लाभ= जिसके अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण का लाभ हुआ, भई गुरुवचन की बोहिनी= गुरुवचनों का लाभ (देशना-लब्धि) मिला, जाकै अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ= जिसके अनंतानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ, अनादि-मिथ्यातमिश्र समकित-मोहिनी= अनादिमिथ्यात्व, मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति), सम्यक्त्व मोहनी नामक दर्शनमोहनीय की, सातौं परकिति खपां किंवा उपसमी= इन सातों-प्रकृतियों के क्षय अथवा उपशमित होने से, जाके जगी उर-माँहि समकित-कला सोहनी= सम्यक्त्व की सुन्दर-कला जिसके अंतरंग में जागृत है, सोई मोख-साधक कहायौ ताकै सरवंग= वही मोक्ष का साधक कहलाता है जिसके सर्वांग में, प्रगटी सकति गुनथानक-अरोहनी= गुणस्थान चढ़ने की शक्ति प्रगट हुई है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने साधक-जीव के परिणामों की स्थिति का वर्णन किया है। सुगुरु का उपदेश-लाभ अर्थात् देशना-लब्धि प्राप्त होने पर मिथ्यादृष्टि-जीव मिथ्यात्व को छोड़कर निज-आत्मस्वरूप की अनुभूति के लिए पुरुषार्थ करता है, तब जिससमय वह जीव अपने स्व-पुरुषार्थ से सम्यक्त्व के सन्मुख होता है, तो चारों लब्धियों को पार करते हुए करण-लब्धि के परिणामों में पहुँचता है। उससमय भी ये तीनों परिणाम होते हैं—

1. अधःकरण :- इस करण में उपरितन-समयवर्ती तथा अधस्तन-समयवर्ती-जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश होते हैं।

2. अपूर्वकरण :- इस करण में जीव अ+पूर्व अर्थात् पूर्व में जिनको कभी धारण नहीं किया, ऐसे अपूर्व-परिणामों को धारण करते हैं। इस करण में भिन्नसमयवर्ती-जीवों के परिणाम सदा विसदृश ही रहते हैं, और एकसमयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों होते हैं।

3. अनिवृत्तिकरण :- अ+निवृत्ति = अनिवृत्तिकरण यानि इस करण में अलग-अलग जीवों के परिणामों की विशुद्धि में परस्पर 'निवृत्ति' अर्थात् 'भेद' नहीं पाया जाता। इस करण में भिन्न-समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं, और एक-समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं।

इन परिणामों में अनिवृत्तिकरण-परिणामों के अंतिम-समय में जीव को मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। तब अनंतानुबंधी (जो अनंत-संसार का अनुबंध कराये) की चार- अनंतानुबंधी-क्रोध, अनंतानुबंधी-मान, अनंतानुबंधी-माया और अनंतानुबंधी-लोभ, और दर्शन-मोहनीय की तीन - मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व/मिश्र और सम्यक्प्रकृति/सम्यक्त्व-मोहनीय- इन सात प्रकृतियों का क्षय या उपशम हो जाता है।

इन प्रकृतियों का क्षय या उपशम होने से उसके अंतरंग में सम्यग्दर्शन की सुंदर-कला जागृत होती है, अर्थात् श्रद्धा-गुण की निर्मल-परिणति प्रकट होती है, तब वह जीव 'मोक्ष' का 'साधक' या 'मोक्षमार्गी' कहलाता है। तत्पश्चात् उसके सर्वांग में अर्थात् संपूर्ण-गुणों में गुणस्थान चढ़ने की शक्ति प्रगट होती है, क्योंकि तब साधक-जीव की साधना में सर्वाधिक-बाधक अनंतानुबंधी का क्षय या उपशम होने से पुरुषार्थ जोर मारता है। तत्पश्चात् अंतर में धीरे-धीरे स्वरूप की सन्मुखता/स्थिरता बढ़ती है, और बाहर में व्रतादिक-पूर्वक त्याग की भावना उत्तरोत्तर-वृद्धि को प्राप्त होती है, इसी को 'गुणस्थान-आरोहण' कहते हैं।

सदृश और विसदृश-परिणाम :- सामान्य-अर्थ में कहें तो सदृश अर्थात् समान या एकरूप रहना और विसदृश अर्थात् असमान या भिन्न-भिन्न। जैसे अग्नि किसी भी स्थिति में हो हमेशा उष्णरूप ही रहती है, - ये सदृश; लेकिन जैसे आम पेड़ पर लगता है पहले हरा और फिर बाद में वह पीला हो जाता है, यानि उसीरूप नहीं रहा, परिवर्तित हो गया- यह विसदृश।

इसीप्रकार जैसे ज्ञान-गुण का परिणमन हमेशा जाननरूप ही रहता है, कहीं भी कभी भी, यह हुआ सदृश; लेकिन वही ज्ञान जब हम पर्याय अपेक्षा देखेंगे, तो जो पूर्व का ज्ञानरूप परिणमन था, अब वह नहीं है, इसलिये यह विसदृश हुआ।

(देहा)

जाके मुक्ति समीप भई, भव-स्थिति घट गई।

ताकी मनसा-सीप, सुगुरु-मेघ मुक्ता-वचन॥ 5॥

शब्दार्थ :- जाके मुक्ति समीप भई= जिसके मुक्ति/मोक्ष नजदीक है, भव-स्थिति घट गई= संसार की स्थिति घट/कम हो गई है, ताकी मनसा-सीप= उसके मनरूपी सीप में, सुगुरु-मेघ मुक्ता-वचन= सदगुरुरूपी मेघ के वचन मोती के समान प्रतिफलित होते हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने उन भव्य-जीवों की परिणति का उदाहरण के माध्यम से सुन्दर और प्रेरक-वर्णन किया है, जिनकी नैया भव-समुद्र के किनारे पर खड़ी है अथवा जिनके लिये मुक्तिरमा वरने को तैयार खड़ी है।

कविवर कहते हैं जिन जीवों की मुक्ति समीप है अर्थात् जिनका संसार में रहने का काल कम से कम रह गया है, उन जीवों के मनरूपी सीप में सदगुरु का समागम मेघ के समान और उनके हितकारी-

वचन मोती के समान परिणामित होते हैं।

कहा जाता है कि यदि स्वाति-नक्षत्र में वर्षा की बूँद सीप के अंदर प्रवेश कर जाये, तो वह बूँद मोती बन जाती है। कहना बहुत आसान है, लेकिन ऐसा होना बहुत मुश्किल; क्योंकि सीप का मुँह बहुत-छोटा और घुमावदार होता है, अतः वर्षा की बूँद आसानी से प्रवेश नहीं करती। लेकिन यदि प्रवेश कर जाती है, तो वह निश्चित ही बहुमूल्य-मोती बन जाती है। ठीक उसीप्रकार सद्गुरु की देशना भी पहले तो विरले ही जीवों को प्राप्त होती है, लेकिन यदि वह देशना प्राप्त हो, और अंतर में स्वाति-नक्षत्र की बूँद की तरह प्रवेश कर जाये, तो निश्चित ही वह भव्यता या सम्यग्दर्शनरूपी-मोती बनकर प्रस्फुटित होती है। हे आत्मन्! तब ऐसे जीवों का संसार में रहने का काल अति-अल्प रह जाता है।

(दोहा)

ज्यों बरषै बरषा-समै, मेघ अखंडित-धार।

त्यों सद्गुरु-वानी खिरै, जगत-जीव-हितकार॥ 6॥

शब्दार्थ :— ज्यों बरषै बरषा-समै मेघ अखंडित-धार= जैसे बरसात के समय बादलों से अखंड-जलधारा बरसती है, त्यों सद्गुरु-वानी खिरै जगत-जीव-हितकार= उसीप्रकार सद्गुरु का उपदेश संसार के जीवों के लिये हितकारी है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने देशना की हितकारिता को एक उदाहरण के माध्यम से वर्णित किया है। जैसे बरसात के मौसम में पानी का बरसना पेड़-पौधे, फसल, और जन-जीवन सभी के लिये हितकारी होता है; ठीक उसीप्रकार सद्गुरु की देशना भी हम संसारी-जीवों के लिये हमेशा हितकारी ही होती है। कहने का अभिप्राय यही है कि यदि हम इस दुःखरूपी भव-समुद्र से पार होना चाहते हैं, तो सद्गुरु की हितकारी-देशना को आत्मसात् करना ही होगा।

(सवैया तेईसा)

चेतनजी! तुम जागि विलोकहु, लागि रहे कहा माया के ताई।

आए कहींसौ, कहीं तुम जाहुगे, माया रमेगी जहाँ की तहाँई॥

माया तुम्हारी न जाति न पाँति, न वंस की वेलि न अंस की झाँई।

दासी कियै बिनु लातनि मारत, ऐसी अनीति न कीजै गुसाँई॥ 7॥

शब्दार्थ :— चेतनजी! तुम जागि विलोकहु= हे चेतन-आत्मा! तुम जागो और देखो, लागि रहे कहा माया के ताई= कहाँ माया की संभाल में लगे हो, आए कहींसौ कहीं तुम जाओगे= कहाँ से आये हो? कहाँ तुम जाओगे? माया रमेगी जहाँ की तहाँई= माया फिर जहाँ की तहाँ ही रमी रहेगी, माया तुम्हारी न जाति न पाँति= माया तुम्हारी न जात की है न पात की, न वंस की वेलि न अंस की झाँई= न वंश परम्परा की है, न ही तुम्हारे अंश की छाया है, दासी कियै बिनु लातनि मारत= नौकरानी बनाये बिना लातें मारती है, ऐसी अनीति न कीजै गुसाँई= हे महन्त! ऐसा अन्याय मत करो।

विशेषार्थ :— जहाँ पिछले-छंद में कवि ने उन जीवों का वर्णन किया था, जिनकी नैया भवसागर के पार/किनारे पर खड़ी थी। वहीं इस छंद में कवि ने उन जीवों का वर्णन किया है, जिनकी नैया भवसागर के बीचों-बीच भँवर में फँसी है, न जाने कब डूब जाये।

कवि द्वारा रचित ये चार-पंक्तियाँ मोह की निद्रा में अचेत पड़े हम अज्ञानी-जीवों को न केवल जगा रही है; बल्कि मायारूपी-ठगिनी का वास्तविकरूप दिखाकर हम भोले-जीवों को मायाजाल से छुड़ाकर मोक्षमार्ग पर चलने के लिये प्रेरित भी कर रही है।

हे चेतन! तुम अनादिकाल से मोह की चिर-निद्रा में सोये हुए हो, अब तो इस मोह-नींद से जागो, और देखो, कहाँ माया की संभाल में अर्थात् धन-दौलत, कुटुम्ब-कबीला आदि पर की संभाल में लगे हो और अपना बहुमूल्य मनुष्य-भव और समय बर्बाद कर रहे हो। विचार तो करो, तुम कहाँ से अर्थात् किस गति से आये हो, और न जाने किस गति में जाना है। भाई! न तो तुम इस माया को अपने साथ लेकर आये थे, और न साथ लेकर जाओगे। तुम अकेले ही आये थे और अकेले ही चले जाओगे। तुम्हारे जाने के बाद ये माया, ये संगी-साथी सब जहाँ हैं, वहीं रम जायेंगे। (आश्चर्य की बात तो ये है कि ये सब दृश्य हम अपनी आँखों के सामने प्रतिदिन देखते हैं, और फिर भी नहीं चेतते हैं!)

कविवर आगे कहते हैं कि हे आत्मन्! इस माया की कोई जात नहीं है, अर्थात् ये तो एक छलावा है, भ्रम है, जिसे अज्ञानी-जीव न केवल अपनी मानता है; बल्कि अपना स्वरूप ही मान लेता है। इस माया की कोई वंश-बेल भी नहीं है, अर्थात् यह कुलीन नहीं है; कोई कितना भी जोड़-जोड़कर रखे, साथ उसी का देती है, जिसके पल्ले में पुण्य होता है; वर्ना बिजली की चमक के समान क्षणभर में विलय को प्राप्त होती है। भाई! न ही ये माया तुम्हारी प्रतिछाया है; क्योंकि तुम तो चेतन हो और यह जड़ है, इसका और तुम्हारा दूर-दूर तक कोई मेल नहीं है। यदि तुमने इस माया को अपने वश में नहीं किया और इसकी चाकरी में ही लगे रहे, तो ये एक दिन ऐसी लात मारेगी कि सीधा नरक-निगोद में ही जाना पड़ेगा। इसलिए हे महंत! ऐसी अनीति/अन्याय मत होने दो। इस माया/परिग्रह में आसक्ति को छोड़कर अपने अखंड, शाश्वत आत्म-वैभव को देखो जिसके तुम त्रिकाल स्वामी हो।

(दोहा)

माया-छाया एक है, घटै-बढ़ै छिन-माँहि।

इन्हकी संगति जे लगै, तिन्हहिं कहूँ सुख नाहि॥ ४॥

शब्दार्थ :— माया-छाया एक है= माया और छाया एक-समान है, घटै-बढ़ै छिन-माँहि= क्षण में घटती और बढ़ती है, इन्हकी संगति जे लगै= इनकी संगति जो भी करता है, तिन्हहिं कहूँ सुख नाहि= उसे कभी सुख नहीं मिलता।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने माया का स्वरूप बताया था, अब इस छंद में माया को छाया के समान परिवर्तनशील बताया है। जिसप्रकार छाया एक ही पल में बदल जाती है, कभी छोटी कभी बड़ी हो जाती है, ठीक उसीप्रकार माया का भी कोई ठिकाना नहीं है, पुण्य-पाप के उदयानुसार कभी बढ़ जाती है, तो कभी घट जाती है। जो जीव इसमें आसक्त रहता है, वह कभी चैन नहीं पाता; क्योंकि जब माया बढ़ती है, तो जीव हर्ष से आकुलित होता है, और जब माया घटती है, तो ये विषाद से आकुलित होता है, अर्थात् एक क्षण भी चैन से अर्थात् निराकुल नहीं रहता।

(सवैया तेईसा)

लोकनिसौं कछु नातौ न तेरौ न, तौसौं कछु इह लोककौ नातौ।

ए तौ रहै रमि स्वारथ के रस, तू परमारथ के रस-मातौ॥

ये तनसौं तनमैं तन से जड़, चेतन तू तिनसौं नित हांतौ।
होहु सुखी अपनौ-बल फेरिकै, तोरिकै राग-विरोध कौ तांतौ॥ 9॥

शब्दार्थ :- लोकनिसौं कछु नातौ न तेरौ= कुटुम्बी-जनों से तेरा कोई नाता नहीं है, न तौसौं कछु इह लोककौ नातौ= न इस लोक का तुझसे कुछ नाता है, ए तौ रहै रमि स्वारथ के रस= ये तो सब स्वार्थ के रस में रमे हैं, तू परमारथ के रस मातौ= तुम तो परमार्थ के रस में मस्त होओ, ये तनसौं तनमैं तन से जड़= ये तो शरीर से तन्मय, तन के समान जड़ हो रहे हैं, चेतन तू तिनसौं नित हांतौ= चेतन तुम तो इनसे प्रतिसमय-भिन्न हो, होहु सुखी अपनौ-बल फेरिकै= अपना बल प्रगट करके सुखी होओ, तोरिकै राग-विरोध कौ तांतौ= राग-द्वेष का धागा/बंधन तोड़कर।

विशेषार्थ :- पिछले-छंदों में कवि ने माया अर्थात् धन-दौलत, कुटुम्बी-जनों के प्रति आसक्ति छोड़ने का उपदेश दिया था, और अब इस छंद में कुटुम्बी-जनों के प्रति आसक्ति क्यों छोड़नी?— इसका सटीक-वर्णन किया है।

लोक में अज्ञानी-जीव यह मानता है कि मेरा-परिवार, मेरे-कुटुम्बीजन सब मेरे अपने हैं, सब मेरे सुख-दुःख में मेरा साथ देंगे, इनके बिना तो मेरा जीवन बेकार है। इसलिए उनके भरण-पोषण, उनकी-सुरक्षा में दिन-रात एक करता है, यहाँ तक कि उनके लिये अन्याय, अनीति, अभक्ष्य की भी परवाह नहीं करता, उनके मोह में पागल बना फिरता है।

मोह में गाफिल ऐसे अज्ञानी-जीवों को संबोधित करते हुए कविवर कहते हैं 'हे आत्मन्! इन लौकिकजनों, परिवारीजनों से तेरा कोई नाता या संबंध नहीं है, और न ही इस लोक को तुझसे कोई प्रयोजन है, ये तो सब स्वार्थ के सगे हैं', अर्थात् अपने मतलब के लिये तुझे अपना मानते हैं, जिस क्षण उनका स्वार्थ सिद्ध हो जाता है, ये तत्क्षण तुझे दूध में गिरी मक्खी की तरह निकालकर फेंक देते हैं, और यह कुछ नया नहीं है, ऐसा हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं, लेकिन फिर भी कभी विचार तक नहीं करते।

"भाई! तुम तो परमार्थ के मीत हो अर्थात् आत्महित या मोक्ष के पक्षधर हो; तुम्हें इन संयोगों की आवश्यकता नहीं है। तुम तो अपने आप में परिपूर्ण हो, ये संयोग इस जड़-देह से उत्पन्न हुए हैं, और इस जड़-देह में ही तन्मय रहते हैं, अर्थात् इनका संबंध केवल तेरी इस नश्वर-देह से है, देह के विनष्ट होने पर कोई तुझे याद तक नहीं करता है, इसीलिए जिसप्रकार ये देह जड़ है, उसीप्रकार ये देह के संबंधी भी जड़वत् हैं, और तुम तो चेतन हो, इस जड़ देह में रहते हुए भी त्रिकाल इससे भिन्न ही रहते हो। तुम अनंत-बल के धनी हो, अपने आत्मबल को प्रगट करो, और जिस राग-द्वेष के मजबूत-धागे ने तुम्हें इनसे जोड़कर रखा है, तुम उस बंधन को तोड़कर सुखी हो जाओ, अर्थात् राग-द्वेष के इन विकल्पों को छोड़कर अपने उपयोग को अपने में जोड़कर अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करो।"

(देहा)

जे दुरबुद्धी-जीव, ते उतंग-पदवी चहैं।

जे समरसी-सदीव, तिनकौं कछु न चाहिये॥ 10॥

शब्दार्थ :- जे दुरबुद्धी-जीव= जो दुर्बुद्धि-जीव हैं, ते उतंग-पदवी चहैं= वे हमेशा उच्च-पद चाहते हैं, जे समरसी सदीव= जो हमेशा समरसी/समताभावी होते हैं, तिनकौं कछु न चाहिये= उनको कुछ नहीं चाहिए।

विशेषार्थ :- अज्ञानी और ज्ञानी-जीव की चाह का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जो दुर्बुद्धि अर्थात् अज्ञानी-जीव हैं, वे निरन्तर उच्चपदों की चाह करते हैं; जबकि जो समरसी अर्थात् समता-रस

के धनी ज्ञानी-जीव हैं, वे उच्चपद की ही नहीं; संसार की किसी भी वस्तु की चाहना नहीं करते, वे तो प्रतिसमय स्वयं के आनंद में ही मग्न रहते हैं।

(सवैया इकतीसा)

हाँसी मैं विषाद बसै, विद्या मैं विवाद बसै, काया में मरन, गुरु-वर्तन में हीनता।

सुचि मैं गिलानि बसै, प्रापति मैं हानि बसै, जैमैं हारि सुंदर-दसामैं छवि-छीनता॥

रोग बसै भोग मैं, संजोग मैं वियोग बसै, गुनमैं गरब बसै, सेवा-माँहि हीनता।

और जग-रीति जेती गर्भित असाता सेती, साता की सहेली है, अकेली उदासीनता॥ 11॥

शब्दार्थ :— हाँसी मैं विषाद बसै= हँसी में दुःख का निवास है, विद्या मैं विवाद बसै= विद्या में विवाद बसता है, काया में मरन= शरीर में मरण, गुरु वर्तन में हीनता= बड़प्पन में लघुता, सुचि मैं गिलानि बसै= पवित्रता में ग्लानि बसती है, प्रापति मैं हानि बसै= प्राप्ति/लाभ में हानि बसती है, जैमैं हारि= जीत में हार, सुंदर-दसामैं छवि छीनता= सुंदरता में बदसूरती, रोग बसै भोग मैं= भोगों में रोग बसते हैं, संजोग मैं वियोग बसै= संयोग में वियोग बसता है, गुनमैं गरब बसै= गुणों में घमंड बसता है, सेवा-माँहि हीनता= सेवा में तुच्छता, और जग-रीति जेती= और भी जगत् की जितनी भी रीति है, गर्भित असाता तैसी= उनमें सर्वत्र ही असाता छिपी रहती है, साता की सहेली है अकेली उदासीनता= साता की सहेली तो अकेली उदासीनता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पुण्य-पाप के फलानुसार होनेवाली जगत् की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए साम्यभाव को ही आकुलता या दुःखसे बचने का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ-कारण सिद्ध किया है।

अज्ञानी-जीव की प्रतिक्षण यही चाह रहती है कि धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा सब कुछ उत्तरोत्तर-वृद्धि को प्राप्त हो, जबकि ज्ञानी-जीव एक क्षण के लिए भी इस सांसारिक-वैभव की चाह नहीं करते। आखिर ऐसा क्यों? इस धारणा का सटीक-समाधान करते हुए कविवर कहते हैं कि तुम जिन हास्य के प्रसंगों में हर्षित होते हो, उनमें भी कहीं न कहीं झगड़ा/तकरार छिपी रहती है, जो दुःख का कारण है। विचार करो, अब हर्ष कहाँ रहा? विद्या में विवाद छिपा रहता है; क्योंकि जो जितना विद्यार्जन करता है, वह उतना ही वाद-विवाद, बहस में उलझा रहता है। जिस विद्या को पाने में वह अपनी खुशी मान रहा था, अब वही विद्या उसके लिये कलह या फिर मानकषाय का कारण बन जाती है, सुकून तो दोनों ही स्थिति में नहीं रहा। काया में मरण बसा है अर्थात् जन्म के समय मिलनेवाली काया जिसको पाकर तू हर्षित होता है, समय पाकर एक दिन उसका मरण होना निश्चित है। बड़प्पन में हीनता अर्थात् थोड़ा-सा मान-सम्मान मिलने पर अज्ञानी-जीव अपने को बहुत बड़ा मानता है, लेकिन पाप का उदय आने पर जिस दिन मान-सम्मान फीका पड़ता है, उस दिन केवल हीनता का अनुभव होता है।

शुचिता में ग्लानि का वास रहता है, अर्थात् जो वस्तु ऊपर से पवित्र दिख रही है, जरूरी नहीं कि वह अंदर से भी उतनी ही पवित्र हो। जैसे देह ऊपर से चिकनी, साफ-सुथरी, और अंदर से मल-मूत्र आदि का घड़ा। अज्ञानी-जीव व्यापारादि में नफा या लाभ होने पर हर्ष मानता है, लेकिन उसमें भी नुकसान छिपा रहता है; क्योंकि समय कभी एक-सा नहीं रहता है। आज पुण्य का उदय है, तो लाभ है; कल पाप का उदय होगा, तो हानि भी होगी। इसीप्रकार जीत में हर्ष मानता है, लेकिन उसमें भी हार छिपी रहती है; क्योंकि यदि आज मेरी जीत है, तो सामनेवाले की हार है; कल सामनेवाले की जीत होगी, तो मेरी हार निश्चित है। अज्ञानी-जीव सुंदरता में हर्ष मानता है, तो वह भी हमेशा नहीं रहती, एक न एक दिन अवश्य क्षीण होती है, देह की सुन्दरता को ही देख लो, समय के साथ-साथ हम प्रत्यक्ष क्षीण होते हुये देखते हैं।

जिन पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में हम सुख मानते हैं, रात-दिन उनके संग्रह और भोगने में व्यस्त रहते हैं। कभी विचार भी नहीं करते कि ये भोग ही तो रोगों को जन्म देते हैं। हमारे मुनिराज का जीवन देखो। प्रतिदिन पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों से दूर रहते हैं, इसीलिए रोगों से बचे रहते हैं। और वहीं अज्ञानी-जीव प्रतिसमय भोगों में मगन रहता है, इसीलिये रोगों से भी घिरा रहता है। जिन संयोगों के जुड़ने पर अज्ञानी-जीव फूला नहीं समाता, उनके बिछुड़ने पर उतना ही दुःखी होता है; वह यह भूल ही जाता है कि संयोगों का वियोग तो सुनिश्चित है, —यही प्रकृति का नियम है। गुणों में गर्व/घमंड बसा है, अर्थात् यह जीव अपने आत्मिक-गुणों को तो पहचानता नहीं है, और दैहिक-गुणों पर खुश होकर इतराता है। वह यह भूल ही जाता है कि ये दैहिक-गुण तो इन्द्रियों की पूर्णता पर निर्भर करते हैं, इन्द्रियों के क्षीण होते ही विलय को प्राप्त होते हैं, अर्थात् परायी-संपत्ति पर कैसा गर्व? सेवा में हीनता अर्थात् जिस नौकरी के मिलने पर तुम हर्षित होते हो, अपने को सुखी मानते हो, क्या वह मालिक की गुलामी नहीं है? और गुलामी या बंधन में रहकर कोई भी जीव कभी सुखी नहीं रह सकता।

अधिक क्या कहें और भी जगत् की जितनी रीतियाँ अर्थात् जो भी व्यवहार या व्यवस्था है, उन सभी में कहीं न कहीं असाता ही छिपी रहती है। किसी भी अनुकूल संयोग या वस्तु को प्राप्त करने में जीव को जो आकुलता या दुःख होता है, उसे तो यह दुःख या परेशानी मानता ही नहीं; बल्कि उस दुःख में तो इसे आनंद आता है, यही तो अज्ञानता की पराकाष्ठा है। इसीलिए ज्ञानी-जीव इन सभी आकुलताजन्य-परिस्थितियों से सदैव उदासीन अर्थात् विरक्त रहते हैं; न हर्ष न विषाद, न सुख न दुःख; इसीलिए प्रतिसमय साता का अनुभव करते हैं; क्योंकि उदासीनता अर्थात् हर परिस्थिति में समता का भाव ही एकमात्र सुख का कारण है।

(दोहा)

जिहि उतंग चढ़ि फिर पतन, नहिं उतंग वह कूप।

जिहि सुख-अंतर भय बसै, सो सुख है दुःखरूप॥ 12॥

जो विलसै सुख-संपदा, गये तहाँ दुःख होइ।

जो धरती बहु-तृनवती, जरै अगनिसौं सोइ॥ 13॥

शब्दार्थ :— जिहि उतंग चढ़ि फिर पतन= जिस ऊँचाई पर चढ़कर फिर गिरते हैं, नहिं उतंग वह कूप= वह ऊँचाई/उन्नति नहीं गहरा कुँआ है, जिहि सुख-अंतर भय बसै= जिस सुख के अंदर डर बसता है, सो सुख है दुःखरूप= वह सुख नहीं साक्षात् दुःख है॥ 12॥

जो विलसै सुख-संपदा= जो जीव जड़-संपत्ति को भोगकर सुख मानते हैं, गये तहाँ दुःख होइ= वे संपदा के नष्ट होने पर दुःखी होते हैं, जो धरती बहु-तृनवती= जो जमीन अधिक-तृण (सूखी-घास) वाली होती है, जरै अगनिसौं सोइ= वही अग्नि से जलती है॥ 13॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने लौकिक-सुख का स्वरूप वर्णित करते हुए सच्चे-सुख को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

अज्ञानी-जीव हमेशा धन-दौलत, पंचेन्द्रिय के विषय-भोग, मान-सम्मान इत्यादि सांसारिक-अनुकूलताओं में ही अपने को सुखी मानता है; इसीलिये उनकी उत्तरोत्तर-वृद्धि के लिये पुरुषार्थ करता है। लेकिन सच्चाई यह है कि जो जीव जितनी ऊँचाई पर है अर्थात् जितना वैभवशाली है, वह उतना ही धर्म से दूर और विषय भोगों में रमा हुआ है। और इस आसक्ति के परिणामस्वरूप वह उतना ही नीचे गिरता है,

अर्थात् नरक-निगोद का पात्र बनता है।

ऐसे जीवों को संबोधित करते हुए कविवर कहते हैं कि जिस ऊँचाई पर चढ़कर अर्थात् अत्यधिक-वैभव प्राप्त करने के बाद फिर नीचे गिरना पड़े, तो वह वास्तव में ऊँचाई अर्थात् उन्नति नहीं अवनति है; नरक-निगोदरूपी गहरा-कुँआ है। जिसप्रकार कुयें से बाहर निकलना अत्यधिक-मुश्किल है; उसीप्रकार नरक-निगोद से निकलना भी अत्यन्त-कठिन है।

इसीलिए कविवर अज्ञानी-जीव को आगाह करते हुए कहते हैं कि जिस सुख के अंतर में भय बसता है अर्थात् जिस क्षणिक सांसारिक-सुख को प्राप्त करने के बाद उसके नष्ट होने का भय हो, अथवा जिस सुख को प्राप्त करने में भी और भोगने में भी निरन्तर दुःख का ही वेदन हो; हे आत्मन्! वह सुख नहीं, दुःख का ही प्रतिरूप है। तभी तो ज्ञानी-जीव कहते हैं— "वह सुख सदा ही त्याज्य रे! पश्चात् जिसके दुःख भरा।"

अपने इस कथन को एक सटीक-उदाहरण के माध्यम से सिद्ध करते हुए कविवर कहते हैं कि जिसप्रकार जिस भूमि पर सूखी तृणवाली-घास जितनी अधिक होती है, वह अग्नि का संयोग पाकर उतनी ही शीघ्रता से जल जाती है। ठीक उसीप्रकार जिस जीव की संपदा अर्थात् भोग-सामग्री में जितनी अधिक आसक्ति होती है, वह जीव उस संपदा के नष्ट होने पर उतना ही अधिक दुःखी होता है, और अंततोगत्वा-कुण्ठित को प्राप्त होता है। कहने का अभिप्राय यही है कि बाह्य-वैभव, भोग-सामग्री आदि जितनी सीमित होगी और उसमें आसक्ति जितनी अल्प होगी, उतना ही जीव वर्तमान में भी आकुलित कम से कम होगा, और भविष्य में कषाय की मंदता होने से मोक्षमार्ग भी प्रशस्त होगा।

(दोहा)

सबद-माँहि सतगुरु कहै, प्रगटरूप निज-धर्म।

सुनत विचच्छन सद्दहै, मूढ़ न जानै मर्म॥ 14॥

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू नगर के वासी द्वै-पुरुष भूले, तामैं एक नर सुष्ट एक दुष्ट-उरकौ।

दोउ फिरैं पुर के समीप परे ऊटवमैं, काहू और पथिकसौं पूछैं पंथ पुरकौ॥

सो तौ कहै "तुमारौ नगर है तुमारे ढिंग", मारग दिखावै समुझावै खोज पुरकौ।

एते पर सुष्ट पहचानै पै न मानै दुष्ट, हिरदै-प्रवांन तैसे उपदेस गुरुकौ॥ 15॥

शब्दार्थ :— सबद-माँहि सतगुरु कहै= शब्दों के माध्यम से सतगुरु कहते हैं, प्रगटरूप निज-धर्म= आत्मधर्म का प्रकररूप, सुनत विचच्छन सद्दहै= उसे सुनकर बुद्धिमान् जीव श्रद्धान् करते हैं, मूढ़ न जानै मर्म= किन्तु मूढ़जन उसका मर्म नहीं जान पाते हैं॥ 14॥

जैसैं काहू नगर के वासी द्वै पुरुष भूले= जैसे किसी नगर में रहनेवाले दो पुरुष (रास्ता) भूल गये हैं, तामैं एक नर सुष्ट= उसमें से एक मनुष्य समझदार, एक दुष्ट उरकौ= एक दुष्ट-हृदय है, दोउ फिरैं पुर के समीप परे ऊटव मैं= दोनों नगर के आसपास घूम रहे हैं, परन्तु उल्टे रास्ते पर है, काहू और पथिकसौं पूछैं पंथ पुरकौ= किसी और राहगीर से अपने नगर का रास्ता पूछ रहे हैं, सो तौ कहै तुमारौ नगर है तुमारे ढिंग= वह (राहगीर) कहता है, "तुम्हारा नगर तुम्हारे पास ही है", मारग दिखावै समुझावै खोज पुरकौ= मार्ग दिखाता है, लक्षण बताकर नगर का पता समझाता है, एते पर सुष्ट पहचानै= इतने पर समझदार तो पहचान लेता है, पै न मानै दुष्ट= परन्तु दुष्ट (उसकी बात) नहीं मानता है, हिरदै प्रवांन तैसे उपदेस गुरुकौ= ऐसे ही गुरु का उपदेश हृदय की दशा से प्रमाणित/सार्थक होता है॥ 15॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त-छंदों में कवि ने सुगुरु का उपदेश सुनकर समझदार-व्यक्ति और मूर्ख-व्यक्ति की क्या प्रतिक्रियायें होती हैं?— इस तथ्य का उदाहरण के माध्यम से सटीक-वर्णन किया है।

जैसे एक नगर के दो-पुरुष अपने ही नगर का रास्ता भूल गये, जिसमें एक समझदार या बुद्धिमान है, और दूसरा मूर्ख या दुर्बुद्धि है। दोनों ही पुरुष अपने ही नगर के समीप रास्ता भूल जाने के कारण भटक रहे हैं। फिर एक अन्य राहगीर से अपने नगर का पता पूछते हैं। तब वह राहगीर उन्हें उनके नगर का सही रास्ता दिखाता है, लक्षण बताकर खोजना सिखाता है, तब उन दोनों में से समझदार-पुरुष तो अपने नगर को पहचान लेता है, लेकिन मूर्ख-पुरुष लाख समझाने पर भी नहीं पहचानता।

ठीक उसीप्रकार अनादिकाल से हम अज्ञानी-जीव अपने चैतन्य-नगर का रास्ता भूले हुये हैं, और मिथ्यात्व के वश विपरीत-मार्ग पर भटक रहे हैं। कदाचित् अतितीव्र-पुण्य का उदय आता है, और सदगुरु/आचार्यों से भेंट होती है, और हम अपने भूले हुये नगर का पता उनसे पूछते हैं। तब सहज, सरल, शांत-स्वभावी हमारे आचार्य भगवन् हमें हमारे चैतन्य-नगर को ढूँढने के लिए उपदेश देते हैं, निज-चैतन्य-स्वरूप की महिमा को प्रत्यक्ष दिखाते हैं; हमें हमारे अनंत-गुणों से परिचय कराते हैं। लेकिन हममें से जो बुद्धिमान्-पुरुष हैं, वे तो उस उपदेश को सुनकर तत्काल अनुभव से प्रमाणित करते हैं अर्थात् अपने चैतन्य-नगर को पहचानकर आत्मानुभूति से प्रमाणित करते हैं। और दुष्ट-बुद्धि अज्ञानी-जीव मोहवश उस उपदेश को सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं, उसका मर्म भी नहीं समझते हैं, और कुतर्कों के जाल में फँसकर अपने चैतन्य-नगर से हमेशा अनजान बने रहते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जैसे काहू जंगलमें पावसकौ समै पाइ, अपने सुभाव महामेघ बरसतु है।

आमल, कषाय, कटु, तीखन, मधुर, खार, तैसौ रस बाढ़ै जहाँ जैसौ दरखतु है॥

तैंसैं ग्यानवंत-नर ग्यानकौ बखान करै, रसकौ उमाहू है न काहू परखतु है।

वहै धुनि सुनि कोऊ गहै, कोऊ रहै सोइ, काहूकौ विखाद होइ, कोऊ हरखतु है॥ 16॥

शब्दार्थ :- जैसे काहू जंगलमें पावसकौ समै पाइ= जैसे किसी जंगल में वर्षा-ऋतु का समय पाकर, अपने सुभाव महामेघ बरसतु है= स्वाभाविकरूप से बादलों से जल की वर्षा होती है, आमल-कषाय-कटु-तीखन-मधुर-खार= खट्टा, ऐंठायदा/कसैला, कड़वा, तीखा/चरपरा, मीठा, खारा, तैसौ रस बाढ़ै जहाँ जैसौ दरखतु है= जहाँ जैसा वृक्ष होता है, वहाँ वैसा ही रस बनता है, तैंसैं ग्यानवंत नर ग्यानकौ बखान करै= उसीप्रकार ज्ञानी-जीव ज्ञान का वर्णन करते हैं, रसकौ उमाहू है न काहू परखतु है= आत्मरस में उत्साहित होकर, बिना किसी की परीक्षा किये वहै धुनि सुनि कोऊ गहै, कोऊ रहै सोइ= वह ध्वनि/उपदेश सुनकर, कोई ग्रहण करता है, कोई सोता रहता है, काहूकौ विखाद होइ, कोऊ हरखतु है= किसी को विषाद/रंज/दुःख होता है, कोई हर्षित होता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने पुनः एकबार गुरु के उपदेश को सुनकर जीवों के द्वारा होनेवाली प्रतिक्रिया को एक सटीक-उदाहरण के माध्यम से सिद्ध किया है।

जैसे जंगल में अनेकप्रकार के फल-फूल आदि के वृक्ष लगे होते हैं। वर्षा-ऋतु के समय सहज ही बादलों से पानी बरसता है। यद्यपि पानी स्वतंत्ररूप से और सभी वृक्षों पर समानरूप से गिरता है; लेकिन फिर भी जहाँ जैसा वृक्ष होता है, पानी उसी वृक्ष के रसरूप परिणमित हो जाता है। जैसे नीबू, कैरी के वृक्ष

पर पड़ने से खट्टा; आंवले, कैथ के वृक्ष पर पड़ने से ऐंठायदा/कसैला; नीम, करेला के वृक्ष पर पड़ने से कड़वा, मिर्ची के वृक्ष पर पड़ने से तीखा; गन्ने के वृक्ष पर पड़ने से मीठा; समुद्री-जल में मिलने पर खारा हो जाता है।

ठीक उसीप्रकार ज्ञानी-जीव अपने आत्मिक-रस में सराबोर होकर, अपने अनुभव को, आत्मज्ञान को बिना किसी स्वार्थ या अपेक्षा के सहज-उपदेशरूप में वर्णित करते हैं। उपदेश देते समय ज्ञानी-जीव पात्र-अपात्र की परीक्षा भी नहीं करते; बल्कि सहज साम्यभाव से निज-स्वरूप का कथन करते हैं। लेकिन वहाँ बैठे श्रोताओं में से कुछ जीव तो उस उपदेश को सुनकर तुरंत आत्मसात् कर अनुभूति से प्रमाणित भी करते हैं। कुछ आनंदित होते हैं कि आज बहुत अच्छा या मार्मिक-प्रवचन सुना, कुछ उपदेश रुचिकर न लगने से सो जाते हैं। कुछ को उपदेश सुनकर खेद वर्तता है कि इससे तो अच्छा होता है कि मैं व्यापार आदि में समय बिताता, जिससे कुछ लाभ तो होता। कुछ तर्क-कुतर्क कर बहस करते हैं। कुछ संसार से भयभीत होकर पाप-प्रवर्तन छोड़कर पुण्य-भावों में आसक्त होते हैं। कुछ अगले-भव को सुधारने के लिये 'नियम' 'संयम' प्रतिज्ञा लेकर संकल्पित होते हैं। कुछ निंदा-स्तुति में रत होते हैं कि "अमुक-विद्वान् का प्रवचन बहुत अच्छा था, अमुक विद्वान् के प्रवचन में मजा नहीं आया।" और कुछ इस इंतजार में रहते हैं कि "कब उपदेश पूरा हो और मैं यहाँ से जाऊँ।"

कहने का तात्पर्य यही है कि गुरु का उपदेश सभी के लिये समानरूप से वर्णित होने पर भी वहाँ जो जीव जिस विचारधारा का होता है, गुरु का उपदेश भी उस जीव के लिये उसीरूप परिणामित होता है। अथवा जिस जीव की जैसी होनहार होती है, उपदेश सुनकर उस जीव की परिणति भी उसीरूप परिणामित होती है।

(दोहा)

गुरु-उपदेस कहा करै, दुराराध्य-संसार।

बसैं सदा जाकै उदर, जीव पंच-परकार ॥ 17 ॥

डूँघा प्रभु, चूँघा चतुर, सूँघा रुंचक-सुद्ध।

ऊँघा दुरबुद्धि-विकल, घूँघा घोर-अबुद्ध ॥ 18 ॥

शब्दार्थ :- गुरु-उपदेस कहा करै= गुरु का उपदेश क्या कर सकता है, दुराराध्य-संसार= जब संसार से पार पाना कठिन है, बसैं सदा जाकै उदर= जिस संसार के उदर में सदैव रहते हैं, जीव पंच-परकार= पाँच प्रकार के जीव ॥ 17 ॥

डूँघा प्रभु= डूँघा-जीव प्रभु, चूँघा चतुर= चूँघा-जीव चतुर, सूँघा रुंचक सुद्ध= सूँघा-जीव शुद्ध रुचिवान्, ऊँघा दुरबुद्धि-विकल= ऊँघा-जीव दुर्बुद्धि और दुःखी, घूँघा घोर-अबुद्ध= घूँघा-जीव नितान्त-अज्ञानी ॥ 18 ॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने संसार में रहनेवाले जीवों को उनकी योग्यता और प्रवृत्ति के आधार पर वर्गीकृत किया है। पिछले-छंद में कवि ने स्पष्ट किया था कि गुरु के वचन एकसमान उपदेशित होने पर भी हर जीव अपनी-अपनी योग्यता से ग्रहण करता है। ऐसा क्यों? इसके समाधान-स्वरूप कविवर कहते हैं कि इसमें गुरु का उपदेश क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता क्योंकि संसार का स्वरूप ही ऐसा विचित्र है।

संसार के उदर में अर्थात् संसार में पाँच प्रकार के जीव पाये जाते हैं। जो इसप्रकार हैं—

1. डूँघा-जीव— परमात्मा, 2. चूँघा-जीव— चतुर, 3. सूँघा-जीव— शुद्ध रुचिवान्, 4. ऊँघा-जीव— दुर्बुद्धि और दुःखी, 5. घूँघा-जीव— महा-अज्ञानी

(दोहा)

जाकी परम-दसा-विषै, करम-कलंक न होइ।

डूँघा अगम-अगाधपद, वचन-अगोचर सोइ॥ 19॥

शब्दार्थ :- जाकी परम-दसा विषै= जिसकी सर्वश्रेष्ठ-स्थिति में, करम-कलंक न होइ= किसी भी कर्म का कोई कलंक शेष नहीं बचता है, डूँघा अगम अगाधपद= डूँघा जीव (सिद्ध जीव) अगम्य और अगाध-पदों/ज्ञान के धारी/ज्ञाता होते हैं, वचन-अगोचर सोइ= जिनका वर्णन वचनों से संभव नहीं है।

विशेषार्थ :- जो जीव 'परमपद' को प्राप्त कर चुके हैं, जो कर्मों की कालिमा से रहित है, जो 'अगम्य' अर्थात् जिनके अनंत-गुणों का कोई अनुमान/माप नहीं है, और 'अगाध' अर्थात् जिनके गुणों की गंभीरता/गहराई का अनुमान लगाना संभव नहीं है, जिनकी महिमा का वर्णन इन जड़-शब्दों से करना संभव ही नहीं है; -ऐसे अनंत-सुख का प्रतिक्षण वेदन करनेवाले 'सिद्ध-भगवान्' 'डूँघा-जीव' हैं।

(दोहा)

जो उदास ह्वै जगतसौं, गहै परम-रस-प्रेम।

सो चूँघा गुरु के वचन, चूँघै बालक जेम॥ 20॥

शब्दार्थ :- जो उदास ह्वै जगतसौं= जो सदा ही जगत् से उदास रहते हैं, गहै परम-रस प्रेम= जो परमरस / आत्मरस का प्रेम/भक्ति/समर्पण को ग्रहण/आत्मसात् करते हैं, सो चूँघा= वह चूँघा-जीव है, गुरु के वचन चूँघै बालक जेम= जो गुरु के वचनों को बालक के समान माँ के दुग्धवत् चूसते हैं।

विशेषार्थ :- जो जीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त रहते हैं, आत्मरस को प्रीतिपूर्वक-ग्रहण करते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप की चर्चा/चिंतन-मनन में जिन्हें आनंद और उत्साह वर्तता है। जैसे बालक माँ के दूध की एक-एक बूँद को भी चूस लेने में मग्न रहता है; ठीक उसीप्रकार जो जीव समय बर्बाद किये बिना गुरु के एक-एक उपदेश का रसास्वादन निरन्तर लेते हैं अर्थात् आत्मसात् कर लेते हैं, ऐसे मोक्षगामी-जीव 'चूँघा-जीव' हैं।

(दोहा)

जो सुवचन रुचिसौं सुनै, हिये दुष्टता नांहि।

परमार्थ समुझै नहीं, सो सूँघा जगमाँहि॥ 21॥

शब्दार्थ :- जो सुवचन रुचिसौं सुनै= जो आत्महितकारी-वचनों को रुचि से सुनते हैं, हिये दुष्टता नांहि= हृदय में दुष्टता नहीं रखते, परमार्थ समुझै नहीं= फिर भी परमार्थ/आत्मस्वरूप को नहीं समझते, सो सूँघा जगमाँहि= वे संसार में रहनेवाले 'सूँघा-जीव' हैं।

विशेषार्थ :- जो जीव 'सुवचन' अर्थात् आत्मा और परमात्मा की चर्चा को बहुत-रुचिपूर्वक सुनते हैं, या कहें जिन जीवों को जिनवाणी श्रवण करते समय अच्छा लगता है कि "ये मेरी ही चर्चा है, इसमें मेरा ही हित है।" जिनके हृदय में दुष्टता या विचारों में कटुता, मलिनता नहीं है; लेकिन ऐसे जीव परमार्थ अर्थात् आत्महित को नहीं जानते दूसरे शब्दों में कहें, तो जिन्हें आत्मानुभूति से कोई वास्ता नहीं है; परन्तु कषाय में मंदता है, जगत् के ऐसे जीवों को 'सूँघा-जीव' कहते हैं।

(दोहा)

जाकौ विकथा हित लगै, आगम-अंग अनिष्ट।

सो ऊंघा विषयी-विकल, दुष्ट-रुष्ट-पापिष्ट॥ 22॥

शब्दार्थ :- जाकौ विकथा हित लगै= जिसको विकथा हितकारी लगती है, आगम-अंग अनिष्ट= द्वादशांग के वचन अहितकारी/अप्रिय लगते हैं, सो ऊंघा विषयी-विकल= वह ऊंघा-जीव विषयों का अभिलाषी, दुःखी, दुष्ट-रुष्ट-पापिष्ट= दुष्ट, क्रोधी, पापों में रत है।

विशेषार्थ :- जिन जीवों को विकथा अर्थात् भोजन-कथा, राष्ट्र-कथा, चोर-कथा, स्त्री-कथा जैसी विकथायें तो अतिप्रिय लगती है, यहाँ तक कि उन्हीं में अपना हित भी भासित होता है; परन्तु आगम-अंग अर्थात् द्वादशांग जिनवाणी, जो वास्तव में हितकारी है, वह अहितकारी, अप्रिय लगती है। जिनवचनों को सुनते ही ऊँघने लगते हैं अर्थात् नींद/प्रमाद आता है। जो निरन्तर पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के अभिलाषी हैं, दुःखी हैं, दुष्ट हैं, क्रोधी हैं अर्थात् जो क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायों में तल्लीन हैं, जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाँच-पापों में रत हैं; वे दुर्बुद्धि जीव 'ऊंघा-जीव' हैं।

(दोहा)

जाकै वचन-श्रवन नहीं, नहिं मन सुरति-विराम।

जड़तासौं जड़वत भयौ, घूँघा ताकौ नाम॥ 23॥

शब्दार्थ :- जाकै वचन-श्रवन नहीं= जिसके पास वचन सुनने की शक्ति ही नहीं है, नहिं मन सुरति-विराम= न ही मन और विचार करने की सामर्थ्य है, जड़तासौं जड़वत भयौ= जड़ता/अज्ञानता या मिथ्यात्व के प्रभाव से जड़वत् हो गया है, घूँघा ताकौ नाम= उसका नाम 'घूँघा' है।

विशेषार्थ :- इस वर्ग में वे जीव आते हैं, जिनके पास वचनों को सुनने की सामर्थ्य ही नहीं है अर्थात् वे जीव जो कर्ण इन्द्रिय से ही रहित हैं। चार इन्द्रिय तक से समस्त जीव, इसके अलावा वे सभी जीव जिनके पास कर्ण इन्द्रिय तो है परन्तु चिन्तन-मनन-विचार और निर्णय करने के लिए ना तो मन है और न ही विशेष-क्षयोपशम ज्ञान। इसके अलावा वे जीव, जो संज्ञी-पंचेन्द्रिय होकर भी विषय-भोगों में ही आसक्त हैं, जो कभी जिनवचनों को सुनना ही नहीं चाहते, व्रत-नियम-संयम आदि शुभ-कार्यों से पूर्णतः विरक्त हैं, स्वप्न में भी जिनका चित्त धर्म-कार्यों के प्रति अनुरक्त नहीं होता, जो ज्ञानावरणी-कर्म के अतितीव्र उदय से जड़-पदार्थों में अति-आसक्त होकर जड़वत् ही परिणामन कर रहे हैं, मोह में गाफिल बेचेत पड़े हैं, जिन्हें न अपनी सुध है और न पर की- ऐसे महा-अज्ञानी-जीव 'घूँघा-जीव' कहलाते हैं।

(चौपाई)

डूँघा-सिद्ध कहै सब कोऊ, सूँघा, ऊँघा मूरख दोऊ।

घूँघा घोर-विकल संसारी, चूँघा-जीव मोख-अधिकारी॥ 24॥

शब्दार्थ :- डूँघा सिद्ध कहै सब कोऊ= डूँघा-जीवों को सभी 'सिद्ध' कहते हैं, सूँघा ऊँघा मूरख दोऊ= सूँघा ऊँघा दोनों जीव मूर्ख हैं, घूँघा घोर-विकल-संसारी= घूँघा-जीव घोर-दुःखी संसारी है, चूँघा-जीव मोख-अधिकारी= चूँघा-जीव मोक्ष का पात्र है।

विशेषार्थ :- पिछले-छंदों में संसार में पाये जानेवाले पाँच-प्रकार के जीवों का सामान्य-वर्णन किया, अब यहाँ उन जीवों का विशेष-वर्णन करते हैं।

कविवर कहते हैं कि सिद्ध-भगवान् डूँघा-जीव हैं— ये तो सर्वविदित है। लेकिन सूँघा और ऊँघा — दोनों ही मूर्ख हैं। कवि ने ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि सूँघा-जीव तो वे जीव हैं, जो आत्मा की चर्चा रुचिपूर्वक सुनकर भी आत्मानुभूति का पुरुषार्थ नहीं करते; बल्कि बाह्य-क्रियाकांड, और कषायों की मंदता को ही धर्म मानकर उन्हीं में निरत रहते हैं।

इसीप्रकार ऊँघा-जीव की तो बात ही अलग है। वे ऐसे जीव हैं, जिन्हें दुर्लभ मनुष्य-पर्याय, देव-गुरु-धर्म का समागम मिलने पर भी जो उनकी कीमत नहीं समझते, और पापाचार में ही जीवन पूरा करते हैं। आचार्य-भगवन् कहते हैं "उन जीवों के अभाग्य की महिमा कहने में हम असमर्थ हैं।"

घूँघा-जीव तो दया के पात्र हैं, क्योंकि उन जीवों को तो ऐसी सामर्थ्य ही नहीं मिली कि वे अपनी महिमा को समझ सकें; इसलिए उन जीवों का दुःखी और व्याकुल होना तो स्वाभाविक है। एकमात्र चूँघा-जीव ही मोक्ष का अधिकारी है।

(दोहा)

चूँघा साधक-मोखकौ, करै दोष-दुख नास।
लहै मोख संतोषसौ, वरनौ लच्छन तास॥ 25॥
कृपा-प्रसम-संवेग-दम, अस्तिभाव-वैराग्य।
ये लच्छन जाकै हियै, सप्त-व्यसनकौ त्याग॥ 26॥

शब्दार्थ :— चूँघा साधक-मोखकौ= चूँघा-जीव मोक्ष का साधक है, करै दोष दुख नास= दोष और दुःखों का नाशक है, लहै मोख संतोषसौ= संतोषी-वृत्ति से मोक्ष प्राप्त करता है, वरनौ लच्छन तास= उसके लक्षण वर्णित करता हूँ ॥ 25 ॥

कृपा-प्रसम-संवेग-दम= जीव-दया, प्रशम (कषायों की मंदता), संवेग (संसार से भयभीत), इन्द्रियों का दमन, अस्तिभाव-वैराग्य= आस्तिक्यभाव, वैराग्य, ये लच्छन जाकै हियै सप्त-व्यसनकौ त्याग= और सप्त-व्यसन का त्याग ये लक्षण/गुण जिसके हृदय में हैं (वह चूँघा अर्थात् साधक-जीव है) ॥ 26 ॥

विशेषार्थ :— चूँघा-जीव ही एकमात्र मोक्ष का साधक है; क्योंकि वह जीव समस्त-दोषों और दुःखों को नष्ट करने के लिये पुरुषार्थरत है। प्राप्त-सुअवसर को, देव-गुरु-धर्म के समागम की कीमत को पहचानकर आत्मानुभूति के मार्ग पर अग्रसर है। ऐसे जीवों के कुछ विशेष-लक्षण इसप्रकार हैं—

'कृपा' अर्थात् जीवमात्र (निगोदिया जीव से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी) के प्रति करुणा का भाव होना; 'प्रशम' अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायों में मंदता होना, 'संवेग' अर्थात् संसार से भयभीत होना, 'आस्तिक्यभाव' अर्थात् जिन-वचनों पर अटल श्रद्धान होना; किसी भी परिस्थिति में डगमगाना नहीं; 'वैराग्य' अर्थात् संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति का भाव होना; और जुआ आदि सप्तव्यसन का त्यागी होना— ये सभी लक्षण जिसके हृदय में हैं, वे सभी मोक्षमार्ग के पथिक 'चूँघा-जीव' हैं।

(चौपाई)

जूवा-आमिष-मदिरा-दारी, आखेटक-चोरी-परनारी।
एई सात-विसन दुखदाई, दुरित-मूल दुरगति के भाई॥ 27॥

(दोहा)

दरवित ये सातौं-विसन, दुराचार-दुःखधाम।
भावित अंतर-कल्पना, मृषा-मोह परिनाम॥ 28॥

शब्दार्थ :— दरवित ये सातों-विसन= शरीर से सेवनरूप ये सातों व्यसन 'द्रव्य-व्यसन' हैं, दुराचार दुःखधाम= दुराचरणरूप और दुःख के घर हैं, भावित-अंतर-कल्पना= अंतरंग भावों में इनकी कल्पना करना 'भाव-व्यसन' है, मृषा-मोह परिणाम= मिथ्यारूप मोह के परिणाम हैं॥ 27॥

जूवा= जुआ खेलना, आमिष= मांस-भक्षण करना, मदिरा= शराब पीना, दारी= वेश्या-सेवन, आखेटक= शिकार खेलना, चोरी= चोरी करना, परनारी= पर-स्त्री सेवन, एई सात-विसन दुखदाई= ये सातों व्यसन दुःख देनेवाले हैं, दुरित मूल= पाप की जड़ हैं, दुरगतिके भाई= दुर्गति में ले जानेवाले हैं॥ 28॥

विशेषार्थ :—इन दोनों छंदों में कवि ने सप्तव्यसनों का नामोल्लेख करते हुये द्रव्यव्यसन और भावव्यसन का वर्णन किया है।

जुआ खेलना, माँस भक्षण करना, मदिरा पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना ये सातों ही व्यसन-घोर दुःख को देने वाले हैं। पाप की जड़ है अर्थात् इनके ऊपर सिर्फ पाप का वृक्ष ही पल्लवित होता है। दुर्गति अर्थात् नरक निगोद-तिर्यचादि -दुर्गति में ले जाने वाले हैं। देह से इन सातों व्यसनों का भोग करना-द्रव्यव्यसन है और अन्तरंग भावों से इनकी कल्पना करना, इनको भोगने संबंधी परिणाम करना भावव्यसन है। जिसकी जड़ अन्तरंग में मौजूद-मिथ्यात्व और मोहरंजित परिणाम है। द्रव्यव्यसन को तो लोक में भी प्रत्यक्ष-दुराचरण-दुःख रूप माना गया है। इनका विशेष वर्णन कविवर अगले छंद में करेंगे।

(सवैया इकतीसा)

अशुभमैं हारि शुभमैं जीति यहै दूत-कर्म, देह की मगनताई यहै मांस-भखिबौ।

मोह की गहलसौं अजान यहै सुरापान, कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिबौ॥

निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार, परनारी-संग परबुद्धिकौ परखिबौ।

प्यारसौं पराई-सौंज गहिवे की चाह चोरी, एई सातों-विसन विडारैं ब्रह्म लखिबौ॥ 29॥

शब्दार्थ :— अशुभमैं हारि शुभमैं जीति यहै दूत कर्म= अशुभ में हार, शुभ में जीत यह 'दूतकर्म/जुआ खेलना' है, देह की मगनताई यहै मांस भखिबौ= शरीर में मगन रहना यह 'मांस-भक्षण' है, मोह की गहलसौं अजान यहै सुरापान= मोह की मूर्छा के कारण अपने से अनजान रहना यह मदिरापान है, कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिबौ= कुबुद्धि के मार्ग पर चलना ये वेश्या का रस चखना अर्थात् वेश्या-सेवन है, निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार= निर्दयी होकर प्राणों का घात करना यह शिकार खेलना है, परनारी-संग परबुद्धिकौ परखिबौ= दूसरों की बुद्धि को परखने का भाव होना परस्त्री-संग है, प्यारसौं पराई सौंज गहिवे की चाह चोरी= प्यार से पराई-वस्तु के संसर्ग की चाह को ग्रहण करने की इच्छा रखना चोरी है, एई सातों विसन विडारैं ब्रह्म लखिबौ= ये सातों व्यसन छोड़ने पर ही आत्मा देख सकते हैं, अर्थात् आत्मानुभूति हो सकती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'सप्तव्यसन' का द्रव्यपक्ष एवं भावपक्ष— दोनों ही दृष्टियों से बहुत ही सुंदर, सटीक अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलनेवाला विवेचन प्रस्तुत किया है।

'व्यसन' शब्द का शाब्दिक-अर्थ होता है 'बुरी-आदत'। सामान्यरूप से हम कह सकते हैं कि कषाय की तीव्रता में होनेवाला वह पापरूप-परिणाम, जो धर्म और लोक दोनों ही दृष्टियों से निंदनीय हो, जिसके कारण अनंत-जीवों का घात हो, वेदना हो, संक्लेश परिणाम हों, नरकादि-कुगतियों का बंध हो, वे सभी परिणाम व्यसन के अंतर्गत आते हैं।

लोक में प्रचलित-व्यसनों में सात को प्रमुख माना है, जो इसप्रकार है – जुआ खेलना, मांस-भक्षण करना, मदिरा-पान करना, वेश्या-सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, और परस्त्री-सेवन करना। वैसे तो हम सभी इन व्यसनों के स्वरूप से अच्छी तरह से परिचित हैं। और एक सच्चे-जैन होने के नाते अधिकांश-जीव इन व्यसनों के त्यागी भी होते हैं। यद्यपि इनका स्थूल, आचरणपरक-वर्णन तो चरणानुयोग के ग्रंथों में मिलता है; फिर भला 'समयसार जी' जैसे द्रव्यानुयोग के महान् आध्यात्मिक-ग्रंथ में आचार्यदेव ने इनका वर्णन क्यों किया है?

यह सत्य है कि चरणानुयोग के ग्रंथों में इन व्यसनों का विस्तृत-वर्णन मिलता है, परन्तु वह स्थूल द्रव्य-व्यसनों का वर्णन है। लेकिन यहाँ इन व्यसनों की भावात्मक-दृष्टि से उस रूप में विवेचना की गई है, जिन रूपों को हम स्वप्न में भी व्यसन नहीं मानते हैं, अर्थात् इन व्यसनों के माध्यम से कविवर पं. बनारसीदास जी ने हमारे उन परिणामों की समीक्षा की है, जिनकी वजह से आज तक हम अपने स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं; अनन्त-सुख का निधान होते हुये भी दुःखी हैं। मोह और कषाय से मिश्रित इन परिणामों के हम इतने आदी हो चुके हैं, कि हम इन्हें व्यसनरूप में मानते ही नहीं हैं। उन परिणामों का विशद-विवेचन क्रमशः इसप्रकार हैं—

1. जुआ खेलना— सामान्यतौर पर रुपये-पैसों को दाँव पर लगाकर चौपड़, ताश-पत्ते आदि से खेले जानेवाले खेल को हम 'जुआ' कहते हैं। और जो लोग इस खेल को कभी नहीं खेलते वे ये मानते हैं कि "हमारे तो जुआ-व्यसन का त्याग है।" क्या वास्तव में जुआ नामक व्यसन का स्वरूप इतना ही है? नहीं।

जुआ-व्यसन की आध्यात्मिक-विवेचना करते हुये कविवर कहते हैं "अशुभ-कर्म/पाप के उदय में हार मानना, और शुभकर्म/पुण्य के उदय में अपनी जीत मानना, उनमें दुःखी-सुखी होना ही 'जुआ' नामक व्यसन है।" क्यों? क्योंकि मैं भगवान् आत्मा कर्म-परमाणुओं से त्रिकाल-भिन्न हूँ, यह जानकर भी अशुभ-कर्म के उदय में अपनी हार और शुभ-कर्म के उदय में अपनी जीत मानना अर्थात् जड़ में होनेवाले स्वतंत्र-परिणामन में हर्ष या विषाद करना जुआ खेलने के समान ही है, और ये परिणाम तो हम प्रतिसमय करते ही रहते हैं, क्या हमने कभी विचार किया कि ये 'जुआ' नामक व्यसन है या हम जुआ खेल रहे हैं?

हे आत्मन्! लौकिक में भी हार-जीत की भावना से खेला गया कोई भी खेल, कोई भी कार्य, जिसके फलस्वरूप आपके परिणाम संक्लेशरूप होते हों, हर्ष-विषादरूप होते हों; वे सभी खेल और कार्य 'जुआ' व्यसन के अंतर्गत ही आते हैं। उदाहरण के लिए आज का सर्वाधिक प्रचलित शेयर-मार्केट, सट्टा-बाजार, जिसमें हिस्सा लेना लोग अपनी शान समझते हैं; वास्तव में देखा जाये, तो वह भी जुआ का ही प्रतिरूप है; क्योंकि उसमें भी हार-जीत की ही भावना प्रधान रहती है। अब विचार कीजिये क्या हम इस व्यसन के त्यागी हैं?

2. मांस भक्षण— सामान्यरूप से मांसल-जीवों को मारकर उनकी मृतदेह के खाने को 'मांस-भक्षण' कहते हैं। किंतु यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें, तो इसमें घुना हुआ अनाज, अमर्यादित भोजन-सामग्री, या कहें, वह सामग्री जिसमें स्थूल-जीवराशि उत्पन्न हो चुकी हो, और हम उसका भक्षण करें, तो 'मांस-भक्षण व्यसन' का दोष लगता है। लेकिन जो वास्तव में जैन-धर्म के अनुयायी हैं, वे इस व्यसन के त्यागी होते हैं।

परन्तु पं. बनारसीदास जी तो यहाँ कुछ और ही कह रहे हैं, उनके अनुसार जो इस जड़-देह में मग्नता है, वही 'मांस-भक्षण' व्यसन है। मग्नता से तात्पर्य किसी भी वस्तु में इतने अनुरक्त हो जाना

कि कुछ और याद ही न रहे, सदाकाल उसी में आत्मबुद्धि व तन्मयता का संवेदन बना रहना ही यहाँ 'देह की मगनताई' है। अनादिकाल से चेतन-आत्मा इस जड़-देह के साथ ही रहता आया है, और इसे केवल अपनी ही नहीं, अपना स्वरूप भी मानता आया है। इतना तो फिर भी ठीक था, लेकिन आश्चर्य की बात तो ये है कि आज देह और आत्मा की भिन्नता की जानकारी होने पर, या कहें देह से भिन्नता का उपदेश देनेवाले भी इस जड़-देह की सुंदरता, इसको सजाने-संवारने में व्यस्त हैं। यहाँ तक कि उसके लिये हिंसक सौंदर्य-प्रसाधनों का उपयोग करने में भी नहीं झिझकते। भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार किये बिना ही दिन-रात इसके भरण-पोषण के लिये चिंतित रहते हैं, इसमें होनेवाले रोगादि से भयभीत रहते हैं— ये देह की मगनता नहीं, तो और क्या है?

हे आत्मन्! जिस देह का एक परमाणु भी तेरा नहीं है, न तेरे साथ जानेवाला है, न तेरे सुख-दुःख का साथी है, उस देह की इतनी चिंता, इसमें इतनी आसक्ति, इतनी मगनता, कि जिसके कारण तुम अपना वास्तविक-स्वरूप ही भुला बैठे हो। बनारसीदास जी कहते हैं "भाई! यह देह की मगनता तेरे लिये मांस-भक्षण के समान ही है। अब विचार कीजिये क्या हम इस व्यसन के त्यागी हैं?"

3. मदिरापान— सामान्यरूप से अत्यधिक हिंसक-प्रक्रिया और पदार्थों के सड़ने से उत्पन्न हुये अनन्त-त्रसजीवों के घात से बनी हुई मदिरा/शराब का पान करना 'मदिरापान' नामक व्यसन है। जो व्यक्ति वास्तव में किंचित्-मात्र भी जैनधर्म का श्रद्धापूर्वक अनुयायी है, वह इसे पीना तो दूर, स्पर्श करने का भी त्यागी होता है।

लेकिन आज इस परिभाषा के मायने बदल चुके हैं। जो जैनी इसे स्पर्श तक नहीं करते थे, आज वे ही अपने बच्चों की शादी-पार्टी में इसे पीने और पिलाने की होड़ रखते हैं और ऐसा करके वे अपनी शान/स्टैंडर्ड मानते हैं। क्या वे सच में जैन कहलाने के लायक हैं? और जो इस स्थूल-मदिरापान के त्यागी हैं, वे स्वयं पर गर्व करते हैं कि हम तो इस व्यसन के त्यागी हैं, लेकिन बनारसीदास जी ने तो 'मदिरापान-व्यसन' का स्वरूप कुछ और ही कहा है।

कविवर कहते हैं "भाई! मोह/ममता भी एक शराब ही है, बल्कि यह कहें कि शराब से भी ज्यादा खतरनाक है। शराब का नशा तो चार-छह घंटे में उतर जाता है, परन्तु इस मोहरूपी शराब का नशा तो आज तक उतरा ही नहीं। हम तो अनादिकाल से आज तक इस मोह की शराब को अत्यधिक-रुचिपूर्वक पीते आये हैं, कभी एक क्षण के लिये भी नहीं लगा कि हम मदिरापान कर रहे हैं। हे आत्मन्! यह भी एक व्यसन है, जैसे शराबी शराब पीकर अपना घर-द्वार यहाँ तक कि परिवारजनों को और अपने को भी भूल जाता है, ठीक उसीप्रकार हम सब भी तो अनादिकाल से मोह के कारण अपने चैतन्य-स्वरूप को, अपने अनंत-गुणोंरूपी परिवार को भूले हुये हैं। हे आत्मन्! ये मदिरापान ही तो है, क्या हम इस व्यसन के त्यागी हैं?

4. वेश्या-सेवन— 'वेश्या' यानि वह नारी, जो पैसे के लिये किसी भी धर्म या जाति के पुरुष का सेवन कर सकती है। धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, लौकिक-दृष्टि से भी वेश्या-सेवन को निंदनीय माना गया है। जैन ही नहीं, एक सभ्य-पुरुष भी वेश्या-सेवन का त्यागी होता है। हम सब भी ऐसा ही मानकर स्वयं को इस व्यसन का त्यागी मानते हैं।

लेकिन बनारसीदास जी तो कहते हैं कि "हम तो प्रतिसमय वेश्या-सेवन कर रहे हैं।" कैसे? कवि के शब्दों में "कुबुद्धि के मार्ग पर चलना ही वेश्या-सेवन है।" अर्थात् सम्यक्-मार्ग को छोड़कर विपरीत-मार्ग पर चलना या कहें वीतरागी देव-गुरु-धर्म के बताये सम्यक्-मार्ग को छोड़कर मिथ्यात्व, पाप, कषायों के मार्ग पर चलना, धन-वैभव के लालच में अन्याय, अनीति और अनाचार के मार्ग का अनुसरण

करना, विवेकरहित-कार्य करना, अहिंसामयी-धर्म के सत्य-स्वरूप को छोड़कर धर्म के नाम पर हिंसक-मार्ग में प्रवर्तन करना, अपना घर छोड़कर पर-संयोगों में बुद्धि को भ्रमाना भी कवि के अनुसार वेश्या-सेवन ही है।

आत्मस्वरूप को छोड़कर, उसका विस्मरण करके पर-पदार्थों में सुखाभिलाषा से विचरनेवाली बुद्धि को आगम में 'व्यभिचारिणी' कहा गया है। और जो अपने कुल-गौरव, सदाचार आत्मस्वरूप का मनन-चिंतन-ध्यान छोड़ाकर परपदार्थों में रमाये, ऐसी 'कुमति' का संग करना तो वेश्यागमन से भी खतरनाक है। क्योंकि वेश्या तो जड़-धन/सम्पत्ति का ही हरण करके निर्धन बनाती है; किन्तु कुमतिरूपी वेश्या तो हित-अहित का विवेक ही छीन लेती है, और जीव को भव-भवान्तरों तक के लिये संसार-परिभ्रमण के अनंत-दुःखों का कारण बनती है। अतः इस कुमति के चक्कर में फँसना तो वेश्यागमन से भी अनन्तगुना दुःखदायी है। अब विचार कीजिये क्या हम 'वेश्या-सेवन-व्यसन' के त्यागी हैं?

5. शिकार खेलना— सामान्यरूप से जंगल में जाकर निरीह पशु-पक्षियों का शिकार करना अथवा अपने मनोरंजन के लिये उनके प्राणों का घात करना 'शिकार खेलना' नामक व्यसन है। आज तो लोग इस कार्य को करने में अपनी शान समझते हैं; लेकिन क्या निरपराध, बेजुबान जानवरों को मारकर भी किसी को खुशी मिल सकती है? ऐसा विचार भी नहीं करते।

आश्चर्य तो इस बात का है कि शिकार खेलने और जीवहिंसा में हर्ष मनाने के लिये तो आजकल जंगल में जाने की भी जरूरत नहीं रह गयी है। क्योंकि आज शिकार के उपकरण बदल गये हैं और शिकारियों का रूप भी बदल गया है। पहले तलवार, भाले, तीर-कमान, लाठी, पिस्तौल और बंदूक आदि शिकार के उपकरण माने जाते थे और इनसे वन्य पशु-पक्षियों का लोग अपने मनोरंजन के लिये शिकार करते थे। किन्तु आज हिट, बेगॉन, लाइजॉल आदि अनेकप्रकार के केमिकल्सवाले स्फेरूपी-हिंसोपकरण बाजार में आधुनिक-शिकारियों के लिये आसानी से उपलब्ध हैं। लोग घरों में ही अपनी सुशील, कोमलांगी-गृहणियों को घरेलू जीव-जन्तुओं (जैसे कौकरोच, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि) का शिकार करने के लिये खुशी से इन्हें लाकर भी देते हैं, और आधुनिक-शिकारी (ये गृहणियाँ/कोमलांगियाँ) घर के कोने-कोने तक में अपनी जान बचाकर छुपकर बैठनेवाले इन निरीह व क्षुद्र-त्रसजीवों का निर्ममतापूर्वक-शिकार करके हर्षित होती हैं, कि हमने अपने घर को 'जर्म्स-रहित' बना दिया है। यह शिकारी-वृत्ति का अधुनातन-रूप एवं प्रक्रिया है। लेकिन हाँ एक सच्चा-जैन अवश्य इस व्यसन के प्रत्येक रूप का त्यागी होता है। इनके संक्रमण से बचने के लिये वह अग्रिमरूप से सफाई रखता है, ताकि ये जीव उत्पन्न ही नहीं हों।

परन्तु आध्यात्मिक-दृष्टि से देखें, तो मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों में अनुरक्त होकर अपने जाननहार चैतन्य-स्वभाव का घात करना भी तो 'भाव-शिकार' है। भावनात्मक-दृष्टि से केवल स्थूल-जीवों का ही नहीं सूक्ष्म से सूक्ष्म-जीवों का भी निर्दयता-पूर्वक प्राणघात करना भी शिकार करने के बराबर ही है। कई बार किसी जीव का प्राणघात भले ही न हो, पर उसके प्रति परिणामों में कठोरता/निर्दयता का होना भी 'भाव-शिकार' है। प्रमादवश किसी भी रूप में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रिय से लेकर सभी विकलत्रय-जीवों का घात करना जैसे पंखा ए.सी. कूलर बिना प्रयोजन चल रहे हैं, तो चलने देना; (बिना प्रयोजन लाइट-बल्ब आदि के जलने से अग्निकायिक-जीवों की हिंसा होती हो तो हो) बिना प्रयोजन वनस्पति को तोड़ना, सजावट के लिए छेदन-भेदन करना, घास पर चलना, अनछने-जल का प्रयोग करना, बेवजह जल-ढोलना, अभक्ष्य-भक्षण करना इत्यादि भी तो प्रकारान्तर

से शिकार ही है। कहने का अभिप्राय यही है कि जहाँ अपने निमित्त से जीवों की हिंसा या प्राण-पीड़न होता हो, वह सब 'भाव-शिकार' है। अब विचार कीजिये क्या हम शिकार व्यसन के त्यागी हैं?

6. परस्त्री-सेवन— सामान्यरूप से अपनी विवाहिता-स्त्री को छोड़कर किसी भी अन्य-स्त्री का पत्नी या प्रेयसी के रूप में सेवन करना; ऐसे भाव रखना; इस अभिप्राय से उससे संवाद आदि करना— ये सभी 'परस्त्री-सेवन' नामक व्यसन के अन्तर्गत माना जाता है। यद्यपि धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, लोक में भी इस कार्य को कुकृत्य और निंदनीय माना जाता है। जैसे पुरुष के लिये परस्त्री-सेवन पाप है, वैसे ही स्त्री के लिये अपने विवाहित-पति को छोड़कर अन्य किसी भी पुरुष का पति/प्रेमी के रूप में सेवन करना, वैसा अभिप्राय रखना या वैसे अभिप्राय से वार्त्तालाप आदि करना 'परपुरुष-सेवन' नामक पापरूप व्यसन है।

आगम में परस्त्री-सेवन को सबसे निंद्य-कार्य माना गया है। 'लाटीसंहिता' नामक ग्रंथ में एक प्रश्न आता है, जो इस संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है— 'विषय-सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नी में की जाती है, वही क्रिया एक परस्त्री के साथ की जाती है। तो क्रिया-भेद न होने से उन दोनों में भी कोई भेद नहीं होना चाहिये?"

तब आगम से उत्तर मिलता है कि कर्मबंधन में प्रधानता परस्त्री-स्पर्श या विषय-सेवन आदि बाह्य-कारणों की नहीं; बल्कि उस समय होनेवाले जीव के परिणामों की है। और परस्त्री-सेवन में तीव्र-लालसा का भाव है, अतः तीव्र-पाप का बंध है। जैसे— जल का स्वभाव पूर्ण-निर्मल है, परन्तु फिर भी चंदनादि सुगंधित- पदार्थ के संपर्क में आने पर 'शोभनीय' और कीचड़-गंदगी आदि के संपर्क में आने पर 'अशोभनीय' संज्ञा पाता है। उसीप्रकार परस्त्री और धर्मपत्नी के साथ एक जैसी क्रिया होने पर भी जीव के परिणामों में अंतर आता है, जिससे कर्म-बंधन में भी अंतर आता है। इसीलिये आगम में परस्त्री-प्रेम/परपुरुष प्रेम को 'आपत्तियों की जननी' माना गया है। जो इसलोक में तो दुःखदायी है ही, परलोक में भी दुःखदायी है। परस्त्री/परपुरुष-सेवन नरकादि-कुगतियों में गमन का साक्षात् कारण है। इसलिये स्थूलरूप से सप्तव्यसन के त्यागी को इस व्यसन का भी अनिवार्यतः त्याग वर्तता है।

लेकिन यहाँ तो कविवर कहते हैं "जो बुद्धि आत्मस्वरूप को छोड़कर पर में अर्थात् देहादिक-संयोगों एवं पर-भावों में भ्रमण करे, वह बुद्धि व्यभिचारिणी है" जो परस्त्री-सेवन नामक व्यसन-सेवन करनेवाली स्त्री/पुरुष के समान है। आचार्यों ने देह में आसक्ति को परस्त्री में आसक्ति के समान निंदनीय माना है। इस विवक्षा से देखा जाये, तो हम तो प्रतिसमय देह में ही आसक्त हैं, तो हम परस्त्री-सेवन के त्यागी कैसे हो सकते हैं?

इतना ही नहीं कविवर तो यहाँ तक लिखते हैं कि जो 'परनारी-संग परबुद्धि कौ परखिबौ' अर्थात् पर में बुद्धि को भ्रमाना ही नहीं, पर में चातुरी दिखाना, दूसरे की बुद्धि को परखना भी परस्त्री-सेवन व्यसन के समान है, इसके सबसे ज्यादा दोषी तो बुद्धिजीवी-वर्ग के लोग होते हैं। वे प्रायः यही देखते हैं कि "सामने वाला कितने पानी में है?"— यह परखने के लिये ही अनेकप्रकार की जिज्ञासा, तर्क-कुतर्क प्रस्तुत करते हैं। उस समय यदि वे एक क्षण को भी इस पंक्ति का विचार कर लें कि पं. बनारसीदास जी के कथनानुसार तो वे 'परस्त्रीसंग' नामक व्यसन का सेवन करनेरूप महापाप कर रहे हैं, तो अनेकप्रकार के विवाद-विसंवाद और झगड़ों को सहज ही टाला जा सकता है। यह बात समाज में ही नहीं, बल्कि सज्जन-व्यक्ति को अपने परिजन-पुरजन, पड़ौसी, घर-परिवार, कार्यक्षेत्र—सभी जगह लागू करनी चाहिये। क्योंकि परस्त्री/परपुरुष-सेवनरूप व्यसन को तो हर कोई अपराध मानता है; इसलिये जो कोई कदाचित् इसे करते भी है, तो चोरी-छुपे करते है, सबके सामने खुलकर नहीं करते। किन्तु परबुद्धि को परखनेरूप व्यसन

का सेवन तो लोग बड़े-गर्व से सार्वजनिकरूप से करते हैं और इसके भयंकर सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक-दुष्परिणामों को हम सभी भोगते हैं। फिर भी इस कुकृत्य के प्रति कभी किसी के मन में ग्लानि का भाव नहीं आता। इससे इसकी भयंकरता को तथा पं. बनारसीदास जी द्वारा इसे परस्त्री/परपुरुष-सेवनरूपी दुर्व्यसन के रूप में प्रतिपादित करना उनकी दूरदर्शिता को दर्शाता है। अब विचार कीजिये कि क्या हम इस व्यसन के त्यागी हैं?

7. चोरी करना— सामान्यरूप से किसी की पड़ी हुई, भूली हुई, रखी हुई वस्तु को स्वयं उठाना या उठाकर किसी को दे देना या दूसरों से उठवा देना 'चोरी' नामक व्यसन के अंतर्गत आता है। यद्यपि चोरी का ये बहुत ही स्थूलरूप है, लेकिन फिर भी अधिकांश-जीव इस व्यसन के त्यागी नहीं होते। जैसे बिना-टिकिट यात्रा करना, बिजली की चोरी, टैक्स की चोरी, व्यापारादि में हेर-फेर करना आदि और भी ऐसे कई कार्य हैं, जिन्हें हम चोरी मानते ही नहीं हैं और निर्भय होकर उन कार्यों को करते हैं। मनोरंजन के लिये दूसरों की रखी हुई या भूली हुई वस्तु को छुपाकर रख देना कि 'कुछ देर परेशान करके मजे लेने के बाद बता दूँगा'— ऐसी प्रवृत्तियाँ अधिकांश-लोगों के जीवन में देखीं जाती हैं। परन्तु उनमें से किसी को भी एक-क्षण के लिये भी यह अहसास तक नहीं जगता है कि वे चोरी जैसा महापाप कर रहे हैं, और उसमें आनन्द मानकर 'हिंसानंदी-मृषानंदी-चौर्यानंदी' रौद्रध्यान करके नरकायु के बंध जैसी विकट-स्थितियों को न्यौता दे रहे हैं।

कविवर बनारसीदास जी तो यहाँ तक कहते हैं कि अनुराग-पूर्वक पर-पदार्थों को ग्रहण करने का भाव भी 'भाव-चोरी' है। बनारसीदास जी ने चोरी की ऐसी परिभाषा क्यों लिखी? क्योंकि मैं चेतन-आत्मा एक भिन्न-द्रव्य, और मेरे अलावा अन्य सभी वस्तुयें पूर्णतः भिन्न पुद्गल-द्रव्य हैं। अर्थात् मैं एक 'स्व' और बाकी सब 'पर', और किसी भी पर-वस्तु को पाने की चाहत ही तो चोरी है, इस अपेक्षा ये परिभाषा बिल्कुल सटीक है, क्योंकि हमने भी तो आज तक एक निजात्मा को छोड़कर समस्त पर-द्रव्यों को पाने की चाहत को ही तो अनवरत कायम रखा है। विचार कीजिये कि क्या हम वास्तव में इस व्यसन के त्यागी हैं?

निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि ये सातों-व्यसन जीव को दुःख देनेवाले हैं, क्योंकि इन व्यसनो के रहते जीव का उपयोग कभी अंतर्मुख हो ही नहीं सकता। और जबतक उपयोग अंतर्मुख नहीं होगा, तबतक जीव सुखी नहीं हो सकता। इसलिए सच्चे-सुख के पिपासु प्रत्येक जीव को इन भावपरक-सप्तव्यसनो का त्यागी होना ही चाहिए।

(दोहा)

विसन-भाव जामैं नहीं, पौरुष अगम-अपार।

किये प्रगट घट-सिंधुमैं, चौदह-रतन उदार॥ 30॥

(सवैया इकतीसा)

लक्ष्मी-सुबुद्धि अनुभूति-कउस्तुभ-मनि, वैराग-कलपवृच्छ संख-सुवचन है।

ऐरावत-उद्दिम-प्रतीति रंभा उदै-विष, कामधेनु-निर्जरा सुधा-प्रमोदधन है॥

ध्यान-चाप प्रेमरीति-मदिरा विवेक-वैद्य, सुद्धभाव-चन्द्रमा तुरंगरूप-मन है।

चौदह-रतन ये प्रगट होंहि जहाँ तहाँ, ग्यान के उदोत घट-सिंधुकौ मथन है॥ 31॥

शब्दार्थ :— विसन-भाव जामैं नहीं= जिनमें व्यसन का भाव नहीं रहता, पौरुष अगम-अपार= (जिनका)

पुरुषार्थ अगम्य और अपार है, किये प्रगट घट-सिंधुमै= (वे) हृदयरूपी समुद्र में प्रकट करते हैं, चौदह-रतन उदार= चौदह-महारत्न॥ 30॥

लक्ष्मी-सुबुद्धि= सुबुद्धिरूपी लक्ष्मी, अनुभूति-कउस्तुभ मनि= अनुभूतिरूपी कौस्तुभमणि, वैराग-कल्पवृच्छ= वैराग्यरूपी कल्पवृक्ष, संख-सुवचन है= सुवचनरूपी शंख, ऐरावत-उद्दिम= पुरुषार्थरूपी ऐरावत-हाथी, प्रतीति-रंभा= प्रतीतिरूपी रम्भा, उदै-विष= उदयरूपी विष, कामधेनु-निर्जरा= निर्जरारूपी कामधेनु, सुधा-प्रमोदधन है= प्रमोदरूपी धन के रूप में अमृत, ध्यान-चाप= ध्यानरूपी धनुष, प्रेमरीति-मदिरा= प्रेमरूपी मदिरा, विवेक-वैद्य= विवेकरूपी वैद्य, सुद्धभाव-चन्द्रमा= शुद्धभावरूपी-चंद्रमा, तुरंगरूप-मन है= मनरूपी घोड़ा, चौदह-रतन ये प्रगट होंहि जहाँ= ये चौदह-रत्न जहाँ प्रकट होते हैं, तहाँ ग्यान के उदोत= वहाँ ज्ञान के प्रकाश में, घट सिंधुकौ मथन है= हृदयरूपी समुद्र का मंथन हैं॥ 31॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने उस स्थिति का वर्णन किया है, जब साधक-जीव अपने परिणामों का शोधन करता हुआ विशुद्धि के मार्ग पर अग्रसर होता है; तब हृदयरूपी समुद्र-मंथन में चौदह-महारत्न प्रकट होते हैं।

हिन्दू-मान्यता के अनुसार जब देवताओं और राक्षसों में विवाद हुआ और समुद्र-मंथन किया गया, तब समुद्र में से पहले हलाहल-विष निकला; लेकिन फिर अन्त में अमृत-सहित कुल चौदह-रत्नों की प्राप्ति हुई थी। चूँकि ये कथानक उस समय अत्यधिक-लोकप्रचलित था, और प्रायः कवियों की रचना में तात्कालिक देश-काल-वातावरण की प्रधानता रहती है, यहाँ तक कि वे अपने कथन को स्पष्ट करने के लिये जन-प्रचलित उदाहरण ही देते हैं। कवि ने भी यहाँ साधक-जीव के द्वारा चल रहे करण-लब्धि के परिणामों को प्राप्त करने के पुरुषार्थ को 'समुद्र-मंथन' और करण-लब्धि की प्राप्ति अर्थात् आत्मानुभूति और उसके साथ प्राप्त होनेवाले वैभव को 'चौदह-महारत्नों' के माध्यम से चित्रित किया है।

कविवर कहते हैं जब भावमय-सप्त-व्यसन का लेशमात्र भी अंश शेष नहीं रहता, तब अपने अगम्य और अपार-बल से अर्थात् स्वयं के अति-पुरुषार्थ से साधक-जीव अपने हृदय में आत्मानुभूति-सहित चौदह-महारत्नों को प्रकट करते हैं। जो इसप्रकार हैं—

सर्वप्रथम 'सुबुद्धिरूपी लक्ष्मी' (लौकिक में भी कहते हैं जिसके घर में लक्ष्मी का वास हो वहाँ दरिद्रता/मलिनता नहीं रहती, ठीक उसीप्रकार जिसके हृदय में सुबुद्धिरूपी लक्ष्मी प्रकट होती है, फिर उसकी मति कुबुद्धि अर्थात् मिथ्यात्व के मार्ग पर नहीं भटकती है), अतिदुर्लभ और बहुमूल्य 'कौस्तुभ-मणि के समान आत्मानुभूति' का प्रकट होना, सर्व-सांसारिक दुःखों से मुक्ति और सर्व-अनुकूलताओं को देने वाला 'वैराग्यरूपी कल्पवृक्ष', शंख की सुन्दर-ध्वनि के समान 'सत्य-वचन', ऐरावत हाथी के समान 'विशाल पौरुष/अतीव-बल', सुंदरी रंभा के समान 'अविचल-श्रद्धा/प्रतीति', विष के समान घातक 'कर्मोदय', सर्व-सिद्धियों की जनक 'निर्जरारूपी कामधेनु', 'आनंदामृत-रूपी धन' को प्रकट करते हैं।

जिसप्रकार की एकाग्रता धनुर्धर (धनुष-बाण चलनेवाले) को होती है, उसीप्रकार की 'उपयोग की एकाग्रता' साधक-जीव को प्रकट होती है। अविरतिभावरूपी रागभाव की मदिरा की लत को 'विवेकरूपी वैद्य' ठीक करता है। अर्थात् जिसप्रकार वैद्य रोग का इलाज करने के साथ-साथ परहेज पर विशेष-ध्यान देता है; ठीक उसीप्रकार साधक-जीव उपयोग की एकाग्रता भंग न हो, इसलिए सांसारिक-प्रसंगों के संपर्क से परहेज करते हैं। 'शुद्ध-भावरूपी चंद्रमा' अर्थात् जैसे चंद्रमा की चाँदनी धवल और शांतिप्रदायक होती है, वैसे ही साधक-जीव की परिणति मोह-राग-द्वेष की मलिनता से रहित धवल और शांत होती है,

'मनरूपी घोड़ा' अर्थात् जैसे घोड़े को उद्दाम-पौरुष का शुभ-प्रतीक माना जाता है, उसीप्रकार साधक-जीव का मन घोड़े के समान निरन्तर उद्दाम-पौरुषमय रहता है।

इसप्रकार ये चौदह-महारत्न उस भाव-सप्तव्यसन-रहित जीव को प्रकट होते हैं, जिसके घट या अंतरंग में निर्मल-ज्ञान के प्रकाश में परिणामों का शोधनरूपी-मंथन चलता है। जब जीव करण-लब्धि की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करता है, तब आत्मानुभूति सहित उपर्युक्त चौदह-महारत्नों की प्राप्ति होती है।

(दोहा)

किये अवस्थामैं प्रगट, चौदह-रतन रसाल।
कछु त्यागै, कछु संग्रहै, विधि-निषेधकी चाल॥ 32॥
रमा-संख-विष-धनु-सुरा, वैद्य-धेनु-हेय हेय।
मनि-रंभा-गज-कलपतरु, सुधा-सोम आदेय॥ 33॥
इहविधि जो परभाव-विष, वमै रमै-निजरूप।
सो साधक-सिवपंथकौ, चिद-वेदक चिद्रूप॥ 34॥

शब्दार्थ :- किये अवस्थामैं प्रगट= सम्यग्दर्शन की अवस्था में प्रकट किये, चौदह-रतन रसाल= रस-पूर्ण चौदह-रत्न, कछु त्यागै कछु संग्रहै= (इनमें से) कुछ का त्याग और कुछ का ग्रहण करते हैं, विधि-निषेधकी चाल= ग्रहण-त्याग की पद्धति के अनुसार॥ 32॥

रमा-संख-विष-धनु-सुरा-वैद्य-धेनु-हेय हेय= लक्ष्मी, शंख, विष, धनुष, मदिरा, वैद्य, कामधेनु, घोड़ा त्यागने योग्य मानते हैं। (और) मनि-रंभा-गज-कलपतरु-सुधा-सोम-आदेय= कौस्तुभ-मणि, अप्सरा (प्रतीति), ऐरावत-हाथी, कल्पवृक्ष, अमृत, चंद्रमा, ग्रहण करने योग्य हैं॥ 33॥

इहविधि जो परभाव-विष वमै= इसप्रकार जो परभावरूपी-जहर का वमन करते हैं, रमै-निजरूप= अपने निजरूप में रमण करते हैं, सो साधक सिवपंथकौ= वह मोक्षमार्ग का सच्चा-साधक है, चिद वेदक चिद्रूप= चैतन्य-स्वरूप का वेदक/अनुभूति करनेवाला चेतनस्वरूप-आत्मा है॥ 34॥

विशेषार्थ :- इन तीनों-छंदों में कवि ने अनुभूति के समय प्राप्त महारत्नों में से कौन-से रत्न 'हेय' अर्थात् छोड़ने योग्य हैं, और कौन से 'उपादेय' अर्थात् ग्रहण करने योग्य है— इसका सटीक-वर्णन किया है।

अनुभूति-सहित चौदह महा-रत्नों में से आठ-रत्न सुबुद्धि, सुवचन, कर्मोदय, ध्यान, प्रेम, विवेक, निर्जरा और मन छोड़ने योग्य बताये हैं। लेकिन ये सभी छोड़ने योग्य क्यों कहे ?

सर्वप्रथम 'सुबुद्धिरूपी लक्ष्मी'— बुद्धि चाहे सन्मार्ग पर हो या कुमार्ग पर छोड़ने योग्य ही है, क्योंकि वह विकल्परूप है और विकल्प कैसा भी हो अनुभूति में बाधक ही है। यद्यपि स्वरूप का निर्णय सुबुद्धि से ही होता है; परन्तु स्वरूप/लक्ष्य की प्राप्ति होने के बाद सुबुद्धिरूपी-साधन उसीप्रकार हेय है, जैसे छत पर पहुँचने के बाद सीढ़ी हेय है अर्थात् जैसे छत पर पहुँचने के लिये सीढ़ी बहु-उपयोगी है, परन्तु छत पर पहुँचने के बाद उसे छोड़ना ही समझदारी है। 'शंख' के समान मोहक-ध्वनि जैसे वचन बहुत-प्रिय होते हैं; परन्तु वचन भी एक विकल्प ही है, और निर्विकल्प-अनुभूति की प्राप्ति में सुवचनरूपी-विकल्प भी साधक-जीव के लिये हेय है। जैनदर्शन में तो मौन/वचनगुप्ति को श्रेष्ठ-साधना/तप माना गया है, इसका सबसे बड़ा-प्रमाण यही है कि तीर्थंकर-परमात्मा दीक्षा लेने के बाद आजीवन मौन रहते हैं। 'कर्मोदयरूपी-विष' अर्थात् कर्म के उदय-जन्य-परिणाम चाहे अनुकूल/पुण्यरूप हों या प्रतिकूल/पापरूप, साधक-जीव के लिये विष के समान हेय ही हैं; क्योंकि साधक-जीव की भावना यही होती

है कि लक्ष्य की प्राप्ति अतिशीघ्र हो, और कर्म का उदय लक्ष्य यानि मोक्ष-प्राप्ति में सदैव बाधक ही है। इसका सबसे बड़ा-प्रमाण है कि 'तीर्थंकर-नामकर्म' जैसी सर्वोत्कृष्ट-पुण्य-प्रकृतिरूप कर्म का उदय रहने पर तीर्थंकर-परमात्मा को भी सिद्ध-दशा की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

साधक-जीव को स्वरूप में एकाग्र होने के लिए 'विकल्पात्मक-ध्यान' की प्रक्रिया भी हेय है; क्योंकि उस समय उस जीव को व्यवहार-ध्यान नहीं, बल्कि स्वरूप में लीनता ही इष्ट है। वीतरागता के मार्ग पर अग्रसर साधक-जीव को 'शुभरागरूप-मदिरा' का अंश भी मुक्ति में बाधक होने से हेय ही है। जैसे मदिरा की एक बूँद भी अमृत जैसे पदार्थ को अपवित्र कर देती है, ठीक उसीप्रकार राग-भाव का अंश भी पूर्ण-वीतरागता प्रकट नहीं होने देता। जैसे पाँच-पांडवों में से नकुल और सहदेव आंशिक-राग के कारण ही तैंतीस-सागर तक मोक्ष-प्राप्ति से वंचित रहेंगे। 'विवेकरूपी-वैद्य' भी विकल्पात्मक होने से हेय है। निर्जरारूपी-कामधेनु अर्थात् ये भी कर्मों की निर्जरा का परिणाम होने से हेय है। (यहाँ संभवतः पं. बनारसीदास जी 'अकाम-निर्जरा' की ओर संकेत कर रहे हैं) मनरूपी-घोड़ा चंचल एवं अस्थिरता-जन्य होने से हेय है। —इसप्रकार उपर्युक्त आठों ही रत्न 'हेय' अर्थात् त्याग करने योग्य बताये गये हैं।

चौदह-महारत्नों में से शेष छह-महारत्न मणि, रंभा, गज, कल्पवृक्ष, अमृत और चंद्रमा को ग्रहण करने योग्य कहा गया है। क्यों?

'आत्मानुभूतिरूपी-मणि' ही उपादेय है, क्योंकि यही तो मुक्ति की आधारशिला है और यही मोक्षस्वरूप भी है। स्वयं बनारसीदास जी ने कहा भी है— "अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्षसरूप।" 'प्रतीतिरूपी-रंभा' या आत्मस्वरूप का दृढ़-श्रद्धान, साधक-जीव को अनुभूति से भिन्न-काल में भी जो स्वरूप की दृढ़-प्रतीति बनी रहती है, वह बहुत-महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यदि ज्ञानी-जीव को अनुभूति के काल के अतिरिक्त अन्य-समय में यह प्रतीति न रहे, तो श्रद्धान कमजोर हो जायेगा, और उस स्थिति में साधक जीव को 'ज्ञानी' कैसे कहा जायेगा? ऐरावत-हाथी के समान 'प्रशस्त-पौरुष/पुरुषार्थ' के बिना कर्मरूपी विशाल-पर्वत को जड़ से उखाड़ फेंकना किसी के लिये संभव ही नहीं है; इसलिये साधक-जीव के लिये पुरुषार्थ उपादेय ही है।

'वैराग्यरूपी-कल्पवृक्ष' अर्थात् संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति का भाव होने पर ही स्वरूप में एकाग्रता संभव है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि-जीव के नियमतः ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य का होना अनिवार्य कहा गया है "सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः।" 'आनंद-अमृतरूपी धन' अर्थात् निरन्तर आनंद का वेदन ही साधक-जीव के मोक्षमार्गी होने की निशानी है। संक्लेश-भाव रहे और सुख-स्वभावी आत्मा का वेदन/अनुभव भी हो— ये दोनों विपरीत-स्थितियाँ एकसाथ संभव ही नहीं हैं? शुद्धभावरूपी-चंद्रमा अर्थात् जैसे शुक्लपक्ष में दूज के चंद्रमा की कलायें निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि-जीव का गुणस्थान-क्रम से स्वरूप में स्थिरता का काल एवं तदनु रूप-परिणामों की विशुद्धि निरन्तर बढ़ती ही रहती है। तभी साधक-जीव अपने लक्ष्य को अतिशीघ्र प्राप्त कर सकता है।

इसप्रकार जो साधक-जीव परभावों या मोह-राग-द्वेषरूप-विष को वमनकर अर्थात् त्यागकर निज-आत्मस्वरूप में रमण करता है, वही निज चैतन्य-स्वरूप का वेदक अर्थात् रसास्वादन करने वाला चेतन-आत्मा मोक्षमार्ग का सच्चा-साधक होता है।

(कवित्त)

ग्यान-द्रिष्टि जिन्हके घट-अंतर, निरखैं दरव-सुगुन-परजाइ।
जिन्हकें सहजरूप दिन-दिन प्रति, स्यादवाद-साधन अधिकाइ।।

जे केवलि-प्रनीत-मारग-मुख, चिंतै चरन राखै ठहराइ।
जे प्रवीन करि खीन-मोहमल, अविचल होहिं परमपद पाइ॥ 35॥

शब्दार्थ :— ग्यान-द्विष्टि जिन्हके घट-अंतर= जिनके अंतरंग में ज्ञान-दृष्टि है, निरखैं दरव-सुगुन-परजाइ= द्रव्य-गुण और पर्याय का अवलोकन करते हैं, जिन्हकें सहजरूप दिन-दिन प्रति= जिनके सहज ही दिन-प्रतिदिन, स्यादवाद-साधन अधिकाइ= स्याद्वाद के साधन की अधिकता/बहुलता रहती है, जे केवलि-प्रनीत मारग-मुख= जो केवली-कथित मोक्षमार्ग का, चिंतै चरन राखै ठहराइ= मुख्यतया से चिंतवन करते हैं, (उसके अनुसार) स्थिरता से आचरण करते हैं, जे प्रवीन करि खीन-मोहमल= वे चतुर-जीव मोहरूपी-मल को नष्टकर, अविचल होहिं परमपद पाइ= स्वरूप में स्थिर होकर परमपद को प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मोक्षमार्ग के सच्चे साधक-जीवों की अवस्था का वर्णन किया है। जिन जीवों के अंतरंग में ज्ञान-दृष्टि जागी है अर्थात् स्वयं के ज्ञानोपयोग से अपने ही स्वरूप का द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने अवलोकन करते हैं, और स्याद्वाद के साधन द्वारा निज-आत्मा को दिन प्रतिदिन और अधिक जानने का अभ्यास करते हैं। अभिप्राय यह है कि निजात्म-स्वरूप को वे विविध-पक्षों से ज्ञानात्मक-चिंतन-प्रक्रिया के द्वारा विचारते रहते हैं, स्वरूप से बाहर अन्यत्र कहीं उपयोग को भटकने नहीं देते। इस प्रकरण में हम 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' की इस गाथा को समान्तर रूप से विचारार्थ रख सकते हैं —

"जो जाणदि अरिहंत, दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥" (प्रवचनसार जी गाथा नं.-80)

जो जीव केवली-भगवान् द्वारा बताये वीतरागतारूप धर्म-मार्ग पर दृढ़-श्रद्धान् करते हैं, तदनु रूप सम्यक्-आचरण करते हैं, वे जीव अल्प-समय में ही मोहरूपी मल को नष्ट करते हैं। (यहाँ कवि ने 'मोह' को 'मल' की संज्ञा दी है, क्योंकि ये 'पर' के लक्ष्य से उत्पन्न होता है, इसलिए आत्मा का विभावरूप-परिणमन है, विकार है),- और स्वरूप में पूर्ण-स्थिर होकर अविनाशी सिद्ध-पद/परमपद को प्राप्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि एकबार मोक्ष प्राप्त करने के बाद जीव पुनः संसार में जन्म-मरण नहीं करता, बल्कि अनंतकाल के लिये सिद्धालय में स्थित होता है।

(सवेया इकतीसा)

चाकसौ फिरत, जाकौ संसार निकट आयौ, पायौ जिन सम्यक, मिथ्यात नास-करिकै।

निरदुंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन, कीनी मोखकारन-अवस्था ध्यान धरिकै॥

सो ही सुद्ध अनुभौ-अभ्यासी अविनासी भयौ, गयौ ताकौ करम-भरम-रोग गरिकै।

मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै तातैं, डोलै जगजालमैं अनंत-काल भरिकै॥ 36॥

शब्दार्थ :— चाकसौ फिरत जाकौ संसार निकट आयौ= चाक के समान घूमते-घूमते जिसका संसार निकट आ गया है, पायौ जिन सम्यक, मिथ्यात नास करिकै= जिसने मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, निरदुंद मनसा-सुभूमि साधि लीनी जिन= जिसने द्वंद/दुविधा-रहित होकर चित्तरूपी भूमि को सोध लिया

नैकान्त-सङ्गत-दृशा स्वयमेव वस्तु-तत्त्व-व्यस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।

स्याद्वाद-शुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो, ज्ञानी भवन्ति जिन-नीतिमलङ्घयन्तः॥ 2॥

ये ज्ञानमात्र-निजभावमयीमकम्पां, भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीत-मोहाः।

ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः, मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ 3॥

है, कीनी मोखकारन अवस्था ध्यान धरिकै= (और) ध्यानावस्था धारण करके मोक्ष के योग्य कर लिया है। सो ही सुद्ध अनुभौ-अभ्यासी अविनासी भयौ= वही शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यासी होकर विनाश-रहित/अविनाशी हुआ, गयौ ताकौ करम-भरम-रोग गरिकै= जिसके कर्मों का भ्रमरूपी रोग गलकर नष्ट हो गया है, (जबकि) मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै= मिथ्यादृष्टि-जीव अपने स्वरूप को ही नहीं पहचानता, तातैं डोलै जगजालमें अनंतकाल-भरिकै= इसलिये अनंतकाल-पर्यन्त संसार में भटकता है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उन जीवों की स्थिति का वर्णन किया है, जो संसार की भटकन को समाप्तकर मोक्षयात्रा के पथिक बन चुके हैं, अर्थात् जिन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है। और उन जीवों की स्थिति को भी वर्णित किया, जिनका संसार अभी 'अनंत' है अर्थात् मिथ्यात्व में ही रमे हुये हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के जीवों की स्थिति चाक या पहिये के समान है। लेकिन चाक भी दो प्रकार का होता है। एक चाक/पहिया वह जो बिना धुरी के कहीं भी कैसे भी घूमता है, कोई ओर-छोर नहीं, कोई ठहराव नहीं। और दूसरा वह, जो अपनी धुरी पर केन्द्रित रहकर घूमता है, और समय पर रुकता भी है, जैसे कुम्हार के चाक का पहिया।

अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि संसारी-जीव मिथ्यात्व के कारण चार-गति चौरासी-लाख योनियों में ठीक उसी प्रकार भटक रहा है, जैसे कोई पहिया मार्ग में भटकता है। जबकि कुम्हार का चाक/पहिया भी गोल-गोल ही घूमता है, लेकिन एक ही केन्द्र पर स्थित रहता है; उसमें भटकाव नहीं होता, वह एक जगह रुकता है। ठीक वही स्थिति उन जीवों की है, जो सम्यक्त्व-सहित हैं। यद्यपि उनकी परिणति भी परिणामनशील है, परन्तु उनका लक्ष्य एक शुद्धात्म-तत्त्व पर ही केन्द्रित रहता है, अर्थात् वे कहीं भी किसी भी गति में जायें; परन्तु कुम्हार के चाक की तरह अपने शुद्धात्म-तत्त्व की कीली/धुरी पर ही केन्द्रित रहते हैं, इसीलिये ऐसे जीव संसार में अधिक नहीं भटकते।

ऐसे जीवों को संबोधित करते हुए कविवर कहते हैं "अब जिनका संसार निकट है अर्थात् संसार-भ्रमण का समय बहुत कम रह गया है, जिन्होंने मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने अपनी चित्तरूपी-भूमि को शोध लिया है, अर्थात् जिनका मन द्वंदरहित अर्थात् देह और आत्मा-संबंधी भ्रमपूर्ण समस्त-दुविधाओं से रहित हो गया है, जिन्होंने ध्यानावस्था धारणकर अर्थात् स्वरूप में अपने उपयोग को स्थिरकर स्वयं को मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बना लिया है, वे ही जीव शुद्धात्मा के अनुभव के अभ्यासी होकर अविनाशी-पद को प्राप्त करते हैं, और उनके समस्त-कर्म और भ्रमरूपी रोग गलकर नष्ट हो जाते हैं। जबकि दूसरी और जो जीव अपने आत्मस्वरूप को नहीं पहचानते, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करते, मिथ्यात्व में ही फँसे हुये हैं, वे धुरी-विहीन भटकनेवाले पहिये की तरह अनंतकाल-पर्यन्त इसी प्रकार चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जे जीव दरबरूप तथा परजायरूप, दोऊ नै-प्रवांन वस्तु-सुद्धता गहतु है।
जे असुद्ध-भावनि के त्यागी भये सरवथा, विषैसौं-विमुख ह्वै विरागता-बहतु हैं॥
जे-जे ग्राह्यभाव-त्यागभाव दोऊ-भावनिकौं, अनुभौ-अभ्यासविषै एकता करतु है।
तेई ग्यान-क्रिया के आराधक सहज मोख-मारग के साधक अबाधक महतु है॥ 37॥

स्याद्वाद-कौशल-सुनिश्चल-संयमाभ्यां, यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।

ज्ञानक्रिया-नय-परस्पर-तीव्रमैत्री-पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥ 4॥

विनास अनादि-असुद्धता, होइ सुद्धता-पोख।

ता-परनति को बुध कहैं, ग्यान-क्रियासौं मोख॥ 38॥

शब्दार्थ :- जे जीव दरबरूप तथा परजायरूप= जो जीव द्रव्यरूप और पर्यायरूप, दोऊ नै-प्रवांन वस्तु सुद्धता गहतु है= दोनों-नयों के अनुसार वस्तु के शुद्ध-स्वरूप को ग्रहण करते हैं, जे असुद्ध-भावन के त्यागी भये सरवथा= जो अशुद्ध-भावों के सर्वथा-त्यागी हैं, विषैसौं विमुख ह्वै विरागता बहतु हैं= विषयों से विमुख हैं, वैराग्य की धारा में बहते हैं, जे-जे ग्राह्यभाव-त्यागभाव दोऊ भावनिकौं= जो ग्रहणभाव और त्यागभाव दोनों-भावों में, अनुभौ-अभ्यासविषै एकता करतु है= आत्मानुभव के अभ्यास के समय एकत्व स्थापित करते हैं, तेई ग्यान-क्रिया के आराधक सहज= वे ही ज्ञान-क्रिया के सहज-उपासक हैं, मोख-मार्ग के साधक अबाधक महतु है= मोक्षमार्ग के पथिक हैं, कर्मबाधा से रहित हैं, महान् हैं॥ 37॥

विनास अनादि-असुद्धता= अनादिकाल की अशुद्धता का विनाश, (और) होइ सुद्धता-पोख= शुद्धता की पुष्टि हो, ता-परनति को बुध कहैं= उस परिणति को ज्ञानीजन कहते हैं, ग्यान-क्रियासौं मोख= यही ज्ञान-क्रिया है, इसी से मोक्ष होता है॥ 38॥

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने आत्मानुभवी-जीव की प्रवृत्ति और आत्मानुभव का फल वर्णित किया है।

अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि-जीव जब आत्मा के स्वरूप को द्रव्यपने/द्रव्यार्थिक-नय से और पर्यायपने/ पर्यायार्थिक-नय से समझकर आत्मवस्तु के शुद्ध-स्वरूप को ग्रहण करता है, अर्थात् द्रव्य-दृष्टि से विचार करता है कि मैं चेतन आत्मा, अनंत-ज्ञानादि-गुणों का पिण्ड, शाश्वत, त्रिकाली, ध्रुव, अखंड-तत्त्व हूँ। और पर्याय-दृष्टि से विचार करता है कि ये देहादिक-संयोग मेरे नहीं हैं, जड़ है, विनाशीक है, इनसे मेरा कुछ ही दिनों का संयोग है, समय आने पर ये जड़-पदार्थ मुझे छोड़ देंगे या मैं इन जड़-पदार्थों को छोड़ दूँगा, फिर क्यों मैं इनसे प्रीति करूँ? इसीप्रकार ये मोह-राग-द्वेष आदि भाव, जिन्हें अभी तक मैं अपना मानता आया था, ये भी मेरा स्वभाव नहीं हैं, मेरी पर्याय में पर के लक्ष्य से होनेवाला विकार है, मैं तो इन विकारों से त्रिकाल-भिन्न मात्र जाननहार-तत्त्व हूँ— ऐसा विचार, चिंतन, मननकर आत्मा के शुद्ध-स्वरूप को ग्रहण करता है। मोह, राग, द्वेष, पाप, कषाय, व्यसन इत्यादि अशुद्ध-भावों का सर्वथा-त्यागी होकर, पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों से विमुख अर्थात् इनके प्रति आसक्ति का त्याग करता है, और संसार, शरीर और संयोगों से पूर्णतः विरक्त, एकमात्र वीतरागता के रस में सराबोर होता है।

अब उस जीव के अंतरंग में निजवस्तु को ग्रहण करने और परवस्तु को त्याग करने— ये दोनों ही भाव समान रूप से एक साथ सहज वर्तते हैं। यद्यपि आत्मानुभव से पूर्व आत्मवस्तु के शुद्ध-स्वरूप को ग्रहण करने और पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों और विकारी-भावों को त्याग करने का भाव वर्तता है; लेकिन अनुभव के काल में न स्व का ग्रहण और न पर का त्याग अर्थात् दोनों में एकता/समानता सहज स्वयं वर्तती है; क्योंकि दोनों ही भाव विकल्परूप हैं, और अनुभूति निर्विकल्प होती है।

ऐसे साधक-जीव ज्ञान-क्रिया के उपासक होते हैं। ज्ञान-क्रिया से कवि का तात्पर्य है वह परिणति, जब उपयोग निज-स्वरूप में हो, तत्क्षण अनादिकाल की अशुद्धता या अज्ञानता का विनाश हो और शुद्ध-स्वरूप की पुष्टि हो अर्थात् शुद्ध-स्वरूप का वेदन हो, वही क्रिया या वीतरागता का भाव 'ज्ञान-क्रिया' है, वही मोक्षमार्ग है— ऐसे सहज, सरल-मार्ग पर चलनेवाले पथिक ही मोक्षमार्ग के सच्चे-साधक

कहलाते हैं; जो कर्मकृत या कर्म के उदय और बंध-संबंधी समस्त-बाधाओं से रहित, महान् जीव हैं।

(दोहा)

जगी सुद्ध-समकित-कला, बगी मोख-मग जोड़।

वहै करम-चूरन करै, क्रम-क्रम पूरन होइ॥ 39॥

जाके घट ऐसी-दसा, साधक ताकौ नाम।

जैसे जो दीपक धरै, सो उजियारौ धाम॥ 40॥

शब्दार्थ :— जगी सुद्ध-समकित-कला= (जिसके अंतस् में) सम्यग्दर्शन की शुद्ध-कला जागृत हुई, बगी मोख-मग जोड़= जो मोक्षमार्ग में ज्योति की तरह जगमगाती है, वहै करम चूरन करै= वही कर्मों को नष्ट करती हुई, क्रम-क्रम पूरन होइ= क्रम-क्रम से पूर्ण होती है॥ 39॥

जाके घट ऐसी-दसा= जिसके अंतरंग में ऐसी दशा होती है, साधक ताकौ नाम= उसी का नाम साधक है, जैसे जो दीपक धरै= जैसे जो दीपक को रखता/जलाता है, सो उजियारौ धाम= उजाला भी उसी के घर में होता है॥ 40॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने सम्यग्दर्शन की महिमा के साथ-साथ सम्यक्त्व से ही क्रमशः ज्ञान की पूर्णता होती है, इस तथ्य को सतर्क-स्पष्ट किया है।

कविवर कहते हैं आत्मानुभवी-जीव के हृदय में जो सम्यग्दर्शन की कला जागृत होती है, वही मोक्षमार्ग को प्रकाशित करती है। ठीक उसीप्रकार जैसे दूज के चंद्रमा की कलायें ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों अंधकार का विनाश होता जाता है, और चंद्रमा का प्रकाश बढ़ता जाता है। और एक दिन चंद्रमा अपने पूर्णत्वरूप (पूर्णिमा का चाँद) को प्राप्त करता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दर्शन की कला अर्थात् परिणामों की विशुद्धि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है; त्यों-त्यों आत्मस्वरूप को ढँकनेवाले कर्म-कृतरूपी-अंधकार का विनाश होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है। इसप्रकार ज्ञान एक दिन अपने पूर्णत्व-स्वरूप या केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

कविवर कहते हैं जिस जीव के अंतरंग में उपरि-वर्णित स्थिति होती है, उसी को साधक या आत्मस्वरूप की साधना करनेवाला कहते हैं; क्योंकि जिस घर में दीपक जलाया जाता है, प्रकाश भी उसी के घर में होता है। कहने का अभिप्राय यही है कि जो जीव साधना करता है, वही साधक कहलाता है; अर्थात् सम्यग्दर्शन का दीपक जिसके अंतरंग में जलता है, केवलज्ञानरूप-प्रकाश की प्राप्ति भी उसी जीव को होती है।

(सवैया इकतीसा)

जाकै घट-अंतर मिथ्यात-अंधकार गयौ, भयौ परगास सुद्ध-समकित-भानकौ।

जाकी मोह-निद्रा घटी ममता-पलक फटी, जान्यौ जिन मरम अवाची-भगवानकौ॥

जाकौ ग्यान-तेज बग्यौ उद्दिम-उदार जग्यौ, लगौ सुख-पोख समरस-सुधा-पानकौ।

ताही सुविचच्छनकौ संसार निकट आयौ, पायौ तिन मारग-सुगम निरवानकौ॥ 41॥

शब्दार्थ :— जाकै घट-अंतर मिथ्यात-अंधकार गयौ= जिसके अंतरंग से मिथ्यात्वरूपी-अंधकार दूर हो गया

चित्पिण्ड-चण्डिमविलासि-विकासहासः, शुद्धप्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभातः।

आनन्द-सुस्थित-सदास्खलितैकरूप-स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा॥ 5॥

है, भयौ परगास सुद्ध-समकित भानकौ= शुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी-सूर्य का प्रकाश हुआ है, जाकी मोह-निद्रा घटी ममता-पलक फटी= जिसकी मोह-निद्रा टूट गई है, ममतारूपी पलकें खुल गयीं हैं, जान्यौ जिन मरम अवाची-भगवानकौ= जिन्होंने वचनातीत भगवान् आत्मा का मर्म जान लिया है, जाकौ ग्यान-तेज बग्यौ उद्दिम-उदार जग्यौ= जिसका ज्ञान का तेज/सूर्य प्रकाशित हुआ है, और तीव्र-पुरुषार्थ जागृत हुआ, लगौ सुख-पोख समरस-सुधा-पानकौ= जो समतारूपी-अमृतरस का पान करके सुख से पुष्ट हुआ, ताही सुविचच्छनकौ संसार निकट आयौ= उसी बुद्धिमान् पुरुष के संसार का अंत नजदीक है, पायौ तिन मारग सुगम-निरवानकौ= उन्हीं को सरल-मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने सम्यग्दर्शन की महिमा को वर्णित करते हुये सम्यग्दृष्टि-जीवों को ही मोक्षमार्ग का सच्चा-पथिक बताया है।

लोक में हम देखते हैं रात्रि का काला-घना-अंधकार भी सुबह सूर्य की पहली किरण के उदित होते ही विलीन हो जाता है। और ज्यों-ज्यों सूर्य अपने प्रचंडरूप में आता है, त्यों-त्यों अंधकार तो पूर्णरूप से विनाश को प्राप्त होता ही है; साथ ही जगत् का प्रत्येक पदार्थ भी स्पष्ट-प्रतिभासित होता है। ठीक उसीप्रकार जिसके हृदय में सम्यग्दर्शनरूपी-सूर्य का उदय होता है, उसका मिथ्यात्वरूपी-अंधकार तो तत्क्षण ही विलीन होता ही है; साथ ही जगत् का प्रत्येक पदार्थ और संयोग अपने वास्तविक-स्वरूप में प्रतिभासित होता है, जिसे देखकर जीव को स्वतः ही अपनी भूल का भान होता है।

अनादिकाल से जीव स्वयं को भूलकर देहादिक-संयोगों से एकत्वरूपी-मोह की चिरनिद्रा में सोया हुआ था, सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य के उदित होते ही ठीक उसीप्रकार जाग जाता है, जैसे लोक में सूर्य के उदय होने पर सारे प्राणी रात्रि की गहरी नींद से जाग जाते हैं। ममता की पलकें खुल गई हैं, अर्थात् अनादि-मोह की नींद खुल गयी है, जिस मोह-ममता के कारण जीव अपने वास्तविक-स्वरूप का अनुभव होने पर भी उसे स्वीकार नहीं करता था, आज न केवल स्वीकार किया; बल्कि प्रत्यक्ष-अनुभव भी किया है। और वचनातीत-भगवान् आत्मा अर्थात् जिस आत्मस्वरूप को उसके अनंत-गुणों को वचनों से वर्णित करना असंभव है; उसके मर्म या वास्तविक-स्वरूप को जान लिया है।

ऐसे सम्यग्दृष्टि-जीव, जिनकी श्रद्धा सम्यक् होने से सम्यग्ज्ञान का तेज सहज-प्रकाशित होता है। जिनके हृदय में तीव्र-पुरुषार्थ जागृत हुआ है, जिन्होंने समतारूपी अमृतरस का पान किया है, अर्थात् आत्मस्वरूप के आनंद का वेदन किया है, उन्हीं जीवों का संसार निकट है, अर्थात् संसार के दुःखों से छूटने का समय अत्यंत-निकट है। ऐसे जीवों को ही जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित सहज-सरल मुक्ति के मार्ग की प्राप्ति होती है, अथवा ऐसे आत्मानुभवी-जीव ही मोक्ष-सुंदरी को वरण करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

जाकै हिरदै में स्याद्वाद-साधना करत, सुद्ध-आतमाकौ अनुभौ प्रगट भयौ है।

जाके संकलप-विकलप के विकार मिटि, सदाकाल एकीभाव-रस परिनयौ है॥

जिन बंध-विधि-परिहार मोख-अंगीकार, ऐसौ-सुविचार पच्छ सोऊ छाँड़ि दयौ है।

ताकौ ग्यान-महिमा उदोत दिन-दिन प्रति, सोही भवसागर-उलंघि पार गयौ है॥ 42॥

शब्दार्थ :— जाकै हिरदै में स्याद्वाद-साधना करत= जिसके हृदय में स्याद्वाद का अभ्यास करने से, सुद्ध-

स्याद्वाद-दीपित-लसन्महसि प्रकाशे, शुद्धस्वभाव-महिमन्युदिते मयीति।

किं बन्धमोक्ष-पथ-पातिभिरन्यभावै- नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः॥ 6॥

आतमाकौ अनुभौ प्रगट भयौ है= शुद्ध-आत्मा का अनुभव प्रगट हुआ है, जाके संकल्प-विकल्प के विकार मिटि= जिसके संकल्प-विकल्प के विकार नष्ट हो गए हैं, सदाकाल एकीभाव-रस परिणयौ है= हमेशा स्वरूप से एकरसपने का भाव परिणित हुआ है, जिन बंध-विधि-परिहार मोख-अंगीकार= जिसने बंध-विधि के त्याग और मोक्ष को अंगीकार, ऐसौ-सुविचार-पच्छ सोऊ छाँड़ि दयौ है= ऐसे उत्तम-विचार का पक्ष लेना भी छोड़ दिया है, ताकौ ग्यान-महिमा उदोत दिन-दिन प्रति= उसके ज्ञान की महिमा दिन-प्रतिदिन प्रकाशित हो रही है, सोही भवसागर उलंघि पार गयौ है= वही संसार-समुद्र को पारकर किनारे पर पहुँच सकता है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने सम्यग्ज्ञान की महिमा को वर्णित करते हुए यह भी स्पष्ट किया कि सम्यग्ज्ञानी-जीव ही भवसमुद्र से पार हो सकता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि-जीव स्याद्वाद के माध्यम से वस्तु का सम्यक्-स्वरूप समझकर स्व-पर का भेदज्ञान करते हुये शुद्ध-स्वरूप का अनुभव करता है, अर्थात् निज-स्वरूप के आनंद का रसास्वादन करता है। जब जीव को आत्मिक-आनंद का वेदन होता है, तब वह जीव उसके रस में इतना निमग्न हो जाता है कि पर-संबंधी ही नहीं स्व-संबंधी भी समस्त संकल्प-विकल्पों का अभाव हो जाता है। सदाकाल या प्रतिसमय एकमात्र ज्ञान-स्वभाव का ही रस परिणत होता है अर्थात् 'मैं जाननहार हूँ'— ऐसा अभ्यास निरन्तर चलता है।

ऐसे सम्यक्-श्रद्धानी और ज्ञानी-जीव के बंध-विधि अर्थात् कर्मों के बंधरूप-विकल्प का त्याग और मुक्ति को अंगीकार करना यानि 'मुझे मोक्ष प्राप्त करना है'— इस विकल्प का भी त्याग सहज ही वर्तता है। जिसके ज्ञान की महिमा दिन-प्रतिदिन उन्नत हो रही है अर्थात् परिणामों की निरन्तर विशुद्धि, कर्म-प्रकृतियों का क्षय, स्वरूप में स्थिरता का बढ़ना— ये सब ज्ञान की ही तो महिमा है। ऐसे ज्ञानी-जीव ही संसाररूपी-समुद्र को पारकर किनारे पर आने और मुक्ति-महल में प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं।

इस-छंद में दो विशेष-शब्द प्रयुक्त हुये संकल्प और विकल्प। संकल्प अर्थात् दृढ़ता और विकल्प अर्थात् विचार। वैसे तो ये दोनों ही सामान्य से शब्द हैं, पर वास्तव में इनका अर्थ बहुत गहरा है। अभी तक इन शब्दों का प्रयोग बुरे-संदर्भ में ही प्रयुक्त होता आया है, परन्तु यदि शब्दार्थ की दृष्टि से देखें, तो ये ही वे शब्द हैं, जिनसे मिथ्यात्व का भी पोषण होता है, और सम्यक्त्व का भी। कैसे?

मिथ्यात्व का पोषण— संकल्प यानि दृढ़ता, पूर्ण-स्वीकृति। वर्तमान में मेरी दृढ़ता है कि 'मैं रंजना हूँ'— यह तो हुआ संकल्प और स्वयं को रंजना स्वीकार करते ही रंजना या शरीर से संबंधित अनगिनत-परिणामों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह है, विकल्प। ऐसा चिंतन मिथ्यादृष्टि-जीव को प्रतिसमय चलता है। इसीलिये मिथ्यादृष्टि-जीव सारे दिन इन संकल्प-विकल्पों के फल में अनंत-संसार का बंध करके अनंत-दुःखों का सृजन करता है।

ऐसा नहीं है कि ये संकल्प-विकल्प केवल मिथ्यादृष्टि-जीव ही करता है। सम्यग्दृष्टि-जीव भी संकल्प और विकल्प करता है। लेकिन वहाँ उसकी दृष्टि सम्यक् होने से इन संकल्प-विकल्पों का स्वरूप भिन्न है। कैसे?

सम्यक्त्व का पोषण— सम्यग्दृष्टि जीव का यह दृढ़-श्रद्धान है कि 'मैं आत्मा हूँ'— यह हुआ 'संकल्प' और ऐसा निर्णय होते ही आत्मस्वरूप का चिंतन, मनन और लीनता के पुरुषार्थरूप जो परिणाम हुये, वह है 'विकल्प'। लेकिन दृष्टि सम्यक् होने से सम्यग्दृष्टि-जीव इन्हीं संकल्प-विकल्पों के फल में अनंत-संसार के घोर-दुःखों से छूटकर सच्चे-सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

और जो जीव इन संकल्प-विकल्पों से रहित निर्विकल्प-आत्मस्वरूप का वेदन करते हैं, वे जीव केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से सुशोभित होते हैं।

आगम का अटूट-सिद्धांत है— "आत्मा पर द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है।" सुनकर यकीन नहीं होता, और प्रतिसमय कर्तृत्व का बोझ सिर पर सवार रहता है। लेकिन सच तो यही है कि आत्मा इन संकल्प-विकल्पों के अलावा कुछ कर ही नहीं सकता है। आज तक जितना भी कर्मों का बंधन इस जीव ने किया, और इन कर्मों से छूटने का जो पुरुषार्थ इस जीव ने किया वह सब इन संकल्प-विकल्पों का ही फल है। हे आत्मन्! अब तो इन संकल्प-विकल्पों से छूटने का सुअवसर आया है। 'माँ जिनवाणी' पग-पग पर सचेत करती है—

"कितने भव बीत चुके, संकल्प-विकल्पों में।

जिया कब तक उलझेगा, संसार-विकल्पों में॥"

(हम सभी इन मिथ्या संकल्प-विकल्पों को छोड़कर अपने स्वरूप का निर्णयरूपी 'संकल्प' और स्वरूप का चिंतन-मननरूपी 'विकल्पों' से सुख का मार्ग प्रशस्त करते हुये निर्विकल्प-आत्मस्वरूप में लीनतारूपी पुरुषार्थ की ओर अग्रसर हों, यही भावना है।)

(सवैया इकतीसा)

अस्तिरूप-नासति अनेक-एक थिररूप-अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहियै।

दीसै एक-नैकी प्रतिपच्छी न अपर दूजी, नैकी न दिखाइ वाद-विवादमैं रहियै॥

थिरता न होइ विकलप की तरंगनिमैं, चंचलता बढ़ै अनुभौ-दसा न लहियै।

तातैं जीव अचल-अबाधित-अखंड-एक, ऐसौ पद साधिकै समाधि-सुख गहियै॥ 43॥

शब्दार्थ :— अस्तिरूप-नासति अनेक-एक थिररूप-अथिर= अस्तिरूप-नास्तिरूप, एकरूप-अनेकरूप, स्थायीरूप-अस्थायीरूप, इत्यादि नानारूप-जीव कहियै= इत्यादि विविध-प्रकार जीव के कहे गए हैं, दीसै एक-नैकी= एक-नय से एकरूप दिखे, प्रतिपच्छी न अपर दूजी= दूसरा विपरीत-पक्ष न दिखे, नैकी न दिखाइ वाद-विवादमैं रहियै= नय से न देखें, तो वाद-विवाद में रहना होता है, थिरता न होइ विकलप की तरंगनिमैं= विकल्पों के जाल में स्थिरता नहीं रहती, चंचलता बढ़ै= चंचलता/व्यग्रता बढ़ती है, अनुभौ-दसा न लहियै= अनुभव की स्थिति प्राप्त नहीं होती, तातैं जीव अचल-अबाधित-अखंड-एक= इसलिये जीव को शाश्वत-बाधारहित-खंडरहित-एकरूप, ऐसौ पद साधिकै= ऐसा पद ग्रहणकर, समाधि-सुख गहियै= समाधि-सुख प्राप्त करना चाहिये।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने नयों की विवक्षा से रहित निर्विकल्प-आत्मानुभूति को ही न केवल सर्वश्रेष्ठ कहा, बल्कि प्रयोजनभूत भी कहा; क्योंकि विकल्प कैसा भी हो आनंद की अनुभूति में बाधक ही है।

सामान्यतः द्रव्य-अपेक्षा जीव-पदार्थ का कोई भेद नहीं है, वह तो ज्ञानादि-अनंत-गुणों का पिण्ड, अभेद, त्रिकाल, एक, शाश्वत द्रव्य है। लेकिन पर्याय-अपेक्षा जीव के कई-रूप परिलक्षित होते हैं, और इन सभी-रूपों का एकसाथ कथन करना असंभव है। इसलिये जीव के इन सभी-रूपों का कथन करने के लिए आचार्यों ने नयों की विवक्षा से कथन किया है, ताकि अभेद-आत्मवस्तु के सभी भेदों का सहजता

चित्रात्मशक्ति-समुदायमयोऽयमात्मा, सद्यः प्रणश्यति नयेक्षण-खण्डयमानः।

तस्मादखण्डमनिराकृत-खण्डमेक-मेकान्त-शान्त-मचलं चिदहं महोऽस्मि॥ 7॥

से वर्णन करना भी संभव हो, और कोई विवाद भी खड़ा न हो। नयों की दृष्टि से विचार करें, तो एक-नय जीव की अस्तिपने या जीव-पदार्थ अपने स्वचतुष्टय से विद्यमान है— ऐसा कथन करता है, तो दूसरा-नय जीव के नास्तिपने या पर-चतुष्टय का जीव में प्रवेश नहीं है— इस अपेक्षा से कथन करता है।

द्रव्य-अपेक्षा जीव का त्रिकाल एक ही रूप है, लेकिन पर्याय-अपेक्षा चार-गति चौरासी-लाख योनियों में भ्रमण करते हुए जीव के अनेकरूप हैं। द्रव्य-अपेक्षा जीव थिर या शाश्वत है अर्थात् जीव का कभी क्षय नहीं होता; परन्तु पर्याय-अपेक्षा जीव जन्म-मरण से सहित होने से अधिर है अर्थात् विनाश को प्राप्त होता है। द्रव्य-अपेक्षा जीव अबंध है, यहाँ तक कि आज तक कर्मों ने उसे स्पर्श भी नहीं किया, जबकि पर्याय-अपेक्षा देखा जाये; तो चारों-गतियों में जीव का परिभ्रमण कर्म-बंध और उदय का ही परिणाम है। द्रव्य-अपेक्षा जीव अनंतज्ञान का धारी है, जबकि पर्याय-अपेक्षा जीव अपने ही स्वरूप से आज तक अनजान होने के कारण महा-अज्ञानी है।

इसप्रकार जीव परस्पर-विरुद्ध अनेक-शक्तियों का धारी है। इसीलिए जब एक-पक्ष से कथन किया जाता है, तब दूसरे-पक्ष को गौण करते हैं, और ऐसा करने के लिये नयों के माध्यम से कथन किया जाता है। लेकिन यदि एक-नय का कथन हो और उसके प्रतिपक्षी दूसरे-नय का कथन न हो, तो विवाद खड़ा होता है। इसलिए पदार्थ के स्वरूप को समझने के लिए नयों की विवक्षा को समझना आवश्यक है, लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि यदि हम नयों की विवक्षा में ही उलझे रहेंगे, तो अनुभूति का आनंद कभी प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि जैसे समुद्र में उठनेवाली तरंगों/लहरों का कोई अंत नहीं है, ठीक उसीप्रकार चित्त में उठनेवाले विकल्पों का भी कोई अंत नहीं है। जितना हम विकल्पों के मायाजाल में उलझते जाते हैं, उतनी ही उपयोग की चंचलता बढ़ती जाती है, स्थिरता नहीं रहती। और जबतक उपयोग में स्थिरता नहीं आती, तबतक अनुभव की स्थिति भी नहीं बनती। जैसे पानी में हमें अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, परन्तु कब? जब पानी निर्मल और शांत हो, चंचल-लहरों के चलते हमें अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, ठीक उसीप्रकार आत्मानुभूति के काल में भी साधक को निजात्मा ही अनुभव में आता है, परन्तु कब? जब उपयोग विकारों की मलिनता से रहित निर्मल और विकल्पों की चंचलता से रहित शांत हो।

इसीलिए कविवर कहते हैं कि जीव को आत्मानुभूति करने के लिये चंचलता-रहित, कर्मकृत-बाधाओं से रहित, अखंड, शाश्वत, त्रिकाली, ध्रुव एकमात्र ज्ञायक-भगवान्-आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए। और फिर उसी में लीनता का पुरुषार्थ कर समाधि-सुख प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि आत्मानुभूति निर्विकल्प ही होती है, विकल्पों के रहते आत्मिक-आनंद की अनुभूति कभी नहीं होती।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं एक पाकौ-आंबफल, ताके चार-अंस, रस-जाली-गुठली-छीलक जब मानियै।

यौतौ न बनै पै ऐसे बनै जैसै वहै फल, रूप-रस-गंध-फास अखंड प्रमानियै॥

तैसै एक-जीव कौ दरब-खेत-काल-भाव, अंस-भेदकरि भिन्न-भिन्न न बखानियै।

दर्वरूप-खेत-रूप-कालरूप-भावरूप, चारौरूप अलख-अखंड-सत्ता मानियै॥ 44॥

शब्दार्थ :— जैसैं एक पाकौ-आंबफल= जैसे एक पका हुआ आम का फल, ताके चार-अंस= उसके चार अंश हैं, रस-जाली-गुठली-छीलक जब मानियै= रस, जाली, गुठली और छिलका (अभिन्न हैं)= ऐसा मानते हैं, यौतौ न बनै पै ऐसे बनै= परन्तु ऐसा नहीं है, ऐसा है, जैसै वहै फल= जैसे वही फल, रूप-रस-गंध-फास अखंड प्रमानियै= रूप, रस, गंध और स्पर्श उससे अभिन्न है— ऐसा मानना चाहिए, तैसै एक जीव कौ= उसीप्रकार एक-

जीव के, दरब-खेत-काल-भाव= द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, अंस-भेदकरि भिन्न-भिन्न न बखानियै= अंश-भेद हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न नहीं कहे गये, दर्वरूप-खेतरूप-कालरूप-भावरूप= द्रव्यरूप, क्षेत्ररूप, कालरूप, भावरूप, चारौरूप अलख अखंड-सत्ता मानियै= ये चारों रूप (आँखों से दिखाई नहीं देनेवाली) आत्मा की अखंड-सत्ता मानो।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने आत्मस्वभाव की अखंडता का उदाहरण-सहित स्पष्टीकरण किया है।

प्रत्येक आत्मवस्तु अपने स्वचतुष्टय या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप से स्वतंत्ररूप में विद्यमान है। न तो उन स्वचतुष्टय को आत्मा से अलग किया जा सकता है, और न ही किसी अन्य-द्रव्य के चतुष्टय का किसी अन्य द्रव्य में प्रवेश संभव है। कहने का अभिप्राय यही है कि इन-चतुष्टयों का भेदरूप-कथन तो संभव है, परन्तु ये वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। जैसे एक पका हुआ आमफल है, उसके चार अंश हैं— रस, जाली, गुठली और छिलका। यद्यपि ये चारों ही आम के साथ ही उत्पन्न होते हैं, उसके अंदर समाहित हैं, परन्तु फिर भी हम इन चारों को आम से अलग कर सकते हैं; क्योंकि ये आम से अभिन्न दिखते हुये भी भिन्न हैं। लेकिन आम का जो स्पर्श-रस-गंध और वर्ण नाम के गुण हैं, उसे हम किसी भी कीमत पर आम से अलग नहीं कर सकते हैं; क्योंकि ये आमरूपी पुद्गल-द्रव्य के स्व-गुण हैं।

ठीक उसीप्रकार आत्म-वस्तु के स्वचतुष्टय रस, जाली, गुठली और छिलके की तरह नहीं है; जो उससे अलग किये जा सकें, बल्कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की तरह अभिन्न हैं; जोकि उससे अलग नहीं किये जा सकते हैं। प्रत्येक आत्मवस्तु इन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्व-चतुष्टय से सदाकाल अखंडित विद्यमान है।

जैसे मैं अनंत-ज्ञानादि-गुणों का पिण्ड जीव द्रव्य, अपने स्वक्षेत्र अर्थात् अनंत निज-आत्म-प्रदेशों में विद्यमान, स्वकाल अर्थात् अनादि-अनंत शाश्वत, और स्व-भाव अर्थात् अपने जानन-स्वभावरूप से सदाकाल अखंड विद्यमान हूँ। इनसे मुझे कोई अलग नहीं कर सकता, जैसे कि क्या कोई अग्नि से उसकी उष्णता, जल से उसकी शीतलता, चीनी से उसकी मिठास, नमक से उसका खारापन अलग कर सकता है? नहीं, कभी नहीं। ठीक उसीप्रकार आत्मवस्तु से उसके गुण, उसके प्रदेश, अविनाशीपना, उसका जानन-स्वभाव कभी अलग नहीं किया जा सकता है। इसीलिये आत्मसत्ता अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सदैव अभिन्न है, अखंड है।

(सवैया इकतीसा)

कोऊ ग्यानवान कहै "ग्यान तौ हमारौ रूप, ज्ञेय षट्-दर्ब सो हमारौ रूप नांही है।

एक-नै-प्रवांन ऐसै दूजी अब कहूँ जैसै, सरस्वती अक्खर-अरथ एक-ठाहीं है"॥

तैसै ग्याता मेरौ नाम, ग्यान-चेतना विराम, ज्ञेयरूप-सकति अनंत मुझ-पांही है।

आ कारन वचन के, भेद 'भेद' कहै कोऊ, ग्याता-ग्यान-ज्ञेयकौ विलास सत्ता-माँही है ॥ 45 ॥

शब्दार्थ :— कोऊ ग्यानवान कहै ग्यान तौ हमारौ रूप= कोई बुद्धिमान् व्यक्ति कहे ज्ञान तो हमारा रूप है, ज्ञेय षट्-दर्ब सो हमारौ रूप नांही है= ज्ञेयरूप जो छहों-द्रव्य हैं, वह मेरा रूप नहीं है, एक-नै-प्रवांन ऐसै दूजी

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेय-ज्ञानमात्रः स नैव।

ज्ञेयो ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोल-वल्गुन्, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमद् वस्तुमात्रः ॥ 8 ॥

अब कहूँ= (कवि का कथन) यह कथन एक नय (व्यवहार नय) से है, दूसरा (निश्चय नय का) कथन इसप्रकार है, जैसे सरस्वती अक्खर-अरथ एक-ठाहीं है= जैसे शास्त्र में अक्षर और अर्थ एक ही स्थान पर रहते हैं, तैसेँ ग्याता मेरौ नाम ग्यान-चेतना विराम= वैसे ही ज्ञाता मेरा नाम है, और ज्ञानचेतना में ही मर्यादित हूँ, ज्ञेयरूप-सकति-अनंत मुझ पांही है= ज्ञेयरूप अनंत-शक्ति मेरे अंदर ही विद्यमान है, आ-कारन वचन के भेद, 'भेद' कहै कोऊ= इसकारण से वचन के भेद को कोई भले ही भेदरूप कहे, (किन्तु) ग्याता-ग्यान-ज्ञेयकौ विलास सत्ता माँही है= ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की उपस्थिति/युगपत् विद्यमानता आत्मसत्ता में ही है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने 'ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप-परिणामन करने की सामर्थ्य एकमात्र आत्मा में ही है'— इस सत्य का उदाहरण-सहित सुंदर-स्पष्टीकरण किया है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से क्या अभिप्राय है? 'ज्ञाता' अर्थात् जाननेवाला, 'ज्ञान' अर्थात् जानने की सामर्थ्य, और 'ज्ञेय' अर्थात् जो जानने में आता है। कई ज्ञानवान् या बुद्धिमान् जीव ऐसा मानते हैं कि 'ज्ञाता तो मैं हूँ, और ज्ञान या जाननरूप-स्वभाव भी मेरा ही है; परन्तु जो ज्ञेयरूप छहों-द्रव्य जानने में आते हैं, ये मेरा रूप नहीं है'।

उन जीवों को संबोधित करते हुए कविवर कहते हैं कि "भाई! तेरा ये कथन व्यवहारनय से तो सही है, परन्तु निश्चयनय से आत्मवस्तु का स्वरूप इसप्रकार है"— जैसे शास्त्र में शब्द और उस शब्द का अर्थ एक ही स्थान पर होते हैं, दो भिन्न स्थानों पर नहीं, जैसे 'आ' और 'म' इन दो अक्षरों से बनने वाला शब्द 'आम' और इस शब्द का अर्थ/वाच्यार्थ— दोनों इसी में निहित हैं। ऐसा नहीं है कि अक्षर/शब्द तो यहाँ और वाच्यार्थ उस आम नामक पदार्थ में हो। 'आम' नामक पदार्थ तो भिन्न है, पर उस शब्द का अर्थ उस शब्द से भिन्न नहीं है। ठीक उसीप्रकार 'ज्ञाता' अर्थात् जाननेवाला आत्मा है, और 'ज्ञान/जानना' उसका स्वभाव है, और 'ज्ञेय' अर्थात् जो जानने में आता है, वह भी उसका 'स्वयं का ज्ञान' ही है, कहने का अभिप्राय यही है कि किसी भी पदार्थ को जानने के लिये ज्ञान कभी उस पदार्थ में प्रवेश नहीं करता; बल्कि ज्ञान हमेशा ज्ञेयाकाररूप-परिणमित अपने ज्ञान को ही जानता है। ठीक उसीप्रकार जैसे आँख किसी पदार्थ को देखती है, अर्थात् आँख में पाये जानेवाले रेटिना के परदे पर उसकी स्वयं की योग्यता से जानने में आनेवाले पदार्थ का चित्र बनता है, और आँख उस चित्राकार को ही देखती है, न कि उस पदार्थ में प्रवेश करती है। इसीलिए एक अंधा-व्यक्ति किसी भी पदार्थ को देखने में असमर्थ होता है; क्योंकि उसकी आँख में वह ज्योतिरूप सामर्थ्य नहीं होती, जिससे आँख के पर्दे पर वह चित्र बन सके।

इसीलिए कवि ने कहा कि 'ज्ञाता' मेरा नाम है, और 'ज्ञानचेतना' ये मेरी चेतना का ही प्रकार है, और ज्ञेयाकाररूप-परिणामन होने की शक्ति अर्थात् जानने में आनेवाले ज्ञेयाकाररूप भी मेरे में ही हैं, अर्थात् ये तीनों रूप मेरे ही हैं, और अभेद हैं। वचनों से वर्णित करने पर भेदरूप-कथन भले ही हो, परन्तु वास्तव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों की अखंडता मुझ आत्मसत्ता में ही विद्यमान है, अन्य किसी में नहीं।

(चौपाई)

स्व-पर-प्रकासक-सकति हमारी, तातैं वचन-भेद भ्रम-भारी।

ज्ञेय-दशा दुविधा-परगासी, निजरूपा-पररूपा भासी॥ 46॥

(दोहा)

निजरूपा आतम-सकति, पररूपा पर-वस्त।

जिन लखि लीनौ पैंच यह, तिन लखि लियौ समस्त॥ 47॥

शब्दार्थ :— स्व-पर-प्रकाशक-सकति हमारी= हमारी (ज्ञान) शक्ति स्व और पर को प्रकाशित करनेवाली है, तातैं वचन-भेद भ्रम-भारी= इसीलिए वचन-भेद बहुत-भ्रमित करता है, ज्ञेय-दशा दुविधा-परगासी= ज्ञेय की स्थिति दो तरह की प्रतीतिगोचर है, निजरूपा पररूपा भासी= स्वज्ञेय (निजरूप से प्रकाशित होनेवाला) और परज्ञेय (पररूप से प्रकाशित होनेवाले) ॥ 46 ॥

निजरूपा आत्म-सकति= आत्मशक्ति स्व-रूपवाली है, पररूपा पर-वस्तु= और पर-रूप जगत् के सभी पदार्थ हैं, जिन लखि लीनौ पेंच यह= जिन जीवों ने इस मर्म को पहचान लिया, तिन लखि लियौ समस्त= उन जीवों ने (मानो) सब कुछ जान लिया ॥ 47 ॥

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने पिछले-छंद में वर्णित-सत्य को और अधिक-स्पष्ट करते हुए सिद्ध किया कि यदि ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है, तो ज्ञेय को जाननेरूप भ्रम की स्थिति उत्पन्न ही क्यों होती है?

षट्द्रव्यमयी इस लोक में एकमात्र जीवद्रव्य अनंत-ज्ञान का धनी है। और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशी है, अर्थात् ज्ञान 'स्वज्ञेय' निजात्मा की प्रसिद्धि तो करता ही है, साथ ही 'परज्ञेय' या जगत् के सभी पदार्थों की भी प्रसिद्धि करता है। लेकिन इसके लिये ज्ञान उन पदार्थों में प्रवेश नहीं करता, बल्कि ज्ञान की निर्मलता में सहज ही पदार्थ प्रकाशित होते हैं; ठीक उसीप्रकार जैसे दर्पण की निर्मलता में पदार्थ स्वयं ही झलकते हैं, दर्पण उन पदार्थों को झलकाने का प्रयास नहीं करता, वह तो अपने निर्मल-स्वभाव को कायम रखता है।

उसीप्रकार ज्ञान भी पदार्थों को जानता नहीं है, वह तो अपने ज्ञान को ही जानता है; पर ज्ञान के स्व-पर-प्रकाशी-स्वभाव और निर्मलता के कारण पदार्थों का सहज-ज्ञानपना होता है। जैसे दीपक अपने स्थान पर स्वयं ज्योतिरूप-परिणमित होता है; परन्तु उसके प्रकाश में स्वयं दीपक भी और उसके संपर्क में आनेवाले सभी पदार्थ सहज, स्वयं ही प्रकाशित होते हैं, दीपक उन पदार्थों को प्रकाशित करने का भाव नहीं रखता। यह एक सहज-प्रक्रिया है; लेकिन अज्ञानी-जीव इस सत्य से अपरिचित होने के कारण भ्रमित हो जाता है और कहता है कि "ज्ञान ज्ञेयों को जानता है।" इतना ही नहीं, वह तो यहाँ तक भी कहता है कि "ज्ञेयों से ही ज्ञान होता है।" जबकि ज्ञानी-जीव को ज्ञान-स्वभाव की सत्यता से सुपरिचित होने के कारण भ्रम की गुंजाइश ही नहीं रहती।

इसीलिए कवि ने कहा है कि स्वज्ञेय आत्मशक्ति है, और परज्ञेय जगत् के समस्त-पदार्थ हैं, और ज्ञान स्व-पर-प्रकाशी-स्वभावी होने के कारण दोनों को सहज-प्रकाशित करता है। जिन जीवों ने इस पेंच अर्थात् रहस्य या मर्म को जान लिया, उन ज्ञानी-जीवों ने संपूर्ण-जगत् के पदार्थों को जान लिया; और जो इस सत्य से अपरिचित रहे, वे अज्ञानी-जीव भ्रमित हो गए।

(सवैया इकतीसा)

करम-अवस्थामैं असुद्धसौं विलोकयित, करम-कलंकसौं रहित सुद्ध-अंग है।

उभै-नै प्रवांन समकाल सुद्धासुद्ध-रूप, ऐसौ परजाइधारी-जीव नाना-रंग है॥

एकही समै-मैं त्रिधारूप, पै तथापि याकी, अखंडित-चेतना-सकति सरवंग है।

यहै स्यादवाद याकौ भेद स्यादवादी जानै, मूरख न मानै जाकौ हियौ दृग-भंग है॥ 48 ॥

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं, क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।

तथापि न विमोहयत्यमल-मेधसां तन्मनः, परस्पर-सुसंहत-प्रकट-शक्तिचक्रं स्फुर्त् ॥ 9 ॥

शब्दार्थ :— कर्म-अवस्थामैं असुद्धसौं विलोकयित= कर्म से संयुक्त-अवस्था में अशुद्धनय से आत्मा अशुद्ध जैसा दिखता है, कर्म-कलंकसौं रहित सुद्ध-अंग है= (शुद्धनय से) कर्म के कलंक से रहित आत्मा (उसी समय) शुद्ध-स्वरूपी है, उभै-नै प्रवांन समकाल सुद्धासुद्ध-रूप= उभयनय अर्थात् दोनों-नयों से युगपत् देखें, तो एक ही काल में शुद्धाशुद्धरूप है, ऐसौ परजाइधारी-जीव नाना-रंग है= इसप्रकार पर्याय-सहित-जीव के अनेकरूप हैं, एकही समै-मैं त्रिधारूप पै तथापि याकी= एक ही समय में तीनरूप हैं, परन्तु फिर भी इसकी, अखंडित-चेतना-सकति सरवंग है= अखंडित चेतना-शक्ति सर्वांग में समान है, यहै स्यादवाद याकौ भेद स्यादवादी जानै= यही स्याद्वाद है, इसका मर्म स्याद्वादी ही जानते हैं, मूरख न मानै जाकौ हियौ-दुगभंग है= जिसके हृदय में नयदृष्टि ही खंडित है, वे अज्ञानी इस बात को नहीं मानते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने स्याद्वाद की दृष्टि से विविध-अपेक्षाओं द्वारा जीव के नानारूपों का यथार्थ-चित्रण किया है। छह-द्रव्यों के समूह इस विश्व में सभी द्रव्य स्वभाव-अपेक्षा अनादि-अनंत हैं। जीव-द्रव्य भी अनादिकाल से है, और आठ-कर्मों के साथ है। लेकिन आश्चर्य की बात ये है कि कर्मों के साथ रहते हुये भी पूर्ण-शुद्ध है,— इस सत्य को हमारे केवली-भगवंतों ने प्रत्यक्षतः प्रमाणित भी किया है। यहाँ कवि ने कर्मसहित-अशुद्ध, कर्मरहित-शुद्ध और एक ही काल में शुद्ध भी और अशुद्ध भी— ऐसे जीव के विविधरूपों को वर्णित किया है।

व्यवहार-नय की अपेक्षा कर्मस्थ-जीव अशुद्ध है, क्योंकि अभी उसने अपने शुद्ध-स्वभाव को नहीं पहिचाना है, और जबतक ऐसी स्थिति रहती है, तबतक जीव उन कर्मों के आकर्षण में मोहित होकर तदनुरूप-आचरण करता है, और सुख-स्वभावी होते हुये भी दुःख का वेदन करता है। इसलिए इस अपेक्षा व्यवहार-नय जीव को 'अशुद्ध' कहता है।

जब जीव स्व-पर में भेदज्ञान करके, अपने शुद्ध-स्वभाव का आश्रय लेता है, तो जीव अपने वास्तविक शुद्ध-स्वरूप को जो अनादि से ही शुद्ध था, उसका अनुभव करता है। इसीलिये निश्चयनय अनादि से ही शुद्ध-जीव को वर्तमान में भी शुद्ध ही कहता है।

और यदि इन दोनों नयों से एकसाथ विचार करें, तो जीव एक ही काल में शुद्धाशुद्ध अर्थात् वर्तमान में द्रव्य-दृष्टि/स्वभाव से शुद्ध और पर्याय-दृष्टि से अशुद्ध दिखाई देता है। इसप्रकार एक ही जीव विविध-अपेक्षाओं से विविधरूपों में दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि एक ही जीव एक ही समय में शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध तीन रूपों में दिखाई देता है, परन्तु जीव के इन तीनों रूपों में चेतनत्व-शक्ति अखंडरूप से सर्वांग में विद्यमान रहती है। इस मर्म को या वस्तु के इस सत्य-स्वरूप को स्याद्वादी ही समझ सकते हैं, हृदय के अंधे अर्थात् नय-दृष्टि से विहीन अज्ञानी-जीव इस सत्य को कभी नहीं समझ सकते।

(सवैया इकतीसा)

निहचै दरवद्रिष्टि दीजै तब एक-रूप, गुन-परजाइ-भेद-भावसौं बहुत है।

असंख्य-परदेस-संजुगत सत्ता-परमान, ग्यानकी प्रभासौं लोकालोक-मानयुत है॥

परजै-तरंगनिके अंग छिनभंगुर है, चेतना-सकतिसौं अखंडित-अचुत है।

सो है जीव जगत-विनायक जगत-सार, जाकी मौज-महिमा अपार-अदभुत है॥ 49॥

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-मितः क्षणविभङ्गरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।

इतः परम-विस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥ 10॥

शब्दार्थ :— निहचै दरवद्रिष्टि दीजै तब एकरूप= निश्चय से, द्रव्यदृष्टि से देखें तब आत्मा एकरूप ही है, किन्तु गुण-परजाइ-भेद-भावसौं बहुत हैं= गुण-पर्यायों के भेद की अपेक्षा से अनेकरूप है, असंख्य-परदेस-संजुगत सत्ता-परमान= (प्रदेश अपेक्षा) असंख्य-प्रदेशों से सहित, (क्षेत्र अपेक्षा) सत्ता-प्रमाण है, ग्यानकी प्रभासौं लोकालोक-मानयुत है= ज्ञान की प्रभा (ज्ञान-स्वभाव की सामर्थ्य) से लोकालोक-प्रमाण-सहित है, परजै-तरंगनिके अंग छिनभंगुर है= पर्याय की तरंगों/परिवर्तनों की दृष्टि से जीव क्षणभंगुर है, चेतना-सकतिसौं अखंडित-अचुत है= चेतनत्व-शक्ति से अखंडित, स्वभाव से अच्युत/अविचल है, सो है जीव जगत-विनायक जगतसार= सो जीव जगत् में प्रथम-पूजनीय है, जगत्/लोक में सारभूत है, जाकी मौज-महिमा अपार-अदभुत है= जिसके आनन्द/सुख की महिमा अपार और अद्भुत है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने विविध-अपेक्षाओं से जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए आत्मतत्त्व को संपूर्ण-जगत् में एकमात्र सारभूत-तत्त्व बताकर महिमा-मंडित किया है।

निश्चय या द्रव्यदृष्टि से कहें तो जीवात्मा अनंत-ज्ञानादि-गुणों का पिण्ड, अजर-अमर-शाश्वत, सर्वत्र एकरूप से विद्यमान है; लेकिन गुणों के भेद और पर्याय के भेद की अपेक्षा अनेकरूप है। अर्थात् गुणभेद और पर्यायभेद के भेद-विकल्पना (ज्ञान-दर्शनादि गुणभेद एवं अर्थ-व्यंजनादि पर्यायभेद की अपेक्षा) से अनेकरूप कहा गया है। आत्मप्रदेशों की संख्या-अपेक्षा जीव असंख्यात-प्रदेशी है, और क्षेत्र की अपेक्षा सत्ता-प्रमाण है, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की अपेक्षा लोकालोक-प्रमाण है, अर्थात् संपूर्ण लोक और अलोक को एकसमय में जानने की सामर्थ्य रखता है। (यद्यपि आत्मा की ज्ञान-पर्याय एकसमय में ऐसे अनंत-लोकालोकों को भी जानने की सामर्थ्य रखती है, किन्तु लोकालोक सीमित अर्थात् एक लोकाकाश में संस्थित लोक एवं अलोकाकाशरूप अलोक— इतना ही लोकालोक होने से ज्ञान को लोकालोक-परिमित कहा गया है।)

पर्याय की अपेक्षा क्षणभंगुर है, ठीक उसीप्रकार जैसे समुद्र में उठनेवाली लहरें क्षण-क्षण में समुद्र में विलय को प्राप्त होती हैं; वैसे ही जीव एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय, दूसरी के तीसरी पर्याय— इसप्रकार अनंत-पर्यायों में परिणमित होने के कारण क्षणभंगुर/परिवर्तनशील है।

इतने रूपों की विविधता होने पर भी चैतन्य-शक्ति की अपेक्षा जीव इन समस्त भेदों/खण्डों से रहित अखंडित और अपने ज्ञाता-दृष्टा-स्वभाव से अचल है, अर्थात् किसी भी पर्याय में रहे, जीव ने अपना ज्ञान-स्वभाव आज तक कभी नहीं छोड़ा। ऐसा वह परमोत्कृष्ट-जीवात्मा संपूर्ण-जगत् का शिरोमणि है, पूजनीय है, सारभूत है; क्योंकि कषायों की ताप से संतप्त-जीवों को शीतलता प्रदान करने के लिये इस असार-संसार में एकमात्र प्रयोजनभूत-तत्त्व आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। जिसके आनन्द/सुख की महिमा अपरम्पार और अद्भुत है, क्योंकि जिस सुख की संसार में कोई उपमा नहीं ऐसे अनुपम-अतीन्द्रिय-सुख का धनी एकमात्र मैं शुद्धात्मा हूँ।

(सवेया इकतीसा)

विभाव-सकति-परनतिसौं विकल-दीसै, सुद्ध-चेतना-विचारतैं सहज-संत है।

करम-संजोगसौं कहावै गति-जोनि-वासी, निहचै-सुरूप सदा मुक्त-महंत है॥

ज्ञायक-सुभाऊ धरै लोकालोक-परगासी, सत्ता-परवांन सत्ता-परगासवंत है।

सो है जीव जानत-जहान कौतुक-महान, जाकी कीरति-कहान अनादि-अनंत है॥ 50॥

कषाय-कलिरैकतः स्खलति शान्तिरस्त्यैकतो, भवोपहतिरैकतः स्पृशति मुक्तिरप्यैकतः।

जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्यैकतः, स्वभाव-महिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥ 11॥

शब्दार्थ :— विभाव-सक्ति-परनतिसौ विकल-दीसै= विभाव-शक्ति की परिणति से (जीव) दुःखी दिखता है, सुद्ध-चेतना-विचारतै सहज-संत है= शुद्ध-चेतना का विचार करें, तो सहज-शांतिरूप है, करम-संजोगसौ कहावै गति-जोनि-वासी= कर्म के संयोग से गतियों और योनियों का निवासी कहलाता है, निहचै-सुरूप सदा मुक्त-महंत है= निश्चय-स्वरूप से सदा मुक्त-महंत अर्थात् मोक्ष का परमेश्वर है, ज्ञायक-सुभाऊ धरै लोकालोक-परगासी= ज्ञायक-स्वभाव को धारणकर लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला है, सत्ता-परवांन सत्ता-परगासवंत है= सत्ता-प्रमाण है और सत्ता को प्रकाशित करनेवाला है सो है जीव जानत जहान कौतुक महान= ऐसा वह जीवात्मा जगत् को जानता है, यह महान्/बड़े आश्चर्य की बात है, जाकी कीरति कहान अनादि अनंत है= जिसकी कीर्ति कहाँ नहीं है अर्थात् सर्वत्र छाई हुई है, आदि-अंत से रहित है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जीवराज-शुद्धात्मा की विभिन्न-अवस्थाओं का वर्णन करते हुए उसकी महिमा को जग से निराला सिद्ध किया है।

अनंतसुख का धनी आत्मा वर्तमान में विभावरूप-परिणमन के कारण दुःखी दिखाई देता है। कहने का अभिप्राय है कि यदि जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणमन करे, तो जगत् का कोई भी पदार्थ उसे दुःखी नहीं कर सकता; लेकिन जीव स्वयं ही अपने स्वभाव को भूलकर पर की ओर आकर्षित होता है, और फिर स्वयं ही मोह-राग-द्वेष आदि के परिणामकर दुःखी होता है। यदि जीव उसी-क्षण अपने शुद्ध-चैतन्य स्वभाव का लक्ष्य करे, तो सहज-शांति का अनुभव करता है, क्योंकि स्वभाव से जीव त्रिकाल शांत-स्वरूपी ही है।

अनादिकाल से कर्म का संयोग और तदनु रूप परिणमनकर पुनः कर्मों का बंधकर, यह जीवात्मा उसके फलस्वरूप चार-गति चौरासी-लाख योनियों में जन्म-मरण करता है— इस अपेक्षा से कहने में आता है कि जीव मनुष्य है, नारकी है, देव है या तिर्यच है, जिस गति और योनि में जन्म लेता है, उसी गति व योनिवाला कहलाने लगता है; जबकि निश्चय से तो जीव प्रतिसमय कर्ममुक्त ही है, अर्थात् स्वभाव की दृष्टि से तो जीव सदाकाल बंध-मोक्ष से रहित परमात्मा ही है।

जगत् के सभी द्रव्यों में एक जीवात्मा ही जानन-स्वभावी होने से तीनों लोकों को प्रकाशित करनेवाला है। क्षेत्र-अपेक्षा अपने आत्म-प्रदेशों की सत्ता में सीमित रहकर भी लोकालोक की महासत्ता को प्रकाशित करता है। इसलिये यह सर्वोत्कृष्ट-शुद्धात्मा महान्-आश्चर्य का विषय प्रतीत होता है। इसकी कीर्ति कहाँ नहीं फैली है? अर्थात् संपूर्ण-विश्व में व्याप्त है, और इतना ही नहीं अनादिकाल से ज्ञायक भगवान्-आत्मा की ऐसी अनुपम महिमा चली आ रही है और अनंतकाल तक ऐसे ही चलती रहेगी।

(सवैया इकतीसा)

पंच-परकार-ग्यानावरनकौ नास करि, प्रगटी प्रसिद्धि जग-माँहि जगमगी है।
ज्ञायक-प्रभामैं नाना-ज्ञेयकी अवस्था धरि, अनेक भई पै एकता के रस-पगी है॥
याहीं-भाँति रहेगी अनंतकाल-परजंत, अनंत-सक्ति फोरि अनंतसौं लगी है।
नरदेह-देवलमैं केवल-सरूप सुद्ध, ऐसी ग्यानज्योति की सिखा समाधि जगी है॥ 51॥

शब्दार्थ :— पंच-परकार ग्यानावरनकौ नास करि= पाँच-प्रकार के ज्ञानावरणी-कर्म को नष्टकर, प्रगटी

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्-त्रिलोकी-स्खलदखिल-विकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।

स्वरस-विसर-पूर्णाच्छिन्न-तत्त्वोपलम्भः, प्रसभ-नियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः॥ 12॥

प्रसिद्धि जग-मांहि जगमगी है= (जो कैवल्य-ज्योति) प्रगट हुई है, जिसकी प्रसिद्धि और चमक संपूर्ण लोक में व्याप्त है, ज्ञायक-प्रभामैं नाना-ज्ञेयकी अवस्था धरि= (वह) ज्ञायक की चमक विविधप्रकार के ज्ञेयों की अवस्थाओं को धारणकर/जानती हुई, अनेक भई पै एकता के रस पगी है= अनेकरूप होते हुए भी एकता के रस में डूबी हुई है, याहीं भाँति रहेगी अनंतकाल-परजंत= यह ज्योति इसीप्रकार अनंतकाल तक रहेगी, अनंत-सक्ति फोरि अनंतसौं लगी है= अनंतवीर्य को स्फुरितकर अंतरहित अक्षयपद को वरण करेगी, नरदेह-देवलमैं केवल-सरूप सुद्ध= मनुष्य-देहरूपी मंदिर में केवलज्ञानरूपी शुद्ध, ऐसी ग्यानज्योति की सिखा समाधि जगी है= ऐसी ज्ञानज्योति की शिखा/लौरूपी समाधि/अविचल-आत्मानुभूति प्रकट हुई है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने केवलज्ञान-स्वरूप ज्ञायक-ज्योति की महिमा को वर्णित किया है, साथ ही स्पष्ट किया कि यह ज्ञान-ज्योति अनंतकाल तक ऐसे ही प्रज्वलित रहेगी।

आगम के अनुसार ज्ञान के पाँच-भेद हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। अनंत-ज्ञान के धारी शुद्धात्म-तत्त्व में ये पाँचों ज्ञानों की शक्ति समाहित है। लेकिन अनादि-काल से ज्ञान पर आवरण (जिसे हम ज्ञानावरणी के नाम से जानते हैं) पड़ा होने के कारण इनकी प्रगटता प्रत्यक्ष-दृष्टिगोचर नहीं होती। लेकिन जैसे कमल का फूल रात्रि में बंद हो जाता है, और सुबह जैसे-जैसे सूर्य की किरण पड़ती है, उसकी कलियाँ स्वतः ही खिलने लगती हैं; ठीक उसीप्रकार जब जीव स्व-पर का भेदज्ञान कर निज-आत्म-तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान और उसी में रमणता करता है; तो अनादि से पड़ा ज्ञानावरणी-कर्म का आवरण क्रमशः हटने लगता है। और जब पाँचों प्रकार का ज्ञानावरण हटता है, तो केवलज्ञानरूपी-ज्योति प्रगट होती है; जिसके प्रकाश में संपूर्ण-लोकालोक जगमगा उठता है, अर्थात् उस निर्मल-ज्ञान में तीनों लोकों की प्रसिद्धि होती है।

यद्यपि वह ज्ञान-ज्योति संपूर्ण-लोक के विविध-प्रकार के ज्ञेयों की अवस्था को धारणकर अनेकरूप होती है; लेकिन फिर भी वह एकमात्र वीतरागता के रस में डूबी हुई होती है, अर्थात् ज्ञान-ज्योति में संपूर्ण-लोकालोक झलकने पर भी केवली अपने ज्ञायक भगवान्-आत्मा में ही लीन रहते हैं। हे आत्मन्! अब यह ज्ञान-ज्योति इसीप्रकार अनंतकाल तक प्रज्वलित रहेगी। और अनंतवीर्य को स्फुरितकर अंत-रहित अक्षयपद या सिद्ध-पद को प्राप्त करेगी। वैसे तो यह मनुष्य-देह मलिनता को प्राप्त है; परन्तु केवली भगवान् के इस मनुष्य-देहरूपी देवालय में ही केवलज्ञानरूपी शुद्ध-ज्ञान-ज्योति की लौरूप समाधि अर्थात् अविचल-आत्मानुभूति प्रकट हुई है।

(सवैया इकतीसा)

अच्छर-अरथमैं मगन रहै सदाकाल, महासुख-दैवा जैसी सेवा काम-गविकी।
अमल-अबाधित-अलख-गुन गावना है, पावना-परम सुद्ध-भावना है भविकी॥
मिथ्यात-तिमिर-अपहारा वर्धमान-धारा, जैसी उभै-जामलौं किरण दीपै रवि की।
ऐसी है अमृतचंद-कला त्रिधारूप धरै, अनुभौ-दसा गरंथ टीका-बुद्धि कविकी॥ 52॥

(दोहा)

नाम साध्य-साधक कह्यौ, द्वार-द्वादशम ठीक।
समयसार-नाटक सकल, पूरन भयौ सटीक॥ 53॥

अविचलित-चिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-न्यनवरत-निमग्नं धारयद् ध्वस्त-मोहम्।
उदितममृतचन्द्र-ज्योतिरेतत्समन्ता-ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्न-स्वभावम्॥ 13॥

शब्दार्थ :— अच्छर-अरथमै मगन रहै सदाकाल= जो सदाकाल अक्षरशुद्धि और अर्थशुद्धि में मगन रहते हैं, महासुख-दैवा जैसी सेवा काम-गविकी= जिनकी सेवा कामधेनु के समान महासुख देनेवाली है, अमल-अबाधित-अलख-गुन गावना है= (जिसमें) निर्मल, बाधा-रहित, आत्मा के गुणों का गान है, पावना-परम सुद्ध-भावना है भविकी= जो परम-पवित्र है, भव्यजीवों की शुद्ध-भावनारूप है, मिथ्यात-तिमिर-अपहारा वर्धमान-धारा= मिथ्यात्वरूपी-अंधकार को हरनेवाली, धाराप्रवाह-रूप से वृद्धिगत, जैसी उभै-जामलौं किरण दीपै रवि की= जैसे दोपहर के समय सूर्य की किरणें चमकती हैं, ऐसी है अमृतचंद्र-कला त्रिधारूप धरै= ऐसी ('आचार्य अमृतचंद्र सूरि' की) अमृतमयी 'चंद्र-कला' है, जो तीनप्रकार के रूप धारण किये हुये है, अनुभौ-दसा गरंथ-टीका बुद्धि-कविकी= अनुभव की दशारूप, ग्रंथ की टीकारूप, कवित्व की प्रतिभारूप ॥ 52 ॥

नाम साध्य-साधक कहौ द्वार-द्वादसम ठीक= 'साध्य-साधक' नामक बारहवाँ-द्वार भलीभाँति कहा, समयसार-नाटक सकल पूरन भयौ सटीक= सम्पूर्ण समयसार-नाटक सटीक/टीकासहित पूरा हुआ ॥ 53 ॥

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'आचार्य अमृतचंद्र देव' की काव्य-क्षमता को बहुत ही सुंदरता से उदाहरण-सहित वर्णित किया है।

आचार्य भगवन् द्वारा रचित सभी कृतियाँ भावप्रधान और प्रयोजनभूत हैं। जैसे कामधेनु की सेवा को सकल-सुखदायकत्व का प्रतीक माना जाता है, ठीक उसीप्रकार आचार्यदेव-रचित कृतियों की सेवा अर्थात् भावपूर्वक इनका चिंतन-मनन और अनुसरण करने पर जीव को सच्चे अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति होती है। क्योंकि इनमें मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों की मलिनता से रहित निर्मल, इन्द्रियजन्य समस्त-बाधाओं से रहित निर्बाध-शुद्धात्मा के गुणों का वर्णन किया गया है, जो भव्यजीवों के लिये परम-पवित्र भाने योग्य/चिंतन करने योग्य शुद्ध-भावनारूप है।

जो मिथ्यात्वरूपी घोर-अंधकार को दूर करने के लिये निरन्तर-उन्नतिशील है; ठीक उसीप्रकार जैसे सूर्य की किरण ज्यों-ज्यों उदित होती हैं, वैसे-वैसे अंधकार छूटने लगता है, और दोपहर के समय जब सूर्य का प्रकाश अपनी पूर्णता पर होता है; तब सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश होता है। ऐसी है 'अमृतचंद्र देव' की कला, जो तीनरूपों में परिलक्षित होती है।

'एक-रूप' तो उनकी आत्मानुभूति की निर्मलदशा है, जो उनके शब्दों में भी अमृत के स्रोत की तरह प्रवाहशील है। 'दूसरा-रूप' समयसार जैसे सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक-ग्रन्थ की इतनी मार्मिक-टीका के रूप में हमारे सामने आया है। और 'तीसरा-रूप' 'आचार्य अमृतचंद्र सूरि' की अद्वितीय काव्य-प्रतिभा का रूप जिसे कविवर बनारसीदास जी ने विशेषरूप से उल्लिखित किया है। जिस काव्य-प्रतिभा के परिणामस्वरूप 'समयसार जी' की टीका में उन्होंने अमृतमय-कलशों की रचना की, जिन्हें परवर्ती 'पांडे राजमल्ल जी' जैसे विद्वानों ने स्वतंत्र-ग्रन्थ के रूप में बहुमानित करके उस पर बालबोधिनी-टीका लिखी; उन्हीं के आधार पर यह 'नाटक-समयसार' नामक ग्रन्थ लिखा जा सका। इसीलिये तीसरे रूप में उन्होंने 'आचार्य अमृतचंद्र सूरि जी' की काव्य-प्रतिभा को वंदन किया है, जोकि 'नाटक-समयसार' की जननी बनी है।

अंत में कविवर कहते हैं यहाँ तक बारहवाँ 'साध्य-साधक द्वार' भलीभाँति विवेचित किया। इसी के साथ 'नाटक-समयसार' ग्रंथ विशेष-विवेचन-सहित आदर्शरूप से पूर्ण हुआ।

(दोहा)

अब कवि निज-पूरब-दसा, कहै आपसौं-आप।

सहज-हरख मनमै धरै, करै न पश्चाताप ॥ 54 ॥

जो मैं आपा छाँड़ि दीनौ पररूप गहि लीनौ, कीनौ न बसेरौ तहाँ, जहाँ मेरौ थल है।
 भोगनिकौ भोगी हूँ करमकौ करता भयौ, हिरदै हमारे राग-द्वेष-मोह-मल है॥
 ऐसी विपरीत-चाल भई जो अतीतकाल, सो तो मेरे क्रियाकी ममता हीकौ फल है।
 ग्यान-दृष्टि भासी, भयौ क्रियासौ उदासी वह, मिथ्या मोह-निद्रामैं सुपन-कोसौ छल है॥ 55 ॥

शब्दार्थ :— अब कवि निज-पूरब-दसा कहैं आपसौं आप= अब कविवर अपनी पूर्व-दशा अपने आपसे कहते हैं, सहज-हरख मन मैं धरैं करै न पश्चाताप= किन्तु किसी भी प्रकार का पश्चाताप न करके अपने चित्त में सहज ही हर्ष रखते हुए॥ 54 ॥

जो मैं आपा छाँड़ि दीनौ= जब मैं ने अपने स्वरूप को छोड़ दिया था, पररूप गहि लीनौ= पररूप को ही ग्रहण किया था, कीनौ न बसेरौ तहाँ जहाँ मेरौ थल है= जहाँ मेरा स्थान था, वहाँ मैंने बसेरा/निवास नहीं किया, भोगनिकौ भोगी हूँ= भोगों का भोक्ता होकर, करमकौ करता भयौ= कर्मों का कर्ता हुआ, हिरदै हमारे राग-द्वेष-मोह-मल है= हमारे हृदय में राग-द्वेष-मोह का मल/गंदगी भरी थी, ऐसी विपरीत-चाल भई जो अतीतकाल= भूतकाल में ऐसा विपरीत-प्रवर्तन किया, सो तो मेरे क्रियाकी ममता हीकौ फल है= सो ये मेरे द्वारा किये (स्वभाव-विपरीत) कार्यों और (परपदार्थों के प्रति) ममत्व का ही परिणाम है, ग्यान-दृष्टि भासी= अब मुझे ज्ञान-दृष्टि प्रकट हुई है, भयौ क्रियासौ उदासी= सो अब मैं जगत् की क्रिया से उदास हुआ हूँ, वह मिथ्या मोह-निद्रामैं= वह झूठी मोह की निद्रा में, सुपनकोसौ छल है= स्वप्न के समान छल है॥ 55 ॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि अपने जीवन की कड़वी-सच्चाई को दृढ़ता से स्वीकार कर ज्यों का त्यों वर्णित किया है। सामान्यतः स्वयं की आलोचना करना, वह भी सभी के समक्ष करना आसान-काम नहीं है, लेकिन कविवर बनारसीदास जी ने इस संबंध में अपने साहस का परिचय निर्भीकता से दिया।

वे स्वयं लिखते हैं कि पूर्वकाल में मैंने अपने आत्मस्वरूप को कभी ग्रहण नहीं किया अर्थात् सम्यक्-श्रद्धान नहीं किया, अन्य मिथ्यादृष्टि-जीवों की तरह मैंने भी देहादिक पर-पदार्थों और पर-संयोगों को ही अपना माना, प्रतिसमय उनमें ही आसक्त रहा। जो निजात्मा मेरा अपना और शाश्वत-ठिकाना था, वहाँ तो कभी मैंने निवास किया ही नहीं अर्थात् पर-घर में ही आसरा खोजता रहा। सुख की लालसा में पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में ही आसक्त रहा, एक-क्षण के लिये भी कभी विरक्ति का भाव नहीं आया। स्वतंत्ररूप से परिणमित वस्तु-व्यवस्था का प्रतिक्षण कर्त्ता बना, अर्थात् कर्तृत्व-बुद्धि का बोझा सिर पर लिये घूमता रहा, मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों की गंदगी से ही भरा रहा।

कवि ने स्वयं स्वीकार किया कि मेरे साथ अतीतकाल यानि पूर्व में जो कुछ भी बुरा हुआ, वह सब मेरे ही द्वारा की गयीं पाप-क्रियाओं और देहादिक पर-पदार्थों में ममत्व-बुद्धि का ही परिणाम था। लेकिन आज में हर्षपूर्वक कहता हूँ कि अब मेरे हृदय में स्व और पर में भेदज्ञान करने की सम्यक्-ज्ञानकला जागृत हुई है, अब देहादिक-परपदार्थों एवं जड़ की क्रियाओं से सहज ही विरक्ति का भाव हुआ है। जैसे कोई स्वप्न में ऊँचे-ऊँचे ख्वाबों के महल बनाता है और अति-प्रसन्न होता है; लेकिन नींद खुलते ही वही व्यक्ति स्वयं को छला हुआ महसूस करता है। ठीक उसीप्रकार मिथ्यात्व की अवस्था में, मैं मोह की नींद सोता रहा और स्वप्नवत् स्वयं को छलता रहा। लेकिन अब मोह की निद्रा खुल गई है, और वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रत्यक्ष-दृष्टिगोचर हुआ है, सो अब छल की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्व-परयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं, राग-द्वेष-परिग्रहे सति यतो जातं क्रिया-कारकैः।

भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्नं क्रियायाः फलं, तद्विज्ञान-घनौघ-मग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल॥ 14 ॥

(दोहा)

अमृतचंद्र-मुनिराजकृत, पूरनभयौ गिरंथ।
समयसार-नाटक प्रगट, पंचम-गतिकौ पंथ॥ 56॥

शब्दार्थ :- अमृतचंद्र-मुनिराजकृत पूरनभयौ गिरंथ= अमृतचंद्र मुनिराज द्वारा रचित ग्रंथ यहाँ पूर्ण हुआ, समयसार-नाटक प्रगट पंचम-गतिकौ पंथ= पंचम-गति का मार्ग प्रकट करनेवाला समयसार नाटक।

विशेषार्थ :- इस छंद में कविवर बनारसी दास जी कहते हैं कि 'आचार्य अमृतचंद्र मुनिराज' द्वारा रचित पंचमगति अर्थात् सिद्ध गति को प्रकट करने वाला 'समयसार नाटक' नामक ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

स्वशक्ति-संसूचित-वस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः। स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥15॥
॥ इति समयसार कलशाः समाप्ताः ॥



गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा कविवर बनारसीदास जी के आराध्य भगवान् पार्श्वनाथ की लिखित-स्तुति

पद-जलज श्री भगवान् जू के, बसत हैं उर-माँहि।
चहुँगति-विहंडन तरन-तारन, देव विघन विलाहिं॥
थकि धरनि-पति नहिं पार पावत, नर सु बपुरा कौन ?
तिहि लसत करुणाजन-पयोधर भजहिं भविजन तौन॥
दुति-उदित त्रिभुवन-मध्य भूपन, जलधि ज्ञान-गंभीर।
जिहि माथ-ऊपर छत्र सोहत, दहन दोष अधीर॥
जिहि नाथ 'पारस' जुगल-पंकज, चित्त चरनन जास।
रिधि-सिद्धि कमला अजर-राजित, भजत 'तुलसीदास' ॥

यह उस समय के मनीषियों की पारस्परिक गुणग्राहिता थी, जो वैचारिक-परम्परा अपनी रखते हुये भी अपने से भिन्न-विचारधारावालों के प्रति सौहार्द एवं सहिष्णुता का परिचय देते हुये उनके आराध्यों के प्रति बहुमान दिखाते थे।

जहाँ कविवर पं. बनारसीदास जी ने तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' के प्रत्युत्तर-स्वरूप 'अध्यात्म-रामायण' लिखकर दी, जिसमें भाव जिनाम्नाय के थे और पात्र 'रामचरितमानस' के थे। उसी के अनुरूप गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी बनारसीदास जी के आराध्य प्रभु पार्श्वनाथ की स्तुति इसरूप में लिखकर दी। इससे संकेतित होता है कि संभवतः गोस्वामी तुलसीदास जी कविवर बनारसीदास जी से सौहार्द-भेंट करने आगरा आये थे और वहीं उन्होंने पार्श्वनाथ प्रभु के दर्शन करते हुये यह स्तुति लिखी होगी।

(कविवर बनारसीदास जी का मौलिक-अवदान)

चतुर्दश-गुणस्थानाधिकार-द्वार

(दोहा)

जिन-प्रतिमा जिन-सारिखी, नमै बनारसि ताहि।

जाकी भक्ति-प्रभावसौं, कीनौ ग्रंथ-निवाहि॥ 1॥

शब्दार्थ :- जिन-प्रतिमा जिन-सारिखी= जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा जिनेन्द्रदेव के समान है, नमै बनारसि ताहि= बनारसीदास उनको वंदन करते हैं, जाकी भक्ति-प्रभावसौं= जिनकी भक्ति के प्रभाव से, कीनौ ग्रंथ-निवाहि= 'नाटक समयसार' ग्रंथ का निर्वाह हुआ।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने जिनेन्द्र-देव की महिमा के साथ-साथ जिन-प्रतिमा की महिमा को भी वर्णित किया है। क्योंकि जिन-प्रतिमा भी साक्षात् समवसरण में विराजमान जिनेन्द्रदेव के समान ही होती है, इसीलिये जिन-मंदिर को 'समवसरण' के समान पवित्र माना गया है।

'जिन-प्रतिमा' या जिनेन्द्रदेव को भाव-सहित वंदन करते हुए कविवर बनारसीदास जी कहते हैं कि यह प्रतिदिन जिन-प्रतिमा की वंदना एवं भक्ति का ही सुफल है कि मैं निर्विघ्नरूप से इस 'नाटक समयसार' ग्रंथ को पूर्ण कर पाया हूँ। व्यवहार में ऐसा कथन न केवल संगत है, बल्कि लोगों को जिनदर्शन/वंदन की प्रेरणा के लिये आवश्यक भी है। कृतज्ञता-ज्ञापन है यह, जो विनीत एवं सभ्य-व्यक्तियों का सदाचार माना जाता है। यह भक्त की भक्ति का सुन्दरतम-रूप है। यद्यपि कविवर ये भली-भाँति जानते हैं कि जिन-प्रतिमा तो दूर साक्षात् जिनेन्द्र-परमात्मा भी ऐसा करने में असमर्थ हैं, फिर भी भक्ति के आवेग में जीव को जिनेन्द्र-देव का बहुमान आता ही है। आगे भी इसीप्रकार जिनेन्द्र-भक्ति का अतिसुंदर-रूप कवि ने वर्णित किया है।

(सवैया इकतीसा)

जाके मुख-दरससौं भगतके नैननिकौं, थिरता की बानि बढै, चंचलता विनसी।

मुद्रा देखि, केवली की मुद्रा याद आवै जहाँ, जाके आगै इंद्र की विभूति दीसै तिन-सी॥

जाकौ जस-जंपत प्रकास जगै हिरदैमै, सोइ सुद्धमति होइ हुती जु मलिन-सी।

कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी, सोहै जिनकी छबि सुविद्यमान जिन-सी॥ 2॥

शब्दार्थ :- जाके मुख-दरससौं भगतके नैननिकौं= जिनके मुख-दर्शन से भक्त के नेत्रों की, थिरता की बानि बढै, चंचलता विनसी= स्थिरता बढ़ जाती है, (और) चंचलता विनष्ट होती है, मुद्रा देखि, केवली की मुद्रा याद आवै जहाँ= जिनमुद्रा को देखकर जहाँ केवली की मुद्रा याद आती है, जाके आगै इंद्र की विभूति दीसै तिन-सी= जिसके आगे इंद्र का वैभव भी तिनके के समान दिखता है, जाकौ जस-जंपत प्रकास जगै हिरदैमै= जिनके गुणों का वर्णन करने से हृदय में प्रकाश जागृत होता है, सोइ सुद्धमति होइ हुती जु मलिनसी= (और) जो बुद्धि मलिन थी, वह शुद्ध हो जाती है, कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी= बनारसीदास जी कहते हैं जिनकी महिमा प्रत्यक्ष-प्रगट है, सोहै जिनकी छबि सुविद्यमान जिन-सी= जिनकी छवि साक्षात् जिनेन्द्रदेव के समान शोभायमान है।

विशेषार्थ :- कविवर कहते हैं "हे आत्मन्! जिनेन्द्र-देव की प्रतिमा को देखते ही भक्त के नेत्रों की चंचलता दूर हो जाती है, और नेत्र तथा चित्त की स्थिरता बढ़ जाती है।" कहने का अभिप्राय यही है कि

जिन-प्रतिमा का रूप इतना मनोहारी होता है कि भक्त सब सुध-बुध खोकर टकटकी लगाकर देखता ही रह जाता है। इतना ही नहीं मंदिर जी में विराजमान जिन-मुद्रा को देखकर समवसरण में विराजित साक्षात् केवली-परमात्मा की मुद्रा का स्मरण होता है। जिनके दर्शन के सामने मनुष्य का वैभव तो दूर, इन्द्र का बहुमूल्य और अपार-वैभव भी तिनके के समान तुच्छ प्रतीत होता है— यह है भक्ति की पराकाष्ठा।

जिनेन्द्र-देव के गुणों का वर्णन करने से मोह का अंधकार दूर होता है, और हृदय ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठता है। जो बुद्धि अभी तक मलिन थी अर्थात् पर के प्रति आकर्षित थी, मोह-राग-द्वेष आदि विकारी-भावों में लिप्त थी, वही बुद्धि जिन-भक्ति से अर्थात् जिनेन्द्र देव के गुणानुवाद से निर्मल और स्वयं की ओर आकर्षित होती है। बनारसीदास जी कहते हैं कि जिन-प्रतिमा की ऐसी महिमा प्रत्यक्ष प्रगट है, जिनकी सुंदर-छवि सुविद्यमान अर्थात् समवसरण में विराजित तीर्थंकर-परमात्मा के समान शोभायमान है। जो जीव भावपूर्वक एकबार जिन-प्रतिमा के दर्शन करता है, वह स्वयं ही कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होता है।

(सवैया इकतीसा)

जाके उर-अंतर सुद्रिष्टि की लहर लसी, विनसी-मिथ्यात्व मोहनिद्राकी ममारखी।
सैली जिनशासन की फैली जाके घट, भयौ गरबकौ त्यागी षट-दरब कौ पारखी॥
आगमकै अच्छर परे हैं जाके श्रवनमैं, हिरदै-भंडार मैं समानी वानी-आरखी।
कहत बनारसि अलप-भवथिति जाकी, सोई जिन-प्रतिमा प्रवानैं जिन-सारिखी॥ 3॥

शब्दार्थ :— जाके उर-अंतर सुद्रिष्टि की लहर लसी= जिसके अंतरंग में सच्ची-दृष्टि की लहर जागृत है, विनसी मिथ्यात्व-मोहनिद्राकी ममारखी= मिथ्यात्व और मोह-जनित निद्रा की मूर्च्छा नष्ट हो गई, सैली-जिनशासन की फैली जाके घट= जिसके हृदय में जिनशासन की पद्धति फैली हुई है, भयौ गरबकौ त्यागी षट-दरब कौ पारखी= (वह) अभिमान का त्यागी हुआ है, और छह-द्रव्यों का पारखी/जानकार है, आगमकै अच्छर परे हैं जाके श्रवनमैं= आगम के अक्षर जिसके कान में पड़े हैं, हिरदै-भंडार मैं समानी वानी-आरखी= आचार्यों/मुनिराजों के वचन जिनके हृदय में समा गये हैं, कहत बनारसि अलप-भवथिति जाकी= बनारसीदास जी कहते हैं "जिसकी संसार की स्थिति बहुत कम-शेष है, सोई जिन-प्रतिमा प्रवानैं जिन-सारिखी= वे ही जिन-प्रतिमा को जिनेन्द्र-देव के समान मानते हैं।"

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने उन-जीवों की प्रशंसा की जो जिन-प्रतिमा को भी साक्षात् जिनेन्द्र के समान मानकर, उनकी भक्ति में अनुरक्त होकर उनके बताये मार्ग पर चलकर, अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

धन्य हैं वे जीव, जिनके हृदय में सच्ची-दृष्टि जागृत हुई है, अर्थात् जिनके हृदय में भेदज्ञान का सूर्य प्रकाशित हुआ है, जिसके प्रकाश में स्व और पर का स्वरूप प्रत्यक्ष-दृष्टिगोचर हुआ है। उस सूर्य के सम्यक्-प्रकाश में मिथ्यात्व का घना-अंधकार और मोह-निद्रा की मूर्च्छा या खुमारी ठीक उसीप्रकार विलय को प्राप्त हुई, जैसे प्रातः सूर्य के निकलने पर रात्रि का घना-अंधकार और प्रमाद/नींद दोनों ही विलय को प्राप्त होते हैं। जिनके हृदय में जिनशासन की शैली का प्रसार है, अर्थात् जो जिनेन्द्र-परमात्मा के मार्ग का अनुसरण करते हैं, जो कुल, जाति, धन, बल, रूप, ज्ञान, प्रभुता, तप/ऋद्धि आदि आठ-मदों के त्यागी हैं; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छहों-द्रव्य के पारखी हैं अर्थात् छहों-द्रव्यों के वास्तविक-स्वरूप से भलीभाँति परिचित हैं।

जिनके कानों में आगम के अक्षर सुनाई देते हैं, इसका अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं है कि प्रतिदिन परम्परा से मात्र प्रवचन या शास्त्र सुनना; बल्कि सम्यक्-अभिप्राय यह है कि आगम का, स्वाध्याय के पाँचों अंगों का (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश) का पालन करते हुए निरन्तर स्वाध्याय अर्थात् स्वयं के परिणामों का आंकलन करना, जिनके हृदय के कोष में आचार्यों के वचन समा गये हैं, अर्थात् जो जिनवचनों को सुनकर उन वचनों का अनुसरण भी करते हैं। कविवर कहते हैं "उन जीवों की संसार की स्थिति अति-अल्प रह गई है, जिन्हें अपने स्वरूप का भान है, जो जिन-प्रतिमा को साक्षात् जिनेन्द्र-परमात्मा के समान मानते हैं, अनुभवते हैं, और मोक्षमार्ग में अग्रसर होते हैं।"

(चौपाई)

जिन-प्रतिमा जन-दोष निकंदै, सीस-नमाइ बनारसि बंदै।
फिरि मन-माँहि विचारै ऐसा, नाटक-गरंथ परमपद जैसा॥ 4॥
परम-तत्त परचै इस-माँहि, गुनस्थानक की रचना नांहि।
यामैं गुनस्थानक-रस आवै, तो गरंथ अति-शोभा पावै॥ 5॥

(दोहा)

इह विचारि संक्षेपसौं, गुनस्थानक-रस चोज।
वरनन करै बनारसी, कारन सिवपथ-खोज॥ 6॥

शब्दार्थ :- जिन-प्रतिमा जन-दोष निकंदै= जिन-प्रतिमा लोगों के दोषों को नष्ट करती है, सीस-नमाइ बनारसि बंदै= बनारसीदास सिर झुकाकर वंदन करते हैं, फिरि मनमाँहि विचारै ऐसा= फिर मन में ऐसा विचार करते हैं, नाटक-गरंथ परमपद जैसा= ये 'नाटक-समयसार' ग्रंथ परमपद के समान है॥ 4॥

परम-तत्त परचै इस-माँहि= इसमें परम-तत्त्व यानि शुद्धात्मा का परिचय तो है, गुनस्थानक की रचना नांहि= लेकिन इसमें गुणस्थानों की चर्चा नहीं है, यामैं गुनस्थानक-रस आवै= इसमें गुणस्थान का वर्णन भी आ जाये, तो गरंथ अति-शोभा पावै= तो यह ग्रंथ और भी अधिक शोभा/गरिमा को प्राप्त हो॥ 5॥

इह विचारि संक्षेपसौं गुनस्थानक-रस चोज= ऐसा विचारकर गुणस्थानों का सार-संक्षेप, वरनन करै बनारसी कारन सिवपथ-खोज= (जोकि) मोक्षमार्ग की खोज के कारणभूत हैं, मैं बनारसीदास उनका वर्णन करता हूँ॥ 6॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कविवर बनारसीदास जी ने आत्मा के वास्तविक-स्वरूप के प्रतिपादक इस आध्यात्मिक-ग्रंथ 'नाटक समयसार' की परिपूर्णता में गुणस्थान-विवेचनरूप स्पष्ट-झलकती आवश्यकता को महसूस किया और उनका स्वरूप विवेचित करने की स्वयं से प्रतिज्ञा की।

पिछले-छंदों में जिन-प्रतिमा के स्वरूप और महत्त्व का विवेचन किया, उसी क्रम में कविवर आगे कहते हैं "जिन-प्रतिमा का भावों से, विनयपूर्वक दर्शन करने से जीवों के मिथ्यात्व और मोहजनित सभी दोष दूर हो जाते हैं। इसीलिये बनारसीदास जी जिन-प्रतिमा को सिर झुकाकर वंदन करते हुए मन में विचार करते हैं कि ये 'नाटक-समयसार' ग्रंथ परमपद के समान है, अर्थात् 'परमपद' में स्थित कराने में निमित्तभूत है। अभिप्राय यह है कि इस ग्रंथ का भावपूर्वक पठन-पाठन, चिंतन-मनन करने से 'परमपद' अर्थात् 'सिद्ध-पद' की प्राप्ति होती है। लेकिन इस ग्रंथ में 'परमतत्त्व' या निज-शुद्धात्मा का परिचय तो प्राप्त होता है; परन्तु गुणस्थान का रस नहीं है। अर्थात् परमपद को प्राप्त करने के लिए जीव जब पुरुषार्थ करता है, उस समय जीव के परिणामों में होने वाले उतार-चढ़ाव, जिन्हें आगम में 'गुणस्थान' के रूप में

विवेचित किया गया है, उनका वर्णन इस ग्रंथ में नहीं है। यदि उन गुणस्थानों का वर्णन भी इस ग्रंथ में हो, तो यह ग्रंथ और भी अधिक प्रयोजनभूत हो सकता है,"— ऐसा विचार करके कवि ने निर्णय लिया कि अब मैं मोक्षमार्ग को खोजने में कारणभूत गुणस्थानों का संक्षेप में वर्णन करूँगा।

(दोहा)

नियत-एक विवहारसौ, जीव चतुर्दश-भेद।

रंग-जोग बहुविधि भयौ, ज्यों पट सहज-सुफेद॥ 7॥

शब्दार्थ :— नियत-एक, विवहारसौ जीव चतुर्दश-भेद= निश्चय से एक, (और) व्यवहार से जीव-पदार्थ चौदहप्रकार का है, रंग-जोग बहुविधि भयौ ज्यों पट सहज-सुफेद= जैसे सफेद-वस्त्र रंग के संयोग से सहज ही बहुतप्रकार का होता है।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने स्पष्ट किया है कि इस ग्रंथ में गुणस्थान-विवेचन की आवश्यकता क्यों हुई? निश्चय-नय से देखें, तो जीव-पदार्थ एकप्रकार का ही है, परन्तु व्यवहार-नय से विचार करें, तो जीव के चौदह-भेद हैं। जैसे स्वभाव से तो वस्त्र सफेद ही होता है, परन्तु रंगों का संयोग होने पर विविध-प्रकार का हो जाता है; ठीक उसीप्रकार ज्ञान-स्वभाव की अपेक्षा जीव-पदार्थ सर्वत्र एक ही है; परन्तु मोह और योग के निमित्त से जीव के चौदह-भेद आगम में वर्णित हैं, जिनका वर्णन गुणस्थान-विवेचन में आता है। इसलिये अब उनका वर्णन करता हूँ।

(सवैया इकतीसा)

प्रथम-मिथ्यात, दूजौ-सासादन, तीजौ-मिश्र, चतुर्थ-अव्रत, पंचमौ-विरत-रंच है।

छट्टौ-परमत्त-नाम, सातमो-अपरमत्त, आठमो-अपूरवकरन सुखसंच है॥

नौमौ-अनिवृत्तिभाव, दसमो-सूच्छम-लोभ, एकादशमो सु उपसांतमोह-बंच है।

द्वादशमो-खीनमोह, तेरहो-सजोगी-जिन, चौदहो-अजोगी जाकी-थिति अंक-पंच है॥ 8॥

शब्दार्थ :— प्रथम-मिथ्यात= पहला 'मिथ्यात्व', दूजौ-सासादन= दूसरा 'सासादन', तीजौ-मिश्र= तीसरा 'मिश्र', चतुर्थ-अव्रत= चौथा 'अविरत-सम्यक्त्व', पंचमौ-विरतरंच है= पाँचवाँ किंचित्-व्रत/देश-विरत, छट्टौ-परमत्त नाम= छठवें का नाम 'प्रमत्तसंयत', सातमो-अपरमत्त= सातवाँ 'अप्रमत्तसंयत', आठमो-अपूरवकरन सुखसंच है= आठवाँ सुख का संचयरूप 'अपूर्वकरण', नौमौ-अनिवृत्तिभाव= नौवाँ 'अनिवृत्तिकरण', दसमो-सूच्छम लोभ है= दसवाँ 'सूक्ष्म-सांपराय' है, एकादशमो सु उपसांतमोह-बंच है= ग्यारहवाँ 'उपशांतमोह' का धोखा है, द्वादशमो-खीनमोह= बारहवाँ 'क्षीणमोह', तेरहो-सजोगीजिन= तेरहवाँ 'सयोगी-जिन', चौदहो-अजोगी= चौदहवाँ 'अयोगी-जिन' है, जाकी-थिति अंक-पंच है= जिसकी स्थिति/काल पाँच ह्रस्व-अक्षरप्रमाण है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने गुणस्थान के चौदह-भेदों के नामों का उल्लेख किया है, इनका विशेष-वर्णन क्रमशः आगे करेंगे।

गुणस्थान से तात्पर्य— 'मोह' और 'योग' के निमित्त से होनेवाली आत्मिक-परिणामों की क्रमिक-विकासरूपी अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं। इनके 14 भेद/प्रकार हैं। वे क्रमशः इसप्रकार हैं— मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति-सम्यक्त्व, किंचित-व्रत/देशविरत (यानि एकदेश व्रतों का पालन होने से इस गुणस्थान को देशविरत कहते हैं), प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (सुखसंचय-रूप),

अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय (संज्वलन-संबंधी सूक्ष्म-लोभ शेष रहता है), उपशांतमोह (इस गुणस्थान के अंतिम-समय में मोह का उदय आ जाने से साधक-जीव का गुणस्थान गिर जाता है, इसीलिए कवि ने इसे 'मोहबंच' यानि 'मोह का धोखा' कहा है), क्षीणमोह, सयोगकेवली-जिन, अयोगकेवली-जिन— ये चौदह-गुणस्थानों के नाम आगम में वर्णित हैं। चौदहवें-गुणस्थान 'अयोगकेवली-जिन' का समय 'अ इ उ ऋ लृ'— इन पाँच ह्रस्व-अक्षरों के उच्चारण-काल के बराबर होता है।

(दोहा)

बरनै सब-गुणस्थान के, नाम-चतुर्दस सार।
अब वरनौ मिथ्यात के, भेद पंच-परकार॥ 9॥

(सवैया इकतीसा)

प्रथम 'एकांत' नाम मिथ्यात अभिग्रहीत, दूजौ 'विपरीत अभिनिवेशिक' गोत है।
तीजौ 'विनै-मिथ्यात' अनाभिग्रह नाम जाकौ, चौथौ 'संसै' जहाँ चित्त भौर-कौसौ पोत है॥
पाँचमौ 'अग्यान' अनाभोगिक-गहलरूप, जाकै उदै चेतन अचेत-सौ होत है।
एई पाँचौ-मिथ्यात जीवकौ जगमै भ्रमावे, इनकौ विनास समकितकौ उदोत है॥ 10॥

शब्दार्थ :— बरनै सब-गुणस्थान के नाम चतुर्दस सार= सभी गुणस्थानों के मुख्य चौदह नाम वर्णित किये, अब वरनौ मिथ्यात के भेद पंच-परकार= अब मिथ्यात्व के पाँच-प्रकार के भेदों का वर्णन करता हूँ॥ 9॥

प्रथम 'एकांत' नाम मिथ्यात अभिग्रहीत= पहला 'एकांत' नाम का मिथ्यात्व का अभिग्रहण किया है, दूजौ 'विपरीत-अभिनिवेशिक' गोत है= दूसरा 'विपरीत-अभिनिवेश' नाम (का मिथ्यात्व), तीजौ 'विनै-मिथ्यात' अनाभिग्रह नाम जाकौ= तीसरा 'विनय-मिथ्यात्व' है, जिसका नाम अनाभिग्रह है, चौथौ 'संसै' जहाँ चित्त भौरकौसौ पोत है= चौथा 'संशय-मिथ्यात्व' है, जिसमें चित्त भँवर में पड़े जहाज के समान डाँवाडोल रहता है, पाँचमौ-अग्यान अनाभोगिक गहलरूप= पाँचवाँ अनाभोगिक-अचेतनता रूप 'अज्ञान-मिथ्यात्व' है, जाकै उदै चेतन अचेत-सौ होत है= जिसका उदय होने पर चेतन अचेत-सा हो जाता है, एई पाँचौ मिथ्यात जीवकौ जगमै भ्रमावे= ये ही पाँचों मिथ्यात्व जीव को संसार में परिभ्रमण कराते हैं, इनकौ विनास समकितकौ उदोत है= इनका विनाश ही सम्यग्दर्शन का प्रकाश है॥ 10॥

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने गुणस्थानों के नामों का उल्लेख किया था, अब उसी क्रम में पहले 'मिथ्यात्व-गुणस्थान' के अंतर्गत मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन इस छंद में किया है। कविवर स्वयं कहते हैं 'सभी गुणस्थानों के मुख्य चौदह-नाम वर्णित किये। अब मैं 'मिथ्यात्व' के पाँच-भेदों का वर्णन करता हूँ।'

पहला 'वस्तु-स्वरूप ऐसा ही है'— ऐसे एकांत-पक्ष का अभिग्रहण करनेवाला 'एकांत-मिथ्यात्व' है। विपरीत-अभिनिवेश अर्थात् विपरीत-अभिप्राय को ही ग्रहण करनेवाला दूसरा 'विपरीत-मिथ्यात्व' है। तीसरा 'अनाभिग्रह' अर्थात् कोई गुण-विशेष के आधार के बिना ही सभी को समानरूप से पूज्य माननेरूप 'विनय-मिथ्यात्व' है। चौथा-भेद 'संशय-मिथ्यात्व' अर्थात् अनिर्णय की स्थिति या कहें कभी इधर तो कभी उधर, जैसे जहाज लहरों के भँवर में फंसकर डगमगाता है, ठीक उसीप्रकार 'संशय-मिथ्यात्व' जीव किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँचता है, उसका चित्त हमेशा डाँवाडोल ही बना रहता है। पाँचवे 'अज्ञान-मिथ्यात्व' में जीव की स्थिति अचेत के समान होती है, अर्थात् जैसे मूर्च्छित-अवस्था में व्यक्ति को अपने हित-अहित का कोई विवेक नहीं रहता, ठीक उसीप्रकार अज्ञान-मिथ्यात्व के उदय में जीव जड़वत् गाफिल हो जाता है।

इसप्रकार ये पाँचों-प्रकार का मिथ्यात्व अर्थात् वस्तु-स्वरूप से विपरीत-मान्यतायें ही जीव को चार-गति चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण कराती हैं। जबतक ये विपरीत-मान्यतायें रहती हैं, तबतक जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए कवि ने कहा कि इन पाँचों-मिथ्यात्व का विनाश ही सम्यग्दर्शन का उदोत है अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्रगटता है।

(दोहा)

जो इकंत-नय-पच्छ गहि, छकै कहावै दच्छ।

सो इकंतवादी-पुरुष, मृषावंत परतच्छ॥ 11॥

शब्दार्थ :- जो इकंत-नय-पच्छ गहि छकै कहावै दच्छ= जो नय के एकांत-पक्ष को ग्रहणकर संतुष्ट है, और स्वयं को पारखी/चतुर (आगम का जानकार) कहता है, सो इकंतवादी-पुरुष मृषावंत परतच्छ= वह 'एकांतवादी-पुरुष', प्रत्यक्ष झूठा है।

विशेषार्थ :- प्रत्येक वस्तु अनेक-धर्मात्मक है, और फिर भी वस्तु को एकांततः एकधर्मरूप ही मानना 'एकांत-मिथ्यात्व' है। जैसे— वस्तु द्रव्य-स्वभाव की अपेक्षा 'नित्य' है और पर्याय-अपेक्षा 'अनित्य' भी है, लेकिन फिर भी वस्तु को या तो एकांत 'नित्य' ही मानना या एकांत 'अनित्य' ही मानना अर्थात् एक ही पक्ष को मानकर संतुष्ट होना 'एकांत-मिथ्यात्व' है। 'एकांत-मिथ्यात्व' का पोषक-जीव वस्तु के एक-पक्ष को ग्रहण करके स्वयं को 'तत्त्ववेत्ता' या आगम के जानकार कहता है, कविवर कहते हैं 'ऐसे जीव साक्षात्-मिथ्यादृष्टि ही हैं।'

(दोहा)

ग्रंथ-उक्त-पथ उथपि जो, थापै कुमत-स्वकीउ।

सुजस-हेतु गुरुता गहै, सो विपरीती जीउ॥ 12॥

शब्दार्थ :- ग्रंथ-उक्त-पथ उथपि जो= आगम में कहे हुये मार्ग का जो खंडन करके, थापै कुमत-स्वकीउ= अपने कपोल-कल्पित मान्यता की स्थापना करते हैं, सुजस-हेतु गुरुता गहै= यश-प्राप्ति के लिए बड़प्पन को धारण करते हैं, सो विपरीती जीउ= वे 'विपरीत-मिथ्यादृष्टि' जीव हैं।

विशेषार्थ :- जो जीव आगम में वर्णित सम्यक्-मोक्षमार्ग का खंडन करके अपनी कपोल-कल्पित मिथ्या-मान्यताओं को 'धर्म' या 'मोक्ष का मार्ग' कहता है; अपनी मान-बढ़ाई, प्रशंसा के लिए पाखंडी या धर्माधक का भेष धारण करता है। कविवर कहते हैं "वह जीव 'विपरीत-मिथ्यात्व' का पोषक है।" कहने का अभिप्राय यही है कि आत्मतत्त्व और जगत् का जो स्वरूप है, उसको वैसा न मानकर बिल्कुल-विपरीत मानना 'विपरीत-मिथ्यात्व' है। जैसे हिंसा में धर्म मानना, पुण्यभावों को उपादेय कहना, आत्मज्ञान-रहित देहादिक से किये जानेवाले तप से ही मोक्ष की सिद्धि करना, स्त्रीपयार्य से मुक्ति मानना इत्यादि।

(दोहा)

देव-कुदेव, सुगुरु-कुगुरु, ठानै समान जु कोइ।

नमैं भगतिसौं सबनिकौं, विनै-मिथ्याती सोइ॥ 13॥

शब्दार्थ :- देव-कुदेव सुगुरु-कुगुरु= देव और कुदेव, सुगुरु और कुगुरु को, ठानै समान जु कोइ= जो कोई इनको समान मानता है, नमैं भगतिसौं सबनिकौं= सभी को भक्तिभाव से नमन करता है, विनै-मिथ्याती सोइ= वह 'विनय-मिथ्यादृष्टि' जीव है।

चतुर्दश गुणस्थानाधिकार-द्वार



विशेषार्थ :- वीतरागता के पोषक सभी सुदेवों को और रागी-द्वेषी, अस्त्र-शस्त्रधारी गृहीत-मिथ्यात्व के पोषक कुदेवों को एकसमान मानना; वीतरागता के अनुयायी नग्न-दिगम्बर भावलिंगी-मुनिराजों को और अनगिनत-वेषधारी तथाकथित-साधुओं को एकसमान-पूज्य मानना; अहिंसामयी वीतरागी-धर्म और हिंसामयी-कर्मकांड को एकसमान मानना, इन सभी को समान भक्तिभाव से नमन और अनुकरण करना 'विनय-मिथ्यात्व' है। मिथ्यात्व की यह कैसी पराकाष्ठा है कि यह जीव देव, गुरु, धर्म की विनय तो करता है, पर उनके स्वरूप को नहीं जानता। अधिकांश व्यक्तियों के मुख से सुना होगा कि 'भगवान् तो सब एक ही हैं।' पर कभी विचार नहीं किया कि रागी और वीतरागी दोनों एक कैसे हो सकते हैं? भाई यह कहकर हमने कब अनादि 'विनय-मिथ्यात्व' का पोषण कर लिया हमें पता भी नहीं चला।

(दोहा)

जो नाना-विकल्प गहै, रहै हियै-हैरान।

थिर ह्वै तत्त्व न सद्है, सो जिय संशयवान॥ 14॥

शब्दार्थ :- जो नाना-विकल्प गहै= जो विविध-प्रकार के विकल्पों को ग्रहण करते हैं, रहै हियै-हैरान= जो व्याकुल-हृदय हैं, थिर ह्वै तत्त्व न सद्है= स्थिर-चित्त होकर तत्त्व का श्रद्धान नहीं करते, सो जिय संशयवान= वे जीव 'संशय-मिथ्यादृष्टि' हैं।

विशेषार्थ :- इस मिथ्यात्व का पोषक जीव नाना-प्रकार के विकल्पों में उलझा रहता है, व्याकुल-हृदय, परेशानचित्त रहता है, शांत-चित्त से कभी तत्त्व का श्रद्धान नहीं करता, तत्त्व-श्रद्धान में हमेशा संशय ही बना रहता है, जैसे- 'धर्म का लक्षण हिंसा है या अहिंसा, राग में धर्म है या वीतरागता में, मैं आत्मा हूँ या शरीर' अर्थात् अनिर्णय की स्थिति ही रहती है। ऐसे जीवों को कवि ने 'संशयित-मिथ्यादृष्टि' जीव कहा है।

(दोहा)

जाकौ तन-दुख-दहलसौं, सुरत होत नहिं रंच।

गहलरूप वरतै सदा, सो अग्यान-तिरजंच॥ 15॥

शब्दार्थ :- जाकौ तन-दुख-दहलसौं= जो शारीरिक- कष्ट से अति-दुःखी हैं, सुरत होत नहिं रंच= रंचमात्र भी सुध-बुध नहीं है, गहलरूप वरतै सदा= सदा मूर्च्छितरूप ही रहता है, सो अग्यान तिरजंच= वह 'अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि' जीव तिर्यच के समान है।

विशेषार्थ :- अज्ञान अर्थात् ज्ञान ही नहीं, वस्तु-स्वरूप से सर्वथा-अनभिज्ञ। जैसे शरीर में अत्यधिक-पीड़ा होने पर उपयोग प्रतिक्षण उस पीड़ा के वेदन में ही रमा रहता है, एक-क्षण के लिये भी उस पीड़ा से बाहर नहीं आता; यहाँ तक कि मूर्च्छित-सा ही रहता है। ठीक उसीप्रकार अज्ञानी-मिथ्यात्वी जीव भी हित-अहित के विवेक-विचार बिना ही कुछ भी करता है, जैसे हिंसक-कार्यों में धर्म होगा भी कि नहीं? कोई विचार नहीं करता है, जैसा जिसने कहा वैसा ही मान लिया। कविवर कहते हैं ऐसे जीव मनुष्य होकर भी तिर्यच के समान ही है, जैसे तिर्यच को कोई विवेक नहीं होता, वह कुछ भी खाता है, कुछ भी पीता है, कुछ भी करता है; ठीक उसीप्रकार अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि-जीव भी बिना सोचे-समझे कुछ भी करता है।

इसप्रकार मिथ्यात्व-गुणस्थान के अंतर्गत कवि ने बहुत ही सरलता से जीव की अनादिकालीन पाँच-भूलें, जोकि आगम में पाँच-प्रकार के मिथ्यात्व के नाम से वर्णित है, उनका वर्णन किया। ये पाँचों ही प्रकार का मिथ्यात्व जीव के लिये महा-दुःखदायी है। जबतक इस मिथ्यात्व-बैरी का अंश भी

विद्यमान रहता है, तबतक जीव को सच्चे-सुख की प्राप्ति नहीं होती।

(दोहा)

पंच-भेद मिथ्यात के, कहै जिनागम-जोड़।
सादि-अनादि सरूप अब, कहूँ अवस्था-दोड़॥ 16॥
जो मिथ्या-दल उपसमै, ग्रंथि-भेदि बुध होड़।
फिर आवै मिथ्यातमै, सादि-मिथ्याती सोड़॥ 17॥
जिनि ग्रंथी भेदी नहीं, ममता-मगन सदीव।
सो अनादि-मिथ्यामती, विकल बहिर्मुख-जीव॥ 18॥

शब्दार्थ :- पंच-भेद मिथ्यात के= मिथ्यात्व के पाँच-भेद, कहै जिनागम जोड़= जिनागम के अनुसार कहे हैं, सादि-अनादि सरूप अब= अब (मिथ्यात्व की) सादि और अनादिरूप, कहूँ अवस्था-दोड़= इन दो अवस्थाओं को कहता हूँ॥ 16॥

जो मिथ्या-दल उपसमै= जो मिथ्यात्व के अखंडितरूप/समूह का उपशम करके, ग्रंथि-भेदि बुध होड़= अखंड-मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेद करके ज्ञानी होता है, फिर आवै मिथ्यातमै= (और) फिर वापस मिथ्यात्व में आता है, सादि-मिथ्याती सोड़= वह जीव 'सादि-मिथ्यात्वी' है॥ 17॥

जिनि ग्रंथी भेदी नहीं= जिन्होंने मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेद कभी किया ही नहीं है, ममता-मगन सदीव= सदैव पर में ममत्वरूप-परिणामों में ही मगन हैं, सो अनादि-मिथ्यामती= वे अनादि-मिथ्यात्वी हैं, विकल बहिर्मुख-जीव= वे दुःखी, परोन्मुखी-जीव हैं॥ 18॥

विशेषार्थ :- इन तीनों-छंदों में कवि ने मिथ्यात्व के दो-अवस्थाओंरूप भेदों का वर्णन किया है। एक तो वह जीव, जो अनादिकाल से आज तक सुलटा ही नहीं, मिथ्यात्व के परिणामों में ही रमा रहा। और दूसरा वह जीव जिसने मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेद भी किया, और उपशम-सम्यक्त्व का स्वाद भी चखा; परन्तु उसका काल अति-अल्प होने से, और पुनः मिथ्यात्व का उदय आने से उसकी दलदल में फँस गया।

विपरीत-अभिप्राय/उल्टी-मान्यता /अतत्त्व-श्रद्धान अर्थात् वस्तु का जैसा स्वरूप आगम में वर्णित है, उसे उसरूप में न मानकर अन्यथारूप मानना—ऐसी विपरीत-मान्यता को 'मिथ्यात्व' कहते हैं। 'मिथ्यात्व' के दो भेद जिनागम में बताये गये हैं— 'अनादि-मिथ्यात्व' और 'सादि-मिथ्यात्व'।

अनादि-मिथ्यात्व अर्थात् जिसे नवीन ग्रहण नहीं किया। मिथ्यात्व-कर्म के उदय से दूसरे के उपदेश के बिना ही अनादिकाल से आत्मस्वरूप की भ्रांतिरूप विपरीत-श्रद्धान होने से ज्ञानावरणादि-कर्म और शरीरादि-नोकर्म तथा पुण्य-पाप, रागादिरूप मलिन-भावों में जो एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि है, सो वह 'अनादि-मिथ्यात्व' है।

सादि-मिथ्यात्व अर्थात् नवीन-ग्रहण किया। मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेद करके प्रथमोपशम-सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद उसका काल अत्यल्प होने से, पुनः मिथ्यात्व का उदय आ जाने से जो फिर से मिथ्यादृष्टि हो जाता है, वह 'सादि-मिथ्यादृष्टि-जीव' है।

जो जीव अपूर्व आत्मिक-पुरुषार्थ के द्वारा दर्शन-मोहनीय के अखंडितरूप का उपशम करके, अर्थात् उस दर्शनमोहनीय-कर्म का ग्रंथिभेद करके उसे मिथ्यात्व, सम्यक्त्व एवं मिश्र— इन तीन प्रकृतियों के रूप में विखंडित कर देता है, और मिथ्यात्व-गुणस्थान को पहली बार पारकर सम्यक्त्व का स्वाद चखता है, अर्थात् उपशम-सम्यक्त्व को प्राप्त करता है; लेकिन पुनः मिथ्यात्व का उदय आ जाने से नीचे चतुर्दश गुणस्थानाधिकार-द्वार

गिरता है, उसे 'सादि-मिथ्यात्वी' कहते हैं। अर्थात् यहाँ से वह पुनः मिथ्यादृष्टि हो जाता है। लेकिन जिन जीवों ने अनादिकाल से आज तक मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेद किया ही नहीं है, और देहादिक-परपदार्थों की ममता में ही मग्न रहे, वे बहिर्मुखी यानि स्वात्मा से विमुख, अज्ञानी 'अनादि-मिथ्यात्वी' जीव हैं।

'अनादि-मिथ्यात्व' के उदय में हमारी/जीव की अवस्था :— अनादि-मिथ्यादृष्टि-जीव— 'मैं आत्मा सदाकाल ज्ञान-स्वरूप हूँ, अनंत-सुख का भंडार हूँ', उसे तो जानता नहीं, और केवल शरीर और संयोगी-पदार्थों में ही एकत्व-ममत्वबुद्धि करता है। शरीरादि की अनुकूलता और प्रतिकूलता में ही अपने को सुखी-दुःखी भी अनुभव करता है, 'मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान्, मैं निर्बल, मैं कुरूप, मैं सुन्दर, मेरा घर, मेरा वैभव, मेरे पुत्र, मेरी स्त्री, मैं मूर्ख, मैं चतुर हूँ' इत्यादि— ऐसा मानता है। यह जानता ही नहीं कि यह सब देहादिक के संयोग तो कर्म के उदय के आधीन हैं, लेकिन फिर भी अज्ञानतावश इन्हें अपना मानकर दुःखी होता है, और अनंत-संसार का बंध करता है। मिथ्यादृष्टि-जीव यह नहीं जानता कि धर्म का स्वरूप क्या है? शुभ-अशुभ भावों या पुण्य-पाप का भेद/रहस्य क्या है? बस शरीराश्रित-क्रियाओं में ही ममत्वबुद्धि स्थापित कर उसमें मग्न रहता है। इसलिये ऐसे जीव को शुभाशुभ-क्रियायें करते हुये भी मिथ्यादृष्टि ही कहा जाता है।

इसीलिए आचार्य भगवन् कहते हैं, "हे आत्मन्! मिथ्यात्व का तो अंश भी बुरा है।" क्यों? क्योंकि जबतक मिथ्यात्व रहेगा, तबतक जीव कितना भी पुरुषार्थ कर ले, वह सुखी नहीं हो सकता। जिसप्रकार स्वादिष्ट-भोजन को विष की एक बूँद; पतीला-भर दूध को जरा-सा नीबू का रस विकृत व अहितकारी कर देता है; ठीक उसीप्रकार अंशमात्र भी मिथ्यात्व के रहते जीव कितना भी ध्यान, तप, सामायिक आदि करे, उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होगी, सारी तपस्या निष्फल है। मिथ्यात्व संसाररूपी-वृक्ष की जड़ है। जबतक वृक्ष की जड़ अखंडित है, तबतक वह वृक्ष ऊपर से कितना भी काट-छाँट दिया जाये, वह नष्ट नहीं होगा। ठीक उसीप्रकार जबतक मिथ्यात्वरूपी-जड़ मौजूद है, तबतक संसाररूपी-वृक्ष फलता ही रहेगा। यदि इस वृक्ष को गिराना है, तो सबसे पहले मिथ्यात्वरूपी-जड़ को नष्ट करो; वृक्ष तो स्वयं ही गिर जायेगा।

जिसप्रकार लकड़ी की नाव भले ही कितनी भी छोटी क्यों न हो, पर वह अपने आश्रित को डूबने नहीं देती, उसीप्रकार जिसकी दृष्टि सम्यक् है, उसे संसार-समुद्र को पार करने में कुछ वक्त भले ही लगे, परन्तु वह पार हो ही जायेगा। लेकिन जिसकी दृष्टि मिथ्या है, वह कितना भी पुरुषार्थ कर ले, उसकी पत्थर की नाव संसार-समुद्र में डूबेगी ही डूबेगी। इसप्रकार यह मिथ्यात्व-भाव जीव को चिरकाल तक मात्र दुःखदायी ही है।

(देहा)

कह्यौ प्रथम-गुनथान यह, मिथ्यामत-अभिधान।

करूँ अलप-वरनन अबै, सासादन-गुनथान॥ 19॥

(सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ क्षुधित-पुरुष खाइ खीर-खांड, वौन करै पीछेकौ लगार स्वाद पावै है।

तैसैं चढ़ि चौथै पाँचए कै छुटै गुनथान, काहू उपसमीकौ कषाय-उदै आवै है॥

ताही-समै तहाँसौं गिरै प्रधान-दसा-त्यागी, मिथ्यात-अवस्थाकौ अधोमुख ह्वै धावै है।

बीचि एक-समै वा छह-आवली-प्रवांन रहै, सोई सासादन-गुनथानक कहावै है॥ 20॥

शब्दार्थ :— कहाँ प्रथम-गुणस्थान यह मिथ्यामत-अभिधान= यहाँ तक पहले 'मिथ्यात्व' नामक गुणस्थान का स्वरूप कहा, करूँ अल्प-वरनन अबै सासादन-गुणस्थान= अब सासादन-गुणस्थान का संक्षेप में वर्णन करता हूँ॥ 19॥

जैसे कोई भूखा-मनुष्य खांड/चीनी-मिश्रित खीर खाये, वौन करै पीछेकौ लगार स्वाद पावै है= और उसका वमन/उल्टी कर दे, लेकिन फिर भी बाद में उसके मुँह में उस खीर के स्वाद का अंश रह जाता है, तैसे चढ़ि चौथै पाँचए कै छट्टे गुणस्थान= वैसे ही चौथे, पाँचवे, छट्टे गुणस्थान तक चढ़ने के बाद, काहू उपसमीकौ कषाय उदै आवै है= किसी उपशमी-सम्यक्त्वी को (अनंतानुबंधी-) कषाय का उदय आ जाये, ताही-समै तहाँसौं गिरै प्रधान-दसा त्यागी= उसीसमय वह उस गुणस्थान से गिरता है, श्रेष्ठ-दशा/सम्यग्दर्शन को छोड़कर, मिथ्यात-अवस्थाकौ अधोमुख है धावै है= मिथ्यात्व की ओर उल्टा अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर दौड़ता/गिरता है, बीच एक-समै वा छह-आवली-प्रवांन रहै= उस बीच का समय (जोकि न्यूनतम) एक-समय या (अधिकतम) छह-आवली-प्रमाण है, सोई सासादन-गुणस्थानक कहावै है= वही 'सासादन-गुणस्थान' कहलाता है॥ 20॥

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने गुणस्थान-विवेचन के क्रम में दूसरे 'सासादन-गुणस्थान' का उदाहरण-सहित वर्णन किया है।

जैसे कोई भूख से आकुलित-व्यक्ति खांड-मिश्रित-खीर का भक्षण करे; लेकिन कदाचित् किसी कारणवश उसे वमन अर्थात् उल्टी हो जाये, तो उल्टी होने के बाद भी उसके मुँह में मीठी-खीर के अंश का स्वाद रह जाता है; ठीक उसीप्रकार जब कोई जीव आत्मिक-पुरुषार्थ के बल पर दर्शन-मोहनीय की कर्म-प्रकृतियों का उपशम करते हुए चौथे, पाँचवे और छट्टे गुणस्थान तक भी पहुँच जाता है; लेकिन अचानक अनंतानुबंधी-कषाय का उदय आ जाने से वह उपशमी-सम्यग्दृष्टि-जीव उसी-समय सम्यग्दर्शनरूप श्रेष्ठ-दशा को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर अधोमुख अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर गिरता है। तब सम्यग्दर्शन से च्युत होने और मिथ्यात्व-दशा में पहुँचने के बीच का समय, जो कम से कम एक-समय और अधिक से अधिक छह-आवलीकाल तक होता है, उस अवस्था को 'सासादन-गुणस्थान' कहते हैं।

यह गुणस्थान सम्यक्त्व की विराधना हो चुकने, किंतु मिथ्यात्व को प्राप्त होने से पहले की अवस्था का गुणस्थान है। सम्यग्दर्शन की विराधना को 'सासादन' कहते हैं। तथा उसके साथ जो भाव होते हैं, उसको 'सासादन' कहते हैं। जिस औपशमिक-सम्यग्दृष्टि जीव ने अन्तानुबन्धी-कषाय के उदयवश औपशमिक-सम्यग्दर्शन के काल में कम से कम एक-समय और अधिक से अधिक छह-आवली काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शनरूपी-रत्नपर्वत के शिखर से च्युत होकर मिथ्यादर्शनरूपी-भूमि के सम्मुख होते हुए सम्यक्त्व का तो नाश कर लिया है; किन्तु अभी मिथ्यात्व-अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है; जीव की उस बीच की अवस्था को 'सासादन-गुणस्थान' कहते हैं। सासादन का परिणाम सम्यग्दर्शन की विराधना-पूर्वक मिथ्यात्व के नज़दीक का परिणाम है। इसलिए इस गुणस्थान से जीव नियम से मिथ्यात्व में ही प्रवेश करता है।

(दोहा)

सासादन-गुणस्थान यह, भयौ समापत बीय।

मिश्रनाम-गुणस्थान अब, वरनन करूँ तृतीय॥ 21॥

उपसमी-समकिति कै तौ सादि-मिथ्यामती, दुहुँनिकौ मिश्रित-मिथ्यात आइ गहै है।
 अनंतानुबंधी-चौकरीकौ उदै नाहिं जामैं, मिथ्यात, समै-प्रकृति मिथ्यात न रहै है॥
 जहाँ सद्गहन-सत्यासत्य-रूप समकाल, ग्यानभाव-मिथ्याभाव मिश्र-धारा बहै है।
 याकी-थिति अंतरमुहूरत उभयरूप, ऐसौ मिश्र-गुणस्थान आचारज कहौ है॥ 22॥

शब्दार्थ :— सासादन-गुणस्थान यह बीय भयौ समापत= यह 'सासादन' नामक दूसरा-गुणस्थान (का वर्णन) यहाँ समाप्त हुआ, मिश्रनाम-गुणस्थान अब वरनन करूँ तृतीय= अब तीसरे 'मिश्र' नामक गुणस्थान का वर्णन करता हूँ॥ 21॥

उपसमी-समकिति कै तौ सादि-मिथ्यामती= उपसमी-सम्यक्त्वी अथवा सादि-मिथ्यात्वी जीव, दुहुँनिकौ मिश्रित-मिथ्यात आइ गहै है= दोनों को 'मिश्र-मिथ्यात्व-प्रकृति' का उदय आ गया हो, अनंतानुबंधी-चौकरीकौ उदै नाहिं जामैं= किन्तु जिसमें अनंतानुबंधी-चौकड़ी का उदय न हो, मिथ्यात समै-प्रकृति मिथ्यात न रहै है= (दर्शन-मोहनीय कर्म की) 'मिथ्यात्व' और 'सम्यक्-प्रकृति-मिथ्यात्व' का भी उदय न हो, जहाँ सद्गहन-सत्यासत्यरूप समकाल= जहाँ एक ही समय में सत्य-असत्यरूप श्रद्धान, ग्यानभाव-मिथ्याभाव मिश्र-धारा बहै है= ज्ञान-भाव और मिथ्यात्व-भाव की मिश्र-धारा बह रही हो, याकी-थिति अंतरमुहूरत= इसका समय अंतर्मुहूर्त, उभयरूप ऐसौ मिश्र-गुणस्थान आचारज कहै है= दोनों का मिलाजुलारूप ऐसा 'मिश्र-गुणस्थान' आचार्यदेव ने कहा है॥ 22॥

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि गुणस्थान-विवेचन के क्रम में तीसरे मिश्र-गुणस्थान का सुंदर-विवेचन किया है।

इस गुणस्थान में जीव को न तो सर्वथा-मिथ्यादृष्टि ही कह सकते हैं, और न ही सर्वथा-सम्यग्दृष्टि; बल्कि इस गुणस्थान में दोनों का मिला-जुला-रूप होता है। कर्म-प्रकृतियों का उपशम करनेवाले औपशमिक-सम्यक्त्वी या सम्यक्त्व का स्वाद चखकर पुनः मिथ्यात्व में आनेवाले सादि-मिथ्यात्वी दोनों को जब सम्यक्-मिथ्यात्व-प्रकृति का उदय हो, और अनंतानुबंधी-क्रोध-मान-माया-लोभ में से किसी भी प्रकृति का उदय न हो, साथ ही 'मिथ्यात्व' और 'सम्यक्-प्रकृति' का भी उदय न हो, अर्थात् इन छह प्रकृतियों का अनुदय एवं एक 'सम्यक्मिथ्यात्व-प्रकृति' का उदय हो, तब उससमय एक ही काल में जीव को सत्य और असत्यरूप श्रद्धान होता है। साथ ही ज्ञान-भाव और मिथ्यात्व-भाव की धारा एकसाथ बहती है, दोनों के उभयरूप या मिलाजुले-स्वाद को 'मिश्र-गुणस्थान' के नाम से आचार्यों ने वर्णित किया है। इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त होता है।

जैसे कोई व्यक्ति दही और गुड़— दोनों को मिलाकर खाता है, तो उसे जितना स्वाद दही की खटास का आता है, उतना ही स्वाद गुड़ की मिठास का भी आता है। न तो वह व्यक्ति उस पदार्थ को खट्टा कह सकता है और न मीठा; क्योंकि उसे दोनों का बराबर-स्वाद आ रहा है। ठीक उसीप्रकार इस गुणस्थान में जीव को मिला-जुलारूप अनुभव में आता है। क्योंकि जीव के श्रद्धा-गुण की निर्मल-पर्याय का नाम 'सम्यग्दर्शन' है; और मलिन-पर्याय का नाम मिथ्यादर्शन है। परन्तु इस गुणस्थान में जीव के श्रद्धा-गुण की पर्याय 'सम्यक्' तथा 'मिथ्या'— दोनों रूप परिणामित होती हैं, उस समय हम उसे न तो सम्यक्-रूप कह सकते हैं, न मिथ्यारूप; उस समय साधक-जीव को दोनों की बराबर-अनुभूति होती है, अर्थात् उस समय श्रद्धा-गुण का परिणामन मिश्ररूप होता है।

सरल-शब्दों में कहें, तो इस तीसरे- गुणस्थान में जीव के न तो सम्यक्त्वरूप परिणाम होते हैं, और

न ही मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं; वरन् गुड़ और दही के समान सम्मिश्ररूप परिणाम होते हैं। इसीलिए जैसे भली-भाँति मिलाए गये दही और गुड़ के मिश्रण के स्वाद को पृथक्-पृथक् लेना संभव नहीं है; उसीप्रकार इस मिश्रभाव को भी पृथक्-पृथक् करना संभव नहीं है। अतः इस मिश्रभाव-युक्त गुणस्थान को 'मिश्र-गुणस्थान' कहा जाता है।

(दोहा)

मिश्र-दसा पूरन भई, कही यथामति-भाखि।

अब चतुर्थ-गुणस्थान-विधि, कहौं जिनागम-साखि॥ 23 ॥

(सवैया इकतीसा)

केई-जीव समकित पाइ अर्ध-पुद्गल-परावर्त-काल ताई चोखे होइ चितके।

केई एक अंतरमुहूरतमैं गंठि-भेदि, मारग-उलंघि सुख वेदै मोख वितके॥

तातैं अंतरमुहूरतसौं अर्धपुद्गल-लौं, जेते-समै होहिं तेते भेद समकित के।

जाही समै जाकौं जब समकित होइ सोई, तब-हीसौं गुन गहे, दोस दहै इतके॥ 24 ॥

(दोहा)

अध-अपूव्व-अनिवृत्ति-त्रिक, करन करै जो कोइ।

मिथ्या-गंठि-विदारि गुन, प्रगटै समकित सोइ॥ 25 ॥

शब्दार्थ :— मिश्र-दसा पूरन भई, कही यथामति भाखि= मिश्र-दशा/गुणस्थान का वर्णन अपनी बुद्धि-अनुसार विवेचित किया, अब चतुर्थ-गुणस्थान-विधि कहौं जिनागम साखि= अब चौथे गुणस्थान की प्रक्रिया जिनवाणी की साक्षीपूर्वक कहता हूँ॥ 23 ॥

केई जीव समकित पाइ= कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, **अर्ध-पुद्गल-परावर्त-काल ताई=** अर्ध-पुद्गल-परावर्तन-काल तक, **चोखे होइ चितके=** निर्मल-चित्तवाले होते हैं, **केई एक अंतरमुहूरतमैं गंठि भेदि=** कई अंतर्मुहूर्त में ग्रंथि-भेदनकर, **मारग-उलंघि सुख वेदै मोख वितके** मार्ग का उल्लंघनकर मोक्ष-सुख का वेदन करते हैं, **तातैं अंतरमुहूरतसौं अर्धपुद्गल-लौं=** इसलिये अंतर्मुहूर्त से अर्ध-पुद्गल-परावर्तन-काल तक, **जेते समै होहिं, तेते भेद समकित के=** जितने समय होते हैं, उतने ही भेद सम्यग्दर्शन के हैं, **जाही समै जाकौं जब समकित होइ=** जिस समय जब जिसको सम्यग्दर्शन होता है, **सोई तबहीसौं गुन गहे=** वह तभी से गुण-ग्रहण करता है, **दोस दहै इतके=** और संसार के दुःखों का दहन करता है॥ 24 ॥

अध-अपूव्व-अनिवृत्ति-त्रिक करन करै जो कोइ= अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों/परिणामों जो कोई करता है, (वह), **मिथ्या-गंठि विदारि, गुन प्रगटै समकित सोइ=** मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेदनकर, गुणों को प्रकट करता है, वही सम्यग्दृष्टि है॥ 25 ॥

विशेषार्थ :— इन तीनों-छंदों में कवि ने गुणस्थान-विवेचन के अंतर्गत चतुर्थ 'अविरत-सम्यक्त्व' नामक गुणस्थान का विवेचन किया है। इससे पूर्व कवि ने स्वयं अपनी योग्यता को व्यक्त करते हुए कहा कि तीसरा 'मिश्र-गुणस्थान' मैंने अपने क्षयोपशम के अनुसार वर्णित किया, अब जिनवाणी की साक्षी-पूर्वक चतुर्थ-गुणस्थान का वर्णन करता हूँ।

कविवर कहते हैं कई-जीव सम्यग्दर्शन प्राप्तकर अर्ध-पुद्गल-परावर्तन-काल-पर्यंत निर्मल-चित्तवाले होते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि जिस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उस जीव का इस संसार में रहने का अधिकतम-काल अर्ध-पुद्गल-परावर्तन शेष रहता है अर्थात् अनंत-संसार सिमटकर चतुर्दश गुणस्थानाधिकार-द्वार

मात्र इतना ही रह जाता है। और कई-जीव ऐसे हैं, जो मात्र अंतर्मुहुर्त-काल में ही मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेदनकर, मार्ग का उल्लंघनकर, सीधे मोक्षगामियों जैसे अतीन्द्रिय-सुख का वेदन करते हैं। अर्थात् ऐसे जीव अति-तीव्र-पुरुषार्थ करके अंतर्मुहुर्त में ही श्रेणी मांडकर सीधे मोक्ष-सुख का वेदन करते हैं। कम से कम अंतर्मुहुर्त और अधिक से अधिक अर्ध-पुद्गल-परावर्तन-काल में जितने समय होते हैं, उतने ही सम्यक्त्व के भेद हैं। जिससमय जिस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसीसमय से वह जीव आत्मिक-गुणों को ग्रहण करता है अर्थात् स्व-सन्मुख रहता है, और संसार के दोषों का दहन या नष्ट करता है।

निष्कर्षरूप में कविवर कहते हैं कि जो जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति से पूर्व करण-लब्धि के अन्तर्गत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीन-करणों/परिणामों को करता है। और अनिवृत्तिकरण के अंतिम-समय में मिथ्यात्व का ग्रंथि-भेदन करके आत्मिक-गुणों को प्रगट/साक्षात्कार करता है, उसी जीव को सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, अर्थात् वही जीव सम्यग्दृष्टि है।

अविरत-सम्यक्त्व-गुणस्थान— जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस गुणस्थान में तत्त्वार्थ के सम्यक्-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व होते हुये भी विक्तरूप-भाव नहीं होते, या कहे व्रतादिक के पालनरूप-भाव नहीं होते; इसीलिए इसे 'अविरत-सम्यक्त्व' गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और अनंतानुबंधी कषाय-चौकड़ी का क्षय या उपशम हो जाता है। शंकादि आठ-दोष, आठ-मद, तीन-मूढ़ता, छह-अनायतन आदि 25 दोष नहीं होते। निःशंकित, निःकांक्षित आदि अष्ट-गुण प्रकट होते हैं। कषाय में मंदता आती है। संसार की क्रिया करते हुये भी स्व-पर का भेदज्ञान प्रतिसमय वर्तता है।

(दोहा)

समकित-उतपति-चिह्न-गुण-भूषण दोष-विनास।

अतीचार-जुत अष्ट-विधि, वरनौ विवरन तास॥ 26॥

शब्दार्थ :- समकित-उतपति-चिह्न-गुण भूषण-दोष-विनास= सम्यक्त्व, उत्पत्ति, चिह्न, गुण, भूषण, दोष, विनाश, अतीचार-जुत अष्ट-विधि वरनौ विवरन तास= अतिचार-सहित आठप्रकार (सम्यक्त्व से संबंधित वर्ण्य-विषयों) का वर्णन करता हूँ।

विशेषार्थ :- इस-छंद में सम्यग्दर्शन के आठ-वर्ण्य-विषयों के नामों का वर्णन किया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन क्या है? कैसे होता है? सम्यग्दर्शन के क्या चिह्न/लक्षण या पहचान है? सम्यग्दर्शन होने पर क्या प्रगट होता है? और किसका विनाश हो जाता है? इत्यादि। इसप्रकार सम्यक्त्व, उत्पत्ति, चिह्न, गुण, भूषण, दोष, विनाश और अतिचार-सहित— ये आठ 'सम्यग्दर्शन' के वर्ण्य-विषय हैं।

(चौपाई)

सत्य-प्रतीति-अवस्था जाकी, दिन-दिन रीति गहै समताकी।

छिन-छिन करै सत्यकौ साकौ, समकित नाम कहावै ताकौ॥ 27॥

शब्दार्थ :- सत्य-प्रतीति-अवस्था जाकी= जिसकी अवस्था सत्य-स्वरूप की प्रतीतिरूप है, दिन-दिन रीति गहै समताकी= दिन-प्रतिदिन समताभाव को ग्रहण करता है, छिन-छिन करै सत्यकौ साकौ= जो क्षण-क्षण सत्य का साक्षात्कार करता है, समकित नाम कहावै ताकौ= उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ :- पहला वर्ण्य विषय सम्यग्दर्शन क्या है? जो प्रत्येक पदार्थ के सत्य-स्वरूप को ही ग्रहण

करता है, अर्थात् छहों-द्रव्यों की भिन्नता और स्वतंत्र-परिणामन को जैसा है, वैसा ही स्वीकार करता है। प्रतिदिन कर्मों की उदयाधीन-व्यवस्था में इष्ट-अनिष्टरूप प्रवर्तन न करके सहज-समताभाव धारण करता है। क्षण-क्षण पर सत्य का साक्षात्कार करता है अर्थात् आत्मिक-गुणों का रसास्वादन करता है, ऐसे आत्मस्वरूप की निर्मलता का नाम ही 'सम्यग्दर्शन' है।

(दोहा)

कै तौ सहज-सुभाउ कै, उपदेसै गुरु कोइ।
चहुँगति सैनी-जीउकौ, सम्यकदरसन होइ॥ 28॥

शब्दार्थ :- कै तौ सहज-सुभाउ= या तो सहज-स्वभाव से (निसर्गज), कै उपदेसै गुरु कोइ= या किसी गुरु के उपदेश से (अधिगमज), चहुँगति सैनी-जीउकौ= चारों गतियों में संजी-जीव को, सम्यकदरसन होइ= सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है।

विशेषार्थ :- दूसरा वर्ण्य विषय सम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे होती है? वास्तव में तो सम्यग्दर्शन की प्रगटता का एकमात्र-कारण जीव का स्वयं का पुरुषार्थ ही है; क्योंकि गुरु का उपदेश भी तभी कार्यकारी होता है, जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करता है। और स्वयं के पुरुषार्थ से होनेवाले इस सम्यग्दर्शन को 'निसर्गज सम्यग्दर्शन' कहते हैं। कदाचित् ऐसा भी होता है कि बाहर में वीतरागी देव, गुरु, धर्म के उपदेश का सुयोग बना, और उसीसमय जीव ने आत्मिक-पुरुषार्थ भी किया और सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; तब देव, गुरु, धर्म का उपदेश साक्षात्-निमित्त होने से उसे 'अधिगमज-सम्यग्दर्शन' कहा जाता है।

(दोहा)

आपा-परिचै निज-विषै, उपजै नहिं संदेह।
सहज प्रपंच-रहित दशा, समकित-लच्छन एह॥ 29॥

शब्दार्थ :- आपा-परिचै निज-विषै= आत्मा का परिचय आत्मा में ही, उपजै नहिं संदेह= संदेह की उत्पत्ति नहीं होती, सहज प्रपंच-रहित दसा= छल-कपट से रहित सहज ही स्वाभाविक-स्थिति, समकित-लच्छन एह= यही सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

विशेषार्थ :- तीसरा वर्ण्य विषय चिह्न 'सम्यग्दर्शन का लक्षण या पहचान' क्या है?— स्वयं का परिचय/साक्षात्कार स्वयं से ही होने से संदेह की उत्पत्ति ही नहीं होती। क्योंकि संदेह की उत्पत्ति तो वहाँ होती है, जहाँ पर की अपेक्षा या बाधा होती है। यहाँ तो पर से भिन्न आत्मा, आत्मा को ही जानता है। इसीलिये छल-कपट के प्रपंचों से रहित सहज, स्वाभाविक-ज्ञानरूप परिणामन होता है— यही सम्यग्दर्शन का वास्तविक-लक्षण है।

(दोहा)

करुना-वच्छल-सुजनता, आतम-निंदा-पाठ।
समता-भगति-विरागता-धरमराग गुन-आठ॥ 30॥

शब्दार्थ :- करुना= करुणा, वच्छल= वात्सल्य, सुजनता= सज्जनता, आतम-निंदा-पाठ= आत्म-आलोचना, समता= समता, भगति= भक्ति, विरागता= उदासीनता, धरमराग= धर्मानुराग, गुन आठ= ये सम्यक्त्व के आठ-गुण हैं।

विशेषार्थ :- चतुर्थ वर्ण्यविषय गुण के अंतर्गत कवि ने सम्यग्दर्शन के आठगुणों का वर्णन किया है।

आत्मस्वभाव की निर्मल-परिणति का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसकी प्रगटता बाहर में इन आठ-गुणों के माध्यम से देखी जा सकती है। 'करुणा' यानि जीवमात्र के प्रति करुणा का भाव होना। मिथ्यादृष्टि-जीव के हृदय में पहले तो करुणा का भाव आता ही नहीं, और आता भी है, तो मात्र अति-स्थूल-जीवों के प्रति और वह भी निहित स्वार्थों के कारण, न कि वास्तविक व निःस्वार्थ-करुणाभाव से। जबकि सम्यग्दृष्टि-जीव के हृदय में, आचार-विचार में, प्रवर्तन में जीवमात्र के प्रति सहज ही 'करुणा निहित' होती है। 'साधर्मी-वात्सल्य' या जीवमात्र के प्रति निःस्वार्थ-प्रेम का 'सच्चारूप' सम्यग्दृष्टि-जीव के व्यवहार में ही होता है। छल-कपट के प्रपंचों से रहित होने से 'सज्जनता' का सहजरूप देखने को मिलता है। मिथ्यादृष्टि-जीव अपनी आलोचना तो दूर, गलती को भी स्वीकार नहीं करता; जबकि सम्यग्दृष्टि-जीव की दृष्टि में 'आत्मालोचन' की ही मुख्यता होती है। कर्म के उदय में प्राप्त संयोगों और पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि, राग-द्वेष का परिणाम न होकर सहज 'साम्यभाव' वर्तता है। अंतरंग में आत्मस्वरूप का दृढ़-श्रद्धान और बाह्य में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का दृढ़-श्रद्धानरूप 'भक्ति' सम्यग्दर्शन का अभिन्न-गुण है। जिसे आत्म-स्वरूप की महिमा आती है, उसे जगत् का कोई भी पदार्थ रुचिकर नहीं लगता, इसलिए सहज ही पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के प्रति 'विरक्ति' का भाव वर्तता है। ऐसे सम्यक्-श्रद्धानी-जीवों को आत्म-स्वभावरूप उत्तम-क्षमादि दश-धर्मों के प्रति 'अति-अनुराग' होता है, इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव इन सभी धर्मों को अपने जीवन में अवश्य धारण करते हैं।

(दोहा)

चित-प्रभावना-भावजुत, हेय-उपादै वानि।

धीरज-हरख-प्रवीनता, भूषन-पंच बखानि॥ 31॥

शब्दार्थ :- चित-प्रभावना-भावजुत= भावसहित-प्रभावना करना, हेय-उपादै-वानि= हेय-उपादेय की पहिचान-सहित वाणी बोलना, धीरज= धैर्य धारण करना, हरख= हर्ष का भाव रखना, प्रवीनता= बुद्धिमानता, भूषन-पंच बखानि= ये पाँच सम्यक्त्व के आभूषण/अलंकरण कहे गये हैं।

विशेषार्थ :- पाँचवे वर्ण्य-विषय के अंतर्गत कवि ने सम्यक्त्व के आभूषणों का वर्णन किया है। जैसे बाह्य-आभूषण देह को अलंकृत करते हैं, ठीक उसीप्रकार निम्न पाँच-आभूषण सम्यग्दृष्टि-जीव के व्यक्तित्व को अलंकृत करते हैं।

उसके चित्त में प्रतिसमय वीतरागी-धर्म की प्रभावना का भाव वर्तता है। हेय-उपादेय की सच्ची-परख होने से समस्त बाह्य हेय-पदार्थों/भावों को छोड़कर एकमात्र निज-स्वरूप को उपादेय जानकर उसी की सच्ची-प्रतीति और उसी में प्रवर्तन का पुरुषार्थ करता है। जगत् के परिणामन की स्वतंत्रता का भान होने से अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं में धैर्य धारण करता है। आत्मिक-सुख का वेदन होने से निरन्तर हर्ष और उत्साह का भाव रहता है। स्व-पर में भेदविज्ञान वर्तने से तत्त्वचिंतन में प्रवीणता— ये पाँचों-आभूषण सम्यग्दृष्टि-जीव के व्यक्तित्व को सुशोभित करते हैं।

(दोहा)

अष्ट-महामद अष्ट-मल, षट-आयतन विशेष।

तीन-मूढ़ता-संजुगत, दोष-पचीसौ एष॥ 32॥

शब्दार्थ :- अष्ट-महामद= आठ-महामद, अष्ट-मल= आठ मल/विकार, षट-अनायतन= छह-अनायतन,

विशेष तीन-मूढ़ता= तीन मूढ़ता, संजुगत दोष-पचीसौ एष= सब मिलाकर ये 25 दोष हैं।

विशेषार्थ :- छठवें वर्ण्य-विषय के अंतर्गत कवि ने आठ-मद, आठ-मल, छह-अनायतन, और तीन-मूढ़ता— ऐसे सम्यग्दर्शन के 25 दोषों का वर्णन किया है। जिनका वर्णन क्रमशः इसप्रकार है—

(दोहा)

जाति-लाभ-कुल-रूप-तप, -बल-विद्या-अधिकार।

इनकौ गरब जु कीजिये, यह मद अष्ट-प्रकार॥ 33॥

शब्दार्थ :- जाति-लाभ-कुल-रूप-तप= जाति, लाभ, कुल, रूप, बाह्य-तप, बल-विद्या-अधिकार= बल, विद्या और अधिकार, इनकौ गरब जु कीजिये= इनका गर्व/घमंड करना, यह मद अष्टप्रकार= ये आठप्रकार का मद है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने आठ-मदों का संक्षिप्त-वर्णन किया है।

पूर्वोपार्जित-कर्माँ के अनुसार प्राप्त जाति (माँ का वंश), लाभ (धन-वैभव-संपदा-यश आदि), कुल (पिता का वंश), रूप (देह की सुंदरता), तप (देह से किये जाने वाले बाह्य-व्रतादिक), बल (देह का बल), विद्या (लौकिक-ज्ञान, क्षयोपशमज्ञान) और अधिकार (प्रभुता, ऐश्वर्य, आदि)— इन आठों पर घमंड करना ही 'मद' है, जो सम्यग्दृष्टि-जीव को नहीं होते। क्योंकि वे देह और आत्मा की भिन्नता को प्रत्यक्ष-अनुभव करते हैं। साथ ये भी भली-भाँति जानते हैं कि ये सब माया पुण्योदय के आधीन है, पुण्य-क्षीण होते ही क्षण में ही विलय को प्राप्त होगी, तो मान कैसा? हाँ, सम्यग्दृष्टि-जीव को भी मान होता है; परन्तु पर-संपदा पर नहीं, अपनी मार्दव-स्वभावी आत्मा पर, और आत्मिक-गुणों की अमूल्य-संपदा पर गौरव होता है।

(चौपाई)

आसंका-अस्थिरता-वांछा, ममता-द्रिष्टि दसा-दुरगंछा।

वच्छल-रहित दोष-पर-भाखै, चित प्रभावना-माँहि न राखै॥ 34॥

शब्दार्थ :- आसंका= शंका करना, अस्थिरता= स्थिर नहीं रहना, वांछा= इच्छा होना, ममता-द्रिष्टि= ममत्व का परिणाम, दसा-दुरगंछा= ग्लानि का भाव होना, वच्छल-रहित= वात्सल्य-रहित होना, दोष-पर-भाखै= दूसरों के दोषों को कहना, चित प्रभावना-माँहि न राखै= प्रभावना में चित का न होना,— ये सम्यक्त्व के आठ मल/विकार हैं।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने सम्यक्त्व के आठ मलों का वर्णन किया है। 'मल' अर्थात् विकार। जिसे अपनी निर्मल-स्वभावी आत्मा की अनुभूति होती है, उसके हृदय में ये आठ-मल नहीं होते।

1. शंका— जिनेन्द्रदेव के वचनों में शंका करना, आत्मा एवं संसार-शरीर-भोगों का जैसा स्वरूप जिनागम में वर्णित है, उसमें शंका करना या वैसा न मानकर अन्यथा मानना इत्यादि— ऐसे भाव सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं।

2. अस्थिरता— देव-गुरु-धर्म के नाम पर होने वाले झूठे-अतिशयों/ चमत्कारों को सुनकर सच्चे-धर्म और स्वरूप से डिग जाना या स्थिर नहीं रह पाना— यह 'अस्थिरता' नामक सम्यग्दर्शन का मल है।

3. वांक्षा— धर्म-कार्य के बदले पुण्य या भोगों की वांछा करना, या मुझे स्वर्गादिक की प्राप्ति हो— ऐसी भावना से व्रत, संयम, तप आदि करना 'वांक्षा' या 'कांक्षा' नामक मल है।

4. ममता-दृष्टि— पर-पदार्थों और संयोगों के प्रति ममत्व का परिणाम होने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।
5. ग्लानि का भाव— मुनिराज के मलिन-शरीर को देखकर ग्लानि आना, या संसार के किसी भी अशुचि-पदार्थ को देखकर होने वाला घृणा का भाव भी सम्यग्दर्शन को मलिन करता है।
6. वात्सल्य-रहितता— साधर्मीजनों के प्रति द्वेष का भाव होना, या अपने किसी स्वार्थ को पूरा करने के लिए दिखावटी-लगाव रखना— ऐसा वात्सल्य-रहित छल-युक्त-परिणाम सम्यग्दर्शन को मलिन करता है।
7. पर के दोष देखना— अर्थात् दूसरे के दोषों को उजागर करना, और अपने दोषों को छिपाना— ऐसा निकृष्ट-परिणाम भी सम्यक्त्व को मलिन करता है।
8. अप्रभावना— चित्त में धर्म की प्रभावना का परिणाम न होना अर्थात् धर्म-कार्यों से हर्षित न होना और उनमें बाधा डालना सम्यग्दर्शन को मलिन करता है।

(दोहा)

कुगुरु-कुदेव-कुधर्म-धर, कुगुरु कुदेव कुधर्म।
इनकी करै सराहना, यह षडानायतन-कर्म॥ 35॥

शब्दार्थ— कुगुरु-कुदेव-कुधर्म-धर= कुगुरु-कुदेव-कुधर्म को माननेवाले या उनके अनुयायी, (और) कुगुरु कुदेव कुधर्म= कुगुरु, कुदेव कुधर्म, इनकी करै सराहना= इन छहों की प्रशंसा करना, यह षडायतन-कर्म= ये छह-अनायतन-कार्य हैं।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने 'षट्-अनायतन' का वर्णन किया है। 'आयतन' अर्थात् वह परिसर जहाँ रहकर जीव अपना कल्याण कर सके। और इसके विपरीत जिस परिसर से जीव कल्याण के बजाय पतन के मार्ग पर अग्रसर हो उसे 'अनायतन' कहते हैं। अनादिकालीन-मिथ्यात्व के पोषक 6 अनायतन आगम में वर्णित हैं—

'कुगुरु' (रागी, परिग्रही, मंत्र-तंत्र का प्रलोभन देनेवाले), 'कुदेव' (रागी देवी-देवता), 'कुधर्म' (हिंसा आदि पापों और राग में धर्म मानना) को पूजना और 'कुगुरु के उपासक', 'कुदेव के उपासक', 'कुधर्म के उपासक'— इनकी प्रशंसा करना, उनको पूजना— ये छह-अनायतन आगम में वर्णित हैं।

(दोहा)

देवमूढ़ - गुरुमूढ़ता, - धर्ममूढ़ता पोष।
आठ-आठ-षट-तीन मिलि, ए पचीस सब दोष॥ 36॥

शब्दार्थ :— देवमूढ़= देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता= गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता पोष= धर्ममूढ़ता— इनका पोषण करना, आठ, आठ, षट, तीन मिलि= आठ, आठ, छह और तीन सब मिलाकर, ए पचीस सब दोष= सम्यग्दर्शन के ये 25 दोष हैं।

विशेषार्थ :— इस छंद में कवि ने तीन मूढ़ताओं का वर्णन किया है। मूढ़ता अर्थात् मूर्खता— देव, गुरु, धर्म के सम्यक्-स्वरूप का अनुसरण न करके उनके नाम पर विवेक-रहित कुछ भी करना 'मूढ़ता' है। आगम में मूढ़ता के तीन भेद हैं— देव-मूढ़ता, गुरु-मूढ़ता, धर्म-मूढ़ता।

देव-मूढ़ता— वीतरागी-देव के अलावा अन्य किसी को भी देव मानकर पूजना 'देवमूढ़ता' है। जितने भी रागी देवी-देवता हैं, उनकी किसी भी रूप में पूजा करना, कराना और प्रशंसा करना देव-मूढ़ता है।

होली पर होलिका-दहन और उपले की पूजा करना, दीवाली पर लक्ष्मी और गणेश आदि को देव मानकर पूजना, कुलदेवी को पूजना, शादी-ब्याह के प्रसंगों पर बहुत सारे देवी-देवताओं को पूजना, हल पूजना, औजार पूजना, देहली पूजना, कुँआ पूजना, तराजू-बाँट, गज आदि को पूजना, वट-मावस पर वट-वृक्ष को पूजना, करवा-चौथ पर चंद्रमा को पूजना, सूर्य को सुबह-सुबह अर्घ्य देना— इत्यादि ऐसे बहुत से कार्य, जिनमें अन्यमत के देवी-देवताओं की पूजा होती है वह सब 'देवमूढ़ता' है।

गुरु-मूढ़ता— वीतरागी निर्ग्रन्थ भावलिंगी दिगम्बर-मुनिराज के अलावा किसी भी वेशधारी को गुरु मानना 'गुरु-मूढ़ता' है। 'गुरु-मूढ़ता' या 'पाखण्ड-मूढ़ता' का लक्षण बताते हुये 'आचार्य समन्तभद्र' कहते हैं कि 'सग्रन्थ' अर्थात् जो 'ग्रन्थ' या परिग्रह से सहित हैं, 'आरंभ' अर्थात् समरंभ-समारंभ और आरंभ से सहित हैं, 'हिंसा' अर्थात् किसी भी प्रकार की हिंसा आदि पापों से सहित हो, 'संसारवर्त' अर्थात् संसाररूपी-आवर्त या भँवरों में, 'वर्तिनाम्' अर्थात् घूमनेवाले हैं, (जैसे भँवर के बीच में फँसी नाव स्वयं तो डूबती ही है, और जो उसके साथ हो उन्हें भी डूबो देती हैं, ठीक उसीप्रकार पाखण्डी-गुरु स्वयं तो भवसागर में डूबता ही है, और साथ में उनकी प्रशंसा करनेवाले भी डूबते हैं) 'पाखण्डिनां पुरस्कारो' अर्थात् ऐसे पाखण्डियों की पूजा-सत्कार करना, 'ज्ञेय' अर्थात् जानने की रुचि रखना, 'पाखण्डि-मोहनम्' अर्थात् उन पाखण्डियों पर मोहित होना 'गुरु-मूढ़ता' या 'पाखण्ड-मूढ़ता' है।

ऐसे पाखण्डियों को पूजना तो दूर, इनके नजदीक भी नहीं जाना चाहिये; क्योंकि जिसप्रकार कोयले की खदान में प्रवेश करने पर हाथ-पैर, कपड़े आदि काले होते ही हैं; इसीप्रकार ऐसे रागी-द्वेषी, भेषधारी, मिथ्या-चमत्कारी, जिनमत से विपरीत-श्रद्धानी गुरुओं के पास जाने पर हम अल्पज्ञानी, अज्ञानी-जीवों की परिणति भ्रमित होना स्वाभाविक है, इसलिये इनकी संगति को दूर से त्याग देना ही श्रेष्ठ है।

धर्म-मूढ़ता— गंगा-स्नान, कुआ-बाबड़ी आदि पूजना, सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण आदि होने पर दान-पूजा की मान्यता करना, तुलसी-पूजना, करवाचौथ मनाना, मकर संक्रांति पर दान देना अर्थात् धर्म के नाम पर विवेकरहित कुछ भी करना या पूजना 'धर्म-मूढ़ता' है। गौदान, कन्यादान आदि दस-प्रकार के 'कुदान' को स्वयं देना या देनेवाले की अनुमोदना करना धर्ममूढ़ता है। यज्ञ, होम, बलि आदि कार्यों को करना कराना या प्रशंसा करना भी धर्ममूढ़ता है।

ऐसे बहुत से कार्य हैं जो दैनिक-जीवन में हम करते हैं, बिना ये सोचे कि हम इन्हें क्यों कर रहे हैं? करना चाहिये भी या नहीं? विचार ही नहीं करते बस घर के बड़े जैसा कहते हैं, हम वैसा ही करते जाते हैं। भाई! इन अनजाने में किये गये कार्यों का फल भी भोगना पड़ता है। इसलिये करने से पहले विचार अवश्य करो। कहने का अभिप्राय यही है कि रागी देवी-देवताओं या कुगुरु, कुदेव और कुधर्म को किसी भी रूप में पूजना और अनुमोदना करना मूढ़ता ही है।

विडम्बना तो ये है कि आज लोग वीतरागी के उपासक बनकर भी धर्म के नाम पर जो मूढ़ता करते हैं, उसका तो कोई ठिकाना ही नहीं है। वीतरागी-धर्म अर्थात् अहिंसामयी-धर्म। फिर दीपक से आरती करना, अग्नि से हवन करना— अर्थात् हिंसा में धर्म? क्या ये मूढ़ता नहीं? विधान में लोंग चढ़ाना और फिर इन लोंगों को घर ले जाकर अपनी तिजोरी में रखना, क्यों?— क्या भगवान को चढ़ायी गई सामग्री या निर्माल्य-द्रव्य घर ले जाना पाप नहीं? क्या ये धर्म है? कोई विवेक नहीं, बस अंधों की तरह देखा-देखी करते जा रहे हैं। पद्मावती, क्षेत्रपाल, चक्रेश्वरी, यक्ष-यक्षिणी आदि को जिनशासन के रक्षक के रूप में पूजना, चोला चढ़ाना, शृंगार आदि करना, अर्थात् राग में धर्म मानना, फिर वह निर्माल्य-सामग्री घर ले

जाना, क्या यह मूढ़ता नहीं है? भाई! ये सब 'धर्म' नहीं है, धर्म के नाम पर होनेवाला 'अधर्म' है।

सम्यग्दृष्टि-जीव वीतरागी देव, शास्त्र, गुरु के अलावा स्वप्न में भी किसी अन्य देवी-देवताओं को पूजना तो दूर नमस्कार भी नहीं करते। देव, गुरु, धर्म के नाम पर की जानेवाली हरप्रकार की मूढ़ता के पूर्ण-त्यागी होते हैं। इसप्रकार आठ-मद, आठ-मल, छह-अनायतन और तीन-मूढ़ता— ये सब मिलाकर सम्यक्त्व के 25 दोष हैं।

(दोहा)

ग्यान-गरब मति-मंदता, निठुर-वचन-उदगार।

रुद्रभाव आलस-दसा, नास पंच-परकार॥ 37॥

शब्दार्थ :— ग्यान-गरब= ज्ञान का घमंड, मति-मंदता= बुद्धि की हीनता, निठुर-वचन उदगार= निष्ठुर/निर्दयी-वचन बोलना, रुद्र-भाव= क्रोध का भाव, आलस-दसा= प्रमाद की स्थिति, नास पंच-परकार= इन पाँच-प्रकारों से सम्यग्दर्शन का विनाश होता है।

विशेषार्थ :— सातवें वर्ण्यविषय के अंतर्गत कवि ने सम्यक्त्व के विनाशक पाँच-कारणों को वर्णित किया है। यद्यपि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद जीव निश्चित ही मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है। लेकिन कदाचित् पूर्वोपार्जित पाप-कर्म के उदय से या वर्तमान में किसी प्रलोभन आदि के कारण निम्नवर्णित पाँच-कारणों से सम्यग्दर्शन का विनाश भी हो सकता है।

'पहला' क्षयोपशमज्ञान या ज्ञान के उधाड़ पर गर्व होना, अर्थात् बहुत क्षयोपशम होने पर 'मैं ज्ञानी हूँ'— ऐसा अहंकार होने से सम्यक्त्व विनाश को प्राप्त होता है। 'दूसरा' कारण-बुद्धि की मंदता होना अर्थात् जिस ज्ञान से स्व-पर में भिन्नता का अभ्यास चलता है, उसका क्षीण हो जाना। 'तीसरा' कषायवश निष्ठुर, निर्दयी, पर-पीड़ाकारी कड़वे-वचन बोलना। 'चौथा' कषाय का उदय आने पर, या बाहर में प्रतिकूलताओं के होने पर साम्यभाव छोड़कर क्रोधरूप प्रवर्तन करना। 'पाँचवाँ' आचार-विचार, सामायिक, ध्यान आदि में प्रमादरूप-प्रवर्तन करना— इत्यादि कारणों से सम्यग्दर्शन का विनाश होता है।

(दोहा)

लोक-हास-भय भोग-रुचि, अग्र-सोच थितिमेव।

मिथ्या-आगम की भगति, मृषादर्सनी-सेव॥ 38॥

(चौपाई)

अतीचार ए पंच-परकारा, समल करहिं समकित की धारा।

दूषन-भूषन-गति अनुसरनी, दसा-आठ समकित की वरनी॥ 39॥

शब्दार्थ :— लोक-हास-भय= लोक में हँसी होने का भय, भोग-रुचि= भोगों में रुचि, अग्र-सोच थितिमेव= आगामीकाल के बारे में सोचना, मिथ्या-आगम की भगति= झूठे-शास्त्रों की भक्ति करना, मृषादर्सनी-सेव= मिथ्यादृष्टि की सेवा॥ 38॥

अतीचार ए पंच-परकारा= ये पाँचप्रकार के अतिचार, समल करहिं= मल-सहित/सदोष कर देते हैं, समकित की धारा= सम्यग्दर्शन की निर्मलधारा को, दूषन-भूषन-गति अनुसरनी= सदोष और निर्दोष-गति को प्राप्त करानेवाली, दसा-आठ समकित की वरनी= सम्यग्दर्शन की आठ-स्थितियों का वर्णन किया॥ 39॥

विशेषार्थ :— आठवें वर्ण्य-विषय के अंतर्गत कवि ने सम्यक्त्व के अतीचारों का वर्णन किया है।

'अतिचार' अर्थात् वह परिणाम, जिससे सम्यग्दर्शन की निर्मलता खंडित हो, उसमें दोष लगे। ऐसे पाँच-प्रकार के अतिचारों का वर्णन कवि ने यहाँ किया है।

'पहला' लोक में हास्य का पात्र बनने का भय अर्थात् 'मैं त्यागी-व्रतियों की तरह प्रवर्तन करूँगा, तो लोग क्या कहेंगे?' 'दूसरा' भोगों में रुचि— यद्यपि सम्यग्दृष्टि-जीव विषय-सेवन का पूर्णतः त्यागी नहीं होता है, परन्तु किसी भी विषय के अति-आसक्ति-पूर्वक सेवन का त्यागी अवश्य होता है, और यदि भोगों में आसक्ति वर्ते, तो ये सम्यग्दर्शन का अतिचार है। 'तीसरा' वीतरागता के पोषक शास्त्र ही पूज्य हैं,— ऐसा जानकर भी बिना विचारे मिथ्यात्व के पोषक-शास्त्रों की विनय करना। 'चौथा' आगामीकाल के बारे में सोचना, जब सब कुछ पूर्व निश्चित है, हम उसे बदलने में असमर्थ हैं; तो फिर उसके बारे में सोचकर अपना समय खराब करना सम्यग्दृष्टि-जीव के लिए उचित नहीं है। 'पाँचवाँ' मिथ्यादृष्टि-जीवों की सेवा करने का भाव बिना किसी स्वार्थ के नहीं होता, इसीलिए ऐसा प्रवर्तन होने पर सम्यग्दर्शन में दोष लगता है।

इसप्रकार ये पाँचों अतिचार सम्यक्त्व की निर्मलधारा को मलिन करते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि-जीव को इन अतिचारों से बचने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। कविवर कहते हैं कि इसप्रकार सदोष और निर्दोष-गति को प्राप्त करानेवाले सम्यक्त्व के आठ-वर्ण्यविषयों का विवेचन यहाँ पूर्ण हुआ।

(दोहा)

प्रकृति-सात अब मोह की, कहूँ जिनागम जोड़।

जिनकौ उदै निवारिकै, सम्यग्दरसन होइ॥ 40॥

(सवैया इकतीसा)

चारितमोह की च्यारि मिथ्यात की तीन तामैं, प्रथम-प्रकृति अनंतानुबन्धी-कोहिनी।

बीजी-महामान-रस-भीजी मायामयी-तीजी, चौथी-महालोभ-दसा परिग्रह-पोहनी॥

पाँचई-मिथ्यातमति छट्टी-मिश्र-परनति, सातई-समै-प्रकृति समकित-मोहनी।

एई षट-विग-वनिता-सी एक-कुतिया-सी, सातौं-मोहप्रकृति कहावैं सत्ता-रोहनी॥ 41॥

शब्दार्थ :— प्रकृति-सात अब मोह की कहूँ जिनागम जोड़= अब मोह की सात-प्रकृतियों का वर्णन जिनागम के अनुसार कहता हूँ, जिनकौ उदै निवारिकै सम्यग्दरसन होइ= जिनका उदय-निवारण करने या अनुदय होने पर सम्यग्दर्शन होता है॥ 40॥

चारितमोह की च्यारि= चारित्रमोह की चार, **मिथ्यात की तीन तामैं**= उसमें मिथ्यात्व की तीन, **प्रथम-प्रकृति अनंतानुबन्धी-कोहिनी**= पहली-प्रकृति अनंतानुबन्धी-क्रोध, **बीजी-महा-मानरसभीजी**= दूसरी महा-मान के रस में भीगी हुई अनंतानुबन्धी-मान, **मायामयी-तीजी**= तीसरी अनंतानुबन्धी-माया, **चौथी-महालोभ-दसा परिग्रह-पोहनी**= चौथी परिग्रह को पुष्ट करनेवाली अनंतानुबन्धी-महा-लोभ, **पाँचई-मिथ्यातमति**= पाँचवी-मिथ्या-बुद्धि, **छट्टी-मिश्रपरनति**= छटवीं-मिश्र-परिणति, **सातई-समै-प्रकृति**= सातवीं-सम्यक्-प्रकृति, **समकित-मोहनी**= सम्यक्त्व को मोहनेवाली, **एई षट-विग-वनिता-सी**= इनमें से पहली छह व्याघ्रनी के समान हैं, **एक कुतिया-सी**= एक कुतिया के समान है, **सातौं-मोहप्रकृति**= मोहनीय की ये सातों-प्रकृतियाँ, **कहावैं सत्ता-रोहनी**= आत्मसत्ता को रोहण करने या ढँकनेवाली हैं॥ 41॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने जिनागम की साक्षीपूर्वक सम्यक्त्व में बाधक मोहनीय-कर्म की सात-प्रकृतियों का उदाहरण-सहित सटीक-विवेचन किया है, क्योंकि इन प्रकृतियों का उदय-निवारण चतुर्दश गुणस्थानाधिकार-द्वार

या अनुदय होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

मोहनीय-कर्म अर्थात् वह कर्म जिसके उदय में अपने स्वरूप की विस्मृति और मोह, राग, द्वेषादि विकारी-भावों की उत्पत्ति होती हैं। मोहनीय-कर्म का उदय जीव को आत्म-स्वरूप का यथार्थ-श्रद्धान नहीं होने देता, उसे संसार में ही मोहित करके रखता है, इसलिये इसे मोहनीय-कर्म कहते हैं। जिसप्रकार मदिरापान जीव को मोहित करता है, उससमय जीव को सही-गलत, उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता, वह बावला-सा हो जाता है; उसीप्रकार मोहनीय-कर्म आत्मा को मोहित कर देता है। इस कर्म के संयोग से जीव निज-स्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना कर व्यर्थ-दुःखी होता है। यह कर्म आत्मा के श्रद्धा और चारित्र-गुण को घातता है।

मोहनीय-कर्म के दो भेद हैं—एक 'दर्शन-मोहनीय' और दूसरा 'चारित्र-मोहनीय', और इसकी कुल 28 प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से जो सात-प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाधक हैं, उनका वर्णन कवि ने इस छंद में किया है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में सात-प्रकृतियाँ बाधक हैं, उनमें चारित्र-मोहनीय की चार और 'मिथ्यात्व' अर्थात् 'दर्शन-मोहनीय' की तीन हैं। प्रथम-प्रकृति 'अनंतानुबंधी-क्रोध', दूसरी-प्रकृति 'अनंतानुबंधी-मान', तीसरी-प्रकृति 'अनंतानुबंधी-माया', और चौथी-प्रकृति 'अनंतानुबंधी-लोभ' है। पाँचवी-प्रकृति 'मिथ्यात्व', छठवीं-प्रकृति 'मिश्र' अर्थात् 'सम्यक्मिथ्यात्व', और सातवीं-प्रकृति 'सम्यक्-प्रकृति' है। 'अनंतानुबंधी' अर्थात् अनंत/मिथ्यात्व के साथ जिसका अनुबंध है, वह 'अनंतानुबंधी' कषाय है। अभिप्राय की विपरीतता के कारण इसे सम्यक्त्व का घात करनेवाली और मोह-प्रेरित राग-द्वेष उत्पन्न कराने के कारण इसे चारित्र की भी घातक माना गया है।

कवि ने इन-प्रकृतियों का विशेष-स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि पहली छह-प्रकृतियाँ तो व्याघ्रनी के समान हैं, और एक अर्थात् सातवीं कूकरी/कुतिया के समान है। जैसे व्याघ्रनी किसी का भक्षण करने के लिये सीधा-झपट्टा मारती है और उसका घात कर देती है, ठीक उसीप्रकार ये पहली छहों-प्रकृतियाँ मिथ्यात्व-पोषक होने से सम्यक्त्व का सीधा-घात करती हैं। और सातवीं-प्रकृति को कुतिया के समान कहा अर्थात् जैसे कुतिया व्याघ्रनी-जैसी घातक तो नहीं है, परन्तु भौंक-भौंककर चित्त को शांत नहीं रहने देती या कहें एकाग्रता को भंग करती है; ठीक उसीप्रकार सम्यक्-प्रकृति या सम्यक्त्व-मोहनीय-प्रकृति भी सम्यक्त्व का सीधा-घात नहीं करती; परन्तु जीव को स्वरूप में एकाग्र भी नहीं होने देती। यद्यपि इसका काल बहुत-कम है; परन्तु जितना भी है, वह सम्यक्त्व में बाधक ही है। इसप्रकार ये सातों ही प्रकृतियाँ आत्मसत्ता को रोधन करती/ढँकती है, आत्म-स्वरूप को प्रकट नहीं होने देती हैं।

(छप्पय)

सात-प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपमा-मंडित।
सात-प्रकृति छयकरन-हार, छायिकी अखंडित॥
सात-माँहि कछु खपै, कछुक उपसम-करि रक्खै।
सो छय-उपसमवंत, मिश्र समकित-रस रक्खै॥
षट्-प्रकृति उपसमै वा खपै, अथवा छय-उपसम करै।
सातई-प्रकृति जाके उदय, सो वेदक-समकित धरै॥ 42॥

शब्दार्थ :— सात-प्रकृति उपसमहि= सातों-प्रकृतियों का उपशम करता है, जासु सो उपसम-मंडित= जिससे

वह 'औपशमिक-सम्यग्दृष्टि' है, सात-प्रकृति छय-करन-हार= सातों-प्रकृतियों को क्षय करनेवाला, छायिकी-अखंडित= अखंडित 'क्षायिक-सम्यग्दृष्टि' है, सात-माँहि कछु खपै, कछुक उपसम करि रखै= सात में से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम करता है, सो छय-उपसमवंत= सो 'क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टि' है, मिश्र समकित-रस चकखै= वह मिश्ररूप सम्यक्त्व का रसास्वादन करता है, षट्-प्रकृति उपसमै वा खपै= छह-प्रकृतियाँ उपशम करे, अथवा क्षय करे, अथवा छय-उपसम करै= अथवा क्षय और उपशम करे, (और) सातई-प्रकृति जाके उदय= सातवीं-प्रकृति का जिसके उदय होता है, सो वेदक-समकित धरै= वह 'वेदक-सम्यक्त्व' का धारी होता है।

विशेषार्थ— इस-छंद में कवि ने गुणस्थान-विवेचन के अंतर्गत चतुर्थ-गुणस्थान अविरत-सम्यक्त्व में सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन किया है।

पिछले-छंद में वर्णित दर्शन-मोहनीय की तीन और चारित्र-मोहनीय की चार, कुल सात-प्रकृतियों का जो उपशम करता है, अर्थात् ये प्रकृतियाँ सत्ता में तो रहती हैं, पर उदय नहीं होता, उस समय जिस जीव को निज-स्वरूप की अनुभूति होती है, वह 'औपशमिक-सम्यग्दृष्टि' कहलाता है। और जो जीव इन सातों-प्रकृतियों का क्षय करके निज-स्वरूप की अनुभूति करता है, वह 'क्षायिक-सम्यग्दृष्टि' कहलाता है। क्षायिक-सम्यग्दर्शन अखंड रहता है अर्थात् कभी नहीं छूटता। 'क्षायिक-सम्यग्दृष्टि' अल्पकाल में नियम से मोक्ष जाता है। और जो जीव इन सात-प्रकृतियों में से कुछ का क्षय और कुछ का उपशम करते हैं, वे 'क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टि' कहलाते हैं। ऐसे जीवों को मिश्र अर्थात् सम्यक्त्व के साथ-साथ सम्यक्त्व को मलिन करनेवाले-रस का मिला-जुला स्वाद आता है। और जो जीव सम्यक्त्व की घातक मोह की सात-प्रकृतियों में से छह-प्रकृतियों का उपशम करे या उदयाभावी-क्षय करे, या कुछ का क्षय और कुछ का उपशम करे, परन्तु सातवीं 'सम्यक्-प्रकृति' का जिसके उदय हो, वह 'वेदक-सम्यक्त्व' का धारी होता है।

(दोहा)

छय-उपसम वरतैं त्रिविध, वेदक च्यारि-प्रकार।

छायक उपसम जुगल-जुत, नौधा-समकित धार॥ 43॥

शब्दार्थ :— छय-उपसम वरतैं त्रिविध= क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व तीनप्रकार का है, वेदक च्यारि-प्रकार= वेदक-सम्यक्त्व चारप्रकार का है, छायक-उपसम जुगल= क्षायिक और उपशम दो भेद हैं, जुत नौधा-समकित धार= इनको मिलाने से सम्यक्त्व के नौ भेद होते हैं।

विशेषार्थ :— सम्यक्त्व के भेदों का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व के तीन भेद हैं, वेदक-सम्यक्त्व के चार भेद हैं, और क्षायिक और उपशम ये दो भेद— ऐसे कुल मिलाकर सम्यक्त्व के 9 भेद हैं।

(दोहा)

च्यारि-खिपै त्रय-उपसमै, पन-छै उपसम-दोड़।

छै-षट् उपसम-एक यौ, छय-उपसम-त्रिक होड़॥ 44॥

शब्दार्थ :— च्यारि-खिपै त्रय-उपसमै= चार का क्षय व तीन का उपशम हो, पन-छै उपसम-दोड़= पाँच का क्षय, दो का उपशम, छै-षट् उपसम-एक= छह का क्षय, एक का उपशम, यौ छय-उपसम-त्रिक होड़= इसप्रकार क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व तीनप्रकार का है।

विशेषार्थ :- क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व के तीन-भेदों का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं, 'पहला-भेद' जिसमें चार (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षय और तीन (दर्शन-मोहनीय की तीन मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्-प्रकृति) का उपशम होता है। दूसरे भेद में पाँच (अनंतानुबंधी की चौकड़ी और मिथ्यात्व) का क्षय और दो (मिश्र मिथ्यात्व और सम्यक्-प्रकृति) का उपशम होता है। तीसरे भेद में छह (अनंतानुबंधी की चौकड़ी, मिथ्यात्व और मिश्र मिथ्यात्व) का क्षय और एक (सम्यक्-प्रकृति) का उपशम होता है। इसप्रकार क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व के तीन भेद पूर्ण हुये।

(दोहा)

जहाँ च्यारि-परकिति खिपहिं, द्वै-उपशम इक-वेद।
छय-उपसम वेदक-दसा, तासु प्रथम यह भेद॥ 45॥
पंच-खिपै इक-उपसमै, इक-वेदै जिहिं ठौर।
सो छय-उपसमै वेदकी, दसा-दुतिय यह और॥ 46॥
छै-षट वेदै-एक जो, छायक-वेदक सोई।
षट-उपशम इक-प्रकृति विद, उपसम-वेदक होइ॥ 47॥

शब्दार्थ :- जहां च्यारि-परकिति खिपहिं= जहाँ चार-प्रकृति का क्षय, द्वै-उपशम इक-वेद= दो का उपशम और एक का उदय, छय-उपसम वेदक दसा= (सो) क्षयोपशम-वेदक-दशा है, तासु प्रथम यह भेद= उसका यह पहला-भेद है॥ 45॥

पंच-खिपै इक-उपसमै= पाँच का क्षय और एक का उपशम, इक-वेदै जिहि ठौर= एक का उदय रहता है जिस दशा में, सो छय-उपसमै वेदकी दसा-दुतिय यह और= वह क्षयोपशम-वेदक-सम्यक्त्व नाम का दूसरा भेद है॥ 46॥

छै-षट वेदै-एक जो= छह का क्षय और एक का उदय, छायक-वेदक सोई= वही क्षायिक-वेदक-सम्यक्त्व है, षट-उपशम इक-प्रकृति-विद= छह का उपशम और एक का उदय है, उपसम-वेदक होइ= वह उपशम-वेदक-सम्यक्त्व है॥ 47॥

विशेषार्थ :- उपर्युक्त-छंदों में कवि ने 'वेदक-सम्यक्त्व' के चार-भेदों का संक्षेप में वर्णन किया है। वे इसप्रकार हैं -

1. प्रथम क्षयोपशम-वेदक-सम्यक्त्व— इसमें अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ की चौकड़ी का क्षय होता है, और महा-मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व— इन दो-प्रकृतियों का उपशम होता है, और सम्यक्-प्रकृति का उदय रहता है।
2. द्वितीय-क्षयोपशम-वेदक सम्यक्त्व— इसमें अनंतानुबंधी-चौकड़ी और महा-मिथ्यात्व— इन पाँच-प्रकृतियों का क्षय, मिश्र का उपशम और एक सम्यक्-प्रकृति का उदय रहता है।
3. क्षायिक-वेदक-सम्यक्त्व— इसमें अनंतानुबंधी की चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिश्र— इन छह-प्रकृतियों का क्षय और एक सम्यक्-प्रकृति का उदय रहता है।
4. उपशम-वेदक-सम्यक्त्व— इसमें अनंतानुबंधी की चौकड़ी, महा-मिथ्यात्व और मिश्र— इन छह-प्रकृतियों का उपशम और एक सम्यक्-प्रकृति का उदय रहता है।

(दोहा)

उपसम-छायक की दसा, पूरब षट-पदमाँहि।
कही प्रगट अब पुनरुक्ति, कारन वरनी नाँहि॥ 48॥
छय-उपसम-वेदक-खिपक, उपसम-समकित च्यारि।
तीन-च्यारि-इक-इक मिलत, सब नव-भेद बिचारि॥ 49॥

शब्दार्थ :- उपसम-छायक की दसा= उपशम और क्षायिक-सम्यक्त्वों की स्थिति, पूरब षटपद-माँहि= पिछले छप्पय-छंद (42 नं.) में, कही प्रगट= प्रगटरूप में कही है, अब पुनरुक्ति-कारन वरनी नाँहि= यहाँ पुनरुक्ति-दोष के कारण अब दुबारा नहीं कही है॥ 48॥

छय-उपसम-वेदक-खिपक उपसम-समकित च्यारि= क्षयोपशम, वेदक, क्षायिक और उपशम= यह चार-प्रकार का सम्यक्त्व, तीन च्यारि इक इक= तीन(क्षयोपशम), चार(वेदक), एक(क्षायिक), एक(उपशम) के क्रम से, मिलत सब नव-भेद बिचारि= सब मिलकर नौ भेद होते हैं, ऐसा विचार करो॥ 49॥

विशेषार्थ :- सम्यक्त्व के शेष दो भेदों का वर्णन क्यों नहीं किया ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कवि कहते हैं कि क्षायिक और उपशम-सम्यक्त्वों का स्वरूप पिछले (42 नं के छंद) में वर्णित किया, अब यहाँ पुनरुक्ति-दोष के कारण पुनः वर्णित नहीं किया।

सम्यक्त्व के क्षयोपशम-सम्यक्त्व, वेदक-सम्यक्त्व, क्षायिक-सम्यक्त्व और उपशम-सम्यक्त्व— ऐसे मूल चार भेद हैं। और क्षयोपशम-सम्यक्त्व के तीन, वेदक-सम्यक्त्व के चार, क्षायिक-सम्यक्त्व एक, उपशम-सम्यक्त्व एक— ऐसे कुल मिलाकर नौ उपभेद हैं।

(दोहा)

अब निहचै-विवहार, अरु सामान्य-विशेष-विधि।
कहाँ च्यारि-परकार, रचना समकित-भूमि की॥ 50॥

(सवैया इकतीसा)

मिथ्यामति गंठि-भेद, जगी निरमल-जोति, जोगसौं अतीत, सो तो निहचै प्रमानियै।
वहै दुंद-दसासौं कहावे, जोग-मुद्रा धरै, मति-श्रुतग्यान-भेद, विवहार मानियै॥
चेतना-चिहन पहिचानि, आपा-पर वेदै, पौरुष अलख तातैं, सामान्य बखानियै।
करै भेदाभेदकौ, विचार विसतार-रूप, हेय-गेय-उपादेयसौं विशेष जानियै॥ 51॥

शब्दार्थ :- अब निहचै-विवहार अरु सामान्य-विशेष-विधि= अब निश्चय और व्यवहार और सामान्य और विशेष-विधि, कहाँ च्यारि-परकार रचना समकित-भूमिकी= सम्यक्त्व की सत्ता/आधारभूमि की रचना के चारप्रकार कहता हूँ॥ 50॥

मिथ्यामति गंठि-भेद जगी निरमल-जोति= मिथ्यात्व का ग्रंथिभेद होने पर निर्मल-ज्योति प्रगट होती है, जोगसौं अतीत सो तो निहचै प्रमानियै= योगों से रहित उसे निश्चय-सम्यक्त्व मानना, वहै दुंद-दसासौं कहावै जोग-मुद्रा धरै= वही सम्यक्-ज्योति विकल्परूप-अवस्था में योग एवं मुद्रा आदि धारणकर, मति-श्रुतग्यान-भेद विवहार मानियै= मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के भेदरूप व्यवहार-सम्यक्त्व मानना, चेतना-चिहन पहिचानि आपा-पर वेदै= चेतना-लक्षण पहचानकर स्व और पर को भिन्न अनुभव करे (स्व-पर-भेदविज्ञान करे), पौरुष अलख तातैं सामान्य बखानियै= अंतरंग-पुरुषार्थ के बल पर (स्व-पर की भिन्नता का वेदन करता है) इसलिये

उसे 'सामान्य' कहा गया, करै भेदाभेदकौ विचार विसतार-रूप= जो विस्तार से (गुण-गुणी के) भेद और अभेद का विचार करके हेय-गेय-उपादेयसौ विशेष जानियै= हेय, ज्ञेय उपादेयरूप (प्रवर्तन करे) उसे 'विशेष' जानना ॥ 51 ॥

विशेषार्थ :- यहाँ कवि ने सम्यग्दर्शन का निश्चय, व्यवहार, सामान्य और विशेष— इन चार-दृष्टियों से कथन किया है। मन-वचन-काय—तीनों योगों से रहित, निर्विकल्प, निर्विकार-आत्मानुभूति ही निश्चय-सम्यग्दर्शन है, और 'निश्चय सम्यग्दर्शन' के साथ होनेवाली योगसहित विकल्पात्मक-अवस्था व्यवहार-सम्यग्दर्शन है। चेतना-लक्षण को पहचानकर 'स्व' और 'पर' की भिन्नतारूप अंतरंग-पुरुषार्थ को 'सामान्य-सम्यग्दर्शन' कहा गया है। और विस्तार से 'गुण और गुणी के भेदाभेद' रूप, तथा 'हेय, ज्ञेय उपादेय का विचार' करते हुए तदनुरूप-प्रवर्तन करने को 'विशेष-सम्यग्दर्शन' जानना।

एक अन्य-विद्वान् 'नाना रामचंद्र नाग' ने 'नाटक समयसार' के मर्म को विवेचित करते हुए अपनी टीका में यहाँ कहे गये सम्यक्त्व के इन विभिन्नरूपों को इसप्रकार विवेचित किया है—

'मोहनीय, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अंतराय इन चार घातिया-कर्माँ का क्षयकर, जिसके निर्मल-ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, जो मन, वचन, काय तीनों योगों (की चंचलता) से रहित हैं, ऐसे केवलज्ञानी 'निश्चय-सम्यक्त्व' है। और जो दिगम्बर-दीक्षा धारणकर, आत्मध्यान भी धारण करे, और आहारादि की इच्छा भी करें, ऐसी द्वंद्वदशा-रूप प्रवर्तन करते हैं, ऐसे मति-श्रुतज्ञान के भेद-पर्यंत 'व्यवहार-सम्यक्त्व' है। जो स्व-पर को पहिचाने, और कर्म के उदयरूप सुख और दुःख को वेदे हैं, और चारित्र-मोहनीय के उदय में अल्प-पुरुषार्थ (व्रतादिक) धारण करें या अविरत रहें, सो सामान्य-सम्यक्त्व है। और जो आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, ऐसे भेदाभेद-रूप का विस्तार से विचार करे, और हेय यानि त्यागने-योग्य वस्तुओं का त्याग करे, और ग्रहण करने योग्य-वस्तुओं को ग्रहण करे, सो 'विशेष-सम्यक्त्व' है।"

विशेष टिप्पणी— यहाँ मूलग्रंथ के एकमात्र टीकाकार-विद्वान् ने इन चारों सम्यक्त्वों के धारकों की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं की चर्चा इस प्रकार की है। पहले निश्चय-सम्यक्त्व की भूमिका में वीतरागी अरिहंत-केवली को बताया है। दूसरी 'व्यवहार-सम्यक्त्व' की भूमिका निर्ग्रन्थ-साधुओं/भावलिङ्गी-मुनिवरों की बतायी गयी है। तीसरी 'सामान्य-सम्यक्त्व' की भूमिका उन्होंने अणुव्रती/देशव्रती की बतायी है। और 'विशेष-सम्यक्त्व' की भूमिका में किसी का उल्लेख तो नहीं किया है; किन्तु प्रकरण सम्यग्दृष्टि-जीव या सम्यग्दर्शन का है, अतः उससे भिन्न कोई पात्र तो लिया नहीं जा सकता है, अतः उन्होंने यहाँ 'अविरति-सम्यग्दृष्टि' का ग्रहण किया है— ऐसा अभिप्राय समझकर यह कहा गया है।

किन्तु इस वर्गीकरण का उन्होंने कोई आधार नहीं बताया है। मैं उन पर कोई आशंका व्यक्त नहीं कर रही हूँ, किन्तु मेरी जिज्ञासा यह अवश्य है कि मूल-ग्रंथकार कविवर पं. बनारसीदास जी ने इन भूमिकाओं के बारे में किसी रूप में चर्चा या संकेत यहाँ इस छंद में नहीं किया है। साथ ही सम्यक्त्व के इन चारों-भेदों के स्वरूप-वर्णन करते समय भी उन्होंने ऐसा कोई संकेत नहीं किया है, जिनसे इन भूमिकाओं को लक्षित किया जा सके। वैसे भी निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनों को दो भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में कहीं वर्णित नहीं किया गया है। उसी गुणस्थान में निर्विकल्प-आत्मानुभूति को 'निश्चय-सम्यग्दर्शन', तथा आत्मानुभूति के काल के अलावा सविकल्प-अवस्था को 'व्यवहार-सम्यग्दर्शन' कहा जाना सुसंगत भी है।

जब इन दोनों की भूमिकाओं में यह अंतर है, तो शेष 'सामान्य' और 'विशेष' नामक सम्यग्दर्शन के भेदों की भूमिकाओं की वास्तविकता भी अनुसन्धेय है। क्योंकि इसतरह के भेदों का परिचय जिनागम में

प्रायः दुर्लभ है। अतः इनकी वास्तविकता जानने के लिये अपेक्षित-साक्ष्यों का व्यापक-अनुसंधान किया जाना आवश्यक है।

(दोहा)

थिति सागर-तेतीस, अंतर्मुहुरत एक वा।
अविरत-समकित-रीति, यह चतुर्थ-गुणस्थान इति॥ 52॥

शब्दार्थ :- थिति सागर-तेतीस अंतर्मुहुरत एक वा= (उत्कृष्ट)स्थिति तैतीस-सागर अथवा एक अंतर्मुहुरत (जघन्य) अविरत-समकित-रीति यह चतुर्थ-गुणस्थान इति= यहाँ अविरत-सम्यक्त्व नामक चतुर्थ-गुणस्थान का वर्णन पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ :- चतुर्थ-गुणस्थान का विवेचन पूर्ण करते हुए कविवर कहते हैं कि इस गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल तैतीस-सागर और जघन्य-स्थिति/काल अंतर्मुहुरत है।

(दोहा)

अब वरनौं इकईस-गुन, अरु बाबीस-अभक्ष।
जिनके संग्रह-त्यागसौं, सोभै श्रावक-पक्ष॥ 53॥

(सवैया इकतीसा)

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत, परदोषकौ ढकैया पर-उपगारी है।
सौमदृष्टी गुनग्राही गरिष्ट सबकौं-इष्ट, शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ-विचारी है॥
विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य, न दीन न अभिमानी, मध्य-विवहारी है।
सहज-विनीत, पापक्रियासौं अतीत ऐसौ, श्रावक पुनीत इकवीस-गुनधारी है॥ 54॥

शब्दार्थ :- अब वरनौं इकईस-गुन= अब इकवीस-गुणों का वर्णन करता हूँ, अरु बाबीस-अभक्ष= और बाईस-अभक्ष्यों का, जिनके संग्रह-त्यागसौं= जिनके ग्रहण (गुणों को) और त्याग (अभक्ष्य को) से, सोभै श्रावक-पक्ष= श्रावक का व्यक्तित्व सुशोभित होता है॥ 53॥

लज्जावंत= लज्जावान्, दयावंत= दयावान्, प्रसंत= मंदकषायी, प्रतीतवंत= श्रद्धावान्, परदोषकौ ढकैया= दूसरे के दोषों को ढँकनेवाला, पर-उपगारी है= परोपकारी, सौमदृष्टी= सौम्य-दृष्टि, गुनग्राही= गुणों को ग्रहण करनेवाला, गरिष्ट= गंभीर/सहनशील, सबकौं इष्ट= सभी को प्रिय, शिष्टपक्षी= सत्य का पक्षधर, मिष्टवादी= मीठे-वचन बोलनेवाला, दीरघ-विचारी है= सोच-विचार करके निर्णय लेनेवाला, विशेषग्य= विशेषज्ञ/अनुभवी, रसग्य= शास्त्रों के मर्म को जाननेवाला, कृतग्य= दूसरों के उपकार को न भूलनेवाला, तग्य= तत्त्वज्ञानी, धरमग्य= धर्मज्ञ/धर्मात्मा, न दीन न अभिमानी= दीनता व अभिमान= दोनों नहीं करनेवाला, मध्य-विवहारी है= दोनों के बीच का व्यवहार करनेवाला, सहज विनीत= सहज विनयवान्, पापक्रियासौं अतीत= पाप-क्रियाओं से रहित, ऐसौ श्रावक पुनीत इकवीस-गुनधारी है= ऐसे पवित्र 21 गुणों को धारण करनेवाला श्रावक होता है॥ 54॥

विशेषार्थ— पंचम-गुणस्थानवर्ती श्रावक के 21 गुणों का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं "लज्जावान् (शील गुण का धारक), दयावान् (जीवमात्र के प्रति दया का भाव होना), मंदकषायी (कषायों की मंदतावाला), श्रद्धावान् (वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु और निजात्मा का दृढ़-श्रद्धानी), दूसरों के दोषों को ढँकनेवाला

(उपगूहन-अंग का धारी), परोपकारी (दूसरों का उपकार करनेवाला), सौम्य-दृष्टि (समताभावी), गुणों को ग्रहण करनेवाला, गंभीर/सहनशील, सर्वप्रिय, सत्य का पक्षधर, मिष्ट-वचन बोलनेवाला, अग्रसोची (दूरदर्शी/सोच-विचारकर निर्णय लेनेवाला), विशेष-ज्ञानी/अनुभवी, शास्त्रों के मर्म को जाननेवाला, कृतज्ञ (दूसरों के उपकार को न भूलने वाला) तत्त्वदर्शी (तत्त्वज्ञान का मर्मज्ञ), धर्मज्ञ/धर्मात्मा, न दीनता का धारक और न अभिमानी बल्कि मध्य-व्यवहारी अर्थात् समान व्यवहार करनेवाला, सहज विनयवान्, पाप-क्रियाओं से रहित— सच्चा-श्रावक ऐसे पवित्र 21 गुणों को धारण करनेवाला होता है।"

(कवित्त)

ओरा घोरबरा निसिभोजन, बहुबीजा बैंगन संधान।
पीपर बर ऊमर कटूबर, पाकर, जो फल होइ अजान॥
कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान।
फल अति-तुच्छ तुसार चलित-रस, जिनमत ए बाईस-अखान॥ 55॥

शब्दार्थ :— ओरा= ओला/बारिश में गिरनेवाले बर्फ के गोले, घोरबरा= दहीबड़ा/द्विदल, निसिभोजन= रात्रि-भोजन, बहुबीजा= बहुत बीजवाले-पदार्थ, बैंगन= बैंगन, संधान= गला हुआ /अमर्यादित अचार-मुरब्बा आदि, पीपर= पीपल का फल, बर= बड़ का फल, ऊमर= ऊमर-फल, कटूबर= कटूमर/कटहल-फल, पाकर= पाकर-फल, जो फल होइ अजान= जो फल अनजान/अपरिचित हो, कंदमूल= कंदमूल, माटी= मिट्टी, विष= जहर, आमिष= माँस, मधु= शहद, माखन= मक्खन, अरु मदिरापान= और शराब, फल अतितुच्छ= अतिसूक्ष्म-फल, तुसार= बर्फ, चलित-रस= जिनका स्वाद खराब हो जाये, जिनमत ए बाईस अखान= जिनमत में ये 22 पदार्थ अभक्ष्य (नहीं खाने योग्य) कहे गये हैं।

विशेषार्थ :— बाईस अभक्ष्यों का संक्षिप्त-वर्णन करते हुए कविवर बनारसीदास जी कहते हैं ओला (आसमान से गिरनेवाले बर्फ के टुकड़े), द्विदल (जिन दालों के दो समभाग होते हैं, या कहे दो दल होते हैं, उन्हें कच्चा दूध या गरम दूध, उससे बने दही, मठा/छाछ आदि के साथ मिलाकर खाना जैसे दहीबड़ा, छाछ की कढ़ी आदि), रात्रि-भोजन, बहुबीजा (बहुत-अधिक बीजोंवाले फल), बैंगन, संधान (सभी प्रकार के गले हुये/अमर्यादित अचार, मुरब्बा आदि), पीपल का फल, बड़ का फल, ऊमर-फल, कटूबर/कटहल-फल, और पाकर/अंजीर-फल (पंच-उदुम्बर-फल), अनजान-फल (जिन फलों को हम पहिचानते नहीं हैं), कंदमूल, मिट्टी, जहर, माँस (मृत-शरीर का भक्षण, घुना हुआ अनाज आदि), शहद-(मधुमक्खियों के लार, मल-मूत्रादि से निर्मित-मधुपदार्थ), मक्खन (नोनी, ताजा-मक्खन भी अंतर्मुहूर्त के बाद अभक्ष्य हो जाता है), शराब, अतिसूक्ष्म-फल (बहुत छोटे फल), बर्फ (अनछने या अमर्यादित-जल से बनी बर्फ), चलित-रस (जिनका स्वाद खराब हो जाये)— ये बाईस पदार्थ जिनाम्नाय में 'अभक्ष्य' कहे हैं, अर्थात् श्रावकों के खाने योग्य नहीं है।

(दोहा)

अब पंचम-गुणथान की, रचना बरनौं अल्प।
जामै एकादश-दशा, 'प्रतिमा' नाम विकल्प॥ 56॥

(सवैया इकतीसा)

दर्सन-विसुद्धकारी, बारह-विरतधारी, सामाइकचारी, पर्व-प्रोषधविधि वहै।
सचितकौ परिहार, दिवा अपरस-नारी, आठौं जाम ब्रह्मचारी, निरारंभी ह्वै रहै॥

पाप-परिग्रह छंडै, पाप की न शिक्षा मंडै, कोऊ याकै निमित्त, करै सो न वस्तु गहै।
ऐते देसव्रत के, धरैया समकिती-जीव, ग्यारह-प्रतिमा तिन्हैं भगवंतजी कहै॥ 57॥

शब्दार्थ :— अब पंचम-गुणस्थान की रचना बरनौं अल्प= अब पंचम-गुणस्थान की रचना का संक्षिप्त-वर्णन करता हूँ, जामैं एकादस-दसा प्रतिमा नाम विकल्प= जिसमें ग्यारह-प्रकार की 'प्रतिमा' नाम से विकल्प/भेद होते हैं॥ 56॥

दर्शन-विसुद्धिकारी= दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न करनेवाली, बारह विरतधारी= बारह-व्रतों को धारण करनेवाली, सामाङ्कचारी= सामायिक का आचरण, पर्व-प्रोषध-विधि वहै= पर्व में प्रोषध-विधि से उपवास करना, सचित्तकौ परिहारी= सचित्त का त्यागी, दिवा अपरस-नारी= दिन में नारी-स्पर्श/सेवन का त्यागी, आठौं-जाम ब्रह्मचारी= आठों-पहर स्त्री का त्यागी, निरारंभी द्वै रहै= आरंभ का त्यागी होना, पाप-परिग्रह छंडै= पाप के कारणभूत-परिग्रह का त्यागी, पाप की न शिक्षा मंडै= पाप-कार्य को करने की शिक्षा/अनुमति का त्यागी, कोऊ याकै निमित्त करै, सो न वस्तु गहै= कोई इनके निमित्त भोजनादि बनाये, उसे ग्रहण नहीं करना, ऐते देसव्रत के धरैया= ऐसे देशव्रत को धारण करनेवाले, समकिती-जीव= सम्यग्दृष्टि-जीव (के लिए), ग्यारह-प्रतिमा तिन्हैं भगवंतजी कहै= इनके ग्यारह-प्रतिमायें जिनेन्द्रदेव ने कही हैं॥ 57॥

विशेषार्थ :— गुणस्थान विवेचन के क्रम में अब कविवर पंचमगुणस्थान की विवेचना प्रारंभ करते हैं। जिसमें ग्यारह प्रकार की प्रतिमाओं का वर्णन आगम में वर्णित है। जो इसप्रकार है—

1. दर्शन-विशुद्धि-प्रतिमा— यह प्रतिमा सम्यग्दर्शन में विशुद्धि उत्पन्न करनेवाली है, अर्थात् इसके पालने से आत्मस्वरूप में स्थिरता बढ़ती है।
2. व्रत-प्रतिमा— इस प्रतिमा को धारण करनेवाले जीव आंतरिक-विशुद्धि के साथ-साथ श्रावक के लिये निर्दिष्ट बारह-व्रतों का निरतिचार-पालन करते हैं।
3. सामायिक-प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव बाह्य में मन-वचन-काय की स्थिरतापूर्वक पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का चिंतन, और अंतरंग में निज-स्वरूप का चिंतन करते हुए स्वरूप में स्थिरता का पुरुषार्थ करते हैं, जिसे 'सामायिक' कहते हैं।
4. प्रोषध-प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका, दशलक्षण आदि पर्व के दिनों में प्रोषध-विधि से उपवास करते हैं।
5. सचित्त-त्याग प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव सचित्त-वनस्पति आदि का सेवन नहीं करते।
6. दिवा-मैथुन-त्याग प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव दिन में स्त्री-स्पर्श/सेवन के त्यागी होते हैं।
7. रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमा/ब्रह्मचर्य प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी आठों-पहर स्त्री-सेवन के त्यागी होते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।
8. आरंभ-त्याग/निरारंभ-प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव सभीप्रकार के आरंभ के त्यागी होते हैं।
9. पापरूप परिग्रह-त्याग प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव पाप के कारणभूत परिग्रह के त्यागी होते हैं।
10. अनुमति-त्याग प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव स्वयं तो पापकार्य के त्यागी होते ही हैं, दूसरों को पापकार्य करने की अनुमति भी नहीं देते।
11. उद्दिष्ट-भोजन-त्याग-प्रतिमा— इस प्रतिमा के धारी जीव स्वयं के लिये विशेषरूप से बनाये आहार आदि के त्यागी होते हैं।

(दोहा)

संजम-अंस जग्यौ जहाँ, भोग-अरुचि परिनाम।

उदै प्रतिग्याकौ भयौ, 'प्रतिमा' ताकौ नाम॥ 58॥

शब्दार्थ :- संजम-अंस जग्यौ जहाँ= जहाँ संयम का अंश जागृत हुआ है, भोग-अरुचि परिनाम= भोगों के प्रति अरुचि का परिणाम है, उदै प्रतिग्याकौ भयौ= (उस समय) प्रतिज्ञा का उदय होना, प्रतिमा ताकौ नाम= उसी का नाम 'प्रतिमा' है।

विशेषार्थ :- इस छंद में कवि ने 'प्रतिमा' के स्वरूप को परिभाषित किया है।

'प्रतिमा' से तात्पर्य उस परिणाम से है, जहाँ अंतरंग में संयम या आत्मिक-विशुद्धि का भाव हो, और बाह्य में पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के प्रति सहज ही अरुचि का भाव हो, उस समय किसी प्रतिज्ञा या नियम लेने का भाव आये, उसे 'प्रतिमा' कहते हैं। ऐसे जीव के अनंतानुबंधी का क्षय या उपशम होने से ये नियम सहज पलते हैं, श्रावक को जबरन पालने नहीं पड़ते। यद्यपि इन नियमों का पालन मिथ्यादृष्टि-जीव के भी देखा जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि-जीव के अनंतानुबंधी का सद्भाव होने से उसे ये नियम ऊपरी तौर पर पालने पड़ते हैं, सहज नहीं पलते, इसीलिए नियमों का पालन करने पर भी वह जीव वास्तव में प्रतिमाधारी नहीं है।

(दोहा)

आठ-मूलगुण संग्रहै, कुविसन-क्रिया न कोइ।

दरसन-गुन निरमल करै, दरसन-प्रतिमा सोइ॥ 59॥

शब्दार्थ :- आठ-मूलगुण संग्रहै= आठ-मूलगुणों को ग्रहण करे, कुविसन-क्रिया न कोइ= दुर्व्यसन की कोई क्रिया न हो, दरसन-गुन निरमल करै= दर्शन-गुण/सम्यग्दर्शन को निर्मल करे, दरसन-प्रतिमा सोइ= वही 'दर्शन-प्रतिमा' है।

विशेषार्थ :- 'दर्शन' अर्थात् 'आत्म-दर्शन' ही पहली 'दर्शन-प्रतिमा' है। आत्मस्वरूप की अनुभूति होने पर ही श्रावक के जीवन में क्रमशः प्रतिमाओं की शुरूआत होती है। जबतक पहली-प्रतिमा न हो, तबतक अन्य-प्रतिमाओं का कोई मूल्य नहीं है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति-पूर्वक, स्वरूप की अनुभूति करते हुए दर्शन-प्रतिमाधारी श्रावक बाहर में अष्ट-मूलगुणों (मद्य, मांस, मधु त्याग के साथ-साथ बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकरफल इन पंच-उदुम्बर फलों का त्यागरूप) को ग्रहण करता है। साथ ही जुआ खेलना, माँस खाना, मदिरापान करना, वेश्यागमन, शिकार करना, चोरी करना, पर-स्त्री-सेवन—इन सात-व्यसनों का भी त्यागी होता है, जिससे सम्यग्दर्शन और अधिक निर्मल होता है।

(दोहा)

पंच-अनुव्रत आदरै, तीनों-गुनव्रत पाल।

सिच्छाव्रत-चारों धरै, यह व्रत-प्रतिमा चाल॥ 60॥

शब्दार्थ :- पंच-अनुव्रत आदरै= पंच-अणुव्रतों का पालन करे, तीनों-गुनव्रत पाल= तीनों-गुणव्रतों का पालन करे, सिच्छाव्रत-चारों धरै= चारों-शिक्षाव्रतों को धारण करे, यह व्रत-प्रतिमा-चाल= यह (दूसरी) 'व्रत-प्रतिमा' की विधि है।

विशेषार्थ :- दर्शन-प्रतिमा के धारी श्रावक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह— इन पाँचों-पापों के एकदेश-त्यागरूप पाँच-अणुव्रतों— अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह-परिमाणव्रत के साथ तीन-गुणव्रत— दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत, और चार-शिक्षाव्रत— सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-संविभागव्रत— इन बारह व्रतों का निरतिचार-पालन करते हैं, उसे दूसरी 'व्रत-प्रतिमा' कहते हैं।

(दोहा)

दर्व-भाव-विधि-संजुगत, हियै-प्रतिग्या टेक।

तजि-ममता समता-ग्रहै, अंतरमुहूरत एक॥ 61॥

(चौपाई)

जो अरि-मित्र समान विचारै, आरत-रौद्र-कुध्यान निवारै।

संयम-सहित भावना भावै, सो सामायिकवंत कहावै॥ 62॥

शब्दार्थ :- दर्व-भाव-विधि-संजुगत= द्रव्य और भाव दोनों से विधिपूर्वक, हियै-प्रतिग्या टेक= हृदय में प्रतिज्ञा रखकर, तजि-ममता समता ग्रहै= ममता को छोड़कर, समता को ग्रहण करे, अंतरमुहूरत एक= एक अंतर्मुहूर्त तक॥ 61॥

जो अरि-मित्र समान विचारै= जो शत्रु और मित्र को समान माने, आरत-रौद्र कुध्यान निवारै= आर्त और रौद्र कुध्यानों को दूरकर, संयम-सहित भावना भावै= संयम-सहित भावना भाये, सो सामायिकवंत कहावै= सो 'सामायिक-प्रतिमा' का धारी कहलाता है॥ 62॥

विशेषार्थ :- 'व्रत-प्रतिमा' के धारी श्रावक द्रव्य-विधि अर्थात् बाह्य-आसन, पाठ, शरीर की स्थिरता के साथ-साथ, भाव-विधि अर्थात् मन की स्थिरता और परिणामों में समता का भाव रखते हुए घड़ी, दो घड़ी या अंतर्मुहूर्त एक निश्चित समय की प्रतिज्ञा लेकर ममत्वभाव को छोड़कर साम्यभाव से पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का और निज-स्वरूप का चिंतन करते हैं; उसे तीसरी 'सामायिक' प्रतिमा कहते हैं।

इस प्रतिमा के धारी श्रावक मित्र और शत्रु दोनों के प्रति समान-भाव रखते हैं। 'आर्त-ध्यान' ('आर्त' अर्थात् 'दुःख', और दुःख के अनुभव में चित्त का एकाग्र होना 'आर्तध्यान' है) और 'रौद्र-ध्यान' ('रुद्र' अर्थात् 'निर्दयता', 'क्रूरता', ऐसे खोटे-परिणाम से जो ध्यान होता है, वह 'रौद्रध्यान' है अर्थात् पाँचों-पापों में पाप करते हुये भी आनंद मानना 'रौद्रध्यान' है) — ये दोनों ही ध्यान स्व और पर दोनों को पीड़ाकारक होने से इन्हें 'कुध्यान' कहा गया है— इन दोनों कुध्यानों को दूर करते हैं। संयम की भावना रखते हुए समता-भाव से बारह-भावनाओं, वैराग्य-भावनाओं का चिंतन करते हैं— ऐसे जीवों को तीसरी 'सामायिक-प्रतिमा' के धारी कहते हैं।

(दोहा)

सामायिक-कीसी दसा, च्यारि-पहरलौ होइ।

अथवा आठ-पहर रहै, प्रोसह-प्रतिमा सोइ॥ 63॥

शब्दार्थ :- सामायिक-कीसी दसा= सामायिक जैसी स्थिति, च्यारि-पहरलौ होइ= चार-पहर/बारह-घंटे तक हो, अथवा आठ-पहर रहै= अथवा आठ-पहर/चौबीस-घंटे तक रहे, प्रोसह-प्रतिमा सोइ= वही 'प्रोषध-प्रतिमा' है।

विशेषार्थ :- कवि के अनुसार सामयिक-प्रतिमा का धारी श्रावक जब चार-पहर या आठ-पहर तक परिणामों में समताभाव रखते हुए सामायिक में लीन रहता है, तब चौथी 'प्रोषध-प्रतिमा' का धारी होता है।

अन्य-ग्रंथों में प्रोषध का स्वरूप इसप्रकार वर्णित किया है— जब श्रावक एक माह की दोनों 'अष्टमी' और दोनों 'चतुर्दशी' को उपवास अर्थात् भोजन का पूर्ण-त्यागकर निजस्वरूप में वास करने का यत्न करे, और इन पर्वों के एक-दिन पहले और एक-दिन बाद एकासन या दिन में एक बार नीरस, शुद्ध-भोजन करे, तब वह श्रावक उत्कृष्ट 'प्रोषध-प्रतिमा' का धारी होता है।

(दोहा)

जो सचित्त-भोजन तजै, पीवै प्रासुक-नीर।
सो सचित्त-त्यागी पुरुष, पंच-प्रतिग्यागीर॥ 64॥

शब्दार्थ :- जो सचित्त-भोजन तजै= जो सचित्त-भोजन का त्याग करे, पीवै प्रासुक-नीर= प्रासुक-जल का ही पान करे, सो सचित्त-त्यागी पुरुष= सो सचित्त का त्याग करनेवाला पुरुष, पंच-प्रतिग्यागीर= पाँचवीं-प्रतिज्ञा को धारण करनेवाला होता है।

विशेषार्थ :- प्रोषध-प्रतिमा का धारी श्रावक जब सचित्त-भोजन-पान आदि का त्यागी होता है, सचित्त-भोजन अर्थात् जीव-सहित भोज्य-पदार्थ/हरितकाय। ऐसे सचित्त भोज्य-पदार्थ धूप में सुखाने से, अग्नि में पकाने से, शोधने-सँवारने से अचित्त हो जाते हैं। और पाँचवीं-प्रतिमा का धारी श्रावक केवल अचित्त-भोज्य-पदार्थ और प्रासुक-जल या छानकर उबाला गया मर्यादित-जल ही ग्रहण करता है, अर्थात् बिना अग्नि में पकाये कच्ची-सब्जी, फल आदि का सीधे भक्षण नहीं करता।

(चौपाई)

जो दिन ब्रह्मचर्य-व्रत पालै, तिथि आये निसि-दिवस संभालै।
गहि नौ-बाड़ि करै व्रत रख्या, सो षट्-प्रतिमा श्रावक आख्या॥ 65॥

शब्दार्थ :- जो दिन ब्रह्मचर्य-व्रत पालै= जो दिन में ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करे, तिथि आये निसि-दिवस संभालै= पर्व-तिथियों में रात और दिन दोनों में ही ब्रह्मचर्य पाले, गहि नौ बाड़ि करै व्रत रख्या= नव बाढ़-सहित व्रत का पालन करे, सो षट्-प्रतिमा श्रावक आख्या= वह श्रावक छठवीं-प्रतिमा धारी कहा गया है।

विशेषार्थ :- कवि के अनुसार पाँचवीं-प्रतिमा का धारी श्रावक जब दिन में स्त्री के स्पर्श-संबंधी सभीप्रकार की विषय-वासना का त्यागी होता है; तब वह श्रावक छठवीं 'दिवा-मैथुन-त्याग प्रतिमा' का धारी होता है।

'आचार्य समन्तभद्र' ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार जी' में छठवीं-प्रतिमा को 'रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमा' के नाम से विवेचित किया है। वहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि इस प्रतिमा के धारी श्रावक रात्रि में पका/बना हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करते हैं। साथ ही दूध शर्बत, जल आदि पेय-पदार्थ, सूखे मेवा और सौंफ, इलायची, लौंग आदि सुगंधित-पदार्थ यहाँ तक कि औषधि, लेप आदि किसी भी प्रकार के पदार्थों का सेवन रात्रि में नहीं करते, अर्थात् रात्रि में चारों-प्रकार के आहार के त्यागी होते हैं। यहाँ तक कि वे रात्रि में भोजन-संबंधी विचार/विकल्प/स्वपन तक से विरत होते हैं।

(चौपाई)

जो नौ-बाड़ि-सहित विधि साधै, निसि-दिन ब्रह्मचर्य आराधै।

सो सप्तम-प्रतिमाधर ग्याता, सील-सिरोमनि जग-विख्याता॥ 66॥

शब्दार्थ :- जो नौ-बाड़ि-सहित विधि साधै= जो नव-बाढ़-सहित विधिपूर्वक, निसि-दिन ब्रह्मचर्य आराधै= रात और दिन ब्रह्मचर्य का पालन करे, सो सप्तम-प्रतिमा धर ग्याता= वे ज्ञानी-जीव सातवीं-प्रतिमा के धारक, सील-सिरोमनि जग-विख्याता= जगत्-प्रसिद्ध शील-शिरोमणि हैं।

विशेषार्थ :- छठवीं-प्रतिमा का धारी श्रावक जब पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, अर्थात् दिन हो या रात स्त्री-सेवन का पूर्णरूप से त्यागी होता है, तब वह सातवीं ब्रह्मचर्य-प्रतिमा का धारी होता है। इस व्रत की रक्षा या निरतिचार-पालन करने के लिये ऐसे श्रावक आगम में वर्णित नव-बाढ़ का भी पालन करते हैं।

(कवित्त)

तियथल-वास, प्रेम-रुचि निरखन, दे परीछ भाखै मधु-वैन।

पूरब-भोग केलि-रस-चिंतन, गुरु-आहार लेत चित-चैन॥

करि शुचि-तन सिंगार बनावत, तिय-परजक-मध्य सुख-सैन।

मनमथ-कथा उदर-भरि-भोजन, ये नव-बाड़ि कहै जिन-बैन॥ 67॥

शब्दार्थ :- तियथल-वास= स्त्रियों के निवासक्षेत्र में रहना, प्रेम-रुचि निरखन= राग से रुचिपूर्वक स्त्रियों को देखना, दे परीछ भाखै मधु-वैन= स्त्रियों को मुड़कर देखना और उनसे मीठे-वचन बोलना, पूरब-भोग केलि-रस चिंतन= पहले किये भोगों का एवं काम-क्रीड़ाओं के आनंद का चिंतन करना, गुरु-आहार लेत चित-चैन= गरिष्ठ-आहार लेकर हर्ष मनाना, करि-शुचि तन-सिंगार बनावत= शरीर को साफकर/नहा-धोकर शृंगार/मेकअप करना, तिय-परजक-मध्य सुख-सैन= स्त्रियों के पलंग/आसन पर सो-बैठकर आनंदित होना, मनमथ-कथा= कामोत्पादक-कथा सुनना, उदर-भरि भोजन= भरपेट-भोजन करना, ये नव बाड़ि कहै जिन-बैन= ये नौ-बाड़ जिनवाणी में कही हैं अर्थात् अब्रह्म से बचने के कार्य कहे हैं (इन नौ कार्यों से अपने आपको बचाकर ही ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है)।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने पिछले-छंद में आगत नव-बाड़ों का सटीक-स्पष्टीकरण किया है। ये नव-बाड़ श्रावक के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत के निरतिचार-पालन में अत्यंत-सहयोगी हैं। इसलिए सातवीं-प्रतिमा के धारक-जीवों को इन नव-बाड़-सहित ही ब्रह्मचर्य-प्रतिमा का पालन करना चाहिए।

बाड़ अर्थात् आड़/रोक/बचाव या कहें इन कार्यों व संयोगों से अपने को बचाने की एक मर्यादा निश्चित करना; जिससे मन पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों के संपर्क से भी दूर रहे और संयमित भी रहे, ताकि आत्मसाधना निर्विघ्न हो।

स्त्रियों के समागम/संपर्क में रहना, रागभाव से स्त्रियों को निरखना/देखना, परोक्षरूप से स्त्रियों से मीठे-वचनों से वार्तालाप करना, पूर्वकाल में भोगे हुये विलासितापूर्ण-भोगों का स्मरणकर आनंदित होना, आनंददायक गरिष्ठ-आहार लेना (क्योंकि गरिष्ठ-भोजन से वासनाजन्य-विकार और प्रमाद में वृद्धि होती है), स्वभाव से ही अशुचि-काया को स्नानादि के द्वारा साफ/पवित्र करके उसे सजाने-सँवारने का भाव करना, स्त्रियों के पलंग पर सोना उनके आसन पर बैठकर आनंदित होना, काम-वासनावर्धक-कथाओं को सुनना, भरपेट भोजन करना— ये नव-बाड़ें लगाकर अर्थात् इनसे अपने आप को बचाकर

शीलव्रत को सुरक्षित रखा जाता है। इसलिये ये नौ-उपाय जिनवाणी में कहे हैं। सातवीं ब्रह्मचर्य-प्रतिमा के धारी श्रावक को अपने ब्रह्मचर्य-व्रत को सुरक्षित रखने के लिये इन नव-बाड़ों से अपने आपको बचाना ही चाहिये।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से विचारणीय है कि ये नव-बाड़ की सीमा जिनेन्द्र-देव ने एक पंचम-गुणस्थानवर्ती सातवीं-प्रतिमा के धारक श्रावक के लिए कही है, जबकि वह श्रावक अभी अणुव्रती है; फिर इससे आगे के क्षुल्लक, ऐलक जैसे उत्कृष्ट अणुव्रतियों एवं मुनिराज जैसे महाव्रतियों को तो इन नव-बाड़ों का प्रयोग करना ही चाहिये अर्थात् ऐसे संयोगों और कार्यों से बचना ही चाहिये।

(दोहा)

जो विवेक-विधि आदरै, करै न पापारंभ।

सो अष्टम-प्रतिमा-धनी, कुगति-विजै-रनथंभ॥68॥

शब्दार्थ :- जो विवेक-विधि आदरै= जो विवेक-सहित आचरण करे, करै न पापारंभ= पाप-कार्यों के साधनों तक से बचकर रहे, सो अष्टम-प्रतिमा धनी= वह आठवीं प्रतिमा का स्वामी, कुगति-विजै रनथंभ= कुगति-विजय का रणस्तम्भ/कुगति-विजेता है।

विशेषार्थ :- सातवीं-प्रतिमा का धारी जीव, जब जिन कार्यों को करने से जीवों की हिंसा होती है, ऐसे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्यार्जन और शिल्प आदि धनार्जन करनेवाले सभी पापारंभ के कार्यों का त्याग करता है; तब वह नरकादि-कुगतियों को जीतनेवाला महायोद्धा आठवीं-प्रतिमा का धारक होता है।

(चौपाई)

जो दसधा-परिग्रह को त्यागी, सुख-संतोष-सहित वैरागी।

समरस-संचित किंचित-ग्राही, सो श्रावक नौ-प्रतिमा-वाही॥ 69॥

शब्दार्थ :- जो दसधा-परिग्रह को त्यागी= जो दसप्रकार के परिग्रह का त्यागी हो, सुख-संतोष-सहित वैरागी= सुख-संतोषपूर्वक विरक्त हो, समरस-संचित किंचित-ग्राही= समताभाव-पूर्वक कुछ/सीमित वस्तुओं को ग्रहण करे; सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही= वह श्रावक नौवीं-प्रतिमा का धारी होता है।

विशेषार्थ :- आठवीं-प्रतिमा का धारी जीव व्यापारादि से निर्वृत्त होने के बाद पहले से जमा दसप्रकार के बाह्य-परिग्रह का त्याग करता है। केवल अपने पहनने के वस्त्र और भोजन-पात्र के रूप में अंशमात्र-परिग्रह रखकर शेष परिग्रह का त्याग करता है। और साम्यभाव धारण करते हुए संसार से विरक्त होने का पुरुषार्थ करता है, तब वह श्रावक नौवीं 'परिग्रह-त्याग प्रतिमा' का धारी होता है।

(दोहा)

परकौ पापारंभकौ, जो न देइ उपदेस।

सोदसमी-प्रतिमा-सहित, श्रावकविगत-क्लेस॥70॥

शब्दार्थ :- परकौ पापारंभकौ जो= जो दूसरों को पाप-कार्यों को करने का, न देइ उपदेस= उपदेश/प्रेरणा (तक) नहीं देता है, (सो) दसमी प्रतिमा-सहित श्रावक विगत-क्लेस= वह क्लेश-रहित श्रावक दसवीं-प्रतिमा को धारण करता है।

विशेषार्थ :- नौवीं-प्रतिमा का धारक श्रावक स्वयं तो समस्त-प्रकार के पापारंभ का त्याग करता ही

है, अन्य को भी पाप-कार्यों को करने की अनुमति/सलाह तक नहीं देता। यहाँ तक कि मकान बनवाना, बच्चों की शादी करना, व्यापारादि में सलाह देना, अच्छा-बुरा, खरा-खोटा आदि किसी भी प्रकार के कार्यों में परिवारीजनों के पूछने पर भी अनुमति/सलाह तक नहीं देता। कहने का अभिप्राय यही है कि समस्त-पापारंभ के कार्यों का कृत-कारित-अनुमोदना से पूर्णतः त्यागी होता है; तब वह श्रावक दसवीं 'अनुमति-त्याग-प्रतिमा' का धारी होता है।

(चौपाई)

जो सुछंद वरतै तजि-डेरा, मठ-मंडपमैं करैं बसेरा।
उचित-आहार उदंड-विहारी, सो एकादश-प्रतिमाधारी॥ 71॥

शब्दार्थ :— जो सुछंद वरतै तजि-डेरा= जो अपने निवास-स्थान को छोड़कर स्वतंत्र-विचरण करते हैं, मठ-मंडपमैं करैं बसेरा= किसी मठ, मंडप/बरामदे में निवास करते हैं, उचित-आहार= योग्य/मर्यादित-आहार लेते हैं, उदंड-विहारी= वनादि (निर्जन-स्थलों) में विहार करते हैं; सो एकादश-प्रतिमाधारी= वे श्रावक ग्यारहवीं-प्रतिमा के धारी होते हैं।

विशेषार्थ :— दसवीं-प्रतिमा के धारी श्रावक जब अपने घर-मकान को भी छोड़कर किसी मठ या निर्जन-वनादि में विरक्तजनों या महाव्रतियों के पास निवास करने लगते हैं। और इसके साथ ही उद्दिष्ट-आहार के त्यागी अर्थात् उनके निमित्त विशेषरूप से बनाये हुये भोजन को ग्रहण नहीं करते; बल्कि गृहस्थ ने अपने लिए जो भोजन बनाया है, उसी में से भक्तिपूर्वक दिया हुआ कुछ भोजन ग्रहण करते हैं, और साम्यभाव से महाव्रत-ग्रहण करने का अभ्यास करते हैं; तब वे श्रावक ग्यारहवीं-प्रतिमा के धारक होते हैं।

(दोहा)

एकादस-प्रतिमा-दसा, कही देसव्रत-माँहि।
वही अनुक्रम मूलसौं, गहौ सु छूटै नाँहि॥ 72॥

शब्दार्थ :— एकादस-प्रतिमा-दसा= ग्यारह प्रतिमाओं की ये स्थिति, कही देसव्रत-माँहि= देशव्रती-श्रावक के लिए कही, वही अनुक्रम मूलसौं गहौ सु छूटै नाँहि= वही शुरू से क्रम से इन्हें ग्रहण करता है, फिर छोड़ता नहीं है।

विशेषार्थ :— प्रतिमाओं के संबंध में विशेष-उल्लेख करते हुए कविवर कहते हैं कि पंचम-गुणस्थान-वर्ती श्रावक के लिये इन ग्यारह प्रतिमाओं का विशेषरूप से वर्णन किया गया है। सो देशव्रती-श्रावक को इन प्रतिमाओं को मूल से अर्थात् शुरू से क्रमशः उत्तरोत्तर-ग्रहण करना चाहिए, बीच में से न ग्रहण करना चाहिए और न ही छोड़ना चाहिए।

(दोहा)

षट्-प्रतिमा-ताई जघन, मध्यम नौ-परजंत।
उत्तम दसमी-ग्यारसी, इमि प्रतिमा-विरतंत॥ 73॥

शब्दार्थ :— षट्-प्रतिमा-ताई जघन= छटवीं-प्रतिमा तक जघन्य, मध्यम नौ परजंत= नौवीं-प्रतिमा तक मध्यम, और उत्तम दसमी-ग्यारसी= दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक है, इमि प्रतिमा विरतंत= इसप्रकार प्रतिमाओं का वर्गीकरण/वृत्तान्त है।

विशेषार्थ :- प्रतिमाओं की अपेक्षा श्रावकों के भेद करते हुए कविवर कहते हैं कि पहली-प्रतिमा से छठवीं-प्रतिमा तक के श्रावकों को 'जघन्य-श्रावक', सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाओं के धारी को 'मध्यम-श्रावक', और दसवीं, ग्यारहवीं-प्रतिमाओं के धारी को 'उत्तम-श्रावक' कहते हैं।

(चौपाई)

एक-कोडि-पूरब गिनि लीजै, तामैं आठ-बरस घटि कीजै।

यह उत्कृष्ट-काल-थिति जाकी, अंतरमुहूर्त जघन-दशाकी॥ 74॥

शब्दार्थ :- एक-कोडि-पूरब गिनि लीजै= एक करोड़-पूर्व के काल की गणना करके, तामैं आठ बरस घटि कीजै= उसमें आठ वर्ष कम कर दो, यह उत्कृष्ट-काल थिति जाकी= यह इसकी कालगत उत्कृष्ट-स्थिति है। अंतरमुहूर्त जघन-दशाकी= और इस दशा का जघन्य-स्थिति अंतर्मुहूर्त-काल है।

विशेषार्थ :- पंचम-गुणस्थान की काल-सीमा का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि पाँचवें देशव्रत-गुणस्थान का उत्कृष्ट-काल 'आठ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व' है, और जघन्य-काल 'अंतर्मुहूर्त' है।

(दोहा)

सत्तर-लाख-किरोर-मित, छप्पन-सहस-किरोड़।

एते बरस मिलाइके, पूरब-संख्या जोड़॥ 75॥

शब्दार्थ :- सत्तर-लाख-किरोर-मित= सत्तर-लाख करोड़, छप्पन-सहस किरोड़= छप्पन-हजार करोड़, एते बरस मिलाइके= इतने वर्ष मिलाने पर, पूरब-संख्या जोड़= एक-पूर्व की संख्या होती है।

विशेषार्थ :- संख्या की दृष्टि से 'एक-पूर्व' के काल का प्रमाण देते हुए कविवर कहते हैं सत्तर-लाख छप्पन-हजार-करोड़ वर्ष का 'एक-पूर्व' होता है। चौरासी-लाख वर्ष का 'एक-पूर्वांग' होता है, और चौरासी-लाख पूर्वांगों का 'एक-पूर्व' होता है। इस तरह 8400000 x 8400000 वर्षों का गुणनफल 'एकपूर्व' होगा।

(दोहा)

अंतर्मुहूर्त द्वै-घरी, कछुक घाटि उतकिष्ट।

एक-समय एकावली, अंतरमुहूर्त-कनिष्ट॥ 76॥

शब्दार्थ :- अंतर्मुहूर्त द्वै-घरी= एक अंतर्मुहूर्त में दो-घड़ी, कछुक घाटि उतकिष्ट= एक-समय कम उत्कृष्ट-काल, एक-समय एकावली= एक-समय अधिक एक-आवली, अंतरमुहूर्त कनिष्ट= अंतर्मुहूर्त का जघन्य-काल है।

विशेषार्थ :- अंतर्मुहूर्त का काल/समय वर्णित करते हुए कविवर कहते हैं कि एक-अंतर्मुहूर्त का काल दो घड़ी है। एक घड़ी 24 मिनट की होती है। दो घड़ी अर्थात् 48 मिनट में से एक-समय कम अंतर्मुहूर्त का उत्कृष्ट-काल है, और एक-समय अधिक एक-आवली अंतर्मुहूर्त का जघन्य-काल है।

(दोहा)

यह पंचम-गुणस्थान की, रचना कही विचित्र।

अब छट्टे-गुणस्थान की, दसा कहूँ, सुन मित्र॥ 77॥

शब्दार्थ :- यह पंचम-गुणस्थान की= यह पाँचवे-गुणस्थान की, रचना कही विचित्र= विचित्र-रचना का वर्णन किया। अब छठे-गुणस्थान की= अब छठवें-गुणस्थान का, दसा कहूँ सुन मित्र= स्वरूप कहता हूँ, हे मित्र! सुनो।

विशेषार्थ :- छठवें-गुणस्थान का स्वरूप वर्णित करने की प्रतिज्ञा करते हुए कविवर कहते हैं 'पाँचवे-गुणस्थान का विचित्र-वर्णन पूरा हुआ। अब छठवें-गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ, सो हे मित्र! तुम सुनो!

(दोहा)

पंच-प्रमाद-दसा धरै, अट्टाइस-गुनवान।
थविरकल्पि जिनकल्पि-जुत, है प्रमत्त-गुनथान॥ 78॥

शब्दार्थ :- पंच-प्रमाद-दसा धरै= पाँच-प्रमाद की दशा से सहित, अट्टाइस गुनवान= 28 मूलगुण-सहित, थविरकल्पि= स्थविरकल्पि, जिनकल्पि-जुत= जिनकल्पि के भेदों से संयुक्त है, प्रमत्त-गुनथान= प्रमत्त-गुणस्थान है।

विशेषार्थ— 'प्रमत्त-संयत' नामक छठवें-गुणस्थान का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं कि जो पाँच-प्रकार के प्रमाद-सहित, 28 मूलगुणों का पालन करते हैं, और जिनके 'स्थविरकल्पि' और 'जिनकल्पि' — दोनों प्रकार हैं, वे मुनिराज छठवें-गुणस्थानवर्ती होते हैं।

(दोहा)

धर्मराग विकथा-वचन, निद्रा-विषय-कषाय।
पंच-प्रमाद-दसा-सहित, परमादी-मुनिराय॥ 79॥

शब्दार्थ :- धर्मराग= धर्म में अनुराग, विकथा-वचन= विकथा-वचन, निद्रा= निद्रा, विषय= विषय, कषाय= कषाय, पंच-प्रमाद-दसा-सहित= इन पाँच प्रकार के प्रमाद-सहित, परमादी-मुनिराय= प्रमत्त-संयत मुनिराज होते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने प्रमत्त-मुनि-संबंधी पंच-प्रमादों का वर्णन किया है। 'प्रमाद' से तात्पर्य संज्वलन-कषायादि-सहित अवस्था का नाम 'प्रमाद' है। यद्यपि इस गुणस्थान में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी— तीन-कषाय चौकड़ी का तो क्षय या उपशम हो जाता है; परन्तु संज्वलन-कषाय-चौकड़ी और नव-नोकषाय का उदय रहता है, जो स्वरूप-स्थिरता में बाधक होता है, इसी का नाम 'प्रमाद' है। ऐसे पाँच-प्रमादों का वर्णन कवि ने यहाँ किया है —

धर्म में अनुराग (जीवों को उपदेश देने, धर्ममार्ग में लगाने संबंधी-भाव होना), विकथा (आत्मस्वरूप से बाहर आने पर होनेवाली वचन-क्रिया), निद्रा (शयनरूप क्रिया), विषय (आहार, विहार, नीहार-संबंधी इन्द्रिय-विषयों में प्रवर्तन), और कषाय (संज्वलन-संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभरूप-प्रवर्तन) छठवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत-मुनि इन पाँच-प्रमादों सहित होते हैं।

(सवैया इकतीसा)

पंच-महाव्रत पालै पंच-समिति संभालै, पंच-इंद्री जीति भयौ भोगी चित-चैनकौ।
षट-आवश्यक-क्रिया दर्वित-भावित साधै, प्रासुक-धरामैं एक-आसन है सैन को॥

मंजन न करै, केश लुंचै, तन-वस्त्र मुंचै, त्यागै-दंतवन, पै सुगंध-स्वास-वैनकौ।

ठाड़ौ करसे आहार लघु-भुंजी एकबार, अट्टाइस-मूलगुनधारी जती जैनकौ॥ 80॥

शब्दार्थ :- पंच-महाव्रत पालै= पाँच महाव्रतों का पालन कर, पंच-समिति संभालै= पंच-समितियों की संभाल कर, पंच-इंद्री जीति= पाँचों इन्द्रियों को जीतकर, भयौ भोगी चित-चैनकौ= आत्मिक-आनंद के भोगी होते हैं, षट्-आवश्यक क्रिया दर्वित-भावित साधै= द्रव्य और भावरूप से षट्-आवश्यकों की क्रिया को साधते हैं, प्रासुक-धरामै एक-आसन है सैन को= जीवरहित-भूमि पर एक-करवट सोना, मंजन न करै= स्नान नहीं करना, केश लुंचै= केशलोंच करना, तन-वस्त्र मुंचै= तन के वस्त्र त्यागना, त्यागै दंतवन= दंतमंजन नहीं करना, पै सुगंध-स्वास-वैनकौ= फिर भी स्वांस और वचनों से सुगंधि ही निकलती है, ठाड़ौ करसे आहार= खड़े होकर आहार लेना, लघु-भुंजी= थोड़ा भोजन करना, एकबार= दिन में एकबार, अट्टाइस-मूलगुनधारी जती जैन को= ऐसे 28 मूलगुणधारी जैन-साधु होते हैं।

विशेषार्थ— इस-छंद में कवि ने मुनिराजों के 28 मूलगुणों का वर्णन किया है। अहिंसादि पाँच-महाव्रतों का पालन, ईर्या आदि पाँचों-समितियों की संभाल, पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों को जीतकर आत्मिक-आनंद का भोग करना, द्रव्य और भाव अर्थात् बहिरंग और अंतरंग— दोनों रूप से षट्-आवश्यकों का पालन करना, जीव-रहित प्रासुक-भूमि पर एक-करवट सोना, जीवन-पर्यंत अस्नान-व्रती रहना अर्थात् स्नान नहीं करना, केशलोंच करना, वस्त्र त्यागना अर्थात् दिगम्बरत्व को अंगीकार करना, अदन्तधोवन अर्थात् दाँत साफ नहीं करना फिर भी वचन और स्वांस सुगंधित रहना, खड़े होकर करपात्र में आहार लेना, अल्पभोजन करना, और दिन में एकबार भोजन करना— इसप्रकार जैन-साधु पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-विजय, षट्-आवश्यक और शेष सात-उत्तरगुण— इसप्रकार कुल 28 मूलगुणों से सुशोभित होते हैं।

(दोहा)

हिंसा-मृस-अदत्तधन, मैथुन परिग्रह-साज।

किंचित् त्यागी-अनुव्रती, सब त्यागी-मुनिराज॥ 81॥

शब्दार्थ :- हिंसा= हिंसा, मृस= झूठ, अदत्त-धन= बिना दिया धन/वस्तु ग्रहण करना अर्थात् चोरी, मैथुन= कुशील-सेवन, परिग्रह-साज= परिग्रह-सामग्री जोड़ना, किंचित्-त्यागी अनुव्रती= एकदेश-त्यागी 'अणुव्रती', सब-त्यागी मुनिराज= सर्वदेश-त्यागी 'मुनिराज' होते हैं।

विशेषार्थ :- पाँच-महाव्रतों का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह— इन पाँचों-पापों का जो एकदेश/आंशिक-त्याग करते हैं, वे अणुव्रती-श्रावक होते हैं। और जो इन पाँचों-पापों का सर्वदेश/सर्वथा त्याग करते हैं, वे महाव्रती-मुनिराज होते हैं। 28 मूलगुणों के अंतर्गत पाँच-महाव्रतों का स्वरूप इसप्रकार है —

1. अहिंसा-महाव्रत— दिगम्बर-मुनिराज आरंभ-परिग्रह से रहित होने से, बाहर में छहकाय के जीवों के घात नहीं करने से सभीप्रकार की 'द्रव्यहिंसा' और राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि भावों पर नियंत्रण रखने से 'भावहिंसा' से भी रहित होने से 'अहिंसा-महाव्रत' के धनी होते हैं।

2. सत्य-महाव्रत— जिनके न लेश-मृषा— अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म— दोनोंप्रकार के झूठ का त्याग होने

से दिगम्बर-मुनिराज 'सत्य-महाव्रत' के धारी होते हैं।

3. अचौर्य-महाव्रत— "मृण हू बिना दीयो न गहै"— अन्य-वस्तु तो दूर, मिट्टी भी बिना दिये ग्रहण नहीं करते; वे दिगम्बर-मुनिराज 'अचौर्य-महाव्रत' के धारी होते हैं।

4. ब्रह्मचर्य-महाव्रत— "अठदस सहसविध शील धर"..... शील के अठारह हजार भेदों का पालन करते हैं और "चिद्धूम में नित रमि रहै"— चैतन्य-स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं, इसीलिये 'ब्रह्मचर्य-महाव्रत' के धारी होते हैं।

5. अपरिग्रह-महाव्रत— मुनिराज अंतरंग में कषायादि चौदह और बहिरंग-स्वर्ण, वास्तु आदि दसप्रकार के परिग्रह के त्यागी होने से 'अपरिग्रह-महाव्रत' के धारी होते हैं।

(दोहा)

चलै-निरखि भाखै-उचित, भखै-अदोष-अहार।

लेइ-निरखि डारै-निरखि, समिति पंच-परकार॥ 82॥

शब्दार्थ :— चलै-निरखि= देखकर चलें, भाखै-उचित= उचित-वचन बोलें, भखै-अदोष-अहार= निर्दोष-आहार ग्रहण करें, लेइ-निरखि डारै-निरखि= देखकर रखें और देखकर उठायें, समिति पंच-परकार= ये पाँच प्रकार की समिति हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मुनियों के 28 मूलगुणों के अंतर्गत पाँच-प्रकार की समितियों का वर्णन किया है—

प्रमाद-रहित, यत्नाचार-सहित सम्यक्-प्रवृत्ति 'समिति' कहलाती है, जिसका मुनिराज निरतिचार-पालन करते हैं। समितियाँ पाँच-प्रकार की होती हैं। जो इसप्रकार हैं—

1. ईर्या-समिति— मुनिराज हमेशा दृष्टि झुकाकर अपने से आगे चार-हाथ जमीन देखकर ही गमन करते हैं, जिससे गमन करते समय किसी भी जीव की हिंसा न हो जाये।

2. भाषा-समिति— मुनिराज हमेशा हित-मित-प्रिय अर्थात् हितकारी, मीठे, प्रिय, योग्य-वचन ही बोलते हैं, ताकि उनके द्वारा बोले गये किसी वचन से भी किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे।

3. एषणा-समिति— मुनिराज हमेशा भोजन-संबंधी 46 दोषों (16 उद्धम-दोष, 16 उत्पादन-दोष, 10 अशन या एषणा-दोष और 4 अंगारक-दोष) से रहित अर्थात् निर्दोष-आहार ही ग्रहण करते हैं। ताकि भोजन बनाते समय से लेकर आहार लेते समय तक किसी जीव की हिंसा न हो और न ही प्राणपीड़न हो।

4. आदान-निक्षेपण-समिति— देखकर रखना और उठाना अर्थात् मुनिराज शास्त्र, पीछी, कमंडलु आदि कुछ भी सामान हमेशा देखकर ही रखते व उठाते हैं, जिससे अनजाने में भी जीव की विराधना न हो।

5. प्रतिष्ठापन-समिति— जीव-रहित प्रासुक-भूमि पर ही मुनिराज कफ-मल-मूत्रादि का क्षेपण करते हैं; ताकि किसी जीव की हिंसा न हो।

(दोहा)

समता, वंदन, श्रुतिकरन, पड़कौना सज्जाव।

काउसग-मुद्रा-धरन, षडावसिक ये भाव॥ 83॥

शब्दार्थ :- समता= साम्यभाव, वंदन= नमस्कार करना, श्रुतिकरन= स्तुति करना, षड्कौना= प्रत्याख्यान, सज्जाव= स्वाध्याय, काउसग-मुद्रा धरन= कायोत्सर्ग-मुद्रा धारण करना, षडावसिक ये भाव= ये छह षट्-आवश्यक हैं।

विशेषार्थ :- अवश्य करने योग्य कार्य को 'आवश्यक' कहते हैं। 'मूलाचार' के अनुसार 'आवश्यक' की परिभाषा इसप्रकार है—

"ण वसो अवसो अवस्स, कम्ममावासगं त्ति वोधव्वा।

जुत्तित्ति उवायत्ति य, णिरयवा होइ णिजुत्ति॥"

—(मूलाचार 515)

अर्थात् जो कषाय राग-द्वेषादि के वशीभूत न हो वह 'अवश' है, और उस 'अवश' का जो आचरण है, वह 'आवश्यक' है।

'भगवती आराधना' में तो आवश्यक की परिभाषा और भी मार्मिक दी गई है— "आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकः" अर्थात् जो आत्मा को रत्नत्रय में निवास कराते हैं, उनको 'आवश्यक' कहते हैं। श्रावकों की तरह मुनियों के भी 'षट्-आवश्यक' आगम में वर्णित हैं।

उन्हीं षट्-आवश्यकों का वर्णन कवि ने यहाँ किया है।

1. समता— प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल-परिस्थितियों में साम्यभाव रखना, और निर्धारित-समय पर आत्मचिंतन-पूर्वक 'सामायिक' करना मुनिराज का 'समता' नामक पहला-आवश्यक है।
2. स्तुति— समस्त तीर्थंकर-भगवंतों का गुणानुवाद करना 'स्तुति' नामक दूसरा-आवश्यक है।
3. वंदना— समस्त-तीर्थंकर परमात्मा को विनयपूर्वक वंदन/नमन करना तीसरा 'वंदना' आवश्यक है।
4. स्वाध्याय— आत्मस्वरूप में स्थिरता-हेतु स्वयं के परिणामों की संभाल, और बाह्य में शास्त्र स्वाध्याय, चिंतन-मनन आदि करना।
5. प्रतिक्रमण— स्वयं के द्वारा किये दोषों का परिष्कार करना ही 'प्रतिक्रमण' है।
6. कायोत्सर्ग— कायोत्सर्ग अर्थात् काया से ममत्व का उत्सर्ग यानि त्याग करना ही 'कायोत्सर्ग' नामक आवश्यक है।

(सवैया इकतीसा)

थविरकलपि जिनकलपि दुविध-मुनि, दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु हैं।

दोऊ अट्टाईसमूलगुन के धरैया दोऊ, सरव-त्यागी ह्वै विरागता गहतु हैं॥

थविरकलपि ते जिनके शिष्य-साखा होइ, बैठिकै सभामैं धर्मदेसना कहतु हैं।

एकाकी सहज जिनकलपि तपस्वी-घोर, उदै की मरोरसौं परीसह सहतु हैं॥ 84॥

शब्दार्थ :- थविरकलपि जिनकलपि दुविध-मुनि= 'स्थविरकल्पी' और 'जिनकल्पी' दोनों मुनि हैं, दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु हैं= दोनों ही वन में रहते हैं, दोनों ही नगन रहते हैं, दोऊ अट्टाईस-मूलगुन के धरैया= दोनों 28 मूलगुणों का पालन करते हैं, दोऊ सरव-त्यागी ह्वै= दोनों ही सर्वप्रकार से त्यागी होकर, विरागता गहतु हैं= वैराग्य को ग्रहण/धारण करते हैं, थविरकलपि ते= स्थविरकल्पी वे हैं, जिनके शिष्य-साखा होइ= जिनके शिष्यों का संघ होता है, बैठिकै सभामैं धर्मदेसना कहतु हैं= सभा में बैठकर धर्म का उपदेश देते हैं, एकाकी सहज जिनकलपि= जिनकल्पी सहज ही एकाकी होते हैं, तपस्वी घोर= घोर-तपस्वी होते हैं, उदै की मरोरसौं परीसह

सहतु है= कर्म के उदय में होनेवाले परीषहों को सहन करते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने 'स्थविरकल्पी' और 'जिनकल्पी', ऐसे दो-प्रकार के मुनियों का स्वरूप विवेचित किया है।।

ये दोनों ही प्रकार के साधु जिनाम्नाय में वर्णित-मुनिचर्या का पालन करते हैं, दोनों ही मुनि जंगल में रहते हैं, नग्न-दिगम्बर-रूप को ही अंगीकार करते हैं, दोनों ही 28 मूलगुणों का निरतिचार-पालन करते हैं। मुनिचर्या की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है, दोनों ही समान-आचरण करते हैं।

दोनों में अंतर केवल इतना कि जो 'स्थविरकल्पी-मुनिराज' हैं, वे अपने संघ में रहते हैं, जिसमें एक संघ के आचार्य, नव-दीक्षित-साधुओं को पढ़ाने के लिये उपाध्याय, और सामान्य-साधु होते हैं। संघ के आचार्य का आदेश प्रत्येक-साधु के लिये मानना अनिवार्य होता है। साधुओं से चर्या-पालन में कोई दोष लगने पर वह साधु आचार्य के समक्ष अपने दोष को बताकर प्रायश्चित भी लेते हैं। संघ में रहने पर सभी साधु अनुशासन में रहते हैं, धर्मोपदेश देते व सुनते हैं, कर्म के उदयवश किसी भी साधु के जीवन में प्रतिकूलता आने पर या परिणाम विचलित होने पर, अन्य साधु उन्हें संबोधित करते हैं, स्थितिकरण कराते हैं।

जबकि दूसरी ओर उग्र-पुरुषार्थी 'जिनकल्पी-मुनि' का कोई संघ नहीं होता, कोई शिष्य नहीं, वे एकलविहारी होते हैं। कर्म के उदय से होनेवाले परीषहों को स्वयं ही सहन करते हैं, अर्थात् अपने परिणामों की संभाल वे साधु स्वयं ही करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

ग्रीषममें धूप-थित, सीतमें अकंप-चित, भूखै धरै-धीर, प्यासे नीर न चहतु है।

डंसमसकादिसौं न डरै, भूमि-सैन करै, वध-बंध-विथामैं अडोल है रहतु हैं॥

चर्या दुःख भरै तिन फाससौं न थरहरै, मल-दुरगंधकी गिलानि न गहतु हैं।

रोगनिकौ न करै इलाज ऐसे मुनिराज, वेदनी के उदै ये परीसह सहतु हैं॥ 85॥

शब्दार्थ :- ग्रीषममें धूप-थित= गर्मी में धूप में स्थित रहते हैं, सीतमें अकंप-चित= सर्दी में निश्चल-मन रहते हैं, भूखै धरै-धीर= भूख लगने पर धैर्य रखते हैं, प्यासे नीर न चहतु है= प्यास लगने पर पानी नहीं चाहते, डंसमसकादिसौं न डरै= डांस-मच्छर के काटने आदि का भय नहीं करते, भूमि-सैन करै= जमीन पर सोते हैं, वध-बंध-विथामैं अडोल है रहतु हैं= बाँधने-मारने के कष्ट/उपसर्ग में भी अचल रहते हैं, चर्या दुःख भरै= नंगे पाँव चलने में होनेवाले कष्ट से (और), तिन-फाससौं न थरहरै= तिनका-फाँस आदि के लगने पर नहीं घबराते, मल-दुरगंधकी गिलानि न गहतु हैं= मल और दुर्गन्धित-पदार्थों में ग्लानि नहीं करते, रोगनिकौ न करै इलाज= रोग होने पर इलाज नहीं करते, ऐसे मुनिराज वेदनी के उदै ये परीसह सहतु हैं= इसप्रकार मुनिराज वेदनीय-कर्म के उदय में इन परीषहों को सहन करते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने वेदनीय-कर्म-जनित ग्यारह-परीषहों का वर्णन किया है। और मुनिराज कर्मोदय-जनित इन परीषहों को शांत-भाव से सहन करते हैं।

आत्मसाधना-हेतु तेज-गर्मी में तपती-धूप में भी शांत-भाव से खड़े रहना, गर्म-सड़क पर नंगे-पाँव विहार करना, भयंकर-गर्मी में तेज-लू के बीच में भी भेदविज्ञान के बल पर समताभाव रखना 'उष्ण-परीषहजय' है। तेज-सर्दी, तुषार, अत्यधिक ठंडी-हवाओं से भी भयभीत नहीं होना निर्भय और अचल रहकर आत्मसाधना करना 'शीत-परीषहजय' है। उपवास होने पर, अनेकप्रकार की तपस्याओं से

शरीर कृष होने पर भी क्षुधा के कारण अपने विशुद्ध-ध्यान से च्युत न होना, धैर्य रखना, शांत-भाव से सहना, और विशेष-उत्साह से मोक्षमार्ग में लगना 'क्षुधा-परीषहजय' है। प्रकृति-विरुद्ध आहार, तेज-गर्मी, पित्त-ज्वर, अनशन आदि के कारण उत्पन्न प्यासरूपी अग्नि-शिखा को संतोषरूपी-जल से शांत करना 'तृषा-परीषहजय' है।

डांस, मक्खी, मच्छर आदि के काटने पर उत्पन्न हुई पीड़ा को शांतभाव से सहन करना और सहज रहना 'दंसमशक-परीषहजय' है। रात्रि में कठोर-भूमि पर भी पूरा बदन सीधा रखकर एक करवट से कुछ देर तक ही सोना 'शय्या-परीषहजय' है। किसी चोर, डाकू, बैरी आदि के द्वारा मारने-बाँधने, यहाँ तक कि प्राणघात किये जाने पर भी क्रोध न करके उनका भला ही सोचना 'वध-बंधन-परीषहजय' है। पवन की तरह एकाकी-विहार करते हुए भयानक-वन में भी सिंह की तरह निर्भय रहना, और जमीन पर चलने से पैर में कंकर-पत्थर आदि चुभने पर होनेवाले कष्ट को शांत-भाव से सहन करना, मन में किसी भी प्रकार का खेद नहीं करना, यह 'चर्या-परीषहजय' है। तिनका, फाँस आदि के चुभने पर नहीं घबराना 'तृणस्पर्श-परीषहजय' है। अपने शरीर पर लगे मल को देखकर या बाह्य में दुर्गंधयुक्त-पदार्थों को देखकर भी ग्लानि का भाव न आना 'मल-परीषहजय' है। शरीर में रोगादि की वेदना होने पर मन में उसका इलाज करने का विचार भी नहीं करना, बल्कि सहज-शांतभाव से सहन करना 'रोग-परीषहजय' है— इसप्रकार वेदनीय-कर्म के उदय में होनेवाले उपर्युक्त ग्यारह-प्रकार के परीषहों को मुनिराज शांत-भाव से सहन करते हैं।

(कुण्डलिया)

एते संकट मुनि सहै, चारितमोह-उदोत।
लज्जा-संकुच-दुःख धरै, नगन-दिगम्बर होत॥
नगन-दिगम्बर होत, श्रोत-रति-स्वाद न सेवै॥
तिय-सनमुख दृग-रोकि, मान-अपमान न बेबै॥
थिर ह्वै निरभै रहै, सहै कुवचन जग जेतै॥
भिच्छुक-पद संग्रहै, लहै मुनि संकट ऐते॥ 86॥

शब्दार्थ :- एते संकट मुनि सहै= इतने संकट/परीषह मुनिराज सहन करते हैं, चारितमोह उदोत= चारित्रमोहनीय-कर्म के उदय से, लज्जा-संकुच-दुःख धरै नगन-दिगम्बर होत= लज्जा और संकोचजनित-जो दुःख होता है नगन-दिगम्बर रहने से, नगन-दिगम्बर होत श्रोत-रति-स्वाद न सेवै= नगनता के साथ-साथ श्रवण आदि इन्द्रिय-विषयों का उदय होने पर भी उस संबंधी स्वाद/इन्द्रिय-विषय का सेवन नहीं करते, तिय-सनमुख दृग-रोकि= स्त्रियों के सन्मुख होने पर नेत्रों से उनकी ओर देखने से स्वयं को रोकना, मान-अपमान न बेबै= मान-अपमान की परवाह नहीं करते, थिर ह्वै निरभै रहै= भयरहित स्थिर रहते हैं, सहै कुवचन जग जेतै= जगत्-जनों के कुवचनों को सहन करते हैं, भिच्छुकपद-संग्रहै लहै मुनि संकट ऐते= लोगों के यहाँ आहार लेने जाने पर 'याचक' कहलाते हैं— मुनिराज इन संकटों को सहते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने उन सात-परीषहों का वर्णन किया है, जो चारित्र-मोहनीय-कर्म के उदय से होते हैं, और मुनिराज उन परीषहों को शांत-भाव से सहन करते हैं।

सबसे पहला 'नगन रहना' भी परीषह है, और इसके फलस्वरूप चित्त को मलिन करनेवाले अनेक-कारणों के मिलने पर भी लज्जा, संकोच आदि दुःखों को शांत-भाव से सहना, और अपनी आत्मसाधना निःसंकोच होकर करना 'नगन-परीषहजय' है। नगनता के साथ-साथ श्रवण आदि इन्द्रियों के विषयों के उपस्थित

होने पर भी उनमें अनुराग नहीं करते हैं, और अनिष्ट-संयोग मिलने पर भी विरोध या ग्लानि का भाव नहीं करना, और आत्मसाधना में रत रहना यह दूसरा 'अरति-परीषहजय' है। तीसरा स्त्रियों के सन्मुख होने पर भी नेत्रों की चंचलता को रोकना अर्थात् उन पर मोहित न होना, सहज-निर्विकार रहना 'स्त्री-परीषहजय' है। अपने में गुणों की अधिकता होने पर भी यदि कोई सत्कार न करे, तो भी चित्त में मलिनता का न होना, अथवा कैसी भी विपरीत-परिस्थिति हो मान-अपमान की परवाह नहीं करना— यह चौथा 'सत्कार-पुरस्कार-परीषहजय' है।

जिस आसन में ध्यान आदि में बैठे हों, उससे उपसर्ग आदि के आने पर भी विचलित नहीं होना अथवा भय का निमित्त मिलने पर भी अपने ध्यान में स्थिर रहना, अपने आसन से भी विचलित नहीं होना — यह पाँचवाँ 'निषद्या-परीषहजय' है। मूर्खों के द्वारा कठोर, कटु-वचन, गाली आदि का प्रयोग करने पर भी क्रोधित न होकर शांत रहना; बल्कि उन्हें क्षमा करने का ही भाव रखना— यह छठवाँ 'आक्रोश-परीषहजय' है। आहारादि न मिलने पर या अन्य किसी भी कार्य के लिये याचना/दीनतारूप-प्रवर्तन तो दूर चेहरे पर भी दीनता का भाव नहीं लाना,— यह सातवाँ 'याचना-परीषहजय' है। चारित्र-मोहनीय-कर्म के उदय में होनेवाले इन सभी परीषहों को मुनिराज शांत-भाव से सहन करते हैं।

(दोहा)

अल्प-ग्यान लघुता लखै, मति-उतकरष विलोड़।

ज्ञानावरन-उदोत मुनि, सहै परीसह दोड़॥ 87॥

शब्दार्थ :— अल्प-ग्यान लघुता लखै= कम-ज्ञान होने पर अपने को छोटा मानना, मति-उतकरष विलोड़= अधिक-ज्ञान होने पर श्रेष्ठ मानना, ज्ञानावरन उदोत= ज्ञानावरणी-कर्म के उदय में होनेवाले, मुनि सहै परीसह दोड़= ये दोनों परीषह मुनिराज सहन करते हैं।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने मुनिराजों को ज्ञानावरणी-कर्म के उदय में होने वाले दो-परीषहों का वर्णन किया है।

किसी भी जीव को ज्ञान की प्रगटता कम या अधिक मिलने में ज्ञानावरणी-कर्म का उदय निमित्त होता है। मुनिचर्या में ज्ञान की प्रगटता अल्प होने पर लघुता/हीनता का भाव आना 'अज्ञान-परीषह' है, और उसमें विचलित न होना, समता-भाव रखना 'अज्ञान-परीषहजय' है। मुनिचर्या में ज्ञान की उघाड़ या क्षयोपशम अधिक होने पर उस पर गर्वित होना 'प्रज्ञा-परीषह' है, और उसमें गर्व का भाव नहीं करते हुये साम्य-भाव रखना 'प्रज्ञा-परीषहजय' है। ज्ञानावरणी-कर्म के उदय में होने वाले दोनों परीषहों को मुनिराज साम्यभाव से सहन करते हैं।

(दोहा)

सहै अदरसन-दुरदसा, दरसन-मोह-उदोत।

रोकै उमंग-अलाभ की, अंतराय के होत॥ 88॥

शब्दार्थ :— सहै अदरसन दुरदसा= अदर्शनरूपी-दुर्दशा को सहन करते हैं, दरसन-मोह उदोत= दर्शन मोहनीय के उदय में, रोकै उमंग अलाभ की= अलाभ होने पर अपने परिणामों की खेद-खिन्नता को रोकते हैं, अंतराय के होत= अंतराय-कर्म का उदय होने पर।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने दर्शन-मोहनीय और अंतराय-कर्माँ के उदय में होनेवाले परीषहों का वर्णन किया है।

साधु-चर्या में भी दर्शन-मोहनीय का उदय होने पर श्रद्धान में किंचित् भी मलिनता या दोष का

उत्पन्न होना, (जैसे कि बहुत समय तक कठोर-तपस्या करने पर भी विशेष-ऋद्धियाँ आदि प्रकट न होना) मुनिधर्म में 'अदर्शन-परीषह' कहा गया है, और उससमय सावधान रहना, चलायमान न होना, अश्रद्धान का भाव न आना 'अदर्शन-परीषहजय' है। इसीप्रकार अंतराय-कर्म के उदय में अनुकूल-सामग्री आहार, औषधि आदि का लाभ न होना 'अलाभ-परीषह' है, और उससमय परिणामों में खेद-खिन्नता का भाव न आना, आत्मलाभ में ही तृप्त रहना, 'अलाभ-परीषहजय' है। सच्चे मुनिराज इन दोनों परीषहों को साम्यभाव से जीतते हैं।

(सवेया इकतीसा)

एकादस वेदनीकी, चारितमोह की सात, ग्यानावरनी की दोइ, एक अंतराय की।

दर्सनमोह की एक, द्वाविंसति-बाधा सबै, केई मनसाकी, केई वाकी, केई कायकी॥

काहूकौ अलप काहूकौ बहुत उनीस-ताई, एक ही समैमैं उदै आवै असहायकी।

चर्या-थित-सज्जा-माँहि, एक सीत-उस्न-माँहि, एक दोइ होहिं तीन नाँहि समुदायकी॥ 89॥

शब्दार्थ :- एकादस वेदनीकी= ग्यारह वेदनीय की, चारितमोह की सात= चारित्रमोहनीय की सात, ग्यानावरनी की दोइ= ज्ञानावरणी की दो, एक अंतराय की= अंतराय की एक, दर्सनमोह की एक= दर्शन-मोहनीय की एक, द्वाविंसति बाधा सबै= सब (मिलाकर) बाईस बाधा/परीषह है, केई मनसाकी= कुछ मन की, केई वाकी= कुछ वचन की, केई कायकी= कुछ काया की, काहूकौ अलप= किसी को अल्प, काहूकौ बहुत= किसी को बहुत, उनीस-ताई= (अधिकतम एकसाथ) उन्नीस तक, एक ही समैमैं उदै आवै असहायकी= एकसमय में उदय में आ सकती हैं, चर्या-थित-सज्जामाँहि एक= चर्या, आसन और शय्या में से एक, सीत-उस्न-माँहि एक= शीत-उष्ण में से एक, दोइ होहिं= दो का ही उदय होता है, तीन नाँहि समुदायकी= (इन पाँच में से कभी भी) तीन का उदय एकसाथ नहीं होता।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने आत्मासाधना में बाधक, कर्म के उदय-जन्य बाईस-परीषहों का विशेष वर्णन किया है।

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या (बैठना), शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणास्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन ये 22 प्रकार के परीषह आगम में वर्णित हैं। इनमें से वेदनीय कर्म के उदय में ग्यारह, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय में सात, ज्ञानावरणी कर्म के उदय में दो, अंतराय कर्म के उदय में एक, और दर्शन मोहनीय कर्म के उदय में एक, इस प्रकार कुल मिलाकर ये 22 परीषह आत्मसाधना में बाधक हैं, जिसमें से कुछ मन से, कुछ वचन से और कुछ काया से संबंध रखते हैं।

इन बाईस-परीषहों में से किसी साधक को कुछ परीषहों का उदय होता है, किसी को बहुत का। लेकिन एक जीव को एक ही समय में एक साथ 19 परीषहों का ही उदय हो सकता है, पूरे बाईस का नहीं। क्योंकि चर्या (चलना), आसन (बैठना या खड़े होना) या शय्या (सोना) इन तीन में से एक समय में एक का ही उदय रहता है। इसीप्रकार शीत (सर्दी) और उष्ण (गर्मी) में से भी एक समय में एक का ही उदय हो सकता है। इसप्रकार इन पाँच में से एकसमय में दो का ही उदय होता है, तीन का नहीं।

परीषह से तात्पर्य साता/अनुकूलता में बाधक सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, मच्छर, मक्खी के काटने आदि की अचानक बाधा आना 'परीषह' है, और इन बाधाओं के आने पर आर्त-परिणाम/संकलेश-परिणाम न हों अथवा ध्यान से न डिगें, वह 'परीषहजय' है।

जैसे हम सब कुछ देखभालकर ध्यान में बैठें, अचानक बारिश आ गई, तेज-हवा चलने लगी,

जिससे सर्दी लगने लगी— यह है 'परीषह'। और फिर भी हमारा ध्यान भंग नहीं हुआ, परिणाम मलिन/विचलित नहीं हुये— यह है 'परीषहजय'।

(दोहा)

नानाविधि संकट-दसा, सहि साधै सिवपंथ।
थविरकल्पि-जिनकल्पि धर, दोऊ सम-निरग्रंथ॥90॥
जो मुनि-संगतिमै रहै, थविर-कल्पि सो जान।
एकाकी जाकी दसा, सो जिन-कल्पि बखान॥ 91॥

(चौपाई)

थविरकल्पि धर कछुक सरागी, जिनकलपी महान वैरागी।
इति प्रमत्त-गुनस्थानक-धरनी, पूरन भई जथारथ-वरनी॥ 92॥

शब्दार्थ :- नानाविधि संकट-दसा= विभिन्नप्रकार के संकटों को, सहि साधै सिवपंथ= सहनकर मोक्षमार्ग को साधते हैं, थविर-कल्पि जिन-कल्पि धर= स्थविरकल्पी और जिनकल्पी (मुनिपना) धारणकर, दोऊ सम-निरग्रंथ= दोनों ही समान निर्ग्रंथ होते हैं॥ 90॥

जो मुनि-संगतिमै रहै= जो मुनि-संघ में रहते हैं, थविरकल्पि सो जान= उन्हें 'स्थविरकल्पी' जानो, एकाकी जाकी दसा= जिसकी स्थिति अकेले/संघरहित है, सो जिनकल्पि बखान= उन्हें 'जिनकल्पी' कहते हैं॥ 91॥

थविर-कल्पि धर= स्थविरकल्प धारण करनेवाले, कछुक सरागी= कुछ रागसहित होते हैं, जिन-कलपी महान-वैरागी= जिनकल्पी अत्यंत-वैरागी होते हैं, इति प्रमत्त-गुनस्थानक-धरनी= इसप्रकार प्रमत्त-गुणस्थान धारण करनेवालों का, पूरन भई जथारथ-वरनी= यथार्थ-वर्णन पूरा हुआ॥ 92॥

विशेषार्थ :- इन तीनों-छंदों में कवि ने स्थविरकल्पी और जिनकल्पी-साधुओं का तुलनात्मक-वर्णन किया है।

'स्थविरकल्पी' और 'जिनकल्पी' —दोनों ही प्रकार के मुनि समानरूप से निर्ग्रंथ होते हैं, दोनों ही विभिन्न-प्रकार के संकटों को सहनकर मोक्षमार्ग को साधते हैं। दोनों ही साधु अंतरंग-साधना की दृष्टि से लगभग-समान होते हुए भी दोनों में कुछ अंतर है। स्थविरकल्पी-साधु संघ में रहते हैं, अनुशासन में रहते हैं, किंचित्-सरागी भी होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संघ में रहनेवाले सभी साधुओं के प्रति किंचित् राग का भाव वर्तता है, जैसे साधुओं को पढ़ाना, अनुशासित करना, कदाचित् कोई भूल होने पर प्रायश्चित्त देना, रोगादि की वेदना होने पर सेवा करना, संबोधित करना, स्थितिकरण कराना इत्यादि।

जबकि दूसरी ओर 'जिनकल्पी'-साधु एकाकी-विचरण करते हैं। यद्यपि इन्हें कोई अनुशासित नहीं करता; परन्तु किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता आने पर ये स्वयं ही अपने परिणामों को दृढ़ करते हैं, उपसर्ग और परीषहों को भेदविज्ञान के बल पर अकेले ही शांतभाव से सहन करते हैं, इसीलिए ये साधु अपेक्षाकृत अधिक-वैरागी एवं उग्र-पुरुषार्थी होते हैं।

ज्ञातव्य है कि इस विषमकाल में 'जिन-कल्पी'-साधुओं का अभाव कहा गया है। अतः 'एकलविहारी' होने का भी पूर्णतः निषेध जानना चाहिये।

इसप्रकार छठवें-गुणस्थान में प्रवर्तमान-साधुओं का यथार्थ-वर्णन पूर्ण हुआ।

(चौपाई)

अब वरनौ सप्तम-विसरामा, अपरमत्त-गुनस्थानक नामा॥
जहाँ प्रमाद-क्रिया-विधि नासै, धरम-ध्यान थिरता परगासै॥ 93॥

(दोहा)

प्रथम-करन चारित्र कौ, जासु अंत-पद होइ।

जहाँ अहार-विहार नहिं, अपरमत्त है सोइ॥ 94॥

शब्दार्थ :- अब वरनौ सप्तम-विसरामा= अब सातवें विश्राम-स्थल का वर्णन करता हूँ, अपरमत्त-गुणस्थानक नामा= जिसका नाम अप्रमत्त-गुणस्थान है, जहां प्रमाद-क्रिया-विधि नासै= जहाँ प्रमाद-सहित क्रिया का अभाव होता है, धरम-ध्यान थिरता परगासै= और धर्मध्यान की दशा प्रगट होती है॥ 93॥

प्रथम-करन चारित्र कौ= यह चारित्र का प्रथम-करण है, जासु अंत-पद होइ= जो इस गुणस्थान के अंत तक रहता है, जहाँ अहार-विहार नहिं अपरमत्त है सोइ= जहाँ आहार-विहार की क्रिया नहीं होती, वही 'अप्रमत्त' है॥ 94॥

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने सातवें-गुणस्थान का संक्षिप्त-विवेचन किया है।

सातवें-गुणस्थान का नाम 'अप्रमत्त-विरत-गुणस्थान' है। 'अ' यानि 'अभाव', 'प्रमत्त' यानि 'प्रमाद' और 'विरत' यानि विरक्त। जहाँ विरति की स्थिति पूरी हो और प्रमाद का पूर्णतः अभाव हो, उसे 'अप्रमत्तविरत-गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी और प्रत्याख्यानावरणी— तीनों कषाय-चौकड़ियों का क्षय या उपशम हो जाता है; परन्तु संज्वलन-कषाय और नोकषायों का यथायोग्य-उदय वर्तता है।

'अप्रमत्तविरत-गुणस्थान' के पहले सभी गुणस्थानों में जीव प्रमाद-सहित ही होते हैं। अप्रमत्तविरत-गुणस्थान और इसके बादवाले सभी गुणस्थानों में जीव प्रमाद-रहित ही होते हैं। अर्थात् यहाँ से आगे प्रमाद का सर्वथा-अभाव हो जाता है; क्योंकि आगे के गुणस्थान 'स्वरूप में स्थिरता के गुणस्थान' हैं। इसीलिए मुनिराज छठवें से सातवें और सातवें से छठवें में झूलते रहते हैं।

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं— स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत और सातिशय-अप्रमत्तसंयत।

1. स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत :- अपने स्थान पर स्थिर, श्रेणी-आरोहण का पुरुषार्थ नहीं चलता। प्रमाद-रहित, निरन्तर स्व-पर से भेदज्ञान और आत्मध्यान में लीन— ऐसे अप्रमत्तसंयत-मुनि जब तक उपशम या क्षपक-श्रेणी का आरोहण नहीं करते; तब तक वह 'स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत' अथवा 'निरतिशय-अप्रमत्तसंयत' कहलाते हैं।

2. सातिशय-अप्रमत्तसंयत :- जो अप्रमत्त-मुनि 'उपशम' या 'क्षपक'-श्रेणी-आरोहण के लिये उद्यत होते हैं, वह पहले-करण 'अधःप्रवृत्तकरण' को करते हैं, इन्हें 'सातिशय-अप्रमत्तसंयत' कहते हैं।

(चौपाई)

अब वरनौ अष्टम-गुणस्थाना, नाम-अपूरवकरन बखाना।

कछुक-मोह उपसम करि राखै, अथवा किंचित-क्षय करि नाखै॥ 95॥

जे-परिनाम भए नहिं कबही, तिनकौ उदै देखिये जबही।

तब अष्टम-गुणस्थानक होई, चारित-करन दूसरौ सोई॥ 96॥

शब्दार्थ :- अब वरनौ अष्टम-गुणस्थाना= अब आठवें-गुणस्थान का वर्णन करता हूँ, नाम-अपूरवकरन बखाना= जिसका नाम अपूर्वकरण है, कछुक-मोह उपसम करि राखै= (इस गुणस्थान में) कुछ (साधक-जीव) मोह का उपशम करते हैं, अथवा किंचित क्षय करि नाखै= अथवा कुछ (जीव) मोह का क्षय करते हैं॥ 95॥

जे-परिणाम भए नहीं कबही= जो परिणाम पहले कभी नहीं हुये, तिनकौ उदै देखिये जबही= उन (परिणामों) का उदय इस गुणस्थान में होता है, तब अष्टम-गुणस्थानक होई= तभी आठवाँ-गुणस्थान होता है, चारित-करन दूसरी सोई= यह चारित्र का दूसरा-करण है॥ 96॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने आठवें 'अपूर्वकरण-गुणस्थान' का स्वरूप विवेचित किया है।

'करण' आत्मोत्थान के साधक विशिष्ट-परिणामों की अवस्था-विशेष को कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

1. अधःप्रवृत्तकरण, 2. अपूर्वकरण, 3. अनिवृत्तिकरण

ये विशिष्ट-करणरूप परिणाम दर्शनमोहनीय-कर्म के उपशम/क्षय आदि करने के समय भी होते हैं और चारित्र-मोहनीय-कर्म के उपशम/क्षय करने के समय भी होते हैं। इन विशिष्ट-परिणामों की प्रक्रिया के बिना न तो दर्शन-मोहनीय-कर्म का उपशम या क्षय होता है और न ही चारित्र-मोहनीय-कर्म का उपशम या क्षय होता है।

सातवें-गुणस्थान के सातिशय-अप्रमत्तसंयतपने की स्थिति में 'अधःप्रवृत्तकरण' का काल बिताकर श्रेणी-आरोहण करनेवाले मुनिराज जब प्रतिसमय अनंत-गुणी-विशुद्धि को लिये हुये अपूर्व-जाति के परिणामों को करते हैं, तब उसे 'अपूर्वकरण-गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में जीव 'अ+पूर्व' अर्थात् पूर्व में जिनको कभी धारण नहीं किया, ऐसे 'अपूर्व' परिणामों को धारण करते हैं, इसलिये इस गुणस्थान का नाम 'अपूर्वकरण-गुणस्थान' सार्थक है। इसी क्रम में यह चारित्र-मोहनीय-कर्म के उपशम/क्षय का विधायक यह दूसरा-करण है।

इस गुणस्थान में चार-आवश्यक कार्य होते हैं— 1. गुणश्रेणी-निर्जरा, 2. गुण-संक्रमण, 3. स्थिति-कांडक-घात, 4. अनुभाग-कांडक-घात —ये चारों ही कार्य पूर्वबद्ध-कर्मों में ही होते हैं। इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है। अपूर्वकरण-परिणामों के निमित्त से उपशम-श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मोहनीयकर्म की 21 प्रकृतियों का उपशम, और क्षपक-श्रेणी चढ़नेवाले जीव के इन्हीं प्रकृतियों का क्षय होता है। —(आधार, गोमटसार जीवकाण्ड, गाथा 50-51)

(चौपाई)

अब अनिवृत्ति-करन सुनु भाई, जहाँ भाव-थिरता अधिकाई।

पूर्व-भाव चलाचल जेते, सहज-अडोल भए सब तेते॥ 97॥

जहाँ न भाव उलटि अध आवै, सो नवमो-गुनस्थान कहावै।

चारितमोह जहाँ बहु-छीजा, सो है चरन-करन पद-तीजा॥ 98॥

शब्दार्थ :- अब अनिवृत्ति-करन सुनु भाई= हे भाई! अब अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान के बारे में सुनो, जहाँ भाव-थिरता अधिकाई= जहाँ परिणाम और अधिक स्थिर होते हैं, पूर्व-भाव चलाचल जेते= पूर्व में जो परिणाम चंचल/अस्थिर थे, सहज-अडोल भए सब तेते= वे सब सहज ही स्थिरता को प्राप्त होते हैं॥ 97॥

जहाँ न भाव उलटि अध आवै= जहाँ भाव (ऊपर चढ़ने के बाद) लौटकर नीचे नहीं आते, सो नवमो-गुनस्थान कहावै= वह नौवा-गुणस्थान कहलाता है, चारितमोह जहाँ बहु-छीजा= जहाँ (इस गुणस्थान में) चारित्रमोह का बहुत-अंश नष्ट हो जाता है, सो है चरन-करन पद-तीजा= वह चारित्र का तीसरा-करण है॥ 98॥

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने नौवें 'अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान' का वर्णन किया है।

इस गुणस्थान में आने पर आठवें-गुणस्थान में जो परिणाम 'स्वरूप' में स्थिर नहीं थे, वे भी

स्थिरता को प्राप्त होते हैं, अथवा स्वरूप में स्थिरता और अधिक बढ़ जाती है। 'अ+निवृत्ति' = नहीं है असमानता की स्थिति जिसमें, उसे 'अनिवृत्तिकरण' कहा गया है। इस गुणस्थान में अलग-अलग जीवों के परिणामों की विशुद्धि में परस्पर 'निवृत्ति' अर्थात् 'भेद' नहीं पाया जाता, इसीलिये इस गुणस्थान का नाम 'अनिवृत्तिकरण' सार्थक है। अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान का जितना काल होता है, उतने ही परिणाम होते हैं। प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इस गुणस्थान में चारित्र-मोह का बहु-अंश उपशम/क्षय होने से परिणाम नीचे नहीं गिरते, इसलिए इसे नौवा 'अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान' कहते हैं।

(चौपाई)

कहाँ दसम-गुणस्थान दुसाखा, जहाँ सूक्ष्म-सिवकी अभिलाखा।

सूक्ष्मलोभ-दसा जहाँ लहिये, सूक्ष्म-सांपराय सो कहिये॥ 99॥

शब्दार्थ :- कहीं दसम-गुणस्थान दुसाखा= अब दसवें-गुणस्थान का वर्णन करता हूँ, जहाँ सूक्ष्म सिवकी अभिलाखा= जहाँ मात्र मोक्ष-प्राप्ति की अति-सूक्ष्म इच्छारूप लोभकषाय शेष रहती है, सूक्ष्मलोभ-दसा जहाँ लहिये= जहाँ सूक्ष्म-लोभ की स्थिति है, सूक्ष्म-सांपराय सो कहिये= उसे सूक्ष्म-सांपराय (गुणस्थान) कहते हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने दसवें 'सूक्ष्म- सांपराय' गुणस्थान के स्वरूप का वर्णन किया है।

दसवें-गुणस्थान में यद्यपि अन्य सभी-कषायों का क्षय या उपशम हो जाता है, लेकिन संज्वलन-संबंधी लोभ-कषाय का अत्यंत-सूक्ष्म उदय रहता है; जिसके फलस्वरूप साधक-जीव को एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा शेष रहती है। अन्य परिणामों की बात तो क्या करें, 'मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो'— यह परिणाम भी जीव को मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है।

जिसप्रकार कुसुमली-रंग (लाइट-पिंक) भीतर से सूक्ष्म-रक्त अर्थात् अत्यंत-कम लालिमावाला होता है, उसीप्रकार इस गुणस्थान में जीव को 'सूक्ष्म' अर्थात् बहुत-कम, और 'सांपराय' अर्थात् 'कषाय' या कहीं अति-सूक्ष्म लोभ-कषाय का अंश उदय में रहता है; इसीलिये इस गुणस्थान को 'सूक्ष्मसांपराय-गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में 'औपशमिक' और 'क्षायिक'— दो सम्यक्त्वों में से केवल एक ही सम्यक्त्व होता है, अर्थात् यदि मुनिराज क्षपक-श्रेणी में आरुढ़ हैं; तो नियम से क्षायिक-सम्यक्त्व ही रहता है। और 'क्षपक-श्रेणी' आरोहण करनेवाले मुनिराज के दसवें के अंत में सूक्ष्म-लोभादि सहित सभी कषायों का क्षय हो जाता है, इसीलिये ये मुनिराज यहाँ से सीधे बारहवें 'क्षीणमोह-गुणस्थान' में ही गमन करते हैं। लेकिन यदि मुनिराज उपशम-श्रेणी में आरुढ़ हैं, तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म-लोभ-कषाय का उपशम ही होता है, क्षय नहीं, इसीलिये ये मुनिराज यहाँ से ग्यारहवें-गुणस्थान 'उपशान्तमोह' में गमन करते हैं।

(चौपाई)

अब उपशांतमोह-गुणस्थाना, कहीं तासु प्रभुता-परवांना।

जहाँ मोह उपशमै, न भासै, यथाख्यात-चारित परगासै॥ 100॥

(दोहा)

जाहि फरसकै जीव गिर, परै करै गुन-रह।

सो एकादसमी-दसा, उपसम की सरहद॥ 101॥

शब्दार्थ :- अब उपशांतमोह-गुणस्थाना= अब उपशांतमोह-गुणस्थान, कहीं तासु प्रभुता-परवांना= की प्रभुता/सामर्थ्य का वर्णन करता हूँ, जहाँ मोह उपशमै, न भासै= जहाँ मोह का पूर्णतः उपशम होता है, (उदयरूप)

नहीं दिखता, यथाख्यात-चारित परगासै= यथाख्यात-चारित्र प्रकट होता है॥ 100॥

जाहि फरसकै जीव गिर परै= इस (सूक्ष्म-सांपराय गुणस्थान) का स्पर्श करके जीव (नियम से) गिरता है, करै गुन रह= और प्राप्त किये गुणों को नष्ट करता है, सो एकादसमी-दसा= वह ग्यारहवाँ-गुणस्थान है, उपसम की सरहद= यह उपशम-चारित्र (धारण करनेवालों के लिये) अंतिम-गुणस्थान है॥ 101॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने ग्यारहवें गुणस्थान 'उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ' की सामर्थ्य का विवेचन किया है। प्रश्न उठता है कि "कवि ने ऐसा क्यों कहा?"

"क्योंकि इस गुणस्थान को स्पर्श करनेवाले साधक-जीव आगे के गुणस्थानों में नहीं जा सकते, वे नियम से नीचे ही आते हैं।" जिसप्रकार कतकफल या फिटकरी को गंदे पानी में डालने पर पानी की गंदगी नीचे बैठ जाती है, और पानी साफ दिखता है, ठीक उसीप्रकार इस गुणस्थान में साधक-जीव के मोहकर्म के उदयरूप कीचड़ अर्थात् संपूर्ण-कषायों का उपशमन हो जाता है, और परिणाम अत्यंत-निर्मल होते हैं। इसलिये इस गुणस्थान का पूरा नाम 'उपशांत-कषाय वीतराग-छद्मस्थ' है।

'उपशांत-कषाय' अर्थात् जिनकी कषाय उपशांत हो गई है, अर्थात् सत्ता में मौजूद हैं, परन्तु उदय में तनिक भी नहीं है, इसकारण इसे 'उपशांत-कषाय' कहा गया है। 'वीतराग' अर्थात् जिनका उदयरूप-राग नष्ट हो गया है, इसीलिये उन्हें 'वीतराग' कहा गया है। 'छद्मस्थ' अर्थात् 'छद्म' ज्ञानावरण-दर्शनावरण के उदयजन्य-अवस्था को कहते हैं, और वह अवस्था जिनके विद्यमान है, उन्हें 'छद्मस्थ' कहते हैं।

'छद्मस्थ' भी दोप्रकार के होते हैं— 'सराग-छद्मस्थ' और 'वीतराग-छद्मस्थ'। ग्याहरवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती-जीव रागभाव के उदयरूप अभाव के कारण 'वीतराग' हैं और ज्ञानावरण-दर्शनावरण-कर्मों के आंशिक-उदय/पूर्ण-अभाव न हो पाने के कारण 'छद्मस्थ' हैं। और इससे नीचे के सभी जीव रागभाव के स्पष्ट-सद्भाव व ज्ञानावरण-दर्शनावरण के स्पष्ट-उदय के कारण 'सराग-छद्मस्थ' हैं। जिनकी कषाय भी उपशांत हो गई है, और जो वीतराग होते हुये भी छद्मस्थ ही हैं— उन्हें 'उपशांत-कषाय वीतराग-छद्मस्थ' कहते हैं।

इस गुणस्थान में संपूर्ण-कषायें उपशांत हो जाती है। चारित्र-मोह की अपेक्षा उपशम-चारित्र धारण करनेवालों का ये अंतिम-गुणस्थान है, अर्थात् इस गुणस्थान से आगे औपशमिक-चारित्र धारण करनेवाले जीव नहीं जाते, इसीलिए इन जीवों को मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। ध्यातव्य है कि इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की अपेक्षा 'औपशमिक' और 'क्षायिक' दोनों भाव संभव हैं। जो चारित्र-मोहनीय-कर्म का उपशम करते हैं, उनके 'उपशम-श्रेणी' कही गयी है। उपशम-श्रेणीवाले जीव नियम से नीचे गिरते हैं, अतः स्पष्ट है कि औपशमिक-चारित्र मोक्ष-प्राप्ति का कारण नहीं है; क्योंकि अंतर्मुहूर्त के बाद नियम से चारित्रमोह का उदय होता है, परिणाम संक्लेशरूप होते हैं, और गुणस्थान गिर जाता है। इस गुणस्थान से गिरने का कारण आयु-क्षय या काल-क्षय माना गया है।

(चौपाई)

केवलज्ञान निकट जहँ आवे, तहाँ जीव सब-मोह खिपावै।

प्रगतै यथाख्यात-परधाना, सो द्वादशम खीन-गुनठाना॥ 102॥

(दोहा)

षट सातैं आठैं नवैं, दस-एकादस-थान।

अंतरमुहूर्त एक वा, एक-समै-थिति जान॥ 103॥

छपक-श्रेणि आठैं नवैं, दस अर वलि बार।

थिति उत्कृष्ट-जघन्य भी, अंतरमुहूरत-काल॥ 104॥

शब्दार्थ :- केवलज्ञान निकट जहँ आवे= जहाँ केवलज्ञान-प्राप्ति का समय नजदीक आता है, तहाँ जीव सब-मोह खिपावै= वहाँ जीव मोहकर्म का पूर्णतः क्षय करता है, प्रगटै यथाख्यात परधाना= (तब) उत्कृष्ट यथाख्यात-चारित्र प्रकट होता है, सो द्वादशम खीनगुनठाना= वह बारहवाँ क्षीणमोह-गुणस्थान है॥ 102॥

षट सातैं आठैं नवैं दस-एकादस-थान= (उपशम-श्रेणी की अपेक्षा) छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, ग्यारहवें-गुणस्थान की, अंतरमुहूरत एक= (उत्कृष्ट-स्थिति) एक अंतर्मुहूर्त, वा= और, एक-समै-थिति जान= (जघन्य-स्थिति) एक-समय जानना॥ 103॥

छपकश्रेणि= क्षपक-श्रेणी की अपेक्षा, आठैं नवैं दस अर वलि बार-थिति= आठवें, नवमें, दसवें और सीधे बारहवें गुणस्थानों की स्थिति/काल, उत्कृष्ट-जघन्य भी अंतरमुहूरत-काल= उत्कृष्ट भी और जघन्य-स्थिति भी अंतर्मुहूर्त है॥ 104॥

विशेषार्थ :- इन तीनों-छंदों में कवि ने बारहवें 'क्षीणकषाय-गुणस्थान' का विवेचन किया है।

जब मोहनीय-कर्म का पूर्ण-क्षय हो जाता है, और मुनिराज का चित्त अत्यंत-निर्मल हो जाता है; तब बारहवाँ गुणस्थान होता है। जैसे स्फटिक के पात्र में रखा निर्मल-जल हरप्रकार से निर्मल और स्वच्छ होता है, ठीक उसीप्रकार इस गुणस्थानवर्ती-जीव के परिणाम मोहरूपी-मलिनता के समूल-नष्ट हो जाने से पूरीतरह से निर्मल होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती-जीव के मोहनीय-कर्म के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चारों ही भेदों का सर्वथा बंध, उदय, उदीरणा एवं सत्त्व की अपेक्षा क्षय हो जाता है। इसीलिये इस गुणस्थान का नाम 'क्षीणकषाय' है। इस गुणस्थान में मोहनीय-कर्म का पूर्ण-क्षय होने से एकमात्र क्षायिक-भाव ही होता है। इस गुणस्थान में जीव दसवें-गुणस्थान से सीधे आते हैं, ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जाते। विशेष-बात कि इस गुणस्थान से जीव वापस नीचे कभी नहीं आता। मोह का सर्वथा क्षय होते ही जीव को अगले ही क्षण यानि तेरहवें-गुणस्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

उपशम-श्रेणी की अपेक्षा (छठवें, सातवें, आठवें, नवमें, दसवें और ग्यारहवें) इन गुणस्थानों का उत्कृष्ट-काल अंतर्मुहूर्त और जघन्य-काल एकसमय है। जबकि क्षपक-श्रेणी की अपेक्षा (आठवें, नवमें, दसवें और बारहवें) इस गुणस्थानों का उत्कृष्ट और जघन्य-काल अंतर्मुहूर्त ही है।

(दोहा)

छीनमोह पूरन भयौ, करि चूरन चित-चाल।

अब सजोग-गुनथानकी, वरनौ दसा-रसाल॥ 105॥

(सवैया इकतीसा)

जाकी दुखदाता घाती-चौकरी विनसि गई, चौकरी-अघाती जरी-जेवरी समान है।

प्रगट भयौ अनंत-दंसन अनंत-ग्यान, वीरज-अनंत-सुख सत्ता-समाधान है॥

जामैं आउ, नाम, गोत, वेदनी प्रकृति-अस्सी, इक्यासी, चौरासी वा पचासी-परवान है।

सो है जिन-केवली जगतवासी-भगवान, ताकी जो अवस्था, सो सजोगी-गुनथान है॥ 106॥

शब्दार्थ :- करि चूरन चित-चाल= चित्त/मन की चाल को नष्ट करनेवाले, छीनमोह पूरन भयौ= क्षीण-मोह गुणस्थान का वर्णन पूर्ण हुआ, अब सजोग-गुनथानकी वरनौ दसा-रसाल= अब सयोगकेवली-गुणस्थान की

रसपूर्ण/परमानंदमय-दशा का वर्णन करता हूँ॥ 105॥

जाकी दुखदाता-घाती चौकरी विनसि गई= जिसकी दुःख देनेवाली घातिया-कर्म की चौकड़ी नष्ट हो गई है, चौकरी अघाती जरी-जेवरी समान है= अघाति-कर्म की चौकड़ी भी जली हुई रस्सी के समान रह गयी है, प्रगट भयौ अनंतदंसन अनंतग्यान वीरज-अनंत-सुख= (जिसके) अनंत-दर्शन, अनंत-ज्ञान, अनंत-वीर्य, अनंत-सुख प्रगट हुये हैं, सत्ता-समाधान है= स्वरूप में लीनता से, जामैं आउ, नाम, गोत, वेदनी प्रकृति-अस्सी= जिसमें आयु, नाम, गोत्र, वेदनीयकर्मों की अस्सी-प्रकृतियाँ, इक्यासी, चौरासी वा पचासी परवान है= इक्यासी, चौरासी अथवा पचासी (प्रकृतियों की) सत्ता शेष है, सो है जिन-केवली जगतवासी-भगवान= वे जगत् में निवास करनेवाले केवली-जिन हैं, ताकी जो अवस्था, सो सजोगीगुणस्थान है= उनकी जो अवस्था है, वही सयोगकेवली-गुणस्थान है॥ 106॥

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने तेरहवें सयोगकेवली-गुणस्थान का सुन्दर-विवेचन किया है। कविवर कहते हैं कि मन की प्रवृत्ति/चंचलता को नष्ट करनेवाले बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान का वर्णन अब पूर्ण हुआ। अब आगे सयोगकेवली-गुणस्थान की परमानंदमय-स्थिति का वर्णन करता हूँ।

जिनके दुःखदायक घातिया-कर्म की चौकड़ी अर्थात् ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय-कर्मों का विनाश हो गया है, (यद्यपि इन चारों-कर्मों में से मोहनीय-कर्म का पूर्ण-अभाव तो बारहवें गुणस्थान में ही हो जाता है, शेष तीन-कर्मों का अभाव इस गुणस्थान में होता है) और अघातिकर्म की चौकड़ी अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्मों की सत्ता जली हुई रस्सी के समान बची हुई है, अर्थात् जिसप्रकार जली हुई रस्सी देखने में तो उसी रस्सी के आकार में दिखती है; परन्तु उससे किसी को बाँधने आदि काम नहीं लिया जा सकता है। ठीक उसीप्रकार अघाति-कर्म सत्ता में मौजूद तो रहते हैं, परन्तु सामर्थ्यहीन रहते हैं अर्थात् ये कर्म 'सयोग-केवली-जिन'-गुणस्थानवर्ती-जीव को विकार उत्पन्न नहीं करते। आत्मस्वरूप में पूर्णरूप से लीन होने से ज्ञानावरणी-कर्म के अभाव में 'अनंतज्ञान', दर्शनावरणी-कर्म के अभाव में 'अनंतदर्शन', मोहनीय-कर्म के अभाव में 'अनंतसुख' और अंतराय-कर्म के अभाव में 'अनंतबल' रूप 'अनंत-चतुष्टय' प्रगट होते हैं।

जिनके आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय-कर्म की अस्सी/इक्यासी/चौरासी/पचासी-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। सामान्यरूप से तेरहवें-गुणस्थान में इन अघाति-कर्मों की पचासी-प्रकृतियों की ही सत्ता कही गई है, लेकिन किसी केवली-जिन को चौरासी, किसी को इक्यासी और किसी को अस्सी-प्रकृतियों की सत्ता भी कही गई है। जब तीर्थकर-प्रकृति, आहारक-शरीर, आहारक-अंगोपांग, आहारक-बंधन और आहारक-संघात होता है; तब पचासी-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। लेकिन जिनको तीर्थकर-प्रकृति का सत्त्व नहीं होता, उनको चौरासी-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। और जिनको तीर्थकर-प्रकृति का सत्त्व तो रहता है, परन्तु आहारक-चतुष्क का सत्त्व नहीं रहता; उनको इक्यासी-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। और जिनको तीर्थकर-प्रकृति और आहारक-चतुष्क इन पाँचों का ही सत्त्व नहीं रहता, उनको अस्सी-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है।

ऐसे सयोगकेवली-जिन अर्थात् जो मन-वचन-काय तीनों योगों से सहित हैं, जगत्-वासी हैं अर्थात् मध्यलोक में ही निवास करते हैं, उनको 'सयोगकेवली-जिन' नामक तेरहवाँ-गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में घातिया-कर्मों की 47 (ज्ञानावरणी की 5, दर्शनावरणी की 9, मोहनीय की 28, और अंतराय की 5) और अघातिया-कर्मों में से तीन आयु-कर्म की (नरकायु, तिर्यचायु देवायु), 13 नाम-

कर्म की नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यगगति, तिर्यगगत्यानुपूर्वी, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर, ये 16— इसप्रकार कुल 63 प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

(सवैया इकतीसा)

जो अडोल परजंक-मुद्राधारी सरवथा, अथवा सु काउसग-मुद्रा थिर-पाल है।
खेत-सपरस कर्म-प्रकृतिके उदै आये, बिना डग भरै अंतरीच्छ जाकी चाल है॥
जाकी-थिति पूरब-करोड़ आठ-वर्ष घाटि, अंतरमुहूरत-जघन्य जग-जाल है।
सो है देव अठारह-दूषन-रहित ताकौं, बनारसि कहै मेरी वंदना त्रिकाल है॥ 107॥

शब्दार्थ :— जो अडोल-परजंक-मुद्राधारी सरवथा= जो पूर्णतः अडिग पद्मासन-मुद्रा धारी, अथवा सु काउसग-मुद्रा थिरपाल है= अथवा श्रेष्ठ कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित हैं, खेत-सपरस कर्म-प्रकृतिके उदै आये= क्षेत्र-स्पर्श कर्म-प्रकृति के उदय से, बिना डग भरै अंतरीच्छ जाकी चाल है= जो बिना कदम चले आकाश में गमन करते हैं, जाकी थिति पूरब-करोड़ आठ वर्ष घाटि= जिनकी (उत्कृष्ट) स्थिति आठ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व है, अंतरमुहूरत जघन्य जगजाल है= और जघन्य-स्थिति अंतर्मुहूर्त है जगत् (में रहने की), सो है देव अठारह-दूषन-रहित= ऐसे जिनेन्द्र देव, जो अठारह-दोषों से रहित हैं, ताकौं बनारसि कहै मेरी वंदना त्रिकाल है= बनारसीदास जी कहते हैं, उनको मैं सदाकाल वंदन करता हूँ।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने तेरहवें गुणस्थान में विराजित 'अरिहंत-परमात्मा' की कुछ अन्य-विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उन्हें सविनय-वंदन किया है।

केवलज्ञान-प्राप्ति के बाद जो अरिहंत-परमात्मा अडोल (हलन-चलन से रहित) 'पद्मासन' या 'कायोत्सर्ग-मुद्रा' में स्थित है, जिनके 'क्षेत्र-स्पर्श' कर्म-प्रकृति के उदय के कारण अरिहंत-परमात्मा भूमि पर गमन नहीं करते, बल्कि बिना कदम चले आकाश में गमन करते हैं। जिनकी संसार में रहने की उत्कृष्ट-स्थिति 'आठ-वर्ष कम एक करोड़ पूर्व' की है, और जघन्य-स्थिति मात्र 'अंतर्मुहूर्त' है। जो क्षुधा, तृषा आदि अठारह-दोषों से रहित हैं। बनारसीदास जी कहते हैं कि "ऐसे जिनेन्द्र परमात्मा को मेरा मन, वचन, काय से त्रिकाल वंदन है।"

'सयोग-केवली-जिन' के कषाय का पूर्ण-अभाव होने से 'सांपरायिक-आस्रव' नहीं होता, परन्तु योग का सद्भाव होने से 'ईर्यापथ-आस्रव' होता है। इस गुणस्थान में 'नोकर्माहार' होता है, लेकिन 'कवलाहार' नहीं होता। इसके अलावा 22 परीषहों में से 11 परीषहों का होना संभव है; किन्तु उनका संयोग मात्र ही हो सकता है, उनके निमित्त से किसीप्रकार की बाधा केवली जिन को नहीं होती है। इस गुणस्थान से जीव केवल चौदहवें 'अयोग-केवली-जिन-गुणस्थान' में ही गमन करते हैं।

(कुण्डलिया)

दूषन-अठारह रहित, सो केवलि-संजोग।
जनम-मरन जाकै नहीं, नहिं निद्रा-भय-रोग॥
नहिं निद्रा-भय-रोग, सोग-विस्मय न मोह-मति।
जरा-खेद-परस्वेद, नाहि मद-बैर विषै-रति॥
चिंता नाहि सनेह, नाहि जहँ प्यास न भूखन।
थिर-समाधि सुख-सहित, रहित अठारह-दूषन॥ 108॥

शब्दार्थ :- दूषण-अठारह रहित= अठारह-दोषों से रहित, सो केवलि-संजोग= वह सयोग-केवली हैं, जनम-मरण जाकै नहीं= जिनके जन्म-मरण नहीं हैं, नहिं निद्रा-भय-रोग= निद्रा, भय, रोग नहीं हैं, नहिं निद्रा-भय-रोग-सोग-विस्मय न मोह-मति= निद्रा, भय, रोग तो नहीं हैं; शोक, विस्मय और मोह-बुद्धि भी नहीं है, जरा-खेद-परस्वेद नांहि= बुढ़ापा, खेद, पसीना नहीं होते, मद-बैर विषै-रति= मान, बैर, रति (नहीं है), चिंता नांहि सनेह= चिंता और स्नेह नहीं है, नांहि जहँ प्यास न भूखन= जहाँ भूख और प्यास नहीं है, थिर-समाधि सुख-सहित= अतीन्द्रिय-सुख का भोग करते हुये निर्विकल्प-स्वरूप में स्थिर/लीन रहते हैं, रहित अठारह-दूषण= अठारह-दोषों से रहित।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने उन अठारह-दोषों का वर्णन किया है, जिन दोषों से सयोग-केवली-जिन/अरिहंत-परमात्मा रहित होते हैं।

जन्म, मरण, निद्रा, भय, रोग, शोक, विस्मय/आश्चर्य, मोह, जरा/बुढ़ापा, खेद, स्वेद/पसीना, मद/गर्व, बैर/द्वेष, रति, चिंता, स्नेह/राग, भूख, प्यास— इन अठारह दोषों से रहित सयोग-केवली-जिन अपने निर्विकल्प-स्वरूप में लीन रहते हैं।

(कुण्डलिया)

वानी जहाँ निरच्छरी, सप्त-धातु मल नांहि।
केस-रोम-नख नांहि बढैं, परम-उदारिक-माँहि॥
परम-उदारिक-माँहि, जाँहि इंद्रिय-विकार नसि।
यथाख्यात-चारित प्रधान, थिर सुकलध्यान-ससि॥
लोकालोक प्रकास-करन, केवल-रजधानी।
सो तेरम-गुनथान, जहाँ अतिशयमय-वानी॥ 109॥

शब्दार्थ :- वानी जहाँ निरच्छरी= (भगवान् की) वाणी अक्षर-रहित होती है, सप्त-धातु मल नांहि= सप्त-धातु और मल-मूत्रादि विकार नहीं होते हैं, केस-रोम-नख नांहि बढैं= बाल, रोम, नाखून नहीं बढ़ते हैं, परम-उदारिक-माँहि= परमौदारिक-शरीर में, परम-उदारिक-माँहि जाँहि इंद्रिय-विकार नसि= परमौदारिक-शरीर जिसमें इन्द्रियजन्य-विकार नष्ट हो जाते हैं, यथाख्यात-चारित प्रधान= श्रेष्ठ यथाख्यात-चारित्र प्रगट होता है, थिर सुकल-ध्यान-ससि= स्थिर शुक्लध्यानरूपी-चंद्रमा का उदय होता है, लोकालोक-प्रकास-करन केवल-रजधानी= लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान जिनकी राजधानी है, सो तेरम-गुनथान जहाँ अतिशयमय-वानी= वह तेरहवाँ-गुणस्थान है, जहाँ अतिशयपूर्ण-वाणी/दिव्यध्वनि खिरती है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद परमौदारिक-शरीर में प्रकट होनेवाली विशेषताओं का सुंदर-वर्णन किया है।

तेरहवें-गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली-जिन का शरीर 'परमौदारिक' होता है। जो क्षुधादि अठारह-दोषों के अलावा सप्तधातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातु— जो कि हर शरीर में पाई जाती है, लेकिन तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद स्वतः ही यह विनाश को प्राप्त होती है), मल-मूत्रादि से रहित होता है। नख, केश, रोम आदि मौजूद होने पर भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं। इसीप्रकार इन्द्रियाँ होने पर भी इन्द्रियजन्य-विकार नहीं होते हैं। निरन्तर आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप पवित्र 'यथाख्यात-चारित्र' प्रगट होता है। शुक्ल-ध्यानरूपी चंद्रमा का उदय होता है,

अर्थात् जिसप्रकार चंद्रमा के उदित होने पर सर्वत्र धवल-चाँदनी बिखर जाती है; ठीक उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी-चंद्रमा के उदित होने पर उसके धवल-प्रकाश में संपूर्ण-लोकालोक प्रकाशित होने लगता है।

यहाँ कवि ने केवलज्ञान को राजधानी के समान कहा, जिसपर तीर्थंकर अरिहंत-परमात्मा का शासन/साम्राज्य चलता है; यहाँ तक कि उस समय से आगामी-काल तक (जब तक अगले-तीर्थंकर नहीं होते) को उन तीर्थंकर के 'शासनकाल' के नाम से जाना जाता है। उपर्युक्त सभी विशेषतायें केवलज्ञान-प्राप्ति के बाद ही घटित होती हैं, इसलिए 'केवल-रजधानी' नाम सार्थक और सटीक है।

ऐसा तेरहवाँ-गुणस्थान है, जहाँ केवली-परमात्मा की 'निरक्षरी अतिशयमयी-वाणी' (दिव्यध्वनि) खिरती है, जिसे सुनकर जगत् के जीव अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हैं। दिव्यध्वनि का सबसे बड़ा अतिशय तो यही है कि वहाँ उपस्थित सभी-जीव अपनी-अपनी भाषा में अपने हित की बात समझ लेते हैं।

(दोहा)

यह सयोग-गुणस्थानकी, रचना कही अनूप।

अब अयोगकेवल-दसा, कहूँ जथारथ-रूप॥ 110॥

(सवैया इकतीसा)

जहाँ काहू जीवकौ असाता-उदै साता नांहि, काहूकौ असाता नांहि साता-उदै पाइयै।

मन-वच-कायसौ अतीत भयौ जहाँ जीव, जाकौ जसगीत जगजीत-रूप गाइयै॥

जामैं कर्म-प्रकृति की सत्ता जोगी-जिन कीनी, अंतकाल द्वै-समैंमैं सकल खिपाइयै।

जाकी-थिति पंच-लघु-अच्छर-प्रमान सोई, चौदहौं अजोगी-गुणठाना ठहराइयै॥ 111॥

शब्दार्थ :- यह सयोग-गुणस्थानकी रचना कही अनूप= यहाँ तक सयोगकेवली-जिन गुणस्थान की अनुपम-रचना का वर्णन किया, अब अयोगकेवल-दसा कहूँ जथारथ-रूप= अब अयोगकेवली-गुणस्थान का यथार्थ-वर्णन करता हूँ॥ 110॥

जहाँ काहू जीवकौ असाता-उदै साता नांहि= जहाँ किसी जीव को असाता का उदय रहता है, साता का नहीं रहता, काहूकौ असाता नांहि साता-उदै पाइयै= किसी को असाता का नहीं होकर साता का उदय रहता है, मन-वच-कायसौ अतीत भयौ जहाँ जीव= जहाँ जीव मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से पूर्णतः शून्य हो जाता है, जाकौ जसगीत जगजीतरूप गाइयै= जिसका यशोगान जगत्-जयी के रूप में होता है, जामैं कर्म-प्रकृति की सत्ता जोगी-जिन कीनी= जिसमें कर्म-प्रकृतियों की सत्ता सयोगकेवली-जिन-गुणस्थान के समान ही रहती है, अंतकाल द्वै-समैंमैं सकल खिपाइयै= अंतिम दो-समय में समस्त-कर्मों का क्षय करते हैं, जाकी-थिति पंच-लघु-अच्छर प्रमान= जिसकी-स्थिति पाँच-ह्रस्व-अक्षर के उच्चारण-प्रमाण है, सोई चौदहौं अजोगी-गुणठाना ठहराइयै= वही चौदहवाँ-अयोगकेवली-गुणस्थान कहा जानना चाहिये॥ 111॥

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने चौदहवें अयोगकेवली-जिन-गुणस्थान का सुंदर-विवेचन किया है।

'अ'+ 'योग'+ 'केवली' अर्थात् तीनों योगों से रहित, और साथ ही अधातिया-कर्मों से भी रहित होने के सन्मुख- ऐसे चौदहवें-गुणस्थानवर्ती जीव 'अयोगकेवली-जिन' है। इस गुणस्थान में किसी जीव को साता-वेदनीय का और किसी जीव को असाता-वेदनीय का उदय रहता है, परन्तु वैसी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है; क्योंकि स्वरूप में लीनता एवं अनंतसुख की ही स्थिति रहती है। मन, वचन, काय तीनों का संयोग होने पर भी इनका परिस्पंदन या कहें प्रवृत्ति नहीं होती; इसीलिए इन्हें 'अयोग-केवली'

कहा जाता है। कषाय का अभाव होने के साथ-साथ इस गुणस्थान में योगों का भी परिस्यंदन न होने से 'सांपरायिक-आस्रव' के साथ 'ईर्यापथ-आस्रव' का भी अभाव हो जाता है। इसीप्रकार इस गुणस्थान में सभीप्रकार के परीषहों का भी अभाव हो जाता है। छहोंप्रकार के आहार का भी अभाव होता है। यद्यपि शरीर मौजूद है, परन्तु योगों का प्रवर्तन पूर्णतः बंद हो जाता है; इसीलिए इस गुणस्थानवर्ती-जीवों का 'जगत्जयी' अर्थात् तीनों-लोकों को जीतनेवाले के रूप में यशोगान किया जाता है।

घातिया-कर्मों का क्षय तो तेरहवें-गुणस्थान में ही हो जाता है, परन्तु इस गुणस्थान में अघातिया-कर्मों की स्थिति भी सयोग-केवली के समान ही रहते हुये भी, अंतिम दो-समय शेष रहने पर अघातिया-कर्मों की शेष 85 प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है। इस गुणस्थान का काल मात्र 'अ, इ, उ, ऋ, लृ'— इन पाँच ह्रस्व-अक्षरों के उच्चारण के बराबर ही होता है। जैसे तेरहवें-गुणस्थानवर्ती जीव संसार में रहने से 'संसारी' कहलाते हैं, वैसे चौदहवें-गुणस्थानवर्ती जीव इस लोक में रहते हुये भी 'संसारी' नहीं कहलाते, और आयु-कर्म शेष होने से 'मुक्त' भी नहीं कहलाते।

(देहा)

चौदह-गुणस्थानक-दसा, जगवासी-जिय भूल।

आस्रव-संवर भाव-द्वै, बंध-मोख के मूल॥ 112॥

शब्दार्थ :- चौदह-गुणस्थानक-दसा= चौदह-गुणस्थानों की स्थिति, जगवासी-जिय-भूल= संसारी-जीवों की भूल है, आस्रव-संवर भाव-द्वै= आस्रव और संवर दो भाव, बंध-मोख के मूल= बंध और मोक्ष के मूलकारण हैं।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कविवर कहते हैं "ये चौदह-गुणस्थान संसारी-जीव की भूल हैं। 'आस्रव' और 'संवर' ये दो-भाव ही वास्तव में 'बंध' और 'मोक्ष' के मूलकारण हैं।" कहने का अभिप्राय यही है कि जब जीव अपने ज्ञान-स्वभाव को भूलकर पर की ओर उन्मुख होता है, और इष्ट-अनिष्ट-भाव करता है, तब आस्रव या मोह-राग-द्वेषादि विकारी-भावों की जो उत्पत्ति होती है; वही संसार की जड़ अर्थात् मूल-कारण है। और जब जीव पर-सन्मुखता छोड़कर स्व-सन्मुख होता है, तब संवर अर्थात् जो स्वानुभूति के भाव होते हैं; वही वास्तव में मोक्ष के मूल-कारण है। जैसे किसी भी वृक्ष का आधार उसकी जड़ होती है, ठीक उसीप्रकार संसाररूपी वृक्ष की जड़ 'आस्रव-भाव', और मोक्षरूपी-वृक्ष का मूल 'संवर-भाव' है।

(चौपाई)

आस्रव-संवर-परनति जौलौं, जगत-निवासी चेतन तौलौं।

आस्रव-संवर विधि-विवहारा, दोऊ भव-पथ सिव-पथ धारा॥ 113॥

आस्रवरूप बंध-उतपाता, संवर ग्यान-मोख-पद-दाता।

जा संवरसौ आस्रव-छीजै, ताकौं नमस्कार अब कीजै॥ 114॥

शब्दार्थ :- आस्रव-संवर-परनति जौलौं= जबतक आस्रव और संवर के परिणाम रहते हैं, जगत-निवासी चेतन तौलौं= तबतक चेतन-आत्मा संसार में निवास करता है, आस्रव-संवर विधि-विवहारा= आस्रव और संवर दोनों ही विधि का व्यवहार या कर्म से सम्बद्ध परिणतियाँ हैं, दोऊ भव-पथ सिव-पथ धारा= दोनों (क्रमशः) संसार-मार्ग और मोक्ष-मार्ग की धारा है, आस्रवरूप बंध-उतपाता= आस्रव से बंध की उत्पत्ति होती है, संवर ग्यान-मोख-पद-दाता= संवर ज्ञान और मोक्ष-पद को देनेवाला है, संवरसौ आस्रव छीजै= संवर से आस्रव का विनाश होता है, ताकौं नमस्कार अब कीजै= इसलिये मैं संवर को नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ :- इन दोनों-छंदों में कवि ने 'संसार-वर्धक' 'आस्रव-भाव' को हेय, और 'मुक्ति-प्रदाता' 'संवर-भाव' की उपादेयता सिद्ध करते हुए 'संवर-भाव' को नमस्कार किया है।

हे आत्मन्! जबतक हम अपने जानन-स्वभाव को भूलकर पर में इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि करते रहेंगे, तबतक मोह, राग, द्वेषादि आस्रव-भावों की उत्पत्ति होती रहेगी। और जबतक इन आस्रव-भावों की उत्पत्ति होती रहेगी, तबतक जीव इस संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। आस्रव और संवर दोनों ही विधि का व्यवहार अर्थात् कर्म से सम्बद्ध परिणतियाँ हैं, एक कर्म के बंधनरूप है, तो दूसरी कर्म के निरोधरूप। हे चेतन! आस्रव और संवर इस ज्ञान-स्वरूपी चैतन्य-सरोवर से निकली दो धारायें हैं, जिनमें से एक (आस्रव) धारा संसार-सागर में प्रवेश कराती है। और दूसरी (संवर) धारा मोक्ष-महल में प्रवेश कराती है। पहली-धारा में अवगाहन करने से जीव को दुःख की प्राप्ति होती है, और दूसरी धारा में अवगाहन करने से जीव को अनंत सुख की प्राप्ति होती है; क्योंकि आस्रव-भाव कर्म-बंधन का उत्पादक है। जबकि संवर-भाव कर्म-बंधन से छुड़ाकर मोक्ष-सुख का उत्पादक है। अनादि से चले आ रहे कर्मरूपी-पर्वत को भेदने में एकमात्र संवर-भाव या 'स्वात्मानुभूति' ही कार्यकारी है; इसलिए कविवर बनारसीदास जी ने 'संवर-भाव' को विनय-पूर्वक वंदन किया है।

(सवैया इकतीसा)

जगत के प्रानी जीति, ह्वै रह्यौ गुमानी ऐसौ, आस्रव-असुर दुखदानी-महाभीम है।

ताकौ परताप-खंडिवैकौ प्रगट भयौ, धर्म कौ धरैया, कर्मरोगकौ हकीम है॥

जाकै परभाव-आगै, भागै परभाव-सब, नागर-नवल सुखसागर की सीम है।

संवरकौ रूप धरै साधै सिवराह ऐसौ, ग्यान-पातसाह ताकौ मेरी तसलीम है॥ 115॥

शब्दार्थ :- जगत के प्रानी जीति= जगत् के प्राणियों को जीतकर, ह्वै रह्यौ गुमानी ऐसौ= अभिमानी हो रहा है, ऐसा, आस्रव-असुर दुखदानी महाभीम है= आस्रवरूपी राक्षस दुःखदायक और महाभयानक है, ताकौ-परताप-खंडिवैकौ प्रगट भयौ= उसके प्रताप/तेज को खंडित/क्षीण करने के लिए, धर्म कौ धरैया कर्मरोगकौ हकीम है= धर्म को धारण करनेवाला और कर्मरूपी-रोग को दूर करने के लिए जो वैद्य के समान है, जाकै परभाव आगै= जिसके प्रभाव के सामने, भागै परभाव-सब= समस्त-परभाव भाग जाते हैं, नागर नवल सुखसागर की सीम है= प्रवीण है, नवीन है और सुखरूपी-सागर का किनारा है, संवरकौ रूप धरै साधै-सिवराह= संवर का रूप धारणकर मोक्षमार्ग को साधता है, ऐसौ ग्यान-पातसाह ताकौ मेरी तसलीम है= ऐसे ज्ञानरूपी बादशाह/राजा को मेरा सलाम/वंदन है।

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने 'आस्रव' को 'अभिमानी', 'महाभयानक' और जगत् को अपने वश में करनेवाले 'राक्षस' के समान कहा है। और 'संवर' को उस राक्षस का मान-मर्दन करनेवाले 'राजा' के रूप में सिद्ध किया है।

जो अनादिकाल से जगत् के जीवों को अपने वश में करके स्वयं को सबसे श्रेष्ठ मानता है, जिसके आकर्षण में फँसकर जीव अपना सर्वस्व भूल जाता है, ऐसा वह आस्रवरूपी-राक्षस महा-भयानक, महा-दुःखदाई है। लेकिन यह भी सत्य है कि राक्षस कितना भी बलशाली क्यों न हो, एक दिन उसका अंत जरूर होता है। उसका अंत करने के लिए भी धर्मधारी, ज्ञानभावमय संवररूपी-राजा प्रकट हुआ है, जिसके प्रकट होते ही आस्रव का विनाश हो जाता है। जिसप्रकार शरीर के रोगों का इलाज वैद्य या हकीमों के पास होता है, ठीक उसीप्रकार कर्मरूपी रोग का इलाज करने के लिये 'संवर' भी वैद्य या हकीम के समान है।

जिसके प्रभाव के आगे समस्त-परभाव विनाश को प्राप्त होते हैं, अर्थात् स्वभाव या आत्मानुभूति के सामने परभाव या परद्रव्य-जनित राग-द्वेषादि समस्त विकारी-भाव नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि ये 'संवर-भाव' अत्यंत-प्रवीण' (क्योंकि आस्रव को न केवल वश में करता है, बल्कि नष्ट भी करता है), 'नवीन' (क्योंकि अनादि से नहीं था, नवीन प्राप्त हुआ), 'सुख-सागर की सीमा' है अर्थात् सुखरूपी-सागर का किनारा है। जैसे समुद्र के किनारे पर पहुँचकर ही जीवन का आनंद लिया जा सकता है, ठीक उसीप्रकार अतीन्द्रिय-सुख के आनंद का रसास्वादन करना है; तो संवररूपी किनारे तक पहुँचना अति-आवश्यक है, अथवा इसी से सुखानुभूति की शुरुआत होती है। कविवर पं बनारसीदास जी कहते हैं कि 'जो संवर का रूप धारणकर शिवराह को साधता है अर्थात् मोक्षमार्ग को प्रशस्त करता है, ऐसे ज्ञान-स्वरूप बादशाह अर्थात् ज्ञायक भगवान्-आत्मा को मेरी 'तसलीम' है अर्थात् मेरा 'सविनय-वन्दन' है।'



विद्वान् के लिये अपेक्षित योग्यतायें

भाषा-कवित्त अध्यातम-माँहि। पंडित और दूसरो नाँहि॥
क्षमावंत-संतोषी भला। भली कवित्त-पढ़वे की कला॥
पढ़ै संस्कृत-प्राकृत शुद्ध। विविध-देशभाषा-प्रतिबुद्ध॥
जाने शब्द-अर्थ को भेद। ठाने नहिं जगत को खेद॥
मिठबोला सबहीं सौं प्रीति। जैनधर्म की दिढ़ परतीति॥
सहनशील नहिं कहैं कुबोल। सुथिर-चित्त नहिं डाँवाडोल॥
कहैं सबनिसौं से हित-उपदेश। हिरदै-सुष्ट, दुष्ट नहिं लेश॥
पर-रमणी को त्यागी सोय। कुव्यसन और न ठानै कोय॥
हृदय शुद्ध-समकित की टेक। इत्यादिक गुन और अनेक॥
अल्प जघन्य कहे गुन जोय। नहिं उतकिष्ट न निर्मल होय॥

अध्यात्म-शैली की महिमा

निज-काज सबही को अध्यात्म-शैली माँझ,
मूढ़ क्यों न खोज देखै खोज और-वान में।
सदा यह लोक-रीति सुनी है 'बनारसीजू'
वचन-प्रसाद नैकु ज्ञानिनके कान में॥
चेरी जैसें मलि-मलि धोवत बिराने पाँव,
पर-मन-रंजिवे को सांझ ओ विहान में।
निज-पाँव क्यों न धौवे ? कोई सखी ऐसौ कहै,
मोसी कोऊ आलसन और न जहान में॥

—('बनारसीदास विलास' से उद्धृत)

(कविवर पं बनारसीदास जी द्वारा अंतिम-विनय)

प्रशस्ति-द्वार

(चौपाई)

भयौ ग्रंथ संपूरन-भाखा, वरनी गुनथानक की साखा।

वरनन और कहाँलौ कहिये, जथा-सकति कहि चुप ह्वै रहिये॥ 1॥

शब्दार्थ :— भयौ ग्रंथ संपूरन-भाखा= समयसार ग्रंथ देसी-भाषा/हिन्दी में निबद्ध पूरा हुआ, वरनी गुनथानक की साखा= गुणस्थान-अधिकार का वर्णन किया, वरनन और कहाँलौ कहिये= कहाँ तक इसका वर्णन करें, जथा-सकति कहि चुप ह्वै रहिये= (इसलिये) यथाशक्ति कहकर चुप हो जाना चाहिए।

विशेषार्थ :— नाटक-समयसार-ग्रंथ का समापन करते हुए कविवर स्वयं कहते हैं कि ग्रंथ की महिमा तो अथाह है, जिसका संपूर्ण-वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ। फिर भी मैंने अपनी अल्पबुद्धि से गुणस्थान का कुछ विवेचन किया, लेकिन अब अतिविस्तार की अपेक्षा चुप रहना ही बेहतर है।

(चौपाई)

लहिये और न ग्रंथ-उदधिका, ज्यौ-ज्यौ कहिये त्यों-त्यों अधिका।

तातैं नाटक अगम-अपारा, अल्प कवीसुर की मतिधारा॥ 2॥

शब्दार्थ :— लहिये ओर न ग्रंथ-उदधिका= ग्रंथरूपी-समुद्र का किनारा कभी नहीं मिल सकता, ज्यौ-ज्यौ कहिये त्यों-त्यों अधिका= जैसे-जैसे कथन करते हैं, वैसे-वैसे बढ़ता ही जाता है, तातैं नाटक अगम-अपारा= क्योंकि नाटक अगम और अपार है, अल्प कवीसुर की मतिधारा= और कवि की बुद्धि अत्यंत अल्प/सीमित है।

विशेषार्थ :— यह समयसार-ग्रंथ एक समुद्र के समान है, जिसप्रकार समुद्र का कोई ओर छोर नहीं होता, जल भी अपरिमित होता है; ठीक उसीप्रकार ये ग्रंथाधिराज 'समयसार' का भी कोई ओर छोर नहीं है। इसमें आत्मस्वरूप की महिमा का जो वर्णन किया गया है, उसका भी कोई अंत नहीं, जितना-जितना मर्म खोलते हैं, उतना-उतना ही विस्तार होता जाता है। इस ग्रंथ की महिमा अगम और अपार है अर्थात् विस्तार और गहराई दोनों की ही कोई सीमा नहीं है, और मेरी बुद्धि तो अति-अल्प है, इसलिये मैं इसका सांगोपांग-वर्णन करने में असमर्थ हूँ।

(दोहा)

समयसार-नाटक अकथ, कवि की मति लघु होइ।

तातैं कहत बनारसी, पूरन कथै न कोइ॥ 3॥

शब्दार्थ :— समयसार-नाटक अकथ= समयसार-नाटक महान् है, अकथनीय है, कवि की मति लघु होइ= कवि की बुद्धि सीमित होती है; तातैं कहत बनारसी= इसलिये बनारसीदास कहते हैं, पूरन कथै न कोइ= इसे कोई पूरा नहीं कह सकता।

विशेषार्थ :— कविवर कहते हैं समयसार नाटक महान् है, अकथनीय है, इसमें आत्म-स्वरूप की महिमा वर्णित है, आत्मा चेतन है और वाणी जड़ है, फिर भला इन जड़-शब्दों से चेतन-आत्मा का

वर्णन कैसे संभव है? इसीप्रकार आत्मा तो अनंतज्ञान का धनी है, और कवि की कर्माश्रित अति-अल्प क्षयोपशम-बुद्धि, सो कोई भी कवि इसका संपूर्ण-वर्णन नहीं कर सकता है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे कोऊ एकाकी-सुभट पराक्रम करि, जीते किहि भाँति चक्री-कटकसौं लरनौ।
जैसे कोऊ परवीन-तारू भुजभारू-नर, तैरे कैसे स्वयंभूरमन-सिंधु तरनौ॥
जैसे कोऊ-उद्दमी उछाह-मनमाँहि धरै, करै कैसे कारज विधाता कैसौ करनौ।
तैसें तुच्छ-मति मोरी तामैं कविकला थोरी, नाटक-अपार मैं कहाँलौं याहि वरनौ॥ 4॥

शब्दार्थ :— जैसे कोऊ एकाकी सुभट पराक्रम करि= जैसे कोई अकेला-योद्धा अपने बल पर, जीते किहि-भाँति चक्री-कटकसौं लरनौ= चक्रवर्ती की सेना को कैसे जीत सकता है? जैसे कोऊ परवीन-तारू भुजभारू-नर= जैसे कोई होशियार तैराक, विशाल-भुजाओंवाला मनुष्य, तैरे कैसे स्वयंभूरमन-सिंधु तरनौ= स्वयंभूरमण-समुद्र को तैरकर कैसे पार कर सकता है? जैसे कोऊ उद्दमी उछाह मनमाँहि धरै= जैसे कोई पुरुषार्थी-व्यक्ति मन में बहुत उत्साह रखकर (भी), करै कैसे कारज विधाता कैसौ करनौ= विधाता/ब्रह्मा जैसे कार्य कैसे कर सकता है? तैसें तुच्छ-मति मोरी तामैं कवि-कला थोरी= उसीप्रकार मेरी अल्प-बुद्धि, और उसमें काव्य-चातुर्य भी कम, नाटक अपार मैं कहाँलौं याहि वरनौ= नाटक अपार/महान् है, मैं कहाँ तक इसका वर्णन करूँ?

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने महान्-ग्रंथ 'समयसार जी' की महिमा को सुन्दर-उदाहरणों के माध्यम से वर्णित किया है।

जैसे कोई योद्धा भले ही वह युद्ध-कौशल में निपुण हो, फिर भी वह अपने अकेले के बल पर चक्रवर्ती की अपार-सेना को कैसे जीत सकता है? अर्थात् कभी नहीं जीत सकता। जैसे कोई चतुर-तैराक तैरने की विद्या में निपुण होने पर भी, अपनी भुजाओं के बल पर विशाल, अपार 'स्वयंभूरमण-समुद्र' को तैरकर कैसे पार कर सकता है? अर्थात् कभी नहीं कर सकता। जैसे कोई व्यक्ति बहुत-परोपकारी हो, दानी हो, दूसरों की भलाई करने में बहुत उत्साही हो, सभी दोषों से भी रहित हो; फिर भी वह विधाता के समान कार्य/उपकार कैसे कर सकता है? अर्थात् कभी नहीं कर सकता।

ठीक उसीप्रकार मैं बनारसीदास पहले ही अति-अल्प-बुद्धिवाला हूँ, और ऊपर से काव्य-रचना के कौशल से भी अनभिज्ञ हूँ, और नाटक (समयसार) अति-महान् अर्थात् बहुत विशाल है; मैं कहाँ तक उसका वर्णन करूँ? अर्थात् मैं उसका सांगोपांग-वर्णन नहीं कर सकता हूँ?— ऐसे वचनों से कवि ने अपनी लघुता प्रकट की है, जो वास्तव में एक महापुरुष की गरिमा की परिचायक है।

(सवैया इकतीसा)

जैसे वट-वृच्छ एक, तामैं फल हैं अनेक, फल-फल बहुबीज, बीज-बीज वट है।
वट-माँहि फल, फल-माँहि बीज तामैं वट, कीजै जो विचार, तौ अनंतता अघट है॥
तैसें एक-सत्ता मैं, अनंत-गुन-परजाय, पर्जैमैं अनंत-नृत्य तामैं अनंत-ठट है।
ठटमैं अनंतकला, कलामैं अनंतरूप, रूपमैं अनंतसत्ता, ऐसौ जीव-नट है॥ 5॥

शब्दार्थ :— जैसे वट-वृच्छ एक तामैं फल हैं अनेक= जैसे एक वट-वृक्ष और उसमें अनेक-फल, फल-फल बहुबीज= प्रत्येक फल में बहुत सारे बीज हैं, बीज-बीज वट है= हर बीज में एक वट-वृक्ष समाहित है, वटमाँहि-फल= वट में फल, फल-माँहि बीज तामैं वट = फल में बीज और बीज में वट, कीजै जो विचार तौ अनंतता

अघट है= यदि विचार करें, तो इसका कोई अंत नहीं है, **तैसैं एक-सत्ता मैं अनंत-गुन-परजाय**= उसीप्रकार एक आत्मसत्ता में अनंत-गुण, और उनकी अनंत-पर्यायें, **परजैमैं अनंत-नृत्य**= पर्याय में अनंत-नृत्य, **तामैं नंत-ठट है**= और उसमें अनंत-ठट, **ठटमैं अनंतकला**= और उस ठट में अनंत-कलायें, **कलामैं अनंतरूप**= कला में अनंतरूप, **रूपमैं अनंतसत्ता**= रूप में अनंत-सत्ता, **ऐसौ जीव-नट है**= ऐसा जीवरूपी नट है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने जीवरूपी नट की अनंत-सत्ता का उदाहरण-सहित सुंदर विवेचन किया है।

जैसे एक वट का वृक्ष है, उस एक वृक्ष में अनेक-फल लगते हैं। उन अनेक-फलों में अर्थात् प्रत्येक-फल में अलग-अलग बहुत सारे बीज होते हैं। फिर वे सभी बीज एक-एक वट वृक्ष की सामर्थ्यरूप हैं। और फिर उन सभी-वृक्षों में अनेकानेक-फल, और फिर उन सभी-फलों में अनेकानेक-बीज, इसप्रकार देखा जाये, तो ये सिलसिला इसीप्रकार चलता रहता है; कभी उसका अंत नहीं होता है।

ठीक उसीप्रकार एक-आत्मसत्ता में अनंत-गुण, और फिर उन अनंत-गुणों की अनंत-पर्यायें, फिर उन अनंत-पर्यायों में अनंत-नृत्य, फिर उन अनंत-नृत्यों में अनंत-ठट, फिर उन अनंत-ठटों में अनंत-कलायें, और फिर अनंत-कलाओं में अनंतरूप, और उन अनंतरूपों में फिर अनंत-सत्ता— ऐसा ये जीवरूपी-नट है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जिसप्रकार नट अपनी-कला प्रदर्शन करते समय प्रतिदिन नानाप्रकार के रूप, स्वांग धारण करता है, और फिर उसके अनुरूप नृत्य और कलाबाजियाँ दिखाता है; ठीक उसीप्रकार यह जीव विभिन्न-पर्यायों में, नानाप्रकार के स्वांग धारण करता है, अपने विभिन्न-रूपों के साथ प्रवर्तन करता हुआ अपनी अनंत-आत्मसत्ता के साथ विद्यमान रहता है।

(दोहा)

ब्रह्मग्यान-आकासमैं, उड़ै सुमति-खग होइ।
यथा-सक्ति उद्दिम करै, पार न पावै कोइ॥ 6॥

(चौपाई)

ब्रह्मग्यान-नभ अंत न पावै, सुमति-परोछ कहाँलौं धावै।
जिहि-विधि समयसार जिनि कीनौं, तिनके नाम कहौं अब तीनौं॥ 7॥

शब्दार्थ :— ब्रह्मग्यान-आकासमैं= ब्रह्मज्ञान/आत्मज्ञानरूपी आकाश में, उड़ै सुमति-खग होइ= सुमति/सम्यग्ज्ञानरूपी-पक्षी उड़ता है, यथा-सक्ति उद्दिम करै पार न पावै कोइ= यथाशक्ति-पुरुषार्थ भी करता है, पर उसके पार को प्राप्त नहीं कर पाता॥ 6॥

ब्रह्मग्यान-नभ अंत न पावै= ब्रह्मज्ञानरूपी आकाश की सीमा का कोई अंत नहीं है, सुमति-परोछ कहाँलौं धावै= सुमतिज्ञान-रूपी पक्षी कहाँ तक भागे/उड़े? जिहि-विधि समयसार जिनि कीनौं= इसलिए जिसतरह जिन्होंने इस समयसार की रचना की है, तिनके नाम कहौं अब तीनौं= अब उन तीनों के नाम कहता हूँ॥ 7॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने उदाहरण-सहित स्पष्ट किया है कि परोक्ष-ज्ञान कभी प्रत्यक्ष-ज्ञान की बराबरी नहीं कर सकता।

आत्मिक-अनंतज्ञान को कवि ने आकाश के समान अनंत माना है, और मति-श्रुतज्ञान को पक्षी

के समान माना है। जिसप्रकार कोई भी पक्षी आकाश में कितनी भी उड़ान भरे, फिर भी वह आकाश के छोर को प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि आकाश अनंत है और पक्षी की उड़ान उसके सामने अतिसीमित।

ठीक उसीप्रकार आत्मा, आकाश के समान अनंतज्ञान का धनी है, सुबुद्धिरूपी-पक्षी कितनी भी लंबी उड़ान भरे; फिर भी वह उसके अंतिम-छोर को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि आत्मा प्रत्यक्षगोचर है, और मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। परोक्ष-ज्ञानरूपी पक्षी आत्मिक-ज्ञानरूप आकाश में उड़ान तो भर सकता है; परन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञान का पार नहीं पा सकता। इसलिये अब मैं उन लोगों का कथन करता हूँ, जो इस ग्रंथ के मूल-आधार और ग्रन्थ के प्रणेता रहे हैं।

(सवैया इकतीसा)

कुंदकुंदाचारिज प्रथम गाथाबद्ध करि, समैसार-नाटक विचारि नाम दयौ है।

ताही की परंपरा अमृतचंद्र भये तिन, संसकृत-कलस सम्हारि सुख लयौ है॥

प्रगट्यौ बनारसी गृहस्थ-सिरीमाल अब, किये हैं कवित्त हियै बोधिबीज बयौ है।

सबद-अनादि तामैं अरथ-अनादि जीव- नाटक-अनादि यौ अनादि ही कौ भयौ है॥ 8॥

शब्दार्थ :— प्रथम गाथाबद्ध करि= सर्वप्रथम कुन्दकुन्द आचार्य ने गाथाबद्ध करके, समैसार नाटक विचारि नाम दयौ है= समयसार नाटक ऐसा विचाररूप नाम दिया, ताही की परंपरा अमृतचंद्र भये= उन्हीं की परम्परा में आचार्य अमृतचंद्र हुये, तिन संसकृत-कलस सम्हारि सुख लयौ है= जिन्होंने संस्कृतभाषा में समयसार-कलश रचकर सुख प्राप्त किया, प्रगट्यौ बनारसी गृहस्थ सिरीमाल अब= (उसी परम्परा में) श्रीमाल-जाति में गृहस्थ बनारसीदास हुये, किये हैं कवित्त हियै बोधिबीज बयौ है= कवित्तों की रचना करके हृदय में बोधिरूपी-बीज को बोया है, सबद अनादि तामैं अरथ अनादि= शब्द अनादि से हैं, और उनके अर्थ भी अनादि से हैं, जीव-नाटक अनादि= जीव का नाटक भी अनादि है, यौ अनादि ही कौ भयौ है= इसप्रकार ये समयसार-नाटक भी अनादिकाल से ही है।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कवि ने 'समयसार जी' की रचना करनेवाले ज्ञानी-जीवों का विवेचन किया है।

सर्वप्रथम 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' ने विचारपूर्वक 'समयसार जी' की गाथाओं को 'प्राकृत-भाषा' में निबद्ध करके इस नाटक का नाम 'समयसार' दिया। उनके पश्चात् उनकी ही परम्परा में 'आचार्य अमृतचंद्र' हुये, जो 'प्राकृत-भाषा' में निबद्ध-गाथाओं पर 'संस्कृत-भाषा' में कलशारोहण कर अत्यंत-हर्षित हुये, अर्थात् 'समयसार-कलश' नामक ग्रंथ की रचना की। फिर 'श्रीमाल' जाति में गृहस्थ-धर्म का पालन करनेवाले 'बनारसीदास' हुये, जिन्होंने उन कलशों पर हिन्दी-भाषा में काव्य-रचना कर स्वयं अपने हृदय में बोधि यानि रत्नत्रय का बीज बोया, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

कविवर कहते हैं वास्तविकता तो यह है कि शब्द भी अनादि से हैं, और उनके अर्थ भी अनादि से हैं, और सात-तत्त्वों के साथ खेला जाने वाला जीव का नाटक भी अनादि से है, सो यह 'समयसार-नाटक' भी अनादि से ही है।

(चौपाई)

अब कछु कहौ जथारथ-वानी, सुकवि-कुकवि की कथा-कहानी।

प्रथमहिं सुकवि कहावै सोई, परमारथ-रस वरनै जोई॥ 9॥

कलपित-बात हियै नहिं आनै, गुरु-परंपरा-रीति बखानै।

सत्यारथ-सैली नहिं छंडै, मृषावादसौं प्रीति न मंडै॥ 10॥

(दोहा)

छंद-सबद-अच्छर-अरथ, कहै सिद्धांत-प्रवांन।

जो इहविधि-रचना रचै, सो है सुकवि सुजान॥ 11॥

शब्दार्थ :- अब कुछ कहौं जथारथ-वानी= अब कुछ यथार्थ-वचन कहता हूँ, सुकवि-कुकवि की कथा कहानी= सुकवि और कुकवि के बारे में वर्णन करता हूँ, प्रथमहिं सुकवि कहावै सोई परमारथ-रस वरनै जोई= सर्वश्रेष्ठ-सुकवि वही कहलाता है, जो परमार्थ-रस/आत्मिक-आनंद का वर्णन करता है॥ 9॥

कल्पित-बात हियै नहिं आनै= काल्पनिक-बातें तो जिसके हृदय में ही नहीं आती, गुरु-परंपरा-रीति बखानै= गुरु-परम्परा के अनुसार कथन करते हैं, सत्यारथ-सैली नहिं छंडै= सत्य-स्वरूप को कहने की शैली नहीं छोड़ते हैं, मृषावादसौं प्रीति न मंडै= असत्य-वचनों से न प्रीति करते हैं और न समर्थन॥ 10॥

छंद-सबद-अच्छर-अरथ कहै सिद्धांत-प्रवांन= छंद, शब्द, अक्षर, अर्थ सिद्धांत के अनुसार कहते हैं, जो इहविधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान= जो इस विधि से रचना करते हैं, उन्हें चतुर-सुकवि कहते हैं॥ 11॥

विशेषार्थ :- 'सुकवि' और 'कुकवि' की कथा को वर्णित करने की प्रतिज्ञा करते हुये उपर्युक्त तीनों-छंदों में कवि ने 'सुकवि' की विचारधारा को सुंदरता से विवेचित किया है।

हिन्दी-साहित्य-जगत् में पद्यमय-काव्य-रचना करनेवालों को 'कवि' नाम से पुकारा जाता है। इसलिये सभी प्रकार के रचनाकारों को 'कवि' एवं सभीप्रकार की रचनाओं को 'काव्य' कहा जाता है। कवियों की विचारधारा भी भिन्न-भिन्न होती है, कुछ कवि धर्म-मार्ग का अनुसरण करते हुए, वस्तु-स्थिति का निर्भय होकर केवल सत्य और सटीक-विवेचन करते हैं। और कुछ स्वार्थवश, लोभवश, समय की माँग के अनुसार लोग जिसे सुनना या पढ़ना चाहते हैं, उनके अनुरूप ही काव्य-रचना करते हैं। कविवर बनारसीदास जी ने इन दोनों ही प्रकार के कवियों को क्रमशः 'सुकवि' और 'कुकवि' के नाम से विवेचित किया है।

कविवर की दृष्टि में 'सुकवि' वे हैं, जो पारमार्थिक-रस का वर्णन करते हैं, अर्थात् अध्यात्मपरक-रचनायें करते हैं; क्योंकि इन रचनाओं में जीव का हित निहित होता है; इन्हें पढ़कर, समझकर जीव अपना कल्याण कर सकते हैं। ऐसे कवि कभी कपोल-कल्पित या सत्य से परे काल्पनिक-बातों को अपने हृदय में भी स्थान नहीं देते, फिर रचनाओं में तो इन बातों की पुष्टि की गुंजाइश भी नहीं रहती। बल्कि अपनी गुरु-परम्परा का निर्वाह करते हुए, गुरुओं से प्राप्त सम्यक्-ज्ञान को ही अपनी रचनाओं में वर्णित करते हैं। स्वार्थवश, लोभवश, किसी के दबाव में आकर भी अपने सत्य-धर्म को कभी नहीं छोड़ते, और असत्य-धर्म का मंडन/समर्थन तो दूर, उससे कभी प्रीति भी नहीं करते। दूसरे शब्दों में कहें तो 'सुकवि' अपनी रचनाओं में कभी भी किसी भी कीमत पर असत्य-धर्म का प्रतिपादन नहीं करते। इसीलिए इन्हें 'सर्वश्रेष्ठ सुकवि' के नाम से संबोधित किया जाता है। इसप्रकार जो कवि छंद, शब्द, अक्षर, अर्थ इन सबकी बारीकियों का ध्यान रखते हुए, सिद्धांत-प्रमाण या आगम-प्रमाण रचना/कथन करते हैं, उन्हें 'सुकवि' कहते हैं।

(चौपाई)

अब सुनु कुकवि कहौं है जैसा, अपराधी हिय-अंध अनेसा।

मृषाभाव-रस वरनै हितसौं, नई-उकति उपजावै चितसौं॥ 12॥

ख्याति-लाभ-पूजा मन आनै, परमारथ-पथ भेद न जानै।

वानी-जीव एक करि बूझै, जाकौ चित जड़-ग्रंथ न सूझै॥ 13॥

वानी-लीन भयौ जग डोलै, वानी-ममता त्यागि न बोलै।

है अनादि-वानी जगमाँहि, कुकवि बात ये समझै नांही॥ 14॥

शब्दार्थ :- अब सुनु कुकवि कहाँ है जैसा= अब कुकवि कैसा होता है, सो कहता हूँ, सुनो, अपराधी हिय-अंध अनेसा= पापी, हृदय का अंधा और हठग्राही, मृषाभाव-रस वरनै हितसौं= असत्य-बातों को भी 'हितकारी' कहकर वर्णन करता है, नई-उकति उपजावैं चितसौं= मन से नित नई-नई कल्पनाओं को जन्म देता है॥ 12॥

ख्याति-लाभ-पूजा मन आनै= ख्याति, लाभ, सम्मान की हमेशा मन में चाह रही है, **परमारथ-पथ भेद न जानै=** मोक्षमार्ग के मर्म को नहीं जानता, **वानी-जीव एक करि बूझै=** वाणी और आत्मा को एक जानता है, **जाकौ चित जड़-ग्रंथ न सूझै=** जिसका मन जड़-ग्रंथों के समान है, अर्थात् जिसे कुछ भी समझ में नहीं आता है॥ 13॥

वानी-लीन भयौ जग-डोलै= अपने-वचनों में मस्त होकर संसार में डोलता रहता है, **वानी-ममता त्यागि न बोलै है=** वाणी से ममत्व त्यागकर नहीं बोलता, है **अनादि-वानी जगमाँहि=** वचन तो संसार में अनादि से है, **कुकवि बात ये समझै नांही=** ये बात कुकवि नहीं समझता॥ 14॥

विशेषार्थ :- इन तीनों-छंदों में कवि ने 'कुकवि' की विचारधारा का सटीक-विवेचन किया है।

'कुकवि' जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है कि ऐसा कवि जो कुरीतियों, कुमार्ग का अनुसरण करता हो, जो सत्य के विपरीत अपनी बात रखता हो। ऐसे सत्य से विपरीत-कथन करनेवाले को काव्य-जगत् में 'अपराधी' या 'पापी' कहा जाता है। कवि ने भी उसे 'हृदय का अंधा' कहा, क्योंकि जो व्यक्ति सत्य को जानते-देखते हुए भी स्वीकार नहीं करता, वह अंधे के समान ही है। 'हठग्राही' यानि अपनी असत्य-बात को भी हठ-पूर्वक प्रस्तुत करता है। ऐसा व्यक्ति जो अपने मन में उठे कपोल-कल्पित विचारों को भी हितकारी बताकर सरस-भाव से वर्णित करता है, वह काव्य-रचना की दृष्टि से 'कुकवि' है। अपनी काव्य-रचना के बदले में ख्याति/नाम/प्रशंसा की चाहत रखना, लाभ या काव्य-रचना के बदले में धन प्राप्ति की वांक्षा रखना, बदले में स्वयं के सम्मान की चाहत होना— ये सभी लक्षण 'कुकवि' की पहचान है। इसके अलावा कुकवि परमार्थ, सत्य और हितकारी-मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग के वास्तविक-स्वरूप को तो जानता नहीं, और सांसारिक-रसों का वर्णन बहुत ही चाव से करता है। दूसरे शब्दों में कहें उसकी रचनाओं में संसार-मार्ग की ही प्रधानता रहती है।

सिद्धांततः वचन/वाणी/बोलना जीव का गुण नहीं है, इसलिए 'सुकवि' को अपनी वाक्-कला पर अभिमान नहीं होता; जबकि 'कुकवि' वाक्-कला और जीव को एक मानता है, इसलिये उसे अहंकार भी वर्तता है। कवि ने कुकवि को जड़-ग्रंथों के समान कहा है; क्योंकि जैसे किसी ग्रन्थ या पोथी में कितनी ही ज्ञान की बात लिखी हो, किन्तु वह पोथी उसे नहीं समझती/जानती है; इसीप्रकार कुकवि भी अपने द्वारा कहे गये वचनों के मर्म को नहीं पहिचानता है, कि इनसे जीव का हित नहीं अहित होनेवाला है। इसीलिए अपनी वाणी/वाक्-कला के अहंकार में लीन होकर चार-गति चौरासी-लाख-योनियों में ही डोलता रहता है। वाणी के ममत्व को त्यागकर काव्य-रचना नहीं करता; क्योंकि वह वाणी/शब्दों को अपना आविष्कार मानता है। जबकि वास्तव में ये शब्द तो जगत् में अनादिकाल से हैं, और ये काव्यकला उसे इस पर्याय में ही मिली है, इस बात को कुकवि नहीं समझता।

जैसे काहू-देसमें सलिल-धारा कारंज की, नदीसौं निकसि फिर नदी में समानी है॥
 नगरमें ठौर-ठौर फैलि रही चहुँ-ओर, जाकै ढिंग बहै सोइ कहै मेरौ-पानी है॥
 त्योंही घट-सदन सदनमें अनादि-ब्रह्म, वदन-वदन में अनादिहीकी वानी है।
 करम-कलोलसौं उसासकी बयारि बाजै, तासौं कहै मेरी-धुनि ऐसौ मूढ़-प्राणी है॥ 15॥

शब्दार्थ :— जैसे काहू-देसमें सलिल-धारा कारंज की= जैसे किसी देश में जल की धारा शाखाओं में बहती हुई, नदीसौं निकसि फिर नदी में समानी है= नदी से निकलकर फिर नदी में समा जाती है, नगरमें ठौर-ठौर फैलि रही चहुँ-ओर= नगर में जगह-जगह पर चारों ओर बह रही है, जाकै ढिंग बहै सोइ कहै मेरौ-पानी है= जिसके घर के पास से बहती है, वही कहता है "यह मेरा-पानी है," त्योंही घट-सदन सदनमें अनादि-ब्रह्म= उसीप्रकार हृदयरूपी घर में अनादि-ब्रह्म/आत्मतत्त्व का वास है, वदन-वदन में अनादिहीकी वानी है= प्रत्येक मुख में अनादि की ही वाणी विद्यमान है, करम-कलोलसौं उसासकी बयारि बाजै= कर्म की लहरों से निःश्वास के माध्यम से हवा बजती है, तासौं कहै मेरी-धुनि ऐसौ मूढ़-प्राणी है= उसको कहता है "यह मेरी आवाज़ है",— ऐसा मूर्ख-प्राणी है।

विशेषार्थ :— पिछले-छंद में कवि ने स्पष्ट किया था कि जगत् में शब्द अनादिकाल से हैं, और स्वतंत्ररूप से ध्वनित होते हैं। इस-छंद में सोदाहरण-स्पष्ट किया है कि शब्द जीव से पूर्णतः भिन्न हैं, और ये किसप्रकार ध्वनित होते हैं ?

जैसे किसी नदी से निकली कोई जलधारा गाँव या शहर में विभिन्न-शाखाओं के रूप में बहती हुई वापस उसी नदी में ही समा जाती है। लेकिन इस बीच जलधारा जिसके घर के पास से निकलती है, (यद्यपि वह जलधारा स्वतंत्र बह रही है, फिर भी) वे लोग कहते हैं कि "यह मेरा पानी है", तो ये उनकी अज्ञानता ही है।

ठीक उसीप्रकार इस हृदयरूपी-घर में अनादि-ब्रह्म का निवास है, और प्रत्येक-शरीर में अनादि की वाणी भी विद्यमान है। आयु-कर्म की तरंगों से या सद्भाव से उसमें निःश्वासरूपी-हवा का आवागमन होता है, और उसके चलने से आती-जाती हवा ध्वनित होती है, या शब्दरूप परिणमित होती है। यह प्रक्रिया पूर्णरूप से स्वतंत्र है, लेकिन फिर भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि-जीव या कुकवि कहता है कि "यह मेरी वाणी है" और उसे अपनी वाणी मानकर अभिमानी होता है, तब यह तो प्रत्यक्ष उसकी अज्ञानता का ही परिचायक है।

(दोहा)

ऐसे मूढ़-कुकवि कुधी, गहै मृषा-मग दौर।
 रहै मगन अभिमानमें, कहैं और की और॥ 16॥
 वस्तु-सरूप लखैं नहीं, बाहिज-द्रिष्टि प्रवांन।
 मृषा-विलास विलोकिकैं, करैं मृषा-गुनगान॥ 17॥

शब्दार्थ :— ऐसे मूढ़-कुकवि कुधी= ऐसे मिथ्यादृष्टि कुकवि, गहै मृषा-मग दौर= असत्य-मार्ग को ग्रहण करते/चलते हैं, रहैं मगन अभिमानमें= दिन-रात अभिमान में मगन रहते हैं, कहैं और की और= और कुछ की कुछ कहते हैं॥ 16॥

बाहिज-दृष्टि-प्रवांन= बाह्य-दृष्टि के अनुसार चलने के कारण, वस्तु-सरूप लखै नहीं= वस्तु-स्वरूप देखते नहीं हैं, मृषा-विलास विलोकिकै कुरै मृषा-गुणगान= झूठे-वैभव को देखकर झूठा ही गुणगान करते हैं॥ 17॥

विशेषार्थ :— कविवर आगे कहते हैं कि इसप्रकार मूढ़-कुक्कवि कुमार या असत्य के मार्ग पर चलता है। और स्वयं को वाणी का कर्ता मानकर अभिमान में मगन रहता है; फिर जो उसे सही लगता है, वह उसी का बखान करता है।

इसका मुख्य-कारण यही है कि वह वस्तु के सत्य या यथार्थ-स्वरूप को तो जानता नहीं है, और इन्द्रियाधीन बाह्य-दृष्टि को प्रमाण/सत्य मानता है। बाह्य झूठे-वैभव को देखकर झूठा ही विवेचन करता है, और खुश होता है, लेकिन वह यह नहीं जानता कि ऐसा करके वह स्वयं अपना भी अहित करता है, और संसारीजनों का भी अहित करता है।

(सवैया इकतीसा)

मांस की गरंथि कुच कंचन-कलस कहैं, कहैं मुख-चंद जो सलेषमा को घरु है।

हाड़ के दसन आहि हीरा-मोती कहैं ताहि, मांस के अधर ओंठ कहैं बिंबफरु है॥

हाड़-दंड भुजा कहैं कौलनाल कामधुजा, हाड़हीकै थंभा जंघा कहैं रंभातरु है।

योंही झूठी-जुगति बनावैं और कहावैं कवि, येते पर कहैं "हमैं सारदाको वरु है"॥ 18॥

शब्दार्थ :— मांस की गरंथि कुच कंचन-कलस कहैं= मांस के पिण्डरूप कुचों को 'स्वर्णकलश' कहते हैं, कहैं मुख-चंद जो सलेषमा को घरु है= जो श्लेष्मा/कफ का घर है, उस मुख को 'चंद्रमा' कहते हैं, हाड़ के दसन आहि हीरा-मोती कहैं ताहि= हड्डी के बने दाँतों को 'हीरा-मोती' कहते हैं, मांस के अधर ओंठ कहैं बिंबफरु है= मांस के ओठों को 'बिंबाफल' कहते हैं, हाड़-दंड भुजा कहैं कौलनाल कामधुजा= हड्डी के दंडोंरूप भुजाओं को 'कमलनाल' और 'कामदेव की ध्वजा' कहते हैं, हाड़हीकै थंभा जंघा कहैं रंभातरु है= हाड़ ही की खंभेरूप जंघाओं को 'केले का वृक्ष' कहते हैं, योंही झूठी-जुगति बनावैं और कहावैं कवि= इसप्रकार झूठी-झूठी युक्तियाँ बनाते हैं और अपने को 'कवि' कहते हैं, येतेपर कहैं हमैं सारदाको वरु है= ऊपर से कहते हैं कि "हमें सरस्वती का वरदान है"।

विशेषार्थ :— इस-छंद में कविवर बनारसीदास जी ने 'कुक्कवि' की मानसिकता अथवा वस्तुस्थिति के प्रति उसकी दृष्टि/नजरिये को बताते हुये वास्तविकता क्या है— इसका यथार्थ-चित्रण किया है।

अधिकांशतः काव्य-रचनाकारों ने अपने काव्य की विषय-वस्तु नारी के रूप-सौंदर्य (भोग-विलास की दृष्टि से) को बनाया है, और शृंगार-परक रचनायें की हैं। वास्तव में देखा जाये, तो शरीर चाहे नारी का हो या पुरुष का हड्डी, मज्जा आदि सप्तधातु से निर्मित, मल का पिटारा है। लेकिन कवियों की कल्पनायें उसे भी नये-नये रूप में प्रस्तुत करती हैं, उसी की वास्तविकता का वर्णन बनारसीदास जी ने इस छंद में किया है।

जैसे कुक्कवि मांस के पिण्डरूप-कुचों को 'स्वर्णघट' या सोने के कलश कहता है; जो मुख कफ, लार आदि घृणित-वस्तुओं का घर है, उसे वह 'चंद्रमा' के समान कहता है। हड्डी से निर्मित दाँतों को वह 'हीरे-मोती' कहता है; इसीप्रकार उसी मांस से बने ओठों को वह 'लाल-बिंबाफल' के समान कहता है। हड्डियों की दंडोंरूप भुजाओं को 'कमलनाल' कहता है, कछ कुक्कवि तो उसे 'कामदेव की पताका' भी कहते हैं। हड्डियों के ही स्तम्भरूप जंघाओं को 'केले के वृक्ष के तने' के समान कहता है। इसप्रकार अनेक झूठी-झूठी युक्तियों और कल्पनाओं का अपनी रचनाओं में वर्णन करता है, और स्वयं को कवि कहता है।

इतना ही नहीं, साथ ही 'करेला और नीम चढ़ा' की कहावत को चरितार्थ करते हुये निर्लज्जता पूर्वक वह कुकवि यह भी कहता है कि "मुझे 'शारदा' अर्थात् 'माँ सरस्वती' का वरदान है, तभी तो मैं ऐसी कल्पनायें करके काव्य-रचना करता हूँ।"

(चौपाई)

मिथ्यावंत-कुकवि जे प्रानी, मिथ्या तिनकी भाषित-वानी।

मिथ्यामती-सुकवि जो होई, वचन-प्रवांन करै सब कोई॥ 19॥

(दोहा)

वचन-प्रवांन करै सुकवि, पुरुष हिए-परवांन।

दोऊ-अंग प्रवांन जो, सो है सहज-सुजान॥ 20॥

शब्दार्थ :- मिथ्यावंत-कुकवि जे प्रानी= जो मिथ्यादृष्टि-कुकवि प्राणी होते हैं, मिथ्या तिनकी भाषित-वानी= उनकी कही गई वाणी भी मिथ्या होती है, मिथ्यामती सुकवि जो होई= (भले ही) मिथ्यादृष्टि हो, पर जो सुकवि होते हैं, वचन-प्रवांन करै सब कोई= वे सभी वचनों के अनुसार ही प्रवर्तन करते हैं। (अर्थात् यथार्थ ही प्ररूपण करते हैं और तदनुसार ही स्वयं आचरण करते हैं।) ॥ 19 ॥

वचन-प्रवांन करै सुकवि-पुरुष= सुकवि-व्यक्ति वचनों के अनुसार आचरण करते हैं, हिए-परवांन= जो उनका हृदय स्वीकार करता है, दोऊ अंग प्रवांन जो, सो है सहज सुजान= (जिनके) मन और वचन दोनों प्रामाणिक होते हैं, (अर्थात् जानते कुछ हैं, परन्तु कहते कुछ हैं— ऐसा छल नहीं करते हैं) वे ही स्वाभाविक रूप से सुजान/सज्जन या सुकवि होते हैं॥ 20 ॥

विशेषार्थ :- अंत में निष्कर्षरूप में कविवर कहते हैं, जो केवल सांसारिक भोग-विलास से संबंधित शृंगारपरक-रचनायें करते हैं, वे सभी मिथ्यादृष्टि-कवि 'कुकवि' हैं, उनकी वाणी भी मिथ्या है। और जो कवि यद्यपि अभी वे भले ही मिथ्यादृष्टि हैं; परन्तु फिर भी आत्महितकारी, आध्यात्मिक, वैराग्यपरक-रचनायें लिखते हैं, वे 'सुकवि' की श्रेणी में आते हैं; उनके वचन भी प्रामाणिक होते हैं।

जिनके वचन भी प्रामाणिक हैं, जिनके हृदय में आत्मस्वरूप का सच्चा-श्रद्धान भी है, जिनके मन और वचन— दोनों में ही समानता है (छल नहीं है), वे ही वास्तव में 'सर्वश्रेष्ठ सुकवि' हैं।

(चौपाई)

अब यह बात कहूँ है जैसे, नाटक-भाषा भयौ सु ऐसे।

कुंदकुंद-मुनि मूल-उधरता, अमृतचंद्र टीका के करता॥ 21॥

समैसार-नाटक सुखदानी, टीका-सहित संस्कृत-वानी।

पंडित पढ़ै सु दिढ़मति बूझै, अलपमतीकौ अरथ न सूझै॥ 22॥

शब्दार्थ :- अब यह बात कहूँ है= अब यह बात कहता हूँ कि जैसे नाटक-भाषा भयौ सु ऐसे= जिसप्रकार समयसार-नाटक की रचना हुई, कुंदकुंद-मुनि मूल-उधरता= कुन्दकुन्दाचार्य मूल-उद्धारक/कर्ता हैं, अमृतचंद्र टीका के करता= और अमृतचंद्राचार्य उसकी टीका के कर्ता हैं॥ 21 ॥

समैसार-नाटक सुखदानी= समयसार- नाटक सुखदायक है, टीका-सहित संस्कृत-वानी= संस्कृतभाषा की टीका के साथ, पंडित पढ़ै सु दिढ़मति बूझै= पंडितजन पढ़ते हैं, विशेष-ज्ञानी समझते हैं, अलपमतीकौ अरथ न सूझै= अल्पबुद्धि-जीवों को उसका अर्थ समझ में नहीं आता था॥ 22 ॥

विशेषार्थ :— इन दोनों-छंदों में कवि ने 'नाटक समयसार' की रचना क्यों हुई?— इसका सुंदर-वर्णन किया है।

सर्वप्रथम महान्-ग्रंथ 'समयसार' जी की रचना 'गाथा-छंद' में 'आचार्य कुन्दकुन्द देव' ने की, जो कि प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। उसके बाद जब 'समयसार जी' ग्रंथ 'आचार्य अमृतचंद्र' के हाथों में आया, तो उन्होंने इन गाथाओं का रहस्य खोलते हुये 'आत्मख्याति' नामक टीका लिखी, जो संस्कृत-भाषा में निबद्ध है। इस टीका के बीच-बीच में उन्होंने कई भावप्रवण-पद्य लिखे हैं, जिन्हें 'समयसार-कलश' कहा गया है। जिन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि मानो आचार्यदेव ने 'समयसार-रूपी मंदिर' के ऊपर कलशारोहण किया हो।

इतना महान्-ग्रंथ उपलब्ध होने के बाद कविवर बनारसीदास जी के सामने एक समस्या थी कि उस समय जनभाषा-हिन्दी थी, और मूल-ग्रंथ 'प्राकृत-भाषा' में और टीका 'संस्कृत-भाषा' में होने के कारण जनसामान्य को समझने के लिए बहुत-कठिन था। परिणाम यह होता था कि पंडित और विशेष-ज्ञानीजन तो उसका अर्थ समझते थे, पर अल्पबुद्धि-जीवों/जनसामान्य की समझ से वह बाहर था।

(चौपाई)

पांडे राजमल्ल-जिनधर्मी, समैसार-नाटक के मर्मी।

तिन गिरंथ की टीका कीनी, 'बालबोध' सुगम करि दीनी॥ 23॥

इहि-विधि बोध-वचनिका फैली, समै पाय अध्यातम-सैली।

प्रगटी जगमाँही जिनवानी, घर-घर नाटक-कथा बखानी॥ 24॥

शब्दार्थ :— पांडे राजमल्ल जिनधर्मी= पांडे राजमल्ल जी जिनधर्म के अनुयायी, समैसार-नाटक के मर्मी= समयसार-नाटक के मर्म को जाननेवाले हैं, तिन गिरंथ की टीका कीनी= उन्होंने इस ग्रंथ की टीका की, बालबोध सुगम करि दीनी= जिसका नाम 'बालबोधिनी' था, जिसमें (समयसार के गांभीर्य को बालबुद्धि-जनों के लिये भी) सरल कर दिया है॥ 23॥

इहि-विधि बोध-वचनिका फैली= इसप्रकार बालबोधिनी-टीका का सबजगह प्रचार-प्रसार होने लगा, समै पाय अध्यातम-सैली प्रगटी= समय के साथ अध्यात्म की शैली भी प्रगट हुई, जगमाँही जिनवानी घर-घर नाटक कथा बखानी= लोक में सर्वत्र जिनवाणी की और घर-घर 'नाटक-समयसार' की चर्चा होने लगी॥ 24॥

विशेषार्थ :— कविवर आगे कहते हैं कुछ समय पश्चात् जैनधर्म के विशेष-श्रद्धालु 'पांडे राजमल्ल जी' हुये, जो 'समयसार नाटक' के मर्म से भली-भाँति परिचित थे। फिर उन्होंने इस ग्रंथ पर सरल-भाषा में 'बालबोधिनी' नामक टीका लिखी और इसके मर्म/रहस्य का बहुत अच्छे से स्पष्टीकरण किया, और अपने नाम के अनुरूप बालबोध के समान सरल कर दिया है। फिर कविवर बनारसीदास जी के काल में प्रचलित आध्यात्मिक-चर्चा की गोष्ठियों में 'बालबोधिनी-टीका' की चर्चा हुई और तब कविवर बनारसीदास जी ने इसके आधार पर अपने सुंदर-कवित्तों की रचना की। और जो 'समयसार-नाटक' अभी तक गद्यरूप में था, उसे बहुत ही सरलता और सुंदरता के साथ पद्यरूप में प्रस्तुत किया।

परिणामस्वरूप जो जिनवाणी अभी तक अलमारियों में विराजमान थी, जिसकी मात्र पूजा होती थी, घर-घर उसका वाचन और गायन होने लगा। कविवर बनारसीदास जी द्वारा रचित-छंद सरल-भाषा और गेयात्मक होने के कारण चारों ओर 'नाटक-समयसार' के छंदों की धूम मच गई।

(चौपाई)

नगर-आगरे-माँहि विख्याता, कारन पाइ भए बहु-ग्याता।

पंच-पुरुष अति-निपुन प्रवीने, निसि-दिन ग्यान-कथा रस-भीने॥ 25॥

(दोहा)

रूपचंद-पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज-नाम।
तृतिय भगोतीदास-नर, कौरपाल-गुनधाम॥ 26॥
धर्मदास ये पंचजन, मिलि बैठै इक ठौर।
परमारथ-चरचा करै, इनके कथा न और॥ 27॥

शब्दार्थ :— नगर-आगरे-माँहि विख्याता= प्रसिद्ध 'आगरा-नगर' में, कारन पाइ भए बहु-ग्याता= निमित्त पाकर बहुत से ज्ञानी हुये, पंच-पुरुष अति-निपुन प्रवीने= उनमें से पाँच-पुरुष अत्यंत-बुद्धिमान् थे, निसिदिन ग्यान-कथा रस-भीने= रात-दिन ज्ञान/आत्मचर्चा के आनंद में ही मग्न रहते थे॥ 25॥

रूपचंद-पंडित प्रथम= पहले 'रूपचंद पंडित', दुतिय चतुर्भुज नाम= दूसरे पंडित का नाम 'चतुर्भुज', तृतिय भगोतीदास नर= तीसरे पंडित 'भगवतीदास', कौरपाल गुनधाम= चौथे पंडित गुणों के धनी 'कुँवरपाल जी'॥ 26॥
धर्मदास= (पाँचवे पंडित) 'धर्मदास', = ये पंचजन मिलि बैठै इक ठौर= पाँचों-सज्जन एकसाथ/एकस्थान पर मिल-बैठकर, परमारथ-चरचा करै= परमार्थ-तत्त्व की ही चर्चा करते थे, इनके कथा न और= कोई दूसरी बात नहीं करते थे॥ 27॥

विशेषार्थ :— यह घटना प्रसिद्ध-नगर आगरा की है। 'समयसार'-नाटक के स्वाध्याय का सुयोग पाकर कुछ व्यक्ति विशेष-ज्ञानी हुये। जिनमें से पाँच-विद्वानों की चर्चा कवि ने यहाँ की है, जो दिन-रात स्वाध्याय और आत्मचर्चा में लीन रहते थे।

पहले विद्वान् थे 'रूपचंद' पंडित, दूसरे विद्वान् जिनका नाम 'चतुर्भुज' था, तीसरे विद्वान् 'भगवतीदास', चौथे विद्वान् 'कुँवरपाल', और पाँचवें विद्वान् 'धर्मदास' थे। ये सभी विद्वान् एक साथ बैठकर एकमात्र आत्म-स्वरूप की ही चर्चा करते थे, संसार की किसी भी प्रकार की चर्चा इनके बीच नहीं होती थी।

(दोहा)

कबहूँ नाटक-रस सुनै, कबहूँ और सिद्धंत।
कबहूँ बिंग बनाइकै, कहै बोध-विरतंत॥ 28॥
चित-कौरा करि धरमधर, सुमति-भगोतीदास।
चतुरभाव थिरता भये, रूपचंद-परगास॥ 29॥

शब्दार्थ :— कबहूँ नाटक-रस सुनै= कभी (समयसार) नाटक का रस/रहस्य सुनते हैं, कबहूँ और सिद्धंत= कभी अन्य सिद्धांत/शास्त्र सुनते हैं, कबहूँ बिंग बनाइकै= और कभी युक्ति उपस्थित करके कहै बोध विरतंत= बोधपरक विस्तृत-चर्चा करते थे॥ 28॥

चित-कौरा करि= चित्त/परिणाम कौरा/मुलायम करके, धरमधर= धर्म के धारक (धर्मदास जी) थे, सुमति-भगोतीदास= भगवतीदास सुबुद्धिवान् थे, चतुरभाव थिरता भये= चतुरभाव-वाले चतुर्भुज स्थिरमति थे, रूपचंद-परगास= रूपचंद जी प्रकाश के समान (अपने व दूसरों के उपकारी) थे॥ 29॥

विशेषार्थ :— इन-छंदों में उन विद्वानों की विशेषताओं का वर्णन करते हुये कविवर कहते हैं "अथाह-जिनवाणी में से इन विद्वानों के बीच चर्चा का विषय मुख्यतः तो 'नाटक-समयसार' ही रहता था, कभी-कभार सिद्धांतशास्त्र और कभी किसी अन्य तात्त्विक-विषय की भी चर्चा कर लेते थे। ये सभी विषय का खुलासा करने के लिये स्वयं ही तर्क खड़े करते और फिर स्वयं ही विस्तार से चर्चा करके

उसका समाधान भी खोजते।"

नाम के अनुरूप इन पाँचों विद्वानों के स्वभाव और गुणों की चर्चा करते हुए बनारसीदास जी कहते हैं, 'कुँवरपाल जी' तो गुणों के धनी थे, कोमल चित्त वाले 'धर्मदास जी' 'धर्मधारक' थे अर्थात् मंद-कषायी और धर्मानुकूल-आचरण करते थे, 'भगवतीदास' सुमतिवान् थे अर्थात् सम्यक् और तीक्ष्ण-बुद्धिवाले थे, 'चतुर्भुज जी' के परिणामों में स्थिरता थी अर्थात् शांत-परिणामी थे, और 'रूपचंद जी' प्रकाश के समान थे अर्थात् उस विषय को स्वयं भी समझते थे और दूसरों को भी समझाते थे।

(चौपाई)

जहाँ-तहाँ जिनवानी फैली, लखै न सो जाकी मति-मैली।

जाकै सहज बोध-उतपाता, सो ततकाल लखै यह बाता॥ 30॥

शब्दार्थ :- जहाँ-तहाँ जिनवानी फैली= सर्वत्र जिनवाणी का प्रसार हुआ, लखै न सो जाकी मति-मैली= जिसकी बुद्धि मलिन थी, उसे समझ में नहीं आयी (या इसकी रुचि नहीं हुई), जाकै सहज-बोध उतपाता= जिसके सहज-ज्ञान की उत्पत्ति हुई, सो ततकाल लखै यह बाता= उसे यह बात तत्काल दिखी।

विशेषार्थ :- कविवर कहते हैं उन पाँचों-विद्वानों के प्रयास से सर्वत्र जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हुआ। लेकिन फिर भी जिनकी बुद्धि मलिन थी अथवा जो विषय-कषाय में अति-तल्लीन थे, उन्हें इन अमूल्य-जिनवचनों का मर्म समझ में नहीं आया, और वे कोरे ही रह गये। लेकिन जो अल्प-रुचिवान् भी थे, अर्थात् जिन्हें संसार में अति-अनुरक्ति नहीं थी; उन्हें इन जिनवचनों का मर्म सहज समझ में आया, और उन लोगों ने उसका भरपूर-लाभ लिया।

(दोहा)

घट-घट-अंतर जिन बसै, घट-घट अंतर जैन।

मति-मदिरा के पानसौं, मतवाला समुझै न॥ 31॥

शब्दार्थ :- घट-घट अंतर जिन बसै= प्रत्येक हृदय में भगवान्-आत्मा का वास है, घट-घट अंतर जैन= प्रत्येक हृदय में जैनत्व है, मति-मदिरा के पानसौं= मिथ्या-बुद्धिरूपी मदिरा के पीने से, मतवाला समुझै न= (मान के) नशे में धुत प्राणी इसको समझ नहीं पाता है।

विशेषार्थ :- कविवर आगे कहते हैं सत्य तो यही है, कि हर जीवात्मा स्वयं भगवान् है; अंतरंग से प्रत्येक में जैनत्व भी विद्यमान है; परन्तु जैसे मदिरापान करनेवाले जीव को मदिरा का नशा होने पर कुछ नहीं सूझता; ठीक उसीप्रकार ये जीवात्मा भी अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा का पान करता आ रहा है, सो उस मोह-मदिरा के नशे में इसे अपना वास्तविक-स्वरूप दिखाई नहीं देता।

(चौपाई)

बहुत बढ़ाई कहाँलौं कीजै, कारिजरूप बात कहि लीजै।

नगर-आगरे-माँहि विख्याता, बनारसी नाम लघु-ग्याता॥ 32॥

तामैं कवित-कला चतुराई, कृपा करैं ये पाँचों-भाई।

पंच-प्रपंच-रहित हिय खोलै, ते बनारसीसौं हँसि बौलै॥ 33॥

नाटक-समैसार हित जीका, सुगमरूप राजमली-टीका।

कवितबद्ध-रचन जो होई, भाषा-ग्रंथ पढ़ै सब कोई॥ 34॥

तब बनारसी-मनमँहि आनी, कीजै तो प्रगटै जिनवानी।
पंच-पुरुष की आज्ञा लीनी, कवितबद्ध की रचना कीनी॥ 35॥

शब्दार्थ :- बहुत बढ़ाई कहाँलौ कीजै= बहुत-प्रशंसा कहाँ तक करूँ, कारिजरूप बात कहि लीजै= काम की बात कहता हूँ, नगर-आगरे-माँहि विख्याता= आगरा-नगर जो विख्यात है, बनारसी नाम लघु-ग्याता= (वहाँ) बनारसी नाम का छोटा-सा एक अल्पज्ञानी था॥ 32॥

तामैं कवितकला-चतुराई= उनमें काव्य-रचना की कला का कौशल था, कृपा करैं ये पाँचों-भाई= इन पाँचों विद्वान् भाईयों की उनपर कृपा थी, पंच प्रपंच-रहित हिय खोलै= इन पाँचों-भाईयों ने निष्कपट, सरल-हृदय से, ते बनारसीसौ हँसि बोलै= बनारसीदास से हँसकर कहा॥ 33॥

नाटक-समैसार हित जीका= नाटक-समयसार (मूल-ग्रंथ) जीव के लिए हितकारी है, सुगमरूप राजमली-टीका= राजमल जी की टीका उसे समझने के लिये आसान-तरीका है, कवितबद्ध रचना जो होई= यदि इसकी काव्यबद्ध-रचना हो जाये, भाषा-ग्रंथ पढ़ै सब कोई= तो इस भाषा-ग्रंथ को सभी पढ़ सकेंगे॥ 34॥

तब बनारसी-मनमँहि आनी= तब बनारसीदास के मन में यह बात जँच गयी कि, कीजै तो प्रगटै जिनवानी= यदि मैं ऐसा करूँ, तो जिनवाणी का बहुत-प्रचार होगा, पंच-पुरुष की आज्ञा लीनी= पाँचों-पुरुषों की आज्ञा लेकर (इसकी), कवितबद्ध की रचना कीनी= छंदबद्ध काव्य-रचना की॥ 35॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने उस घटनाक्रम का वर्णन किया, जिससे उन्हें नाटक-समयसार को छंदबद्ध करने की प्रेरणा मिली।

कविवर आगे कहते हैं "बहुत प्रशंसा क्या करूँ? मैं तो अति-अल्प-मतिवान् हूँ" अर्थात् समयसार नाटक में अपार-गाम्भीर्य है, और मैं तो बहुत ही अल्पबुद्धि वाला हूँ। अर्थात् मेरे से इसका संपूर्ण-वर्णन करना अत्यन्त-कठिन है, इसलिए सीधे काम की बात कहता हूँ।

प्रसिद्ध-नगर आगरा में एक अल्पज्ञानी बनारसीदास हुये, जो छंदोबद्ध काव्य-रचना में निपुण थे। उपर्युक्त पाँचों विद्वान्-भाइयों का उन पर अपार-स्नेह था। एक दिन बिना किसी प्रपंच के सहज ही प्रमुदित-भाव से वे बनारसीदास से बोले— 'नाटक-समयसार सभी-जीवों के लिए बहुत हितकारी है, 'पांडे राजमल्ल जी' ने उस पर भाषा-टीका लिखकर उसे सरल भी कर दिया है; परन्तु यदि यह काव्यरूप में अर्थात् छंदबद्ध हो जाये, तो सभी जीव इसको आसानी से पढ़ व समझ सकेंगे।"

उन पाँचों विद्वान्-भाईयों की बात सुनकर बनारसीदास के मन में आया कि "यदि मैं ऐसा करूँ, तो जिनवाणी का अधिक प्रचार-प्रसार होगा।" और फिर उन पंच-पुरुषों या पाँचों-विद्वान् भाईयों की बात मानकर कविवर बनारसीदास जी ने 'नाटक समयसार' के रूप में इसे छंदों में निबद्ध कर दिया।

(चौपाई)

सोरहसौ-तिरानवे बीते, आसौ-मास सित-पच्छ बितीतै।
तिथि-तेरस रविवार प्रवीना, ता-दिन ग्रंथ समापत कीना॥ 36॥

(दोहा)

सुख-निधान सक-बंध नर, साहिब-साह किरान।
सहस-साह सिर-मुकुट-मनि, साहजहां-सुलतान॥ 37॥
जाकै राज सुचैनसौ, कीनौ आगम सार।
ईति-भीति व्यापी नहीं, यह उनकौ उपगार॥ 38॥

शब्दार्थ :- सोरहसौ-तिरानवे बीतै= संवत् सोलह सो तिरानवे (1693) के, आसौ-मास सित-पच्छ बितीतै= आश्विन-माह का शुक्ल-पक्ष लगभग व्यतीत होने पर, तिथि-तेरस रविवार प्रवीना= त्रयोदशी-तिथि, शुभ रविवार के दिन, ता-दिन ग्रंथ समापत कीना= उस-दिन ग्रंथ (रचना) पूर्ण किया॥ 36॥

सुख-निधान सक-बंध नर साहिब-साह किरान= सुखों के निधान, दुष्टों को बाँधने/दंडित करनेवाले, मुगल-शहंशाह, सहस-साह सिर-मुकुट-मनि= हजारों मुकुटबद्ध राजाओं के शिरोमणि साहजहां-सुलतान= शाहजहाँ नामक सुल्तान/बादशाह थे॥ 37॥

जाकै राज सुचैनसौ= जिनके राज्य में सुख-चैन से, कीनौ आगम-सार= आगम के सारभूत इस ग्रंथ की रचना की, ईति-भीति व्यापी नहीं= कोई ईति-भीति आदि उपद्रव-बाधा का भय/कष्ट नहीं हुआ, यह उनकौ उपगार= ये उनका उपकार है॥ 38॥

विशेषार्थ :- इन-छंदों में कवि ने नाटक-समयसार का रचनाकाल और समकालीन-सम्राट् का परिचय दिया है। (कविवर के शब्दों के अनुरूप ही यहाँ लिखा जा रहा है, न कि मेरी ओर से किसी की महिमा की जा रही है।)

पंच-पुरुषों की बात मानकर कवि ने 'समयसार' को छंदबद्ध करना प्रारंभ किया। और संवत् 1693, आश्विन माह के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी-तिथि, रविवार के दिन इस अमूल्य काव्य-कृति 'नाटक-समयसार' को पूर्ण किया।

उस समय सुखों के निधान हजारों-राजाओं में श्रेष्ठ बादशाह 'शाहजहाँ' का शासन चल रहा था। कविवर कहते हैं उनके शासनकाल में बिना किसी उपद्रव, बाधा आदि के इस ग्रंथ को भलीभाँति पूर्ण किया, ये 'सम्राट्' का हमारे ऊपर उपकार है।

(सवैया इकतीसा)

तीनसै-दसोत्तर सोरठा, दोहा-छंद दोऊ, युगलसै-पैंतालीस इकतीसा आने हैं।

छयासी-चौपाई, सैंतीस-तेईसे-सवैया, बीस-छप्पै अठारह-कवित्त बखाने हैं॥

सात पुनि ही अडिल्ल, चारि-कुंडलिए मिलि, सकल सातसै-सत्ताइस ठीक ठानै हैं।

बत्तीस-अच्छर के सिलोक कीने लेखै, ग्रंथ-संख्या सत्रह सै सात अधिकानै हैं॥ 39॥

शब्दार्थ :- तीनसै-दसोत्तर सोरठा दोहा-छंद दोऊ= तीन सौ दस(310) सोरठा और दोहे दोनों-छंद, युगलसै-पैंतालीस इकतीसा आने हैं= दो-सौ-पैंतालीस (245) इकतीसा -छंद हैं, छयासी-चौपाई, सैंतीस-तेईसे सवैया= छयासी(86) -चौपाई और सैंतीस (37)-सवैया तेईसा हैं, बीस-छप्पै अठारह-कवित्त बखाने हैं= बीस (20)-छप्पय और अठारह (18)-कवित्त का वर्णन है, सात पुनि ही अडिल्ल चारि कुंडलिए मिलि= फिर सात (7)-अडिल्ल छंद और चार(4)-कुंडलिए, सकल सातसै-सत्ताइस ठीक ठानै हैं= ऐसे कुल मिलाकर सात सौ सत्ताइस (727) छंद हैं, बत्तीस-अच्छर के सिलोक कीने लेखै= बत्तीस-अक्षर के श्लोकप्रमाण के अनुसार, ग्रंथ संख्या सत्रह सै सात अधिकानै हैं= यह ग्रंथ सत्रह सौ सात(1707) श्लोकप्रमाण है॥ 39॥

विशेषार्थ :- इस-छंद में कवि ने 'नाटक समयसार' नामक कृति के छंदों एवं परिमाण का परिचय दिया है।

छंद-रचना की दृष्टि से इस ग्रंथ में 310 सोरठा और दोहे हैं, 245 सवैया इकतीसा हैं, 86 चौपाई, 37 सवैया तेईसा, 20 छप्पय, 18 कवित्त, 7 अडिल्ल और 4 कुंडलिया— इसप्रकार कुल मिलाकर 727 छंद हैं। 32 अक्षरोंवाले श्लोक के अनुसार इसकी ग्रंथ-संख्या 1707 श्लोकप्रमाण है।

समयसार आतम-दरब, नाटक-भाव अनंत।

सो है आगम नाममैं, परमार्थ-विरतंत॥ 40॥

शब्दार्थ :— समयसार आतम-दरब= समयसार तो आत्म-द्रव्य है, नाटक-भाव अनंत= नाटक के भाव अनंत हैं, सो है आगम नाममैं परमार्थ विरतंत= वह नाम से ही आगम है और उसमें परमार्थ-वृत्तान्त है।

विशेषार्थ :— इस अंतिम-छंद में निष्कर्षरूप में कविवर कहते हैं कि 'समयसार' तो स्वयं आत्मद्रव्य है, और 'नाटक' के रूप में इन सभी अधिकारों में अनंतभाव वर्णित हुये, यह नाम से ही आगमरूप ग्रंथ है और इसमें परमार्थ-तत्त्व का विस्तार से वर्णन किया गया है।

टीकाकर्त्री के द्वारा रचित 'अन्त्य-मंगल पाठ'

प्रथम नमूँ श्रीवर्द्धमान को, जिनशासन-नायक तीर्थकर।
पुनः नमूँ श्री भद्रबाहु-स्वामी, पंचम-श्रुतकेवलि-प्रवर॥
तदनु श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव को, जो हैं इस युग के प्रधान।
समयसार-परमागम के, उद्धरणकर्ता श्रीगुरु-श्रुतधर॥ 1॥

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य देव को, सविनय नमूँ मैं इसके बाद।
जिनकी आत्मख्याति-वृत्ति में, संगृहीत श्रुत-आत्मप्रवाद॥
मंगलमय-कलशों की रचना, इसी वृत्ति में हुई सुखकार।
जिन पर आधारित पांडे-राजमल्ल जी की टीका संवाद॥ 2॥

इन सबकी रचनाओं से, अनुप्राणित कवि का यह नाटक है।
मूल-तत्त्व तो इन सबका है, पर कवि की रचना मौलिक है॥
शब्द, अर्थ अरु प्रबन्ध-दृष्टि से, अद्भुत-कृति यह है सुखकार।
बनारसीदास जी का नव-रसमय, अतुलनीय यह नाटक है॥ 3॥

वर्ण-शब्द अरु अर्थ-भाव का, किया यथायोग्य सुप्रयोग यहाँ।
छन्द-रस-रीति-अलंकार आदि, का भी समुचित रखा ध्यान यहाँ॥
अस्पष्टता अरु विस्तार की भी, हरजगह मैंने रखी है सावधानी।
मूल-अभिप्रायों की रक्षा-हित, सर्वदा तत्पर मैं रही जहाँ-तहाँ॥ 4॥

इन सब महाज्ञानियों की, इस श्रुताराधना का है यह सार।
मैं कैसे तिर पाती इसमें, सुज्ञान-सिन्धु यह अगम-अपार॥
ऊपर से मैं बुद्धिहीन अरु, लेखन-कौशल से हूँ अनभिज्ञ,
विद्वज्जन सब क्षमा करें, जो त्रुटियाँ इसमें हुई हैं यहाँ अपार॥ 5॥

॥ इति श्रीनाटक-समयसाराख्य-ग्रन्थस्य 'जिज्ञासु-जन-रंजनी-टीका' परिसमाप्ता ॥

॥ भद्रं भूयात्, जैनं जयतु शासनम् ॥



नाटक-समयसार के पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका

पृष्ठांक		पृष्ठांक	
अ		अमृतचन्द-मुनिराज-कृत	403
अचल-अखंडित-ग्यानमय	333	अलख-अमूरति-अरूपी	221
अच्छर-अरथमै मगन रहै सदा	400	अल्प-ग्यान लघुता लखै	445
अजथारथ मिथ्या-मृषा	29	अविनासी अविकार परमरस-धाम हैं	7
अतीचार ए पंच-प्रकारा	422	अशुभमें हारि शुभ में जीति यहै	377
अद्भुत-ग्रन्थ अध्यात्म वानी	340	अष्ट-महामद अष्ट-मल	418
अध-अपूव्व-अनिवृत्ति-त्रिक	415	असंख्यात लोक-परवांन जे	202
अनुभव चिंतामनि-रतन	147	अस्तिरूप नासति अनेक एक	392
अनुभव चिंतामनि-रतन जाके हिय	147	अहंबुद्धि मिथ्यादसा	196
अनुभौके रसकौ रसायन कहत	16	आ	
अपनेही गुन-परजायसौ प्रवाहरूप	41	आचारज कहैं जिनवचनकौ	332
अपराधी मिथ्यामती	243	आठ-मूलगुण संग्रहै	432
अब अनिवृत्तिकरन सुनु भाई !	449	आदि-अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है	37
अब उपशांतमोह गुनथाना	450	आतमकौ अहित अध्यातम	122
अब कछु कहों जथारथ-वानी	463	आतम-सुभाउ परभाउकी	149
अब कवि निज-पूरब दसा	401	आपा-परिचै निज-विषै	417
अब निहचे-विवहार	427	आस्रवकौ अधिकार यह	120
अब पंचम-गुनथानकी	430	आस्रवरूप बन्ध-उतपाता	457
अब वरनों अष्टम-गुनथाना	448	आस्रव संवर-परनति जौलौं	457
अब वरनों इकईस-गुन	429	आसंका अस्थिरता वांछा	419
अब वरनों सप्तम-विसरामा	447	इ	
अब यह बात कहूँ है जैसे	468	इति श्री नाटक ग्रन्थमै	260
अब सुनु कुकवि कहाँ है जैसा	464	इहभव-भय परलोक-भय	162
अमृतचन्द बोले मृदु-वानी	34	इह विचारि संछेपसौं	406

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
इह विधि जो परभावविष	384	एकरूप कोऊ कहै	341
इहि विधि आतम-ग्यान हित	360	एक-वस्तु जैसी जु है	268
इहि विधि जे जागे पुरुष	139	एकादश-प्रतिमा दसा	437
इहि विधि जे पूरन भये	256	एकादश-वेदनीकी, चारितमोहकी	446
इहि विधि जो विपरीत-पख	298	ए जगवासी यह जगत्	214
इहि विधि बोध-वचनिका फैली	469	एते पर बहुरौ सुगुरु	137
इहि विधि वस्तु-व्यवस्था जानै	223	ऐ	
इहि विधि वस्तु-व्यवस्था जैसी	250	ऐते संकट मुनि सहै	444
उ		ऐसी महिमा ग्यानकी	299
उत्तम-पुरुषकी दसा ज्यौ	189	ऐसे मूढ़ कुकवि कुधी	466
उपजै-विनसै थिर रहै	239	ओ	
उपसम-छायककी दसा	427	ओरा धोरबरा निसिभोजन	430
उपसमी-समकिती कै तौ सादि	414	अं	
ऊ		अंतर-दृष्टि-लखाऊ	102
ऊँचे ऊँचे गढ़के कंगूरे	49	अंतर्मुहूरत द्वै घरी	438
ए		क	
एई छहौं दर्व इनहीकौ है	240	कबहूँ नाटक-रस सुनै	470
एक करम-करतव्यता	72	कबहूँ सुमति है कुमतिको	14
एक कोडि-पूरव गिनि लीजै	438	करता करम क्रिया करै	71
एक जीव वस्तुके अनेक	282	करता किरिया करमकौ	94
एक देखिये जानिये	43	करता दरवित-करमकौ	270
एक-परजाइ एक-समैमैं विनसि	276	करता परिनामी-दरव	71
एक-परिनामके न करता दरव	73	करता याकौ कौन है	270
एकमैं अनेक है अनेकहीमैं	285	करनीकि धरणीमैं महा-मोहराजा	315
एकरूप आतम-दरब	42	करनी हित-हरनी सदा	315

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
करम-अवस्थामैं असुद्ध	396	काच बांधै सिरसौ, सुमनि बांधै	183
करम करै, फल भोगवै	290	काज बिना न करै जिय उद्यम	145
करमके चक्रमैं फिरत जगवासी	118	काया चित्रसारीमैं करम परजंक	137
करमके भारी समुझैं न गुनकौ	253	कायासौं विचारै प्रीति, मायाहीसौं	278
करम-पिंड अरु रागभाव	91	काहू एक जैनी सावधान है परम	227
करम-भरम जग-तिमिर-हरन	3	किये अवस्थामैं प्रकट	384
करम-सुभासुभ दोइ	102	क्रिया एक करता जुगल	270
कर्मजाल-जोग हिंसा	180	कीचसौ कनक जाकै नीचसौ	190
कर्मजाल-वर्गनाकौं वास	179	कुगुरु-कुदेव-कुधर्म धर	420
कर्मजाल-वर्गनासौं जगमैं	178	कुंजरकौं देखि जैसैं रोस करि	193
कर्मनिको करता है भोगनिकौ	260	कुटिल कुरूप अंग लगी है	301
करुना वच्छल सुजनता	417	कुन्दकुन्द नाटक-विषैं	340
करै और फल भोगवै	270	कुन्दकुन्द-मुनिराज प्रवीना	334
करै करम सोई करतारा	91	कुन्दकुन्दाचारिज प्रथम गाथाबद्ध	463
कलपित-बात हियै नहिं आनै	463	कुबिजा कारी कूबरी	300
कलावंत कोविद कुसल	26	कुमति बाहिज दृष्टिसौं	331
कही निरजरा की कथा	176	कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम	185
कहै अनातम की कथा	277	कृपा प्रसम संवेग दम	376
कहै विचच्छन-पुरुष सदा मैं एक है	53	केई उदास रहैं प्रभु-कारन	216
कहै विचच्छन मैं रह्यौ	318	केई कहैं जीव-क्षनभंगुर	280
कहै सुगुरु जो समकिती	218	केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर	142
कहौं दसम-गुनथान दुसाखा	450	केई जीव समकित पाइ अर्ध	415
कहौं मुक्ति-पद की कथा	340	केई मिथ्यादृष्टि जीव धरै	329
कहौं सुद्ध-निहचैकथा	15	केई मूढ़-विकल एकंत-पच्छ गहैं	272
कह्यौ प्रथम-गुनथान यह	412	केवलगज्ञान निकट जहैं आवैं	451

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
कै अपनौ-पद आप संभारत	44	ख	
कै तौ सहज-सुभाउ कै	417	खांडो कहिये कनककौ	60
कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार	350	खं विहाय अंबर गगन	24
कोऊ अनुभवी-जीव कहै	232	ख्याति-लाभ-पूजा मन आनै	465
कोऊ एक छिनवादी कहै	358	ग	
कोऊ कुधी कहै ग्यान-माहि	349	गुन-परजैमैं द्रिष्टि न दीजै	328
कोऊ क्रूर कहैं काया जीव	354	गुन-विचार सिंगार	337
कोऊ ग्यानवान कहै ग्यान तौ	394	गुरु-उपदेश कहा करै	373
कोऊ दुरबुद्धि कहै पहले न हुतौ	355	ग्यान-उदै जिन्हके घट अंतर	145
कोऊ पक्षपाती जीव कहै	356	ग्यानकला घट-घट बसै	147
कोऊ पसु ग्यानकी अनन्त-विचित्राई	348	ग्यानकला जिनके घट जागी	158
कोऊ बालबुद्धि कहै	359	ग्यानकौ उजागर सहज सुखसागर	7
कोऊ बुद्धिवन्त-नर निरखै सरीर	38	ग्यानकौ कारन ज्ञेय आतमा	345
कोऊ ग्यानवान कहै	394	ग्यानकौ सहज-ज्ञेयाकाररूप	288
कोऊ महामूर्ख कहत एक पिंड	357	ग्यान-गरब मति-मंदता	422
कोऊ मिथ्यामती लोकालोक	347	ग्यानचक्र मम लोक	165
कोऊ मूढ़ कहै जैसें प्रथम सवांरी	346	ग्यान चेतानके जगे	309
कोऊ मूर्ख यौ कहै	297	ग्यान जीवकी सजगता	309
कोऊ मंद कहै धर्म-अधर्म	351	ग्यानद्रिष्टि जिन्हके घट-अंतर	385
कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप	352	ग्यानधर्म अविचल सदा	299
कोऊ शिष्य कहै गुरु-पांही	96	ग्यान बोध अवगम मनन	27
कोऊ शिष्य कहै स्वामी !	103	ग्यानभान-भासत प्रवान	313
कोऊ शिष्य कहै स्वामी ! राग-दोष	296	ग्यान-भाव ग्यानी करै	79
कोऊ सुन्नवादी कहै ज्ञेयके	353	ग्यान मिथ्यात न एक	91

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
ग्यानवंत अपनी कथा	311	चेतन करता भोगता	273
ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु है	81	चेतनजी ! तुम जागि विलोकहु	366
ग्यान-सकति वैराग्य-बल	158	चेतनजी ! जीव-अजीव अचेतन	63
ग्यान-सरूपी आतमा	79	चेतन-मंडित अंग-अखंडित	237
ग्यानावरनीकै गयैं जानियै जु है	258	चेतनरूप अनूप अमूरति	12
ग्यानी ग्यानमगन रहै	154	चेतन-लक्षन आतमा, आतम	233
ग्यान भेदग्यानसौं विलेछि	223	चेतन-लच्छन आतमा, जड़	206
ग्यायक-भाव जहां तहां	308	चेतनवंत अनंत-गुन, परजै	17
ग्रंथ-उक्त पथ उथपि जो	409	चेतनवंत अनन्त-गुन, सहित	59
ग्रंथ रचै, चरचै सुभ-पंथ	133	चौदह-गुनथानक-दसा	457
ग्रीषममैं धूपथित सीतमैं अकंप	443	च्यारी खिपै त्रय उपसमै	425
घ		छ	
घट-घट अंतर जिन बसै	471	छपकश्रेणि आठे नवैं	452
घटमैं है प्रमाद जब ताई	251	छयउपसम वरतै त्रिविधि	425
च		छय-उपसम वेदक-खिपक	427
चलै निरखि भावै उचित	441	छिनमैं प्रवीन छिनही मैं	218
चाकसौ फिरत जाको संसार	386	छीनमोह पूरन भयो	452
चारितमोहकी च्यारी-मिथ्यातकी	423	छै षट वेदै एक जो	426
चित-कौरा करि धरमधर	470	छंद सबद अच्छर अरथ	464
चित-प्रभावना भावजुत	418	ज	
चिदानन्द चेतन अलख	24	जगतके प्राणी जीति ह्वै रह्यौ	458
चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ	138	जगत-चक्षु आनन्दमय	333
चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्म	264	जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप	212
चूँघा साधक मोखकौ	376	जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै	67
चेतन-अंक जीव लिखि लीन्हा	266	जगवासी अग्यानी त्रिकाल	263

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
जगवासी-जीविनिसौ गुरु-उपदेस	136	जाकी परम-दसा-विषै	374
जगी सुद्ध समकित-कला	389	जाके उदै होत घट-अंतर	94
जथा अंधके कंधपर	309	जाके उर-अंतर निरन्तर	141
जदपि समल-विवहारसौं	42	जाके उर-अंतर सुद्रिष्टिकी	405
जब चेतन संभारि निज-पौरुष	59	जाके उर कुबिजा बसै	307
जब जाकौ जैसौ उदै	181	जाके घट-ऐसी दसा	389
जब जीव सोवै-तब समुझै सुपन	140	जाके घट अंतर मिथ्यात	389
जब यह वचन प्रकट सुन्यौ	275	जाके चेतनभाव, चिदानन्द सोइ	236
जब-लग ज्ञान-चेतना न्यारी	310	जाके देह-द्युतिसौं दसौं-दिसा	46
जब-लग जीव सुद्धवस्तुकों	184	जाके परगासमैं न दीसैं	119
जब सुबोध घटमैं परगासै	338	जाके मुख-दरससौं भगतके	404
जबहीतैं चेतन विभावसौ उलटि	322	जाके मुकति-समीप	365
जम कृतांत अन्तक त्रिदस	25	जाकै घट-प्रगट-विवेक	10
जमकौसौ भ्राता दुखदाता है	161	जाकै घट समता नहीं	243
जहां काहू जीवकौं असाता उदै	456	जाकै पद सोहत सुलच्छन	43
जहां ग्यान-किरिया मिलै	309	जाकै राज सुचैनसौं	472
जहां च्यारि-परकिति खिपहिं	426	जाकै वचन-श्रवन नहीं	375
जहां-तहां जिनवानी फैली	471	जाकै हिरदैमैं स्याद्वाद-साधना	390
जहां न भाव उलटि अध आवै	449	जाकौं अधो अपूरब अनिवृति	364
जहां न रागादिक-दसा	115	जाकौं तन दुःख-दहलसौं	410
जहां परमात्म-कलाको परकास	177	जाकौं विकथा हित लगै	375
जहां प्रमाद-दसा नहि व्यापै	250	जाति लाभ-कुल-रूप-तप	419
जहांलौं जगतके निवासी जीव	188	जामैं धूमकौ न लेस वातको न	155
जहां सुद्ध-ग्यानकी कला उदोत	307	जामैं बालपनौ तरुनापौ	47
जाकी दुखदाता-घाती-चौकरी	452	जामैं लोकवेद नांहि थापना	242

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
जामैं लोकालोकके सुझाव	50	जीव चेतना-संजुगत	81
जासौं तू कहत यह संपदा हमारी	213	जीव-तत्व अधिकार यह	57
जाहि फरसकै जीव गिर	450	जीव निरजीव करता करम	28
जाहि समै जीव देहबुद्धिकौ	67	जीव मिथ्यात न करै	93
जिनपद नाहि शरीरकौ	48	जूवा आमिष मदिरा दारी	376
जिन-प्रतिमा जन-दोष निकंदै	406	जे अविकलपी अनुभवी	252
जिन-प्रतिमा जिन-सारखी	404	जे असुद्ध-परनति धरैं	269
जिनि ग्रंथी-भेदी नहीं	411	जे केई निकट-भव्यरासी	116
जिन्हकी चिहुंटी चिमटासी	248	जे जिय मोह-नींदमें सोवैं	182
जिन्हकी सहज-अवस्था ऐसी	256	जे जीव दरबरूप तथा	387
जिन्हकी सुदृष्टिमैं अनिष्ट-इष्ट	160	जे जे मनवंचित-विलास	151
जिन्हके देहबुद्धि घट-अंतर	311	जे जे मोह-करमकी परनति	203
जिन्हके मिथ्यामति नहीं	246	जेते जगवासी-जीव	109
जिन्हके हियेमें सत्य-सूरज	148	जेते जीव पंडित खयोपसमी	116
जिन्हकै दरब मिति-साधन	230	जेते मनगोचर प्रकट-बुद्धि	111
जिन्हकै धरम-ध्यान-पावक	247	जे दुरबुद्धि-जीव	368
जिन्हकैं सुमति जागी	237	जे निज पूरब-कर्म-उदै	160
जिन्हके वचन उर धारत	6	जे परमादी आलसी	251
जिय करता जिय भोगता	271	जे परिनाम भए नहिं कबही	448
जिहि उतंग चढ़ि फिर पतन	370	जे प्रमाद-संजुगत गुसाईं	251
जीव अनादि-सरूप मम	316	जे मिथ्यामति-तिमिरसौं	269
जीव अरु पुदगल करम रहैं	267	जे विवहारी मूढ़-नर	330
जीव करम-करता नहि ऐसैं	261	जे समकिती-जीव समचेती	255
जीव करम-संयोग	295	जैसैं उसनोदकमैं उदक-सुभाव	78
जीव ग्यानगुन-सहित	69	जैसे एक-जल नानारूप	89

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
जैसे रजसोधा रज सोधिकैं	125	जैसेँ नाना-बरन पुरी बनाइ	204
जैसेँ एक पाकौ-आंबफल	393	जैसेँ निसि-वासर कमल	130
जैसे वट-वृच्छ एक, तामै फल हैं	461	जैसेँ पुरुष लखै परवत चढ़ि	252
जैसेँ करवत एक काठ	64	जैसेँ फिटकड़ी लोद हरड़ेकी	152
जैसेँ काहू चतुर संवारी है	286	जैसेँ बनवारीमें कुधातके	34
जैसेँ काहू चंडाली जुगल-पुत्र	95	जैसेँ भूप कौतुक-सरूप करै	129
जैसेँ काहू जंगलमें सलिल-धारा	466	जैसेँ मतवारौ कोऊ कहै	107
जैसेँ काहू देसको बसैया	153	जैसेँ मह-धूपकी तपतिमें	76
जैसेँ काहू नगरके वासी	371	जैसेँ महारतनकी ज्योतिमें	88
जैसेँ काहू बाजीगर चौहटै	87	जैसेँ महिमंडलमें नदीकौ प्रवाह	205
जैसेँ काहू रतनसौ बींध्यो है	13	जैसेँ मुगध धान पहिचानै	330
जैसेँ कोउ एकाकी-सुभट	416	जैसेँ मृग मत्त-वृषादित्यकी	197
जैसेँ काहू कूकर छूधित	200	जैसेँ रवि-मंडलके उदै	35
जैसेँ कोऊ जन गयो	52	जैसेँ राजहंसके बदनके	77
जैसेँ कोऊ पातुर बनाय	55	जैसेँ रंक-पुरुषकै भायें	192
जैसेँ कोऊ मनुष्य-अजान	224	जैसेँ सलिल-समूहमें	18
जैसेँ कोऊ मूरख महा-समुद्र	12	जैसेँ सांख्यमति कहैं अलख	274
जैसेँ कोऊ सुभट सुभाइ	191	जैसेँ जो दरब ताके तैसेँ गुन	69
जैसेँ गजराज नाज-घासके	76	जैसेँ जो दरब तामैं तैसेँ सुभाउ	156
जैसेँ गजराज परयो	181	जैसेँ निरभेदरूप निहचै	322
जैसेँ चंद-किरनि प्रगटि भूमि	293	जो अडोल परजंक-मुद्राधारी	454
जैसेँ छैनी लोहकी	228	जो अपनी दुति आप विराजत	29
जैसेँ तृण-काठ-बांस	34	जो अरि-मित्र समान विचारै	433
जैसेँ नर खिलार-चौपरिकौ	305	जो इकंत नय-पच्छ गहि	409
जैसेँ नर खिलार-सतरंजकौ	306	जोई करमउदोत धरि	21

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
जोई जीव वस्तु अस्ति	363	जो मन विषय-कषायमें	220
जोई द्विग-ग्यान चरनातममें	327	जो मिथ्या-दल उपसमै	411
जो उदास है जगतसौं	374	जो मुनि संगतिमें रहै	447
जो उपयोग स्वरूप धरि	21	जो मैं आपा छाड़ि दीनौ	402
जो कबहूँ यह जीव-पदारथ	122	जो विलसै सुख-सम्पदा	370
जो धरै रहै जोगसौं भिन्न	30	जो विवेक-विधि आदरै	436
जो जगकी करनी सब ठानत	206	जो विशुद्ध-भावनि बंधै	20
जो दयालता-भाव सो	326	जो सचित्त-भोजन तजै	434
जो दरवास्त्रव-रूप न होई	110	जो सुछंद वरतै तजि डेरा	437
जो दसधा-परिग्रहको त्यागी	434	जो सुवचन रुचिसौं सुनै	374
जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै	434	जो संवरपद पाइ अनंदै	128
जो दुरमती विकल अग्यानी	268	जो स्व-वस्तु सत्ता-सरूप	168
जो दुहु पनमें एक थौ	275	जो हितभाव सु राग है	144
जो नर सम्यकवंत कहावत	132	जौलौं अष्टकर्म कौ विनास नांही	105
जो नवकरम पुरानसौं	22	जौलौं ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि	157
जो नवकरि जीरन करै	19	ज्यों कलधौत सुनारकी संगति	234
जो नाना-विकल्प गहै	410	ज्यों घट कहिये धीवकौ	61
जो निहचै निरमल सदा	261	ज्यों चिरकाल गड़ी वसुधामहि	52
जो नौ-बाड़ि-सहित विधि साधै	435	ज्यों जगमें विचरै मतिमंद	112
जो पद भौपद-भय हरै	139	ज्यों ज्यों पुगल-बल करै	297
जो परगुन-त्यागंत	171	ज्यों तन कंचुक-त्यागसौं	354
जो पुमान परधन हरै	238	ज्यों दीपक रजनी-समै	299
जो पूरबकृत करम-फल	319	ज्यों नट-एक धरे बहु-भेख	235
जो पूरव सत्ता-करम	22	ज्यों नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि	32
जो बिनु-ग्यान क्रिया अवगाहै	135	ज्यों पंथी ग्रीष्म-समै	18

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
ज्यों माटीमैं कलस होनकी	83	तिहूँ-लोकमांहि तिहूँ-काल सब	187
ज्यों वरषै वरषा-समै	366	तीन-काल अतीत अनागत	245
ज्यों हिय-अंध विकल	265	तीनसै दसोत्तर सोरठा दोहा	473
जहं ध्रुवधर्म कर्मछय-लच्छन	41	तो गरंथ अति-सोभा पावै	340
झ		त्याग-जोग परवस्तु सब	150
झूठी करनी आचरै	243	त्यों सुग्यान जानै सकल	299
ठ		थ	
ठोर-ठोर रक्तके कुंड	210	थविर-कलपि जिन-कलपि	442
ड		थविर-कलपि धर कछुक सरागी	447
डूँघा-प्रभू चूँघा-चतुर	373	थिति पूरन करि जो करम	22
डूँघा सिद्ध कहै सब कोऊ	375	थिति सागर-तेतीस	429
त		द	
तजि विभाग हूँजै मगन	328	दया-दान-पूजादिक विषय	82
तत्त्वकी प्रतीतिसौ लख्यो है	54	दरब-करम करता अलख	287
तन-चेतन विवहार एकसे	51	दरब-करम पुगल-दसा	305
तनता मनता वचनता	19	दरबकी नय परजायनय दोऊ	88
तब बनारसी मनमहिं आनी	472	दरवित ये सातौं विसन	376
ता कारन जगपंथ इत	251	दरसन-ग्यान-चरण त्रिगुनातम	41
तातैं आतम-धरमसौं	314	दरसन-ग्यान-चरण-दसा	326
तातैं चिदभावनि-विषैं	298	दरस विलोकनि देखनौ	27
तातैं भावित-करमकौं	271	दर्व-खेत-काल-भाव च्यारौं	343
तातैं मेरै मतविषैं	275	दर्व-भाव-विधि-संजुगत	433
तातैं विषै-कषायसौं	220	दर्वित-आस्रव सो कहिए जहं	110
तामैं कवित-कला चतुराई	471	दर्सन-विसुद्धकारी बारह विरत	430
तियथल बास प्रेम-रुचि निरखन	435	दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता	162

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
दुरबुद्धी मिथ्यामती	277	निजरूपा आत्म-सकृति	395
दूषण अट्टारह-रहित	454	निपुण विचच्छन विबुध बुध	26
देखु सखी यह ब्रह्मा विराजित	235	निरभिलाष-करनी करै	265
देव-कुदेव सुगुरु-कुगुरु	409	नरभै निराकुल निगम वेद	321
देवमूढ गुरुमूढता	420	नियत एक विवहारसौ	407
देह अचेतन प्रेत-दरी रज	207	निराकार चेतना कहावै दरसन	233
ध		निराकार जो ब्रह्म कहावै	292
धरति धरम-फल हरति	228	निराबाध चेतन अलख	62
धरम-अरथ अरु काम-सिव	185	निसि दिन मिथ्याभाव बहु	90
धरमकौ साधन जु वस्तुकौ	186	निहचै दरबद्रिष्टि दीजै	397
धरम न जानत बखानत	10	निहचै निहारत सुभाव	262
धर्मदास ये पंचजन	470	निहचैमै रूप एक विविहारमै	31
धर्म मैं न संसै सुभकर्म	172	नै-अनंत इहविधि कही	341
धर्मराग विकथा-वचन	439	नंदन-वंदन-श्रुतिकरन	249
धायौ सदा-काल पै न पायौ	219	प	
धीरके धरैया भवनीरके	254	पद सुभाव पूरब उदै	281
ध्यान धरै करै इन्द्रिय-निग्रह	134	परकी संगति जौ रचै	239
न		परकौ पापारंभकौ	436
नख सिख मित परवान	164	परमपुरुष परमेशुर परमज्योति	23
नगर आकरे मांहि विख्याता	469	परम-प्रतीत उपजाय गनधरकीसी	57
नटबाजी विकल्प-दसा	286	परमरूप परतच्छ	169
नाटक समैसार हित जीका	471	परसुभावमै मगन ह्वै	300
नाना-विधि संकट-दसा	447	परिग्रहत्याग जोग-थिर तीनों	255
नाम साध्य-साधक कह्यौ	400	पाटी बांधी लोचनिसों सकुचै	211
निज-निज भाव-क्रिया-सहित	266	पांडे राजमल्ल जिनधर्मी	469

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
पाप अधोमुख एन अघ	25	प्रथम-करन चारित्रकौ	448
पाप-पुन्नकी एकता	109	प्रथम नियत-नय दूजी	86
पाप-बंध पुन्न बंध दुहूं में	98	प्रथम निसंसै जानि	172
पुगलकर्म करै नहिं जीव	80	प्रथम मिथ्यात दूजौ सासादन	407
पुदगल परिनामी-दरब	81	प्रथम सुद्रिष्टिसौ सरीररूप	222
पुन्य सुकृत ऊरधवदन	25	प्रथम सिंगार वीर दूजौ-रस	335
पुव्वकरम विषतरु भए	318	प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ	144
पूरव-करम उदै-रस भुंजै	151	प्रज्ञा धिसना सेमुसी	26
पूरब-अवस्था जे करम-बंध कीने	113	फ	
पूरब-बंध उदय नहिं व्यापै	256	फरस-जीभ-नासिका	166
पूर्व-उदै सनबंध	131	फरस-वरन-रस-गंध	17
पूर्व-बंध नासै सो तो संगीत कला	174	ब	
पंच अकथ परदोष	172	बरनै सब गुनथानके	408
पंच-अनुव्रत आदरै	432	बहुत बढ़ाई कहालौ कीजै	471
पंच-खिपै इक-उपसमै	426	बहुविधि क्रिया-कलेससौ	146
पंच-परकार ग्यानवरनकौ नास	399	बात सुनि चौंकि उठै बातहीसौ	279
पंच प्रमाद-दशा धरे	439	बालापन काहू पुरुष	275
पंच-भेद मिथ्यातके	411	वेदपाठी ब्रह्म मांनि निहचै सुरूप	283
पंच-महाव्रत पालै पंच-समिति	439	बौध-छिनकवादी कहै	274
पंडित विवेक लहि एकताकी	141	बंदौ सिव-अवगाहना	11
प्रकृति सात अब मोहकी	423	बंधद्वार पूरौ भयौ	226
प्रगटरूप संसारमै	335	बंध बढ़ावै अंध ह्वै	183
प्रगटि भेद-विग्यान, आप-गुन	126	बंधै करमसौ मूढ़ ज्यो	159
प्रथम अग्यानी-जीव कहै	66	ब्रह्मग्यान आकासमै	462
प्रथम 'एकांत' नाम मिथ्यात	408	ब्रह्मग्यान-नभ-अंत न पावै	462

पृष्ठांक		पृष्ठांक	
भ		मुकतिके साधककौ बाधक	104
भयौ ग्रंथ संपूरन भाखा	460	मूढ करमकौ करता होवै	159
भयौ सुद्ध अंकर, गयौ	257	मूढ मरम जानै नहीं	292
भाव-करम करतव्यता	271	मुनि महंत तापस तपी	26
भाव-पदारथ समय-धन	23	मूरखकै घर दुरमति भासी	300
भेदग्यान आरासौ दुफारा करै	226	मृषा मोहकी परनति फैली	316
भेदग्यान तबलौ भलौ	124	मैं करता मैं कीन्ही कैसी	195
भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ	125	मैं करता मैं यौ करौ	314
भेदग्यान साबू भयौ	125	मैं त्रिकाल करनीसौ न्यारा	316
भेदग्यान संवर-निदान निरदोष	123	मोख चलिवेकौ सौन करमकौ	14
भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट	8	मोख-सरूप सदा चिनमूरति	101
भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस	122	मोह-मद पाइ जिनि संसारी	176
भेष धरि लोकनिकौ बंचै सो	325	मोह-महातम मल हरै	155
भेषमैं न ग्यान नहिं ग्यान गुरु	324	य	
भैया जगवासी तू उदासी हवै कै	58	यथा जीव करता न कहावै	263
म		यथा सूत-संग्रह विना	281
मन-वच-काया करमफल	314	यह अजीव-अधिकारकौ	66
महा-धीठ दुखकौ वसीठ	74	यह एकन्त मिथ्यात-पख	275
महिमा सम्यकज्ञानकी	128	यह निचोर या ग्रन्थकौ	117
माटी भूमि सैलकी सो संपदा	244	यह पंचम-गुनथानकी	438
माया छाया एक है	367	यह सयोग-गुनथानकी	456
माँसकी गरंथी कुच कंचन-कलस	467	या घटमैं भ्रमरूप अनादि	64
मिथ्यामति गंठि-भेदि जगी	427	याही नर-पिंडमैं विराजै	215
मिथ्यामति कुकवि जे प्रानी	468	याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ	45
मिश्र-दसा पूरन भई	415		

पृष्ठांक		पृष्ठांक	
र			
		वरनादिक पुदगल-दसा	61
रमा संख विषधनु सुरा	384	वरनादिक रागादि यह	60
रविकै उदोत अस्त होत दिन-दिन	196	वरनी संवर-दसा	128
राग-विरोध-उदै जबलौं तबलौं	294	वस्तु विचारत ध्यावतैं	16
राग-विरोध-विमोह मल	115	वस्तु-स्वरूप लखै नहीं	466
राणा-कौसौ बाना लीनै आपा साधे	229	वह कुबिजा वह राधिका	304
राम-रसिक अर राम-रस	249	वानी जहां निरच्छरी	455
रूपकी न झांक हीयैं करमकौ	199	वानी लीन भयौ जग डोलै	465
रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी	303	विनसि अनादि-असुद्धता	388
रूपचंद-पंडित प्रथम	470	विभाव-सकति परनतिसौ विकल	398
रूप-रसवंत मूरतीक एक पुदगल	62	विवहार-दृष्टिसौ विलोकत	85
रेतकीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है	290	विसन-भाव जामै नहीं	382
रे रुचिवंत पचारी कहै गुरु	216	वेदनवारौ जीव	167
ल		श	
लक्ष्मी सुबुद्धि अनुभूति कउस्तुभ	382	शिष्य कहै प्रभु ! तुम कह्यौ	270
लज्जावंत दयावंत प्रसंत	429	शिष्य कहै स्वामी ! जीव	342
लहिये ओर न ग्रंथ-उदधिका	460	शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु	33
लियैं द्रिढ़ पेच फिरै लोटन	198	शोभित निज-अनुभूति जुत	29
लीन भयौ विवहारमैं	144	श्रवन कीरतन चिंतवन	231
लोकनिसौं कछु नातौं न तेरी	367	ष	
लोक हरस-भय भोग-रुचि	422	षट-प्रतिमा ताई जघन	437
लोकालोक मान एक सत्ता है	240	षट सातैं आठैं नवैं	451
व		स	
वचन-प्रवांन करै सुकवि	468	सकल-करम-खल-दलन	4
वरतै ग्रंथ जगत-हित काजा	339	सकल-वस्तु जगमैं असहाई	289

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
सतरंज खेलै राधिका	307	सासादन-गुनथान यह	413
सत्तर लाख किरोर मित	438	सिद्ध-समान रूप निज जानै	311
सत्यप्रतीत-अवस्था जाकी	416	सिद्धक्षेत्र त्रिभुवन-मुकुट	25
सद्गुरु कहै भव्यजीवनिसौ	37	सिष्य कहै स्वामी ! तुम करनी	100
सदा करमसौ भिन्न	201	सील तप संजम विरति दान	99
सबद-माहि सतगुरु कहै	371	सुख-निधान सक बंध नर	472
सबरस-गर्भित मूल-रस	338	सुगुरु कहै जगमैं रहै	298
समकित उतपति चिह्न गुन	416	सुद्ध ग्यानकै देह नहि	328
समता-रमता उरधता	19	सुद्ध-दरब अनुभौ करै	292
समता वंदन थुतिकरन	441	सुद्ध-नयातम आतमकी	39
समससार आतम-दरब	474	सुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध	170
समससार-नाटक अकथ	460	सुद्धभाव-चेतन, असुद्धभाव-चेतन	75
समझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौ	106	सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित	121
समैसार-नाटक सुखदानी	468	सुद्धातम-अनुभौ-जहाँ	249
सम्यकवंत कहै अपने गुन	317	सुद्धातम-अनुभौ-कथा	331
सम्यकवंत सदा उर अंतर	131	सुद्धातम-अनुभौ क्रिया	333
सम्यक सत्य अमोघ सत	27	सुन प्रानी सद्गुरु कहै	209
सरबविसुद्धी-द्वारलौ	339	सो बुध करम-दसा-रहित	319
सरलकौ सठ कहै	194	सोरहसौ तिरानवै बीतै	472
सर्वविसुद्धी-द्वार यह	333	सोभामैं सिंगार बसै	336
सहै अंदरसन-दुरदसा	445	संकलेस-परिनामनिसौ	96
सात-प्रकृति उपसमहि	425	संकलेस भावनि बंधै	20
साधी दधि-मंथमैं अराधी	241	संजम-अंस जग्यौ जहां	432
साध्य सुद्ध केवल-दशा	364	सतत जाके उदरमैं	19
समाधिक-कीसी दसा	433	स्यादवाद-अधिकार अब	341

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
स्यादवाद-अधिकार यह	363	हिंसा-मृषा अदत्त-धन	440
स्यादवाद-आत्म-दशा	361	है नांही, नांही सु है	344
स्वपर-प्रकासक-सक्ति हमारी	395	हौं निहचै तिहुँकाल	30
स्वारथके साँचे परमारथके साँचे	9	ज्ञ	
ह		ज्ञेयाकार ग्यानकी परणति	291
हांसीमें विषाद बसै	369	ज्ञेयाकार ब्रह्म-मल मानै	292
हिरदै हमारे महा-मोहकी	312		



नाटक-समयसार के पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका

पृष्ठांक		पृष्ठांक	
अ			
अकर्ता जीवोऽयं....	262	अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी....	76
अखिण्डतमनाकुलं....	40	अज्ञानमयभावानामज्ञानी....	83
अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव....	147	अज्ञानमेतदधिगम्य....	188
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति....	142	अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया....	76
अतो हताः प्रमादिनो....	242	अज्ञानी-प्रकृति-स्वभाव....	263
अतः शुद्धनयायत्तं....	34	अज्ञानं ज्ञानमप्येवं....	79
अत्यन्तं भावयित्वा विरति....	320	आ	
अत्र स्याद्वाद-शुद्ध्यर्थ....	341	आक्रामन्विकल्पभावमचलं....	89
अथ महामद-निर्भर-मन्थरं....	109	आत्मनश्चिन्तयैवालं....	43
अद्वैताऽपि हि चेतना....	233	आत्मभावान्करोत्यात्मा....	75
अध्यास्य शुद्धनय....	116	आत्मस्वभावं परभावभिन्न....	37
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं....	357	आत्मानुभूतिरिति....	39
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं....	30	आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि....	280
अनवरतमनन्तै....	239	आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं....	79
अनाद्यनन्तमचलं....	62	आसंसारत्प्रतिपदममी....	136
अनेनाध्यवसायेन....	196	इ	
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं....	322	इति परिचिततत्त्वै....	52
अयि कथमपि मृत्वा....	45	इति वस्तुस्वभावं स्वं....	206
अर्थालम्बनकाल एव कलयन्....	355	इति वस्तुस्वभाव स्वं....	206
अलमलमतिजल्पैः....	332	इति सति सह....	54
अवतरति न यावद्वृत्ति....	52	इतीदमात्मनस्तत्त्वं....	333
अविचलित-चिदात्म....	400	इतो गतमनेकतां....	397
अस्मिन्नादिनि महत्यविवेकनाट्ये....	64	इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्विना....	321
		इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव....	149

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
इत्थं ज्ञानक्रक-चकलना....	64	एवं ज्ञानघनो नित्यमात्मा....	41
इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि..	363	एषैकैव हि वेदना....	167
इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल....	62	क	
इत्येवं विरचय्य संप्रति....	67	कर्तुं वेदयितुश्च....	281
इदमेकं जगच्चक्षु....	333	कर्तव्यं न सवनावोऽस्य....	261
इदमेवात्र तात्पर्य....	117	कथमपि समुपात्त	43
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्....	87	कथमपि हि लभन्ते....	44
उ		कर्ता कर्ता भवति न यथा....	93
उदयति न नयश्री....	35	कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति....	92
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेष....	323	कर्तारं स्वफलेन यत्किल....	159
उभयनय-विरोध....	31	कर्म सर्वमपि सर्वविदो....	99
ए		कर्मेव प्रवितर्क्य कर्त-हतकै....	272
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्ध....	267	कषायकलिरेकतः....	398
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो....	33	कान्त्यैव स्नपयन्ति ये....	47
एकत्वं व्यवहारतो न तु....	51	कार्यत्वादकृतं न कर्म....	271
एकमेव हि तत्स्वाद्यं....	139	कृतकारितानुमनै....	311
एकश्चित्तश्चिन्मय एव भावो....	236	क्लिश्यन्तां स्वयमेव....	143
एकस्य बद्धो न तथा परस्य....	85	क्वचिल्लसति मेचकं....	396
एक-ज्ञायकभाव-निर्भर....	141	घ	
एको दूरात्यजति मदिशं....	95	घतकुम्भाभिधानेऽपि....	61
एको मोक्षपथो य एष....	328	च	
एकः कर्ता चिदहमिक....	66	चिच्छक्ति-व्याप्तसर्वस्व	59
एकः परिणमति सदा....	71	चित्पिण्ड-चण्डिम-विलासिविकास..	389
एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं....	170	चित्स्वभाव-भरभावित-भावा....	88
एवं तत्त्व-व्यवस्थित्या....	361	चिरमिति नवतत्त्व....	35

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
चित्रात्मशक्ति-समुदायमयो....	392	न	
चैदूष्यं जडरूपतां च....	121	न करिष्यामि न कारयिष्यामि....	315
ज		न करोमि न कारचामि....	313
जयति सहजतेजः....	399	न कर्मबहुलं जगन्....	178
जानाति यः स न करोति....	184	न जातु रागादि-निमित्तभाव....	204
जीवाजीव-विवेक-पुष्कलदृशा....	57	न द्रव्येण खण्डयामि न क्षेत्रेण....	394
जीवादजीवमिति....	63	ननु परिणाम एव किल....	288
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म....	80	नमः समयसाराय....	29
ट		न हि विदधति बद्ध....	37
टङ्कोत्कीर्ण-विशुद्ध-बोधविसरा....	359	नाश्नुते विषयसेवनेऽपि....	131
टङ्कोत्कीर्ण-स्वरस....	171	नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः....	266
त		निज-महिम-रतानां....	123
तज्ज्ञा नस्यैव सामर्थ्य....	128	नित्यमविकार-ससुस्थित....	47
तथापि न निरर्गलं....	180	निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्....	60
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि....	255	निः शेषकर्म-फल-संन्यसनात्मनैवं....	318
त्यजतु जगदिदानीं....	45	निषिद्धे सर्वस्मिन्....	100
त्यक्तं येन फलं स कर्म....	160	नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्....	260
द		नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ....	73
दर्शन-ज्ञान-चारित्र....	326	नैकान्त-सङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु....	386
दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः....	41	नौभौ परिणमतः खलु....	72
दूरं भूरि-विकल्पजाल-गहने....	89	प	
द्रव्यलिङ्ग-ममकार-मीलितै....	331	पदमिदं ननु कर्म दुरासदं....	147
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच....	226	परद्रव्यग्रहं कुर्वन्....	238
ध		परपरणतिहेतो....	30
धीरोदार-महिम्ननादिनिधने....	118	परपरिणतिमुज्झत्....	67

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
परमार्थेन तु व्यक्त-ज्ञातृ....	42	भेदोन्मादं भ्रमरसभरा....	107
पूर्णेकाच्युत-शुद्धबोध-महिमा....	299	भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य....	263
पूर्वालम्बित-बोध्य-नाशसमये....	354	म	
प्रच्युत्य शुद्धनयतः....	116	मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा....	106
प्रत्यक्षालिखित-स्फुट-स्थिर....	350	मज्जन्तु निर्भरममी....	55
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म....	316	माऽकर्तारममीस्पृशन्तु....	274
प्रमादकलितः कथं भवति....	251	मिथ्यादृष्टेः स एवास्य....	195
प्रज्ञाछेत्री शितेयं....	227	मोहविलास-विजृम्भित....	315
प्राकार-कवलितांबर....	49	मोहाद्यदहमकार्ष....	313
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं....	166	मोक्षहेतु-तिरोधान....	103
प्रादुर्भावि-विराम-मुद्रित....	358	य	
ब		य एवं मुक्त्वा नयपक्षपातं....	84
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं....	257	यत्तु वस्तु कुरुते....	290
बहिरुत्थित यद्यपि....	288	यत्सन्नाशमुपति तत्र नियतं....	168
बाह्यार्थग्रहण-स्वभाव-भरतो....	348	यदि कथमपि धारावाहिना....	122
बाह्यार्थः परिपीतमुज्झित....	342	यदहमकार्ष यदहमचीकरं....	311
भ		यदिह भवति रागद्वेष....	297
भावयेद्भेदविज्ञान....	124	यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवम्....	101
भावास्त्रवभावमयं प्रपन्नो....	111	यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा....	402
भावो रागद्वेषमोहैर्विना....	110	यत्र प्रतिक्रमणमेव....	248
भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणा....	232	यादृक् तादृग्निहास्ति....	156
भिन्न-क्षेत्रनिषण्णाबोध्य....	352	यावत्पाकमुपति कर्मविरति....	105
भूतं भानन्तमभूतमेव रभसा....	38	ये तु कर्तारमात्मानं....	265
भेदविज्ञानतः सिद्धाः....	125	ये तु स्वभाव-नियमं....	268
भेदज्ञानोच्छलन....	126	ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ....	329

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
ये ज्ञानमात्र-निजभावमयीम्....	386	विकल्पकः परं कर्ता....	90
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो....	394	विगलन्तु कर्मविषतरु....	316
यः करोति स करोति केवलं....	91	विजहति न हि सतां....	113
यः पूर्वभावकृतकर्म....	319	विरम किमपरेणा....	58
र		विश्रान्तः परभाव-भावकलना....	356
रागजन्मनि निमित्तां....	298	विश्वादिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा....	201
राग-द्वेष-द्वयमुदयते....	294	विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य....	347
राग-द्वेष-विमोहानां....	115	वृत्तं ज्ञान-स्वभावेन....	102
राग-द्वेष-विभावमुक्तमहसो....	308	वृत्तं कर्म-स्वभावेन....	102
राग-द्वेषविह हि भवति....	295	वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं....	277
राग-द्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या....	226	वेद्य-वेदक-विभावचलत्वा....	151
रागादयो बन्ध-निदान-मुक्ताः....	203	व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं....	323
रागादीनां झगिति विगमात्....	119	व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि....	32
रागादीनामुदयमदय....	224	व्यवहार-विमूढदृष्टयः....	330
रागाद्यास्त्रवरोधतो....	128	व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि....	69
रागोद्गामहारसेन सकलं....	176	व्यावहारिकदृशैव केवलं....	287
रुन्धन् बन्धं नवमिति....	174	श	
ल		शुद्धद्रव्य-निरूपणार्पित....	291
लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु....	179	शुद्धद्रव्य-स्वरसभवनात्किं....	293
लोकः शाश्वत एक एष....	164	स	
व		सकलमपि विहाया....	59
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु....	61	संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि....	104
वर्णाद्यि वा रागमोहादयो वा....	60	संन्यस्य निबुद्धिपूर्वमनिशं....	111
वर्णाद्यः सहितस्तथा....	62	समस्तमित्येवमपास्यकर्म....	316
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो....	289	सम्पद्यते संवर एष साक्षात्....	123

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं....	160	ह	
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं....	174	हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणां....	96
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं....	131	क्ष	
सर्वेतः स्वरसनिर्भरभावं....	53	क्षणिकमिदमिहैकः....	275
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं....	202	ज्ञ	
सर्वस्यामेव जीवन्त्यां....	112	ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः....	91
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य....	351	ज्ञानमय एव भावः....	81
सर्वं सदैव नियतं....	187	ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि....	154
सिद्धान्तोऽयमुदात्त-चित्त....	237	ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं....	308
स्थितेति जीवस्य निरन्तराया....	81	ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो....	77
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य....	81	ज्ञानादेव ज्वलन-पयसो....	78
स्थाद्वाद-कौशल-सुनिश्चल संयमाभ्यां.	387	ज्ञानिन् कर्म न जातु....	157
स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे....	390	ज्ञानिनो ! न हि परिग्रहभावं....	152
स्वशक्ति-संसूचित वस्तुतत्त्वै....	403	ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः....	82
स्वक्षेत्र-स्थितये प्रथग्विधि....	353	ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म....	264
स्वेच्छा-समुच्छलदनल्प....	86	ज्ञानी जानन्नपीमां....	70
स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति....	169	ज्ञेयाकार-कलङ्कमेचकचित्ति....	349

संपादक के विषय में



गहन-चिन्तन की अजस्र-धारा के प्रवाह को जब कोई शब्दांकित करने में सफल होता है, तो उसकी वह रचना 'कृति' अभिधान से बहुमानित होती है। इस प्रक्रिया को अनवरत-गतिशील रखने के अभ्यस्त प्रो. सुदीप कुमार जैन आज विद्वज्जगत् में किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं।

05 जुलाई 1962 को उत्तरप्रदेश के 'ललितपुर' नगर के सुश्रावक यशःकाय श्रीमान् चम्पालाल जी जैन पटवारी की सहधर्मिणी श्रीमती शांतिदेवी की कुक्षि से नरदेह ग्रहण करने वाले प्रो. जैन को पुण्योदय से जिनधर्मपरायणा सहधर्मिणी डॉ. रंजना जैन का साथ मिला, और वे अपनी साहित्य-साधना को शब्दायित करने में ऊर्जस्वित होकर प्रवृत्त हो सके।

भारत सरकार के सुप्रतिष्ठित शिक्षा-संस्थान 'श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ' (मानित विश्व-विद्यालय) नई दिल्ली में विगत चौत्तीस (34) वर्षों से गरिमापूर्वक सेवारत प्रो. जैन इस देश के इतिहास में सर्वप्रथम-व्यक्ति हैं, जिन्होंने चालीस वर्ष से कम आयुवर्ग का सर्वश्रेष्ठ-विद्वान् का 'राष्ट्रपति-सम्मान' अर्जित किया। इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट-लेखन, सम्पादन, संप्रेषण, संयोजन एवं प्रवर्तन के लिए आज तक प्रतिष्ठित-संस्थानों के अनेकों सम्मान उन्हें प्राप्त हो चुके हैं।

वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, पालि, कन्नड़ आदि भाषाओं के मनीषी व हिन्दी व प्राकृत, अपभ्रंश बुन्देली आदि के सिद्धहस्त-लेखक हैं। प्रो. जैन की लेखनी से लिखित, सम्पादित, अनूदित आदि विधाओं में लगभग 48 यशस्वी-कृतियों का प्रकाशन हो चुका है, एवं 465 से अधिक बहुशंसित-आलेख आदि रचनायें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्र में पाण्डुलिपिशास्त्र, अभिलेख-शास्त्र, जैनदर्शन, भाषाविज्ञान, सिद्धहस्त-लेखन, हृदयग्राही-सम्प्रेषण, प्रभावी-वक्तृत्व, कुशल-प्रबंधन आदि हैं। इनके अतिरिक्त वे सात्त्विक-जीवनशैली के अभिज्ञान माने जाते हैं।

उच्चस्तरीय-पत्रकारिता के क्षेत्र में मानक स्थापित करनेवाले प्रो. जैन ने इस क्षेत्र में सुदीर्घकाल तक कार्य किया है। उनके सम्पादकीय-लेखों एवं संपादन-शैली को इस विधा के वरिष्ठ-विद्वानों ने भी न केवल सराहा है, बल्कि 'मील का पत्थर' माना है।

आपने अमेरिका, कनाडा, दुबई, अबूधाबी, शारजाह, बहरीन, आदि देशों में शैक्षणिक-प्रवास भी किये हैं और अपने सारस्वत-अवदानों से वहाँ के जिज्ञासुओं को लाभान्वित किया है। देश-विदेश में अपनी प्रतिभा से जनमानस को कायल करनेवाले प्रो. जैन के योगदानों से इंटरनेट से लेकर इलेक्ट्रानिक-मीडिया व प्रिंट-मीडिया सुपरिचित ही नहीं, बल्कि इनके अवदानों से आप्यायित भी है।

E-mail: skjainlbs@gmail.com | Website: www.jinaagam.in
Contact. 8750332266, 9810660657

व्याख्याकर्त्री का परिचय..

12 दिसम्बर 1968 को भिंड (म. प्र.) के धर्मप्राण-परिवार में श्रीमान् राजकुमार जैन की सहधर्मिणी श्रीमती मनोरमा जैन की कुक्षि से मनुष्य-जन्म ग्रहण करनेवाली पहले पितृगृह और फिर पतिगृह को अनुरंजित करनेवाली यथानाम-तथागुण डॉ. रंजना जैन आज जैन-समुदाय में ही नहीं भारतीय-विद्वज्जगत् में भी जानी-मानी लेखिका एवं समाजसेवी के रूप में सुप्रसिद्ध-हस्ताक्षर हैं।



विद्यालयीय-शिक्षा 'नेहरू बालबाड़ी हायर सेकेंड्री स्कूल' से एवं महाविद्यालयीय-शिक्षा 'कुसुमबाई जैन महाविद्यालय' भिंड (म.प्र.) से उच्चतम-अंकों से उत्तीर्ण करने के बाद 'जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर' से हिन्दी-साहित्य में एम. ए. की उपाधि अर्जित की। इसके बाद 'श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, (मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली' से प्राकृतभाषा एवं साहित्य में स्नातकोत्तर (आचार्य) की उपाधि भी तीन-स्वर्णपदकों के साथ अर्जित कर विश्वविद्यालय में कीर्तिमान स्थापित किया। तदुपरांत इसी विश्वविद्यालय से प्राकृतभाषा एवं साहित्य विभाग से 'कविवर हस्तिमल्ल के नाटक-चतुष्टय का भाषिक-अध्ययन' विषय पर विद्यावारिधि (पीएच. डी.) की शोधोपाधि प्राप्त की।

इसके लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सुप्रतिष्ठित 'यू. जी. सी. नेट+जे. आर. एफ.' की परीक्षा सर्वोच्च-अंकों से उत्तीर्ण करते हुये 'राष्ट्रीय शोध-छात्रवृत्ति' का गौरव प्राप्त किया।

आपके आज तक लगभग 25 से अधिक शोध-आलेख प्रिंट-मीडिया के माध्यम से तथा 250 से अधिक स्तरीय-आलेख सोशल-मीडिया के विविध-प्रारूपों में प्रकाशित हैं। तथा पं. बनारसीदास जी द्वारा लिखित 'नाटक-समयसार' की यह मौलिक, व्याख्यात्मक महनीय-कृति प्रकाशित होकर आपके हाथों में है।

राष्ट्रीय-स्तर की लगभग 50 से अधिक संगोष्ठियों एवं कार्यशालाओं में अपने शोध-आलेख-वाचन आदि बौद्धिक-अवदानों से आप विद्वज्जगत् में सुपरिचित हैं।

समाजसेवी के रूप में आप विगत 17 वर्षों से छत्तरपुर एक्सटेंशन में प्रतिदिन एवं प्राकृतभाषा-साहित्य की स्वैच्छिक-कक्षाओं से समाज को निरन्तर-लाभान्वित कर रही हैं। साथ ही जरूरतमंद-लोगों को शिक्षासामग्री, स्वास्थ्य के लिये दवायें आदि देकर पिछले 32 वर्षों से निरन्तर बहुविध-समाजसेवा कर रही हैं।

आप 'श्री महावीर दिगम्बर-जैन सभा, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नई दिल्ली' की विगत 23 वर्षों से अनवरत कार्यकारिणी-सदस्या हैं तथा विगत 08 वर्षों से 'महावीर परमार्थ फाउंडेशन, नई दिल्ली' नामक पारमार्थिक न्यास की 'संस्थापक-न्यासी' के रूप में भी सक्रिय-समाजसेवा कर रही हैं।

